ॐ अर्हं

जिनागम-ग्रन्थमाला : ग्रन्थाङ्क—९-१०

[परमश्रद्धेय गुरुदेव पूज्य श्री जोरावरमलजी महाराज की पुण्यस्मृति मे आयोजित]

पंचम गणधर भगवत्सुधर्मस्वामी-प्रणीत : द्वितीय अंग

सूत्रकृतांगसूत्र

[मूलपाठ, हिन्दी अनुवाद-विवेचन-टिप्पण-परिशिष्ट युक्त]

प्रथम-द्वितीय भाग

प्रेरणा
(स्व.) उपप्रवर्तक शासनसेवी स्वामी श्री ब्रजलालजी महाराज

आद्य सयोजक तथा प्रधान सम्पादक
(स्व०) युवाचार्य श्री मिश्रीमलजी महाराज 'मधुकर'

अनुवादक-विवेचक
श्रीचन्द सुराना 'सरस'

प्रकाशक
श्री आगमप्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान)

□ निर्देशन
साध्वी श्री उमरावकुंवर 'अर्चना'

□ सम्पादकमण्डल
अनुयोगप्रवर्तक मुनि श्री कन्हैयालालजी 'कमल'
उपाचार्य श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री
श्री रतनमुनि

□ सम्प्रेरक
मुनि श्री विनयकुमार 'भीम'
श्री महेन्द्रमुनि 'दिनकर'

□ द्वितीय संस्करण
वीर निर्वाण सं० २५१८
विक्रम सं० २०४८
ई० सन् अप्रैल १९९१

□ प्रकाशक
श्री आगमप्रकाशन समिति
श्री ब्रज-मधुकर स्मृति भवन,
पीपलिया बाजार, ब्यावर (राजस्थान)
पिन—३०५९०१

□ मुद्रक
सतीशचन्द्र शुक्ल
वैदिक यंत्रालय,
केसरगंज, अजमेर—३०५००१

□ मूल्य : 120/-

Published at the Holy Remembrance occasion of

Rev. Guru Shri Joravarmalji Maharaj

Fifth Ganadhara Sudharma Swami Compiled
Second Anga

SŪTRAKRTĀṄGA SŪTRA

[Original Text with Variant Readings, Hindi Version, Notes, Annotations and Appendices etc]

Part I, II

☐

Proximity
(Late) Up-pravartaka Shasansevi Rev. Swami Sri Brijlalji Maharaj

☐

Convener & Founder Editor
(Late) Yuvacharya Sri Mishrimalji Maharaj 'Madhukar'

☐

Translator & Annotator
Srichand Surana 'Saras'

Publishers
Shri Agam Prakashan Samiti
Beawar (Raj.)

Jinagam Granthmala Publication No. 9-10

- **Direction**
  Sadhwi Shri Umrav Kunwar 'Archana'

- **Board of Editors**
  Anuyoga-pravartaka Muni Shri Kanhaiyalalji 'Kamal'
  Upacharya Sri Devendra Muni Shastri
  Sri Ratan Muni

- **Promotor**
  Muni Sri Vinayakumar 'Bhima'
  Sri Mahendra Muni 'Dinakar'

- **Second Edition**
  Vir-Nirvana Samvat 2517
  Vikram Samvat 2048, Aaril. 1991

- **Publishers**
  Sri Agam Prakashan Samiti,
  Brij-Madhukar Smriti Bhawan,
  Pipalia Bazar, Beawar (Raj.)
  Pin 305 901

- **Printer**
  Satish Chandra Shukla
  Vedic Yantralaya
  Kaiserganj, Ajmer

- **Price :** 120/-

समर्पण

'अप्पमत्ते सदा जये' की आगम वाणी
जिनके जीवन में प्रतिपद चरितार्थ हुई
जो दृढसंकल्प के धनी थे,
जो उच्चकोटि के साधक थे,
विरक्ति की प्रतिमूर्ति थे,
कवि-मनीषी आप्तवाणी के अनन्यतमश्रद्धालु तथा उपदेशक थे,
उन

स्व. आचार्यप्रवर श्री जयमल्लजी महाराज की

पावन-स्मृति में,
सादर, सविनय समर्पित,

—मधुकर मुनि

(प्रथम संस्करण से)

प्रकाशकीय

सूत्रकृतांगसूत्र का यह द्वितीय सस्करण है। प्रथम सस्करण अलग-अलग दो जिल्दो मे प्रकाशित किया गया था। किन्तु ऐसा अनुभव हुआ कि पूरा ग्रन्थ एक ही पुस्तक के रूप मे अधिक उपयोगी रहेगा। इसीलिये ग्रन्थांक ९, १० को सम्मिलित कर दिया है।

आगम प्रकाशन की योजना एक महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिये प्रारम्भ की गई थी। सत-सतीवर्ग की सत्प्रेरणाओ, समाज के गणमान्य सज्जनो के सहयोग और स्वाध्यायप्रेमी महानुभावो के प्रोत्साहन से समिति अपने निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति के लिये गतिशील रही। इसी का सुफल है कि आगम बत्तीसी के प्रकाशन का कार्य प्राय पूर्ण होने जा रहा है। जीवाजीवाभिगमसूत्र द्वितीय भाग और चार छेदसूत्रो का मुद्रण कार्य हो रहा था, किन्तु पूर्व प्रकाशित कुछ ग्रन्थो के अप्राप्य हो जाने और पाठको की माग होने से उनके द्वितीय सस्करण प्रकाशित करने का निश्चय करना पड़ा। अभी तक आचारागसूत्र भाग-१, २, ज्ञाताधर्मकथाग, उपासकदशाग, अन्तकृद्दशाग, अनुत्तरोपपातिकसूत्र प्रकाशित हो गये हैं और अब सूत्रकृतागसूत्र का द्वितीय सस्करण प्रकाशित कर रहे हैं। जीवाजीवाभिगमसूत्र द्वितीय भाग के साथ-साथ अन्य अनुपलब्ध ग्रन्थो के प्रकाशन के लिये कार्य चालू है। जिससे आगम बत्तीसी के सभी ग्रन्थ पाठको को उपलब्ध हो जायें।

समिति चाहती है कि सभी ग्रन्थ यथाशीघ्र प्रकाशित हो जायें, किन्तु कार्य की पूर्णता के लिये समय अपेक्षित है।

श्रद्धेय मुनि श्री पार्श्वचन्द्रजी म सा, सिद्धान्तशास्त्री (आचार्य श्री लालचन्द्रजी म सा के सुशिष्य) ने सूत्रकृतागसूत्र के इस सस्करण मे यथायोग्य सशोधन करने की कृपा की है। एतदर्थ समिति आपश्री की आभारी है।

अन्त मे हम सभी सहयोगियो के प्रति धन्यवाद ज्ञापन करना अपना कर्तव्य मानते हैं, जिनके सहयोग से समिति अपने अधिकृत कार्य को सफल बनाने के लिये प्रयत्न कर रही है।

रतनचन्द मोदी	**सायरमल चोरड़िया**	**अमरचन्द मोदी**
कार्यवाहक अध्यक्ष	महामन्त्री	मन्त्री

श्री आगमप्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान)

श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

(कार्यकारिणी समिति)

अध्यात्म-योग की यह महान् अनुभूति आर्द्रककुमार ने सिर्फ दो शब्दो मे ही व्यक्त करके गोशालक की बाह्य-दृष्टि-परकता को ललकार दिया है। सवादो मे इस प्रकार की आध्यात्मिक अनुभूतियो से आर्द्रकीय अध्ययन बडा ही रोचक व शिक्षाप्रद बन गया है।

२३ वें (छठे) नालन्दीय अध्ययन मे तो गणधर गौतम एक मनोवैज्ञानिक शिक्षक के रूप मे प्रस्तुत होते है जो उदक पेढालपुत्र को सहृदता और वत्सलता के साथ विनय-व्यवहार की शिक्षाए देते हुए उसकी धारणाओ का परिष्कार करते हैं।

वास्तव मे प्रथम श्रुतस्कध जहाँ तर्क-वितर्क-प्रधान चर्चाओ का केन्द्र है, वहाँ द्वितीय श्रुतस्कध मे तर्क के साथ श्रद्धा का सुन्दर सामञ्जस्य प्रकट हुआ है। इस प्रकार द्वितीय श्रुतस्कध प्रथम का पूरक ही नही, कुछ विशेष भी है, नवीन भी है और अनुद्घाटित अर्थों का उद्घाटक भी है।

प्रस्तुत आगम मे पर-दर्शनो के लिए कहीं-कही मदा, मूढा "तमाओ ते जम जति" जैसी कठोर प्रतीत होने वाली शब्दावली का प्रयोग कुछ जिज्ञासुओ को खटकता है। आर्ष-वाणी में रूक्ष या आक्षेपात्मक प्रयोग नही होने चाहिए ऐसा उनका मन्तव्य है, पर वास्तविकता मे जाने पर यह आक्षेप उचित नही लगता। क्योकि ये शब्द-प्रयोग किसी व्यक्ति विशेष के प्रति नहीं हैं, किन्तु उन मूढ या अहितकर धारणाओं के प्रति हैं, जिनके चक्कर मे फसकर प्राणी सत्य श्रद्धा व सत्य आचार से पतित हो सकता है। असत्य की भर्त्सना और असत्य के कटु-परिणाम को जताने के लिए शास्त्रकार बडी दृढता के साथ साधक को चेताते है। ज्वरार्त के लिए कटु औषधि के समान कटु प्रतीत होने वाले शब्द कही-कही अनिवार्य भी होते हैं। फिर आज के सभ्य युग मे जिन शब्दो को कटु माना जाता है, वे शब्द उस युग मे आम भाषा मे सहजतया प्रयुक्त होते थे ऐसा भी लगता है, अत उन शब्दो की सयोजना के प्रति शास्त्रकार की सहज-सत्य-निष्ठा के अतिरिक्त अन्यथा कुछ नही है।

सूत्रकृत मे दर्शन के साथ जीवन-व्यवहार का उच्च आदर्श भी प्रस्तुत हुआ है। कपट, अहकार, जातिमद, ज्ञान-मद आदि पर भी कठोर प्रहार किये गये हैं और सरल-सात्विक जीवन-दृष्टि को विकसित करने की प्रेरणाएँ दी हैं। कुल मिलाकर इसे गृहस्थ और श्रमण के लिए मुक्ति का मार्गदर्शक शास्त्र कहा जा सकता है।

प्रस्तुत सपादन —

सूत्रकृत के प्रस्तुत सपादन मे अब तक प्रकाशित अनेक सस्करणो को लक्ष्य मे रखकर सपादन/विवेचन किया गया है। मुनि श्री जम्बूविजयजी द्वारा सपादित मूल पाठ हमारा आदर्श रहा है, किन्तु उसमे भी यत्र-तत्र चूर्णिसम्मत कुछ सशोधन हमने किये हैं। आचार्य भद्रबाहुकृत निर्युक्ति, प्राचीनतम सस्कृतमिश्रित-प्राकृतव्याख्या—चूर्णि, तथा आचार्य शीलाक कृत वृत्ति इन तीनो के आधार पर हमने मूल का हिन्दी भावार्थ व विवेचन करने का प्रयत्न किया है। कही-कही चूर्णिकार तथा वृत्तिकार के पाठो मे पाठ-भेद तथा अर्थ-भेद भी है। यथाप्रसग उसका भी उल्लेख करने का प्रयास मैंने किया है, ताकि पाठक उन दोनो के अनुशीलन से स्वय की बुद्धि-कसौटी पर उसे कसकर निर्णय करे। चूर्णि एव वृत्ति के विशिष्ट अर्थों को मूल सस्कृत के साथ हिन्दी मे भी दिया गया है। जहाँ तक मेरा अध्ययन है, अब तक के विवेचनकर्ता सस्कृत को ही महत्त्व देकर चले हैं, चूर्णिगत तथा वृत्ति-गत पाठो को मूल रूप मे अकित करके ही इति करते रहे हैं, किन्तु इससे हिन्दी-पाठक के पल्ले कुछ नही पडता, जबकि आज का पाठक अधिकाशत हिन्दी के माध्यम से ही जान पाता है। मैंने उन पाठो का हिन्दी अनुवाद भी प्रायश देने का प्रयत्न किया है, यह सभवत. नया प्रयास ही माना जायेगा।

करने का यह ऐतिहासिक कार्य वस्तुत आज की समग्र ज्ञान-पिपासु प्रजा के लिए एक अवर्णनीय उपकार सिद्ध हुआ। सस्कृति, दर्शन, धर्म तथा आत्म-विज्ञान की प्राचीनतम ज्ञानधारा को प्रवहमान रखने का यह उपक्रम वीरनिर्वाण के ९८० या ९९३ वर्ष पश्चात् प्राचीन नगरी वलभी (सौराष्ट्र) मे आचार्य श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व मे सम्पन्न हुआ। वैसे जैन आगमो की यह दूसरी अन्तिम वाचना थी, पर लिपिबद्ध करने का प्रथम प्रयास था। आज प्राप्त जैन सूत्रो का अन्तिम स्वरूप-सस्कार इसी वाचना मे सम्पन्न किया गया था।

पुस्तकारूढ होने के बाद आगमो का स्वरूप मूल रूप मे तो सुरक्षित हो गया, किन्तु काल-दोष, श्रमण-सघो के आन्तरिक मतभेद, स्मृतिदुर्बलता, प्रमाद एव भारतभूमि पर बाहरी आक्रमणो के कारण विपुल ज्ञान भण्डारो का विध्वस आदि अनेकानेक कारणो से आगम ज्ञान की विपुल सम्पत्ति, अर्थबोध की सम्यक् गुरु-परम्परा धीरे-धीरे क्षीण एव विलुप्त होने से नही रुकी। आगमो के अनेक महत्त्वपूर्ण पद, सन्दर्भ तथा उनके गूढार्थ का ज्ञान, छिन्न-विच्छिन्न होते चले गए। परिपक्व भाषाज्ञान के अभाव मे, जो आगम हाथ से लिखे जाते थे, वे भी शुद्ध पाठ वाले नही होते, उनका सम्यक् अर्थ-ज्ञान देने वाले भी विरले ही मिलते। इस प्रकार अनेक कारणो से आगम की पावन धारा सकुचित होती गई।

विक्रमीय सोलहवी शताब्दी मे वीर लोकाशाह ने इस दिशा मे क्रातिकारी प्रयत्न किया। आगमो के शुद्ध और यथार्थ अर्थज्ञान को निरूपित करने का एक साहसिक उपक्रम पुन चालू हुआ। किन्तु कुछ काल बाद उसमे भी व्यवधान उपस्थित हो गये। साम्प्रदायिक-विद्वेष, सैद्धातिक विग्रह तथा लिपिकारो का अत्यल्प ज्ञान आगमो की उपलब्धि तथा उसके सम्मक् अर्थबोध मे बहुत बडा विघ्न बन गया। आगम-अभ्यासियो को शुद्ध प्रतिया मिलना भी दुर्लभ हो गया।

उन्नीसवी शताब्दी के प्रथम चरण मे जब आगम-मुद्रण की परम्परा चली तो सुधी पाठको को कुछ सुविधा प्राप्त हुई। धीरे-धीरे विद्वद्-प्रयासो से आगमो की प्राचीन चूर्णिया, निर्युक्तिया, टीकाये आदि प्रकाश मे आई और उनके आधार पर आगमो का स्पष्ट-सुगम भावबोध सरल भाषा मे प्रकाशित हुआ। इससे आगम स्वाध्यायी तथा ज्ञान-पिपासु जनो को सुविधा हुई। फलत आगमो के पठन-पाठन की प्रवृत्ति बढी है। मेरा अनुभव है, आज पहले से कही अधिक आगम-स्वाध्याय की प्रवृत्ति बढी है, जनता मे आगमो के प्रति आकर्षण व रुचि जागृत हो रही है। इस रुचि-जागरण मे अनेक विदेशी आगमज्ञ विद्वानो तथा भारतीय जैनेतर विद्वानो की आगम-श्रुत-सेवा का भी प्रभाव व अनुदान है, इसे हम सगौरव स्वीकारते है।

आगम-सम्पादन-प्रकाशन का यह सिलसिला लगभग एक शताब्दी से व्यवस्थित चल रहा है। इस महनीय श्रुत-सेवा मे अनेक समर्थ श्रमणो, पुरुषार्थी विद्वानो का योगदान रहा है। उनकी सेवायें नीव की ईंट की तरह आज भले ही अदृश्य हो, पर विस्मरणीय तो कदापि नही, स्पष्ट व पर्याप्त उल्लेखो के अभाव मे हम अधिक विस्तृत रूप मे उनका उल्लेख करने मे असमर्थ हैं, पर विनीत व कृतज्ञ तो हैं ही। फिर भी स्थानकवासी जैन परम्परा के कुछ विशिष्ट-आगम श्रुत-सेवी मुनिवरो का नामोल्लेख अवश्य करना चाहूँगा।

आज से लगभग साठ वर्ष पूर्व पूज्य श्री अमोलकऋषिजी महाराज ने जैन आगमो—३२ सूत्रो का प्राकृत से खडी बोली मे अनुवाद किया था। उन्होने अकेले ही बत्तीस सूत्रो का अनुवाद कार्य सिर्फ ३ वर्ष व १५ दिन मे पूर्ण कर एक अद्भुत कार्य किया। उनकी दृढ लगनशीलता, साहस एव आगम ज्ञान की गम्भीरता उनके कार्य से ही स्वत परिलक्षित होती है। वे ३२ ही आगम अल्प समय मे प्रकाशित भी हो गये।

इससे आगम पठन बहुत सुलभ व व्यापक हो गया और स्थानकवासी, तेरापथी समाज तो विशेष उपकृत हुआ।

गुरुदेव श्री जोरावरमलजी महाराज का संकल्प

मैं जब प्रात स्मरणीय गुरुदेव स्वामीजी श्री जोरावरमलजी म के सान्निध्य मे आगमो का अध्ययन अनुशीलन करता था तब आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित आचार्य अभयदेव व शीलाक की टीकाओ से युक्त कुछ आगम उपलब्ध थे। उन्हीं के आधार पर मैं अध्ययन-वाचन करता था। गुरुदेव श्री ने कई बार अनुभव किया—यद्यपि यह सस्करण काफी श्रमसाध्य व उपयोगी हैं, अब तक उपलब्ध सस्करणो मे प्राय शुद्ध भी है, फिर भी अनेक स्थल अस्पष्ट हैं, मूलपाठो में व वृत्ति मे कही-कहीं अशुद्धता व अन्तर भी है। सामान्य जन के लिये दुरूह तो हैं ही। चूंकि गुरुदेव श्री स्वय आगमो के प्रकाण्ड पण्डित थे, उन्हे आगमो के अनेक गूढार्थ गुरु-गम मे प्राप्त थे। उनकी मेधा भी व्युत्पन्न व तर्क-प्रवण थी, अत वे इस कमी को अनुभव करते थे और चाहते थे कि आगमों का शुद्ध, सर्वोपयोगी ऐसा प्रकाशन हो, जिससे सामान्य ज्ञान वाले श्रमण-श्रमणी एव जिज्ञासुजन लाभ उठा सकें। उनके मन की यह तड़प कई बार व्यक्त होती थी। पर कुछ परिस्थितियो के कारण उनका यह स्वप्न-सकल्प साकार नही हो सका, फिर भी मेरे मन मे प्रेरणा बनकर अवश्य रह गया।

इसी अन्तराल मे आचार्य श्री जवाहरलाल जी महाराज, श्रमणसघ के प्रथम आचार्य जैनधर्मदिवाकर आचार्य श्री आत्माराम जी म विद्वद्रत्न श्री घासीलालजी म आदि मनीषी मुनिवरो ने जैन आगमो की हिन्दी, सस्कृत, गुजराती आदि मे सुन्दर विस्तृत टीकायें लिखकर या अपने तत्त्वावधान मे लिखवा कर कमी को पूरा करने का महनीय प्रयत्न किया है।

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक आम्नाय के विद्वान् श्रमण परमश्रुतसेवी स्व मुनि श्री पुण्यविजयजी ने आगम सम्पादन की दिशा मे बहुत व्यवस्थित व उच्चकोटि का कार्य प्रारम्भ किया था। विद्वानो ने उसे बहुत ही सराहा। किन्तु उनके स्वर्गवास के पश्चात् उसमे व्यवधान उत्पन्न हो गया। तदपि आगमज्ञ मुनि श्री जम्बूविजयजी आदि के तत्त्वावधान मे आगम-सम्पादन का सुन्दर व उच्चकोटि का कार्य आज भी चल रहा है।

वर्तमान मे तेरापथ सम्प्रदाय मे आचार्य श्री तुलसी एव युवाचार्य महाप्रज्ञजी के नेतृत्व मे आगम-सम्पादन का कार्य चल रहा है और जो आगम प्रकाशित हुए हैं उन्हे देखकर विद्वानो को प्रसन्नता है। यद्यपि उनके पाठ-निर्णय मे काफी मतभेद की गुजाइश है। परम्परा-प्राप्त या पूर्वाचार्य-सम्मत पाठो मे परिवर्तन व एक-पक्षीय निर्णय भी तो कुछ स्पष्ट व ठोस आधार चाहता है। तथापि उनके श्रम का महत्त्व है। मुनि श्री कन्हैयालाल जी म 'कमल" आगमो की वक्तव्यता को अनुयोगो मे वर्गीकृत करके प्रकाशित कराने की दिशा मे प्रयत्नशील हैं। उनके द्वारा सम्पादित कुछ आगमो मे उनकी कार्यशैली की विशदता एव मौलिकता स्पष्ट होती है।

आगम साहित्य के वयोवृद्ध विद्वान् प श्री बेचरदास जी दोशी, विश्रुत-मनीषी श्री दलसुखभाई मालवणिया जैसे चिन्तनशील प्रज्ञापुरुष आगमो के आधुनिक सम्पादन की दिशा मे स्वय भी कार्य कर रहे हैं तथा अनेक विद्वानो का मार्गदर्शन कर रहे हैं। यह प्रसन्नता का विषय है।

इस सब कार्य-शैली पर विहगम अवलोकन करने के पश्चात् मेरे मन मे एक सकल्प उठा। आज प्राय सभी विद्वानो की कार्यशैली काफी भिन्नता लिये हुए है। कही आगमो का मूल पाठ मात्र प्रकाशित किया जा रहा है, कहीं आगमो की विशाल व्याख्यायें की जा रही हैं। एक पाठक के लिये दुर्बोध है तो दूसरी जटिल। सामान्य पाठक को तो सरलतापूर्वक आगम ज्ञान प्राप्त हो सके, एतदर्थ मध्यम मार्ग का अनुसरण आवश्यक है। आगमो का एक ऐसा सस्करण होना चाहिये जो सरल हो, सुबोध हो, सक्षिप्त और प्रामाणिक हो। मेरे स्वर्गीय गुरुदेव ऐसा ही आगम-सस्करण चाहते थे। इसी भावना को लक्ष्य मे रखकर मैंने ५-६ वर्ष पूर्व इस विषय की चर्चा प्रारम्भ की थी, सुदीर्घ चिन्तन के पश्चात् वि. सं. २०३६ वैशाख शुक्ला दशमी, भगवान् महावीर कैवल्यदिवस को यह दृढ निश्चय घोषित कर दिया

और आगम बत्तीसी का सम्पादन-विवेचन कार्य प्रारम्भ भी। इस साहसिक निर्णय मे गुरुभ्राता शासनसेवी स्वामी श्री ब्रजलाल जी म की प्रेरणा/प्रोत्साहन तथा मार्गदर्शन मेरा प्रमुख सम्बल बना है। साथ ही अनेक मुनिवरो तथा सद्-गृहस्थों का भक्ति-भाव भरा सहयोग प्राप्त हुआ है, जिनका नामोल्लेख किये बिना मन सन्तुष्ट नही होगा। आगम-अनुयोग शैली के सम्पादक मुनि श्री कन्हैयालालजी म 'कमल', प्रसिद्ध साहित्यकार श्री देवेन्द्रमुनिजी म शास्त्री, आचार्य श्री आत्मारामजी म के प्रशिष्य भडारी श्री पदमचन्दजी म एव प्रवचनभूषण श्री अमरमुनिजी, विद्वद्रत्न श्री ज्ञान-मुनिजी म , स्व विदुषी महासती श्री उज्जवलकुंवरजी म की सुशिष्याएँ महासती दिव्यप्रभाजी एम ए पी-एच डी , महासती मुक्तिप्रभाजी तथा विदुषी महासती श्री उमरावकुवरजी म 'अर्चना', विश्रुत विद्वान् श्री दलसुखभाई मालवणिया, सुख्यात विद्वान् प श्री शोभाचन्द्र जी भारिल्ल, स्व प श्री हीरालालजी शास्त्री, डा छगनलालजी शास्त्री एव श्रीचन्दजी सुराणा "सरस" आदि मनीषियो का सहयोग आगम सम्पादन के इस दुरूह कार्य को सरल बना सका है। इन सभी के प्रति मन आदर व कृतज्ञ भावना से अभिभूत है। इसी के साथ सेवा-सहयोग की दृष्टि से सेवाभावी शिष्य मुनि विनयकुमार एव महेन्द्रमुनि का साहचर्य-सहयोग, महासती श्री कानकुवरजी, महासती श्री झणकारकुवरजी का सेवाभाव सदा प्रेरणा देता रहा है। इस प्रसग पर इस कार्य के प्रेरणास्रोत स्व श्रावक चिमनसिंहजी लोढा, स्व श्री पुखराजजी सिसोदिया का स्मरण भी सहज रूप मे हो आता है, जिनके अथक प्रेरणा-प्रयत्नो से आगम समिति अपने कार्य मे इतनी शीघ्र सफल हो रही है। दो वर्ष के इस अल्पकाल मे ही दस आगम ग्रन्थो का मुद्रण तथा करीब १५-२० आगमो का अनुवाद-सम्पादन हो जाना हमारे सब सहयोगियो की गहरी लगन का द्योतक है।

मुझे सुदृढ विश्वास है कि परम श्रद्धेय स्वर्गीय स्वामी श्री हजारीमल जी महाराज आदि तपोपूत आत्माओ के शुभाशीर्वाद से तथा हमारे श्रमणसघ के भाग्यशाली नेता राष्ट्र-सत आचार्य श्री आनन्दऋषिजी म आदि मुनिजनो के सद्भाव-सहकार के बल पर यह सकल्पित जिनवाणी का सम्पादन-प्रकाशन कार्य शीघ्र ही सम्पन्न होगा।

इसी शुभाशा के साथ

—मुनि मिश्रीमल "मधुकर"
(युवाचार्य)

सम्पादकीय

(प्रथम संस्करण से)

आचाराग सूत्र का सम्पादन करते समय यह अनुभव होता था कि यह आगम आचार-प्रधान होते हुए भी इसकी वचनावली में दर्शन की अतल गहराईया व चिन्तन की असीमता छिपी हुई है। छोटे-छोटे आर्ष-वचनो मे द्रष्टा की असीम अनुभूति का स्पन्दन तथा ध्यान-योग की आत्म-सवेदना का गहरा 'नाद' उनमे गु जायमान है, जिसे सुनने-समझने के लिए 'साधक' की भूमिका अत्यन्त अपेक्षित है। वह अपेक्षा कब पूरी होगी, नहीं कह सकता, पर लगे हाथ आचाराग के बाद द्वितीय अग—सूत्रकृतांग के पारायण मे, मैं लग गया।

सूत्रकृतांग के दो श्रुतस्कन्ध हैं। प्रथम श्रुस्कन्ध पद्यशैली मे सूत्रप्रधान है, द्वितीय गद्यशैली मे वर्णन-प्रधान है।

सूत्रकृतांग प्रथम श्रुतस्कन्ध, आचाराग की शैली का पूर्ण नही तो बहुलाश मे अनुसरण करता है। उसके आचार मे दर्शन था तो इसके दर्शन मे 'आचार' है। विचार की भूमिका का परिष्कार करते हुए आचार की भूमिका पर आसीन करना सूत्रकृताग का मूल स्वर है—ऐसा मुझे अनुभव हुआ है।

'सूत्रकृत' नाम ही अपने आप मे गभीर अर्थसूचना लिये है। आर्यसुधर्मा के अनुसार यह स्व-समय (स्व-सिद्धान्त) और पर-समय (पर-सिद्धान्त) की सूचना (सत्यासत्य-दर्शन) कराने वाला शास्त्र है।[1] नदीसूत्र (मूल-हरिभद्रीयवृत्ति एव चूर्णि) का आशय है कि यह आगम स-सूत्र (धागे वाली सुई) की भाति लोक एव आत्मा आदि तत्त्वो का अनुसधान कराने वाला (अनुसधान मे सहायक) शास्त्र है।[2]

श्रुतपारगामी आचार्य भद्रबाहु ने इसके विविध अर्थों पर चिन्तन करके शब्दशास्त्र की दृष्टि से इसे—**सुत्वा कृत**="**सूतकडं**" कहा है—अर्थात् तीर्थंकर प्रभु की वाणी से सुनकर फिर इस चिन्तन को गणधरो ने ग्रन्थ का, शास्त्र का रूप प्रदान किया है। भाव की दृष्टि से यह **सूचनाकृत्**—'**सूतकडं**'—अर्थात् निर्वाण या मोक्षमार्ग की सूचना-अनुसधान कराने वाला है।[3]

'सूतकड' शब्द से जो गभीर भाव-बोध होता है वह अपने आप मे बहुत महत्त्वपूर्ण है, बल्कि सम्पूर्ण आगम का सार सिर्फ चार शब्दो मे सन्निहित माना जा सकता है। सूत्रकृताग की पहली गाथा भी इसी भाव का बोध कराती है—

बुज्झिज्ज तिउट्टेज्जा—समझो, और तोडो (क्या)
बंधणं परिजाणिया—बधन को जानकर।
किमाह बंधणं वीरो—भगवान् ने बन्धन किसे बताया है।
किं वा जाणं तिउट्टइ—और उसे कैसे तोडा जा सकता है?[4]

इस एक ही गाथा में सूत्रकृत का सपूर्ण तत्त्वचिन्तन समाविष्ट हो गया है। दर्शन और धर्म, विचार और आचार यहाँ अपनी सम्पूर्ण सचेतनता और संपूर्ण क्रियाशीलता के साथ एकासनासीन हो गये हैं।

---

१ सूयगडे ण ससमया सूइज्जति—समवायांग सूत्र

२. नदीसूत्र मूल वृत्ति पृ ७७, चूर्णि पृ. ६३.

३. देखिए निर्यु क्ति-गाथा १८, १९, २० तथा उनकी शीलाकवृत्ति

४. सूत्रकृतांग गाथा १

दर्शनशास्त्र का लक्ष्य है-- जीव और जगत के विषय मे विचार एव विवेचना करना। भारतीय दर्शनो का, चाहे वे वैदिक दर्शन (साख्य-योग, वैशेषिक-न्याय, मीमासक और वेदान्त) हैं या अवैदिक दर्शन (जैन, बौद्ध,चार्वाक) हैं, मुख्य आधार तीन तत्त्व हैं—

१ आत्म-स्वरूप की विचारणा,

२ ईश्वर सत्ता विषयक धारणा,

३ लोक-सत्ता (जगत स्वरूप) की विचारणा।

जब आत्म-स्वरूप की विचारणा होती है तो आत्मा के दु ख-सुख, बधन-मुक्ति की विचारणा अवश्य होती है। आत्मा स्वतन्त्र है या परतन्त्र ? परतन्त्र है तो क्यो ? किसके अधीन ? कर्म या ईश्वर ? आत्मा जहाँ, जिस लोक मे है उस लोकसत्ता का सचालन/नियमन/व्यवस्था कैसे चलती है ? इस प्रकार आत्मा (जीव) और लोक (जगत) के साथ ईश्वर सत्ता पर भी स्वय विचार-चर्चा केन्द्रित हो जाती है और इन तत्त्वो की चिन्तना/चर्चा करना ही दर्शनशास्त्र का प्रयोजन है।

धर्म का क्षेत्र—दर्शनशास्त्र द्वारा विवेचित तत्त्वो पर आचरण करना है। आत्मा के दु:ख-सुख, बन्धन-मुक्ति के कारणो की खोज दर्शन करता है, पर उन कारणो पर विचार कर दु ख-मुक्ति और सुख-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना धर्मक्षेत्र का कार्य है। आत्मा के बन्धनकारक तत्त्वो पर विवेचन करना दर्शनशास्त्र की सीमा मे है और फिर उन बन्धनो से मुक्ति के लिए प्रयत्नशील होना धर्म की शिक्षा मे आ जाता है।

अब मैं कहना चाहूँगा कि सूत्रकृत की सबसे पहली गाथा, आदि वचन, जिसमे आगमकार अपने समग्र प्रतिपाद्य का नवनीत प्रस्तुत कर रहे हैं—दर्शन और धर्म का सगम-स्थल है। बन्धन के कारणो की समग्र परिचर्चा के बाद या इसी के साथ-साथ बन्धन-मुक्ति की प्रक्रिया, पद्धति और साधना पर विशद चिन्तन प्रस्तुत करने का सकल्प पहले ही पद मे व्यक्त हो गया है। अत कहा जा सकता है कि सूत्रकृत का सपूर्ण कलेवर अर्थात् लगभग ३६ हजार पद परिमाण विस्तार, पहली गाथा का ही महाभाष्य है। इस दृष्टि से मैं कहना चाहूँगा कि सूत्रकृत न केवल जैन तत्त्वदर्शन का सूचक शास्त्र है, बल्कि आत्मा की मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करने वाला मोक्ष-शास्त्र है। आस्तिक या आत्मवादी दर्शनो के चरम बिन्दु—मोक्ष/निर्वाण/परम पद का स्वरूप एव सिद्धि का उपाय बताने वाला आगम है—सूत्रकृत।

सूत्रकृत के सम्बन्ध मे अधिक विस्तार पूर्वक प श्री विजयमुनिजी म ने प्रस्तावना मे लिखा है, अत यहाँ अधिक नही कहना चाहता, किन्तु सूचनामात्र के लिए यह कहना चाहता हूँ कि इसके प्रथम 'समय' अध्ययन, बारहवे 'समवसरण', द्वितीय श्रुतस्कध के द्वितीय अध्ययन 'पुण्डरीक' मे अन्य मतो, दर्शन एव उनकी मान्यताओ की स्फुट चर्चा है, उनकी युक्ति-रहित अयथार्थ मान्यताओ की सूचना तथा निरसन भी इसी हेतु से किया गया है कि वे मिथ्या व अयथार्थ धारणाएँ भी मन व मस्तिष्क का बन्धन है। अज्ञान बहुत बडा बन्धन है। मिथ्यात्व की बेडी सबसे भयानक है, अत उसे समझना और फिर तोडना भी सभव है जब उसका यथार्थ परिज्ञान हो। साधक को सत्य का यथार्थ परिबोध देने हेतु ही शास्त्रकार ने बिना किसी धर्म-गुरु या मतप्रवर्तक का नाम लिए सिर्फ उनके सिद्धान्तो की युक्ति-रहितता बताने का प्रयास किया है।

सूत्रकृत मे वर्णित पर-सिद्धान्त आज भी दीघनिकाय, सामञ्जफलसुत्त, सुत्तनिपात, मज्झिमनिकाय, सयुक्त-निकाय, महाभारत तथा अनेक उपनिषदो मे विकीर्ण रूप से विद्यमान हैं, जिससे २५०० वर्ष पूर्व की उस दार्शनिक चर्चा का पता चलता है। यद्यपि २५०० वर्ष के दीर्घ अन्तराल मे भारतीय दर्शनो की विचारधाराओ मे, सिद्धान्तो मे भी काल क्रमानुसारी परिवर्तन व कई मोड आये हैं, आजीवक जैसे व्यापक सम्प्रदाय तो लुप्त भी हो गये हैं, फिर भी आत्म-अकर्तृत्ववादी साख्य, कर्मचयवादी बौद्ध, पंचमहाभूतवादी चार्वाक (नास्तिक) आदि दर्शनो की सत्ता आज भी है। सुख-वाद एवं अज्ञानवाद के बीज पाश्चात्य दर्शन मे महासुखवाद, अज्ञेयवाद एव सशयवाद के रूप मे आज परिलक्षित होते

हैं। इन दर्शनो की आज प्रासगिकता कितनी है ? यह एक अलग चर्चा का विषय हो सकता है, पर मिथ्या धारणाओ के बन्धन से मुक्त होने का लक्ष्य तो सर्वत्र सर्वदा प्रासगिक रहा है, आज के युग मे भी चिन्तन की सर्वांगता और सत्यानुगामिता, साथ ही पूर्वाग्रहमुक्तता नितान्त आपेक्षिक है। सूत्रकृत का लक्ष्य भी मुक्ति तथा साधना की सम्यग्-पद्धति है। इसलिए इसका अनुशीलन-परिशीलन आज भी उतना ही उपयोगी तथा प्रासगिक है।

सूत्रकृत का प्रथम श्रुतस्कध पद्यमय है, (१६ वां अध्ययन भी गद्य-गीति समुद्र छन्द मे है) इसकी गाथाएं बहुत सारपूर्ण सुभाषित जैसी हैं। कही-कही तो एक गाथा के चार पद, चारो ही चार सुभाषित जैसे लगते हैं। गाथाओ की शब्दावली बडी सशक्त, अर्थपूर्ण तथा श्रुति-मधुर है। कुछ सुभाषित तो ऐसे लगते हैं मानो गागर मे सागर ही भर दिया है।

जैसे—

मा पच्छा असाहुया भवे —	सूत्रांक १४९
तवेसु वा उत्तमबभचेर	३७४
आहसु विज्जा-चरण पमोक्खो	५४५
जे छेए विप्पमायं न कुज्जा	५८०
अकम्मुणा कम्म खवेंति धीरा	५४९

अगर स्वाध्यायी साधक इन श्रुतवाक्यो को कण्ठस्थ कर इन पर चिन्तन-मनन-आचरण करता रहे तो जीवन मे एक नया प्रकाश, नया विकास और नया विश्वास स्वत आने लगेगा।

द्वितीय श्रुतस्कध के विषय मे सामान्यत यही कहा जाता है कि प्रथम श्रुतस्कध मे परवादि-दर्शनो की सूत्र रूप मे की गई चर्चा का विस्तार तथा विविध उपनय एव दृष्टान्तो द्वारा पर-वाद का खण्डन एव स्व-सिद्धान्त का मण्डन—द्वितीय श्रुतस्कध का विषय है। द्वितीय श्रुतस्कध की शैली मे विविधता के भी दर्शन होते हैं। सत्रहवां पोडरीक अध्ययन एक ललित काव्य-कल्पना का रसास्वादन भी कराता है, दर्शनिक विचारधाराओ को पुष्करिणी एव कमल के उपनय द्वारा बडी सरसता के साथ समझाया गया है। १८, १९, २०, २१—ये अध्ययन जहाँ शुद्ध दार्शनिक एव सैद्धान्तिक वर्णन प्रस्तुत करते हैं वहाँ २२ एव २३ वा अध्ययन सरस कथा शैली मे सवादो के रूप में भ्रान्त मान्यताओ का निराकरण करके स्व-मान्यता की प्रस्थापना बडी सहजता के साथ करते हैं। उदाहरण के रूप मे—गोशालक भ महावीर के प्रति आक्षेप करता है कि महावीर पहले एकान्तसेवी थे, किन्तु अब हजारों लोगो के झुड के बीच रहते हैं, अत अब उनकी साधना दूषित हो गई है।

मुनि आर्द्रककुमार इस आक्षेप का ऐसा सटीक अध्यात्मचिन्तनपूर्ण उत्तर देता है कि वह हजारो वर्ष बाद आज भी अध्यात्मजगत् का प्रकाशस्तभ बना हुआ है। देखिये मुनि आर्द्रक का उत्तर—

आइक्खमाणो वि सहस्समज्झे एगंतयं सारयति तहच्चे।

—सूत्राक-७९०

भले ही भगवान महावीर हजारो मनुष्यो के बीच बैठकर धर्म-प्रवचन करते हैं, किन्तु वे आत्मद्रष्टा हैं, राग-द्वेष से रहित हैं, अत वे सदा अपने आप मे स्थित हैं।

हजारो क्या, लाखो के बीच रहकर भी वे वास्तव मे एकाकी ही हैं, अपनी आत्मा के साथ रहने वाले साधक पर बाहरी प्रभाव कभी नही पडता।

अध्यात्म-योग की यह महान् अनुभूति आर्द्रककुमार ने सिर्फ दो शब्दो मे ही व्यक्त करके गोशालक की बाह्य-दृष्टि-परकता को ललकार दिया है। सवादो मे इस प्रकार की आध्यात्मिक अनुभूतियो से आर्द्रकीय अध्ययन बडा ही रोचक व शिक्षाप्रद बन गया है।

२३ वें (छठे) नालन्दीय अध्ययन मे तो गणधर गौतम एक मनोवैज्ञानिक शिक्षक के रूप मे प्रस्तुत होते है जो उदक पेढालपुत्र को सहजता और वत्सलता के साथ विनय-व्यवहार की शिक्षाए देते हुए उसकी धारणाओ का परिष्कार करते हैं।

वास्तव मे प्रथम श्रुतस्कध जहाँ तर्क-वितर्क-प्रधान चर्चाओ का केन्द्र है, वहाँ द्वितीय श्रुतस्कध मे तर्क के साथ श्रद्धा का सुन्दर सामञ्जस्य प्रकट हुआ है। इस प्रकार द्वितीय श्रुतस्कध प्रथम का पूरक ही नहीं, कुछ विशेष भी है, नवीन भी है और अनुद्‌घाटित अर्थों का उद्‌घाटक भी है।

प्रस्तुत आगम मे पर-दर्शनो के लिए कहीं-कही मदा, मूढा "तमाओ ते जम जति" जैसी कठोर प्रतीत होने वाली शब्दावली का प्रयोग कुछ जिज्ञासुओ को खटकता है। आर्ष-वाणी में रूक्ष या आक्षेपात्मक प्रयोग नही होने चाहिए ऐसा उनका मन्तव्य है, पर वास्तविकता मे जाने पर यह आक्षेप उचित नही लगता। क्योकि ये शब्द-प्रयोग किसी व्यक्ति विशेष के प्रति नही हैं, किन्तु उन मूढ या अहितकर धारणाओं के प्रति हैं, जिनके चक्कर मे फसकर प्राणी सत्य श्रद्धा व सत्य आचार से पतित हो सकता है। असत्य की भर्त्सना और असत्य के कटु-परिणाम को जताने के लिए शास्त्रकार बडी दृढता के साथ साधक को चेताते है। ज्वरार्त के लिए कटु औषधि के समान कटु प्रतीत होने वाले शब्द कही-कही अनिवार्य भी होते हैं। फिर आज के सभ्य युग मे जिन शब्दो को कटु माना जाता है, वे शब्द उस युग मे आम भाषा मे सहजतया प्रयुक्त होते थे ऐसा भी लगता है, अत उन शब्दो की सयोजना के प्रति शास्त्रकार की सहज-सत्य-निष्ठा के अतिरिक्त अन्यथा कुछ नही है।

सूत्रकृत मे दर्शन के साथ जीवन-व्यवहार का उच्च आदर्श भी प्रस्तुत हुआ है। कपट, अहकार, जातिमद, ज्ञान-मद आदि पर भी कठोर प्रहार किये गये हैं और सरल-सात्विक जीवन-दृष्टि को विकसित करने की प्रेरणाएँ दी हैं। कुल मिलाकर इसे गृहस्थ और श्रमण के लिए मुक्ति का मार्गदर्शक शास्त्र कहा जा सकता है।

प्रस्तुत सपादन —

सूत्रकृत के प्रस्तुत सपादन मे अब तक प्रकाशित अनेक सस्करणो को लक्ष्य मे रखकर सपादन/विवेचन किया गया है। मुनि श्री जम्बूविजयजी द्वारा सपादित मूल पाठ हमारा आदर्श रहा है, किन्तु उसमे भी यत्र-तत्र चूर्णिसम्मत कुछ सशोधन हमने किये हैं। आचार्य भद्रबाहुकृत निर्युक्ति, प्राचीनतम सस्कृतमिश्रित-प्राकृतव्याख्या—चूर्णि, तथा आचार्य शीलाक कृत वृत्ति इन तीनो के आधार पर हमने मूल का हिन्दी भावार्थ व विवेचन करने का प्रयत्न किया है। कही-कही चूर्णिकार तथा वृत्तिकार के पाठो मे पाठ-भेद तथा अर्थ-भेद भी है। यथाप्रसग उसका भी उल्लेख करने का प्रयास मैंने किया है, ताकि पाठक उन दोनो के अनुशीलन से स्वय की बुद्धि-कसौटी पर उसे कसकर निर्णय करे। चूर्णि एव वृत्ति के विशिष्ट अर्थों को मूल सस्कृत के साथ हिन्दी मे भी दिया गया है। जहाँ तक मेरा अध्ययन है, अब तक के विवेचनकर्ता सस्कृत को ही महत्त्व देकर चले हैं, चूर्णिगत तथा वृत्ति-गत पाठो को मूल रूप मे अकित करके ही इति करते रहे हैं, किन्तु इससे हिन्दी-पाठक के पल्ले कुछ नही पडता, जबकि आज का पाठक अधिकाशत हिन्दी के माध्यम से ही जान पाता है। मैंने उन पाठो का हिन्दी अनुवाद भी प्रायश देने का प्रयत्न किया है, यह सभवत. नया प्रयास ही माना जायेगा।

आगम पाठो से मिलते-जुलते अनेक पाठ, शब्द बौद्ध ग्रन्थो में भी मिलते हैं, जिनकी तुलना अनेक दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण है, पाद-टिप्पण मे स्थान-स्थान पर बौद्ध ग्रन्थो के वे स्थल देकर पाठको को तुलनात्मक अध्ययन के लिए इगित किया गया है, आशा है इससे प्रबुद्ध पाठक लाभान्वित होंगे। अन्त में परिशिष्ट हैं, जिनमें गाथाओ की अकारादि सूची तथा विशिष्ट शब्दसूची भी है। इनके सहारे आगम गाथा व पाठो का अनुसधान करना बहुत सरल हो जाता है। अनुसधाताओं के लिए इस प्रकार की सूची बहुत उपयोगी होती है। प. श्री विजयमुनिजी शास्त्री ने विद्वत्तापूर्ण भूमिका में भारतीय दर्शनो की पृष्ठभूमि पर सुन्दर प्रकाश डालकर पाठको को अनुगृहीत किया है।

इस संपादन मे युवाचार्य श्री मधुकरजी महाराज का विद्वत्तापूर्ण मार्ग-दर्शन बहुत बडा सम्बल बना है। साथ हो विश्रुत विद्वान् परम सौहार्दशील पडित श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल का गंभीर-निरीक्षण-परीक्षण, प श्री नेमी-चन्द्रजी महाराज का आत्मीय भावपूर्ण सहयोग—मुझे कृतकार्य मे बहुत उपकारक रहा है, मैं विनय एव कृतज्ञता के साथ उन सबका आभार मानता हूँ और आशा करता हूँ श्रुत-सेवा के इस महान कार्य में भविष्य में इसी प्रकार का सौभाग्य मिलता रहेगा।

—श्रीचन्द सुराना

प्रस्तावना

प्राचीन भारतीय दर्शन और सूत्रकृतांग

(प्रथम सस्करण से)

भारतीय-दर्शन, फिर भले ही वह किसी भी सम्प्रदाय का क्यो न रहा हो, उसका मूल स्वर अध्यात्मवाद रहा है। भारत का एक भी सम्प्रदाय ऐसा नही है जिसके दर्शन-शास्त्र मे आत्मा, ईश्वर और जगत् के सम्बन्ध मे विचारणा न की गई हो। आत्मा का स्वरूप क्या है ? ईश्वर का स्वरूप क्या है ? और जगत् की व्यवस्था किस प्रकार होती है ? इन विषयो पर भारत की प्रत्येक दर्शन-परम्परा ने अपने-अपने दृष्टिकोण से विचार किया है। जब आत्मा की विचारणा होती है, तब स्वाभाविक रूप मे ईश्वर की विचारणा हो ही जाती है। इन दोनो विचारणा के साथ-साथ जगत् की विचारणा भी आवश्यक हो जाती है। दर्शन-शास्त्र के ये तीन ही विषय मुख्य माने गये हैं।

आत्मा चेतन है, ज्ञान उसका स्वभाव या गुण है, इस सत्य को सभी ने स्वीकार किया है। उसकी अमरता के सम्बन्ध मे भी किसी को सन्देह नही है। भारतीय दर्शनो मे एकमात्र चार्वाक दर्शन ही इस प्रकार का है जो आत्मा को शरीर से भिन्न नही मानता। वह आत्मा को भौतिक मानता है। अभौतिक नही। जबकि अन्य समस्त दार्शनिक आत्मा को एक स्वर से अभौतिक स्वीकार करते हैं। आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध मे और उसकी अमरता के सम्बन्ध मे किसी भी भारतीय दार्शनिक परम्परा को सशय नही रहा है। आत्मा के स्वरूप और लक्षण के सम्बन्ध मे भेद रहा है परन्तु उसके अस्तित्व के सम्बन्ध मे किसी भी प्रकार का भेद नही है। ईश्वर के सम्बन्ध मे यही कहा जा सकता है कि किसी न किसी रूप मे सभी दार्शनिको ने उसके अस्तित्व को स्वीकार किया है। परन्तु ईश्वर के स्वरूप और लक्षण के सम्बन्ध मे पर्याप्त मतभेद रहा है।

जगत् के अस्तित्व के सम्बन्ध मे किसी भी दर्शन परम्परा को सन्देह नही रहा। चार्वाक भी जगत् के अस्तित्व को स्वीकार करता है। अन्य सभी दर्शन परम्पराओ ने जगत् के अस्तित्व को स्वीकार किया है और उसकी उत्पत्ति तथा रचना के सम्बन्ध मे अपनी-अपनी पद्धति से विचार किया है। किसी ने उसका आदि और अन्त स्वीकार किया है और किसी ने उसे अनादि और अनन्त माना है।

दर्शन-शास्त्र सम्पूर्ण सत्ता के विषय मे कोई धारणा बनाने का प्रयत्न करता है। उसका उद्देश्य विश्व को समझना है। सत्ता का स्वरूप क्या है ? प्रकृति क्या है ? आत्मा क्या है ? और ईश्वर क्या है ? दर्शन-शास्त्र इन समस्त जिज्ञासाओ का समाधान करने का प्रयत्न करता है। दर्शन-शास्त्र मे यह भी समझाने का प्रयत्न किया जाता है कि मानव जीवन का प्रयोजन और उसका मूल्य क्या है ? तथा जगत के साथ उसका क्या सम्बन्ध है ? इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि दर्शनशास्त्र जीवन और अनुभव की समालोचना है। दर्शन-शास्त्र का निर्माण मनुष्य के विचार और अनुभव के आधार पर होता है। तर्कनिष्ठ विचार ज्ञान का साधन रहा है। दर्शन तर्कनिष्ठ विचार के द्वारा सत्ता के स्वरूप को समझने का प्रयत्न करता है। पाश्चात्य-दर्शन मे सैद्धान्तिक प्रयोजन की प्रधानता रहती है, वह स्वतन्त्र चिन्तन पर आधारित है और आप्तप्रभाव की उपेक्षा करता है। नीति और धर्म की व्यावहारिक बातो से वह प्रेरणा नही लेता।

जबकि भारतीय दर्शन आध्यात्मिक चिन्तन से प्रेरणा पाता है। वास्तव मे भारतीय दर्शन एक आध्यात्मिक शोध एवं खोज है। भारतीय-दर्शन सत्ता के स्वरूप की जो खोज करता है, उसके पीछे उसका उद्देश्य मानव जीवन के चरम साध्य मोक्ष को प्राप्त करना है। सत्ता के स्वरूप का ज्ञान इसलिये आवश्यक है कि वह नि.श्रेयस् एव परम साध्य को प्राप्त करने का एक साधन है। इसी आधार पर यह कहा जाता है कि भारतीय-दर्शन अपने मूल स्वरूप मे एक आध्यात्मिक-दर्शन है, भौतिक-दर्शन नही।

यद्यपि भारतीय-दर्शन मे भौतिक तत्त्वो की व्याख्या की गई है, फिर भी उसका मूल स्वभाव आध्यात्मिक ही रहा है। इसका सर्वप्रथम प्रमाण तो यह है, कि भारत मे धर्म और दर्शन को परस्पर एक दूसरे पर आश्रित माना गया है। परन्तु धर्म का अर्थ अन्ध विश्वास नही, बल्कि तर्क पूर्ण आत्म-अनुभवी माना गया है। भारतीय परम्परा के अनुसार धर्म आध्यात्मिक शक्ति को प्राप्त करने का एक व्यावहारिक उपाय एव साधन है। दर्शन-शास्त्र सत्ता की मीमासा करता है और उसके स्वरूप को विचार के द्वारा प्रकट करता है, जिससे मोक्ष की प्राप्ति होती है। अत स्पष्ट है कि भारतीय-दर्शन बौद्धिक विलास नही है, बल्कि वह एक आध्यात्मिक खोज है। भारतीय-दर्शन चिन्तन एव मनन के आधार पर प्रतिष्ठित है, लेकिन उसमे चिन्तन एव मनन का स्थान आगम, पिटक और वेदो की अपेक्षा गौण है। भारतीय-दर्शन की प्रत्येक परम्परा आप्तवचन अथवा शब्द-प्रमाण पर अधिक आधारित रही है। जैन अपने आगम पर अधिक विश्वास करते हैं, बौद्ध अपने पिटक पर अधिक श्रद्धा रखते हैं और वैदिक परम्परा के सभी सम्प्रदाय वेदो के वचनो पर ही एकमात्र आधार रखते हैं। इस प्रकार भारतीय-दर्शन मे प्रत्यक्ष अनुभूति की अपेक्षा परोक्ष अनुभूति पर ही अधिक बल दिया गया है, जिसे आप्तपुरुष की प्रत्यक्ष अनुभूति कह सकते हैं।

भारत के दार्शनिक सम्प्रदाय

भारत के दार्शनिक सम्प्रदायो को अनेक विभागो मे विभाजित किया जा सकता है। भारतीय विद्वानो ने भी उनका वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया है। आचार्य हरिभद्र ने अपने "षट्दर्शनसमुच्चय" मे, आचार्य माधव के "सर्वदर्शनसग्रह" मे, आचार्य शकर के "सर्वसिद्धान्त" आदि मे दर्शनो का वर्गीकरण विभिन्न प्रकार से किया गया है। पाश्चात्य-दर्शन-परम्परा के दार्शनिको ने वर्गीकरण की जो पद्धति स्वीकार की है वह भी एक प्रकार की न होकर अनेक प्रकार की है। सबसे अधिक प्रचलित पद्धति यह है, कि भारतीय-दर्शन को दो भागो मे विभाजित किया गया है—आस्तिक दर्शन और नास्तिक दर्शन। आस्तिक दर्शन इस प्रकार हैं—साख्य, योग, वैशेषिक, न्याय, मीमासा और वेदान्त। नास्तिक दर्शन इस प्रकार हैं—चार्वाक, जैन और बौद्ध। परन्तु यह पद्धति न तर्कपूर्ण है न समीचीन। वैदिक दर्शनो को आस्तिक कहने का क्या आधार रहा है? इसका एक मात्र आधार शायद यही रहा है कि वे वेद-वचनो मे विश्वास करते है। यदि वेद-वचनो पर विश्वास न करने के आधार पर ही चार्वाक, जैन और बौद्धो को नास्तिक कहा जाता है, तब यही मानना चाहिये कि जो व्यक्ति चार्वाक ग्रन्थो मे, जैन आगमो मे और बौद्ध पिटको मे विश्वास नही करते वे भी नास्तिक हैं। इस प्रकार भारत का कोई भी दर्शन आस्तिक नही रहेगा। यदि यह कहा जाए कि जो ईश्वर को स्वीकार नहीं करता, वह नास्तिक है, इस दृष्टि से चार्वाक, जैन और बौद्ध नास्तिक कहे जाते हैं, तब इसका अर्थ यह होगा कि साख्य और योग तथा वैशेषिक-दर्शन भी नास्तिक परम्परा मे ही परिगणित होगे, क्योकि ये भी ईश्वर को स्वीकार नही करते। वेदो का सबसे प्रबल समर्थक मीमासा-दर्शन भी ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नही करता, वह भी नास्तिक कहा जायेगा। अत आस्तिक और नास्तिक के आधार पर भारतीय-दर्शनो का विभाग करना, यह एक भ्रम परिपूर्ण धारणा है। वास्तव मे भारतीय-दर्शनो का विभाग दो रूपो मे करना चाहिये—वैदिक-दर्शन और अवैदिक-दर्शन। वैदिक-दर्शनो में षड्-दर्शनो की परिगणना हो जाती है और अवैदिक-दर्शनो मे चार्वाक, जैन और बौद्धदर्शन आ जाते हैं। इस प्रकार भारतीय-दर्शन परम्परा मे मूल में नव दर्शन होते हैं—चार्वाक, जैन, बौद्ध, साख्य,

योग, वैशेषिक, न्याय, मीमांसा और वेदान्त । ये नव दर्शन भारत के मूल दर्शन हैं । कुछ विद्वानो ने यह भी कहा है कि अवैदिक-दर्शन भी छह हैं—जैसे चार्वाक, जैन, सौत्रान्तिक, वैभाषिक, योगाचार और माध्यमिक । इस प्रकार वेदान्त परम्परा के दर्शन भी छह हैं और अवैदिक दर्शन भी छह होते है । इस प्रकार भारत के मूल दर्शन द्वादश हो जाते हैं ।

न्याय और वैशेषिक दर्शन मे कुछ सैद्धान्तिक भेद होते हुए भी प्रकृति, आत्मा और ईश्वर के विषय मे दोनो के मत समान हैं । कालक्रम से इनका एकीभाव हो गया और अब इनका सम्प्रदाय न्याय-वैशेषिक कहा जाता है । साख्य और योग की प्रकृति के विषय मे एक ही धारणा है, यद्यपि साख्य निरीश्वरवादी है और योग ईश्वरवादी है । इसलिए कभी-कभी इनको एक साथ साख्य-योग कह दिया जाता है । मीमासा के दो सम्प्रदाय हैं, जिनमे से एक के प्रवर्तक आचार्य कुमारिल भट्ट हैं और दूसरे के आचार्य प्रभाकर । इनको क्रम से भट्ट-सम्प्रदाय और प्रभाकर-सम्प्रदाय कहा जाता है । वेदान्त के भी दो मुख्य सम्प्रदाय हैं, जिनमे से एक के प्रवर्तक आचार्य शकर है और दूसरे के आचार्य रामानुज । शकर का सिद्धान्त अद्वैतवाद अथवा केवलाद्वैतवाद के नाम से विख्यात है और रामानुज का विशिष्टाद्वैतवाद के नाम से । वेदान्त मे कुछ अन्य छोटे-छोटे सम्प्रदाय भी हैं, उन सभी का समावेश भक्तिवादी दर्शन मे किया जा सकता है । वेदान्त परम्परा के दर्शनो मे मीमासा-दर्शन को पूर्व-मीमासा और वेदान्त-दर्शन को उत्तर-मीमासा भी कहा जा सकता है । इस प्रकार इन विभागो मे वैदिक परम्परा के सभी सम्प्रदायो का समावेश आसानी से किया जा सकता है । बौद्ध दर्शन परिवर्तनवादी दर्शन रहा है । वह परिवर्तन अथवा अनित्यता मे विश्वास करता है, नित्यता को वह सत्य स्वीकार नही करता । बौद्धो के अनेक सम्प्रदाय हैं, उनमे से वैभाषिक और सौत्रान्तिक सर्वास्तिवादी है । इन्हे बाह्यार्थवादी भी कहा जाता है । क्योंकि ये दोनो सम्प्रदाय समस्त बाह्य वस्तुओ को सत्य मानते है । वैभाषिक बाह्य प्रत्यक्षवादी हैं । इनका मत यह है कि बाह्य वस्तु क्षणिक है, और उनका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है । सौत्रान्तिक बाह्यानुमेयवादी हैं । इनका मत यह है कि बाह्य पदार्थ, जो कि क्षणिक हैं, प्रत्यक्षगम्य नही हैं । मन मे उनकी जो चेतना उत्पन्न होती है, उससे उनका अनुमान किया जाता है । योगाचार सम्प्रदाय विज्ञानवादी है । इसका मत यह है कि समस्त बाह्य वस्तु मिथ्या हैं और चित्त मे जो कि विज्ञान-सन्तान मात्र है, विज्ञान उत्पन्न होते है, जो निरालम्बन हैं । योगाचार विज्ञानवादी है । माध्यमिक सम्प्रदाय का मत यह है, कि न बाह्य वस्तुओ की सत्ता है और न आन्तरिक विज्ञानो की । ये दोनो ही सवृत्तिमात्र (कल्पना-आरोप) हैं । तत्त्व नि स्वभाव है, अनिर्वाच्य है और अज्ञेय है । कुछ बौद्ध विद्वान् केवल निरपेक्ष चैतन्य को ही सत्य मानते हैं ।

जैन-दर्शन मूल मे द्वैतवादी दर्शन है । वह जीव की सत्ता को भी स्वीकार करता है और जीव से भिन्न पुद्गल की भी सत्ता को सत्य स्वीकार करता है । जैन-दर्शन ईश्वरवादी दर्शन नही है । जैनो के चार सम्प्रदाय हैं—श्वेताम्बर, दिगम्बर, स्थानकवासी और तेरापथी । इन चारो सम्प्रदायो मे मूलतत्त्व के सम्बन्ध मे किसी भी प्रकार का मतभेद नही है । तत्त्व सम्बन्धी अथवा दार्शनिक किसी प्रकार का मतभेद इन चारो ही सम्प्रदायो मे नही रहा । परन्तु आचार पक्ष को लेकर इन चारो मे कुछ विचारभेद रहा है । वास्तव मे अनुकम्पा—अहिंसा और अपरिग्रह की व्याख्या मे मतभेद होने के कारण ही ये चारो सम्प्रदाय अस्तित्व मे आये हैं । किन्तु तात्त्विक दृष्टि से इनमे आज तक कोई भेद नही रहा है । चार्वाको मे भी अनेक सम्प्रदाय रहे थे—जैसे चार भूतवादी और पाच भूतवादी । इस प्रकार भारत के दार्शनिक सम्प्रदाय अपनी-अपनी पद्धति से भारतीय दर्शन-शास्त्र का विकास करते रहे हैं ।

भारतीय-दर्शनों के सामान्य सिद्धान्त

भारतीय-दर्शनो के सामान्य सिद्धान्तो मे मुख्य रूप चार हैं—आत्मवाद, कर्मवाद, परलोकवाद और मोक्षवाद। इन चारो विचारो मे भारतीय-दर्शनो के सभी सामान्य सिद्धान्त समाविष्ट रहे हैं । जो आत्मवाद में विश्वास रखता है,

उसे कर्मवाद में भी विश्वास रखना ही होगा। और जो कर्मवाद को स्वीकार करता है उसे परलोकवाद भी स्वीकार करना ही होगा। और जो परलोकवाद को स्वीकार कर लेता है, उसे स्वर्ग और मोक्ष पर भी विश्वास करना ही होता है। इस प्रकार भारतीय-दर्शनो के सर्वमान्य सिद्धान्त ये चार ही रहे हैं। इन चारो के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा विचार नही है, जो इन चारो मे न आ जाता हो। फिर भी यदि हम प्रमाण-मीमासा को लें, तो वह भी भारतीय-दर्शन का एक अविभाज्य अग रही है। प्रत्येक दर्शन की शाखा ने प्रमाण की व्याख्या की है और उसके भेद एव उपभेदो की विचारणा की है। फिर आचार-शास्त्र को भी यदि लिया जाये, तो प्रत्येक भारतीय-दर्शन की शाखा का अपना एक आचार-शास्त्र रहा है। इस आचार-शास्त्र को हम उस दर्शन का साधना पक्ष भी कह सकते हैं। प्रत्येक दर्शन-परम्परा अपनी पद्धति से अपने द्वारा प्रतिपादित तत्त्व-ज्ञान को जब जीवन मे उतारने का प्रयत्न करती है, तब उसे साधना कहा जाता है। यह साधना-पक्ष भी प्रत्येक भारतीय-दर्शन का अपना एक विशिष्ट ध्येय रहा है।

यह स्वाभाविक है कि मनुष्य को अपने वर्तमान जीवन से असन्तोष हो। जीवन मे प्रतीत होने वाले प्रतिकूल भाव, दु ख एव क्लेशो से व्याकुल होकर मनुष्य इनसे छुटकारा प्राप्त करने की बात सोचे। भारत के प्रत्येक दर्शन ने फिर भले ही वह किसी भी परम्परा का क्यो न रहा हो, वर्तमान जीवन को दु खमय एव क्लेशमय माना है। इसका अर्थ यही होता है कि जीवन मे जो कुछ दु ख एव क्लेश है उसे दूर करने का प्रयत्न किया जाये। क्योकि दु ख-निवृत्ति और सुख-प्राप्ति प्रत्येक आत्मा का साहजिक अधिकार है। भारत के इस दृष्टिकोण को लेकर पाश्चात्य दार्शनिको ने उसे निराशावादी अथवा पलायनवादी कहा है। परन्तु उन लोगो का यह कथन न तर्क-सगत है और न भारतीय-दर्शन की मर्यादा के अनुकूल ही। भारतीय-दर्शनो मे त्याग और वैराग्य की जो चर्चा की गई है, उसका अर्थ जीवन से पराङ्मुख बनना नही है, बल्कि वर्तमान जीवन के असन्तोष के कारण चित्त मे जो एक व्याकुलता रहती है उसे दूर करने के लिये ही भारतीय दार्शनिको ने त्याग और वैराग्य की बात कही है। यह दु खवादी विचारधारा बौद्ध-दर्शन मे अतिरेक वादी बन गयी है। उसे किसी अश मे स्वीकार करना ही होगा। जैन-दर्शन भी इस दु खवादी परम्परा मे सम्मिलित रहा है। साख्य-दर्शन ने प्रारम्भ मे ही इस तथ्य को स्वीकार किया है कि तीन प्रकार के दु ख से व्याकुल यह आत्मा सुख और शान्ति की खोज करना चाहती है। इस प्रकार भारतीय-दर्शनो मे दु खवादी विचारधारा रही है। इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता। परन्तु इसका अर्थ निराशावाद और पलायनवाद कतई नही किया जा सकता। एक मात्र सुख का अनुसधान ही उसका मुख्य उद्देश्य रहा।

भारतीय-दर्शनो में आत्मवाद

भारत के सभी दर्शन आत्मा के अस्तित्व मे विश्वास करते है। न्याय और वैशेषिक आत्मा को अविनश्वर और नित्य पदार्थ मानते हैं। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दु ख और ज्ञान को उसके विशेष गुण मानते है। आत्मा ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता है। ज्ञान, अनुभूति और सकल्प आत्मा के धर्म हैं। चैतन्य आत्मा का स्वरूप है। मीमासादर्शन का भी यही मत है। मीमासा आत्मा को नित्य और विभु मानती है। चैतन्य को उसका आगन्तुक धर्म मानती है। स्वप्न रहित निद्रा की तथा मोक्ष की अवस्था मे आत्मा चैतन्य गुणो से रहित होती है। साख्य-दर्शन मे पुरुष को नित्य और विभु तथा चैतन्य स्वरूप माना गया है। इस दर्शन के अनुसार चैतन्य आत्मा का आगन्तुक धर्म नही है। पुरुष अकर्ता है। वह सुख-दु ख की अनुभूतियो से रहित है। बुद्धि कर्ता है और सुख एव दु ख के गुणों से युक्त है। बुद्धि प्रकृति का परिणाम है और प्रकृति निरन्तर क्रियाशील है। इसके विपरीत पुरुष शुद्ध चैतन्य स्वरूप है। अद्वैत वेदान्त आत्मा को विशुद्ध सत्‌चित्‌ और आनन्द स्वरूप मानता है। साख्य अनेक पुरुषो को मानता है, लेकिन ईश्वर को नही मानता। अद्वैत वेदान्त केवल एक ही आत्मा को सत्य मानता है। चार्वाकदर्शन आत्मा की सत्ता को नहीं मानता। वह चैतन्य विशिष्ट शरीर को ही आत्मा मानता है। बौद्धदर्शन आत्मा को ज्ञान, अनुभूति और सकल्पो की प्रत्येक क्षण मे परिवर्तन होने वाली

सन्तान मानता है। इसके विपरीत जैनदर्शन आत्मा को नित्य, अजर और अमर स्वीकार करता है। ज्ञान आत्मा का विशिष्ट गुण है। जैनदर्शन मानता है कि आत्मा स्वभावत अनन्त-ज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्त-सुख और अनन्त-शक्ति से युक्त है। इस दृष्टि से प्रत्येक भारतीय-दर्शन आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करता है और उसकी व्याख्या अपने ढग से करता है।

भारतीय-दर्शनो मे कर्मवाद

कर्मवाद भारतीय-दर्शन का एक विशिष्ट सिद्धान्त माना जाता है। भारत के प्रत्येक दर्शन की शाखा ने इस कर्मवाद के सिद्धात पर भी गम्भीर विचार किया है। जीवन मे जो सुख और दु ख की अनुभूति होती है, उसका कोई आधार अवश्य होना चाहिये। इसका एक मात्र आधार कर्मवाद ही हो सकता है। इस ससार मे जो विचित्रता और जो विविधता का दर्शन होता है, उसका आधार प्रत्येक व्यक्ति का अपना कर्म ही होता है। कर्मवाद के सम्बन्ध मे जितना गम्भीर और विस्तृत विवेचन जैन-परम्परा के ग्रन्थो मे उपलब्ध है उतना अन्यत्र उपलब्ध नही है। एक चार्वाकदर्शन को छोडकर शेष सभी भारतीय-दर्शन कर्मवाद के नियम मे आस्था एव विश्वास रखते हैं। कर्म का नियम नैतिकता के क्षेत्र मे काम करने वाला कारण नियम ही है। इसका अर्थ यह है, कि शुभ कर्म का फल अनिवार्यत सुख होता है और अशुभ कर्म का फल अनिवार्यत अशुभ होता है। अच्छा काम आत्मा मे पुण्य उत्पन्न करता है, जो कि सुखभोग का कारण बनता है। बुरा काम आत्मा मे पाप उत्पन्न करता है, जो कि दु खभोग का कारण बनता है। सुख और दु ख शुभ और अशुभ कर्मों के अनिवार्यत फल है। इस नैतिक नियम की पकड से कोई भी छूट नही सकता। शुभ और अशुभ दोनो प्रकार के कर्म सूक्ष्म सस्कार छोड जाते हैं। जो निश्चय ही भावी सुख-दु ख के कारण बनते हैं। वे अवश्य ही समय आने पर अपने फल को उत्पन्न करते हैं। इन फलो का भोग निश्चय ही इस जन्म मे अथवा भविष्य मे किया जाता है। कर्म के नियम के कारण ही आत्मा को इस ससार मे जन्म और मरण करना पडता है। जन्म और मरण का कारण कर्म ही है।

कर्म के नियम का बीज रूप सर्वप्रथम ऋग्वेद की ऋतधारा मे उपलब्ध होता है। ऋत का अर्थ है जगत की व्यवस्था एव नियम। प्रकृति की प्रत्येक घटना अपने नियम के अनुसार ही होती है। प्रकृति के ये नियम ही ऋत है। आगे चलकर ऋत की धारणा मे मनुष्य के नैतिक नियमो की व्यवस्था का भी समावेश हो गया था। उपनिषदो मे भी इस प्रकार के विचार हमे बीज रूप मे अथवा सूक्ष्म रूप मे प्राप्त होते है। कुछ उपनिषदो मे तो कर्म के नियम की भौतिक नियम के रूप मे स्पष्ट धारणा की गई है। मनुष्य जैसा बोता है वैसा ही काटता है। अच्छे बुरे कर्मों का फल अच्छे बुरे रूप मे ही मिलता है। शुभ कर्मों से अच्छा चरित्र बनता है और अशुभ कर्मों से बुरा। फिर अच्छे चरित्र से अच्छा जन्म मिलता है और बुरे चरित्र से बुरा। उपनिषदो मे कहा गया है कि मनुष्य शुभ कर्म करने से धार्मिक बनता है और अशुभ कर्म करने से पापात्मा बनता है। ससार जन्म और मृत्यु का एक अनन्त चक्र है। मनुष्य अच्छे कर्म करके अच्छा जन्म पा सकता है और अन्त मे भेद-विज्ञान के द्वारा ससार से मुक्त भी हो सकता है।

जैन-आगम और बौद्ध-पिटको मे भी कर्मवाद के शाश्वत नियमो को स्वीकार किया गया है। जैन-परम्परा में भगवान् ऋषभदेव के समय से ही कर्मवाद की मान्यता रही है। बौद्ध-दर्शन मे भी कर्मवाद की मान्यता स्पष्ट रूप मे नजर आती है। अत बौद्ध-दर्शन भी कर्मवादी दर्शन रहा है। न्याय, वैशेषिक, साख्य और योग तथा मीमासा और वेदान्त दर्शन मे कर्म के नियम के सम्बन्ध मे आस्था व्यक्त की गई है। इन दर्शनो का विश्वास है कि अच्छे अथवा बुरे काम अदृष्ट को उत्पन्न करते हैं, जिसका विपाक होने मे कुछ समय लगता है। उसके बाद उस व्यक्ति को सुख अथवा दु ख भोगना पडता है। कर्म का फल कुछ तो इस जीवन मे मिलता है और कुछ अगले जीवन मे। लेकिन कर्म के फल से कभी बचा नही जा सकता। भौतिक व्यवस्था पर कारण नियम का शासन है और नैतिक व्यवस्था पर कर्म के नियम का

शासन रहता है । परन्तु भौतिक व्यवस्था भी नैतिक व्यवस्था के ही उद्देश्य की पूर्ति करती है । इस प्रकार यह देखा जाता है कि भारतीय-दर्शनो की प्रत्येक शाखा ने कर्मवाद के नियमो को स्वीकार किया है और उसकी परिभाषा एव व्याख्या भी अपनी-अपनी पद्धति से की है ।

भारतीय दर्शनो मे परलोकवाद

जब भारतीय-दर्शनो मे आत्मा को अमर मान लिया गया है और ससारी अवस्था मे उसमे सुख एव दु ख मान लिया गया है, तब यह आवश्यक हो जाता है कि सुख एव दु ख का मूल आधार भी मान लिया जाये और वह मूल आधार कर्मवाद के रूप मे भारतीय-दर्शन ने स्वीकार किया । वर्तमान जीवन मे आत्मा किस रूप मे रहती है ? और उसकी स्थिति क्या होती है ? इस समस्या मे से ही परलोकवाद का जन्म हुआ । परलोकवाद को जन्मान्तरवाद भी कहा जाता है । एक चार्वाकदर्शन को छोडकर शेष सभी भारतीय-दर्शनो का परलोकवाद एक सर्वमान्य सिद्धान्त है । परलोक-वाद अथवा जन्मान्तरवाद कर्मवाद के सिद्धात का फलित रूप है । कर्म का सिद्धान्त यह माँग करता है कि शुभ कर्मो का शुभ फल मिले और अशुभ कर्मों का अशुभ फल । लेकिन सब कर्मों का फल इसी जीवन मे मिलना सभव नही है । अत कर्मफल को भोगने के लिये दूसरा जीवन आवश्यक है ।

भारतीय-दर्शन के अनुसार यह ससार जन्म और मरण की अनादि शृ खला है । इस जन्म और मरण का कारण क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर मे साख्यदर्शन मे कहा गया है कि प्रकृति और पुरुष का भेद-ज्ञान न होना ही इसका कारण है । न्याय और वैशेषिक दर्शन मे कहा गया है कि अविद्या अथवा माया ही उसका मुख्य कारण है । बौद्धदर्शन मे कहा गया कि वासना के कारण ही जन्म और मरण होता है । जैनदर्शन मे कहा गया है कि कर्मबद्ध ससारी आत्मा का जो बार-बार जन्म और मरण होता है, उसके पाँच कारण है—मिथ्यात्व-भाव, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा शुभ और अशुभ योग । सामान्य भाषा मे जब तत्त्वज्ञान से अज्ञान का नाश हो जाता है, तब ससार का भी नाश हो जाता है । भारतीय-दर्शनो मे यह भी कहा गया है कि ससार एक बधन है, इस बधन का आत्यन्तिक नाश आत्मा के शुद्ध स्वरूप मोक्ष से ही होता है । बन्धन का कारण अज्ञान है और इसी से ससार की उत्पत्ति होती है । इसके विपरीत मोक्ष का कारण तत्त्वज्ञान है । तत्त्वज्ञान के हो जाने पर ससार का भी अन्त हो जाता है । इस प्रकार तत्त्वज्ञान और उसका विपरीत भाव अज्ञान, अविद्या, माया, वासना और कर्म को माना गया है ।

जन्मान्तर, भवान्तर, पुनर्जन्म और परलोक का अर्थ है—मृत्यु के बाद आत्मा का दूसरा शरीर धारण करना । चार्वाकदर्शन ने यह माना था कि शरीर के नाश के साथ ही चेतनाशक्ति का भी नाश हो जाता है । परन्तु आत्मा की अमरता मे विश्वास करने वाले दार्शनिको का कहना है कि शरीर के नाश से आत्मा का नाश नही होता । इस वर्तमान शरीर के नष्ट होने पर भी आत्मा बनी रहती है और पूर्व-कृत कर्मों का फल भोगने के लिए आत्मा को दूसरा जन्म धारण करना पडता है । दूसरा जन्म धारण करना ही पुनर्जन्म कहा जाता है । पशु, पक्षी, मनुष्य और नारक, देव आदि अनेक प्रकार के जन्म ग्रहण करना यह ससारी आत्मा का आवश्यक परिणाम है । आत्मा अनेक जन्म तभी ग्रहण कर सकती है जब वह नित्य और अविच्छिन्न हो । सभी आस्तिक दर्शन आत्मा की नित्यता को स्वीकार करते हैं ।

चार्वाकदर्शन शरीर, प्राण अथवा मन से भिन्न आत्मा जैसी नित्य वस्तु को स्वीकार नहीं करता । अत उसके मतमे जन्मान्तर अथवा पुनर्जन्म जैसी वस्तु मान्य नहीं है । बौद्ध दार्शनिक आत्मा को क्षणिक विज्ञानो की एक सन्तति मात्र मानते हैं । उनके अनुसार आत्मा क्षण-क्षण मे बदलती है । जो आत्मा पूर्व क्षण मे थी, वह उत्तर क्षण मे नही रहती । इस प्रकार नदी के प्रवाह के समान वे चित्त-सन्तति के प्रवाह को स्वीकार करते हैं । वे कहते हैं कि आत्मा की सन्तति नित्य प्रवहमान रहती है । इस प्रकार क्षणिकवाद को स्वीकार करने पर भी वे जन्मान्तर और पुनर्जन्म को भी स्वीकार करते हैं । उनकी मान्यता के अनुसार एक विज्ञान सन्तान का अन्तिम विज्ञान सभी पूर्व विज्ञानो की वासनाओ

को आत्मसात करता है और एक नया शरीर धारण कर लेता है। बौद्ध मत के अनुसार वासना को सस्कार भी कहा गया है। इस प्रकार बौद्ध-दार्शनिक आत्मा की नित्यता तो नही मानते लेकिन विज्ञान-सन्तान की अविच्छिन्नता को अवश्य ही स्वीकार करते है। जैन-दार्शनिक आत्मा को केवल नित्य नही, परिणामी नित्य मानते हैं। आत्मा द्रव्यदृष्टि से नित्य है, और पर्यायदृष्टि से अनित्य। क्योकि पर्याय प्रतिक्षण बदलता रहता है। इसके बदलने पर भी द्रव्य का द्रव्यत्व नष्ट नही होता। जैन-दार्शनिक पुनर्जन्म को स्वीकार करते हैं। क्योकि प्रत्येक आत्मा अपने कर्मों के अनुसार अनेक गति एव योनियो को प्राप्त होती है। जैसे कोई एक आत्मा, जो आज मनुष्यशरीर मे है, भविष्य मे वह अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार देव और नारक भी बन सकती है। एक जन्म के बाद दूसरे जन्म को धारण करना, इसी को जन्मान्तर अथवा भवान्तर कहा जाता है। इस प्रकार समस्त आस्तिक भारतीय-दार्शनिक परम्पराएँ पुनर्जन्म को स्वीकार करती हैं।

भारतीय दर्शन में मोक्ष एव निर्वाण

आस्तिक दार्शनिको के सामने यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि क्या कभी आत्मा की इस प्रकार की स्थिति भी होगी कि उसका पुनर्जन्म अथवा जन्मान्तर मिट जाये ? इस प्रश्न के उत्तर मे उनका कहना है कि मोक्ष, मुक्ति अथवा निर्वाण ही वह स्थिति है, जहाँ पहुँच कर आत्मा का जन्मान्तर अथवा पुनर्जन्म मिट जाता है। यही कारण है कि आत्मा की अमरता मे आस्था रखने वाले आस्तिक दर्शनो ने मोक्ष की स्थिति को एक स्वर मे स्वीकार किया है। चार्वाकदर्शन का कहना है कि मरण ही अपवर्ग अथवा मोक्ष है। मोक्ष का सिद्धान्त सभी आस्तिक भारतीय दार्शनिको को मान्य है। भौतिकवादी होने के कारण एक चार्वाक ही उसे स्वीकार नही करता। क्योकि आत्मा की वह शरीर से भिन्न सत्ता नही मानता। अत उसके दर्शन मे आत्मा के मोक्ष का प्रश्न ही नही उठता। चार्वाक की दृष्टि मे इस जीवन मे और इसी लोक मे सुखभोग करना मोक्ष है। इससे भिन्न इस प्रकार के मोक्ष की कल्पना वह कर ही नही सकता जिसमे आत्मा एक लोकातीत अवस्था को प्राप्त हो जाती है।

बौद्धदर्शन मे आत्मा की इस लोकातीत अवस्था को मोक्ष न कहकर निर्वाण कहा गया है। यद्यपि निर्वाण शब्द जैन ग्रन्थो मे भी बहुलता से उपलब्ध होता है, फिर भी इसका प्रयोग बौद्धदर्शन मे ही अधिक रूढ है। बौद्धदर्शन के अनुसार निर्वाण शब्द सब गुणो के आत्यन्तिक उच्छेद की अवस्था को अभिव्यक्त करना है। निर्वाण शब्द का अर्थ है—बुझ जाना। लेकिन इससे यह नही समझना चाहिए कि निर्वाण मे आत्मा का आत्यन्तिक विनाश हो जाता है। बौद्धदर्शन के अनुसार इसमे आत्यन्तिक विनाश तो अवश्य होता है, लेकिन दुख का होता है, न कि आत्म-सन्तति का। कुछ बौद्धदर्शन निर्वाण को विशुद्ध आनन्द की अवस्था मानते है। इस प्रकार बौद्धदर्शन क्षणिकवादी होकर भी जन्मान्तर और निर्वाण को स्वीकार करता है।

जैन-दार्शनिक प्रारम्भ से ही मोक्षवादी रहे हैं। जैनदर्शन के अनुसार आत्मा की स्वाभाविक अवस्था ही मोक्ष है। अनन्त-दर्शन, अनन्त-ज्ञान और अनन्त-शक्ति का प्रकट होना ही मोक्ष है। आत्मा अपनी विशुद्ध अवस्था को तब प्राप्त करता है, जबकि वह सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र की साधना के द्वारा कर्म पुद्गल के आवरण को सर्वथा नष्ट कर देता है। जैन परम्परा के महान् अध्यात्मवादी आचार्य कुन्द-कुन्द ने अपने समयसार मे आत्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है—'एक व्यक्ति लम्बे समय से कारागृह मे पड़ा हो और अपने बन्धन की तीव्रता और मन्दता को तथा बन्धन के काल को भली-भाँति समझता हो, परन्तु जब तक वह अपने बन्धन के वशीभूत होकर उसका छेदन नही करता, तब तक लम्बा समय हो जाने पर भी वह छूट नहीं सकता। इसी प्रकार कोई मनुष्य अपने कर्मबन्धन के प्रदेश, स्थिति और प्रकृति तथा अनुभाग को भली-भाँति समझता हो, तो भी इतने मात्र से वह कर्म-बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता। वही आत्मा यदि राग एव द्वेष आदि को दूर हटा कर विशुद्ध हो जाये, तो मोक्ष प्राप्त कर

सकता है ।[1] बन्धन का विचार करने मात्र से बन्ध से छुटकारा नही मिलता है । छुटकारा पाने के लिए बन्ध का और आत्मा का स्वभाव भली-भांति समझ कर बन्ध से विरक्त होना चाहिए । जीव और बन्ध के अलग-अलग लक्षण समझ कर प्रज्ञा रूपी छुरी से उन्हे अलग करना चाहिए, तभी बन्ध छूटता है । बन्ध को छेदकर आत्म-स्वरूप मे स्थित होना चाहिए । आत्म-स्वरूप को किस प्रकार ग्रहण करना चाहिए ? इसके उत्तर मे कहा गया है, कि मुमुक्ष को आत्मा का इस प्रकार विचार करना चाहिए—'मैं चेतन स्वरूप हूँ, मैं द्रष्टा हूँ, मैं ज्ञाता हूँ, शेष जो कुछ भी है, वह मुझसे भिन्न है । शुद्ध आत्मा को समझने वाला व्यक्ति समस्त पर-भावो को परकीय जानकर उनसे अलग हो जाता है । यह परभाव से अलग हो जाना ही वास्तविक मोक्ष है ।'[2] इस प्रकार जैन-दर्शन मे मोक्ष के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है ।

साख्य-दर्शन मोक्ष को प्रकृति और पुरुष का विवेक मानता है । विवेक एक प्रकार का वेदज्ञान है । इसके विपरीत बन्ध प्रकृति और पुरुष का अविवेक है । पुरुष नित्य और मुक्त है । अपने अविवेक के कारण वह प्रकृति और उसके विकारो से अपना तादात्म्य मान लेता है । शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहकार ये सब प्रकृति के विकार हैं । लेकिन अविवेक के कारण पुरुष इन्हे अपना समझ बैठता है । मोक्ष पुरुष की स्वाभाविक अवस्था की प्राप्ति है । बन्ध एक प्रतीति मात्र है और इसका कारण अविवेक है । योग-दर्शन मोक्ष को आत्मा का कैवल्य मानता है । कैवल्य आत्मा के प्रकृति के जाल से छूट जाने की एक अवस्था विशेष है । आत्मा को इस अवस्था की प्राप्ति तब होती है, जब तप और सयम के द्वारा मन से सब कर्म-सस्कार निकल जाते हैं । साख्य और योग मोक्ष मे पुरुष की चित्मात्र अवस्थिति मानते है । इस अवस्था मे वह सुख और दु ख से सर्वथा अतीत हो जाता है । क्योकि सुख और दु ख तो बुद्धि की वृत्तियाँ मात्र है । इन वृत्तियो का आत्यन्तिक अभाव ही साख्य और योग दर्शन से मुक्ति है ।

न्याय और वैशेषिक-दर्शन मोक्ष को आत्मा की वह अवस्था मानते हैं, जिसमे वह मन और शरीर से अत्यन्त विमुक्त हो जाता है और सत्ता मात्र रह जाता है । मोक्ष आत्मा की अचेतन अवस्था है, क्योकि चैतन्य तो उसका एक आगन्तुक धर्म है, स्वरूप नही । आत्मा का शरीर और मन से सयोग होने पर उसमे चैतन्य का उदय होता है । अत मोक्ष की अवस्था मे इनसे वियोग होने पर चैतन्य भी चला जाता है । मोक्ष की प्राप्ति तत्त्व-ज्ञान से होती है, यह दु ख के आत्यन्तिक उच्छेद की अवस्था है ।

मीमासा-दर्शन मे भी मोक्ष को आत्मा की स्वाभाविक अवस्था की प्राप्ति माना गया है, जिसमे सुख और दु ख का अत्यन्त विनाश हो जाता है । अपनी स्वाभाविक अवस्था में आत्मा अचेतन होता है । मोक्ष दु ख के आत्यन्तिक अभाव की अवस्था है । लेकिन इसमे आनन्द की अनुभूति नही होती । आत्मा स्वभावत सुख और दु ख से अतीत है । मोक्ष की अवस्था मे ज्ञान-शक्ति तो रहती है, लेकिन ज्ञान नही रहता ।

अद्वैत वेदान्त मोक्ष को जीवात्मा और ब्रह्म के एकीभाव की उपलब्धि मानता है । क्योकि परमार्थत आत्मा ब्रह्म ही है । आत्मा विशुद्ध सत्, चित् और आनन्द स्वरूप है । बन्ध मिथ्या है । अविद्या एव माया ही इसका कारण है । आत्मा अविद्या के कारण शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहकार के साथ अपना तादात्म्य कर लेता है, जो वस्तुत माया निर्मित है । वेदान्तदर्शन के अनुसार यही मिथ्या तादात्म्य बन्ध का कारण है । अविद्या से आत्मा का बन्धन होता है और विद्या से इस बन्धन की मुक्ति होती है । मोक्ष आत्मा की स्वाभाविक अवस्था है । यह न चैतन्य रहित अवस्था है, और न दु खाभाव मात्र की अवस्था है, बल्कि सत्, चित् और आनन्द की ब्रह्म-अवस्था है । यही जीवात्मा के ब्रह्मभाव की प्राप्ति है । इस प्रकार मोक्ष की धारणा समस्त भारतीय-दर्शनो मे उपलब्ध होती है । वास्तव मे मोक्ष की

---

१ समयसार, २८८-९३

२ समयसार, २९४-३००.

प्राप्ति दार्शनिक चिन्तन का लक्ष्य है। भारत के सभी दर्शनो मे इसके स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है और अपनी पद्धति से प्रत्येक ने उसकी व्याख्या की है।

भारतीय-दर्शनो मे जिन तथ्यो का निरूपण किया गया है, उन सबका जीवन के साथ निकट का सम्बन्ध रहा है। भारतीय दार्शनिको ने मानव जीवन के समक्ष ऊँचे से ऊँचे आदर्श प्रस्तुत किये है। वे आदर्श केवल आदर्श ही नही रहते, उन्हे जीवन मे उतारने का प्रयत्न भी किया जाता है। इसके लिए विभिन्न दार्शनिको ने विभिन्न प्रकार की साधनाओ का भी प्रतिपादन किया है। ये साधन तीन प्रकार के होते है—ज्ञान-योग, कर्म-योग और भक्ति-योग। जैन-दर्शन मे इन्ही को रत्न-त्रय—सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र कहा जाता है। बौद्ध-दर्शन मे इन्हे प्रज्ञा, शील और समाधि कहा गया है। इन तीनो की साधना से प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन मे उच्च से उच्चतर एव उच्चतम आदर्शो को भी प्राप्त कर सकता है। दर्शन का सम्बन्ध केवल बुद्धि से ही नही है, बल्कि हृदय और क्रिया से भी है। यही कारण है कि भारतीय-दर्शन की परम्परा के प्रत्येक दार्शनिक-सम्प्रदाय ने श्रद्धान, ज्ञान और आचरण पर बल दिया है। भारतीय-दर्शन केवल बौद्धिक विलास मात्र नही है, अपितु वह जीवन की वास्तविक स्थिति का प्रतिपादन करता है। अत वह वास्तविक अर्थ मे दर्शन एव धर्म है।

सूत्रकृतांग सूत्र : एक अनुचिन्तन

वैदिक परम्परा मे जो स्थान वेदो का माना है तथा बौद्ध परम्परा मे जो स्थान पिटको का माना गया है, जैन परम्परा मे वही स्थान आगमो का है। जैन परम्परा, इतिहास और सस्कृति की विशेष निधि आगम-शास्त्र ही है। आगमो मे जो सत्य मुखरित हुआ है, वह युग युगान्तर से चला आया है। इसमे दो मत नही हो सकते। परन्तु इस मान्यता मे जरा भी सार नही है कि उनमे किसी भी प्रकार का परिवर्तन नही हुआ है। भाव-भेद, भाषा-भेद और शैली-भेद आगमो मे सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। मान्यता-भेद भी कही-कही पर उपलब्ध हो जाते है। इसका मुख्य कारण है—समाज और जीवन का विकास। जैसे-जैसे समाज का विकास होता रहा, वैसे-वैसे आगमो के पृष्ठो पर विचार-भेद उभरते रहे है। आगमो की निर्युक्तियो मे, आगमो के भाष्यो मे, आगमो की चूर्णियो मे और आगमो की टीकाओं मे तो विचार-भेद अत्यन्त स्पष्ट है। मूल आगमो मे भी युग-भेद के कारण मे विचार-भेद को स्थान मिला है और यह सहज था। अन्यथा, उनके टीकाकारो मे इतने भेद कहाँ से प्रकट हो पाते।

आगमो की रचना का काल

आधुनिक पाश्चात्य विचारको ने भी इस बात को स्वीकारा है कि भले ही देवर्द्धिगणि ने पुस्तक लेखन करके आगमो के सरक्षण कार्य को आगे बढाया, किन्तु निश्चय ही वे उनके कर्ता नही हैं। आगम तो प्राचीन ही हैं। देवर्द्धिगणि ने तो केवल उनका सकलन और सपादन ही किया है। यह माना जा सकता है कि आगमो मे कुछ प्रक्षिप्त अश हैं, पर उस प्रक्षेप के कारण समग्र आगम का काल देवर्द्धिगणि का काल नही हो सकता। सामान्य रूप मे विद्वानो ने अग आगमो का काल पाटलिपुत्र की वाचना के काल को माना है। पाटलिपुत्र की वाचना इतिहासकारो के अनुसार भगवान महावीर के परिनिर्वाण के बाद पचम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के काल मे हुई और उसका काल है ईसा पूर्व चतुर्थ शताब्दी का द्वितीय दशक। अतएव आगम सकलन का काल लगभग ईसा पूर्व छठी शताब्दी से ईसा की पाँचवी शताब्दी तक माना जा सकता है। लगभग हजार वर्ष अथवा बारह सौ वर्षों का समय आगम सकलना का काल रहा है। कुछ विद्वान् इस लेखन के काल का और अग आगमो की रचना के काल का सम्मिश्रण कर देते हैं और इस लेखन को आगमो का रचना काल मान लेते हैं। अग आगम भगवान महावीर का उपदेश है और उसके आधार पर उनके गणधरों ने अगो की रचना की है। अत आगमो की सरचना का प्रारम्भ तो भगवान महावीर के काल से माना जाना चाहिए। उसमे जो प्रक्षेप अश हो, उसे अलग करके उसका समय निर्णय अन्य आधारो से किया जा सकता है।

अंग आगमो में सर्वाधिक प्राचीन आचाराग का प्रथम श्रुतस्कन्ध माना जाता है। इस सत्य को स्वीकार करने मे किसी भी विद्वान् को किसी भी प्रकार की विप्रतिपत्ति नही हो सकती। सूत्रकृताग सूत्र और भगवती सूत्र के सम्बन्ध में यही समझा जाना चाहिए। स्थानाग सूत्र और समवायाग सूत्र मे कुछ स्थल इस प्रकार के हो सकते है, जिनकी नवता और पुरातनता के सम्बन्ध मे आगमो के विशिष्ट विद्वानो को गम्भीरतापूर्वक विचार करके निर्णय करना चाहिए।

अंगबाह्य आगम

अगबाह्य आगमो मे उपाग, मूल, छेद आदि की परिगणना होती है। अगबाह्य आगम गणधरो की रचना नही हैं अत उनका काल निर्धारण जैसे अन्य आचार्यों के ग्रन्थो का समय निर्धारित किया जाता है, वैसे ही होना चाहिए। अगबाह्यो मे प्रज्ञापना के कर्ता आर्य श्याम हैं। अतएव आर्य श्याम का जो समय है, वही उसका रचना समय है। आर्य श्याम को वीर निर्वाण सम्वत् ३३५ मे 'युगप्रधान' पद मिला और ३७६ तक वे युगप्रधान रहे। अत प्रज्ञापना सूत्र की रचना का समय भी यही मानना उचित है।

छेदसूत्रो मे दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प और व्यवहार सूत्रो की रचना चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु ने की थी। आचार्य भद्रबाहु का समय ईसा पूर्व ३५७ के आस-पास निश्चित है। अत उनके द्वारा रचित इन तीनो छेद सूत्रो का भी समय वही होना चाहिये। कुछ विद्वानो का मत है कि द्वितीय आचाराग की चार चूलाएँ और पचम चूला निशीथ भी चतुर्दश पूर्वी आचार्य भद्रबाहु की रचना है। मूल सूत्रो मे दशवैकालिक की रचना आचार्य शय्यभव ने की है। इसमे किसी भी विद्वान् को विप्रतिपत्ति नही रही। परन्तु इसका अर्थ यह होगा कि दशवैकालिक की रचना द्वितीय आचारांग और निशीथ से पहले की माननी होगी। द्वितीय आचाराग का विषय और दशवैकालिक का विषय लगभग एक जैसा ही है। भेद केवल है तो सक्षेप और विस्तार का, गद्य और पद्य का एव विषय की व्यवस्था का। तुलनात्मक अध्ययन मे यह स्पष्ट हो जाता है कि भाव, भाषा तथा विषय प्रतिपादन की शैली दोनो की करीब-करीब समान ही है।

उत्तराध्ययन सूत्र के सम्बन्ध मे दो मत उपलब्ध होते हैं—एक का कहना है कि उत्तराध्ययन सूत्र किसी एक आचार्य की कृति नही, किन्तु सकलन है। दूसरा मत यह है कि उत्तराध्ययन सूत्र भी चतुर्दश पूर्वी आचार्य भद्रबाहु की ही कृति है। कल्पसूत्र जिसकी पर्युषणा कल्प के रूप मे वाचना की जाती है, वह भी चतुर्दश पूर्वी आचार्य भद्रबाहु की ही कृति है। इस प्रकार अन्य अगबाह्य आगमो के सम्बन्ध मे भी कुछ तो काल निर्णय हो चुका है और कुछ होता जा रहा है।

अंगो का क्रम

एकादश अगो के क्रम मे सर्वप्रथम आचाराग है। आचाराग को क्रम मे सर्वप्रथम स्थान देना तर्क-सगत भी है और परम्परा प्राप्त भी है। क्योकि सघ-व्यवस्था मे सबसे पहले आचार की व्यवस्था अनिवार्य होती है। आचार सहिता की मानव जीवन मे प्राथमिकता रही है। अत आचारांग को सर्वप्रथम स्थान देने मे प्रथम हेतु है उसका विषय, दूसरा हेतु यह है कि जहाँ-जहाँ अगों के नाम आये हैं उनके क्रम की योजना के मूल मे अथवा वृत्ति मे आचाराग का नाम ही सबसे पहले आया है। आचारांग के बाद जो सूत्रकृतांग आदि नाम आये हैं, उनके क्रम की योजना किसने किस प्रकार की, इसकी चर्चा के हमारे पास उल्लेखनीय साधन नहीं हैं। इतना अवश्य है कि सचेलक एव अचेलक दोनो परम्पराओ मे अंगो का एक ही क्रम है।

सूत्रकृतांग सूत्र मे विचारपक्ष मुख्य है और आचारपक्ष गौण। जबकि आचाराग मे आचार की मुख्यता है और विचार की गौणता। जैन परम्परा प्रारम्भ से ही एकान्त विचारपक्ष को और एकान्त आचारपक्ष को अस्वीकार करती रही है। विचार और आचार का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत करना ही जैन परम्परा का मुख्य ध्येय रहा है। यद्यपि आचारांग में भी परमत का खण्डन सूक्ष्म रूप मे अथवा बीज रूप में विद्यमान है। तथापि आचार की प्रबलता ही उसमे

मुख्य है। सूत्रकृताग मे प्राय सर्वत्र परमत का खण्डन और स्वमत का मण्डन स्पष्ट प्रतीत होता है। सूत्रकृताग की तुलना बौद्ध परम्परा मान्य 'अभिधम्म पिटक' से की जा सकती है। जिसमे बुद्ध ने अपने युग मे प्रचलित ६२ मतो का यथाप्रसग खण्डन करके अपने मत की स्थापना की है।

सूत्रकृताग सूत्र मे स्व-समय और पर-समय का वर्णन है। वृत्तिकारो के अनुसार इस मे ३६३ मतो का खण्डन किया गया है। समवायाग सूत्र मे सूत्रकृताग सूत्र का परिचय देते हुए कहा गया—इसमे स्व-समय, पर-समय, जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध तथा मोक्ष आदि तत्त्वो के विषय मे कथन किया गया है। १८० क्रिया-वादी मतो की, ८४ अक्रियावादी मतो की, ६७ अज्ञानवादी मतो की एव ३२ विनयवादी मतो की, इस प्रकार सब मिलाकर ३६३ अन्ययूथिक मतो की परिचर्चा की है। श्रमणसूत्र मे सूत्रकृताग के २३ अध्ययनो का निर्देश है—प्रथम श्रुतस्कन्ध मे १६, द्वितीय श्रुतस्कन्ध मे ७। नन्दीसूत्र मे कहा गया है कि सूत्रकृताग मे लोक, अलोक, लोकालोक, जीव, अजीव आदि का निरूपण है तथा क्रियावादी आदि ३६३ पाखण्डियो के मतो का खण्डन किया गया है। दिगम्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थ राजवार्तिक के अनुसार सूत्रकृताग मे ज्ञान, विनय, कल्प, अकल्प, व्यवहार, धर्म एव विभिन्न क्रियाओ का निरूपण है।

सूत्रकृताग सूत्र का संक्षिप्त परिचय

जैन परम्परा द्वारा मान्य अग सूत्रो मे सूत्रकृताग का द्वितीय स्थान है। किन्तु दार्शनिक-साहित्य के इतिहास की दृष्टि से इसका महत्त्व आचाराग से अधिक है। भगवान महावीर के युग मे प्रचलित मत-मतान्तरो का वर्णन इसमे विस्तृत रूप से हुआ है। सूत्रकृताग का वर्तमान समय मे जो सस्करण उपलब्ध है, उसमे दो श्रुतस्कन्ध है—प्रथम श्रुत-स्कन्ध और द्वितीय श्रुतस्कन्ध। प्रथम मे सोलह अध्ययन है और द्वितीय मे सात अध्ययन। प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम समय अध्ययन के चार उद्देशक हैं—पहले मे २७ गाथाएँ है, दूसरे मे ३२, तीसरे मे १६ तथा चौथे मे १३ हैं। इसमे वीतराग के अहिंसा-सिद्धात को बताते हुए अन्य बहुत से मतो का उल्लेख किया गया है। दूसरे वैतालीय अध्ययन मे तीन उद्देशक हैं। पहले मे २२ गाथाएँ, दूसरे मे ३२ तथा तीसरे मे २२। वैतालीय छन्द मे रचना होने के कारण इसका नाम वैतालीय है। इसमे मुख्य रूप से वैराग्य का उपदेश है। तीसरे उपसर्ग अध्ययन के चार उद्देशक हैं। पहले मे १७ गाथाएँ है, दूसरे मे २२, तीसरे मे २१ तथा चौथे मे २२। इसमे उपसर्ग अर्थात् सयमी जीवन मे आने वाली विघ्न-बाधाओ का वर्णन है। चौथे स्त्री-परिज्ञा अध्ययन के दो उद्देशक है। पहले की ३१ गाथाएँ हैं और दूसरे की २२। इसमे साधको के प्रति स्त्रियो द्वारा उपस्थित किये जाने वाले ब्रह्मचर्य-घातक विघ्नो का वर्णन है। पाचवे निरय-विभक्ति अध्ययन के दो उद्देशक है। पहले मे २७ गाथाएँ और दूसरे मे २५। दोनो मे नरक के दुखो का वर्णन है। छठे वीरस्तुति अध्ययन का कोई उद्देशक नही है। इसमे २९ गाथाओ में भगवान महावीर की स्तुति की गई है। सातवें कुशील-परिभाषित अध्ययन मे ३० गाथाएँ है, जिसमे कुशील एव चरित्रहीन व्यक्ति की दशा का वर्णन है। आठवे वीर्य अध्ययन मे २६ गाथाएँ है, इसमे वीर्य अर्थात् शुभ एव अशुभ प्रयत्न का स्वरूप बतलाया गया है। नवमे धर्म अध्ययन मे ३६ गाथाएँ है, जिसमे धर्म के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। दशवे समाधि अध्ययन मे २४ गाथाएँ है, जिसमे धर्म मे समाधि अर्थात् धर्म मे स्थिरता का कथन किया गया है। ग्यारहवे मार्गअध्ययन मे ३८ गाथाएँ हैं। जिसमे ससार के बन्धनो से छुटकारा प्राप्त करने का मार्ग बताया गया है। बारहवे समवसरण अध्ययन मे २२ गाथाएँ है, जिसमे क्रियावादी, अक्रियावादी, विनयवादी और अज्ञानवादी मतो की विचारणा की गई है। तेरहवें याथातथ्य अध्ययन मे २३ गाथाएँ है, जिसमे मानव-मन के स्वभाव का सुन्दर वर्णन किया गया है। चौदहवें ग्रन्थ अध्ययन मे २७ गाथाएँ है, जिसमे ज्ञान प्राप्ति के मार्ग का वर्णन किया गया है। पन्द्रहवें आदानीय अध्ययन मे २५ गाथाएँ है, जिसमे भगवान महावीर के उपदेश का सार दिया गया है। सोलहवाँ गाथा अध्ययन गद्य मे है, जिसमे भिक्षु अर्थात् श्रमण का स्वरूप सम्यक् प्रकार से समझाया गया है।

सूत्रकृताग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध मे सात अध्ययन हैं । उनमे प्रथम अध्ययन पुण्डरीक है, जो गद्य मे है । इसमे एक सरोवर के पुण्डरीक कमल की उपमा देकर बताया गया है कि विभिन्न मत वाले लोग राज्य के अधिपति राजा को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु स्वय ही कष्टो मे फस जाते हैं । राजा वहीं का वही रह जाता है । दूसरी ओर सद्धर्म का उपदेश देने वाले भिक्षु के पास राजा अपने आप खिचा चला जाता है । इस अध्ययन मे विभिन्न मतो एव विभिन्न सम्प्रदायो के भिक्षुओ के आचार का भी वर्णन किया गया है । द्वितीय अध्ययन क्रिया-स्थान है, जिसमे कर्मबन्ध के त्रयोदश स्थानो का वर्णन किया गया है । तृतीय अध्ययन आहार-परिज्ञा है, जिसमे बताया है कि आत्मार्थी भिक्षु को निर्दोष आहार पानी की एषणा किस प्रकार करनी चाहिये । चौथा अध्ययन प्रत्याख्यान है, जिसमे त्याग, प्रत्याख्यान, व्रतो एव नियमो का स्वरूप बताया गया है । पाँचवा आचारश्रुत अध्ययन है, जिसमे त्याज्य वस्तुओ की गणना की गई है तथा लोकमूढ मान्यताओ का खण्डन किया गया है । छठा अध्ययन आर्द्रक है, जिसमे आर्द्रक-कुमार की धर्मकथा बहुत सुन्दर ढग से कही गई है । यह एक दार्शनिक सवाद है जो उपनिषदो के सवाद की पद्धति का है । विभिन्न सम्प्रदायो के लोग आर्द्रककुमार से विभिन्न प्रश्न करते हैं और आर्द्रक उनकी विभिन्न शकाओ का समाधान करते है । सातवा नालन्दा अध्ययन है, जिसमे भगवान महावीर के प्रथम गणधर इन्द्रभूति गौतम का नालन्दा मे दिया गया उपदेश अकित है ।

सूत्रकृताग सूत्र मे जिन मतो का उल्लेख है, उनमे से कुछ का सम्बन्ध आचार से है और कुछ का तत्त्ववाद अर्थात् दर्शन-शास्त्र से है । इन मतो का वर्णन करते हुए उस पद्धति को अपनाया गया है, जिसमे पूर्वपक्ष का परिचय देकर बाद मे उसका खण्डन किया जाता है । इस दृष्टि से सूत्रकृताग का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान जैन आगमो मे माना जाता है । बौद्ध परम्परा के अभिधम्मपिटक की रचना भी इसी शैली पर की गई है । दोनो की तुलनात्मक दृष्टि मन-नीय है ।

पञ्च महाभूतवाद

दर्शन-शास्त्र का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह रहा कि लोक क्या है ? इसका निर्माण किसने किया ? और कैसे हुआ ? क्योकि लोक प्रत्यक्ष है अत उसकी सृष्टि के सम्बन्ध मे जिज्ञासा का उठना सहज ही था । इसके सम्बन्ध मे सूत्रकृताग मे एक मत का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि यह लोक पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश रूप भूतो का बना हुआ है । इन्ही के विशिष्ट सयोग मे आत्मा का जन्म होता है और इनके वियोग से विनाश हो जाता है । यह वर्णन प्रथम श्रुतस्कन्ध, प्रथम अध्ययन और प्रथम उद्देशक की ७-८ गाथाओ मे किया गया है । मूल मे इस वाद का कोई नाम नही बताया गया है । निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने इसे चार्वाक का मत बताया है । इस मत का उल्लेख दूसरे श्रुतस्कन्ध मे भी है । वहाँ इसे पञ्चमहाभूतिक कहा गया है ।

तज्जीव-तच्छरीरवाद

इस वाद के अनुसार ससार मे जितने शरीर है, प्रत्येक मे एक आत्मा है । शरीर की सत्ता तक ही जीव की सत्ता है । शरीर का नाश होते ही आत्मा का भी नाश हो जाता है । यहाँ शरीर को ही आत्मा कहा गया है । उसमे बताया गया है कि परलोक गमन करने वाला कोई आत्मा नही है । पुण्य और पाप का भी कोई अस्तित्व नही है । इस लोक के अतिरिक्त कोई दूसरा लोक भी नही है । मूलकार ने इस मत का कोई नाम नही बताया । निर्युक्तिकार तथा टीकाकार ने इस मत को 'तज्जीव-तच्छरीरवाद' कहा है । सूत्रकृताग के दूसरे श्रुतस्कन्ध मे इस वाद का अधिक विस्तार से वर्णन किया गया है । शरीर से भिन्न आत्मा को मानने वालो का खण्डन करते हुए वादी कहता है—कुछ लोग कहते हैं कि शरीर अलग है और जीव अलग है । वे जीव का आकार, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श आदि कुछ भी

नही बता सकते । यदि जीव शरीर से पृथक् होता है, जिस प्रकार म्यान से तलवार, मूँज से सींक तथा मास से अस्थि अलग करके बतलाई जा सकती है, उसी प्रकार आत्मा को भी शरीर से अलग करके बताया जाना चाहिए । जिस प्रकार हाथ मे रहा हुआ आंवला अलग प्रतीत होता है तथा दही मे से मक्खन, तिल में से तेल, ईख में से रस एव अरणि मे से आग निकाली जाती है, उसी प्रकार आत्मा भी शरीर से अलग प्रतीत होता, पर ऐसा होता नही । अत शरीर और जीव को एक मानना चाहिए । तज्जीव-तच्छरीरवादी यह मानता है कि पाँच महाभूतो से चेतन का निर्माण होता है । अत यह वाद भी चार्वाकवाद से मिलता-जुलता ही है । इस प्रकार के वाद का वर्णन प्राचीन उपनिषदो मे भी उपलब्ध होता है ।

एकात्मकवाद की मान्यता

जिस प्रकार पृथ्वी-पिण्ड एक होने पर भी पर्वत, नगर, ग्राम, नदी एव समुद्र आदि अनेक रूपो मे प्रतीत होता है, इसी प्रकार यह समस्त लोक ज्ञान-पिण्ड के रूप मे एक होने पर भी भिन्न-भिन्न प्रकार का प्रतीत होता है । ज्ञान-पिण्ड स्वरूप सर्वत्र एक ही आत्मा है । वही मनुष्य, पशु-पक्षी आदि मे परिलक्षित होता है । मूलकार ने इसका कोई नामोल्लेख नही किया । निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने इसे 'एकात्मवाद' कहा है । टीकाकार आचार्य शीलांक ने इसे 'एकात्म-अद्वैतवाद' कहा है ।

नियतिवाद

कुछ लोगो की यह मान्यता थी कि भिन्न-भिन्न जीव जो सुख और दुःख का अनुभव करते है, यथाप्रसग व्यक्तियो का जो उत्थान-पतन होता है, यह सब जीव के अपने पुरुषार्थ के कारण नही होता । इन सबका करने वाला जब जीव स्वय नही है, तब दूसरा कौन हो सकता है ? इन सबका मूल कारण नियति है । जहा पर, जिस प्रकार तथा जैसा होने का भवितव्य होता आता है, वहाँ पर, उस प्रकार और वैसा ही होकर रहता है । उसमे व्यक्ति के पुरुषार्थ, काल अथवा कर्म आदि कुछ भी परिवर्तन नही कर सकते । जगत् मे सब कुछ नियत है, अनियत कुछ भी नही है । सूत्रकृताग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध मे इस वाद के सम्बन्ध मे इस प्रकार कहा गया है—कुछ श्रमण तथा ब्राह्मण कहते हैं कि जो लोग क्रियावाद की स्थापना करते है और जो लोग अक्रियावाद की स्थापना करते है, वे दोनो ही अनियतवादी हैं । क्योकि नियतिवाद के अनुसार क्रिया तथा अक्रिया दोनो का कारण नियति है । इस नियतिवाद के सम्बन्ध मे मूलकार, निर्युक्तिकार तथा टीकाकार सभी एक मत है । वे तीनो इसे नियतिवाद कहते है । भगवान महावीर के युग मे गोशालक का भी यही मत था जिसका उल्लेख भगवती सूत्र आदि अन्य आगमो मे भी उपलब्ध होता है । निश्चय ही यह नियतिवाद गोशालक से भी पूर्व का रहा होगा । पर गोशालक ने इस सिद्धान्त को अपने मत का आधार बनाया था । सूत्रकृताग सूत्र मे इसी प्रकार के अन्य मत-मतान्तरो का भी उल्लेख है । जैसे क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद, अज्ञानवाद, वेदवाद, हिंसावाद, हस्तितापस-सवाद, आदि अनेक मतो का सूत्रकृताग सूत्र मे सक्षेप रूप मे और कही पर विस्तार रूप मे उल्लेख हुआ है । परन्तु निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने इसे विस्तार दिया तथा टीकाकार आचार्य शीलांक ने मत-मतान्तरो की मान्यताओ का नाम लेकर उल्लेख किया है । आचार्य शीलांक का यह प्रयास दार्शनिक क्षेत्र मे बहुत ही महत्त्वपूर्ण माना जाता है ।

आचारांग और सूत्रकृतांग

एकादश अगो मे आचाराग प्रथम अग है जिसमे आचार का प्रधानता से वर्णन किया गया है । श्रमणाचार का यह मूलभूत आगम है । आचारांग सूत्र दो श्रुतस्कन्धो मे विभक्त है—प्रथम श्रुतस्कन्ध तथा द्वितीय श्रुतस्कन्ध । निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु ने आचाराग के प्रथम श्रुतस्कन्ध को ब्रह्मचर्य अध्ययन कहा है । यहाँ ब्रह्मचर्य का अर्थ

सयम है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध को आचाराग्र कहा गया है। यह आचाराग्र पाच चूलाओ मे विभक्त था। पाचवी चूला जिसका नाम आज निशीथ है तथा निर्युक्तिकार ने जिसे आचार-प्रकल्प कहा है, वह आचाराग से पृथक् हो गया। यह पृथक्करण कब हुआ, अभी इसकी पूरी खोज नही हो सकी है। आचाराग मे अथ से इति तक आचार धर्म का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। जैन परम्परा का यह मूल-भूत आचार-शास्त्र है। दिगम्बर परम्परा का आचार्य वट्टकेरकृत 'मूलाचार' आचाराग के आधार पर ही निर्मित हुआ है, ऐसा प्रतीत होता है।

सूत्रकृताग सूत्र जो एकादश अगो मे द्वितीय अग है, उसमे विचार की मुख्यता है। भगवान महावीरकालीन भारत के जो अन्य विभिन्न दार्शनिक मत थे उन सबके विचारो का खण्डन करके अपने सिद्धान्त पक्ष की स्थापना की है। सूत्रकृताग जैन परम्परा मे प्राचीन आगमो मे एक महान् आगम है। इसमे नवदीक्षित श्रमणो को सयम मे स्थिर रखने के लिये और उनके विचारपक्ष को शुद्ध करने के लिये जैन सिद्धान्तो का विस्तृत वर्णन है। आधुनिक काल के अध्येता को, जिसे अपने देश का प्राचीन बौद्धिक विचार-दर्शन जानने की उत्सुकता हो, जैन तथा अजैन दर्शन को समझने की दृष्टि हो, उसे इसमे बहुत कुछ उपलब्ध हो सकता है। प्रस्तुत आगम मे जीव, अजीव, लोक, अलोक, पुण्य, पाप, आश्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष का विस्तृत विवेचन हुआ है।

सूत्रकृताग के भी दो श्रुतस्कन्ध हैं—दोनो मे ही दार्शनिक विचार चर्चा है। प्राचीन ज्ञान के तत्त्वाभ्यासी के लिए सूत्रकृताग मे वर्णित अजैन सिद्धान्त भी रोचक तथा ज्ञानवर्द्धक सिद्ध होगे। जिस प्रकार की चर्चा प्राचीन उपनिषदो मे प्राप्त होती है, उसी प्रकार की विचारणा सूत्रकृताग मे उपलब्ध होती है। बौद्ध परम्परा के त्रिपिटक-साहित्य मे इसकी तुलना ब्रह्मजाल सूत्र से की जा सकती है। ब्रह्मजाल सूत्र मे भी बुद्धकालीन अन्य दार्शनिको का पूर्वपक्ष के रूप मे उल्लेख करके अपने सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है। इसी प्रकार की शैली जैन परम्परा के गणिपिटक मे सूत्रकृताग की रही है। भगवान महावीर के पूर्व तथा भगवान महावीरकालीन भारत के सभी दर्शनो का विचार यदि एक ही आगम से जानना हो तो वह सूत्रकृताग से ही हो सकता है। अत· जैन परम्परा मे सूत्रकृताग एक प्रकार से दार्शनिक विचारो का गणिपिटक है।

आगमों का व्याख्या साहित्य

मूल ग्रन्थ के रहस्योद्‌घाटन के लिये उसकी विविध व्याख्याओ का अध्ययन अनिवार्य नही तो भी आवश्यक तो है ही। जब तक किसी ग्रन्थ की प्रामाणिक व्याख्या का सूक्ष्म अवलोकन नही किया जाता तब तक उस ग्रन्थ मे रही हुई अनेक महत्त्वपूर्ण बातें अज्ञात ही रह जाती हैं। यह सिद्धान्त जितना वर्तमान कालीन भौतिक ग्रन्थो पर लागू होता है उससे कई गुना अधिक प्राचीन भारतीय साहित्य पर लागू होता है। मूल ग्रन्थ के रहस्य का उद्‌घाटन करने के लिये उस पर व्याख्यात्मक साहित्य का निर्माण करना भारतीय ग्रन्थकारो की बहुत पुरानी परम्परा है। इस प्रकार के साहित्य से दो प्रयोजन सिद्ध होते हैं—व्याख्याकार को अपनी लेखनी से ग्रन्थकार के अपने अभीष्ट अर्थ का विश्लेषण करने मे असीम आत्मोल्लास होता है तथा कही-कही उसे अपनी मान्यता प्रस्तुत करने का अवसर भी मिलता है। दूसरी ओर पाठक को ग्रन्थ के गूढार्थ तक पहुँचने के लिये अनावश्यक श्रम नही करना पडता। इस प्रकार व्याख्याकार का परिश्रम स्व-पर उभय के लिये उपयोगी सिद्ध होता है। व्याख्याकार की आत्मतुष्टि के साथ जिज्ञासुओ की ज्ञान-पिपासा भी शान्त होती है। इसी पवित्र भावना से भारतीय व्याख्या-ग्रन्थो का निर्माण हुआ है। जैन व्याख्याकारो के हृदय भी इसी भावना से भावित रहे हैं।

प्राचीनतम जैन व्याख्यात्मक साहित्य मे आगमिक व्याख्याओ का अति महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन व्याख्याओ को हम पाँच कोटियों में विभक्त करते हैं।—१ निर्युक्तिया (निज्जुत्ति), २ भाष्य (भास), ३. चूर्णिया (चुण्णि), ४ सस्कृत टीकाएँ और ५ लोक भाषाओं में रचित व्याख्याएँ (टब्बा)। आगमो के विषयो का सक्षेप मे परिचय देने वाली

सग्रहणिया भी काफी प्राचीन हैं। पचकल्प महाभाष्य के उल्लेखानुसार सग्रहणियो की रचना आर्य कालक ने की है। पाक्षिकसूत्र मे भी निर्युक्ति एव सग्रहणी का उल्लेख है।

निर्युक्तियाँ

निर्युक्तिया और भाष्य जैन आगमो की पद्यबद्ध टीकाएँ है। ये दोनो प्रकार की टीकाएँ प्राकृत मे है। निर्युक्तियो मे मूल ग्रन्थ के प्रत्येक पद का व्याख्यान न किया जाकर विशेष रूप से पारिभाषिक शब्दो का ही व्याख्यान किया गया है।

उपलब्ध निर्युक्तियो के कर्ता आचार्य भद्रबाहु (द्वितीय) ने निम्नोक्त आगम ग्रन्थो पर निर्युक्तिया लिखी है— १. आवश्यक, २ दशवैकालिक, ३ उत्तराध्ययन, ४ आचाराग, ५ सूत्रकृताग, ६ दशाश्रुतस्कन्ध, ७ बृहत्कल्प, ८ व्यवहार, ९ सूर्यप्रज्ञप्ति, १० ऋषिभाषित। इन दस निर्युक्तियो मे से सूर्यप्रज्ञप्ति और ऋषिभाषित की निर्युक्तिया अनुपलब्ध हैं। ओघनिर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति, पचकल्पनिर्युक्ति और निशीथनिर्युक्ति क्रमश आवश्यक-निर्युक्ति, दशवैकालिकनिर्युक्ति, बृहत्कल्पनिर्युक्ति और आचारागनिर्युक्ति की पूरक है। समक्तिनिर्युक्ति बहुत बाद की किसी की रचना है। गोविन्दाचार्य रचित एक अन्य निर्युक्ति (गोविन्दनिर्युक्ति) अनुपलब्ध है।

निर्युक्तियो की व्याख्यान शैली निक्षेप-पद्धति के रूप मे प्रसिद्ध है। यह व्याख्या-पद्धति बहुत प्राचीन है। इसका अनुयोगद्वार आदि मे दर्शन होता है। इस पद्धति मे किसी एक पद के सभावित अनेक अर्थ करने के बाद उनमे से अप्रस्तुत अर्थों का निषेध करके प्रस्तुत अर्थ ग्रहण किया जाता है। जैन न्यायशास्त्र मे इस पद्धति का बहुत महत्त्व है। निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने निर्युक्ति का प्रयोजन बताते हुए इसी पद्धति को निर्युक्ति के लिये उपयुक्त बतलाया है। दूसरे शब्दो मे निक्षेप पद्धति के आधार पर किये जाने वाले शब्दार्थ के निर्णय—निश्चय का नाम ही निर्युक्ति है। भद्रबाहु ने आवश्यकनिर्युक्ति (गा ८८) मे स्पष्ट कहा है कि "एक शब्द के अनेक अर्थ होते है किन्तु कौन-सा अर्थ किस प्रसग के लिये उपयुक्त होता है, भगवान महावीर के उपदेश के समय कौनसा शब्द किस अर्थ से सम्बद्ध रहा है, आदि बातो को दृष्टि मे रखते हुए सम्यक् रूप स अर्थ निर्णय करना और उस अर्थ का मूल-सूत्र के शब्दो के साथ सम्बन्ध स्थापित करना—यही निर्युक्ति का प्रयोजन है।"

आचार्य भद्रबाहुकृत दस निर्युक्तियो का रचना-क्रम वही है जिस क्रम से ऊपर दस ग्रन्थो के नाम दिये गये हैं। आचार्य ने अपनी सर्वप्रथम कृति आवश्यकनिर्युक्ति (गा ८५-६) मे निर्युक्ति-रचना का सकल्प करते समय इसी क्रम से ग्रन्थो की नामावली दी है। निर्युक्तियो मे उल्लिखित एक दूसरी निर्युक्ति के नाम आदि के अध्ययन से भी यही तथ्य प्रतिपादित होता है।

निर्युक्तिकार भद्रबाहु

निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु, छेदसूत्रकार, चतुर्दश-पूर्वधर आर्य भद्रबाहु से भिन्न हैं। निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने अपनी दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति एव पचकल्पनिर्युक्ति के प्रारम्भ मे एक छेदसूत्रकार भद्रबाहु को नमस्कार किया है। निर्युक्तिकार भद्रबाहु प्रसिद्ध ज्योतिर्विद वराहमिहिर के सहोदर माने जाते हैं। ये अष्टागनिमित्त तथा मन्त्रविद्या में पारगत नैमित्तिक भद्रबाहु के रूप मे भी प्रसिद्ध हैं। उपसर्गहरस्तोत्र और भद्रबाहुसहिता भी इन्ही की रचनाएँ हैं। वराहमिहिर वि स ५३२ मे विद्यमान थे, क्योकि 'पचसिद्धान्तिका' के अन्त में शक सवत् ४२७ अर्थात् वि सं ५६२ का उल्लेख है। निर्युक्तिकार भद्रबाहु का भी लगभग यही समय है। अत निर्युक्तियो का रचनाकाल वि स ५००—६०० के बीच मे मानना युक्ति-युक्त है।

सूत्रकृतांगनिर्युक्ति

इसमें आचार्य ने सूत्रकृताग शब्द का विवेचन करते हुए गाथा, षोडश, पुरुष, विभक्ति, समाधि, मार्ग, ग्रहण, पुण्डरीक, आहार, प्रत्याख्यान, सूत्र, आर्द्र आदि पदो का निक्षेप पूर्वक व्याख्यान किया है। एक गाथा (११९) में

निम्नोक्त ३६३ मतान्तरो का उल्लेख किया है—१८० प्रकार के क्रियावादी, ८४ प्रकार के अक्रियावादी, ६७ प्रकार के अज्ञानवादी और ३२ प्रकार के वैनयिक।

जैन परम्परागत अनेक महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक शब्दो की सुस्पष्ट व्याख्या सर्व प्रथम आचार्य भद्रबाहु ने अपनी आगमिक निर्युक्तियो मे की है। इस दृष्टि से निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु का जैन साहित्य के इतिहास मे एक विशिष्ट एव महत्त्वपूर्ण स्थान है। पीछे भाष्यकारो एव टीकाकारो ने प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप मे उपर्युक्त निर्युक्तियो का आधार लेते हुए ही अपनी कृतियो का निर्माण किया है।

भाष्य

निर्युक्तियो का मुख्य प्रयोजन पारिभाषिक शब्दो की व्याख्या करना रहा है। पारिभाषिक शब्दो मे छिपे हुए अर्थबाहुल्य को अभिव्यक्त करने का सर्वप्रथम श्रेय भाष्यकारो को है। निर्युक्तियो की भाँति भाष्य भी पद्यबद्ध प्राकृत मे हैं। कुछ भाष्य निर्युक्तियो पर हैं और कुछ केवल मूल सूत्रो पर। निम्नोक्त आगम ग्रन्थ पर भाष्य लिखे गये हैं—१—आवश्यक, २—दशवैकालिक, ३—उत्तराध्ययन, ४—बृहत्कल्प, ५—पंचकल्प, ६—व्यवहार ७—निशीथ, ८—जीतकल्प, ९—ओघनिर्युक्ति, १०—पिण्डनिर्युक्ति। आवश्यक सूत्र पर तीन भाष्य लिखे गये हैं। इनमे से 'विशेष आवश्यक भाष्य' आवश्यक सूत्र के प्रथम अध्ययन सामायिक पर है। इसमे ३६०३ गाथाएँ हैं। दशवैकालिक भाष्य मे ६३ गाथाएँ हैं। उत्तराध्ययन भाष्य भी बहुत छोटा है। इसमे ४५ गाथाएँ हैं। बृहत्कल्प पर दो भाष्य हैं। इनमे से लघुभाष्य मे ६४९० गाथाएँ है। पचकल्पमहाभाष्य की गाथा सख्या २५७४ है। व्यवहार भाष्य मे ४६२९ गाथाएँ है। निशीथ भाष्य मे लगभग ६५०० गाथाएँ हैं। जीतकल्प भाष्य मे २६०६ गाथाएँ हैं। ओघनिर्युक्ति पर दो भाष्य है। इनमे से लघुभाष्य मे ३२२ तथा बृहद्भाष्य मे २५१७ गाथाएँ हैं। पिण्डनिर्युक्ति भाष्य मे केवल ४६ गाथाएँ हैं।

इस विशाल प्राकृत भाष्य साहित्य का जैन साहित्य मे और विशेषकर आगमिक साहित्य मे अति महत्त्वपूर्ण स्थान है। पद्यबद्ध होने के कारण इसके महत्त्व मे और भी वृद्धि हो जाती है।

भाष्यकार

भाष्यकार के रूप मे दो आचार्य प्रसिद्ध हैं—जिनभद्रगणि और सघदासगणि। विशेषावश्यकभाष्य और जीतकल्पभाष्य आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण की कृतियाँ हैं। बृहत्कल्प लघुभाष्य और पचकल्प महाभाष्य सघदासगणि की रचनाएँ हैं। इन दो भाष्यकारो के अतिरिक्त अन्य किसी आगमिक भाष्यकार के नाम का कोई उल्लेख उपलब्ध नही है। इतना निश्चित है कि इन दो भाष्यकारो के अतिरिक्त कम से कम दो भाष्यकार तो और हुए ही हैं। जिनमे से एक व्यवहारभाष्य आदि के प्रणेता एव दूसरे बृहत्कल्पबृहद्भाष्य आदि के रचयिता हैं। विद्वानो के अनुमान के अनुसार बृहत्कल्पबृहद्भाष्य के प्रणेता बृहत्कल्प-चूर्णिकार तथा विशेषकल्प-चूर्णिकार से भी पीछे हुए हैं। ये हरिभद्रसूरि के कुछ पूर्ववर्ती अथवा समकालीन हैं। व्यवहार भाष्य के प्रणेता विशेषावश्यक भाष्यकार आचार्य जिनभद्रसूरि के पूर्ववर्ती हैं। सघदासगणि भी आचार्य जिनभद्र के पूर्ववर्ती है।

चूर्णियां

जैन आगमो की प्राकृत अथवा सस्कृतमिश्रित प्राकृत व्याख्याएँ चूर्णिया कहलाती हैं। इस प्रकार की कुछ चूर्णिया आगमेतर साहित्य पर भी हैं। जैन आचार्यों ने निम्नोक्त आगमो पर चूर्णिया लिखी है—१—आचाराग, २—सूत्रकृताग, ३—व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती), ४—जीवाभिगम, ५—निशीथ, ६—महानिशीथ, ७—व्यवहार, ८—दशाश्रुतस्कन्ध, ९—बृहत्कल्प १०—पचकल्प, ११—ओघनिर्युक्ति, १२—जीतकल्प, १३—उत्तराध्ययन, १४—आवश्यक, १५—दशवैकालिक, १६—नन्दी, १७—अनुयोगद्वार, १८—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति। निशीथ और जीतकल्प पर दो-दो

चूर्णिया लिखी गई है। किन्तु वर्तमान मे एक-एक ही उपलब्ध है। अनुयोगद्वार, बृहत्कल्प एव दशवैकालिक पर भी दो-दो चूर्णिया है। जिनदासगणि महत्तर की मानी जाने वाली निम्नाकित चूर्णियो का रचनाक्रम इस प्रकार है— १ नन्दी चूर्णि, २ अनुयोगद्वार चूर्णि, ३ ओघनिर्युक्ति चूर्णि, ४ आवश्यक चूर्णि, ५ दशवैकालिक चूर्णि, ६ उत्तराध्ययन चूर्णि, ७ आचाराग चूर्णि, ८ सूत्रकृताग चूर्णि और ९ व्याख्याप्रज्ञप्ति चूर्णि। नन्दी चूर्णि, अनुयोगद्वार चूर्णि, जिनदास कृत दशवैकालिक चूर्णि, उत्तराध्ययन चूर्णि, आचाराग चूर्णि, सूत्रकृताग चूर्णि, निशीथ विशेष चूर्णि, दशाश्रुतस्कन्ध चूर्णि एव बृहत्कल्प चूर्णि सस्कृत मिश्रित प्राकृत मे है। आवश्यक चूर्णि, अगस्त्यसिह कृत दशवैकालिक चूर्णि एव जीतकल्प चूर्णि (सिद्धसेन कृत) प्राकृत मे है।

चूर्णिकार

चूर्णिकार के रूप मे जिनदासगणि महत्तर का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। परम्परा से निम्न चूर्णियां जिनदास महत्तर की मानी जाती है—निशीथ विशेष चूर्णि, नन्दी चूर्णि, अनुयोगद्वार चूर्णि, आवश्यक चूर्णि, दशवैकालिक चूर्णि, उत्तराध्ययन चूर्णि, आचाराग चूर्णि, सूत्रकृताग चूर्णि। उपलब्ध जीतकल्प चूर्णि के कर्ता सिद्धसेनसूरि है। बृहत्कल्प चूर्णि प्रलम्बसूरि की कृति है। अनुयोगद्वार की एक चूर्णि (अगुल पद पर) के कर्ता भाष्यकार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण भी है। यह चूर्णि जिनदासगणिकृत अनुयोगद्वार चूर्णि मे अक्षरश उद्धृत है। दशवैकालिक पर अगस्त्यसिह ने भी एक चूर्णि लिखी है। इसके अतिरिक्त अन्य चूर्णिकारो के नाम अज्ञात हैं।

प्रसिद्ध चूर्णिकार जिनदासगणि महत्तर के धर्मगुरु का नाम उत्तराध्ययन चूर्णि के अनुसार वाणिज्यकुलीन कोटिकगणीय, वज्रशाखीय गोपालगणि महत्तर है तथा विद्यागुरु का नाम निशीथ विशेष चूर्णि के अनुसार प्रद्युम्न क्षमाश्रमण है। जिनदास का समय भाष्यकार आचार्य जिनभद्र और टीकाकार आचार्य हरिभद्र के बीच मे है। इसका प्रमाण यह है कि आचार्य जिनभद्रकृत विशेष आवश्यक भाष्य की गाथाओ का प्रयोग इनकी चूर्णियो मे दृष्टिगोचर होता है तथा इनकी चूर्णियो का पूरा उपयोग आचार्य हरिभद्र की टीकाओ मे हुआ दिखाई देता है। ऐसी स्थिति मे चूर्णिकार जिनदासगणि महत्तर का समय वि स ६५०-७५० के आसपास मानना चाहिए। क्योकि इनके पूर्ववर्ती आचार्य जिनभद्र वि० स० ६५०-६६० के आसपास तथा इनके उत्तरवर्ती आचार्य हरिभद्र वि० स० ७५७-८२७ के आसपास विद्यमान थे। नन्दी चूर्णि के अन्त मे उसका रचनाकाल शक सवत् ५१८ उल्लिखित है। इस प्रकार इस उल्लेख के अनुसार भी जिनदास का समय विक्रम की आठवी शताब्दी का पूर्वार्द्ध निश्चित है।

जीतकल्प चूर्णि के कर्ता सिद्धसेनसूरि प्रसिद्ध सिद्धसेन दिवाकर से भिन्न हैं। इसका कारण यह है कि सिद्धसेन दिवाकर जीतकल्प सूत्र के प्रणेता आचार्य जिनभद्र के पूर्ववर्ती है। जबकि चूर्णिकार सिद्धसेनसूरि आचार्य जिनभद्र के पश्चात्वर्ती है। इनका समय वि० स० १२२७ के पूर्व है, पश्चात् नही, क्योकि प्रस्तुत जीतकल्प चूर्णि की एक टीका, जिसका नाम विषमपद व्याख्या है, श्रीचन्द्रसूरि ने वि० स० १२२७ मे पूर्ण की थी। प्रस्तुत सिद्धसेन सभवत उपकेशगच्छीय देवगुप्तसूरि के शिष्य एव यशोदेवसूरि के गुरु भाई है।

सूत्रकृताग चूर्णि

आचाराग चूर्णि और सूत्रकृताग चूर्णि की शैली मे अत्यधिक साम्य है। इनमे सस्कृत का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक है। विषय विवेचन सक्षिप्त एव अस्पष्ट है। सूत्रकृताग की चूर्णि भी आचाराग आदि की चूर्णि की ही भांति निर्युक्त्यनुसारी है।

टीकाएँ और टीकाकार

जैन आगमो की सस्कृत व्याख्याओ का भी आगमिक साहित्य मे महत्त्वपूर्ण स्थान है। सस्कृत के प्रभाव की विशेष वृद्धि होते देख जैन आचार्यों ने भी अपने प्राचीनतम साहित्य आगम ग्रन्थो पर सस्कृत मे टीकाएँ लिखना प्रारम्भ किया। इन टीकाओ मे प्राचीन निर्युक्तियो, भाष्यो एव चूर्णियो की सामग्री का तो उपयोग हुआ ही, साथ ही साथ टीकाकारों ने नये-नये हेतुओ एव तर्कों द्वारा उस सामग्री को पुष्ट भी किया। आगमिक साहित्य पर प्राचीनतम सस्कृत टीका आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण कृत विशेषावश्यक भाष्य की स्वोपज्ञवृत्ति है। यह वृत्ति आचार्य जिनभद्रगणि अपने जीवन काल मे पूर्ण न कर सके। इस अपूर्ण कार्य को कोट्यार्य ने (जो कि कोटयाचार्य से भिन्न हैं) पूर्ण किया। इस दृष्टि से आचार्य जिनभद्र प्राचीनतम आगमिक टीकाकार हैं। भाष्य, चूर्णि और टीका तीनो प्रकार के व्याख्यात्मक साहित्य मे इनका योगदान है। भाष्यकार के रूप मे तो इनकी प्रसिद्धि है ही। अनुयोगद्वार के अगुल पद पर इनकी एक चूर्णि भी है। टीका के रूप मे इनकी लिखी हुई विशेषावश्यक भाष्य स्वोपज्ञवृत्ति है ही। टीकाकारो मे हरिभद्रसूरि, शीलाकसूरि, अभयदेवसूरि, मलयगिरि, मलधारी हेमचन्द्र आदि विशेष प्रसिद्ध हैं।

शीलाकाचार्यकृत टीकाएँ

आचार्य शीलाक के विषय मे कहा जाता है कि उन्होने प्रथम नौ अगो पर टीकाएँ लिखी थी। वर्तमान मे इनकी केवल दो टीकाएँ उपलब्ध हैं। आचाराग विवरण और सूत्रकृताग विवरण। इन्होने व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) आदि पर भी टीकाएँ लिखी अवश्य होगी, जैसा कि अभयदेवसूरि कृत व्याख्याप्रज्ञप्ति टीका से फलित होता है। आचार्य शीलाक, जिन्हें शीलाचार्य एव तत्वादित्य भी कहा जाता है, विक्रम की नवी दसवी शती मे विद्यमान थे।

आचाराग विवरण

यह विवरण आचाराग के मूलपाठ एव उसकी निर्युक्ति पर है। विवरण शब्दार्थ तक ही सीमित नही है। इसमे प्रत्येक सम्बद्ध विषय का सुविस्तृत व्याख्यान है। यत्र-तत्र प्राकृत एव सस्कृत उद्धरण भी हैं। प्रारम्भ मे आचार्य ने गधहस्तिकृत शस्त्रपरिज्ञा-विवरण का उल्लेख किया है एव उसे कठिन बताते हुए आचाराग पर सुबोध विवरण लिखने का प्रयत्न किया है। प्रथम श्रुतस्कन्ध के षष्ठ अध्ययन की व्याख्या के अन्त मे विवरणकार ने बताया है कि महापरिज्ञा नामक सप्तम अध्ययन का व्यवच्छेद हो जाने के कारण उसका अतिलघन करके अष्टम अध्ययन का व्याख्यान प्रारम्भ किया जाता है। अष्टम अध्ययन के षष्ठ उद्देशक के विवरण मे ग्राम, नकर (नगर), खेट, कर्बट, मडम्ब, पत्तन, द्रोण, आकर, आश्रम, सन्निवेश, निगम, राजधानी आदि का स्वरूप बताया गया है। कानन द्वीप आदि को जलपत्तन एव मथुरा आदि को स्थलपत्तन कहा गया है। मरुकच्छ, ताम्रलिप्ति, आदि द्रोणमुख अर्थात् जल एव स्थल के आगमन के केन्द्र हैं। प्रस्तुत विवरण निवृत्तिकुलीन शीलाचार्य ने गुप्त सवत् ७७२ की भाद्रपद शुक्ला पचमी के दिन वाहरिसाधु की सहायता से गभूता मे पूर्ण किया। विवरण का ग्रन्थमान १२००० श्लोक प्रमाण है।

सूत्रकृतांग विवरण

यह विवरण सूत्रकृतांग के मूलपाठ एव उसकी निर्युक्ति पर है। विवरण सुबोध है। दार्शनिक दृष्टि की प्रमुखता होते हुए भी विवेचन मे क्लिष्टता नही आने पाई है। यत्र-तत्र पाठान्तर भी उद्धृत किये गये है। विवरण मे अनेक श्लोक एवं गाथाएँ उद्धृत की गई हैं किन्तु कही पर भी किसी ग्रन्थ अथवा ग्रन्थकार के नाम का कोई उल्लेख नही है। प्रस्तुत टीका का ग्रन्थमान १२८५० श्लोक प्रमाण है। यह टीका टीकाचार्य ने वाहरिगणि की सहायता से पूरी की है।

प्रस्तुत संस्करण एवं सम्पादन

सूत्रकृतांग सूत्र, जिसमे कि भगवान महावीर की दार्शनिक विचारधारा उपनिबद्ध है, जैन आगमो मे इसका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है तथा भारतीय दर्शनो मे भी इसका महान् गौरव रहा है। प्राचीन भारतीय-दर्शन की एक भी धारा उस प्रकार की नही रही जिसका उल्लेख सूत्रकृताग सूत्र मे न हुआ हो। यह बात अवश्य रही है कि कही-कही पर सकेत मात्र कर दिया है और कही-कही नाम लेकर स्पष्ट उल्लेख किया गया है। उपनिषत्कालीन तत्त्ववाद का, वेदान्त और प्राचीन साख्य-दर्शन, क्षणिकवादी बौद्धो का क्षणिकवाद तथा पचभूतवादियो का भूतवाद इन सभी का समावेश सूत्रकृताग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध मे हो गया है। प्रस्तुत शास्त्र के व्याख्याकार निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने तथा चूर्णिकार ने अपनी चूर्णि मे कुछ गम्भीर स्थलो की सुन्दर व्याख्या की है। लेकिन सस्कृत टीकाकार आचार्य शीलाक ने इस सूत्र की अपनी सस्कृत टीका मे भारतीय दार्शनिक विचारधारा का विस्तार के साथ वर्णन किया है। जो विचार बीज रूप मे उपलब्ध थे उनका एक विशाल वृक्ष उन्होने अपनी टीका मे रूपायित किया है। मैंने अपनी भूमिका के प्रारम्भ मे ही भारतीय-दर्शन की विभिन्न मान्यताओ का सक्षेप मे स्पष्ट वर्णन कर दिया है, इस भूमिका के आधार पर पाठक इस शास्त्र के गम्भीर भावो को आसानी से समझ सकेंगे।

स्व० पूज्य जवाहरलाल जी म० की देख-रेख मे सूत्रकृताग सूत्र का चार भागो मे सम्पादन हुआ है जो अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण एव सुन्दर सम्पादन है। पूज्य घासीलाल जी म० ने भी सूत्रकृताग सूत्र की सस्कृत टीका बहुत ही विस्तार से प्रस्तुत की है, जिसमे उसका हिन्दी अर्थ तथा गुजराती अर्थ भी उपनिबद्ध कर दिया गया है।

परन्तु श्रमण सघ के युवाचार्य प्रकाण्ड पडित श्रद्धेय मधुकर जी म० के सान्निध्य मे सूत्रकृताग का जो सुन्दर लेखन-सम्पादन हुआ है उसकी अपनी कुछ विशेषताएँ है। प्रस्तुत पुस्तक मे मूल पाठ, उसका भावार्थ फिर उसका विवेचन और साथ मे विभिन्न ग्रन्थो से टिप्पण दे दिये है जिससे इसकी उपयोगिता बहुत बढ गई है। यद्यपि सामान्य पाठक के लिये टिप्पणो का विशेष मूल्य नही है, वह प्राय टिप्पण देखता भी नही परन्तु विद्वान अध्येताओ के लिए टिप्पण बहुत ही उपयोगी हैं। इस सस्करण के सम्पादन की बहुश्रुतता तब अभिव्यक्त हो जाती है जब सामान्य पाठक भी सस्कृत प्राकृत टिप्पणो का हिन्दी भावार्थ समझ लेता है, यह कार्य श्रम-साध्य है, पर उपयोगिता की दृष्टि से बहुत अच्छा रहा। पडितरत्न श्री मधुकर जी म० सस्कृत, प्राकृत, पाली और अपभ्र श भाषा के प्रौढ विद्वान हैं। उनकी व्यापक शास्त्रीय दृष्टि तथा निर्देशन-कुशलता इस शास्त्र के प्रत्येक पृष्ठ पर अभिव्यक्त हो रही है। उनकी इस सफलता के लिये मैं धन्यवाद देता हूँ तथा आशा करता हूँ कि भविष्य मे अन्य आगमो का भी इसी प्रकार सम्पादन कार्य चालू रखेंगे। उनकी यह श्रुत-सेवा जैन इतिहास मे अजर-अमर होकर रहेगी।

सस्कृत और प्राकृत के विश्रुत विद्वान श्रीचन्द्र जी सुराना ने प्रस्तुत शास्त्र का जिस योग्यता के साथ अनुवाद, विवेचन एव सम्पादन किया है वह अत्यन्त स्तुत्य है। विभिन्न ग्रन्थो का लेखन, सम्पादन और प्रकाशन वे वर्षों से करते चले आ रहे हैं। उन्होने श्रुत देवता की अपनी लेखनी से जो सेवा की ही, समाज उसे कभी भुला नही सकेगा। उन्होने पहले आचाराग सूत्र जैसे गहन व महत्त्वपूर्ण सूत्र का सम्पादन विवेचन किया है और अब सूत्रकृताग का। सूत्रकृताग सूत्र जैसे दार्शनिक आगम की व्याख्या एव सम्पादन करना साधारण बात नही है। वे अपने इस कार्य मे पूर्णत सफल हुए है। समाज आशा कर सकता है कि वे भविष्य मे इसी प्रकार की श्रुत साधना करते रहेंगे।

—विजय मुनि शास्त्री

'जैन भवन'
लोहामण्डी, आगरा

सूत्रकृताङ्ग सूत्र प्रथम श्रुतस्कन्ध : प्रथम संस्करण के अर्थ सहयोगी
आदर्श श्रावक श्रीमान् गुमानमल जी सा. चोरडिया
(प्रथम संस्करण से)

भगवान महावीर ने श्रावक के आदर्श जीवन की ओर इगित करके एक वचन कहा है—**गिहिवासे वि सुव्वया**—वे गृहस्थावास मे रहते हुए भी व्रतो की सम्यग् आराधना करते हैं।

श्रीमान् गुमानमल जी सा० चोरडिया— स्थानकवासी जैन समाज मे एक आदर्श सद्गृहस्थ के प्रतीक रूप हैं। प्रकृति से अतिभद्र, सरल, छोटे-बडे सभी के समक्ष विनम्र, किन्तु स्पष्ट और सत्यवक्ता, अपने नियम व मर्यादाओ के प्रति दृढनिष्ठा सम्पन्न, गुरुजनो के प्रति विवेकवती आस्था से युक्त, सेवा कार्यों मे स्वय अग्रणी तथा प्रेरणा के दूत रूप मे सर्वत्र विश्रुत हैं।

आपने बहुत वर्ष पूर्व श्रावक व्रत धारण किये थे। अन्य अनेक प्रकार की मर्यादाएँ भी की थीं, आज इस वृद्ध अवस्था तथा शारीरिक अस्वस्थता के समय भी आप उन पर पूर्ण दृढ हैं। इच्छा-परिमाण व्रत पर तो आपकी दृढता तथा कार्यविधि सबके लिए ही प्रेरणाप्रद है। अपनी की हुई मर्यादा से अधिक जो भी वार्षिक आमदनी होती है वह सब तुरन्त ही शुभ कार्यों मे—जैसे जीवदया, असहाय-सहायता, बुक बैंक, गरीब व रुग्णजन सेवा तथा साहित्य-प्रसार मे वितरित कर देते है। राजस्थान तथा मद्रास मे आपकी दानशीलता से अनेक सस्थाएँ लाभान्वित हो रही हैं।

आप स्था० जैन समाज के अग्रगण्य धर्मनिष्ठ श्रेष्ठी श्री मोहनमल जी सा० चोरडिया के अत्यन्त विश्वास-पात्र, सुदक्ष तथा प्रधान मुनीम रहे। सेठ साहब प्राय हर एक कार्य मे आपकी सलाह लेते हैं। मद्रास मे आपका अपना निजी व्यवसाय भी है। प्राय सभी सामाजिक-धार्मिक कार्यों मे आपका सहयोग वाछित रहता है।

आपकी जन्मभूमि—नोखा (चान्दावतो का) है, आपके स्व० पिता श्रीमान् राजमलजी चोरडिया भी धार्मिक वृत्ति के थे। आपके पाँच सहोदर अनुजभ्राता हैं—श्री मागीलालजी, चम्पालालजी, दीपचन्दजी, कन्दनमलजी तथा फूलचन्दजी। सभी का व्यवसाय मद्रास मे चल रहा है। तथा आप एव सभी बधु स्वर्गीय पूज्य गुरुदेव स्वामी श्री हजारीलाल म० के प्रति अनन्य श्रद्धा-भक्ति रखते है स्वामी श्री ब्रजलाल जी म० सा० एव युवाचार्य श्री मधुकर मुनि जी म० के प्रति आप सब की गहरी श्रद्धा है। युवाचार्य श्री के निदेशन मे चलने वाले विविध धार्मिक एव सास्कृतिक उपक्रमो में आप समय-समय पर तन-मन-धन से सहयोग करते रहे हैं, कर रहे है।

आगमो के प्रति आपकी गहरी निष्ठा है। प्रारम्भ से ही आप आगम-साहित्य के प्रचार-प्रसार हेतु उत्साहवर्धक प्रेरणाएँ देते रहे हैं। जब युवाचार्य श्री के निदेशन मे आगमो के हिन्दी अनुवाद एव विवेचन प्रकाशित करने की योजना बनी तो, आपश्री ने स्वत की प्रेरणा से ही एक बडी धनराशि देने की उत्साहपूर्ण घोषणा की, साथ ही अन्य मित्रो एव स्वजन-स्नेहियो को प्रेरणा भी दी। आपकी सहयोगात्मक भावना तथा उदारता हम सबके लिये प्रेरणा प्रदीप का काम कर रही है।

प्रस्तुत आगम के प्रकाशन का व्यय-भार आपने वहन किया है। हम शासनदेव से प्रार्थना करते है कि ऐसे समाजरत्न आदर्श श्रावक चिरकाल तक जिनशासन की सेवा करते हुए हमारा मार्गदर्शन एव उत्साह सवर्धन करते रहे।

श्री चोरडिया जी ने अपनी स्वर्गीया धर्मपत्नी श्रीमती आशादेवी की स्मृति मे यह आगम प्रकाशित करवाया है।

—मंत्री

सूत्रकृताङ्ग सूत्र द्वितीय श्रुतस्कन्ध : प्रथम संस्करण के अर्थ सहयोगी

श्रीमान् सेठ कंवरलालजी बेताला

(प्रथम सस्करण से)

श्री आगम-प्रकाशन-समिति के विशिष्ट महयोगी एव आगम प्रकाशन के कार्य की नीव रखने वालो मे प्रमुख, धर्मप्रेमी, उदारहृदय एव सरल स्वभावी श्रीमान् कवरलालजी सा बेताला मूलत डेह एव नागौर निवासी है। आप श्रीमान् पूनमचन्दजी बेताला के सुपुत्र है। आपकी मातुश्री का नाम राजीबाई है। आप पाच भाई हैं जिनमे आपका चौथा स्थान है। सभी भाई अच्छे व्यवसायी है।

आपका जन्म वि स १९८० मे डेह मे हुआ। वही प्रारम्भिक अध्ययन हुआ। आप बारह वर्ष की अल्पायु मे ही अपने पिताजी के साथ आसाम चले गये थे। वहाँ व्यवसाय मे लग गये और अपनी सहज प्रतिभा से निरन्तर प्रगति कर आगे से आगे बढते गये। आज गौहाटी मे आपका विस्तृत फाइनेन्स का व्यवसाय है। आप साहसी व्यवसायी है। हमेशा दूरन्देशी से कार्य करते है। फलस्वरूप आपको हमेशा सफलता मिली है। आप अपने श्रम से उपार्जित धन का खुले दिल मे सामाजिक सस्थाओ के लिये एव धार्मिक कार्यों मे उपयोग करते है। मुक्त-हस्त से दान देते है।

आप सन्तो की अत्यन्त भक्तिभाव से सेवा करते है। आपकी धर्मपत्नी श्रीमती बिदामबाई भी उदारमना महिला हैं। वे भी सन्त-सतियो के प्रति श्रद्धावान हैं व उनकी विश्वासभाजन हैं। दोनो श्रद्धालु एव धर्मपरायण है।

स्व स्वामीजी श्री रावतमलजी महाराज सा के श्रद्धालु श्रावको मे आप प्रमुख रहे है। उसी तरह शासन-सेवी श्री ब्रजलालजी महाराज एव युवाचार्य श्री मधुकर मुनिजी म सा के भी आप परम भक्त है।

आप अपनी जन्मभूमि की अनेक सस्थाओ के लिये व अन्य सेवा-कार्यों मे अपने धन का सदुपयोग करते रहते हैं।

श्री स्थानकवासी जैन सघ गौहाटी के आप अध्यक्ष हैं। भारत जैन महामडल के सरक्षक एव आसाम प्रान्त के सयोजक है। मुनिश्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन के अध्यक्ष रह चुके है। श्री आगम-प्रकाशन-समिति के आप उपाध्यक्ष है।

आपके सुपुत्र श्री धर्मचन्दजी भी बडे उत्साही व धार्मिक रुचि के युवक है। आपके दो पुत्रियाँ श्रीमती कान्ता एव मान्ता तथा पौत्र महेश व मुकेश भी अच्छे सस्कारशील हैं।

आपका वर्तमान पता है —

ज्ञानचन्द धर्मचन्द बेताला

ए टी रोड, गौहाटी (आसाम)।

आपने इस सूत्र के प्रकाशन मे विशिष्ट अर्थ सहयोग प्रदान कर हमे उत्साहित किया है। आशा है भविष्य मे भी समिति का आपकी ओर से इसी प्रकार सहयोग प्राप्त होता रहेगा।

—मंत्री

विषय-सूची

[प्रथम श्रुतस्कन्ध : अध्ययन १ से १६ तक]

नरक विभक्ति : पंचम अध्ययन : पृष्ठ २८६ से ३१४

महावीर स्तव (वीर स्तुति) : छठा अध्ययन : पृष्ठ ३१५ से ३२८

कुशील परिभाषित · सप्तम अध्ययन · पृष्ठ ३२९ से ३४२

वीर्य : अष्टम अध्ययन : पृष्ठ ३४३ से ३५६

धर्म : नवम अध्ययन : पृष्ठ ३५७ से ३७३

समाधि : दशम अध्ययन : पृष्ठ ३७४ से ३८४

मार्ग : एकादश अध्ययन : पृष्ठ ३८५ से ३९८

समवसरण : द्वादश अध्ययन : पृष्ठ ३९९ से ४१४

याथातथ्य : त्रयोदश अध्ययन : पृष्ठ ४१४ से ४१८

[द्वितीय श्रुतस्कंध : अध्ययन १ से ७ तक]

पौण्डरीक : प्रथम अध्ययन : पृष्ठ ४५९ से ५०७

क्रियास्थान द्वितीय अध्ययन : पृष्ठ ५०९ से ५६१

आहारपरिज्ञा : तृतीय अध्ययन पृष्ठ ५६२ से ५८७

प्रत्याख्यान क्रिया : चतुर्थ अध्ययन : पृष्ठ ५८८ से ६०१

अनाचारश्रुत : पंचम अध्ययन : पृष्ठ ६०२ से ६१९

पचमगणहर भयव सिरिसुहम्मसामिपणीय बिइयमगं

सूयगडंगसुत्तं

पंचम गणधर भगवत् सुधर्मस्वामिप्रणीत द्वितीय अग

सूत्रकृतांगसूत्र

सूत्रकृतांगसूत्र

परिचय

☐ प्रस्तुत आगम द्वादशागी का द्वितीय अग है। इसका प्रचलित नाम 'सूत्रकृताग' है।

☐ निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु ने इसके तीन एकार्थक गुणनिष्पन्न नामो का निरूपण किया है[1] — (१) सूतगड (सूत्रकृत), (२) सुत्तकड (सूत्रकृत) और सुयगड (सूचाकृत)।

☐ तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर द्वारा अर्थरूप मे सूत (उत्पन्न) होने से, तथा गणधरो द्वारा ग्रथित—कृत (सूत्ररूप मे रचित) होने से इसका नाम **'सूत्रकृत'** है।

☐ सूत्र का अनुसरण करते हुए इसमे तत्त्वबोध (उपदेश) किया गया है, एतदर्थ इसका नाम सूत्रकृत् है।

☐ इसमे स्व-पर समयो (सिद्धान्तो) को सूचित किया गया है, इसलिए इसका नाम **'सूचाकृत'** भी है।[2]

☐ समवायाग, नन्दीसूत्र और अनुयोगद्वारसूत्र मे इसका 'सूयगडो' (सूत्रकृत) नाम उपलब्ध होता है।[3]

☐ नन्दीसूत्र वृत्ति और चूर्णि मे दो अर्थ दिये गए हैं—जीवादि पदार्थ (सूत्र द्वारा) सूचित उपलब्ध है, इसलिए तथा जीवादि पदार्थों का अनुसन्धान होता है, इसलिए इसका नाम **'सूत्रकृत'** ही अधिक सगत है।[4]

☐ अचेलकपरम्परा मे भी सूत्रकृताग के प्राकृत मे तीन नाम मिलते है सुद्दयड, सूदयड और सूदयद। इन तीनो का सस्कृत रूपान्तर वहाँ **'सूत्रकृत'** ही माना है।[5]

☐ जैसे पुरुष के १२ अग होते है, वैसे ही श्रुतरूप परमपुरुष के आचार आदि १२ अग क्रमश होते हैं, इसलिए आचार, सूत्रकृत आदि १२ आगमग्रन्थो के आगे 'अग' शब्द लगाया जाता है।[6]

---

१ सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा-२

२ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक २

३ (क) समवायांग प्रकीर्णक समवाय ८८ (ख) नन्दीसूत्र ८० (ग) अनुयोगद्वार सूत्र ५०

४ (क) नन्दी हारिभद्रीय वृत्ति पृ० ७७, (ख) नन्दीचूर्णि पृ० ६३

५ प्रतिक्रमण ग्रन्थत्रयी मे 'तेवीसाए सुद्दयडज्भाणेसु ''।' (ख) 'ज तमगपविट्ठ सूदयड' सूदयदे छत्तीसपद-सहस्साणि।'—जयधवला पृ० २३, तथा पृ० ८५

६ (क) नन्दीसूत्र चूर्णि पृ० ५७, हारी० वृत्ति० पृ० ६९

- अर्थागमरूप से सूत्रकर्ता (उपदेशसूत्रकर्ता) भ० महावीर है, वाणी या उपदेश उनके अगभूत होने से इसके अन्त मे अग-शब्द और जोडा गया। इस कारण भी इस शास्त्र का नाम सूत्रकृताग प्रचलित हो गया।[७]

- क्षीराश्रवादि अनेकलब्धिरूप योगो के धारक गणधरो ने भगवान् से अर्थरूप मे सुनकर अक्षरगुण-मतिसघटना और कर्मपरिशाटना (कर्मसक्षय), इन दोनो के योग से अथवा वाग्योग और मनो-योग से शुभ अध्यवसायपूर्वक इस सूत्र की रचना की, इसलिए इसका नाम 'सूत्रकृत' हो गया।[८]

- सूत्रकृताग के दो श्रुतस्कन्ध है। प्रथम श्रुतस्कन्ध मे १६ अध्ययन है, इस कारण इसका एक नाम 'गाथाषोडशक' भी है।

- द्वितीय श्रुतस्कन्ध मे ७ अध्ययन है, ये विस्तृत होने के कारण इसे 'महज्झयणाणि' (महाध्ययन) भी कहते है।[९]

- प्रथम श्रुतस्कन्ध के १६ अध्ययनो के कुल २६ उद्देशक है, और द्वितीय श्रुतस्कन्ध के ७ अध्ययनो के सात। कुल ३३ उद्देशक है। ३३ ही समुद्देशनकाल है, तथा ३६००० पदाग्र है।[१०]

- सूत्रकृताग मे स्वसमय-परसमय, जीवादि नौ तत्त्वो, श्रमणो की आचरणीय हितशिक्षाओ तथा ३६३ दर्शन मतो का निरूपण है।

- दिगम्बर साहित्य मे सूत्रकृताग की विषय वस्तु का निरूपण प्राय समान ही है।[११]

---

७ नन्दी मलयगिरिवृत्ति

८ (क) सूत्रकृताग निर्युक्ति गा २० (ख) सूत्रकृताग शीलाक वृत्ति पत्राक ७

९ (क) सूत्रकृताग निर्युक्ति गा २२ (ख) सूत्रकृताग शीलाक वृत्ति पत्राक ८

१० सूत्रकृताग निर्युक्ति गा २२, शीलाक वृत्ति पत्राक ८

११ (क) समवायाग सू ९० (ख) नन्दीसूत्र सू ८२
(ग) अग पण्णत्ती, जयधवला पृ ११२, राजवार्तिक १।२०, धवला पृ १००

सूत्रकृतांगसूत्र (प्रथम श्रुतस्कन्ध)

प्रथम अध्ययन : समय

प्राथमिक

☐ सूत्रकृताग सूत्र प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन का नाम '**समय**' है।

☐ शब्द-कोष के अनुसार काल, शपथ, सौगन्ध, आचार, सिद्धान्त, आत्मा, अगीकार, स्वीकार, सकेत, निर्देश, भाषा, सम्पत्ति, आज्ञा, शर्त, नियम, अवसर, कालविज्ञान, समयज्ञान, नियम बाधना, शास्त्र, प्रस्ताव, आगम, नियम, सर्वसूक्ष्मकाल, रिवाज, सामायिक, सयमविशेष, सुन्दर परिणाम, मत, परिणमन, दर्शन, पदार्थ आदि '**समय**' के अर्थ है।
प्रस्तुत मे 'समय' शब्द सिद्धान्त, आगम, शास्त्र, मत, दर्शन, आचार एव नियम आदि अर्थों मे प्रयुक्त हुआ है।[1]

☐ निर्युक्तिकार ने 'समय' शब्द का १२ प्रकार का निक्षेप किया है—(१) नामसमय, (२) स्थापना-समय, (३) द्रव्यसमय, (४) कालसमय, (५) क्षेत्रसमय, (६) कुतीर्थसमय, (७) सगार (सकेत) समय, (८) कुलसमय (कुलाचार), (९) गणसमय (सघाचार), (१०) सकर-समय (सम्मिलित एकमत), (११) गडीसमय (विभिन्न सम्प्रदायो की प्रथा) और (१२) भावसमय (विभिन्न अनुकूल प्रतिकूल सिद्धान्त)।

☐ प्रस्तुत अध्ययन मे 'भावसमय' उपादेय है, शेष समय केवल ज्ञेय है।[2]

☐ प्रस्तुत '**समय**' अध्ययन मे स्व-पर सिद्धान्त, स्व-परदर्शन, स्व-पर मत एव स्व-पर-आचार आदि का प्ररूपण किया गया है, जिसे '**स्व-पर-समयवक्तव्यता**' भी कहते हैं।

☐ समय-अध्ययन के चार उद्देशक है। प्रथम उद्देशक मे बन्धन और उसे तोडने का उपाय बताते हुए पचमहाभूतवाद, एकात्मवाद, तज्जीव-तच्छरीरवाद, अकारकवाद, आत्मषष्टवाद, अफलवाद का वर्णन किया गया है।[3]

---

१ (क) पाइअ-सद्द-महण्णवो पृ० ८६६ (ख) शब्दरत्नमहोदधि पृ० २००९
(ग) अभिधान राजेन्द्र कोष भा० ७ पृ० ४१८ (घ) जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष, भाग ४ पृ० ३२८
(ङ) समयसार ता० वृ० १५११२१४।१३

२ (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा २९ (ख) सूत्रकृताग शीलाक वृत्ति पत्राक १०

३ (क) सूत्रकृताग निर्युक्ति गा० ३० (ख) सूत्रकृतांग शीलाक वृत्ति पत्राक ११

☐ द्वितीय उद्देशक मे नियतिवाद, अज्ञानवाद, चार प्रकार से बद्ध कर्म उपचित (गाढ) नही होना, इस प्रकार के बौद्धो के वाद का वर्णन है ।[४]

☐ तृतीय उद्देशक मे आधाकर्म आहार-सेवन से होने वाले दोष बताये गए है । इसके पश्चात् विभिन्न कृतवादो (जगत्-कर्तृत्ववादो), तथा स्व-स्वमत से मोक्षप्ररूपकवाद का निरूपण है ।[५]

☐ चतुर्थ उद्देशक मे पर-वादियो की असयमी गृहस्थो के आचार के साथ सदृशता बताई गई है । अन्त मे अविरतिरूप कर्मबन्धन से बचने के लिए अहिसा, समता, कषायविजय आदि स्वसमय (स्वसिद्धान्त) का प्रतिपादन किया गया है ।[६]

☐ स्व-समय प्रसिद्ध कर्मबन्धन के ५ हेतुओ—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग की दृष्टि से पर-समय (दूसरे दर्शनो, वादो और मतो के आचार-विचार) को बन्धनकारक बताकर बन्धन से छूटने का स्व-समय प्रसिद्ध उपाय इस अध्ययन मे वर्णित है ।[७]

☐ प्रस्तुत प्रथम अध्ययन सूत्र सख्या १ मे प्रारम्भ होकर सूत्र ८८ पर समाप्त होता है ।

☐ सूत्रकृताग मे वर्णित वादो के साथ बौद्धग्रन्थ सुत्तपिटक के दीघनिकायान्तर्गत ब्रह्मजाल सूत्र मे वर्णित ६२ वादो की क्वचित्-क्वचित् समानता प्रतीत होती है ।[८]

☐☐

४ (क) सूत्रकृताग निर्युक्ति गा० ६१ (ख) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ११

५ (क) सूत्रकृताग निर्युक्ति गा० ३२ (पूर्वार्द्ध) (ख) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ११

६ (क) सूत्रकृताग निर्युक्ति गा० ३२ (उत्तरार्द्ध) (ख) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ११

७ (क) सूत्रकृताग सूत्र (सूयगडग सुत्त) मुनि जम्बूविजयजी सम्पादित प्रस्तावना पृ० ६-७
(ख) सूत्रकृताग (प्र० श्रु०) प० मुनि हेमचन्द्रजी कृत व्याख्या—उपाद्घात पृ० २०

८ सूयगडग सुत्त, मुनि जम्बूविजयजी सम्पादित प्रस्तावना पृ० ६-७

पढमं अज्झयणं 'समयो'

प्रथम अध्ययन : समय

पढमो उद्देसओ : प्रथम उद्देशक

बंध-मोक्ष स्वरूप—

१. बुज्झिज्ज तिउट्टेज्जा, बंधणं परिजाणिया ।
किमाह बंधणं वीरो ?, किं वा जाणं तिउट्टई ॥१॥

२. चित्तमंतमचित्त वा, परिगिज्झ किसामवि ।
अन्नं वा अणुजाणाति, एवं दुक्खा ण मुच्चई ॥२॥

३. सयं तिवायए पाणे, अदुवा अण्णेहिं घायए ।
हणंतं वाऽणुजाणाइ, वेरं वड्ढेति अप्पणो ॥३॥

४. जस्सि कुले समुप्पन्ने, जेहिं वा संवसे णरे ।
ममाती लुप्पती बाले, अन्नमन्नेहिं मुच्छिए ॥४॥

५. वित्तं सोयरिया चेव, सव्वमेतं न ताणए ।
संखाए जीवियं चेव, कम्मणा उ तिउट्टति ॥५॥

६. एए गंथे विउक्कम्म, एगे समण-माहणा ।
अयाणंता विउस्सिता, सत्ता कामेहिं माणवा ॥६॥

१ मनुष्य को बोध प्राप्त करना चाहिए । बन्धन का स्वरूप जान कर उसे तोडना चाहिए । [श्री जम्बूस्वामी ने सुधर्मास्वामी से पूछा—] वीर प्रभु ने किसे बन्धन कहा है ? किसे जान कर जीव बन्धन को तोडता है ?

२ [श्री सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी से कहते है—] जो मनुष्य सचित्त (द्विपद चतुष्पद आदि सचेतन प्राणी] हो अथवा अचित्त (चैतन्य रहित सोना चादी आदि जड) पदार्थ अथवा भूसा आदि तुच्छ वस्तु हो, या थोडा-सा भी परिग्रह के रूप मे रखता है अथवा दूसरे के परिग्रह रखने की अनुमोदना करता है [इस प्रकार] वह दुःख से मुक्त नही होता ।

३. जो व्यक्ति स्वय (किसी प्रकार से) प्राणियो का वध करता है अथवा दूसरो से वध कराता है या प्राणियो का वध करते हुए अन्य व्यक्तियो का अनुमोदन करता है, वह मारे जाने वाले प्राणियो के साथ अपना वैर बढाता है (उपलक्षण से—अपनी आत्मा के साथ शत्रुता बढाता है) ।

४. मनुष्य जिस कुल में उत्पन्न हुआ है, और जिसके साथ निवास करता है, वह अज्ञ (बाल)

जीव उसमे ममत्व बुद्धि रखता हुआ पीडित होता है। वह मूढ दूसरे-दूसरे पदार्थों मे मूर्च्छित (आसक्त) होता रहता है।

५ धन-सम्पत्ति और सहोदर भाई-बहन आदि ये सब रक्षा करने मे समर्थ नही है। (यह) जान कर तथा जीवन को भी (स्वल्प) जान कर जीव कर्म (बन्धन) से छूट (पृथक् हो) जाता है।

६ इन (पूर्वोक्त) ग्रन्थो—सिद्धान्तो को छोडकर कई श्रमण (शाक्यभिक्षु आदि) और माहण (वृहस्पति मतानुयायी (ब्राहण) [स्वरचित सिद्धान्तो मे अभिनिवेशपूर्वक] बद्ध है। ये अज्ञानी मानव काम-भोगो मे आसक्त रहते है।

विवेचन—सर्वप्रथम बोधिप्राप्ति का सकेत क्यो? प्रथम सूत्र मे बोधि-प्राप्ति की सर्वप्रथम प्रेरणा इसलिए दी गई कि बोधप्राप्ति या सम्बोधि लाभ अत्यन्त दुर्लभ है। यह तथ्य सूत्रकृताग, उत्तराध्ययन, आचाराग आदि आगमो मे यत्र तत्र प्रकट किया है[1] बोधिप्राप्ति इसलिए दुर्लभ है कि एकेन्द्रिय से लेकर असज्ञी पचेन्द्रिय तक के जीवो को बोध प्राप्ति होना सम्भव नही है। सज्ञी पचेन्द्रिय जीवो को ही बोधि प्राप्त हो सकती है, किन्तु सज्ञी पचेन्द्रियो मे जो तिर्यञ्च है उनमे बहुत ही विरले पशु या पक्षी को बोधि सम्भव है। जो नारक है, उन्हे दुखो की प्रचुरता के कारण बोधि प्राप्ति का बहुत ही कम अवकाश है। देवो को भौतिक सुखो मे आसक्ति के कारण बोधि लाभ प्राय नही होता। उच्चजाति के देवो को बोधि प्राप्त होना सुगम है, परन्तु वे बोधि प्राप्त हो जाने पर भी बन्धनो को तोडने के लिए व्रत, नियम, त्याग, प्रत्याख्यान, तप-सयम मे पुरुषार्थ नही कर सकते। इसलिए वहाँ बोधि लाभ होने पर भी तदनुरूप आचरण नही होने से उसकी पूरी सार्थकता नही होती। रहा मनुष्य-जन्म, उसमे जो अनार्य है, मिथ्यात्वग्रस्त है, महारम्भ और महापरिग्रह मे रचे-पचे है, उन्हे बोधि प्राप्त होना कठिन है।

जिस व्यक्ति को आर्यक्षेत्र, उत्तमकुल, परिपूर्ण इन्द्रियाँ, परिपूर्ण अगोपाग, स्वस्थ, सशक्त शरीर, दीर्घायुष्य प्राप्त है उसी मनुष्य के लिए बोधि प्राप्त करना सुलभ है। अत अभी से, इसी जन्म मे, बोधि प्राप्त करने का शास्त्रकार का सकेत है।

बोध कैसा व कौन सा है? —यो तो एकेन्द्रिय जीवो मे भी चेतना सुषुप्त होती है, द्वीन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक के जीवो मे वह उत्तरोत्तर विकसित है, त्रस जीवो को भूख प्यास, सर्दी, गर्मी, सन्तान पोषण, स्वरक्षण आदि का सामान्य बोध होता है परन्तु यहाँ उस बोध से तात्पर्य नही, यहाँ आत्मबोध से तात्पर्य है[2] जिसे आगम की भाषा मे बोधि कहा गया है। वास्तव मे यहाँ 'बुज्झिज्ज'

---

१ देखिये बोधि-दुर्लभता के आगमो मे अकल्पित उद्धरण "सबोहि खलु पेच्च दुल्लहा" सूत्रकृ सूत्र ८९।
"णो सुलह बोहिं च आहिय"— सूत्रकृ सूत्र १६१
"बहुकम्म लेवलित्ताण बोही होइ सुदुल्लहा तेसिं" —उत्तरा ८।१५

२ आत्मा से सम्बन्धित बोध का समर्थन आचाराग (श्रु १, अ १ सू १) से मिलता है—"अत्थि मे आया उववाइए? णत्थि मे आया उववाइए? कवा अहमसि? केवा इओ चुओ इह पेच्चा भविस्सामि?"
श्री शकराचार्य ने भी आत्म-स्वरूप के बोध की ओर इगित किया है—

"कोऽह? कथमिद? जात, को वै कर्ताऽस्य विद्यते?
उपादान किमस्तीह? विचार सोऽयमीदृश ॥"

पद से सकेत किया गया है कि 'मैं कौन हूँ मनुष्य लोक मे कैसे आया ? आत्मा बन्धन रहित होते हुए भी इस प्रकार के बन्धन मे क्यों और कैसे पडा ? इन बन्धनो के कर्त्ता कौन हैं ? बन्धनो को कौन तोड सकता है ? आदि सब प्रश्न आत्मबोध से सम्बन्धित है ।

बन्धनों को जान कर तोड़ो—प्रथम गाथा के द्वितीय चरण मे यही बात कही गई है कि पहले बन्धनों को जानो, समझो कि वे किस प्रकार के और किन-किन कारणो के होते हैं ? इस वाक्य मे यह आशय भी गर्भित है कि बन्धनो को भलीभाँति जाने बिना तुम उन्हे तोडोगे कैसे ? या तो तुम एक बन्धन को तोड दोगे, वहाँ दूसरा बन्धन सूक्ष्म रूप से प्रविष्ट हो जाएगा । गृहस्थाश्रम के बन्धन तोड कर साधु जीवन अगीकार कर लेने पर भी गुरु-शिष्य, गृहस्थ, श्रावक श्राविका, विचरण क्षेत्र, वस्त्र, पात्रादि उपकरणो के मोह ममत्वरूप बन्धन प्रविष्ट हो जाने की आशका है । अथवा अबन्धन को बन्धन और बन्धन को अबन्धन समझ कर विपरीत पुरुषार्थ किया जायगा ।

इस वाक्य मे जैन दर्शन के एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त—**ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः**- ज्ञान और क्रिया दोनो से मोक्ष होना है, का प्रतिपादन किया गया है ।

वेदान्त, साख्य आदि कई दर्शन ज्ञान मात्र से मुक्ति बताते हैं । मीमासा आदि दर्शन एकान्त कर्म (क्रिया) से कल्याण प्राप्ति मानते हैं, किन्तु जैन दर्शन ज्ञान और क्रिया दोनो से मुक्ति मानता है । इसीलिए यहाँ स्पष्ट कहा गया है --ज्ञपरिज्ञा से पहले उन बन्धनो को जानो, समझो और प्रत्याख्यान परिज्ञा से उन्हे त्यागने का पुरुषार्थ करो । अकेला ज्ञान पगु है और अकेली क्रिया अन्धी है । अत बन्धन का सिर्फ ज्ञान होना ही पर्याप्त नही । इसी प्रकार अज्ञानपूर्वक उग्र तपश्चरण आदि क्रिया करना भी उचित नही है । ऐसी अन्धी क्रियाएँ बन्धनो को तोडने के बदले आसक्ति, मोह, प्रसिद्धि, माया, अहकार, प्रदर्शन, आडम्बर आदि से जनित बन्धनो मे और अधिक डाल देती है । इसलिए यहाँ कहा गया है —बन्धनो को परिज्ञान पूर्वक तोडने की क्रिया करो ।

दो प्रश्न : बन्धन को कैसे जानें · कैसे तोड़ें ? —यही कारण है कि इस गाथा के उत्तरार्द्ध मे बन्धन को जानने और तोडने के सम्बन्ध मे दो प्रश्न किये गये हैं कि "(१) वीर प्रभु (तीर्थंकर महावीर) ने बन्धन किसे कहा है ? और (२) किसे जान कर जीव बन्धन को तोडता है ?"

वास्तव मे इन दोनो प्रश्नो के उत्तर के रूप मे यह समग्र द्वितीय अग सूत्र (सूत्रकृताग) है ।

बन्धन का स्वरूप- सामान्य जीव रस्सी, शृ खला, कारागार, तार अवरोध आदि स्थूल पदार्थों को बन्धन समझता है । परन्तु वे द्रव्य बन्धन हैं जो शरीर से सम्बन्धित है । अमूर्त, अदृश्य, अव्यक्त आत्मा इस प्रकार के द्रव्य बन्धनो से नही बन्धना । इसलिए यहाँ आत्मा को बाधने वाले भाव बन्धन को जानने के सम्बन्ध में प्रश्न है ।[3]

भाव बन्धन का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है --जिसके द्वारा आत्मा परतत्र कर दिया जाता है, वह बन्धन है ।[4] यहाँ 'बन्धन' या बन्ध जैन दर्शन मान्य कर्म सिद्धान्त का पारिभाषिक शब्द है इसलिए

३ सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १२

४ 'बध्यते परतन्त्रीक्रियते आत्माऽनेनेति बन्धनम् ।' —कर्मग्रन्थ टीका

वृत्तिकार ने इसका लक्षण इस प्रकार किया है—'आत्मप्रदेशो के साथ जो (कर्मपुद्गल) क्षीरनीरवत् एकमेक होकर स्थित हो जाते है, रहते है, या बन्ध जाते है वे बन्धन या बन्ध कहलाते है। ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकार के कर्म ही एक प्रकार के बन्धन है।[५] तत्त्वार्थसूत्र मे बन्ध का लक्षण दिया है—'कषायसहित (रागद्वेषादि परिणामयुक्त) जीव कर्म के योग्य पुद्गलो को ग्रहण करता है, वही बन्ध है।'[६]

बन्धन (कर्मबन्ध) के कारण—प्रस्तुत गाथा मे प्रयुक्त 'बधण' (बन्धन) शब्द मे बन्धन के कारणो को भी ग्रहण करना चाहिए। क्योकि ज्ञानावरणीय आदि कर्म बन्धन रूप है, इतना जान लेने मात्र से बन्धन से छुटकारा नही हो सकता, यही कारण है कि आगे की गाथाओ मे बन्धन का स्वरूप न बताकर बन्धन के कारणो का स्वरूप और उनकी पहचान बतायी गई है। अगली गाथाओ मे विवक्षित परिग्रह, हिसा, मिथ्यादर्शन आदि बन्धन (कर्मबन्धन) के कारण है। इसलिए यहाँ कारण मे कार्य का उपचार करके बन्धन शब्द का प्रयोग किया गया है।

निष्कर्ष यह है कि ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के कारण रूप है—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, अथवा परिग्रह और आरम्भ आदि। ये ही यहाँ बन्धन है। तत्त्वार्थसूत्र मे बन्ध के ५ मुख्य कारण बताये गए है—मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। इन्ही को लेकर यहाँ दो प्रश्न किये गये है।[७]

बन्धन का मुख्य कारण : परिग्रह—प्रथम गाथा मे बन्धन (के कारण) के सम्बन्ध मे प्रश्न किया गया था। अत उसके उत्तर के रूप मे यह दूसरी गाथा है। पहले बताया गया था कि **'अविरति'** कर्मबध के पाच मुख्य कारणो मे से एक है। अविरति के मुख्यतया पाच भेद है—हिसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह। इनमे परिग्रह को कर्मबन्ध का सबसे प्रबल कारण मानकर शास्त्रकार ने सर्वप्रथम उसे ही ग्रहण किया है। क्योकि हिसाएँ परिग्रह को लेकर होती है, ससार के सभी समारम्भ-रूप कार्य 'मै और मेरा', इस प्रकार की स्वार्थ, मोह, आसक्ति, ममत्व और तृष्णा की बुद्धि से होते है और यह परिग्रह है। असत्य भी परिग्रह के लिए बोला जाता है। चोरी का तो मूल ही परिग्रह है और अब्रह्मचर्य सेवन भी अन्तरग परिग्रह-आसक्ति के कारण होता है। इसी प्रकार प्राणातिपात से लेकर मायामृषा तक के १७ पापो का स्थान, आदिकारण परिग्रह ही है। इस कारण परिग्रह समस्त कर्मबन्धनो का प्रधान कारण बनता है।

परिग्रह का लक्षण और पहचान—किसी भी सजीव और निर्जीव, भावात्मक पदार्थ के प्रति ममत्व बुद्धि होने के साथ उसे ग्रहण करने पर ही वह परिग्रह होता है, अन्यथा नही। परिग्रह का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ होता है—किसी भी पदार्थ को द्रव्य और भावरूप से सभी ओर से ग्रहण करना या ममत्वबुद्धि से रखना परिग्रह है।[८]

---

५ बध्यते जीवप्रदेशैरन्योऽन्यानुवेधरूपतया व्यवस्थाप्यत इति बन्धनम्। ज्ञानावरणीयाप्टप्रकार कर्म।
—सूत्रकृ० शी० टीका पत्र १२

६ सकषायत्वाज्जीव कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्ध। —तत्त्वार्थ० अ० ८, सू० ३

७ (क) सूत्र० शीला० टीका० पत्र० १२—"तद्धेतवो वा मिथ्यात्वाविरत्यादय परिग्रहारम्भादयो वा।"
(ख) मिथ्यादर्शनाविरति-प्रमाद-कषाय-योगा बन्धहेतव। —तत्त्वार्थ० अ० ८, सूत्र १
(ग) सूत्रकृताग प्रथम भाग समयार्थबोधिनी व्याख्या सहित (पूज्य श्री घासीलालजी म०) पृ० २०।

८ परि-समन्ताद् ममत्वबुद्धया द्रव्यभावरूपेण गृह्यते इति परिग्रह। —सूत्र० अमर सुखबोधिनी व्याख्या पृ० २२

किसी वस्तु को केवल ग्रहण करने मात्र से वह परिग्रह नही हो जाती अन्यथा पचमहाव्रत अपरिग्रही साधु के लिए वस्त्र पात्र अन्य धर्मोपकरण उपाश्रय, शास्त्र, पुस्तक, शरीर, शिष्य, भक्त आदि सब परिग्रह हो जाते। वस्तुत जहाँ मूर्च्छा (आसक्ति) हो, वही परिग्रह है।

दशवैकालिकसूत्र मे यही कहा है—साधु साध्वी जो भी वस्त्र, पात्र, कम्बल या पादप्रोछन आदि धर्मोपकरण रखते हैं या धारण करते हैं, वह सयम पालन और लज्जा निवारण के लिए है। इसलिए प्राणिमात्र के त्राता ज्ञातपुत्र महावीर ने उक्त धर्मोपकरणसमूह को परिग्रह नही कहा है, सभी तीर्थंकरो ने मूर्च्छा को ही परिग्रह कहा है, यही बात महावीर ने कही है।[9]

इसीलिए एक आचार्य ने कहा है—मूर्च्छा से जिनकी बुद्धि आच्छादित हो गई है उनके लिए सारा जगत् ही परिग्रह रूप है और जिनके मन-मस्तिष्क मूर्च्छा से रहित हैं, उनके लिए सारा जगत् ही अपरिग्रहरूप है।[10]

महाभारत (४।७२) मे भी स्पष्ट कहा है—'बन्ध और मोक्ष के लिए दो ही पद अधिकतर प्रयुक्त होते हैं—'मम' और 'निर्मम'। जब किसी पदार्थ के प्रति मम (ममत्व, मेरापन) मेरा है यही भाव आ जाता है तब प्राणी कर्म-बन्धन से बध जाता है और जब किसी पदार्थ के प्रति निर्मम (मेरा नही है) भाव आता है तब बन्धन से मुक्त हो जाता है।[11]

परिग्रह के दो रूप—परिग्रह के शास्त्रकारो ने मुख्यत दो रूप बताए है—बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य परिग्रह के मुख्यतया दो भेद यहाँ मूल पाठ मे बताए है—**'चित्तमंतमचित्तं वा परिगिज्झ'**—सचेतन परिग्रह और अचेतन (जड) परिग्रह। सचित्त परिग्रह मे मनुष्य, पशु, पक्षी, (द्विपद, चतुष्पद) तथा वृक्ष, पृथ्वी, वनस्पति, फल, धान्य आदि समस्त सजीव वस्तुओ का समावेश हो जाता है और अचित परिग्रह मे क्षेत्र, वास्तु (मकान) सोना, चाँदी, मणि, वस्त्र, वर्तन, सिक्के, नोट आदि सभी निर्जीव वस्तुओ का समावेश होता है।

भगवतीसूत्र मे कर्म, शरीर और भण्डोपकरण—इन तीनो को ममत्वयुक्त होने पर परिग्रह बताया है आभ्यन्तर परिग्रह के क्रोध आदि ४ कषाय, हास्य आदि नो कषाय और मिथ्यात्व (विपरीत श्रद्धा मान्यता आदि की पकड), यश, प्रतिष्ठा, लिप्सा, वस्तु न होते हुए भी उसके प्रति लालसा, आसक्ति आदि १४ प्रकार परिग्रह के बताए हैं।

---

९ ज पि वत्थ व पाय व कबल पायपुछण।
त पि सजमलज्जट्ठा धारति परिहरंति य॥
न सो परिग्गहो वुत्तो नायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्त महेसिणा॥ —दशवै० ६।१९-२०

१० मूर्च्छयाच्छन्नधियां सर्वं जगदेव परिग्रह।
मूर्च्छया रहितानां तु जगदेवापरिग्रह॥

११ द्वे पदे बन्ध-मोक्षाय निर्ममेति ममेति च।
ममेति बध्यते जन्तु निर्ममेति विमुच्यते॥ —महाभारत ४/७२

ससार मे जो कुछ दिखाई देता है, वह या तो जड होता है अथवा चेतन, इन दोनो मे विश्व के समस्त पदार्थ आ जाते है। इन्ही दोनो को लेकर बाह्य या आभ्यन्तर परिग्रह होता है। इसीलिए शास्त्रकार ने 'चित्तमतमचित्त' ये दो सूत्ररूप मे यहाँ दिये है।[१२]

'किसामवि' का तात्पर्य—वृत्तिकार ने इस पद के दो रूप देकर तीन अर्थ सूचित किए है—**'किसामवि'** (कृशमपि) थोडा-सा भी तुच्छ तृण, तृष आदि तुच्छ पदार्थ भी तथा **'कसमवि'** (कममपि) जीव का उस वस्तु को ममत्वबुद्धि से या परिग्रहबुद्धि से प्राप्त करने का परिणाम।[१३]

परिग्रह रखना जैसे कर्मबन्ध का कारण है, वैसे बन्धन के भय से अपने पास न रखकर दूसरे के पास रखाना भी कर्मबन्ध का कारण है। इसी प्रकार जो दूसरो को परिग्रह ग्रहण, रक्षण एव सचित करने की प्रेरणा अनुमोदन या प्रोत्साहन देता है, इन्हे भी शास्त्रकार ने परिग्रह और कर्मबन्ध का कारण मानते हुए कहा है—**'परिगिज्झ···अन्न वा अणुजाणाइ'**।[१४]

परिग्रह कर्मबन्ध का मूल होने से दु.खरूप—परिग्रह दु खरूप इसलिए है कि अप्राप्त परिग्रह को प्राप्त करने की इच्छा होती है, नष्ट होने पर शोक होता है, प्राप्त परिग्रह की रक्षा मे कष्ट होता है और परिग्रह के उपभोग से अतृप्ति रहती है। परिग्रह से वैर, द्वेष, ईर्ष्या, छल-कपट, चित्तविक्षेप, मद, अहकार अधीरता, आर्त्त-रौद्रध्यान, विविध पापकर्म बढ जाते है, इसलिए परिग्रह अपने आप मे भी दु खकारक है। फिर परिग्रह कर्मबन्ध का कारण होने से उसके फलस्वरूप असातावेदनीयकर्म के उदय से नाना दु खरूप कटुफल प्राप्त होते है इसीलिए यहाँ कहा गया है—**'एव दुक्खा ण मुच्चइ'**—वृत्तिकार ने इसका तात्पर्यार्थ बताया है—"परिग्रह अष्ट प्रकार के कर्मबन्ध तथा तत्फलस्वरूप असातोदयरूप दु ख प्राप्त कराता है, इसलिए दु खरूप है, अत परिग्रही इस दु ख से मुक्त नही होता।"

हिसा : कर्मबन्धन का प्रबल कारण—तीसरी गाथा मे भी दूसरी गाथा की तरह कर्मबन्ध के मिथ्यात्व, अविरति आदि ५ मुख्य कारणो मे से अविरतिरूप कारण के अन्तर्गत हिसा (प्राणातिपात) को भी कर्मबन्धन का प्रबल कारण बताया गया है।

वृत्तिकार प्रकारान्तर से प्राणातिपात (हिसा) को बन्धनरूप बताते है। उनका आशय यह है कि परिग्रही व्यक्ति गृहीत परिग्रह से असन्तुष्ट होकर फिर परिग्रह के उपार्जन मे तत्पर होता है, उस समय उपार्जित परिग्रह मे विरोध करने, अधिकार जमाने या उसे ग्रहण करने वाले के प्रति हिसक प्रतिकार वैर-विरोध, निन्दा, द्वेष, मारपीट, उपद्रव या वध करता है, इस प्रकार अपने धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदाद, मकान, दूकान, परिवार, जाति, सम्प्रदाय, मत, पथ, राष्ट्र, प्रान्त, नगर-ग्राम आदि पर ममतावश इन-परिग्रहो की रक्षा के लिए मन, वचन, काया से दूसरे के प्राणो का अतिपात (घात) करता है, इसलिए परिग्रहरक्षार्थ प्राणातिपात (हिसा) भी कर्मबन्ध का कारण बताने के लिए शास्त्रकार ने यह तीसरी गाथा दी है।[१५]

---

१२ सूत्रकृताग शीलाक टीका पत्राक १२।

१३ वही, पत्राक १३, "कसन कस, परिग्रहबुद्धया जीवस्य गमनपरिणाम ।"

१४ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १३

१५ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १३

प्राणातिपात क्या और कैसे-कैसे ?—हिंसा का जैनशास्त्र प्रसिद्ध पर्यायवाची नाम 'प्राणातिपात' है। हिंसा का अर्थ सहसा साधारण एव जैनेतर जनता किसी स्थूल प्राणी को जान से मार देना, प्राय. इतना ही समझती है। इसलिए विशेष अर्थ का द्योतक प्राणातिपात शब्द रखा है। प्राण भी केवल श्वासोच्छ्वास नही, किन्तु इसके अतिरिक्त ९ प्राण और मिलाकर १० बताए है। इसलिए प्राणातिपात का लक्षण दिया गया है—'पाँच इन्द्रियो के बल मन, वचन, कायबल, उच्छ्वास-निश्वासबल एव आयुष्यबल—ये १० बल प्राण है। इनका वियोग करना, इनमे से किसी एक प्राण को नष्ट करना भी हानि पहुँचाना या विरोध कर देना प्राणातिपात (हिंसा) है। इसलिए इस गाथा मे कहा गया है—**'सयं तिवायए पाणे'**।[१६]

परिग्रहासक्त व्यक्ति दूसरे के प्राणो का घात स्वय ही नही करता, दूसरो के द्वारा भी घात करवाता है। स्वय के द्वारा हिंसा सफल न होने पर दूसरो को स्वार्थभाव-मोह-ममत्व से प्रेरित-प्रोत्साहित करके हिंसा करवाता है, हिंसा मे सहयोग देने के लिए उकसाता है। अथवा हिंसा के लिए उत्तेजित करता है, हिंसोत्तेजक विचार फैलाता है, लोगो को हिंसा के लिए अभ्यस्त करता है। इससे भी आगे बढकर कोई व्यक्ति हिंसा करने वालो का अनुमोदन-समर्थन करता है, हिंसाकर्त्ताओ को धन्यवाद देता है, हिंसा के लिए अनुमति, उपदेश या प्रेरणा देता है, अथवा हिंसा के मार्ग पर जाने के लिए बाध्य कर देता है, इस प्रकार कृत, कारित और अनुमोदित तीनो ही प्रकार की हिंसा (प्राणातिपात) है और वह पापकर्मबन्ध का कारण है। इसलिए यहाँ बताया गया है—**"अदुवा अण्णेहि घायए हणत वाऽणुजाणाइ।"**

इस पाठ से शास्त्रकार ने उन मतवादियो के विचारो का खण्डन भी ध्वनित कर दिया है जो केवल काया से होने वाली हिंसा को ही हिंसा मानते है, अथवा स्वय के द्वारा की जाने वाली हिंसा को ही हिंसा समझते है, दूसरो से कराई हुई हिंसा को, या दूसरो के द्वारा कृत हिंसा की अनुमोदना को हिंसा नही समझते। मनुस्मृति मे भी हिंसा के समर्थको आदि की हिंसक की कोटि मे परिगणित किया गया है।[१७]

त्रिविध हिंसा: कर्मबन्ध का कारण क्यों ?—पूर्वोक्त त्रिविध हिंसा कर्मबन्ध का कारण क्यो बनती है ? इसे बताने के लिए शास्त्रकार कहते हैं—**"वेरं वड्ढेति अप्पणो"**। आशय यह है कि हिंसा करने, कराने तथा अनुमोदन करने वाला व्यक्ति हिंस्य प्राणियो के प्रति अपना वैर बढा लेता है। जिस प्राणी का प्राणातिपात किया कराया जाता है, उसके मन मे उक्त हिंसक के प्रति द्वेष, रोष, घृणा

---

१६. सूत्रकृताग शीलाक वृत्ति पत्राक-१३—

"पचेन्द्रियाणि त्रिविध बल च, उच्छ्वास-निश्वासमथान्यदायु।
प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्तास्तेषा वियोजीकरण तु हिंसा॥"

१७ सूत्रकृतांग शीलाकवृत्ति पत्राक १३—

"अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातका॥" —मनुस्मृति, चाणक्यनीति

—किसी जीव की हिंसा का अनुमोदन करने वाला, दूसरे के कहने से किसी का वध करने वाला, स्वय उस जीव की हत्या करने वाला, जीव हिंसा से निष्पन्न मास आदि को खरीदने-बेचने वाला, मासादि पदार्थों को पकाने वाला, परोसने वाला या उपहार देने वाला, और हिंसा निष्पन्न उक्त मासादि पदार्थ को स्वय खाने-सेवन करने वाला, ये सब हिंसक की कोटि मे हैं।

तथा प्रतिशोध की क्रूर भावना जगती है, फलत उसके मन मे वैरभाव बढता है। इसी प्रकार हिंसक के मन मे एक ओर अपने शरीर, परिवार, धन या अपने माने हुए सजीव-निर्जीव पदार्थ के प्रति राग, मोह, ममत्व आदि जागते है, तथा दूसरी ओर हिंस्य प्राणी के प्रति जागते है—द्वेष, घृणा, क्रूरता, रोष आदि। ऐसी स्थिति मे ये राग और द्वेष ही कर्मबन्ध के कारण हैं।

उत्तराध्ययन सूत्र मे बताया है—"राग और द्वेष ये दोनो कर्म के बीज है" कर्मबन्ध के मूल कारण है। जब हिंसा की, कराई या अनुमोदित की जाती है, तब राग, द्वेष की उत्पत्ति अवश्य होती है। आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है—रागद्वेषादि का मन मे प्रादुर्भाव न होना ही अहिंसा है, इसके विपरीत रागद्वेषादि का मन-वचन-काया से प्रादुर्भाव होना ही हिंसा है। यही जिनागम का सार है। एक बार हिंस्य प्राणियो के साथ वैर बध जाने के बाद जन्म-जन्मान्तर तक वह वैर-परम्परा चलती रहती है। वैर-परम्परा की वृद्धि के साथ कर्मबन्धन मे भी वृद्धि होती जाती है। क्योकि पूर्वबद्ध अशुभकर्मो का क्षय नही हो पाता, और नये अशुभकर्म बधते जाते है।[१८]

"वेरं वड्ढेति अप्पणो" का दूसरा अर्थ—इस पंक्ति का एक अर्थ यह भी ध्वनित होना है कि दूसरे प्राणियो का प्राणघात करने, कराने और उसका अनुमोदन करने वाला व्यक्ति दूसरे प्राणियो की हिंसा तो कर या करा सके अथवा नही, राग-द्वेष या कषायवश वह अपनी भावहिंसा तो कर ही लेता है जिसके फलस्वरूप अपनी आत्मा को कर्मबन्धन के चक्र मे डाल देना है। ऐसी स्थिति मे अपनी आत्मा ही अपना शत्रु बनकर वैर परम्परा को बढा लेता है।

असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य आदि भी बन्धन के कारण—यहाँ प्राणातिपात शब्द उपलक्षण रूप है,[१९] इसलिए मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन (अब्रह्मचर्य) आदि भी अविरति के अन्तर्गत होने से कर्म-बन्ध के कारण समझ लेना चाहिए, भले ही इस सम्बन्ध मे यहाँ साक्षात् रूप से न कहा गया हो, क्योकि मृषावाद आदि का सेवन करते समय भी रागद्वेषादिवश आत्मा के अशुभ परिणामो की हिंसा अथवा आत्मा के भावप्राणो[२०] की हिंसा अवश्य होती है।

पुरुषार्थ सिद्धयुपाय मे असत्य आदि सभी पापास्रवो को हिंसा मे समाविष्ट करते हुए कहा गया है—आत्मा के परिणामो की हिंसा के हेतु होने से मृषावाद (असत्य) आदि सभी पापास्रव एक तरह से हिंसा ही है। मृषावाद आदि का कथन तो केवल शिष्यो को स्पष्ट बोध करने के लिए किया गया है।[२१]

---

१८ (क) सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या, पृष्ठ-८०, ४३।
(ख) उत्तराध्ययन अ ३२/७ —'रागो य दोसो विय कम्मबीय'
(ग) अप्रादुर्भाव खलु रागादीना भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य सक्षेप ॥—पुरुषार्थ सि० ४४ श्लो०

१९ जो दूसरे का भी बोध कराता है, उसे उपलक्षण कहते हैं। —सम्पादक

२०. (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १३
(ख) ज्ञान, दर्शन, वीर्य और सुख, ये चार भावप्राण हैं।

२१ आत्मपरिणाम हिंसनहेतुत्वात् सर्वमेव हिंसेति। अनृतवचनादि केवलमुदाहृत शिष्यबोधाय।—पुरुषार्थ ४२ श्लो

जन्म, संवास, अतिसंसर्ग आदि का प्रभाव : कर्मबन्धकारण—चौथी गाथा मे जन्म, सवास एव अतिससर्ग के कारण होने वाली मूर्च्छा, ममता या आसक्ति को कर्मबन्धन का कारण बताया गया है। मनुष्य जिस कुल (उपलक्षण से) राष्ट्र, प्रान्त, नगर, देश, जाति-कौम, वश आदि मे उत्पन्न होता है जिन मित्रो, हमजोलियो, पत्नी-पुत्रो, माता-पिता, भाई-बहन, चाचा, मामा आदि के साथ रहता है, उसके प्रति वह अज्ञानवश मोह-ममता करता है। इसी प्रकार वह जिन-जिन के सम्पर्क मे अधिक आता है, उन्हे वह मूढ 'ये मेरे' हैं समझ कर उनमे आसक्त होता है। जहाँ जिस सजीव या निर्जीव पदार्थ पर राग (मोह आदि) होता है, वहाँ उससे भिन्न विरोधी, अमनोज्ञ या अपने न माने हुए पदार्थ पर उसे अरुचि, द्वेष, घृणा या वैरविरोध होना स्वाभाविक है। अत ममता, मूर्च्छा या आसक्ति राग-द्वेष की जननी होने से ये कर्मबन्ध के कारण हैं। उन कर्मों के फलस्वरूप वह अज्ञ नरक तिर्यंचादिरूप चतुर्गतिक ससार मे परिभ्रमण करता हुआ दु खित होता रहता है। वह जन्म-परम्परा के साथ ममत्व-परम्परा को भी बढाता जाता है[२२] इस कारण कर्मबन्धन की शृ खला से मुक्त नही हो पाता।

ममाती लुप्पती बाले—इस वाक्य मे शास्त्रकार ने एक महान् सिद्धान्त का रहस्योद्घाटन कर दिया है कि ममता (मूर्च्छा, आसक्ति राग आदि) से ही मनुष्य कर्मबन्धन का भागी बन कर ससार परिभ्रमण करके पीडित होता रहता है। इसमे यह ध्वनित होता है कि मनुष्य चाहे जिस कुलादि मे पैदा हो, चाहे जिन सजीव-निर्जीव प्राणि या पदार्थों के साथ रहे, या उनके ससर्ग मे आए किन्तु उन पर मेरेपन की छाप न लगाए, उन पर मोह-ममत्व न रखे तो कर्मबन्धन से पृथक् रह सकता है अन्यथा वह कर्मबन्धन मे फसता रहता है। अपने आपको खो देता है।

'बाल' का अर्थ बालक नही, अपितु सद्-असद्-विवेक से रहित अज्ञान है।

अन्नमन्नेहिं मुच्छिए—इसके स्थान पर पाठान्तर मिलता है—**अण्णे अण्णेहिं मुच्छिए**। इस कारण इस वाक्य के दो अर्थ फलित होते हैं—प्रथम प्रकार के वाक्य का अर्थ है—**परस्पर मूर्च्छित होते है**। जबकि दूसरे वाक्य का अर्थ होता है—**अन्य-अन्य पदार्थों में मूर्च्छित होता है**। परस्पर मूर्च्छित होने का तात्पर्य है—वह मूढ माता-पिता, पत्नी, पुत्र आदि मे मूर्च्छित होता है, तो वे भी अज्ञानवश उस पर मूर्च्छित होते है।

अन्य-अन्य पदार्थों मे मूर्च्छित होने का आशय वृत्तिकार ने व्यक्त किया है मनुष्य बाल्यावस्था मे क्रमश माता-पिता, भाई-बहन, मित्र-साथी आदि पर मूर्च्छा करता है, युवावस्था आने पर पत्नी सतान, पौत्रादि पर उसकी आसक्ति हो जाती है। साथ ही अपने जाने-माने कुल, परिवार आदि के प्रति भी उसकी ममता बढती जाती है। वृद्धावस्था मे मूढ व्यक्ति की सर्वाधिक ममता अपने शरीर, धन, मकान आदि के प्रति हो जाती है। इस प्रकार की मूढ व्यक्ति की ममता-मूर्च्छा बदलती जाती है। विभिन्न अवस्थाओ मे विभिन्न वस्तुओ पर ममता टिक जाती है। हमे पिछला पाठ अधिक सगत लगता है। वृत्तिकार ने उसी पाठ को मान कर व्याख्या की है।[२३]

---

२२ (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्राक १३
(ख) आचाराग १।२

२३ (क) सूयगडगसुत्तं पढमो सुयक्खधो अ०१।सू०४ (जम्बूविजयजी सम्पादित) पृ० २
(ख) सूत्रकृतांग मूल शीलांकवृत्ति पत्राक १३

बन्धन तोड़ने का उपाय—इस अध्ययन के प्रथम उद्देशक की प्रथम गाथा मे यह प्रश्न उपस्थित किया गया था कि किसे जान कर व्यक्ति बन्धन तोड पाता है ? इस प्रश्न के उत्तर मे पाँचवी गाथा मे उसका उपाय दो प्रकार से बताया गया है (१) समस्त सजीव-निर्जीव पदार्थ प्राणी की रक्षा करने मे असमर्थ, (२) तथा जीवन को स्वल्प व क्षणभगुर मान कर कर्मों के बन्धन को तोड सकता है अथवा कर्मों से छूट सकता है। इसी बात को शास्त्रकार कहते है—**"सव्वमेय न ताणइ जीविय चेव संखाए, कम्मुणा उ तिउट्टइ।"** इसका आशय यह है कि बन्धन यहाँ कोई जजीर या रस्से का नही है, जिसे तोडने के लिए शारीरिक बल लगाना पडे। यहाँ **'परिणामे बन्धः'** इस सिद्धान्तसूत्र के अनुसार मनुष्य के शुभाशुभ परिणामो—पूर्वोक्त गाथाओ मे वर्णित परिग्रह, हिसा एव मोह-ममता-मूर्च्छा के भावो से जो कठोर अशुभ कर्मबन्धन होते है, वे मन मे होते है, और उन बन्धनो को मन मे तोडा भी जाता है। कहा भी है—**'मन एव मनुष्याणा कारण बन्धमोक्षयो** मनुष्यो के बन्ध और मोक्ष का कारण उनका मन ही है।'

मन से ममता-मूर्च्छा आदि के निकलते ही कर्मबन्धन स्वत छूट जायेगे, आत्मा कर्मबन्धन से छूट जायेगा। मन ने कर्मबन्धन किये है, मन ही प्रशस्त चिन्तनबल से इन्हे तोड सकेगा।[२४]

वित्त और सहोदर : समस्त ममत्व स्थानो के प्रतीक—'वित्त' शब्द मे यहाँ केवल सोना चाँदी सिक्के आदि धन ही नही, अपितु समस्त अचित्त पदार्थों को ग्रहण कर लेना चाहिए तथा **'सोयरिया'** शब्द से सहोदर भाई-बहन से नही, जितने भी सजीव माता-पिता सगे सम्बन्धी-जन है उन सबको ग्रहण करना चाहिए, क्योकि ये ही अचित्त और सचित्त पदार्थ ही ममत्वस्थान है।[२५]

जीवन स्वल्प और नाशवान—जिस शरीर पर मनुष्य की इतनी आसक्ति है जिसे भोजनादि के द्वारा पुष्ट करता है, वस्त्र, मकान आदि भोज्य साधन जिसकी रक्षा के लिए जुटाता है, जिस जीवन के लिए हिसा, असत्य, परिग्रह आदि अनेक पाप करता है क्या वह आयुष्य के टूटने पर उस शरीर या जीवन को बचा सकता है ? और इस नाशवान जीवन का कोई भरोसा भी तो नही है कि कब नष्ट हो जाए। इस तथ्य को हृदयगम करके इस जीवन के प्रति ममता को मन से निकाल फेंके। जीवन के लिए अशुभ कर्मबन्ध करने वाले तत्त्वो को हृदय मे निकाल दे।[२६]

ये सब भी त्राण रूप नहीं—धन, परिजन आदि सब पूर्वोक्त सचित्त-अचित्त द्रव्य प्राणान्तक शारीरिक मानसिक पीडा भोगते हुए परिग्रही, हिंसक या ममत्वी जीव की रक्षा करने मे समर्थ नही है। मनुष्य इसलिए इन पर ममत्व करता है कि समय आने पर जन्म, जरा, व्याधि, मृत्यु इष्ट-वियोग आदि के भयकर दु खो या जन्म-मरण परम्परा के घोरतम कष्टो मे मेरी रक्षा करेगे और मुझे शरण

---

२४ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक-१४

२५ सूत्रकृतांग शीलाकवृत्ति पत्राक-१४

२६ सूत्रकृताग अमरसुखबोधनी व्याख्या, पृ०-४९

उत्तराध्ययन सूत्र ८/१ मे देखिये—

> अधुवे असासयमि ससारमि दुक्खपउराए।
> कि नाम होज्ज त कम्मय जेणाह दुग्गइ न गच्छेज्जा।

देंगे, परन्तु समय आने पर ये कोई भी उसे बचा नही सकेंगे और न ही शरण दे सकेंगे। वह निरुपाय होकर देखता रह जायगा।[२५]

निष्कर्ष यह है कि विश्व का कोई भी सजीव-निर्जीव पदार्थ किसी अन्य की प्राणरक्षा में समर्थ नही है, और यह जीवन भी स्वल्प और नाशवान है, यह ज्ञपरिज्ञा से सम्यक् जानकर प्रत्याख्यानपरिज्ञा से सचित्त-अचित्त परिग्रह प्राणिवधादि पाप तथा स्वजनादि के प्रति मोह-ममत्व आदि बन्धन-स्थानो का त्याग करने से जीव कर्म से पृथक् हो जाता। अथवा **'कम्मुणा उ तिउट्टइ'** इस वाक्य का यह भी अर्थ हो सकता है—उक्त दोनो तथ्यो को भली-भाँति जानकर जीव कर्म—सयमानुष्ठानरूप क्रिया करने से बन्धन से छूट जाता है।[२६]

एए गंथे विउक्कम्म—पाँचवी गाथा तक स्वसमय (सिद्धान्त) का निरूपण किया गया। छठी गाथा से पर-समय का निरूपण किया गया है। इसका आशय यह है कि कई श्रमण एव माहण (ब्राह्मण) इन अर्हत्कथित ग्रन्थो-शास्त्रो अथवा सिद्धान्तो को अस्वीकार करके परमार्थ को नही जानते हुए मिथ्यात्व के उदय से मिथ्याग्रहवश विविध प्रकार से अपने-अपने ग्रन्थो—सिद्धान्तो मे प्रबल रूप से बद्ध हैं।[२७]

चूर्णिकार के अनुसार यहाँ शास्त्रकार का आशय यह प्रतीत होता है कि वे तथाकथित श्रमण-माहण परमार्थ को या विरति-अविरति दोष को नही जानकर विविध रूप से अपने-अपने ग्रन्थो या सिद्धान्तो से चिपके हुए हैं। इसी मिथ्यात्व के कारण वे न तो आत्मा को मानते है और न कर्मबन्ध और मोक्ष (मुक्ति) को। जब आत्मा का अस्तित्व ही नही मानते तो उसके साथ बधने वाले कर्मों को, और कर्मबन्धन से मुक्ति को मानने का प्रश्न ही नही उठता। कई माहण (दार्शनिक) आत्मा को मानते भी है तो वे सिर्फ पचभौतिक या इस शरीर के साथ ही विनष्ट होने वाली मानते हैं, जिसमे न तो

---

२५ (क) वित्तेण ताण न लभे पमत्ते—उत्तरा० अ० ४ गा० ५

(ख) सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या, पृ० ४९-५०

(ग) धनानि भूमौ पशवश्चव गोष्ठे, नारी गृहद्वारि जना श्मशाने।
देहश्चितायां परलोकमार्गे, धर्मानुगो गच्छति जीव एक ॥"

(घ) जेहिं वा सद्धि सवसति ते व ण एगया णियगा पुव्वि पोसेति, सो वा ते णियगे पच्छा पोसेज्जा। णाल ते तव ताणाए वा सरणाए वा, तुमपि तेसि णाल ताणाए वा सरणाए वा।" —आचाराग सूत्र ६६

२६ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १४

(ख) **संखाए त्ति** (सख्याय) ज्ञात्वा जाणणा सखाए, 'अणिच्च जीवित' ति तेण कम्माइ-कम्महेतू य त्रोडेज्जा।"
—सखाए का अर्थ है, जानकर, क्या जानकर ? जीवन अनित्य है, यह जानकर इस तरीके से कर्मों को—कर्म के कारणो को तोडे। —सूत्र० चूर्णि०
अथवा चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर भी है—**'सधाति जीवितं चेव'** जिसका अर्थ किया है —
'समस्त धाति -सधाति मरणाय धावति'—समस्त प्राणी जीवन मृत्यु (विनाश) की ओर दौड रहा है। —सूत्र० चूर्णि मू० पा० टिप्पण पृ० २

२७ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्रांक १६

(ख) सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या, पृ० ५२-५३

कर्मबन्ध का झगडा है, न कर्मबन्ध से मुक्ति का कोई प्रश्न है। साख्यादि दार्शनिक आत्मा को पृथक् तत्त्व मानते हैं तो भी वे उसे निष्क्रिय और अकर्ता मानते हैं, निर्गुण मानते हुए भी भोक्ता मानते है। वे मुक्ति मानते हुए भी केवल २५ तत्त्वो के ज्ञानमात्र से ही मुक्ति मानते है चारित्र की आवश्यकता नही समझते। मीमासक आदि दार्शनिक कर्म (क्रिया) को मानते हैं, तो भी वे सिर्फ वेदविहित एव प्राय स्वर्गादिकामनामूलक कर्मो को मानते है, और मोक्ष तक तो उनकी दौड ही नही है। वे स्वर्ग को ही अन्तिम लक्ष्य मानते हैं। नैयायिक-वैशेषिक आत्मा को तो मानते है, परन्तु नैयायिक प्रमाण, प्रमेय आदि १६ तत्त्वो के ज्ञान से ही मुक्ति मान लेते है। त्याग, नियम, व्रत आदि चारित्र-पालन की वे आवश्यकता नही बताते और न उन्होने कर्मबन्ध का कोई तर्कसगत सिद्धान्त माना है। कर्मबन्धन से मुक्त करने की सारी सत्ता ईश्वर के हाथो मे सौप दी है। यही हाल प्राय वैशेषिको का है—वे बुद्धि सुख-दु ख, इच्छा आदि आत्मा के नौ गुणो के सर्वथा उच्छेद हो जाने को मुक्ति मानते हैं। इनकी मुक्ति भी ईश्वर के हाथ मे है। ईश्वर ही जीव के अदृष्ट के अनुसार कर्मफल भोग कराता है—बन्धन मे डालता है या मुक्त करता है। कर्मबन्धन से मुक्त होने के लिए न तो अहिंसा चारित्र-धर्म का पालन करने की अनिवार्यता बताई है और न ही कर्मबन्ध को काटने की कोई प्रक्रिया बताई है। सक्षेप मे यही इन श्रमण-माहणो का अपसिद्धान्त है। यही कारण है कि ये सब मतवादी आत्मा एव उसके साथ बँधने वाले कर्म और उनसे मुक्ति के सम्बन्ध मे अपनी असत् कल्पनाओ से ग्रस्त होकर कामभोगो मे आसक्त है। इसीलिए शास्त्रकार कहते है- **"अयाणता विउस्सित्ता सत्ता कामेहिं माणवा।"** कर्मो का बन्धन जब हिंसादि के कारण नही माना जाता, तब उनमे छूटने की चिन्ता क्यो होगी? ऐसी स्थिति मे उनका स्वच्छन्द कामभोगो मे प्रवृत्त होना स्वाभाविक है।[२८]

---

२८ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्र १४ के आधार पर।

(ख) सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या के आधार पर, पृ ५३-५४।

(ग) **बौद्ध**—नात्माऽस्ति, स्कन्धमात्र तु क्लेशकर्माभिसस्कृतम्।
अन्तरा भवसन्तत्या, कुक्षिमेति प्रदीपवत्॥ —**अभिधम्मत्थ०** ३

साख्य— पचविशतितत्त्वज्ञो यत्रकुत्राश्रमे रत—
जटी मुण्डी शिखी वाऽपि मुच्यते नात्र सशय॥ —**साख्यकारिका माठरवृत्ति**
तस्मान्न बध्यते नैव मुच्यते नाऽपि ससरति कश्चित्।
ससरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृति॥ —**सांख्यकारिका ६२**

वैशेषिक—"धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवायना पदार्थाना साधर्म्य वैधर्म्याभ्या तत्त्वज्ञानान्नि श्रेयसाधिगम॥" —**वैशेषिकसूत्र १/४/२**

नैयायिक—"प्रमाण-प्रमेय-सशय-प्रयोजन दृष्टान्त-सिद्धान्तावयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-छल-जातिनिग्रहस्थानाना तत्त्वज्ञानान्नि श्रेयसाधिगम।" —**न्यायसूत्र १/१/१/३**

मीमांसक—'चोदनालक्षणो धर्म, चोदना इति क्रियाया प्रवर्तक वचनमाह।' —**मीमासासूत्र शबर भा० १/१/२**
अतीन्द्रायाणामर्थाना, साक्षाद् द्रष्टा न विद्यते।
(वेद) वचनेन हि नित्येन, य पश्यति स पश्यति॥ —**मी० श्लोक० कुमारिलभट्ट**

चार्वाक—एतावानेव पुरुषो, यावानिन्द्रियगोचर।
भद्रे! वृकपद पश्य, यद् वदन्त्यबहुश्रुता॥ —**बृहस्पति आचार्य**

'एगे समण-माहणा' की व्याख्या—प्रस्तुत गाथा मे समण-माहणा का शब्दश अर्थ होता है—श्रमण और माहन। परन्तु कौन श्रमण और कौन माहन ? इस प्रसग मे वृत्तिकार श्रमण का अर्थ शाक्य भिक्षु करते हैं और माहन का अर्थ ब्राह्मण करते हुए उसका स्पष्टीकरण करते हैं—बार्हस्पत्य (चार्वाक=लोकायतिक) आदि। तथा आगे चलकर—ब्राह्मणपद के प्रवाह मे साख्य, वैशेषिक, नैयायिक एव मीमासक को भी ले लेते है, क्योकि ये सभी मिथ्यात्व और अज्ञान मे ग्रस्त है, अपनी-अपनी मिथ्या-मान्यताओ से आग्रहपूर्वक चिपके हुए हैं। साथ ही स्वच्छन्दरूप से कामभोगो मे आसक्त होने के कारण ये अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभयोग मे भी प्रवृत्त होते हो, यह स्वाभाविक है।[२९]

पर-समय : मिथ्यात्वग्रस्त क्यो और कैसे ?—जैन सिद्धान्तानुसार मिथ्यात्व का लक्षण है—जो वस्तु जैसी और वस्तुत जिस स्वरूप मे है, उसे वैसी और उस रूप मे न मानकर विपरीत रूप मे मानना।

मिथ्यादर्शन मुख्यनया दो प्रकार का होता है—

"(१) यथार्थ तत्त्वो मे श्रद्धा न होना,
(२) अयथार्थ वस्तु पर श्रद्धा करना।"

स्थानागसूत्र मे जीव, धर्म, मार्ग, साधु और मुक्त को लेकर मिथ्यात्व के १० भेद बताये हैं। इसी प्रकार अक्रिया, अविनय, अज्ञान यो तीन प्रकार, आभिग्रहिक, अनाभिग्रहिक आदि ५ एव २५ प्रकार के मिथ्यात्व शास्त्रो मे बताये हैं।[३०]

सन्मतितर्क मे मिथ्यात्व के ६ स्थान बताये हैं—(१) आत्मा नही है, (२) आत्मा नित्य नही है, (३) आत्मा कर्ता नही है, (४) आत्मा किसी भी कर्म का भोक्ता नही है, (५) मोक्ष नही है और (६) मोक्ष का उपाय नही है।[३१]

मिथ्यात्व के पूर्वोक्त लक्षण, प्रकार, कारणो और स्थानो की कसौटी पर जब हम उन-उन पर-समयो (पूर्वोक्त बौद्ध, लोकायतिक, साख्य आदि श्रमण-ब्राह्मण सिद्धान्तो) को कसते हैं तो स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि वे किस-किस प्रकार के मिथ्यात्व से ग्रस्त हैं!

कठिन शब्दों की व्याख्या—**गंथे**—ग्रन्थ का अर्थ यहाँ कोई शास्त्र या पुस्तक न होकर लक्षणा-

---

२९ (क) श्रमणा शाक्यादयो, बार्हस्पत्यमतानुसारिणश्च ब्राह्मणा। "साख्या एव व्यवस्थिता वैशेषिका पुनराहु" तथा नैयायिका—तथा मीमासका—एव चार्वाकास्त्वेने लोकायितका।"

—सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १४

३० (क) "दसविहे मिच्छत्ते पण्णत्ते, त जहा—अधम्मेधम्मसण्णा धम्मे अधम्मसण्णा, मग्गे उम्मग्गसण्णा, अमग्गे मग्ग सण्णा, अजीवेसु जीव-सण्णा, जीवेसु अजीवसण्णा, असाहुसु साहुसण्णा, साहुसु असाहुसण्णा, अमुत्तेसु मुत्तसण्णा, मुत्तेसु अमुत्तसण्णा। —स्थानाग स्था०-१०, सूत्र ७३४

(ख) तिविहे मिच्छत्ते पण्णत्ते त जहा—अकिरिए, अविणए, अण्णाणे। —स्थानाग स्था० ३

(ग) धर्मसग्रह अधिकार-२ श्लो० २२, कर्मग्रन्थ भाग ४ गा० ५२

(ड) सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या, पृ० ५३

३१ णत्थि, ण णिच्चो, ण कुणइ कय ण वेएइ, णत्थि णिव्वाण।
णत्थि य मोक्खोवाओ, छ्य मिच्छत्तस्स ठाणाइ॥ —सन्मतितर्क

वृत्ति से सिद्धान्त या मत अर्थ ही अधिक सगत होता है । **विउक्कम्म**— उल्लघन कर, उलट-पुलट रूप मे स्वीकार कर, या जिनोक्त सिद्धान्तो के अस्वीकारकर अथवा छोडकर । **अयाणंता**—वृत्तिकार के अनुसार इसका अर्थ है—परमार्थ को न जानते हुए, चूर्णिकार के अनुसार अर्थ है—विरति-अविरति दोषो को न जानते हुए । **विउस्सिता**—वृत्तिकार ने इसका विवेचन यो किया है—विविध-अनेक प्रकार से उत्=प्रबलता से जो मित=बद्ध है—वे व्युत्सृत है—स्व-स्वसमय (सिद्धान्त) से अभिनिविष्ट (चिपके हुए) है ।

कामेहिंसत्ता—की व्याख्या चूर्णिकार के मतानुसार—अप्रशस्त इच्छा वाले गृहस्थ (मानव) शब्दादि कामभोगो मे अथवा इच्छारूप एव मदनरूप कामो मे आसक्त है, रक्त —गृद्ध है, मूर्च्छित है । प्राय यही व्याख्या वृत्तिकार ने की है ।[32]

पंच महाभूतवाद—

७. संति पच महब्भूया, इहमेगेसिमाहिया ।
पुढवी आऊ तेऊ वा, वाऊ आगासपचमा ।।७।।

८. एते पंच महब्भूया, तेब्भो एगो त्ति आहिया ।
अह तेसिं विणासे णं, विणासो होइ देहिणो ।।८।।

७ इस लोक मे पाँच महाभूत है, (ऐसा) किन्ही ने कहा है । (वे पच महाभूत है) पृथ्वी, जल, तेज, वायु और पाचवाँ आकाश ।

८ ये पाच महाभूत है । इससे एक (आत्मा उत्पन्न होता है, ऐसा उन्होने) कहा । पश्चात् इन (पचमहाभूतो) के विनाश से देही (आत्मा) का विनाश होता है ।

विवेचन—पंचमहाभूतवाद का स्वरूप—इन दो गाथाओ मे पचमहाभूतवाद का स्वरूप बताया गया है । वृत्तिकार इन पचमहाभूतवादियो को चार्वाक कहते हैं । यद्यपि साख्यदर्शन और वैशेषिक-दर्शन भी पचमहाभूतो को मानते है, परन्तु वे इन पचमहाभूतो को ही सभी कुछ नही मानते । साख्यदर्शन पुरुष (आत्मा) प्रकृति, महत्तत्व (बुद्धि), अहकार, पचज्ञानेन्द्रिय, पचकर्मेन्द्रिय, पचतन्मात्र (विषय) आदि, तथा वैशेषिकदर्शन दिशा, काल, आत्मा, मन आदि अन्य पदार्थो को भी मानता है, जबकि चार्वाक (लोकायतिक) पचभूतो के अतिरिक्त आत्मा आदि कोई भी पदार्थ नही मानता, इसलिए इन दोनो गाथाओ मे उक्त मत लोकायतिक का ही मान कर व्याख्या की गई ।

लोकायतिक मत इस प्रकार है—"पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश, ये पाच महाभूत सर्व-लोकव्यापी एव सर्वजनप्रत्यक्ष होने से महान् है, इनके अस्तित्व से न तो कोई इन्कार कर सकता है, और न

३२ विउक्कम्म—एतान् अनन्तरोक्तान् ग्रन्थान् व्युत्क्रम्य परित्यज्य । अयाणता—परमार्थमजानाना (शी० वृत्ति पत्र १४) 'अयाण' ता विरति—अविरतिदोसे य ।" (चू० मू० पा० टि० पृ० २) । विउम्सित्ता विविधमनेक-प्रकारम् उत् प्राबल्येन सिता बद्धा । (शी० वृत्ति प० १४), बीभत्स वा उत्सृता विउस्मिता (चू० मू० पा० २) एव सत्ता कामेहि माणवा—कामा शब्दादय , गृहस्था अप्पसत्थिच्छा । कामेसु—इच्छाकामेसु मयणकामेसु वा सत्ता । (चू० मू० पा० टि० २)

ही इनका खण्डन। दूसरे मतवादियो द्वारा कल्पित इन पचभूतो से भिन्न, परलोक मे जाने वाला, सुख-दुःख भोगने वाला आत्मा नाम का कोई दूसरा पदार्थ नही है, क्योंकि उसका (आत्मा का) बोधक कोई प्रमाण नही है। प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है।

"अनुमान, आगम आदि को हम प्रमाण नही मानते, क्योकि अनुमान आदि मे पदार्थ का इन्द्रियो के साथ साक्षात् सम्बन्ध (सन्निकर्ष) नही होता, इसलिए उनका मिथ्या होना सम्भव है। अत हम मानते है कि पृथ्वी आदि पचमहाभूतो के शरीर रूप मे परिणत होने पर इन्ही भूतो से अभिन्न ज्ञानस्वरूप चैतन्य उत्पन्न होता है। जैसे—गुड-महुआ आदि मद्य की सामग्री के सयोग से मद-शक्ति उत्पन्न हो जाती है, वैसे ही शरीर मे इन पचमहाभूतो के सयोग से चैतन्यशक्ति उत्पन्न होती है। यह चैतन्य शक्ति पचमहाभूतो से भिन्न नही है, क्योकि वह पचमहाभूतो का ही कार्य है। जिस प्रकार जल मे बुलबुले उत्पन्न होते हैं और इसी मे विलीन हो जाते हैं, इसी प्रकार आत्मा भी इन्ही पचभूतों से उत्पन्न होकर इन्ही मे विलीन हो जाता है।[33]

द्वितीय श्रुतस्कन्ध मे इसका विस्तृत वर्णन है। यद्यपि कई प्राचीन चार्वाक पृथ्वी, जल, तेज और वायु, इन चार महाभूतो को ही मानते हैं, परन्तु अर्वाचीन चार्वाको ने सर्वलोक प्रसिद्ध होने से पाँचवे आकाश को भी महाभूत मान लिया।

दीघनिकाय के ब्रह्मजालसुत्त मे ऐसे ही चातुर्भौतिकवाद का वर्णन है—'वे भी आत्मा को रूपी, चार महाभूतो से निर्मित तथा माता-पिता के सयोग से उत्पन्न मानते हैं। तथा यह कहते हैं कि शरीर के विनष्ट होते ही चेतना भी उच्छिन्न, विनष्ट, और लुप्त हो जाती है।[34]

निराकरण—निर्युक्तिकार ने इस वाद का खण्डन इस प्रकार किया है—"पृथ्वी आदि पचभूतो के सयोग से चैतन्यादि गुण (तथा तज्जनित बोलना, चलना, सुनना आदि क्रियारूप गुण) उत्पन्न नही हो सकते, क्योकि पचमहाभूतो का गुण चैतन्य नही है। अन्य गुण वाले पदार्थों के सयोग से अन्य गुण वाले पदार्थ की उत्पत्ति नही हो सकती। जैसे—बालू मे तेल उत्पन्न करने का स्निग्धता गुण नही है, इस लिए बालू को पीलने से तेल पैदा नही होता, वैसे ही पचभूतो मे चैतन्य उत्पन्न करने का गुण न होने से, उनके सयोग से चैतन्य उत्पन्न नही हो सकता। स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और स्रोतरूप पांच इन्द्रियो

---

३३. (क) सूत्रकृताग शीलांकवृत्ति पत्रांक १५-१६
(ख) देखें द्वितीयश्रुतस्कन्ध सूत्र ६५४-६५८
(ग) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या, पृ ६५-६६
(घ) (१) पृथिव्यादिभूतसहत्या यथा देहादिसम्भव ।
मदशक्ति· सुरागेभ्यो यत् पद् वच्चिदात्मनि । —षड्दर्शन समुच्चय ८४ श्लोक
(२) शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञके च पृथिव्यादिभूतेभ्यश्चैतन्याभिव्यक्ति. पिष्टोदक गुडधातक्यादियो मदशक्तिवत्।'
—प्रमेयकमलमार्त्तण्ड पृ ११५
(३) पृथिव्यापस्तेजोवायूरिति तत्त्वानि, तत्समुदाये शरीरविषयेन्द्रियसज्ञा. तेभ्यश्चैतन्यम्।
—तत्वोपप्लव शा भाष्य

३४ "'अय अत्ता रूपी चातुर्महाभूतिको मातापेत्तिकसम्भवो कायस्स भेदा उच्छिज्जति विनस्सति, न होहि पर मरणा "'इत्येके सतो सत्तस्स उच्छेद विनास विभव पञ्चापेंति। —दीघनिकाय ब्रह्मजाल सुत्त पृ ३०

के जो उपादानकारण है, उनका गुण भी चैतन्य नही होने से भूतसमुदाय का गुण चैतन्य नही हो सकता। इसके अतिरिक्त एक इन्द्रिय के द्वारा जानी हुई बात, दूसरी इन्द्रिय नही जान पाती, तो फिर मैंने सुना भी और देखा भी, देखा, चखा, सू घा, छुआ भी, इस प्रकार का सकलन—जोड रूप ज्ञान किसको होगा ? परन्तु यह सकलन ज्ञान अनुभवसिद्ध है। इससे प्रमाणित होता है कि भौतिक इन्द्रियो के अतिरिक्त अन्य कोई ज्ञाता है जो पाँचो इन्द्रियो द्वारा जानता है। इन्द्रियाँ करण है, वह तत्त्व कर्ता है। वही तत्त्व आत्मा है।

वृत्तिकार एक शका प्रस्तुत करते है—यदि पचभूतो से भिन्न आत्मा नामक कोई पदार्थ नही है, तो फिर मृत शरीर के विद्यमान रहते भी 'वह (शरीरी) मर गया' ऐसा व्यवहार कैसे होगा ?

यद्यपि चार्वाक इस शका का समाधान यो करते है कि शरीर रूप मे परिणत पचभूतो मे चैतन्य शक्ति प्रकट होने के पश्चात् उन पाच भूतो से किसी भी एक या दो या दोनो के विनष्ट हो जाने पर देही का नाश हो जाता है, उसी पर मे 'वह मर गया', ऐसा व्यवहार होता है, परन्तु यह युक्ति निराधार है। मृत शरीर मे भी पाचो भूत विद्यमान रहते है, फिर भी उसमे चैतन्यशक्ति नही रहती, इसलिए यह सिद्ध है कि चैतन्य शक्तिमान् (आत्मा) पचभौतिक शरीर से भिन्न है। और वह नित्य है। इस पर से इस बात का भी खण्डन हो जाता है कि पचभूतो के नष्ट होते ही देही (आत्मा) का भी नाश हो जाता है।[३५]

आत्मा अनुमान से, 'मैं सुखी हूँ, मै दु खी हूँ' इत्यादि प्रत्यक्ष अनुभव से, तथा "अत्थि मे आया उववाइए" इत्यादि आगम प्रमाण से सिद्ध होता है। चार्वाक एकमात्र प्रत्यक्ष को मान कर भी स्वय अनुमान प्रमाण का प्रयोग करता है, यह 'वदतो व्याघात' जैसा है।

मिट्टी की बनाई हुई ताजी पुतली मे पाचो भूतो का सयोग होता है, फिर भी उसमे चैतन्य गुण क्यो नही प्रकट होता ? वह स्वय बोलती या चलती क्यो नही ? इससे पचभूतो मे चैतन्यगुण प्रकट होने का सिद्धान्त मिथ्या सिद्ध होता है। चैतन्य एकमात्र आत्मा का ही गुण है, वह पृथ्वी आदि पचभूतो से भिन्न है, स्पर्शन, रसन आदि गुणो के तथा ज्ञानगुण के प्रत्यक्ष अनुभव से उन गुणो के धारक गुणी का अनुमान किया जाता है।

देह विनष्ट होने के साथ आत्मा का विनाश मानना अनुचित

देह के विनाश के साथ आत्मा का विनाश मानने पर तीन बडी आपत्तियाँ आती है -

(१) केवलज्ञान, मोक्ष आदि के लिए की जाने वाली ज्ञान दर्शन, चारित्र की तथा तप, सयम, व्रत, नियम आदि की साधना निष्फल हो जायगी।

(२) किसी भी व्यक्ति को दान, सेवा, परोपकार, लोक-कल्याण आदि पुण्यजनक शुभकर्मों का फल नही मिलेगा।

३५ (क) पचण्ह सजोए अण्णगुणाण च चेइणागुणो।
पचेंदियठाणाण, ण अण्णमुणिय मुणइ अण्णो ॥ -निर्युक्ति गा०-३३
(ख) सूत्रकृताग वृत्ति पत्राक १५-१६

(३) हिंसा, झूठ, चोरी आदि पापकर्म करने वाले लोग नि शक होकर पापकर्म करेंगे क्योकि उनका आत्मा तो शरीर के साथ यही नष्ट हो जायेगा । परलोक मे उन पापकर्मों का फल भोगने के लिए उनकी आत्मा को नरक, तिर्यच आदि दुर्गतियो मे कही जाना नही पडेगा । इस मिथ्यावाद के फलस्वरूप सर्वत्र अराजकता अनैतिकता और अव्यवस्था फैल जायगी ।

जैनदर्शन मानता है कि आत्मा द्रव्य दृष्टि से नित्य होते हुए भी पर्यायदृष्टि से कथचित् अनित्य है ऐसा मानने पर ही शुभाशुभ कर्मफल व्यवस्था बन सकती है, पापकर्म करने वालो की आत्मा को दूसरी गति एव योनि मे उसका फल अवश्य भोगना पडेगा, पुण्यकर्म करने वालो को भी उसका शुभफल मिलेगा और ज्ञान-दर्शन-चारित्र, तप आदि की उत्कृष्ट साधना करने वालो की आत्मा कर्मों से मुक्त, सिद्ध, बुद्ध हो सकेगी ।

निष्कर्ष यह है कि पचभूतवाद का सिद्धान्त मिथ्यात्वग्रस्त है, अज्ञानमूलक है, अत कर्मबन्ध का कारण है ।

एकात्मवाद—

९. जहा य पुढवीथूभे, एगे नाणा हि दीसइ ।
एवं भो ! कसिणे लोए, विण्णू नाणा हि दीसइ ॥९॥

१०. एवमेगे त्ति जंपंति, मंदा आरंभणिस्सिया ।
एगे किच्चा सयं पाव, तिव्वं दुक्खं नियच्छइ ॥१०॥

९ जैसे एक ही पृथ्वीस्तूप (पृथ्वीपिण्ड) नानारूपो मे दिखाई देता है, हे जीवो ! इसी तरह समस्त लोक मे (व्याप्त) विज्ञ (आत्मा) नानारूपो मे दिखाई देता है, अथवा (एक) आत्मरूप (यह) समस्त लोक नानारूपो मे दिखाई देता है ।[३६]

१०. इस प्रकार कई मन्दमति (अज्ञानी), 'आत्मा एक ही है,' ऐसा कहते है, (परन्तु) आरम्भ मे आसक्त रहने वाले व्यक्ति पापकर्म करके स्वय अकेले ही दु ख करते है (दूसरे नही) ।[३७]

---

३६ 'कसिणे लोए विण्णू नाणा हि दीसइ'—पाठ मे 'कसिणे लोए' को सप्तम्यन्त मानकर व्याप्तपद का अध्याहार करने से ऐसा अर्थ होता है । और 'कसिणे लोए' को प्रथमान्त मानकर अर्थ करने से दूसरा अर्थ होता है । चूर्णिकार ने 'विण्णू' शब्द का अर्थ विद्वान् अथवा विष्णु (व्यापक ब्रह्म) किया है ।

३७ गाथा १० मे 'एगे किच्चा · दुक्ख नियच्छइ' का अर्थ वृत्तिकार ने किया है 'एगे' अर्थात् कई पापकर्म करके स्वय तीव्र दु ख पाते हैं । यहाँ आर्षवचन होने से 'नियच्छइ' मे बहुवचन के बदले एकवचन का प्रयोग किया है । परन्तु 'एगे' का अर्थ 'एकाकी' करने से अर्थ हो जाता है—'आरम्भासक्त जीव पाप करके स्वय अकेले ही तीव्र दु ख प्राप्त करता है । 'एवमेगेत्ति' का अर्थ चूर्णिकार 'एक एव पुरुष एव प्रभाषन्ते' करते हैं ।

विवेचन—एकात्मवाद का स्वरूप और उसका खण्डन—प्रस्तुत दोनो गाथाओ मे से नौवी गाथा मे दृष्टान्त द्वारा एकात्मवाद का स्वरूप बताकर, दसवी गाथा मे उसका सयुक्तिक खण्डन किया है।

प्रस्तुत गाथा मे प्रतिपादित एकात्मवाद उत्तरमीमासा (वेदान्त) दर्शनमान्य है।[३८] वेदान्त-दर्शन का प्रधान सिद्धान्त है—इस जगत् मे सब कुछ ब्रह्म (शुद्ध-आत्म) रूप है, उसके सिवाय नाना दिखाई देने वाले पदार्थ कुछ नही हैं। अर्थात् चेतन-अचेतन (पृथ्वी आदि पचभूत तथा जड पदार्थ) जितने भी पदार्थ है, वे सब एक ब्रह्म (आत्म) रूप हैं।[३९] यही बात शास्त्रकार ने कही है—**'एव भो कसिणे लोए विण्णू।'** नाना दिखाई देने वाले पदार्थों को भी वे दृष्टान्त द्वारा आत्मरूप सिद्ध करते हैं, जैसे- पृथ्वीसमुदायरूप पिण्ड (अवयवी) एक ही है, फिर भी नदी, समुद्र, पर्वत, रेती का टीला, नगर, घट, घर आदि के रूप मे वह नाना प्रकार दिखाई देता है, अथवा ऊँचा, नीचा, काला, पीला, भूरा, कोमल, कठोर आदि के भेद से नाना प्रकार का दिखाई देता है, किन्तु इन सब मे पृथ्वीतत्त्व व्याप्त रहता है। इन सब भेदो के बावजूद भी पृथ्वी-तत्त्व का भेद नही होता, इसी प्रकार एक ज्ञानपिण्ड (विज्ञ-विद्वान्) आत्मा ही चेतन-अचेतनरूप समग्र लोक मे व्याप्त है। यद्यपि एक ही ज्ञानपिण्ड आत्मा पृथ्वी, जल आदि भूतो के आकार मे नाना प्रकार का दिखाई देता है, फिर भी इस भेद के कारण आत्मा के स्वरूप मे कोई भेद नही होता।

आशय यह है कि जैसे—घडे आदि सब पदार्थों मे पृथ्वी एक ही है, उसी तरह आत्मा भी विचित्र आकृति एव रूप वाले समान जड-चेतनमय पदार्थों मे व्याप्त है और एक ही है। श्रुति (वेद) मे भी कहा है—जैसे- एक ही चन्द्रमा जल से भरे हुए विभिन्न घडो मे अनेक दिखाई देता है, वैसे सभी भूतो मे रहा हुआ एक ही (भूत) आत्मा उपाधि भेद मे अनेक प्रकार का दिखाई देता है। जैसे एक ही वायु सारे लोक मे व्याप्त (प्रविष्ट) है, मगर उपाधिभेद से अलग-अलग रूप वाला हो गया है, वैसे एक ही आत्मा उपाधिभेद से विभिन्नरूप वाला हो जाता है।[४०]

---

३८ उत्तरमीमासा या वेदान्त के सिद्धान्त उपनिषदो मे, कुछ पुराणो और अन्य वैदिक ग्रन्थो मे मिलते है। वेद का उपनिषदो मे सग्रहीत ज्ञानकाण्ड वेदान्त कहलाता है। वेदान्तदर्शन का क्रमश वर्णन स्वरचित ब्रह्मसूत्र (वेदान्त सूत्र) मे सर्वप्रथम बादरायण (ई० पू० ३-४ शताब्दी) ने किया, जिस पर शकराचार्य का भाष्य है।

३९ (क) (१) 'सर्वं खल्विद ब्रह्म नेहनानास्ति किचन' —ब्रह्मसूत्र
(२) 'सर्वमेतदिद ब्रह्म' —छान्दोग्योपनिषद् ३।१४।१
(३) 'ब्रह्म खल्विद वाव सर्वम्' — मैत्र्युपनिषद् ४।६।३
(४) 'पुरुष एवेद, सर्वं यच्चभूत यच्च भाव्यम्। —श्वेताश्वतरोप० अ० ४ ब्रा० ६।१३

४०. (क) एक एव हि भूतात्मा, भूते भूते व्यवस्थित।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥
(ख) वायुर्यथैको भुवन प्रविष्टो, रूप रूप प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूप रूप प्रतिरूपो बहिश्च॥ —कठोप० २।५।१०

शंका—वे एकात्मवादी मन्दबुद्धि इसलिए है कि युक्ति एव विचार से रहित एकान्त एकात्मवाद स्वीकार करते हैं। एकान्त एकात्मवाद युक्तिहीन है, सारे विश्व मे एक ही आत्मा को मानने पर निम्नलिखित आपत्तियाँ आती हैं--

(१) एक के द्वारा किये गए शुभ या अशुभकर्म का फल दूसरे सभी को भोगना पडेगा जो कि अनुचित व अयुक्तिक है।

(२) एक के कर्मबन्धन होने पर सभी कर्मबन्धन से बद्ध और एक के कर्मबन्धन से युक्त होने पर सभी कर्मबन्धन से मुक्त होगे। इस प्रकार की अव्यवस्था हो जाएगी कि जो जीव मुक्त है, वह बन्धन मे पड जाएगा और जो बन्धन मे पडा है, वह मुक्त हो जाएगा। इस प्रकार बन्ध और मोक्ष की अव्यवस्था हो जायेगी।

(३) देवदत्त का ज्ञान यज्ञदत्त को होना चाहिए तथा एक के जन्म लेने, मरने या किसी कार्य मे प्रवृत्त होने पर सभी को जन्म लेना, मरना या उस कार्य मे प्रवृत्त होना चाहिए। परन्तु ऐसा कदापि होना सम्भव नही है।

(४) जड और चेतन सभी मे एक आत्मा मानने पर आत्मा का चैतन्य या ज्ञान गुण जड मे भी आ जाएगा, जो कि असम्भव है।

(५) जिसे शास्त्र का उपदेश दिया जाता है वह और शास्त्र का उपदेष्टा, दोनो मे भेद न होने के कारण शास्त्ररचना भी न हो सकेगी।

इसीलिए शास्त्रकार ने कहा है—**"एगे किच्चा सयं पाव तिव्व दुक्खं नियच्छइ"**—आशय यह है ससार मे यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि जो पापकर्म करता है, उस अकेले को ही उसके फलस्वरूप तीव्र दु ख प्राप्त होता है, दूसरे को नही। किन्तु यह एकात्मवाद मानने पर बन नही सकता।[४१]

तज्जीव तच्छरीरवाद

११. पत्तेय कसिणे आया, जे बाला जे य पंडिता।
संति पेच्चा ण ते संति, णत्थि सत्तोववाइया ॥ ११ ॥

१२. णत्थि पुण्णे व पावे वा, णत्थि लोए इतो परे।
सरीरस्स विणासेणं, विणासो होति देहिणो ॥ १२ ॥

११ जो बाल (अज्ञानी) हैं और जो पण्डित है, उन प्रत्येक (सब) की आत्माएँ पृथक-पृथक हैं। मरने के पश्चात् वे (आत्माएँ) नही रहती। परलोकगामी कोई आत्मा नही है।

१२. (इस वाद के अनुसार) पुण्य अथवा पाप नही है, इस लोक से पर (आगे) कोई दूसरा लोक नही है। देह का विनाश होते ही देही (आत्मा) का विनाश हो जाता है।

---

४१ (क) एकात्मवाद से सम्बन्धित विशेष वर्णन के लिए देखिए—द्वितीय श्रुतस्कन्ध, सूत्र ८३३
(ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १९ के आधार पर

विवेचन—तज्जीव तच्छरीरवाद का मन्तव्य और उसकी फलश्रुति—इन दोनो गाथाओ मे से प्रथम गाथा मे तज्जीव-तच्छरीरवाद का मन्तव्य बताया गया है और दूसरी गाथा मे इसकी फलश्रुति।

'वही जीव है और वही शरीर है', इस प्रकार जो मानता है, उसे तज्जीव-तच्छरीरवाद कहते है।[४२] यद्यपि पचमहाभूतवादी भी शरीर को ही आत्मा बताता है, किन्तु उसके मत मे पचमहाभूत ही शरीर के रूप मे परिणत होकर दौडना, बोलना आदि सब क्रियाएँ करते है, जबकि तज्जीव तच्छरीरवादी शरीर से चैतन्यशक्ति की उत्पत्ति या अभिव्यक्ति मानना है। शरीर से आत्मा को अभिन्न मानता है, यही इन दोनो वादो मे अन्तर है।

यो तो जैनदर्शन, न्यायदर्शन आदि भी कहते है—**'प्रत्यगात्मा भिद्यते'** प्रत्येक प्राणी की आत्मा भिन्न है, वह अपने आप मे सम्पूर्ण है, पूर्ण शक्तिमान है, किन्तु तज्जीव-तच्छरीरवाद की मान्यता विचित्र है, वह कहता है - जब तक शरीर है, तब तक ही उसकी आत्मा रहती है, शरीर के नष्ट होते ही आत्मा नष्ट हो जाती है, क्योकि शरीररूप मे परिणत पचमहाभूतो से जो चैतन्यशक्ति उत्पन्न होती है, वह उनके बिखरते ही या अलग-अलग होते ही नष्ट हो जाती है। शरीर से बाहर निकल कर कही अन्यत्र जाता हुआ चैतन्य प्रत्यक्ष नही दिखाई देता, इसलिए कहा गया—**'पेच्चा ण ते सति।'** अर्थात् मरने के बाद परलोक मे वे आत्माएँ नही जाती।

निष्कर्ष यह है कि शरीर से भिन्न स्व-कर्मफलभोक्ता परलोकानुयायी कोई आत्मा नामक पदार्थ नही है। जो है, वह शरीर से अभिन्न है। इसी रहस्य को स्पष्ट करने के लिए कहते है - **'णत्थि सत्तोववाइया'** -अर्थात् कोई भी जीव (प्राणी) औपपातिक—एक भव से दूसरे भव मे जाने वाले नही होते। जैसा कि उनके बृहदारण्यक उपनिषद् मे कहा है—"प्रज्ञान (विज्ञान) का पिण्ड यह आत्मा, इन भूतो से उठकर (उत्पन्न होकर) इनके नाश के पश्चात् ही नष्ट हो जाता है, अत मरने के पश्चात् इसकी चेतना (आत्मा) सज्ञा नही रहती।[४३] बौद्धग्रन्थ सुत्तपिटकान्तर्गत उदान मे, तथा दीर्घनिकाय के सामञ्ञफलसुत्त मे इसी से मिलते-जुलते मन्तव्य का उल्लेख है।[४४]

---

४२ (क) स एव जीवस्तदेव शरीरमितिवदितु शीलमस्येति तज्जीव-तच्छरीरवादी।
(ख) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक-२०

४३ प्र (वि) ज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्य समुत्थायातान्यवानुविनश्यति, न प्रेत्यसज्ञाऽस्तीति।"
—बृहदारण्यक उपनिषद् अ ४, ब्रा ६, श्लोक १३

४४ (क) सते के समणब्राह्मणा एव वादिनो एवदिट्ठानो-त जीव त शरीर, इदमेव सच्च मोघमञ्ञति।
—सुत्तपिटक उदान, पढमनातित्थियसुत्त, पृ १४२

(ख) अजितकेसकम्बलो म एतदवोच—'नत्थि, महाराज! दिन्न, नत्थि यिट्ठ नत्थि हुत, नत्थि सुकतदुक्कटान कम्मान फल विपाको, नत्थि अय लोको, नत्थि परोलोको, नत्थि माता नत्थि पिता, नत्थि सत्ता ओपपातिका नत्थि लोके-सम-ण ब्राह्मणा सम्मग्गता सम्मापटिपन्ना, ये इमच लोक, पर च लोक सय अभिञ्ञा सच्छिकत्वा
(क्रमश)

इस प्रकार के बाद के तीन परिणाम फलित होते हैं, जो १२ वी गाथा मे बता दिए गए हैं—

(१) जीव के शुभाशुभकर्मफलदायक पुण्य और पाप नही होते ।

(२) इस लोक से भिन्न कोई दूसरा लोक ही नही है ।

(३) शरीर के नाश के साथ ही शरीरी आत्मा का नाश हो जाता है ।

पुण्य और पाप ये दोनो इसलिए नही माने गये कि इनका धर्मीरूप आत्मा यही समाप्त हो जाता है। पुण्य-पाप को मानने पर तो उनका फल भोगने के लिए परलोक मे गमन भी मानना जरूरी हो जाता है । इसलिए न तो पुण्य-पाप है, और न ही उनका फल भोगने के लिए स्वर्ग-नरकादि परलोक हैं ।

जब आत्मा ही नही, तब आत्मा को धारण करने वाला प्राणी एक से दूसरे जन्म मे कैसे जायेगा ? जैसे पानी का बुलबुला पानी से भिन्न नही होता है, वह पानी से ही पैदा होता है और उसी मे विलीन हो जाता है, वैसे ही चैतन्य पचभूतात्मक शरीर से ही पैदा होता है, और उसी मे समा जाता है, उसका अलग कोई अस्तित्व नही है । जैसे ग्रीष्मऋतु मे मरुभूमि मे जल न होने पर भी जल का भ्रम हो जाता है, वैसे ही पचभूतसमुदाय बोलना, चलना आदि विशिष्ट क्रियाएँ करता है, इसमे जीव होने का भ्रम होता है ।"

जब उनसे यह पूछा जाता है कि यदि शरीर से भिन्न कोई आत्मा नही है, पुण्य-पाप एव परलोकादि नही है, तब धनी-निर्धन, रोगी-निरोगी, सुखी-दुःखी आदि विचित्रताएँ जगत् मे क्यो दृष्टिगोचर होती है ? तो वे उत्तर देते है– यह सब स्वभाव से होता है । जैसे—दो पत्थर के टुकडे पास-पास ही पडे है, उनमे से एक को मूर्तिकार गढ कर देवमूर्ति बना देता है, तो वह पूजनीय हो जाता है । दूसरा पत्थर का टुकडा केवल पैर धोने आदि के काम आता है । इन दोनो स्थितियो मे पत्थर के टुकडो का कोई पुण्य या पाप नही है, जिससे कि उनकी वैसी अवस्थाएँ हो, किन्तु ये स्वाभाविक है । अत जगत् मे दृश्यमान विचित्रता भी स्वभाव से है । काटो मे तीक्ष्णता, मोर के पखो का रगबिरगा-पन, मुर्गी की रगीन चोटी आदि स्वभाव से होते है ।[४५] परन्तु कोई भी भारतीय आस्तिक दर्शन इस समाधान से सन्तुष्ट नही है । पुण्य-पाप या परलोक न मानने पर जगत् की सारी व्यवस्था एव शुभ-कार्य मे प्रोत्साहन समाप्त हो जायेंगे ।

कठिन शब्दो की व्याख्या पेच्चा - मरने के बाद परलोक मे । **ओववाइया** –औपपातिक, एक भव से दूसरे भव मे जाना उपपात कहलाता है । जो एक भव मे दूसरे भव मे जाते है, औपपातिक है ।

पवेदेंति । चातुमहाभूतिको अय पुरिसो यदा काल करोति, पठवी पठवीकाय अनुपेति, अनुपगच्छति, आपो आपो काय अनु तेजो तेजोकाय अनु॰ वायो वायोकाय अनु॰ आकास इन्द्रियानि सकमन्ति मुसा विलापो ये के चि अत्थिकवादी वदन्ति । बाले च पण्डिते च कायस्स भेदा उच्छिजति विनस्सति, न होन्ति पर मरणा' ति । –सुत्तपिटक दीघनिकाय भा॰ १ सामञ्‍ञफलसुत्त, पृ॰ ४१-५३

(ग) सूत्रकृतांग द्वितीयश्रुतस्कन्ध सू॰ ८३३-८३४ मे, तथा रायपसेणियसुत्त मे इस सम्बन्ध मे विस्तृत वर्णन देखें ।

४५ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक २०-२१ ।

अकारकवाद

१३. कुव्वं च कारवं चेव, सव्वं कुव्व ण विज्जति ।
एव अकारओ अप्पा, एवं ते उ पगब्भिया ।।१३।।

१४. जे ते उ वाइणो एवं, लोए तेसिं कओ सिया ।
तमातो ते तमं जंति, मंदा आरंभनिस्सिया ।।१४।।

१३ आत्मा स्वय कोई क्रिया नही करता, और न दूसरो से कराता है, तथा आत्मा समस्त (कोई भी) क्रिया करने वाला नही है। इस प्रकार आत्मा अकारक है। इस प्रकार वे (अकारकवादी सांख्य आदि) (अपने मन्तव्य की) प्ररूपणा करते है।

१४ जो वे (पूर्वोक्त) वादी (तज्जीव-तच्छरीरवादी तथा अकारकवादी) इस प्रकार (शरीर से भिन्न आत्मा नही है, इत्यादि तथा "आत्मा अकर्त्ता और निष्क्रिय है") कहते हैं, उनके मत मे यह लोक (चतुर्गतिक ससार या परलोक) कैसे घटित हो सकता है ? (वस्तुत) वे मूढ एव आरम्भ मे आसक्त वादी एक (अज्ञान) अन्धकार से निकल कर दूसरे अन्धकार मे जाते है।

विवेचन- -अकारकवाद क्या है ?--१३वी गाथा मे अकारकवाद की झाकी बताई गई है। चूर्णिकार और वृत्तिकार ने इसे साख्यो का मत बताया है। क्योकि **'अकर्त्ता निर्गुणो भोक्ता आत्मा कापिलदर्शने'**, यह साख्य दर्शनमान्य उक्ति प्रसिद्ध है। साख्यदर्शन आत्मा को अमूर्त्त, कूटस्थनित्य और सर्वव्यापी मानते हैं,[४६] इसलिए उसके मतानुसार आत्मा स्वतन्त्र कर्त्ता (क्रिया करने मे स्वतत्र) नही हो सकता, वह स्वय क्रियाशून्य होता है। वह दूसरे के द्वारा क्रिया कराने वाला नही हे। इसीलिए कहा गया है—**"कुव्व च कारव चेव"** गाथा मे प्रयुक्त प्रथम 'च' शब्द आत्मा के भूत और भविष्यत् कर्तृत्व का निषेधक है। आत्मा इसलिए भी अकर्त्ता है कि वह विषय-सुख आदि को तथा इसके कारण पुण्य आदि कर्मों को नही करता।

प्रश्न होता है—जब इस गाथा मे आत्मा के स्वय कर्तृत्व एव कारयितृत्व का निषेध कर दिया, तब फिर दुबारा "सव्व कुव्व न विज्जई" कहने की आवश्यकता क्यो पडी ?

इसका समाधान यो किया जाता है कि आत्मा स्वय क्रिया मे प्रवृत्त नही होता, किन्तु 'मुद्राप्रतिबिम्बोदय न्याय' एव जपास्फटिकन्याय से वह स्थितिक्रिया एव भोगक्रिया करता है।

जैसे किसी दर्पण मे प्रतिबिम्बित मूर्ति अपनी स्थिति के लिए प्रयत्न नही करती, वह अनायास ही चित्र मे स्थित रहती है, इसी प्रकार प्रकृतिरूपी दर्पण मे प्रतिबिम्बित आत्मा अनायास ही स्थित रहती है। ऐसी स्थिति मे प्रकृतिगत विकार पुरुष (आत्मा) मे प्रतिभासित होते है। इस मुद्राप्रतिबिम्बोदय न्याय से आत्मा स्थित क्रिया का स्वय कर्त्ता न होने के कारण अकर्त्ता-सा है।

---

४६ "अमूर्तश्चेतनो भोगी नित्यः सर्वगतोऽक्रिय ।
अकर्ता निर्गुण सूक्ष्म आत्मा कापिलदर्शने ।।" —षड्दर्शन समुच्चय

इसी प्रकार स्फटिक के पास लाल रग का जपापुष्प रख देने से वह लाल-सा प्रतीत होता है, इसी तरह स्वय भोगक्रिया रहित आत्मा मे बुद्धि के ससर्ग से बुद्धि का भोग प्रतीत होता है। यो जपास्फटिक न्याय से आत्मा की भोगक्रिया मानी जाती है।

इस भ्रम के निवारणार्थ दुबारा यह कहना पड़ा—'सव्व' विज्जइ।' अर्थात् आत्मा स्वय किसी भी क्रिया का कर्त्ता नही होता। वह एक देश से दूसरे देश जाने की सभी परिस्पन्दादि क्रियाएँ नही करता क्योकि वह सर्वव्यापी और अमूर्त्त होने के कारण आकाश की तरह निष्क्रिय है।[४७]

सांख्यों का विरोधी कथन

सामान्यतया जो कर्त्ता होता है, वही भोक्ता होता है किन्तु साख्यमत मे कर्त्ता प्रकृति है, भोक्ता पुरुष (आत्मा) है। दानादि कार्य अचेतन प्रकृति करती है, फल भोगता है—चेतन पुरुष। इस तरह कर्तृत्व-भोक्तृत्व का समानाधिकरणत्व छोडकर व्याधिकरणत्व मानना पहला विरोध है। पुरुष चेतनावान है फिर भी नही जानता, यह दूसरी विरुद्धता है। पुरुष न बद्ध होता है, न मुक्त और न ही भवान्तरगामी ही होता है, प्रकृति ही बद्ध, मुक्त और भवान्तरगामिनी होती है, यह सिद्धान्तविरुद्ध, अनुभवविरुद्ध कथन भी धृष्टता ही है इसीलिए कहा गया है—एवमकारओ अप्पा, एव ते उपगब्भिया।"[४८]

पूर्वोक्त वादियों के मत में लोक-घटना कैसे ?

१४वी गाथा मे तज्जीव-तच्छरीरवाद और अकारकवाद का निराकरण करते हुए इन दोनो मतो को मानने पर जन्म-मरणरूप चातुर्गतिक ससार या परलोक घटित न होने की आपत्ति उठाई है। तज्जीवतच्छरीरवादी शरीर से आत्मा को भिन्न मानते हैं तथा परलोकानुगामी नही मानते। तज्जीव-तच्छरीरवाद तथा उसकी ये असगत मान्यताएँ मिथ्या यो है कि शरीर से आत्मा भिन्न सिद्ध होता है। इसे सिद्ध करने के लिए वृत्तिकार ने कुछ प्रमाण प्रस्तुत किए हैं—

(१) दण्ड आदि साधनो के अधिष्ठाता कुम्भकार की तरह आत्मा इन्द्रियो आदि करणो का अधिष्ठाता होने से वह इनसे भिन्न है।

(२) सडासी और लोहपिण्ड को ग्रहण करने वाला उनसे भिन्न लुहार होता है, इसी तरह इन्द्रियो (करणो) के माध्यम से विषयो को ग्रहण करने वाला इन दोनो से भिन्न आत्मा है।

(३) शरीररूप भोग्य पदार्थ का भोक्ता शरीर के अगभूत इन्द्रिय और मन के अतिरिक्त और कोई पदार्थ होना चाहिए, वह आत्मा ही है।

आत्मा को परलोकगामी न मानना भी यथार्थ नही है। आत्मा का परलोकगमन निम्नोक्त

४७ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक २१

४८ (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्राक २१

(ख) तस्मान्न बध्यते अद्धा न मुच्यते, नाऽपि ससरति कश्चित्।
ससरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृति.॥ —सांख्यकारिका

अनुमान से सिद्ध हो जाता है— तत्काल जन्मे हुए बालक को माता के स्तनपान की इच्छा पूर्व-जन्म मे किए गए स्तनपान के प्रत्यभिज्ञान के कारण होती है। इससे पूर्वजन्म सिद्ध होता है और पूर्वजन्म सिद्ध होने से अगला जन्म (परलोक) भी सिद्ध हो जाता है। अत आत्मा का परलोकगमन शुभाशुभ कर्मों के अनुसार अवश्य होता है।

इस प्रकार धर्मीरूप आत्मा का पृथक् अस्तित्व सिद्ध होने से उसके धर्मरूप पुण्य-पाप की सिद्धि हो जाती है। पुण्य-पाप को न मानने पर जगत् मे प्रत्यक्ष दृश्यमान ये सुखी-दु खी आदि विचित्रताएँ, जो कर्मफलस्वरूप ही है, कैसे सगत हो सकती है? पुण्य-पापरूप कर्म मानने पर ही उनके फलस्वरूप चतुर्गतिरूप ससार (लोक) घटित हो सकता है, अथवा लोकगत विचित्रताएँ सिद्ध हो सकती है। इसलिए तज्जीव तच्छरीरवादियो के प्रति आक्षेप किया है **लोए सिआ**?

अकारकवादी—साख्यादि मतवादियो के लिए भी यही आपत्ति शास्त्रकार ने उठाई है— 'आत्मा को एकान्त कूटस्थ नित्य,[६९] अमूर्त, सर्वव्यापी एव निष्क्रिय (अकर्ता) मानने पर प्रत्यक्ष दृश्यमान जन्म-मरणादि रूप अथवा नरकादिगतिगमनरूप यह लोक (ससार प्रपञ्च) कैसे सिद्ध होगा? क्योकि कूटस्थ नित्य आत्मा एक शरीर को छोडकर दूसरे शरीर मे, एक गति या योनि छोडकर दूसरी गति या योनि मे कैसे जन्म-मरण करेगा? तथा एक ही शरीर मे बालक, युवक, वृद्ध आदि पर्यायो को धारण करना कैसे सम्भव होगा? अगर कर्मानुसार जीवो का गमनागमन नही माना जाएगा तो जन्म-मरण आदि रूप ससार कैसे घटित होगा? कूटस्थ नित्य आत्मा तो अपरिवर्तनशील, एक रूप मे ही रहने वाला है, ऐसी मान्यता से बालक सदैव बालक, मूर्ख सदैव मूर्ख ही रहेगा, उसमे किसी नये स्वभाव की उत्पत्ति नही होगी। ऐसी स्थिति मे जन्ममरणादि दु खो का विनाश, उसके लिए पुरुषार्थ, कर्मक्षयार्थ तप, जप, सयम नियम आदि की साधना सम्भव नही होगी।

निर्युक्तिकार ने अकारकवाद पर आपत्ति उठाई है कि 'जब आत्मा कर्ता नही है और उसका किया हुआ कर्म नही है, वह बिना कर्म किये उसका सुखदु खादि फल कैसे भोग सकता है?' यदि कर्म किए बिना ही फलभोग माना जाएगा तो दो दोषापत्तियाँ खडी होगी १ कृतनाश और २ अकृतागम। फिर तो एक प्राणी के किए हुए पाप से सबको दु खी और एक के किये हुए पुण्य से सबको सुखी हो जाना चाहिए। किन्तु यह असम्भव और अनुभव विरुद्ध है, तथा अभीष्ट भी नही है।

आत्मा यदि व्यापक एव नित्य है तो उसकी नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव तथा मोक्षरूप पाँच प्रकार की गति भी नही हो सकती, ऐसी स्थिति मे साख्यवादियो द्वारा काषायवस्त्र धारण, शिरोमुण्डन, दण्डधारण, भिक्षान्नभोजन, यम-नियमादि अनुष्ठान वगैरह साधनाएँ व्यर्थ हो जाएँगी।

इसीप्रकार एकान्तरूप मे मिथ्याग्रहवश आत्मा को निष्क्रिय कूटस्थ नित्य मानकर बैठने से न तो त्रिविध दु खो का सर्वथा नाश होगा, न ही मोक्षादि की प्राप्ति होगी, और कूटस्थ नित्य निष्क्रिय

---

६९ 'अप्रच्युतानुत्पन्न-स्थिरैकस्वभाव नित्य।' -जो विनष्ट न हो, उत्पन्न न हो स्थिर हो, सदा एक स्वभाव वाला हो वह कूटस्थ नित्य कहलाता है।
सांख्य तत्त्व कौमुदी

जडात्मा २५ तत्त्वो का ज्ञान भी कैसे कर सकेगा ? उस आत्मा मे पूर्वजन्मो का स्मरण आदि क्रिया भी कैसे होगी ?[५०] अत अकारकवाद युक्ति, प्रमाण एव अनुभव से विरुद्ध है ।

दोनों वादों को मानने वालों की दुर्दशा

इस गाथा के उत्तरार्द्ध मे शास्त्रकार ने पूर्वोक्त दोनो मिथ्यावादो को मानकर चलने वालो की दुर्दशा का सक्षेप मे प्रतिपादन किया है—**'तमाओ ते तमं जंति मंदा आरंभणिस्सिया'**—अर्थात् वे (तज्जीव-तच्छरीरवादी) विवेकमूढ मदमति नास्तिक बनकर आत्मा को शुभाशुभकर्म के फलानुसार परलोकगामी नही मानते, इस प्रकार उनकी बुद्धि पर मिथ्यात्व और अज्ञान का गहरा पर्दा पड जाने के कारण वे अज्ञानान्धकार मे तो पहले से ही पडे होते है । अब वे यह सोचकर कि हम आत्मा-परमात्मा, स्वर्ग-नरक पुण्य-पाप आदि नही मानते तो हमे क्यो पाप-कर्म का बन्ध होगा, और क्यो उसके फलस्वरूप दुर्गति मिलेगी ? फलत बेखटके वे मनमाने हिंसा, झूठ, चोरी, ठगी, आदि पापकर्म मे रत हो जाते हैं, इस प्रकार ज्ञानावरणीयादि कर्मसञ्चयवश वे और अधिक गाढ अज्ञानान्धकार मे पड जाते है ।

जैसे कोई व्यक्ति विष को मारक न माने-समझे या उसके दुष्प्रभाव से अनभिज्ञ रहकर विष खा ले तो क्या विष अपना प्रभाव नही दिखायेगा ? अवश्य दिखाएगा । इसी प्रकार कोई अनुभवसिद्ध सत्य बात को न मानकर उसके परिणाम से अनभिज्ञ रहे और मिथ्या सिद्धान्तो को दुराग्रहवश पकड रखे तदनुसार हिंसादि दुष्कर्मों मे प्रवृत्त हो जाए तो क्या वह मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय आदि के प्रभाव से होने वाले पापकर्मबन्ध से बच जाएगा ? क्या उसे वे पापकर्मबन्ध नरकादि घोर अन्धकाररूप अपना फल नही देंगे ? स्थूल दृष्टि से देखे तो वे एक नरकादि यातना स्थान मे सद्-असद विवेक से भ्रष्ट होकर फिर उससे भी भयकर गाढान्धकार वाले नरक मे जाते है ।

इस प्रकार अकारकवादियो की भी दुर्दशा होती है । वे भी मिथ्याग्रहवश अपनी मिथ्यामान्यता का पल्ला पकडकर सत्य सिद्धान्त को सुना-अनसुना करके चलते है । फलत वे मिथ्यात्ववश नाना प्रकार के हिंसादि कार्यों को नि.शक होकर करते रहते है । केवल २५ तत्त्वो का ज्ञाता होने से मुक्त हो जाने का झूठा आश्वासन अपने आपको देते रहते है । क्या इससे मिथ्यात्व और हिंसादि अविरति के कारण पापकर्मबन्धन से तथा उनके फलस्वरूप नरकादि गतियो से वे बच सकेंगे ? कदापि नही । यही कारण है कि वे यहाँ भी मिथ्यात्व एव अज्ञान के गाढ अधकार मे डूबे रहते हैं, और परलोक मे इससे भी बढकर गाढ अन्धकार मे निमग्न होते हैं ।[५१]

---

५० (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक २२

(ख) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा ३४—

को वेएइ ? अकय, कयनासो, पचहा गई नत्थि ।

देवमणुस्सगयागई जाइसरणाइयाण च ॥

५१. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्राक २२, २३

आत्मषष्ठवाद

१५. संति पंच महब्भूता, इहमेगेसिं आहिता ।
आयछट्ठा पुणेगाऽऽहु, आया लोगे य सासते ।।१५।।
१६. दुहओ ते ण विणस्संति, नो य उप्पज्जए असं ।
सव्वे वि सव्वहा भावा, नियतीभावमागता ।।१६।।

१५ इस जगत् मे पाँच महाभूत है और छठा आत्मा है, ऐसा कई वादियो ने प्ररूपण किया (कहा) । फिर उन्होने कहा कि आत्मा और लोक शाश्वत—नित्य हैं ।

१६ (सहेतुक और अहेतुक) दोनो प्रकार से भी पूर्वोक्त छहों पदार्थ नष्ट नही होते, और न ही असत्-अविद्यमान पदार्थ कभी उत्पन्न होता है । सभी पदार्थ सर्वथा नियतीभाव-नित्यत्व को प्राप्त होते हैं ।

विवेचन—आत्मषष्ठवाद का निरूपण—इन दो गाथाओ मे आत्मषष्ठवादियो की मान्यता का निरूपण है । वृत्तिकार के अनुसार वेदवादी सांख्य और शैवाधिकारियो (वैशेषिको) का यह मत है।[५२] प्रो हर्मन जेकोबी इसे चरक का मत मानते है । बौद्ध ग्रन्थ 'उदान' मे आत्मा और लोक को शाश्वत मानने वाले कुछ श्रमण-ब्राह्मणो का उल्लेख आता है ।[५३] यहाँ शास्त्रकार ने आत्मषष्ठवाद की ५ मुख्य मान्यताओ का निर्देश किया है—

(१) अचेतन पाँच भूतो के अतिरिक्त सचेतन आत्मा छठा पदार्थ है,[५४]
(२) आत्मा और लोक दोनो नित्य है,
(३) छहो पदार्थों का सहेतुक या अहेतुक किसी प्रकार से विनाश नही होता,
(४) असत् की कभी उत्पत्ति नही होती और सत् का कभी नाश नही होता,
(५) सभी पदार्थ सर्वथा नित्य है ।

आत्मा और लोक सर्वथा शाश्वत : क्यो और कैसे ?

पूर्वोक्त भूत-चैतन्यवादियो आदि के मत मे जैसे इन्हे अनित्य माना गया है, इनके मत मे इन्हें सर्वथा नित्य माना गया है । इनका कहना है—सर्वथा अनित्य मानने से बंध और मोक्ष की व्यवस्था नही बन सकती । इस कारण ये आत्मा को आकाश की तरह सर्वव्यापी और अमूर्त होने से नित्य मानते है, तथा पृथ्वी आदि पंचमहाभूतरूप लोक को भी अपने स्वरूप से नष्ट न होने के कारण अविनाशी (नित्य) मानते हैं ।

---

५२ एकेषां वेदवादिनां सांख्यानां शैवाधिकारिणाञ्चैतद् आख्यातम् । —सूत्र० वृत्ति पत्र २४

५३ (क) This is the opinion expressed by 'Charaka' —प्रो० हर्मन जेकोबी
-The Sacred Book of the East Vol. XLV, पृ 237

(ख) "सन्ति पनेके समणब्राह्मणा एव वादिनो एव दिट्ठिनो- सस्सतो अत्ता च लोको च, इदमेव मोघमञ्ञाति ।' —उदान पृ. १४६

५४ आत्मा षष्ठ कोऽर्थ ? यथा पंचमहाभूतानि सन्ति, तथा तेभ्य पृथग्भूत षष्ठ आत्माख्य पदार्थोऽस्तीति भाव: । —दीपिका

बौद्धदर्शन मे पदार्थ की उत्पत्ति के पश्चात् तत्काल ही निष्कारण विनाश होना माना जाता है, अत उत्पत्ति के अतिरिक्त विनाश का अन्य कोई कारण नही है परन्तु आत्मषष्ठवादी इस अकारण (निर्हेतुक) विनाश को नही मानते, और न ही वैशेषिक दर्शन के अनुसार डडे, लाठी आदि के प्रहार (कारणों) से माने जाने वाले सकारण (सहेतुक) विनाश को मानते हैं। तात्पर्य यह है कि आत्मा हो, चाहे पचभौतिक लोक (लोकगत पदार्थ), अकारण और सकारण दोनो प्रकार से विनष्ट नही होते। ये चेतनाचेतनात्मक दोनो कोटि के पदार्थ अपने-अपने स्वभाव से च्युत नही होते, स्वभाव को नही छोडते, इसलिए नित्य हैं।

आत्मा किसी के द्वारा किया हुआ नही (अकृतक) है, इत्यादि हेतुओ से नित्य है, और '**न कदाचिदनीदृशं जगत्**'—जगत् कदापि और तरह का नही होता, इसलिए नित्य है।

भगवद्गीता मे भी कहा गया है—इस आत्मा को शस्त्र काट नही सकते, आग जला नही सकती, पानी भिगो नही सकता, हवा इसे सुखा नही सकती। अत यह आत्मा अच्छेद्य है, अभेद्य है, अविकार्य (विकार रहित) है, यह नित्य, सर्वव्यापी, स्थिर, अचल और सनातन है।

असत्पदार्थ की कदापि उत्पत्ति नही होती, सर्वत्र सत्पदार्थ की ही उत्पत्ति होती है। अतः साख्यदर्शन सत्कार्यवाद के द्वारा आत्मा और लोक की नित्यता सिद्ध करता है। सत्कार्यवाद की सिद्धि भी पाच कारणो से की जाती है[५५]—

(१) **असदकरणात्**—गधे के सीग की तरह जो वस्तु नही होती, वह (उत्पन्न) नही की जा सकती।

(२) **उपादानग्रहणात्**—जो वस्तु सत् है, उसी का उपादान विद्यमान होता है। विद्यमान उपादान ग्रहण करने के कारण सत् की उत्पत्ति हो सकती है, असत् की नही।

(३) **सर्वसम्भवाभावात्**—सभी कारणो से सभी पदार्थों की उत्पत्ति नही होती। बालू से तेल नही निकल सकता, तिल से ही तेल निकलता है यदि असत्पदार्थ की उत्पत्ति हो तो पेड की लकडी से कपडा, गेहू आदि क्यो नही बना लिये जाते ? अत· उपादान कारण से ही कार्य होता है।

---

५५ (क) जातिरेव हि भावाना, विनाशे हेतुरिष्यते
यो जातश्च न च ध्वस्तो, नश्येत् पश्चात् स केन च ? —बौद्ध दर्शन

(ख) नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावक ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुत ॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्य सर्वगत स्थाणुरचलोऽय सनातन ॥ —गीता अ० २/२३-२४

(ग) नासतो विद्यते भावो, नाभावो जायते सत ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभि. ॥ —गीता० अ० २/१६

(घ) असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाऽभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥ —साख्यकारिका

(४) **शक्तस्य शक्यकरणात्**—मनुष्य की शक्ति से जो साध्य-शक्य हो, उसे ही वह करता है, अशक्य को नही। यदि असत् की उत्पत्ति हो तो कर्ता को अशक्य पदार्थ भी बना देना चाहिए।

(५) **कारणभावाच्च सत्कार्यम्**—योग्य कारण मे स्थित (विद्यमान सत्) पदार्थ की ही उत्पत्ति होती है, अन्यथा पीपल के बीज से आम का अकुर पैदा हो जाता।

निष्कर्ष यह है कि सत्कार्यवाद मे उत्पत्ति और विनाश केवल आविर्भाव-तिरोभाव के अर्थ मे है। वस्तु का सर्वथा अभाव या विनाश नही होता, वह अपने स्वरूप मे विद्यमान रहती है।

आत्मषष्ठवाद मिथ्या क्यों ?

ससार के सभी पदार्थों (आत्मा, लोक आदि) को सर्वथा या एकान्त नित्य मानना यथार्थ नही है। सभी पदार्थों को एकान्त नित्य मानने पर आत्मा मे कर्तृत्व-परिणाम उत्पन्न नही हो सकेगा। कर्तृत्व परिणाम के अभाव में कर्मबन्ध कैसे होगा ? कर्मबन्ध नही होगा तो सुख-दु खरूप कर्मफल भोग कैसे होगा ? वह कौन करेगा, क्योकि आत्मा को अकर्ता मानने पर कर्मबन्ध का सर्वथा अभाव हो जाएगा, ऐसी स्थिति मे सुख-दु ख का अनुभव कौन करेगा ?

अगर असत् की कथञ्चित् उत्पत्ति नही मानी जाएगी तो पूर्वभव को छोडकर उत्तरभव मे उत्पत्तिरूप जो आत्मा की चार प्रकार की गति और मोक्षरूप पचमगति बताई जाती है, वह कैसे सम्भव होगी ? आत्मा को अप्रच्युत, अनुत्पन्न, स्थिर एव एक स्वभाव का (कूटस्थनित्य) मानने पर उसका मनुष्य, देव आदि गतियो मे गमन-आगमन सम्भव नही हो सकेगा और प्रत्यभिज्ञान या स्मृति का अभाव होने से जातिस्मरण आदि भी न हो सकेगा। इसलिए आत्मा को एकान्त नित्य मानना मिथ्या है।

सत् की ही उत्पत्ति होती है, ऐसी एकान्तप्ररूपण भी दोषयुक्त है, क्योकि वह (कार्य) पहले से ही सर्वथा सत् है, तो उसकी उत्पत्ति कैसी ? यदि उत्पत्ति होती है तो सर्वथा सत् कैसे ? घटादि पदार्थ जब तक उत्पन्न नही होते, तब तक उनसे जलधारणादि कार्य नही हो सकते, अत घटगुणो से युक्त होकर घटरूप से उत्पन्न होने से पूर्व मृत्पिण्डादि कार्य को घटरूप मे असत् समझना चाहिए।

निष्कर्ष यह है कि आत्मा, पचभूत आदि सभी पदार्थों को कथचित् नित्य और कथचित् अनित्य, तथा किसी अपेक्षा से सत् और किसी अपेक्षा से असत्, इस प्रकार सदसत्कार्यरूप न मानकर एकान्त मिथ्याग्रह पकडना ही आत्मषष्ठवादियो का मिथ्यात्व है। अत बुद्धिमान् सत्यग्राही व्यक्तियो को प्रत्येक पदार्थ द्रव्यरूप से सत् (नित्य) और पर्याय रूप से असत् (अनित्य) मानना ही योग्य है।[५६]

---

५६ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक २४-२५

(ख) कर्मगुणव्यपदेशा प्रागुत्पत्तेर्न सन्ति यत्तस्मात्।
कार्यमसद्विज्ञेय क्रिया प्रवृत्तेश्च कर्तृणाम्॥

—न्यायसिद्धान्त

क्षणिकवाद : दो रूपों में

१७. पंच खंधे वयंतेगे, बाला उ खणजोइणो ।
अन्नो अणन्नो णेवाऽऽहु, हेउयं च अहेउयं ॥१७॥

१८. पुढवी आऊ तेऊ य तहा वाउ य एकओ ।
चत्तारि धाउणो रूवं, एवमाहंसु जाणगा ॥१८॥

१७. कई बाल (अज्ञानी) क्षणमात्र स्थिर रहने वाले पाँच स्कन्ध बताते हैं। वे (भूतो से) भिन्न तथा अभिन्न, कारण से उत्पन्न (सहेतुक) और बिना कारण उत्पन्न (अहेतुक) (आत्मा का) नहीं मानते-नही कहते ।

१८ दूसरे (बौद्धो) ने बताया कि पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये चारो धातु के रूप हैं, ये (शरीर के रूप मे) एकाकार हो जाते है, (तब इनकी जीव-सज्ञा होती है) ।

विवेचन—क्षणभंगी पंच स्कन्धवाद : स्वरूप और विश्लेषण—१७वी गाथा मे पचस्कन्धवादी कतिपय बौद्धो की क्षणिकवाद की मान्यता का प्रतिपादन किया गया है। मूल पाठ एव वृत्ति के अनुसार पचस्कन्धवाद क्षणिकवादी कुछ बौद्धो का मत है। विसुद्धिमग्ग सुत्तपिटकगत अगुत्तरनिकाय आदि बौद्धग्रन्थो के अनुसार पाँच स्कन्ध निम्न है—

१ रूपस्कन्ध, २ वेदनास्कन्ध, ३ सज्ञास्कन्ध, ४ सस्कारस्कन्ध और ५ विज्ञानस्कन्ध ।

इन्ही पाँचो को उपादानस्कन्ध भी कहा जाता है। शीत आदि विविध रूपो मे विकार प्राप्त होने के स्वभाव वाला जो धर्म है वह सब एक होकर रूपस्कन्ध बन जाता है। भूत और उपादान के भेद से रूपस्कन्ध दो प्रकार का होता है। सुख-दु ख, असुख और अदु ख रूप वेदन (अनुभव) करने के स्वभाव वाले धर्म का एकत्रित होना वेदनास्कन्ध है। विभिन्न सज्ञाओ के कारण वस्तुविशेष को पहचानने के लक्षण वाला स्कन्ध सज्ञास्कन्ध है, पुण्य-पाप आदि धर्म-राशि के लक्षण वाला स्कन्ध संस्कार-स्कन्ध कहलाता है। जो जानने के लक्षण वाला है, उस रूपविज्ञान, रसविज्ञान आदि विज्ञान समुदाय को विज्ञानस्कन्ध कहते हैं।[४७]

इन पाँचो स्कन्धो से भिन्न या अभिन्न सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष, ज्ञानादि का आधारभूत आत्मा नाम का कोई पदार्थ नही है। इन पचस्कन्धो से भिन्न आत्मा का न तो प्रत्यक्ष अनुभव होता है, न ही

---

४७ (क) सूत्रकृताग शीलाक वृत्ति पत्राक २५ के आधार पर

(ख) १ पच खन्धा—रूपक्खन्धो, वेदनाक्खधो, सञ्ञाक्खधो, सखारक्खधो, विञ्ञाणक्खधो ति। तत्थ य किंचि सीतादि हि रूप्पनलक्खण धम्मजात, सब्ब त एकतो कत्वा रूपक्खधो ति वेदितब्ब। ...
य किंचि वेदयति लक्खण 'वेदनाक्खधो वेदितब्बो। य किंचि सजानननक्खण ' सञ्ञक्खधो वेदितब्बो।

—विसुद्धिमग्ग खन्धनिद्देस पृ ३०९

२ पञ्चिमे, भिक्खवे, उपादानक्खधा। कतमे पञ्च ? रूपुपादानक्खधो, वेदनुपादानक्खधो, सञ्ञुपादानक्खधो, सङ्खारूपादानक्खधो, विञ्ञाणुपादानक्खधो। इमे खो, भिक्खवे, पचुपादानक्खधा।

—सुत्तपिटके अगुत्तरनिकाय, पालि भा ४ पृ. १९२

आत्मा के साथ अविनाभावी सम्बन्ध रखने वाला कोई लिंग भी गृहीत होता है, जिससे कि आत्मा अनुमान द्वारा जाना जा सके। प्रत्यक्ष और अनुमान, ये दो ही बौद्धसम्मत प्रमाण है।

इस प्रकार बौद्ध प्रतिपादन करते है।[५८] फिर वे कहते हैं—ये पाँचो स्कन्ध क्षणयोगी है, अर्थात् ये स्कध न तो कूटस्थनित्य हैं, और न ही कालान्तर स्थायी है, ये सिर्फ क्षणमात्र स्थायी है। दूसरे क्षण ही समूल नष्ट हो जाते है। परमसूक्ष्म काल 'क्षण' कहलाता है। स्कन्धो के क्षणिकत्व को सिद्ध करने के लिए वे अनुमान प्रयोग करते है—स्कन्ध क्षणिक है, क्योकि वे सत् है। जो जो सत् होता है, वह-वह क्षणिक होता है, जैसे मेघमाला। मेघमाला क्षणिक है, क्योकि वह सत् है। उसी प्रकार सभी सत् पदार्थ क्षणिक है।

सत् का लक्षण अर्थक्रियाकारित्व है।[५९] सत् मे स्थायित्व या नित्यत्व घटित नही होता, क्योकि नित्य पदार्थ अर्थक्रिया नही कर सकता, इसलिए सत् मे क्षणिकत्व ही घटित होता है। नित्य पदार्थ मे क्रम से या युगपद् (एक साथ) अर्थक्रिया नही हो सकती, इसलिए सभी पदार्थों को अनित्य माना जाए तो उनकी क्षणिकता अनायास ही सिद्ध हो सकती है, और पदार्थो की उत्पत्ति ही उसके विनाश का कारण है, जो पदार्थ उत्पन्न होते ही नष्ट नही होता, वह बाद मे कभी नष्ट नही होगा।[६०] अत सिद्ध हुआ कि पदार्थ अपने स्वभाव से अनित्य क्षणिक है, नित्य नही।

'अण्णो अणण्णो' 'हेउयं अहेउयं'—पदो का आशय—वृत्तिकार ने इन चारो पदो का रहस्य खोलते हुए कहा है कि जिस प्रकार आत्मषष्ठवादी साख्य पचभूतो से भिन्न आत्मा को मानते है, या जिस प्रकार पचमहाभूतवादी या तज्जीव-तच्छरीरवादी पचभूतो से अभिन्न आत्मा को मानते है, उस प्रकार ये बौद्ध न तो पचभूतो से भिन्न आत्मा को मानते है, न ही पचभूतो मे अभिन्न आत्मा को। इसी प्रकार बौद्ध आत्मा को न तो सहेतुक (शरीर रूप मे परिणत पचभूतो मे उत्पन्न) मानते है, और न ही अहेतुक (बिना किसी कारण से आदि-अन्तरहित नित्य) आत्मा को मानते है, चूर्णिकार भी इसी से सहमत है—इसका उल्लेख उनके द्वारा मान्य ग्रन्थ सुत्तपिटक के दीघनिकायान्तर्गत महालिसुत्त और जालियसुत्त मे मिलता है।[६१]

चातुर्धातुकवाद क्षणिकवाद का दूसरा रूप

१८वी गाथा मे क्षणिकवाद के दूसरे रूप चातुर्धातुकवाद का शास्त्रकार ने निरूपण किया है। यह मान्यता भी वृत्तिकार के अनुसार कतिपय बौद्धो की है। चातुर्धातुकवाद का स्वरूप सुत्तपिटक के मज्झिम निकाय के अनुसार इस प्रकार है—

---

५८ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक २५-२६

५९ 'अर्थक्रिया समर्थं यत् तदत्र परमार्थ सत्' —प्रमाणवार्तिक

६० क्रमेण युगपच्चापि जस्मादर्थक्रिया कृता।
न भवन्ति स्थिरा भावा नि सत्त्वास्ततो मता। —तत्त्वसग्रह

६१ (क) सूत्रकृ शीला वृ पत्राक २६
(ख) ' अह खो पनेत, आवुसो, एव जानामि, एव पस्सामि, अथ च पनाह न वदामि त जीव त सरीर ति वा अञ्ञ जीव अञ्ञ सरीर ति वा।''
—सुत्तपिटके दीघनिकाय भा. पृ. १६६
(ग) केचिदन्य शरीरादिच्छन्ति, केचिदनन्यम् शाक्यास्तु केचिद् नैवान्यम्, नैवाप्यनन्यम्।
—चूर्णि मू पा टिप्पण पृ. ४

चार धातु हैं—(१) पृथ्वी धातु, (२) जल धातु, (३) तेज धातु और (४) वायु धातु। ये चारों पदार्थ जगत् को धारण-पोषण करते हैं, इसलिए धातु कहलाते हैं। ये चारो धातु जब एकाकार होकर भूतसंज्ञक रूपस्कन्ध बन जाते है, शरीर रूप मे परिणत हो जाते हैं, तब इनकी जीवसज्ञा (आत्मा सज्ञा) होती है। जैसा कि वे कहते है—"यह शरीर चार धातुओं से बना है, इन चार धातुओ से भिन्न आत्मा नही है।" यह भूतसज्ञक रूपस्कन्धमय होने के कारण पचस्कन्धो की तरह क्षणिक है। अत. चातुर्धातुकवाद भी क्षणिकवाद का ही एक रूप है।

'जाणगा' शब्द का अर्थ है—वे बौद्ध, जो अपने आपको बडे जानकार या ज्ञानी कहते है। कहीं-कही **'जाणगा'** के बदले पाठान्तर है—**'यावरे'** (य+अवरे) उसका अर्थ होता है—'और दूसरे'।[६२]

ये सभी अफलवादी—वृत्तिकार का कहना है कि ये सभी बौद्धमतवादी अथवा साख्य, बौद्ध, आदि सभी पूर्वोक्त मतवादी अफलवादी हैं। बौद्धो के क्षणिकवाद के अनुसार पदार्थ मात्र, आत्मा या दान आदि सभी क्रियाएँ क्षणिक है। इसलिए क्रिया करने के क्षण मे ही कर्ता--आत्मा का समूल विनाश हो जाता है। अत आत्मा का क्रिया-फल के साथ कोई सम्बन्ध नही रहता। जब फल के समय तक आत्मा भी नही रहती, क्रिया भी उसी क्षण नष्ट हो गई, तब ऐहिक और पारलौकिक क्रियाफल को कौन भोगेगा ?

साख्यमतानुसार एकान्त अविकारी, निष्क्रिय (क्रियारहित) एव कूटस्थनित्य आत्मा मे कर्तृत्व या फलभोक्तृत्व ही सिद्ध नही होता। सदा एक-से रहने वाले कूटस्थ नित्य, सर्वप्रपचरहित, सर्वदा उदासीन आत्मा मे किसी प्रकार की कृति नही होती। कृति के अभाव मे कर्तृत्व भी नही होता और कर्तृत्व के अभाव मे क्रिया का सम्पादन असम्भव है। ऐसी स्थिति मे वह (आत्मा) फलोपभोग कैसे कर सकता है ?

जिनके मत मे पचस्कन्धो या पचभूतों से भिन्न आत्मा नामक कोई पदार्थ नही है, उनके मतानुसार आत्मा (फलभोक्ता) ही न होने से सुख-दु खादि फलो का उपभोग कौन और कैसे करेगा ? विज्ञान स्कन्ध भी क्षणिक है, ज्ञानक्षण अति सूक्ष्म होने के कारण उसके द्वारा भी सुख-दु खानुभव नही हो सकता।

जब आत्मा ही नही है, तो बन्ध-मोक्ष, जन्म-मरण, स्वर्ग-नरकगमन आदि की व्यवस्था भी गडबडा जाएगी। मोक्षव्यवस्था के अभाव मे इन महाबुद्धिमानो की शास्त्र-विहित सभी प्रवृत्तियाँ निरर्थक हो जाएँगी।[६३]

---

६२ (क) " "पुन च पर, भिक्खवे, भिक्खु, इममेव काय यथाठित, यथापणिहित धातुसो पच्चवेक्खति—अत्थि इमस्मि काये पथवी धातु, आपोधातु, तेजोधातु, वायुधातु ति।"

—सुत्तपिटके मज्झिमनिकाय पालि भा० ३, पृ० १५३

(ख) "···· तत्थ भूतरूप चतुब्बिधं—पथवीधातु, आपोधातु, तेजोधातु, वायोधातु ति"

—विसुद्धिमग्ग खधनिद्देस पृ० ३०९

(ग) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्रांक २६-२७

६३ सूत्रकृतांग वृत्ति पत्रांक २६ के आधार पर

एकान्त क्षणिकवाद मानने से जो क्रिया करता है, और जो उसका फल भोगता है, इन दोनों के बीच काफी अन्तर होने से कृतनाश और अकृतागम ये दोनो दोष आते हैं, क्योंकि जिस आत्मक्षण ने क्रिया की, वह तत्काल नष्ट हो गया, इसलिए फल न भोग सका, यह कृतनाश दोष हुआ, और जिसने क्रिया नही की, वह फल भोगता है, इसलिए अकृतागम दोष हुआ । ज्ञान सतान भी क्षणिक होने से उसके साथ भी ये दोष आ जायेंगे ।[६४]

अनेकान्त दृष्टि से आत्मा एवं पदार्थों का स्वरूप निर्णय

पदार्थों की समीचीन व्यवस्था के लिए प्रागभाव, प्रध्वसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव, यो चार प्रकार के अभाव को मानना आवश्यक है । इसलिए क्षणभगवाद निरूपित वस्तु का सर्वथा अभाव कथमपि सगत नही है, प्रध्वसाभाव के अनुसार वस्तु का पर्याय (अवस्था) परिवर्तन मानना ही उचित है । ऐसी स्थिति मे वस्तु परिणामी-नित्य सिद्ध होगी ।

जैन दृष्टि से आत्मा भी परिणामी नित्य, ज्ञान का आधार, दूसरे भवो मे जाने-आने वाला, पच भूतो से या शरीर से कथचित् भिन्न तथा शरीर के साथ रहने से शरीर से कथचित् अभिन्न है । वह आत्मा कर्मों के द्वारा नरकादि गतियो मे विभिन्न रूपो मे बदलता रहता है, इसलिए वह अनित्य और अहेतुक भी है, तथा आत्मा के निजस्वरूप का कदापि नाश न होने के कारण वह नित्य और अहेतुक भी है । इस प्रकार मानने से कर्ता को क्रिया का सुख-दु खादिरूप फल भी प्राप्त होगा, बन्ध-मोक्षादि व्यवस्था भी बैठ जाएगी ।[६५]

सांख्यादिमत-निस्सारता एवं फलश्रुति

१९. अगारमावसंता वि, आरण्णा वा वि पव्वया ।
इम दरिसणमावन्ना सव्वदुक्खा विमुच्चती ॥ १९ ॥

२०. ते णावि संधि णच्चा ण, न ते धम्मविऊ जणा ।
जे ते उ वाइणो एव, ण ते ओहंतराऽऽहिता ॥ २० ॥

२१. ते णावि संधि णच्चा ण, न ते धम्मविऊ जणा ।
जे ते उ वाइणो एव, ण ते ससारपारगा ॥ २१ ॥

२२. ते णावि संधि णच्चा ण, न ते धम्मविऊ जणा ।
जे ते ऊ वाइणो एवं, ण ते गब्भस्स पारगा ॥ २२ ॥

२३. ते णावि संधि णच्चा, ण न ते धम्मविऊ जणा ।
जे ते उ वाइणो एवं, न ते जम्मस्स पारगा ॥ २३ ॥

---

६४ सूत्रकृताग वृत्ति पत्राक २६-२७ के आधार पर

६५ सूत्रकृताग वृत्ति पत्राक २७-२८ के अनुसार

२४. ते णावि संधिं णच्चा णं, न ते धम्मविऊ जणा ।
जे ते उ वाइणो एवं, न ते दुक्खस्स पारगा ।। २४ ।।

२५. ते णावि संधि णच्चा णं, न ते धम्मविऊ जणा ।
जे ते उ वाविणो एवं, न ते मारस्स पारगा ।। २५ ।।

२६. णाणाविहाइं दुक्खाइं, अणुभवंति पुणो पुणो ।
संसारचक्कवालम्मि, वाहि-मच्चु-जराकुले ।। २६ ।।

२७. उच्चावयाणि गच्छंता, गब्भमेस्संतऽणंतसो ।
नायपुत्ते महावीरे, एवमाह जिणोत्तमे ।। २७ ।। त्ति बेमि ।।

१९. घर मे रहने वाले (गृहस्थ), तथा वन मे रहने वाले तापस एव प्रव्रज्या धारण किये हुए मुनि अथवा पार्वत—पर्वत की गुफाओ मे रहने वाले (जो कोई) भी (मेरे) इस दर्शन को प्राप्त (स्वीकार) कर लेते हैं, (वे) सब दु खो से मुक्त हो जाते है ।

२० वे (पूर्वोक्त मतवादी अन्यदर्शनी) न तो सन्धि को जानकर (क्रिया मे प्रवृत्त होते हैं,) और न ही वे लोग धर्मवेत्ता हैं । इस प्रकार के (पूर्वोक्त अफलवाद के समर्थक) वे जो मतवादी (अन्य-दर्शनी) है, उन्हे (तीर्थंकर ने) ससार (जन्म-मरण की परम्परा) को तैरने वाले नही कहे ।

२१ वे (अन्यतैर्थिक) सन्धि को जाने बिना ही (क्रिया मे प्रवृत्त होते हैं,) तथा वे धर्मज्ञ नही है । इस प्रकार के जो वादी है (पूर्वोक्त सिद्धान्तो को मानने वाले) हैं, वे (अन्यतीर्थी) चातुर्गतिक ससार (समुद्र) के परगामी नही हैं ।

२२ वे (अन्य मतावलम्बी) न नो सन्धि को जानकर (क्रिया मे प्रवृत्त होते हैं), और न ही वे लोग धर्म के ज्ञाता है । इस प्रकार के जो वादी (पूर्वोक्त मिथ्या सिद्धान्तो को मानने वाले) है, वे गर्भ (मे आगमन) को पार नही कर सकते ।

२३ वे (अन्य मतवादी) न तो सन्धि को जानकर ही (क्रिया मे प्रवृत्त होते हैं), और न ही वे धर्म के तत्त्वज्ञ हैं । जो मनवादी (पूर्वोक्त मिथ्यावादो के प्ररूपक हैं, वे जन्म (परम्परा) को पार नही कर सकते ।

२४. वे (अन्य मतवादी) न तो सन्धि को जानकर (क्रिया मे प्रवृत्ति करते है), और न ही वे धर्म का रहस्य जानते हैं । इस प्रकार के जो वादी (मिथ्यामत के शिकार) हैं, वे दु ख (—सागर) को पार नही कर सकते ।

२५. वे अन्यतीर्थी सन्धि को जाने बिना ही (क्रिया मे प्रवृत्त हो जाते हैं), वे धर्म मर्मज्ञ नही है । अत. जो (पूर्वोक्त प्रकार से मिथ्या प्ररूपणा करने वाले) वादी हैं, वे मृत्यु को पार नही कर सकते ।

२६. वे (मिथ्यात्वग्रस्त अन्य मतवादी) मृत्यु, व्याधि और वृद्धावस्था से पूर्ण (इस) संसाररूपी चक्र में बार-बार नाना प्रकार के दु खो का अनुभव करते हैं—दु ख भोगते हैं ।

२७ ज्ञातपुत्र जिनोत्तम श्री महावीर स्वामी ने यह कहा कि वे (पूर्वोक्त अफलवादी अन्य-तीर्थी) उच्च-नीच गतियो मे भ्रमण करते हुए अनन्त बार (माता के) गर्भ मे आएँगे ।

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

विवेचन—अन्य दर्शनियो का अपना-अपना मताग्रह—१९वी गाथा मे शास्त्रकार ने अन्य मतवादियो के द्वारा लोगो को अपने मत-पथ की ओर खीचने की मनोवृत्ति का नमूना दिखाया है—वे सभी मतवादी यही कहते है—चाहे तुम गृहस्थ हो, चाहे आरण्यक या पर्वतीय तापस या योगी हो, चाहे प्रव्रजित हो, हमारे माने हुए या प्रवर्तित दर्शन या वाद को स्वीकार कर लोगे तो समस्त शारीरिक, मानसिक या आधिभौतिक, आधिदैविक एव आध्यात्मिक दु खो मे मुक्त हो जाओगे, अथवा जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि, गर्भावास आदि के दु खो से छुटकारा पा जाओगे । अथवा कठोर तप करके अपने शरीर को सुखा देना, सयम और त्याग की कठोरचर्या अपनाना, शिरोमुण्डन, केशलुञ्चन, पैदल विचरण, नग्न रहना या सीमित वस्त्र रखकर सर्दी-गर्मी आदि परीषह सहना, जटा, मृगचर्म, दण्ड, काषायवस्त्र आदि धारण करना ये सब शारीरिक क्लेश दु खरूप है, हमारा दर्शन या मत स्वीकार करने पर इन शारीरिक कष्टो से छुटकारा मिल जाएगा ।[६६]

गार्हस्थ्य-प्रपचो मे रचे-पचे रहते हुए हिसा, झूठ, चोरी आदि दोषो से सर्वथा मुक्त न हो सकने वाले व्यक्ति को भी ये सभी दार्शनिक कर्मबन्धन से मुक्त होने के लिए हिंसादि आस्रवो, मिथ्यात्व, प्रमाद, कषाय आदि का त्याग या यथाशक्ति तप, व्रत, नियम, सयम करने के बदले सिर्फ अपने मत या दर्शन को स्वीकार करने का सस्ता, सरल और सीधा मार्ग बतला देते थे ।

वनवासी तापस, पर्वतनिवासी योगी या परिव्राजक, जो परिवार, समाज और राष्ट्र के दायित्वो से हटकर एकान्त साधना करते थे, या उन्हे नैतिक, धार्मिक मार्गदर्शन देने से दूर रहते थे, उनके लिए भी वे दार्शनिक यही कहते थे कि हमारे दर्शन का स्वीकार करने से झटपट मुक्ति हो जाएगी, इसमे तुम्हे कुछ त्याग, तप आदि करने की कोई जरूरत नही । दूसरो को आकर्षित करने की मनोवृत्ति का चित्रण करते हुए कहा है—

तपांसि यातनाश्चित्रा· सयमो भोगवञ्चनम् ।
अग्निहोत्रादिक कर्म बालक्रीडेव लक्ष्यते ।।

—विविध प्रकार के तप करना शरीर को व्यर्थ यातना देना है, सयम धारण करना अपने आपको भोग से वचित करना है और अग्निहोत्र आदि कर्म तो बच्चो के खेल के समान मालूम होते है ।[६७]

---

६६ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक २८

(ख) सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० १२५ के अनुसार

(ग) 'पव्वए' के बदले कही-कही 'पव्वइया' पाठान्तर है, उसका अर्थ होता है—'प्रव्रजिता' प्रव्रज्या धारण किये हुए । पव्वया के दो अर्थ किये गए हैं—पव्वया—प्रव्रजिता, प्रव्रज्या धारण किये हुए, अथवा पव्वया—पार्वता—पर्वत मे रहने वाले ।　　　—सूत्रकृ० समयार्थबोधिनी टीका पृ० २३२

६७. (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक २८ के आधार पर

(ख) सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० १२६ के आधार पर

सर्वदुःखों से विमुक्त होने का मार्ग यह या वह ?

'सव्वदुक्खा विमुच्चइ' इस पक्ति के पीछे शास्त्रकार का यह भी गर्भित आशय प्रतीत होता है कि पचभूतात्मवादी से लेकर चातुर्धातुकवादी (क्षणिकवादी) तक के सभी दर्शनकार जो सर्वदु खो से मुक्ति का आश्वासन देते है, क्या यही दु ख-मुक्ति का यथार्थ मार्ग है ? या श्रमण भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र एव तप के द्वारा कर्मक्षय करके मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग, इन कर्मबन्ध के कारणो से दूर रहना सर्वदु खमुक्ति का मार्ग है ? इस प्रकार का विवेक प्रत्येक साधक स्वय करे। सबसे बडा दु ख तो जन्म-मरण का है, वह कर्मबन्धन के मिटने से ही दूर हो सकता है, कर्मबन्धन तोडने का यथार्थ मार्ग मिथ्यात्वादि पाच आस्रवो से दूर रहना और रत्नत्रय की साधना करना है।

ये सब दार्शनिक स्वयं दु खमुक्त नहीं

पूर्वगाथा मे समस्त अन्य दर्शनियो द्वारा अपने दर्शन को अपना लेने से दु खमुक्त हो जाने के झूठे आश्वासन का उल्लेख किया गया था, २०वी गाथा से लेकर २६वी गाथा नक शास्त्रकार प्राय एक ही बात को कई प्रकार से दोहराकर कहते है, वे दार्शनिक दु ख के मूल स्रोत जन्म, जरा, मृत्यु, व्याधि, चतुर्गतिरूप ससारचक्र, गर्भ मे पुन -पुन आगमन तथा अन्य तज्ञान-मोहादिजनित कष्टो आदि को स्वय पार नही कर पाते, तो दूसरो को दु खो से मुक्त कैसे करेंगे ? ये स्वय दु खमुक्त नही हो पाते, इसके मूल दो कारण शास्त्रकार ने बताये है-

(१) सधि को जाने बिना ही क्रिया मे प्रवृत्त हो जाते हैं,

(२) वे धर्मतत्त्व मे अनभिज्ञ हैं। यही कारण है कि शास्त्रकार ने उन सब दार्शनिको के लिए छह गाथाओ के द्वारा यही बात अभिव्यक्त की है।

इसी बात को विशेष स्पष्ट करने के लिए शास्त्रकार २६वी गाथा मे कहते है—**'नाणाविहाइं दुक्खाइं, अणुभवंति पुणो पुणो'**—अर्थात् वे विभिन्न मतवादी पूर्वोक्त नाना प्रकार के दु खो को बार-बार भोगते है। इसका तात्पर्य यह है कि जब तक जीवन मे मिथ्यात्व, हिसादि मे अविरति, प्रमाद, कषाय और योग रहेगा, तब तक चाहे वह पर्वत पर चला जाए, घोर वन मे जाकर ध्यान लगा ले, अनेक प्रकार के कठोर तप भी कर ले अथवा विविध क्रियाकाण्ड भी कर ले तो भी वह जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि, गर्भवासरूप ससारचक्र-परिभ्रमण के महादु खों को सर्वथा समाप्त नही कर सकता।[६८]

'ते णावि संधिं णच्चा'—इस पक्ति मे **'ते'** शब्द उन लोगो के लिए प्रयुक्त किया गया है, जिनके मिथ्यावादो (मतो) के सम्बन्ध मे शास्त्रकार पूर्वगाथाओ मे कह आए हैं। वे ससार परिभ्रमणादि दु खो को समाप्त नही कर पाते, इसके दो कारणो मे से प्रथम महत्त्वपूर्ण कारण है—सधि की अनभिज्ञता। इस पक्ति में सधि शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्राकृत शब्दकोष के अनुसार सन्धि के यहाँ प्रसगवश मुख्यतया ६ अर्थ होते है[६९]

(१) संयोग, (२) जोड या मेल,
(३) उत्तरोत्तर पदार्थ-परिज्ञान, (४) मत या अभिप्राय,
(५) अवसर, तथा (६) विवर-छिद्र।

६८ (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्राक २८ के अनुसार

६९ पाइअ-सद्द-महण्णवो पृष्ठ ८४२

इन अर्थों के सन्दर्भ मे इस पक्ति की व्याख्या इस प्रकार समझना चाहिए—

(१) आत्मा के साथ कर्म का कहाँ-कहाँ कैसे-कैसे सयोग, जोड या मेल है ?

(२) आत्मा के साथ कर्मबन्धन की सन्धि कहाँ-कहाँ, और कैसे-कैसे किन कारणो से हो जाती है।

(३) आत्मा कैसे/किस प्रकार कर्मबन्धन से रहित हो सकता है, इस सिद्धान्त, मत या अभिप्राय को वे नही जान पाते।

(४) उत्तरोत्तर अधिक पदार्थों (तत्त्वभूत पदार्थों) को वे नही जानते।

(५) वे ज्ञानावरणीय आदि अष्टविध कर्मों का विवर (रहस्य) नही जानते। अथवा आत्मा को कर्मबन्धन से मुक्ति का अवसर कैसे मिल सकता है ? इस तथ्य को वे नही जानते। इस प्रकार सधि को जाने बिना ही वे (पूर्वोक्त) मतवादी क्रिया मे प्रवृत्त होते है।[७०]

'ण ते धम्मविऊ जणा'—समारपरिभ्रमणादि दु खो से मुक्त न होने का दूसरा प्रबल कारण है—उनका धर्मविषयक अज्ञान। जब वे आत्मा को ही नही मानते, या मानते है ता उमे कूटस्थनित्य, निष्क्रिय, या शरीर या पचभूतो या चतुर्धातुओ तक ही सीमित, अथवा पचस्कन्धात्मक क्षणजीवी मानते हैं, तब वे आत्मा के धर्म को उसके ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सुख और वीर्य आदि निजी गुणो को- स्वभाव को कैसे जान पाएँगे ? वे तो हिसादि पापकर्मों को ही आत्मा का स्वाभाविक धर्म समझे बैठे हैं, अथवा आत्मा को जान-मानकर भी वे उसके साथ सलग्न होने वाले कर्मबन्ध को तोडकर आत्मा को उसके निजी धर्म मे रमण नही करा पाते। कदाचित् वे शुभकर्मजनित पुण्यवश स्वर्ग पा सकते है, परन्तु जन्म-मरणादि दु खो से सर्वथा मुक्ति नही पा सकते, न ही उसके लिए तीर्थंकरो द्वारा आचरित प्ररूपित एव अनुभूत सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप रूप धर्म की आराधना-साधना करते है। वे इस धर्म के ज्ञान और आचरण से कोसो दूर है।

उच्चावयाणि गच्छता गब्भमेस्सति पुणो पुणो—यह भविष्यवाणी वीतराग सर्वज्ञ तीर्थकर महावीर द्वारा उन्ही पूर्वोक्त वादियो के लिए की गई है। विश्वहितकर राग-द्वेष मुक्त, सर्वज्ञ नि स्पृह महापुरुष किसी के प्रति रोष, द्वेष, वैर, घृणा आदि से प्रेरित होकर कोई वचन नही निकालते, उन्होने अपने ज्ञान मे पूर्वोक्त वाद की प्ररूपणा करने वाला जैसा अन्धकारमय भविष्य देखा, वैसा व्यक्त कर दिया। उन्होने उनके लिए **उच्चावयाणि गच्छता**—उच्च नीच गतियो मे भटकने की बात कही, उसके पीछे रहस्य यह है कि एक तो वे स्वय उक्त मिथ्यावादो के कदाग्रहरूप मिथ्यात्व से ग्रस्त है, फिर वे हजारो-लाखो जनसमुदाय के समक्ष मुक्ति—सर्वदु खमुक्ति का प्रलोभन देकर उन्हे भी मिथ्यात्वविष का पान कराते है, तब भला वे घोर मिथ्यात्व के प्रचारक इतने कठोर प्रायश्चित् के बिना कैसे छुटकारा पा सकते है ? फिर भी अगर वे गोशालक की तरह बीच मे ही सँभल जाएँ, अपनी भूल सुधार ले तो कम से कम दण्ड से भी छुट्टी मिल सकती है। परन्तु मिथ्यात्व के गाढतम अन्धकार मे ही वे लिपटे रहे, सम्यग्दर्शन और सम्यक्ज्ञान प्राप्त करने की उनमे जिज्ञासा भी न हो तो चारो गतियो के दु खो को भोगना ही पडेगा, अनन्त बार गर्भ मे आना ही पडेगा।[७१]

इस प्रकार गणधर श्री सुधर्मास्वामी ने अपने शिष्य श्री जम्बूस्वामी से तीर्थंकर भगवान् महावीर से साक्षात सुना हुआ वर्णन किया है।

□

७० सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक २९ के आधार पर

७१ वही, पत्राक २९

बिइओ उद्देसओ

द्वितीय उद्देशक

नियतिवाद-स्वरूप

२८. आघायं पुण एगेसिं, उववन्ना पुढो जिया ।
वेदयंति सुहं दुक्खं, अदुवा लुप्पंति ठाणओ ॥१॥

२९. न तं सयंकडं दुक्खं, कओ अन्नकडं च णं ।
सुहं वा जइ वा दुक्खं, सेहियं वा असेहियं ॥२॥

३०. न सयं कडं ण अन्नेहिं, वेदयन्ति पुढो जिया ।
संगतियं तं तहा तेसिं इहमेगेसिमाहियं ॥३॥

३१. एवमेताइं जंपता, बाला पंडियमाणिणो ।
णियया-ऽणिययं संतं, अजाणंता अबुद्धिया ॥४॥

३२. एवमेगे उ पासत्था, ते भुज्जो विप्पगब्भिया ।
एवं उवट्ठिता संता, ण ते दुक्खविमोक्खया ॥५॥

२८ पुन किन्ही मतवादियो का कहना है कि (ससार मे) सभी जीव पृथक्-पृथक् है, यह युक्ति से सिद्ध होता है। तथा वे (जीव पृथक्-पृथक् ही) सुख-दु ख भोगते है, अथवा अपने स्थान से अन्यत्र जाते है--अर्थात्--एक शरीर को छोडकर दूसरे शरीर मे जाते हैं।

२९-३० वह दु ख (जब) स्वय द्वारा किया हुआ नही है, तो दूसरे का किया हुआ भी कैसे हो सकता है ? वह सुख या दु ख, चाहे सिद्धि से उत्पन्न हुआ हो अथवा सिद्धि के अभाव से उत्पन्न हुआ हो, जिसे जीव पृथक्-पृथक् भोगते हैं, वह न तो उनका स्वय का किया हुआ है और न दूसरे के द्वारा किया हुआ है, उनका वह (सुख या दु ख) सागतिक = नियतिकृत है ऐसा इस दार्शनिक जगत् मे किन्ही (नियतिवादियो) का कथन है ।[1]

३१ इस (पूर्वोक्त) प्रकार से इन (नियतिवाद की) बातो को कहनेवाले (नियतिवादी) स्वय अज्ञानी (वस्तुतत्त्व से अनभिज्ञ) होते हुए भी अपने आपको पण्डित मानते है, (क्योकि सुख-दु.ख आदि)

१ 'मक्खलिपुत्तगोसालक' नियतिवाद का मूल पुरस्कर्ता और आजीवक सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक था, परन्तु प्रस्तुत गाथाओ मे कही भी गोशालक या आजीवक का नाम नही आया। हाँ, द्वितीय श्रुतस्कन्ध मे नियति और सगति शब्द का (सू० ६६३-६५) उल्लेख है। उपासकदशाग के ७वें अध्ययन मे गोशालक और उसके मत का सद्दालपुत्त और कुण्डकोलिय प्रकरण मे स्पष्ट उल्लेख है कि गोशालक मतानुसार उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषार्थ आदि कुछ भी नही है। सब भाव सदा से नियत हैं। बौद्ध-ग्रन्थ दीघनिकाय, सयुत्त निकाय, आदि मे तथा जैनागम व्याख्याप्रज्ञप्ति, स्थानाग, समवायाग, औपपातिक आदि मे भी आजीवक मत-प्रवर्त्तक नियतवादी गोशालक का (नामपूर्वक या नामरहित) वर्णन उपलब्ध है।

--जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भा० २, पृ० १३८

नियत (नियतिकृत) और अनियत (अनियतिकृत) दोनो ही प्रकार के होते है, परन्तु बुद्धिहीन (नियतिवादी) इसे नही जानने ।

३२ इस प्रकार कई (नियतिवाद से ही) पास मे रहने वाले, (पार्श्वस्थ) अथवा कर्मपाश (कर्मबन्धन) मे जकडे हुए (पाशस्थ) कहते है । वे बार-बार नियति को ही (सुख-दु खादि का) कर्ता कहने की धृष्टता करते है । इस प्रकार (अपने सिद्धान्तानुसार पारलौकिक क्रिया मे) उपस्थित होने पर भी वे (स्वय को) दु ख से मुक्त नही कर सकते ।

विवेचन—नियतिवाद के गुण-दोष—यहाँ २८वी गाथा से ३२वी गाथा तक नियतिवाद के मन्तव्य का और मिथ्या होने का विश्लेषण किया गया है । नियतिवाद की मान्यता यहाँ तक तो ठीक है कि जगत् मे सभी जीवो का अपना अलग-अलग अस्तित्व है । यह तथ्य प्रत्यक्ष और अनुमान आदि प्रमाणो और युक्तियो द्वारा सिद्ध है । क्योकि जब तक आत्मा पृथक्-पृथक् नही मानी जायेगी, तब तक जीव अपने द्वारा कृत कर्मबन्ध के फलस्वरूप प्राप्त होने वाला सुख-दु ख नही भोग सकेगा और न ही सुख-दु ख भोगने के लिए एक शरीर, एक गति तथा एक योनि को छोडकर दूसरे शरीर, दूसरी गति तथा योनि को प्राप्त कर सकेगा । जीवो की पृथक्-पृथक् सत्ता मानने पर ही यह सब बाते घटित हो सकती हैं । प्रत्यक्ष और अनुमान के अतिरिक्त इस युक्ति से भी जीव पृथक्-पृथक् इसलिए सिद्ध है कि ससार मे कोई सुखी, कोई दु खी, कोई धनी, कोई निर्धन आदि विभिन्नताएँ देखी जाती है । प्रत्येक प्राणी को होने वाले न्यूनाधिक सुख-दु ख के अनुभव को हम झुठला नही सकते, तथा आयुष्य पूर्ण होने ही वर्तमान शरीर को यही छोडकर दूसरे भव मे प्राणी चले जाते है, कई व्यक्तियो को अपने पूर्व जन्म का स्मरण हो जाता है, इस अनुभूति को भी मिथ्या नही कहा जा सकता । इस प्रकार प्रत्येक आत्मा का पृथक् अस्तित्व सिद्ध हो जाने पर पचभूतात्मवाद, एकात्मवाद, तज्जीवतच्छरीरवाद, पचस्कन्धवाद या चातुर्धातुवाद आदि वादो का खण्डन हो जाता है । इस अश मे नियतिवाद का कथन सत्य स्पर्शी है । परन्तु इससे आगे जब नियतिवादी यह कहते है कि प्राणियो के द्वारा भोगा जाने वाला सुख-दु ख आदि न तो स्व-कृत है, न पर-कृत है, वह एकान्त नियतिकृत ही है, तब उनका यह ऐकान्तिक कथन मिथ्या हो जाता है ।[२]

एकान्त नियतिवाद कितना सच्चा, कितना झूठा ?—बौद्धग्रन्थ दीघनिकाय के सामञ्जफलसुत्त मे आजीवकमत-प्रवर्तक मक्खलि गोशाल के नियतिवाद का उल्लेख इस प्रकार है—" सत्त्वो के क्लेश (दु ख) का हेतु प्रत्यय नही है । बिना हेतु और प्रत्यय के ही सत्त्व (प्राणी) क्लेश पाते है । बिना हेतु और प्रत्यय के सत्त्व शुद्ध होते है । न वे स्वय कुछ कर सकते है, और न पराये कुछ कर सकते हैं, (कोई) पुरुषार्थ (पुरुषकार) नही है, बल नही है, वीर्य नही है, पुरुष का साहस (स्थाम) नही है, और न पुरुष का कोई पराक्रम है । समस्त सत्त्व, समस्त प्राणी सभी भूत और सभी जीव अवश (लाचार) हैं, निर्बल है, निर्वीय है, नियति के सयोग से छह जातियो मे (उत्पन्न होकर) सुख-दु ख भोगते है ।" जिन्हें मूर्ख और पण्डित जानकर और अनुगमन कर दु खो का अन्त कर सकते है । वहाँ यह नही है कि इस

---

२ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक २९ के आधार पर

(ख) तुलना कीजिए— सन्तेके समण ब्राह्मणा एव वादिनो एव दिट्ठिनो—असयकार अपरकार अधिच्चसमुप्पन्न सुखदुक्ख अत्ता च लोक च । इदमेव सच्च मोघमञ्ञ ति । —सुत्तपिटके उदान नानातित्थिय सुत्त पृ १४६-१४७

शील, व्रत, तप या ब्रह्मचर्य से मैं अपरिपक्व कर्म को परिपक्व कर लूँगा, परिपक्व कर्म को भोगकर अन्त करूँगा। सुख और दुःख तो द्रोण (माप) से नपे-तुले (नियत) हैं, संसार में न्यूनाधिक या उत्कर्ष-अपकर्ष नहीं है। जैसे सूत की गोली फेंकने पर उछलती हुई गिरती है, वैसे ही मूर्ख और पण्डित दौड़कर आवागमन में पड़कर दुःख का अन्त करेंगे।[3]

संगतिअं—शास्त्रकार नियतिवाद या नियति का सीधा नाम न लेकर इसे सांगतिक (सातिय) बताते हैं। वृत्तिकार के अनुसार '**संगतिअं**' की व्याख्या इस प्रकार है—"सम्यक्—अर्थात् अपने परिणाम से जो गति है, उसे संगति कहते हैं। जिस जीव, को जिस समय, जहाँ, जिस सुख-दुःख का अनुभव करना होता है, वह संगति कहलाती है, वही नियति है। उस संगति = नियति से जो सुख-दुःख उत्पन्न होता है, उसे **सांगतिक** कहते हैं।

बौद्ध-ग्रन्थ दीघनिकाय में मक्खिल गोसाल के मत वर्णन में '... **नियतिसंगतिभावपरिणता**' शब्द का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। सूत्रकृतांग द्वितीय श्रुतस्कन्ध सूत्र ६६३-६५ में भी **नियति** और **संगति** दोनों शब्दों का यत्र-तत्र स्पष्ट उल्लेख है।

'शास्त्रवार्तासमुच्चय' में नियतिवाद का वर्णन करते हुए कहा गया है—'चूँकि संसार के सभी पदार्थ अपने-अपने नियत स्वरूप से उत्पन्न होते हैं, अतः ज्ञात हो जाता है कि ये सभी पदार्थ नियति से उत्पन्न हैं। यह समस्त चराचर जगत् नियति से बँधा हुआ है। जिसे, जिससे, जिस समय, जिस रूप में होना होता है, वह, उससे, उसी समय, उसी रूप में उत्पन्न होता है। इस तरह अबाधित प्रमाण से सिद्ध इस नियति की गति को कौन रोक सकता है? कौन इसका खण्डन कर सकता है?[4] साथ ही काल, स्वभाव, कर्म और पुरुषार्थ आदि के विरोध का भी वह युक्तिपूर्वक निराकरण करता है।[5]

---

३ (क) "मक्खलिगोसालो मं एतदवोच—नत्थि महाराज, हेतु, नत्थि पच्चयो सत्तानं संकिलेसाय। अहेतू अपच्चया सत्ता संकिलिस्सन्ति। नत्थि हेतु, नत्थि पच्चयो सत्तानं विसुद्धिया। अहेतू अपच्चया सत्ता विसुज्झन्ति। नत्थि अत्तकारे, नत्थि परकारे, नत्थि पुरिसकारे, नत्थि बलं, नत्थि वीरियं, नत्थि पुरिसथामो, नत्थि पुरिस-परक्कमो। सब्बे सत्ता, सब्बे पाणा, सब्बे भूता, सब्बे जीवा अवसा अबला, अविरिया नियतिसंगतिभावपरिणता, छस्वेवाभि-जातीसु सुखदुक्खं पटिसंवेदेन्ति।...यानि बाले च पण्डिते च सन्धावित्वा संसरित्वा दुक्खस्सन्तं करिस्सन्ति। तत्थ नत्थि इमिनाहं सीलेन वा वतेन वा तपेन वा ब्रह्मचरियेन वा अपरिपक्कं वा कम्मं परिपाचेस्सामि, परिपक्कं वा कम्मं फुस्स फुस्स ब्यन्तिं करिस्सामीति। हेवं नत्थि दोणमिते सुखदुक्खे परियन्तकते संसारे, नत्थि हायनवड्ढने, नत्थि उक्कसावकसे। सेय्यथापिनाम सुत्तगुले खित्ते निब्बेठियमानमेव पलेति एवमेव बाले च पण्डिते च सन्धावित्वा संसरित्वा दुक्खस्सन्तं करिस्सन्तीति।' '—सुत्तपिटके दीघनिकाये (पाली भाग १) सामञ्ञफलसुत्त पृ० ४१-५३।

४ नियतेनैव रूपेण, सर्वे भावा भवन्ति यत्।
ततो नियतिजा ह्येते, तत्स्वरूपानुबन्धतः॥
यद्यदेव यतो यावत् तत्तदेव ततस्तथा।
नियतं जायते न्यायात् क एनं बाधितुं क्षमः? —शास्त्रवार्तासमुच्चय

५ देखिये श्वेताश्वतरो० श्लोक २ में—काल: स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्।
संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः॥"

काल को त्रिकाल त्रिलोकव्यापी तथा विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का, यहाँ तक कि प्रत्येक कार्य, सुख-दु खादि का कारण मानने वाले कालवादियो का खण्डन करते हुए नियतिवादी कहते हैं—एक ही काल मे दो पुरुषो द्वारा किये जाने वाले एक सरीखे कार्य मे एक को सफलता और दूसरे को असफलता क्यो मिलती है ? एक ही काल मे एक को सुख और एक को दु ख क्यो मिलता है ? अत नियति को माने बिना कोई चारा नही।

स्वभाववादी सारे ससार को स्वभाव से निष्पन्न मानते है, वे कहते है -मिट्टी का ही घडा बनने का स्वभाव है, कपडा बनने का नही, सूत का ही कपडा बनने का स्वभाव है, घडा नही। इस तरह प्रति नियत कार्य-कारण भाव स्वभाव के बिना बन नही सकता। सभी पदार्थ स्वत परिणमन स्वभाव के कारण ही उत्पन्न होते है, इसमे नियति की क्या आवश्यकता है ? इन युक्तियो का खण्डन करते हुए नियतिवादी कहते है-- भिन्न-भिन्न प्राणियो का, इतना ही नही एक ही जाति के अथवा एक ही माता के उदर से जन्मे दो प्राणियो का पृथक्-पृथक् स्वभाव नियत करने का काम नियति के बिना हो नही सकता। नियतिवाद ही इस प्रकार का यथार्थ समाधान कर सकता है। फिर स्वभाव पुरुष से भिन्न न होने के कारण वह सुख-दु ख का कर्ता नही हो सकता।[६]

ईश्वर का या पुरुष का (स्वकृत) पुरुषार्थ भी सुख-दु ख कर्ता या जगत् के सभी पदाथो का कारण नही हो सकता। एक सरीखा पुरुषार्थ करने पर भी दो व्यक्तियो का कार्य एक-सा या सफल क्यो नही हो पाता ? अत इसमे भी नियति का ही साथ है। ईश्वर-कृतक पदार्थ मानने पर तो अनेक आपत्तियाँ आती है। अब रहा कर्म। कर्मवादी कहते हैं—किसान, वणिक आदि का एक सरीखा उद्योग होने पर भी उनके फल मे विभिन्नता या फल की अप्राप्ति पूर्वकृत शुभाशुभ कर्म के प्रभाव को सूचित करती है। इसका प्रतिवाद नियतिवादी यो करते है--"कर्म पुरुष से भिन्न नही होता, वह अभिन्न होता है, ऐसी स्थिति मे वह पुरुष रूप हो जायगा और पुरुष पूर्वोक्त युक्तियो से सुखदु खादि का कारण नही हो सकता। नियति ही एकमात्र ऐसी है, जो जगत् के समस्त पदार्थों की कारण हो सकती है।

इस प्रकार से एकान्त नियतिवाद का खण्डन करते हुए शास्त्रकार सूत्रगाथा ३१ द्वारा कहते है **णिययाऽणियय संत अजाणंता अबुद्धिया**- -इसका आशय यह हे कि वे मिथ्या प्ररूपणा करते हुए मुग्ध (हठाग्रही) एव पण्डितमानी नियतिवादी एकान्त-नियतिवाद को पकडे हुए है। वे इस बात को नही जानते कि ससार मे सुख-दु ख आदि सभी नियतिकृत नही होते, कुछ सुख-दु ख आदि नियतिकृत

---

६ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ३० के आधार पर

(ख) सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० १८३-५ के आधार पर

(ग) काल पचति भूतानि, काल सहरते प्रजा।
काल सुप्तेषु जागर्ति, कालो हि दुरतिक्रम ॥ हारीत स०

(घ) 'यदिन्द्रियाणा नियत प्रचार, प्रियाप्रियत्व विषयेषु चैव।
सुयुज्यते यज्जरयाऽर्तिभिश्च, कस्तत्र यत्नो ? न नु स स्वभाव ॥' बुद्ध चरित

(च) 'क कण्टकाना प्रकरोति तैक्ष्ण्य, विचित्रभाव मृगपक्षिणा च।
स्वभावत सर्वमिद प्रवृत्त न कामचारोऽस्ति, कुत प्रयत्न ?'
—सूत्र० टीका मे उद्धृत

होते हैं, क्योकि उन-उन सुख-दु खो के कारणरूप कर्म का अबाधाकाल समाप्त होने पर अवश्य उदय होता ही है, जैसे निकाचित कर्म का ।' परन्तु कई सुख-दु ख अनियत (नियतिकृत नही) होते हैं। वे पुरुष के उद्योग, काल, स्वभाव और कर्म द्वारा किये हुए होते है । ऐसी स्थिति मे अकेला नियति को कारण मानना अज्ञान है ।

आचार्य सिद्धसेन ने **'सन्मति तर्क'** मे बताया है कि काल, स्वभाव, नियति, अदृष्ट (कर्म) और पुरुषार्थ ये पच कारण समवाय है । इसके सम्बन्ध मे एकान्त कथन मिथ्या है और परस्पर सापेक्ष कथन ही सम्यक्त्व है ।[७]

जैन-दर्शन सुख-दु ख आदि को कथचित् पुरुषकृत उद्योग साध्य भी मानता है, क्योकि क्रिया से फलोत्पत्ति होती है और क्रिया उद्योगाधीन है। कही उद्योग की विभिन्नता फल की भिन्नता का कारण होती है, कही दो व्यक्तियो का एक सरीखा उद्योग होने पर भी किसी को फल नही मिलता, वह उसके अदृष्ट (कर्म) का फल है । इस प्रकार कथचित् अदृष्ट (कर्म) भी सुखादि का कारण है । जैसे—आम, कटहल, जामुन, अमरूद आदि वृक्षो मे विशिष्ट काल (समय) आने पर ही फल की उत्पत्ति होती है, सर्वथा नही । एक ही समय मे विभिन्न प्रकार की मिट्टियो मे बोये हुए बीज मे से एक मे अन्नादि उग जाता है, दूसरी ऊषर मिट्टी से नही उगते इस कारण स्वभाव को भी कथचित् कारण माना जाता है । आत्मा को उपयोग रूप तथा असख्य-प्रदेशी होना तथा पुद्गलो का मूर्त होना और धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय आदि का अमूर्त एव गति-स्थिति मे सहायक होना आदि सब स्वभावकृत है ।

इस प्रकार काल, स्वभाव, नियति अदृष्ट (कर्म) और पुरुषकृत पुरुषार्थ ये पाँचो कारण प्रत्येक कार्य या सुखादि मे परस्पर-सापेक्ष सिद्ध होते है, इस सत्य तथ्य को मानकर एकान्त रूप से सिर्फ नियति को मानना दोषयुक्त है, मिथ्या है ।

कठिन शब्दों की व्याख्या—**'लुप्पंति ठाणउ'**—अपनी आयु से अलग प्रच्युत हो जाते है, एक स्थान (शरीर) को छोडकर दूसरे स्थान (शरीर या भव) मे सक्रमण करते जाते है । **सेहियं-असेहियं**—ये दोनो विशेषण सुख के हैं । एक सुख तो सैद्धिक है और दूसरा है असैद्धिक । सिद्धि यानि मुक्ति मे जो सुख उत्पन्न हो, उसे सैद्धिक और इसके विपरीत जो असिद्धि यानि ससार मे सातावेदनीय के उदय से जो सुख प्राप्त होता है उसे असैद्धिक सुख कहते है । अथवा सुख और दु ख, ये दोनो ही सैद्धिक-असैद्धिक दोनो प्रकार के होते है । पुष्पमाला, चन्दन और वनिता आदि की उपभोग क्रिया रूप सिद्धि से होने वाला सुख सैद्धिक तथा चाबुक की मार, गर्म लोहे से दागने आदि सिद्धि से होने वाला दु ख भी सैद्धिक है । आकस्मिक अप्रत्याशित बाह्यनिमित्त से हृदय मे उत्पन्न होने वाला आन्तरिक आनन्द रूप सुख असैद्धिक सुख है, तथा ज्वर, मस्तक पीडा, उदर शूल आदि दु ख, जो अग से उत्पन्न होते है, वे असैद्धिक दु:ख है । **पासत्था**—इस शब्द के सस्कृत मे दो रूप होते हैं—'पार्श्वस्था' और 'पाशस्था' । पार्श्वस्थ का अर्थ होता है—पास, नजदीक मे रहने वाले अथवा युक्ति समूह से बाहर या परलोक की क्रिया के किनारे ठहरने वाले अथवा कारणचतुष्टयवादियो से अलग (एक किनारे) रहने वाले ।

---

७ (क) सूत्रकृताग शीलांकवृत्ति पत्राक २७ से ३२ तक

(ख) 'कालो सहाव-नियई · ·· ।' —सन्मतितर्क

पाशस्थ का अर्थ होता है-- पाश (बन्धन) मे जकडे हुए की तरह कर्मपाश (कर्मबन्धन) मे जकडे हुए यहाँ 'पाशस्थ' रूप ही अधिक सगत लगता है।

उवट्ठिया सता - अपने सिद्धान्तानुसार पारलौकिक क्रिया मे उपस्थित (प्रवृत्त) होकर भी।

ण ते दुक्ख विमोक्खया -वृत्तिकार के अनुसार अपने आपको ससार के दु ख से मुक्त नही कर पाते। चूर्णिकार ने **'णऽत्तदुक्खविमोक्खया'** पाठ मानकर अर्थ किया है-- अपनी आत्मा को ससार-दु ख से विमुक्त नही कर पाते। कही-कही **'ण ते दुक्खविमोयगा'** पाठान्तर है, उसका भी वही अर्थ है।[८]

अज्ञानवाद-स्वरूप

३३. जविणो मिगा जहा सता, परिताणेण वज्जिता।
असंकियाइ सकंति, सकियाइ असकिणो ॥ ६ ॥

३४. परियाणियाणि सकता, पासिताणि असकिणो।
अण्णाणभयसंविग्गा, सपलिंति तहिं तहिं ॥ ७ ॥

३५ अह तं पवेज्ज वज्झ, अहे वज्झस्स वा वए।
मु चेज्ज पयपासाओ, त तु मंदे ण देहती ॥ ८ ॥

३६. अहियप्पाऽहियपण्णाणे, विसमतेणुवागते।
से बद्धे पयपासेहिं, तत्थ घायं नियच्छति ॥ ९ ॥

३७. एव तु समणा एगे, मिच्छद्दिट्ठी अणारिया।
असंकिताइ सकति, सकिताइ असंकिणो ॥ १० ॥

३८. धम्मपण्णवणा जा सा, त तु सकति मूढगा।
आरंभाइ न सकति, अवियत्ता अकोविया ॥ ११ ॥

३९. सव्वप्पग विउक्कस्स, सव्व णूम विहूणिया।
अप्पत्तियं अकम्मंसे, एयमट्ठं मिगे चुए ॥ १२ ॥

४०. जे एत णाभिजाणति, मिच्छद्दिट्ठी अणारिया।
मिगा वा पासबद्धा ते, घायमेसतऽणंतसो ॥ १३ ॥

४१. माहणा समणा एगे, सव्वे णाण सये वए।
सव्वलोगे वि जे पाणा, न ते जाणंति किंचणं ॥ १४ ॥

---

८ (क) सूत्रकृतांग चूर्णि (मूलपाठ टिप्पण) पृष्ठ ६

४२. मिलक्खू अमिलक्खुस्स, जहा वुत्ताणुभासती ।
ण हेउं से विजाणाति भासियं तऽणुभासती ॥ १५ ॥

४३. एवमण्णाणिया णाणं, वयंता वि सयं सयं ।
णिच्छयत्थं ण जाणंति, मिलक्खू व अबोहिए ॥ १६ ॥

४४. अण्णाणियाण वीमंसा, अण्णाणे नो नियच्छती ।
अप्पणो य परं णालं, कुतो अण्णेऽणुसासिउं ? ॥ १७ ॥

४५. वणे मूढे जहा जंतु, मूढणेताणुगामिए ।
दुहओ वि अकोविया, तिव्वं सोयं णियच्छति ॥ १८ ॥

४६. अंधो अंधं पहं णितो, दूरमद्धाण गच्छती ।
आवज्जे उप्पहं जंतु, अदुवा पंथाणुगामिए ॥ १९ ॥

४७. एवमेगे नियायट्ठी, धम्ममाराहगा वयं ।
अदुवा अधम्ममावज्जे, ण ते सव्वज्जुयं वए ॥ २० ॥

४८. एवमेगे वितक्काहिं, णो अण्णं पज्जुवासिया ।
अप्पणो य वितक्काहिं, अयमंजू हि दुम्मती ॥ २१ ॥

४९. एवं तक्काए साहेंता, धम्मा-ऽधम्मे अकोविया ।
दुक्खं ते नाइतुट्टंति, सउणी पंजरं जहा ॥ २२ ॥

५०. सयं सयं पसंसंता, गरहंता परं वइं ।
जे उ तत्थ विउस्संति, संसारं ते विउस्सिया ॥ २३ ॥

३३-३४ जैसे परित्राण—सरक्षण से रहित अत्यन्त शीघ्र भागनेवाले मृग शका से रहित स्थानो मे शका करते है और शका करने योग्य स्थानो मे शका नही करते । सुरक्षित-परित्राणित स्थानो को शकास्पद और पाश-बन्धन-युक्त स्थानो को शकारहित मानते हुए अज्ञान और भय से उद्विग्न वे (मृग) उन-उन (पाशयुक्त बन्धन वाले) स्थलो मे ही जा पहुचते है ।

३५ यदि वह मृग उस बन्धन को लांघकर चला जाए, अथवा उसके नीचे होकर निकल जाए तो पैरो में पडे हुए (उस) पाशबन्धन से छूट सकता है, किन्तु वह मूर्ख मृग तो उस (बन्धन) को देखता (ही) नही है ।

३६. अहितात्मा = अपना ही अहित करने वाला तथा अहितबुद्धि (प्रज्ञा) वाला वह मृग कूटपाशादि (बन्धन) से युक्त विषम प्रदेश मे पहुंचकर वहा पद-बन्धन से बँध जाता है और (वही) वध को प्राप्त होता है ।

३७. इसी प्रकार कई मिथ्यादृष्टि अनार्य श्रमण अशकनीय—शका के अयोग्य स्थानो मे शंका करते हैं और शकनीय—शका के योग्य स्थानो मे नि शंक रहते है—शका नही करते ।

३८ वे मूढ मिथ्यादृष्टि, धर्मप्रज्ञापना—धर्मप्ररूपना मे तो शका करते है, (जबकि) आरम्भो हिंसायुक्त कार्यों मे (सत्शास्त्रज्ञान से रहित है, इस कारण) शका नही करते।

३९ सर्वात्मक—सबके अन्त करण मे व्याप्त—लोभ, समस्त माया, विविध उत्कर्षरूप-मान और अप्रत्ययरूप क्रोध को त्याग कर ही जीव अकर्मांश (कर्म से सर्वथा) रहित होता है। किन्तु इस (सर्वज्ञभाषित) अर्थ (सदुपदेश या सिद्धान्त अथवा सत्य) को मृग के समान (बेचारा) अज्ञानी जीव ठुकरा देता—त्याग देता है।

४० जो मिथ्यादृष्टि अनार्यपुरुष इस अर्थ (सिद्धान्त या सत्य) को नही जानते, मृग की तरह पाश (बन्धन) मे बद्ध वे (मिथ्यादृष्टि अज्ञानी) अनन्तवार घात—विनाश को प्राप्त करेंगे—विनाश को ढूँढते है।

४१ कई ब्राह्मण (माहन) एव श्रमण (ये) सभी अपना-अपना ज्ञान बघारते है—बतलाते हैं। परतु समस्त लोक मे जो प्राणी है, उन्हे भी (उनके विषय मे भी) वे कुछ नही जानते।

४२-४३—जैसे म्लेच्छ पुरुष अम्लेच्छ (आर्य) पुरुष के कथन (कहे हुए) का (सिर्फ) अनुवाद कर देता है। वह हेतु (उस कथन के कारण या रहस्य) को विशेष नही जानता, किन्तु उसके द्वारा कहे हुए वक्तव्य के अनुसार ही (परमार्थशून्य) कह देता है। इसी तरह सम्यग्ज्ञान-हीन (ब्राह्मण और श्रमण) अपना-अपना ज्ञान बघारते—कहते हुए भी (उसके) निश्चित अर्थ (परमार्थ) को नही जानते। वे (पूर्वोक्त) म्लेच्छो—अनार्यों की तरह सम्यक् बोधरहित है।

४४ अज्ञानियो—अज्ञानवादियो द्वारा अज्ञानपक्ष मे मीमासा-पर्यालोचना करना युक्त (युक्तिसगत) नही हो सकता। (जब) वे (अज्ञानवादी) अपने आपको अनुशासन (स्वकीय शिक्षा) मे रखने मे समर्थ नही है, तब दूसरो को अनुशासित करने (शिक्षा देने) मे कैसे समर्थ हो सकते है?

४५ जैसे वन मे दिशामूढ प्राणी दिशामूढ नेता के पीछे चलता है तो सन्मार्ग से अनभिज्ञ वे दोनो ही (कही खतरनाक स्थल मे पहुचकर) अवश्य तीव्र शोक मे पडते है।—असह्य दु ख पाते है, (वैसे ही अज्ञानवादी सम्यक् मार्ग के विषय मे दिङ्मूढ नेता के पीछे चलकर बाद मे गहन शोक मे पड जाते है।)

४६ अन्धे मनुष्य को मार्ग पर ले जाता हुआ दूसरा अन्धा पुरुष (जहा जाना है, वहाँ से) दूरवर्ती मार्ग पर चला जाता है, इसमे वह (अज्ञानान्ध) प्राणी या तो उत्पथ (ऊबड-खाबड मार्ग) को पकड लेता है—पहुँच जाता है, या फिर उस (नेता) के पीछे-पीछे (अन्य मार्ग पर) चला जाता है।

४७ इसी प्रकार कई नियागार्थी—मोक्षार्थी कहते हैं हम धर्म के आराधक है, परन्तु (धर्माराधना तो दूर रही) वे (प्राय) अधर्म को ही (धर्म के नाम से) प्राप्त—स्वीकार कर लेते है। वे सर्वथा सरल-अनुकूल सयम के मार्ग को नही पकडते— नही प्राप्त करते।

४८ कई दुर्बुद्धि जीव इस प्रकार के (पूर्वोक्त) वितर्कों (विकल्पो) के कारण (अपने अज्ञानवादी नेता को छोडकर) दूसरे—ज्ञानवादी की पर्युपासना - सेवा नही करते। अपने ही वितर्कों से मुग्ध वे यह अज्ञानवाद ही यथार्थ (या सीधा) है, (यह मानते हैं।)

४९ धर्म-अधर्म के सम्बध में अज्ञ (अज्ञानवादी) इस प्रकार के तर्कों से (अपने मत को मोक्षदायक) सिद्ध करते हुए दुख (जन्म-मरणादि दुख) को नही तोड सकते, जैसे पक्षी पिजरे को नही तोड सकता ।

५० अपने-अपने मत की प्रशंसा करते हुए और दूसरे के वचन की निन्दा करते हुए जो (मतवादी जन) उस विषय मे अपना पाण्डित्य प्रकट करते हैं, वे (जन्म-मरणादि रूप चातुर्गतिक) ससार मे दृढता से बधे- - जकडे रहते हैं ।

विवेचन— अज्ञानवादियों की मनोदशा का चित्रण— वृत्तिकार के अनुसार ३३वी गाथा से ५०वी गाथा तक अज्ञानवाद का निरूपण है, चूर्णिकार का मत है कि २८वी गाथा से ४०वी गाथा तक नियतिवाद सम्बन्धी विचारणा है । उसके पश्चात् ४१ से ५०वी गाथा तक अज्ञानवाद की चर्चा है । परन्तु इन गाथाओ को देखते हुए प्रतीत होता है कि नियतिवादी, अज्ञानवादी, सशयवादी एव एकान्तवादी इन चारो को शास्त्रकार ने चर्चा का विषय बनाकर जैन-दर्शन के अनेकान्त सिद्धान्त की कसौटी पर कसा है ।[१]

सर्वप्रथम ३३वी गाथा से ४०वी गाथा तक एकान्तवादी, सशयवादी अज्ञान एव मिथ्यात्व से ग्रस्त अन्य दार्शनिको को वन्य मृग की उपमा देकर बताया है कि वे ऐसे मृग के समान हैं—

(१) जो असुरक्षित होते हुए भी सुरक्षित एव अशकनीय (सुरक्षित) स्थानो को असुरक्षित और शकास्पद मान लेते है और असुरक्षित एव शकनीय स्थानो को सुरक्षित एवं अशकनीय मानते हैं ।

(२) जो चाहे तो पैरो मे पडे हुए उस पाश-बन्धन से छूट सकते हैं, पर वे उस बन्धन को बन्धन ही नही समझते ।

(३) अन्त मे वे विषम प्रदेश मे पहुचकर बन्धन मे बधते जाते हैं और वही समाप्त हो जाते है ।

इसी प्रकार के एकान्तवादी अज्ञान-मिथ्यात्व ग्रस्त कई अनार्य श्रमण है, जो स्वय सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र से पूर्णत सुरक्षित नही है, जो हिसा, असत्य, मिथ्याग्रह, एकान्तवाद या विषय-कषायादि से युक्त अधर्म प्ररूपणा को नि शक होकर ग्रहण करते है और अधर्म प्ररूपको की उपासना करते है, किन्तु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एव अहिंसा, सत्य, अनेकान्त, अपरिग्रह आदि सद्धर्मों मे वे शकाकुल होकर उनसे दूर भागते है । वे सद्धर्म प्ररूपक, वीतराग, सर्वज्ञ हैं या उनके प्रतिनिधि हैं, उनके सान्निध्य मे नही पहुंचते । अहिंसा, अनेकान्त, अपरिग्रह, तप, सयम, एव क्षमादि सद्धर्म की प्ररूपणा जिन शास्त्रो मे है, उन पर शका करते है, और यह कहते हुए ठुकरा देते हैं—यह तो असद्धर्म की प्ररूपणा है, इस अहिसा से तो देश का बेडा गर्क हो जायेगा । इसके विपरीत जिन तथाकथित शास्त्रो मे यज्ञीय आरम्भ और पशुबलिजनित घोर हिंसा की प्ररूपणा है, कामना-नामना पूर्ण कर्मकाण्डो का विधान है, हिंसाजनक कार्यों की प्रेरणा है, ऐसे पापोपादानभूत आरम्भो से बिल्कुल शका नही करते, उसी अधर्म को धर्म-प्ररूपणा मानकर अन्ततोगत्वा वे एकान्तवादी, अज्ञानी एव मिथ्यात्वी लोग घोर पापकर्म के पाश (बन्धन) मे फँस जाते है जिसका परिणाम निश्चित है—बार-बार जन्म-मरण रूप ससार मे परिभ्रमण ।

---

१ सूयगडग सुत्त (मूलपाठ, टिप्पण युक्त) की प्रस्तावना, पृष्ठ ९

इन गाथाओ मे पूर्वोक्त अज्ञानियो की मनोदशा के फलस्वरूप तीन प्रक्रियाएँ बतायी है—

(१) अशकनीय पर शका तथा शकनीय पर अशका, (२) कर्मबन्धन मे बद्धता और (३) अन्त मे विनाश।[10]

अज्ञानवादियो के दो रूप—४१वी गाथा से ५०वी गाथा तक दो प्रकार के अज्ञानवादियो का निरूपण है—एक तो वे है, जो थोडा-सा मिथ्याज्ञान पाकर उसके गर्व मे उन्मत्त बने हुए कहते है कि दुनिया भर का सारा ज्ञान हमारे पास है, परन्तु उनका ज्ञान केवल ऊपरी सतह का पल्लवग्राही होता है, वे अन्तर की गहराई मे, आत्मानुभूति युक्त ज्ञान नही पा सके, केवल शास्त्र वाक्यो का तोतारटन है जिसे, वे भोले-भाले लोगो के सामने बघारा करते हैं। जैसे देशी भाषा मे बोलने वाले आर्य व्यक्ति के आशय को न समझ विदेशी-भाषा-पण्डित केवल उस भाषा का अनुवाद भर कर देता है, वैसे ही वे तथाकथित शास्त्रज्ञानी, वीतराग सर्वज्ञो की अनेकान्तमयी सापेक्षवाद युक्त वाणी का आशय न समझकर उसका अनुवाद भर कर देते है और उसे सशयवाद कहकर ठुकरा देते है। इसके लिए ४३वी गाथा मे कहा गया है—"निच्छयत्थ ण जाणति।"

दूसरे वे अज्ञानवादी हैं—जो कहते है—अज्ञान ही श्रेयस्कर है। कुछ भी जानने की आवश्यकता नही है। ज्ञान न होने पर वाद-विवाद, सघर्ष, वाक्कलह, अहकार, कषाय आदि से बचे रहेंगे। जान-बूझकर अपराध करने से भयकर दण्ड मिलता है, जबकि अज्ञानवश अपराध होने पर दण्ड बहुत ही अल्प मिलता है, कभी नही भी मिलता। मन मे रागद्वेषादि उत्पन्न न होने देने का सबसे आसान उपाय है—ज्ञानपूर्वक प्रवृत्ति को छोडकर अज्ञान मे ही लीन रहना। इसलिए मुमुक्षु के लिए अज्ञान ही श्रेयस्कर है।

फिर ससार मे विभिन्न मत है, अनेक पथ है, नाना शास्त्र है, बहुत-से धर्म-प्रवर्तक है, किसका ज्ञान सत्य है, किसका असत्य? इसका निर्णय और विवेक करना बहुत ही कठिन है। किसी शास्त्र का उपदेश देते किसी सर्वज्ञ को आखो से नही देखा, ये शास्त्रवचन सर्वज्ञ के है या नही? शास्त्रोक्तवचन का यही अर्थ है या अन्य कोई? इस प्रकार का निश्चय करना भी टेढी खीर है। अत इन सब झमेलों से दूर रहने के लिए अज्ञान का सहारा लेना ही हितावह है।[11]

इन दोनो प्रकार के अज्ञानवादियो का मन्तव्य प्रकट करने के पश्चात् शास्त्रकार ने प्रथम प्रकार के ज्ञानगर्वस्फीत अज्ञानवादियो की मनोवृत्ति का उल्लेख करते हुए उनके अज्ञानवाद का दुष्परिणाम—अनन्त ससार परिभ्रमण (४७वी गाथा से ५०वी गाथा तक) मे जो बताया है उसका निष्कर्ष यह है कि वे साधुवेश धारण करके मोक्षार्थी बनकर कहते है—हम ही धर्माराधक है। किन्तु धर्माराधना का क-ख-ग वे नही जानते। वे षट्काय के उपमर्दनरूप आरम्भ-समारम्भ मे प्रवृत्त होते हैं, दूसरो को भी आरम्भ का उपदेश देते हैं, उस हिंसादि पापारम्भ से रत्नत्रय रूप धर्माराधना तो दूर रही, उलटे वे धर्म भ्रमवश अधर्म कार्य मे प्रवृत्त हो जाते हैं, वे सयम एव सद्धर्म के मार्ग को ठुकरा देते है। न ही ऐसे सद्धर्म प्ररूपको की सेवा मे बैठकर इनसे धर्म तत्त्व समझते हैं। धर्माधर्म के तत्त्व से

---

१० वृत्तिकार ने अज्ञानवादियो मे एकान्त नियतिवादियो, कूटस्थनित्य आत्मवादियो, एकान्त क्षणिकात्मवादियो (बौद्धो) आदि का उल्लेख किया है। —सूत्र कृ० शीलांकवृत्ति पत्र ३२

११ सूत्रकृताग शीलांकवृत्ति पत्राक ३२ से ३४ तक के आधार पर।

अनभिज्ञ वे लोग केवल कुतर्कों के सहारे अपनी मान्यता सिद्ध करते हैं। जैसे पिंजरे मे बन्द पक्षी उसे तोड़कर बाहर नही निकल सकता वैसे ही अज्ञानवादी अपने मतवादरूपी या ससाररूपी पिंजरे को तोड़कर बाहर नही निकल सकते। वे केवल अपने ही मत की प्रशंसा मे रत रहते हैं, फलत· अज्ञानवादरूप मिथ्यात्व के कारण वे संसार के बन्धन मे दृढता से बध जाते हैं। जो अज्ञान को श्रेयष्कर मानने वाले दूसरे प्रकार के अज्ञानवादी है, शास्त्रकार उनका भी निराकरण ४४ से ४६ तक तीन गाथाओ मे करते है। उनका भावार्थ यह है—

"अज्ञानश्रेयोवादी अज्ञान को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयास करते हैं, वह सब विचारचर्चा ज्ञान (अनुमान आदि प्रमाणो तथा तर्क, हेतु युक्ति) द्वारा करते हैं, यह 'वदतोव्याघात' जैसी बात है। वे अपने अज्ञानवाद को श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए ज्ञान का सहारा क्यो लेते है ? ज्ञान का आश्रय लेकर तो वे अपने ही सिद्धान्त का अपने विरुद्ध व्यवहार से खण्डन करते हैं। उन्हे तो अपनी बुद्धि पर ताला लगाकर चुपचाप बैठना चाहिए। जब वे स्वय अज्ञानवाद सिद्धान्त के अनुशासन मे नही चल सकते, तब दूसरो (शिष्यो) को कैसे अनुशासन मे चलायेगे ? साथ ही, अज्ञानवाद के शिक्षार्थियो को वे ज्ञान को तिलाजलि देकर कैसे शिक्षा दे सकेंगे ?

अज्ञानवादग्रस्त जब स्वय सन्मार्ग से अनभिज्ञ है, तब उनके नेतृत्व मे बेचारा दिशामूढ़—माग से अनभिज्ञ भी अत्यन्त दु खी होगा। वहाँ तो यही कहावत चरितार्थ होगी—**'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः।'** अधे मार्गदर्शक के नेतृत्व मे चलने वाला दूसरा अन्धा भी मार्ग भ्रष्ट हो जाता है, वैसे ही सम्यग् मार्ग से अनभिज्ञ अज्ञानवादी के पीछे चलने वाले नासमझ पथिक का हाल होता है।[१२]

इन दोनो मे से दूसरे प्रकार की भूमिका वाले अज्ञानश्रेयोवादी की तुलना भगवान् महावीर के समकालीन मतप्रवर्तक 'सजय वेलट्ठिपुत्त' नामक अज्ञानवादी से की जा सकती है, जिसका हर पदार्थ के प्रश्न के सम्बन्ध मे उत्तर होता था—"यदि आप पूछे कि क्या परलोक है ? और यदि मैं समझू कि परलोक है तो आपको बतलाऊ कि परलोक है। मै ऐसा भी नही कहता, मैं वैसा भी नही कहता, मैं दूसरी तरह भी नही कहता, मैं यह भी नही कहता कि यह नही है, मैं यह भी नही कहता कि यह नही नही है। परलोक नही है। परलोक है भी और नही भी, परलोक न है और न नही है।" सजय वेलट्ठिपुत्त ने कोई निश्चित बात नही कही।[१३] निष्कर्ष यह है कि सजयवेलट्ठिपुत्त के मतानुसार तत्त्वविषयक अज्ञेयता अथवा अनिश्चितता ही अज्ञानवाद की आधारशिला है, जिसका सामान्य उल्लेख गाथा ४३ मे हुआ है—**'निच्छयत्थं ण जाणंति।'** यह मत पाश्चात्यदर्शन के सशयवाद अथवा अज्ञेयवाद से मिलता-जुलता है।

दीघनिकाय के ब्रह्मजालसुत्त मे अमराविक्खेववाद मे जो तथागत बुद्ध द्वारा प्रतिपादित वर्णन है, वह भी सूत्रकृताग प्र० श्रु० के १२वे अध्ययन मे उक्त अज्ञानवाद से मिलता-जुलता है। जैसे—

१२. सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ३५-३६ के आधार पर

१३. (क) " संजयो वेलट्ठपुत्तो म एतदवोच 'अत्थि परो लोकोति इति चे म पुच्छसि, अत्थि परो लोको नि इति चे मे अस्स, अत्थि परो लोको ति इति ते न ब्याकरेय्य। एव ति पि मे नो, तथा ति पि मे नो, अञ्ञथा ति पि मे नो, नो ति पि मे नो, नो नो ति पि मे नो। नत्थि परो लोको पे· अत्थि च नत्थि च परो लोको—पे·· नेवत्थि न नत्थि परो लोको····पे० ····।"

—सुत्तपिटके दीघनिकाये सामञ्ञफलसुत्त पृ ४१-५३

(ख) जैन साहित्य का बृहत् इतिहास भा. १, पृ १३३

"भिक्षुओ ! कोई श्रमण या ब्राह्मण ठीक से नही जानता कि यह अच्छा है और यह बुरा । उसके मन मे ऐसा होता है कि 'मैं ठीक से नही जानता कि यह अच्छा है, यह बुरा है तब मै ठीक से जाने बिना यह कह दूँ कि यह अच्छा है और यह बुरा है, तो असत्य ही होगा, जो मेरा असत्य भाषण मेरे लिए घातक (नाश का कारण) होगा, जो घातक होगा, वह अन्तराय (मोक्ष मार्ग मे) होगा । अत वह असत्य भाषण के भय से और घृणा से न यह कहता है कि यह अच्छा है और न यह कि यह बुरा है । प्रश्नो के पूछे जाने पर कोई स्थिर बाते नही करता । यह भी नही, वह भी नही, ऐसा भी नही, वैसा भी नही ।' इसी प्रकार किसी पदार्थ विषयक प्रश्न के उत्तर मे अच्छा-बुरा कहने से राग, द्वेष, लोभ, घृणाआदि की आशका, या तर्क-वितर्को का उत्तर देने मे असमर्थता विघात(दुर्भाव)और बाधक समझकर किसी प्रकार का स्थिर उत्तर न देकर अपना अज्ञान प्रकट करना भी इसी अज्ञानवाद का अग है ।[१४]

कठिन शब्दो की व्याख्या— मिगा—वन्य पशु या विशेषत हिरण । **परियाणियाणि**—वृत्तिकार के अनुसार—परित्राण = रक्षण से युक्त । चूर्णिकार के अनुसार—जो परित सब ओर से, **ततानि** – आच्छादित है, वे परितत है । **पासिताणि**—पाशयुक्त स्थान । **सपलंति**- वृत्तिकार के अनुसार, अनर्थबहुल पाश, वागुरा आदि बन्धनो मे एकदम जा पडते है । चूर्णिकार के अनुसार, कुटिल अन्य पाशो मे जकड जाते है, अथवा उनके एक ओर पाश हाथ मे लिए व्याध खडे होते है, दूसरी ओर वागुरा (जाल या फदा) पडा होता है, इन दोनो के बीच मे भटकते है । **बज्झ** बन्धनाकार मे स्थित बन्धन अथवा वागुरा आदि बन्धन (बँधने वाले होने से) बन्ध कहलाते है- ये दोनो अर्थ **बध** एव **बधस्स** प्राठान्तर मानने से होते है । **बज्झ** का सस्कृत रूपान्तर होता है— वर्ध्र या वध्य । वर्ध्र का यहाँ अर्थ है—चमडे का पाश-बन्धन । **अहियप्पाऽहियपण्णाणे**—वृत्तिकार के अनुसार—अहितात्मा तथा अहितप्रज्ञान—अहितकर बोध या बुद्धि वाला । चूर्णिकार ने **'अहितेहितपण्णाणा'** पाठान्तर माना है जिसका अर्थ होता है—अहित मे हित बुद्धि वाले –हित समझाने वाले । **विसमंतेणुवागते** वृत्तिकार के अनुसार विषमान्त अर्थात् कूटपाशादि युक्त प्रदेश को प्राप्त होता है, अथवा कूटपाशादि युक्त विषम प्रदेश मे अपने आपको गिरा देता है । चूर्णिकार के अनुसार- विषम यानि कूटपाशादि उपकरणो से घिरा हुआ, वागुरा (जाल) का द्वार, उसके पास पहुच जाता है। **अवियत्ता**- अव्यक्त, मुग्ध भोले-भाले, सहजमद्विवेकविकल । **अकोविया** -सुशास्त्र बोध रहित—अपण्डित । **सव्वप्पग** सर्वात्मक -जिसकी सर्वत्र आत्मा है, ऐसा सर्वात्मक सर्वव्यापी—लोभ । **विउक्कस** -व्युत्कर्ष विविध प्रकार का उत्कर्ष-गर्व मान । **णूम**—माया, कपट । **अप्पत्तिय**—अप्रत्यय- -क्रोध । **वुत्ताणभासए** –कथन या भाषण का केवल अनुवाद कर देता है । **अन्नणियाण**—भगवती सूत्र की वृत्ति के अनुसार- -कुत्सित ज्ञान अज्ञान है, जिनके वह (ऐसा) अज्ञान है, वे अज्ञानिक है । **वीमंसा**—पर्यालोचनात्मक विचारविमर्श अथवा मीमासा । **अण्णाणे नो नियच्छति**—निश्चय रूप से अज्ञान के विषय मे युक्त- सगत नही है । **तिव्वं सोयं णियच्छति** –चूर्णिकार के अनुसार तीव्र-अत्यन्त स्रोत = भय द्वार को नियत या अनियत (निश्चित या अनिश्चित) रूप से पाता है । वृत्तिकार के अनुसार, तीव्र गहन या शोक निश्चय ही प्राप्त करता है । **पंथाणुगामिए**—अन्य मार्ग पर चल पडता है । **सव्वज्जुए**— वृत्तिकार एव चूर्णिकार के अनुसार, सब प्रकार के ऋजु—सरल सर्वतोऋतु-मोक्ष गमन के लिए अकुटिल—सयम अथवा सद्धर्म । **वियक्काहि** -वितर्को—विविध मीमासाओ या असत्कल्पनाओ के कारण । **दुक्खं ते नाइतुट्टति**—

१४ देखिये, दीघनिकाय ब्रह्मजालसुत्त मे तथागत बुद्ध द्वारा कथित अमराविक्खेववाद ।—(हिन्दी अनुवाद) पृ १-१०

चूर्णिकार के अनुसार, वे दु:खरूप ससार को लाघ नही सकते। पार नही कर सकते। वृत्तिकार के अनुसार, असातोदयरूप दु:ख को या उसके मिथ्यात्व आदि से बाँधे हुए कर्मबन्धन रूप कारण को अतिशय रूप से, व्यवस्थित ढग से नही तोड़ सकते। **णो अण्णं पज्जुवासिया**—अन्य की उपासना-सेवा नही की। अन्य का अर्थ है—आर्हतादि ज्ञानवादियो की पर्युपासना नही की। **अयमंजू**—हमारा यह अज्ञानात्मक मार्ग ही अजू—निर्दोष होने से व्यक्त या स्पष्ट है। **सउणी पंजरं जहा**—जैसे पिजरे मे बन्द पक्षी पिजरे को तोडने मे, तथा पिजरे के बन्धन से स्वय को मुक्त करने मे समर्थ नही होता, वैसे ही अज्ञानवादी ससार रूप पिजरे को तोडकर उससे अपने आपको मुक्त करने मे समर्थ नही होता। **विउस्संति**—वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किये है—सस्कृत मे इसका रूपान्तर होता है—**विद्वस्यन्ते**—विद्वान् की तरह आचरण करते है अथवा—'विशेषेण उशन्ति—स्वशास्त्रविषये विशिष्ट युक्तिव्रात, वदन्ति, अर्थात् अपने शास्त्रो के पक्ष मे विशिष्ट युक्तियों का प्रयोग करते है। **संसारं ते विउस्सिया**—वृत्तिकार ने इसकी दो व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं—"ससार चतुर्गतिभेदेन ससृतिरूप विविध—अनेक-प्रकार उत्—प्राबल्येन श्रिता सम्बद्धा, तत्र वा ससारे उषिता—ससारान्तर्वर्तिन सर्वदा भवन्तीत्यर्थ।" अर्थात्—चार गतियो मे ससरण—भ्रमणरूप इस ससार में जो अनेक प्रकार से दृढतापूर्वक बँधे हुए है अथवा जो इस ससार मे निवास करने वाले हैं।[१५]

कर्मोपचय निषेधवाद : क्रियावादी दर्शन

५१. अहावरं पुरक्खायं, किरियावाइदरिसणं।
कम्मचितापणट्ठाणं। संसारपरिवड्ढणं॥२४॥

५२. जाणं काएणऽणाउट्टी, अबुहो जं च हिंसती।
पुट्ठो संवेदेति परं, अवियत्त खु सावज्जं॥२५॥

५३. संतिमे तओ आयाणा, जेहिं कीरति पावगं।
अभिकम्माय पेसाय, मणसा अणुजाणिया॥२६॥

५४. एए उ तओ आयाणा, जेहिं कीरति पावगं।
एवं भावविसोहीए, णिव्वाणमभिगच्छती॥२७॥

५५. पुत्तं पि ता समारंभ, आहारट्ठमसंजए।
भुंजमाणो य मेधावी, कम्मुणा नोवलिप्पति॥२८॥

५६. मणसा जे पउस्संति, चित्तं तेसिं न विज्जती।
अणवज्ज अतह तेसिं, ण ते संवुडचारिणो॥२९॥

५१ दूसरा पूर्वोक्त (एकान्त) क्रियावादियो का दर्शन है। कर्म (कर्म-बन्धन) की चिन्ता से रहित (उन एकान्त क्रियावादियो का दर्शन) (जन्म-मरण-रूप) ससार की या दु:ख समूह की वृद्धि करने वाला है।

१५. (क) सूत्रकृतांग शीलाकवृत्ति पत्राक ३२ से ३७ तक
(ख) सूत्रकृतांग चूर्णि (मूलपाठ टिप्पण) पृ० ६ से ९ तक

५२ जो व्यक्ति जानता हुआ मन से हिंसा करता है, किन्तु शरीर से छेदन-भेदनादि क्रिया रूप हिंसा नही करता एव जो अनजान मे (शरीर से) हिंसा कर देता है, वह केवल स्पर्शमात्र से उसका (कर्मबन्ध का) फल भोगता है। वस्तुतः वह सावद्य (पाप) कर्म अव्यक्त-अस्पष्ट-अप्रकट होता है।

५३ ये तीन (कर्मो के) आदान (ग्रहण-बन्ध के कारण) है, जिनसे पाप (पापकर्म बन्ध) किया जाता है—(१) किसी प्राणी को मारने के लिए स्वय अभिक्रम-आक्रमण करना, (२) प्राणिवध के लिए नौकर आदि को भेजना या प्रेरित करना और (३) मन से अनुज्ञा-अनुमोदना देना।

५४. ये ही तीन आदान-कर्मबन्ध के कारण है, जिनसे पापकर्म किया जाता है। वहाँ (पाप-कर्म से) भावो की विशुद्धि होने से कर्मबन्ध नही, किन्तु मोक्ष की प्राप्ति होती है।

५५ (किसी दुष्काल आदि विपत्ति के समय) कोई असयत गृहस्थपिता आहार के लिए पुत्र को भी मारकर भोजन करे तो वह कर्मबन्ध नही करता। तथा मेधावी साधु भी निस्पृहभाव से उस आहार-मास का सेवन करता हुआ कर्म से लिप्त नही होता।

५६ जो लोग मन से (किसी प्राणी पर) द्वेष करते है, उनका चित्त विशुद्धियुक्त नही है तथा उनके (उस) कृत्य को निरवद्य (पापकर्म के उपचय रहित-निष्पाप) कहना अतथ्य—मिथ्या है। तथा वे लोग सवर (आस्रवो के स्रोत के निरोध) के साथ विचरण करने वाले नही है।

विवेचन—बौद्धों का कर्मोपचय निषेधवाद—अज्ञानवादियो की चर्चा के बाद बौद्धो के द्वारा मान्य एकान्त क्रियावाद की चर्चा गाथा ५१ से ५६ तक प्रस्तुत की गई है। वैसे तो बौद्ध-दर्शन को अक्रियावादी कहा गया है, बौद्ध-ग्रन्थ अगुत्तरनिकाय के तृतीय भाग- अट्ठकनिपात के सिहसुत्त मे तथा विनयपिटक के महावग्ग (पाली) के सीहसेनापति वत्थु मे बुद्ध के अक्रियावादी होने का उल्लेख है, सूत्रकृताग के १२ वे समवसरण अध्ययन मे सूत्र ५३५ की चूर्णि एव वृत्ति मे भी बौद्धो को अक्रिया-वादियो मे परिगणित किया गया है, परन्तु यहाँ स्पष्ट रूप से बौद्ध-दर्शन को (वृत्ति और चूर्णि मे) क्रियावादी-दर्शन बताया गया है, वह अपेक्षाभेद से समझना चाहिए।[१६]

वृत्तिकार ने क्रियावादी-दर्शन का रहस्य खोलते हुए कहा है—जो केवल चैत्यकर्म (चित्त विशुद्धिपूर्वक) किये जाने वाले किसी भी कर्म आदि क्रिया को प्रधान रूप से मोक्ष का अग मानते हैं, उनका दर्शन क्रियावादी दर्शन है।

ये एकान्त क्रियावादी क्यो है? इसका रहस्य ५१ वी सूत्र गाथा मे शास्त्रकार बताते है—**'कम्मचितापणट्ठाणं'**—अर्थात् ये ज्ञानावरणीय आदि की चिन्ता से रहित—दूर है। ज्ञानावरणीय आदि

---

१६. (क) सूयगडग सुत्त' (मुनि जम्बूविजयजी सम्पादित) की प्रस्तावना पृ० १०

(ख) सूत्रकृताग चूर्णि मू० पा० टिप्पण पृ० ९७

(ग) " 'अह हि, सीह! अकिरिय वदामि कायदुच्चरितस्स, वचीदुच्चरितस्स, मनोदुच्चरितस्स अनेक-विहितानं पापकानं अकुसलानं धम्मानं अकिरिय वदामि ।"

—सुत्तपिटके अगुत्तरनिकाय, पालि भा० ३, अट्ठकनिपात पृ० २९३-२९६

आठ कर्म कैसे-कैसे किन-किन कारणो से, किस-किस तीव्र मन्द आदि रूप मे बध जाते हैं। वे सुख-दुःख आदि के जनक है या नही ? उनसे छूटने के उपाय क्या-क्या हैं ? इत्यादि कर्म-सम्बन्धी चिन्ता-चिन्तन से एकान्त क्रियावादी दूर है।

"कोई भी क्रिया, भले ही उससे हिंसादि हो, चित्तशुद्धिपूर्वक करने पर कर्मबन्धन नही होता"—इस प्रकार की कर्मचिन्ता से दूर रहने के कारण ही शायद बौद्धो को एकान्त क्रियावादी कहा गया होगा। इसके अतिरिक्त बौद्ध दार्शनिक अज्ञान आदि से किये गये चार प्रकार के कर्मोपचय को कर्मबन्ध का कारण नही मानते। उन चारो मे से दो प्रकार के कर्मों का उल्लेख गाथा ५२ मे किया है—(१) **परिज्ञोपचित कर्म**—कोपादि कारणवश जानता हुआ केवल मन से चिन्तित हिंसादि कर्म, शरीर से नही, और (२) **अविज्ञोपचित कर्म**—अनजाने मे शरीर से किया हुआ हिंसादि कर्म।

निर्युक्तिकार ने इन चारो का वर्णन पहले किया है उनमे शेष दो हैं—(३) **ईर्यापथ कर्म**—मार्ग मे जाते अनभिसन्धि से होने वाला हिंसादि कर्म और (४) **स्वप्नान्तिक कर्म**—स्वप्न मे होने वाला हिसादि कर्म।[१७] ये चारो प्रकार के कर्म उपचय को प्राप्त नही होते—अर्थात् तीव्र विपाक (फल) देने वाले नही बनते। जैसा कि शास्त्रकार ने गाथा ५२ मे कहा है—'पुट्ठो सवेदेति पर'। इन चारो प्रकार के कर्मों से पुरुष स्पृष्ट होता है, बद्ध नही। अत ऐसे कर्मों के विपाक का भी स्पर्शमात्र ही वेदन (अनुभव) करता है। ये चतुर्विध कर्म स्पर्श के बाद ही नष्ट हो जाते है, यही सोचकर कर्मबन्धन से निश्चिन्त होकर ये क्रियाएँ करते है।

कर्मबन्धन कब होता है, कब नहीं ?—चूर्णिकार ने उक्त मत के सन्दर्भ मे प्रश्न उठाया है कि कर्मोपचय (कर्म बन्धन) कब होता है ? उसका समाधान देते हुए कहा है—(१) प्रथम तो हनन किया जाने वाला प्राणी सामने हो, (१) फिर हनन करने वाले को यह भान (ज्ञान) हो कि यह प्राणी है, (३) उसके पश्चात् हनन करने वाले की ऐसी बुद्धि हो कि मैं इसे मारूँ या मारता हूँ। इन तीन कारणो के अतिरिक्त उनके मतानुसार दो कारण और है—(१) पूर्वोक्त तीन कारणो के रहते हुए यदि वह उस प्राणी को शरीर से मारने की चेष्टा करता है, और (२) उस चेष्टा के अनुसार उस प्राणी को मार दिया जाता है—प्राणो का वियोग कर दिया जाता है, तब हिसा होती है, और तभी कर्म का भी उपचय होता है।[१८]

१७ (क) "तेषा हि परिज्ञोपचित ईर्यापथ, स्वप्नान्तिक च कर्मचय न यातीत्यतस्ते कम्मचितापणट्ठा।"
—सूत्रकृताग चूर्णि मू० पा० टि० पृ० ९

(ख) सूत्रकृताग शीलाक वृत्ति पत्राक ३१

(ग) सूत्रकृताग निर्युक्ति गाथा ३१ मे कहा गया—'कम्म चय न गच्छइ चउव्विह भिक्खु समयसि' बौद्धागम मे चतुर्विध कर्म उपचय को प्राप्त नही होता।

१८ (क) 'स्यात्—कथ पुनरुपचीयते ? उच्यते, यदि सत्त्वश्च भवति ?, सत्त्व सज्ञा च २, सचित्य सचित्य ३ जीविताद् व्यपरोपण प्राणातिपात'।।' —सूत्रकृ० चूर्णि, मू० पा० टिप्पण पृ० ९

(ख) "प्राणी प्राणिज्ञान घातकचित्त च तद्गता चेष्टा।
प्राणैश्च विप्रयोग., पचभिरापद्यते हिंसा।।" —सूत्र० शीलाकवृत्ति पत्र० ३७

शास्त्रकार ने इस सन्दर्भ मे बौद्ध मतानुसार पाप कर्मबन्ध के तीन कारण (५३-५४वी गाथाओ द्वारा) बताये है—(१) स्वय किसी प्राणी को मारने के लिए उस पर आक्रमण या प्रहार करना। (२) नौकर आदि दूसरो को प्रेरित या प्रेषित करके प्राणिवध कराना और (३) मन से प्राणिवध के लिए अनुज्ञा-अनुमोदना करना। ये तीनो पाप कर्म के उपचय (बन्ध) के कारण इसलिए हैं कि इन तीनो मे दुष्ट अध्यवसाय-रागद्वेष युक्त परिणाम रहता है।[१९]

भाव-शुद्धि से कर्मोपचय नहीं : एक विश्लेषण—इसीलिए ५४वी गाथा के अन्त मे उन्ही का मत-प्ररूपण करते हुए कहा गया है—**'एव भावविसोहीए णिव्वाणमभिगच्छति'** इसका आशय यह है कि जहाँ राग-द्वेष रहित बुद्धि से कोई प्रवृत्ति होती है, ऐसी स्थिति मे जहाँ केवल विशुद्ध मन से या केवल शरीर से प्राणातिपात हो जाता है, वहाँ भाव-विशुद्धि होने के कारण कर्मोपचय नही होता, इससे जीव निर्वाण प्राप्त कर लेता है।

इस सम्बन्ध मे बौद्ध-ग्रन्थ सुत्तपिटक के खुद्दकनिकाय के बालोवाद जातक मे बुद्ध वचन मिलता है—("दूसरे मास की बात जाने दो) कोई असयमी पुरुष अपने पुत्र तथा स्त्री को मारकर उस मास का दान करे, और प्रज्ञावन सयमी (भिक्षु) उस मास का भक्षण करे तो भी उसे पाप नही लगता।"[२०]

इसी बुद्ध वचन का आशय लेकर शास्त्रकार ने ५५वी सूत्र गाथा मे सकेत किया है। यद्यपि चूर्णिकार सम्मत और वृत्तिकार सम्मत दोनो पाठो मे थोडा-सा अन्तर है, इसलिए अर्थ भेद होते हुए भी दोनो का आशय समान है। चूर्णिकारसम्मत पाठ है—**'पुत्त पिता समारम्भ आहारट्ठमसजए'** और वृत्तिकारसम्मत पाठ है—**'पुत्तं पिया समारब्भ आहारेज्ज असजए।'**[२१]

चूर्णिकार ने इसकी व्याख्या यो की है - 'पुत्र का भी समारम्भ करके, समारम्भ का अर्थ है—बेच कर, मारकर उसके मास से या द्रव्य से और तो क्या कहे, पुत्र न हो तो सूअर या बकरे को भी मारकर भिक्षुओ के आहारार्थ भोजन बनाए, स्वय भी खाये।[२२] कौन? असयत अर्थात् भिक्षु के अतिरिक्त उपासक या अन्य कोई गृहस्थ उस त्रिकोटि शुद्ध भोजन को सेवन करता हुआ वह मेधावी भिक्षु कर्म से लिप्त नही होता।[२३]

---

१९ " इमेम खो अह, तपस्सि, तिण्ण कम्मान एव पटिविभत्तान एव पटिविसट्ठान मनोकम्म महासावज्जतर पञ्ञपेमि, पापस्स कम्मस्स किरियाय, पापस्स कम्मस्स पवत्तिया, नो तथा कायकम्म, नो तथा वची कम्मति।
—सुत्तपिटके मज्झिमनिकाय (पा० भा० २) म० पण्णा० उपालि सुत्त पृ० ४३-६०

२० पुत्त-दारपि चे हन्त्वा, देति दान असञ्ञतो।
भुञ्जमानो पि सप्पञ्ञो, न पापमुपलिम्पती॥" —सुत्तपिटक, खुद्दक निकाय, बालोवादजातक पृ० ६४

२१ सूत्रकृताग चूर्णि (मूलपाठ टिप्पण) पृ० ९

२२ प० बेचरदासजी दोशी के अनुसार 'पुत्त' शब्द 'शूकर' का द्योतक है, बुद्धचर्या के अनुसार बुद्ध ने 'शूकर मद्दव' (शूकर मास) खाया था। —जैन सा० इति० भाग १, पृ० १३३

२३ सूत्रकृताग चूर्णि पृ० ३८—"पुत्रमपि तावत् समारम्य, समारम्भो नाम विक्रीय मारयित्वा, तन्मासेन वा द्रव्येण वा, किमग पुणरपुत्र शूकर वा छगल वा, आहारार्थं कुर्याद् भुक्त भिक्खूण, अस्सजतो नाम भिक्खुव्यतिरिक्त स पुनरुपासकोऽन्यो वा, त च भिक्षु त्रिकोटि-शुद्ध भुञ्जानोऽपि मेधावी कम्मुणा णोवलिप्पते।"

वृत्तिकार कृत व्याख्या इस प्रकार है—पुत्र—अपत्य को पिता-जनक समारम्भ करके यानी आहारार्थ मारकर कोई तथाविध विपत्ति आ पड़ने पर उसे पार करने के लिए राग-द्वेष रहित असयत गृहस्थ उस मास को खाता हुआ भी, तथा मेधावी-सयमी भिक्षु भी (यानी वह शुद्धाशय गृहस्थ एव भिक्षु दोनों) उस मासाहार का सेवन करते हुए भी पाप कर्म से लिप्त नही होते।

इस सम्बन्ध मे एक बौद्ध कथा भी है, जिसे तथागत बुद्ध ने अपने भिक्षुओ को खानपान का उद्देश्य समझाने के लिए कही थी। उसका सार यह है—'पिता, पुत्र एव माता तीनो गहन वन मे से होकर जा रहे थे, तीनो को अत्यन्त भूख लगी, पास में कुछ भी न था। शरीर मे इतनी अशक्ति आ गयी कि एक डग भी चला नही जा रहा था। अत पुत्र ने अपना मास-भक्षण करके परिवार को जीवित रखने की पिता से प्रार्थना की। वैसा ही किया गया और उस पुत्र के माता-पिता ने उस अरण्य को पार किया।[२४]

तथागत के यह पूछने पर कि क्या पिता ने अपने पुत्र का मास स्वाद, शक्तिवृद्धि, बल-सचय अथवा शारीरिक रूप-लावण्य वृद्धि के लिए खाया था? सबने कहा—'नही।' इस पर तथागत ने कहा—"भिक्षुओ! तुमने घरबार छोडा है, ससाराटवी को पार करने के हेतु भिक्षुव्रत लिया है, ससार रूपी भीषण वन पार करके तुम्हे निर्वाण लाभ करना है, अत तुम भी इसी उद्देश्य से परिमित, धर्म-प्राप्त, यथाकाल-प्राप्त भोजन-पान लेते रहो, न मिले तो सन्तोष करो। किन्तु स्वाद, बलवृद्धि, शक्ति-सचय या रूप-लावण्यवृद्धि आदि दृष्टियो से खान-पान लोगे तो भिक्षु-धर्म से च्युत हो जाओगे और मोघ (पिण्डोलक) भिक्षु हो जाओगे।[२५]

सम्भव है, इस गाथा का वास्तविक आशय (भोजन मे अनासक्ति) विस्मृत हो गया हो, और इस कथा का उपयोग बौद्ध गृहस्थ एव भिक्षु दोनो मास-भक्षण के समर्थन मे करने लग गये हो।

जो भी हो, बालोवाद जातक मे उल्लिखित बुद्ध वचन के अनुसार राग-द्वेष रहित होकर शुद्धाशय से पुत्रवध करके उसका मॉस खाने वाले पिता को तथा भिक्षुओ को कर्मोपचय नही होता, यह सिद्धान्त इस गाथा मे बताया गया है।

कर्मोपचय निषेधवाद का निराकरण—पूर्वोक्त पॉच गाथाओ मे कर्मोपचय निषेध के सम्बन्ध मे जो भी युक्ति, हेतु एव दृष्टान्त दिये गये है, उन सबका निराकरण इस ५६वी सूत्र गाथा द्वारा

२४ (क) पुत्त पिता इत्यादि। पुत्रमपत्य, पिता जनक समारभ्य व्यापाद्य आहारार्थ कस्या चित् तथा विधाया-मापदि तदुद्धरणार्थमरक्तद्विष्ट असयतो गृहस्थ तत्पिशित भुजानोऽपि, च शब्दस्यापि शब्दार्थत्वात्। तथा मेधा व्यपि सयतोपीत्यर्थ, तदेव गृहस्थो भिक्षुर्वा शुद्धाशय पिशिताश्यपि कर्मपापेन नोपलिप्यते, नाश्लिस्यते।" —सूत्रकृताग वृत्ति पत्राक ३९

(ख) जैन साहित्य का बृहत् इतिहास भा० १, पृ० १३४-१३५

२५ (क) सुत्तपिटके सयुत्तनिकाय पालि भा० २, पुत्तमससुत्त पृ० ८४

(ख) तुलना करो—ज्ञातासूत्र प्रथम अध्ययन धन्ना सार्थवाह एव उसके पुत्रो द्वारा मृत-पुत्री मास विषयक प्रसग।

(ग) बौद्ध भिक्षुओ की मासभक्षण निर्दोषिता का वर्णन सूत्रकृतांग द्वितीयश्रुतस्कन्ध गाथा ८१२ से ८१६ तथा ८२३-८२४ गाथाओ मे मिलता है।

किया गया है 'मणसा जे···संवुडचारिणो।' इसका आशय यह है कि जो पुरुष किसी भी निमित्त से किसी प्राणी पर द्वेष या हिसा मे नही जाता, वह विशुद्ध है, इसलिए उन व्यक्तियो को पाप कर्म का बन्ध (उपचय) नही होता, यह कहना असत्य है, सिद्धान्त और युक्ति से विरुद्ध है। जानकर हिसा करने से पहले राग-द्वेष पूर्ण भाव न आए, यह सम्भव नही है।[२६] भाव हिसा तभी होती है, जब मन मे जरा भी राग, द्वेष, कषाय आदि के भाव आते है। वस्तुत कर्म के उपचय करने मे मन ही तो प्रधान कारण है, जिसे बौद्ध-ग्रन्थ धम्मपद मे भी माना है।[२७] उन्ही के धर्म ग्रन्थ मे बताया है कि 'राग-द्वेषादि क्लेशों से वासित चित्त ही ससार (कर्म बन्धन रूप) है, और वही रागादि क्लेशो से मुक्त चित्त ही ससार का अन्त—मोक्ष कहलाता है।

बौद्धो के द्वारा दृष्टान्त देकर यह सिद्ध करना कि विपत्ति के समय पिता द्वारा पुत्र का वध किया जाना और उसे मारकर स्वय खा जाना और मेधावी भिक्षु द्वारा उक्त मासाशन करना पापकर्म का कारण नही है, बिलकुल असगत है। राग-द्वेष से क्लिष्ट चित्त हुए बिना मारने का परिणाम नही हो सकता, 'मै पुत्र को मारता हूँ' ऐसे चित्त परिणाम को असक्लिष्ट कौन मान सकता है?[२८]

और उन्होने भी तो कृत-कारित और अनुमोदित तीनो प्रकार मे हिसादि कार्य को पापकर्म-बन्ध का आदान कारण माना है। ईर्यापथ मे भी विना उपयोग के गमनागमन करना चित्त की सक्लिष्टता है, उससे कर्म बन्धन होता ही है। हाँ, कोई साधक प्रमाद रहित होकर सावधानी से उपयोग पूर्वक चर्या करता है, किसी जीव को मारने की मन मे भावना नही है, तब तो वहाँ से उसे जैन सिद्धान्तानुसार पापकर्म का बन्ध ही न होना।[२९] परन्तु सर्वसामान्य व्यक्ति, जो बिना उपयोग के प्रमादपूर्वक चलता है, उसमे चित्त सक्लिष्ट होता ही है, और वह व्यक्ति पापकर्म बन्ध से बच नही सकता। इसी प्रकार चित्त सक्लिष्ट होने पर ही स्वप्न मे किसी को मारने का उपक्रम होता है। अत

---

२६ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ३९

(ख) सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या

२७ (क) मनो पुब्बगमा धम्मा मनो सेट्ठा मनोमया।
मनसा चे पदुट्ठेन भासति वा करोति वा ॥१॥

—धम्मपद पढमो यमकवग्गो १

(ख) चित्तमेव हि ससारो रागादिक्लेशवासितम्।
तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते ॥

—सूत्रकृताग भाषानुवाद पृ० १२६

२८ (ख) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ३७ से ४० तक

(ख) सूत्रकृताक चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ९

२९ जय चरे जय चिट्ठे जयमासे जय सए।
जय भुजतो भासतो पावकम्म न बधइ ॥

—दशवै० अ० ४/८

स्वप्नान्तिक कर्म मे भी चित्त अशुद्ध होने से कर्मबन्ध होता ही है। इसलिए चतुर्विध कर्म-उपचय (बन्ध) को प्राप्त नही होते, यह कहना भी यथार्थ नही है। इसीलिए शास्त्रकार ने कर्मोपचय निषेध-वादी बौद्धो पर दो आक्षेप लगाये है—(क) कर्म चिन्ता से रहित हैं, (२) सयम और सवर के विचार से किसी कार्य मे प्रवृत्त नही होते।

कठिन शब्दों की व्याख्या—**संसारपरिवड्ढणं**—ससार-जन्म-मरण रूप ससार की वृद्धि करने वाला, पाठान्तर है—**दुक्खक्खंधविवड्ढणं**—दु.ख-स्कन्ध[30] यानी असातावेदनीय के उदय रूप दु.ख की परम्परा को बढाने वाला। **जाणं काएण अणाउट्टी**—जानता हुआ भी शरीर से हिंसा नही करने वाला। जानता हुआ यदि काया से प्राणी को, प्राणी के अगो को काटता हो अथवा चूणिकार के अनुसार जो ६ बातो से अभिज्ञ बुद्ध-तत्त्वज्ञ है, वह हिंसा करता हुआ भी पापकर्म का बन्ध नही करता अथवा स्वप्न मे किसी प्राणी का घात करता हुआ भी काया से छेदनादि हिसा नही करता। **अबुहो**—अनजान मे, नही जानता हुआ। **पुट्ठो संवेदेति परं**—अविज्ञोपचित आदि चार प्रकार के कर्मों से कर्ता जरा-सा स्पृष्ट होता है, वह केवल स्पर्शमात्र का अनुभव करता है, क्योकि उसका विपाक (फल) अधिक नहीं होता। जैसे—दीवार पर फेंकी हुई बालु की मुट्ठी स्पर्श के बाद ही झड जाती है। **'अवियत्तं खु सावज्जं'**—उक्त चतुर्विध कर्म अव्यक्त-अस्पष्ट है, क्योकि विपाक का स्पष्ट अनुभव नही इसलिए परिज्ञोपचितादि कर्म अव्यक्त रूप से सावद्य हैं। **आयाणा**—पापकर्मों के आदान-ग्रहण या कर्मबन्ध के कारण। अर्थात् जिन दुष्ट अध्यवसायो मे पापकर्म का उपचय किया जाता है, वे आदान कहलाते है। **भावविसोहीए**—राग-द्वेषादि रहित बुद्धि से। **चित्तं तेसिं न विज्जती**—प्राणिवध के परिणाम होने पर उनका चित्त शुद्ध नही रहता। **अणवज्जं अतहं तेसिं**—केवल मन से द्वेष करने पर भी उनके पाप कर्मबन्धन या कर्मोपचय नही होता, यह असत्य है।

परवादि-निरसन

> ५७. **इच्चेयाहि दिट्ठीहिं, सातागारवणिस्सिता।**
> **सरणं ति मण्णमाणा, सेवती पावगं जणा ॥३०॥**
>
> ५८. **जहा आसाविणिं णावं, जातिअंधो दुरूहिया।**
> **इच्छेज्जा पारमागंतुं, अंतरा य विसीयति ॥३१॥**
>
> ५९. **एवं तु समणा एगे मिच्छद्दिट्ठी अणारिया।**
> **संसारपारकंखी ते, ससारं अणुपरियट्टंति ॥३२॥ त्ति बेमि ॥**

५७ (अब तक बताई हुई) इन (पूर्वोक्त) दृष्टियो को लेकर सुखोपभोग एव बडप्पन (मान-बडाई) मे आसक्त (विभिन्न दर्शन वाले) अपने-अपने दर्शन को अपना शरण (रक्षक) मानते हुए पाप का सेवन करते हैं।

---

३०. चूर्णिकार के अनुसार—कर्मसमूह, वृत्तिकार के अनुसार—दु ख परम्परा बौद्ध सम्मत चार आर्य सत्यो मे से दूसरा।

५८. जैसे चारो ओर से जल प्रविष्ट होने वाली (छिद्रयुक्त) नौका पर चढकर जन्मान्ध व्यक्ति पार जाना चाहता है, परन्तु वह बीच मे ही जल मे डूब जाता है।

५९ इसी प्रकार कई मिथ्यादृष्टि, अनार्य श्रमण ससार सागर से पार जाना चाहते है, लेकिन वे ससार मे ही बार-बार पर्यटन करते रहते है।
—इस प्रकार मै कहता हूँ।

विवेचन- विभिन्न अन्यदृष्टियो की दशा--५७ से लेकर ५९ तक की तीन गाथाओ मे बताये गये विभिन्न एकान्त दर्शनो, वादो, दृष्टियो को सत्य मानकर उनकी शरण लेकर अन्धविश्वासपूर्वक चलने वाले व्यक्तियो की दुर्दशा का दो तरह से चित्रण किया गया है-- (१) अपने दर्शन की शरण लेकर, कर्म बन्धन से निश्चिन्त होकर इन्द्रिय-सुखोपभोग एव मान-बडाई मे आसक्त वे लोग निश्शक भाव से पापाचरण करते रहते है, (२) जैसे सच्छिद्र नौका मे बैठा हुआ जन्मान्ध अधबीच मे ही पानी मे डूबता है, वैसे ही ससार सागर पार होने की आशा से मिथ्यात्व-अविरति आदि छिद्रो के कारण कर्म जल प्रविष्ट हो जाने वाली मिथ्यादृष्टि युक्त मत नौका मे बैठे हुए मत-मोहान्ध व्यक्ति बीच मे ही डूब जाते है।[31]

कठिन शब्दो की व्याख्या --सातागारवणिस्सिया--सुखशीलता मे आसक्त। **सरण ति मण्णमाणा**--हमारा यही दर्शन ससार से उद्धार करने मे समर्थ है, इसलिए यही हमारा शरण-रक्षक होगा, यह मानकर। चूर्णिकार- **हियति मण्णमाणा तु सेवती अहिय जणा'**--पाठान्तर मानकर इसकी व्याख्या करते हैं --'इसी से हमारा हित होगा' इस प्रकार वे इस अहितकर को हितकर मानते हुए सेवन करते है। **आसाविर्णी णाव**--वृत्तिकार के अनुसार--जिसमे चारो ओर से पानी आता है, ऐसी सच्छिद्र नौका आस्राविणी कहलाती है। चूर्णिकार के अनुसार, जिसमे चारो ओर से पानी आकर गिरता है, इस कारण जिसके कोठे (प्रकोष्ठ) टूट गये है, या कोठे बनाये ही नही गये है ऐसी नाव। **अन्तरा य विसीयति**--बार-बार चतुर्गतिक परिभ्रमण रूप ससार मे ही पर्यटन करते है।[32]

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

---

३१ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ३९
(ख) सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० १९२ से १९६ तक

३२ (क) सूत्रकृताक शीलाकवृत्ति पत्राक ३९-४०
(ख) सूयगडग सुत्त चूर्णि (मूलपाठ टिप्पण) पृ० १०

तइओ उद्देसओ

तृतीय उद्देशक

आधाकर्म दोष

६०. जं किंचि वि पूतिकडं, सड्ढीमागंतुमीहियं ।
सहस्संतरियं भुंजे, दुपक्खं चेव सेवती ॥ १ ॥

६१. तमेव अविजाणंता, विसमंमि अकोविया ।
मच्छा वेसालिया चेव, उदगस्सऽभियागमे ॥ २ ॥

६२. उदगस्सऽप्पभावेणं, सुक्कंमि घातमिंति उ ।
ढंकेहि य कंकेहि य, आमिसत्थेहि ते दुही ॥ ३ ॥

६३. एवं तु समणा एगे, वट्टमाणसुहेसिणो ।
मच्छा वेसालिया चेव, घातमेसंतऽणंतसो ॥ ४ ॥

६० जो आहार आधाकर्मी आहार के एक कण से भी दूषित, मिश्रित या अपवित्र है, और श्रद्धालु गृहस्थ के द्वारा आगन्तुक मुनियो, श्रमणो के लिए बनाया गया है, उस (दोषयुक्त) आहार को जो साधक हजार घर का अन्तर होने पर भी खाता है वह साधक (गृहस्थ और साधु) दोनो पक्षो का सेवन करता है ।

६१ उस (आधाकर्म आदि आहारगत दोष) को नही जानते हुए तथा (अष्टविध कर्म के या ससार के) ज्ञान मे अनिपुण वे (आधाकर्मादि दोषयुक्त आहारसेवी साधक) उसी प्रकार दु खी होते है, जैसे वैशालिक जाति के मत्स्य जल की बाढ आने पर ।

६२ बाढ के जल के प्रभाव से सूखे और गीले स्थान मे पहुचे हुए वैशालिक मत्स्य जैसे मासार्थी ढक और कंक पक्षियो द्वारा सताये जाते है ।

६३ इसी प्रकार वर्तमान सुखके अभिलाषी कई श्रमण वैशालिक मत्स्य के समान अनन्त बार (विनाश) को प्राप्त होगे ।

विवेचन—दूषित आहार-सेवी साधको की दशा—गाथा ६० से ६३ तक मे शास्त्रकार ने स्व-समय (निर्ग्रन्थ श्रमणाचार) के सन्दर्भ मे आधाकर्म आदि दोष से दूषित आहार-सेवन से हानि एव दोषयुक्त आहार-सेवी की दुर्दशा का निरूपण किया है ।

छान्दोग्य उपनिषद मे भी बताया है कि आहार-शुद्धि से सत्त्वशुद्धि होती है, सत्त्वशुद्धि से स्मृति स्थायी होती है, स्थायी स्मृति प्राप्त होने पर समस्त ग्रन्थियो का विशेष प्रकार से मोक्ष हो जाता है ।[1]

---

१ 'आहारशुद्धौ, सत्त्वशुद्धि ध्रुवा स्मृति ।
स्मृतिलम्भे सर्व ग्रन्थीना विप्रमोक्ष ।' —छान्दोग्योपनिषद् अ० ७, खण्ड २६/२

यहां शास्त्रकार ने भी आहार शुद्धि पर जोर दिया है। अगर साधु का आहार आधाकर्मादिदोषदूषित होगा तो वह हिंसा का भागी तो होगा ही, उसके विचार सस्कार एव अन्त करण निर्बल हो जायेंगे। दूषित आहार से साधु के सुख-शील कषाय मुक्त प्रमादी बन जाने का खतरा है। ६३वी सूत्र गाथा मे स्पष्ट कहा गया है--'**वट्टमाण सुहेसिणो।**' आशय यह है कि आहार-विहार की निर्दोषता को ठुकराकर वे साधक वर्तमान मे सुख-सुविधाओ को ढूढते रहते है, प्रमादी बनकर क्षणिक वैषयिक सुखो को देखते है, भविष्य के महान् दु खो को नही देखते।

प्रश्न होता है—आधाकर्मादि दोषयुक्त आहार का सेवन करने से कौन-से दु ख और कैसे प्राप्त होते है? इसके समाधान हेतु भगवती सूत्र मे यह द्रष्टव्य है—श्रमण भगवान् महावीर से गणधर गौतम ने एक प्रश्न पूछा—'भगवन्! आधाकर्मी (दोषयुक्त) आहार का सेवन करने वाला श्रमण निर्ग्रन्थ किस कर्म का बन्ध करता है? कौन-सा कर्म प्रबल रूप से करता है? कितने कर्मो का चय-उपचय करता है?"

उत्तर मे भगवान् ने कहा—"गौतम! आधाकर्मी आहारकर्ता आयुष्य कर्म के सिवाय शेष ७ शिथिल नही हुई कर्म-प्रकृतियो को गाढ-बन्धनो से बद्ध कर लेता है, कर्मो का चय-उपचय करता है यावत् दीर्घकाल तक ससार मे परिभ्रमण करता है।[२]

यहा वैशालिक जाति के मत्स्य से तुलना करते हुए शास्त्रकार ने स्पष्ट बताया है जिस प्रकार वैशालिक या विशालकाय मत्स्य समुद्र मे तूफान आने पर ऊँची-ऊंची उछलती हुई लहरो के थपेडे खाकर चले जाते है। उन प्रबल तरगो के हटते ही गीले स्थान के सूख जाने पर वे समुद्र तट पर ही पडे-पडे तडफते हैं, उधर मासलोलुप ढकादि पक्षियो या मनुष्यो द्वारा वे नोच-नोचकर फाड दिये जाते है। रक्षक के अभाव मे वे वही तडप-तडप कर मर जाते है। यही हाल आधाकर्मी आहारभोजी का होता है, उन्हे भी गाढ कर्म बन्धन के फलस्वरूप नरक तिर्यच आदि दुर्गतियो मे जाकर दु ख भोगने पडते है, नरक मे परमाधार्मिक असुर है, तिर्यच मे मासलोलुप शिकारी, कसाई आदि हैं, जो उन्हे दु.खी कर देते है।

आहार-दोष का ज्ञान न हो तो?—कोई यह पूछ सकता है कि अन्यतीर्थी श्रमण, भिक्षु आदि जो लोग आधाकर्मादि दोषो मे बिलकुल अनभिज्ञ है, उनके ग्रन्थो मे आहार-दोष बताया ही नही गया है, न ही उनके गुरु, आचार्य आदि उन्हे आहार-शुद्धि के लिए आधाकर्मादि दोष बताते है। वे ससार परिभ्रमण के कारण और निवारण के सम्बन्ध मे बिल्कुल अकुशल है। न वे दूषित आहार-ग्रहणजनित हिसादि आस्रवो को पाप कर्मबन्ध का कारण मानते है, ऐसी स्थिति मे उनकी क्या दशा होगी? इसके उत्तर मे दो शब्दो मे यहा कहा गया--**ते दुही**--वे दु खी होते है। चाहे आहार दोष जानता हो, या न जानता हो, जो भी साधक आधाकर्मी आहार करेगा, उसे उसका कटुफल भोगना ही पडेगा।

वृत्तिकार ने यहाँ निष्पक्ष दृष्टि से स्पष्ट कर दिया है--चाहे आहार दोषविज्ञ जैन श्रमण हो

---

२ 'आहाकम्म ण भु जमाणे समणे निग्गथे किं बधइ? किं पकरेइ किं चिणाइ, किं उपचिणाइ?"
गोयमा! आहाकम्म ण भु जमाणे आउयवज्जाओ सत्तकम्मपगडीओ सिढिल बधण-बद्धाओ धणियबधण बद्धाओ पकरेइ, जाव अणुपरियट्टइ।"
—भगवतीसूत्र शतक ७, उ० ९, सू० ७८

अथवा आजीवक, बौद्ध आदि आहार-दोष से अनभिज्ञ श्रमण हो, जो भी आधाकर्म दोषयुक्त आहार करेगा, उसकी दुर्गति एव अनन्त बार विनाश निश्चित है—**'घातमेस्संति णंतसो'** ।

आधाकर्म दोषयुक्त आहार की पहचान—आहार आधाकर्म दोषयुक्त कैसे जाना जाये ? क्या दूसरे शुद्ध आहार के साथ मिल जाने या मिला देने से वह आहार आधाकर्म दोषयुक्त नही रहता ? इसके उत्तर मे ६०वी गाथा मे स्पष्ट बता दिया गया है—**'पूतिकडं सड्ढीमागंतुमीहियं'** । किसी श्रद्धालु भक्त द्वारा गाँव मे आये हुए साधु या श्रमणादि के लिए बनाया हुआ आहार आधाकर्म दोषयुक्त आहार है । विशुद्ध आहार मे उसका अल्पाश भी मिल जाय तो वह पूतिकृत आहार कहलाता है और एक, दो नही चाहे हजार घरो का अन्तर देकर साधु को दिया गया हो, साधु उसका सेवन करे तो भी वह साधु उक्त दोष से मुक्त नही होता । बल्कि शास्त्रकार कहते है—**दुपक्खं चेव सेवए** । आशय यह है कि ऐसे आहार का सेवी साधु द्विपक्ष दोष-सेवन करता है ।

'दुपक्ख' (द्विपक्ष) के तीन अर्थ यहाँ फलित होते हैं—

(१) स्वपक्ष मे तो आधाकर्मी आहार-सेवन का दोष लगता ही है, गृहस्थ पक्ष के दोष का भी भोगी वह हो जाता है, अत साधु होते हुए भी वह गृहस्थ के समान आरम्भ का समर्थक होने से द्विपक्ष-सेवी है ।

(२) ऐर्यापथिकी और साम्परायिकी दोनो क्रियाओ का सेवन करने के कारण द्विपक्ष-सेवी हो गया । आहार लाते समय ऐर्यापथिकी क्रिया लगती है और दोषयुक्त आहार लेने व सेवन करने से माया और लोभ दोनो कषायो के कारण साम्परायिकी क्रिया भी लगती है ।

(३) दोषयुक्त आहार लेने से पहले शिथिल रूप से बाधी हुई कर्म प्रकृतियो को वह निधत्त और निकाचित रूप मे गाढ स्थिति मे पहुँचा देता है । अत. वह द्विपक्ष-सेवी है ।[3]

कठिन शब्दो की व्याख्या —सड्ढीमागंतुमीहियं—चूर्णिकार के शब्दो मे—**श्रद्धा आस्यास्तीतिश्राद्धी आगच्छन्तीत्यागन्तुकाः । तैः श्राद्धीभिरागन्तूननुप्रेक्ष्य प्रतीत्य बक्खडिय । अथवा सड्ढित्ति जे एकतो वसति तानुद्दिश्य कृतम् । तत् पूर्वपश्चिमानां आगन्तुकोऽपि यदि सहस्संतरकडं भुजे दुपक्ख णाम पक्षौ द्वो सेवते** । अर्थात् —जिसके हृदय मे श्रद्धा (साधुजनो के प्रति) है, वह श्राद्धी है । जो नये आते है वे आगन्तुक है । उन श्रद्धालुओ द्वारा आगन्तुक साधुओ के उद्देश्य से अथवा उन्हे आये देख जो आहार तैयार कराया है । अथवा श्राद्धी का अर्थ है, जो साधक एक ओर रहते है, उन्हे उद्देश्य करके जो आहार बनाया है, उस आहार को यदि पहले या पीछे आये हुए आगन्तुक भिक्षु, श्रमण या साधु यदि हजार घर मे ले जाने के पश्चात् भी सेवन करता है, तो द्विपक्ष दोष का सेवन करता है ।

वृत्तिकार के अनुसार—**श्रद्धावताऽन्येन भक्तिमताऽपरान् आगन्तुकान् उद्दिश्य ईहितं चेष्टितम् निष्पादितम्**—अर्थात् दूसरे भक्तिमान् श्रद्धालु ने दूसरे आये हुए साधको के उद्देश्य (निमित्त) से बनाया है, तैयार किया है ।

पुतिकडं—आधाकर्मादि दोष के कण से भी जो अपवित्र दूषित है । **तमेव अजाणंता विसमंसि अकोविया**—आधाकर्मादि आहार दोष के सेवन को न जानने वाले विषम अष्टविध कर्मबन्ध

३. सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्रांक ४०-४१ के आधार पर

से करोडो जन्मो मे भी छूटना कठिन है, ऐसे अष्टविध कर्मबन्धो को जानने मे अकोविद-अनिपुण। यह कर्मबन्ध कैसा होता है, कैसे नही ? यह ससार सागर कैसे पार किया जा सकता है ? इस विषयो के ज्ञान मे अकुशल। **आमिसत्थेहिं**—मासार्थी मछुओ (मछली पकडने वालो) द्वारा (जिदा ही काटी जाती है)। चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है—**आमिसासीहि** जिसकी व्याख्या की गयी है—**आमिषाशिनः—शृगाल-पक्षि-मनुष्यमार्जरादयस्तैः**। अर्थात् मासभोजी शियार, पक्षी (गिद्ध आदि), मनुष्य (मछुए, कसाई आदि) तथा बिल्ली आदि के द्वारा। कही-कही **'सुक्क सिग्घंतमिति उ'** पाठ की इस प्रकार सगति बिठायी गयी है—**'सुक्कसि घंतमिति'**—पानी के सूख जाने पर वे (मत्स्य) **अशरण**—रक्षा रहित होकर—घात—विनाश को प्राप्त होते है। **घतमिति** का अर्थ चूर्णिकार ने किया है—"घन्तमेतीति—घनघोतन वा अत करोतीति घन्त—घात तम् एति—प्राप्नोतीत्यर्थ अथवा घंतो णाममच्चू त मच्चूमेति।' अर्थात् घनघात—सघन चोटे मारकर या पीट-पीटकर अन्त करने से विनाश को प्राप्त होते है, अथवा घत का अर्थ मृत्यु, वे मृत्यु को प्राप्त होते है।[४]

जगत् कर्तृत्ववाद

६४. इणमन्नं तु अण्णाणं, इहमेगेसिमाहियं।
देवउत्ते अयं लोगे, बंभउत्ते त्ति आवरे ॥५॥

६५. ईसरेण कडे लोए, पहाणाति तहावरे।
जीवा-ऽजीवसमाउत्ते, सुह-दुक्खसमन्निए ॥६॥

६६. सयंभुणा कडे लोए, इति वुत्त महेसिणा।
मारेण संथुता माया, तेण लोए असासते ॥७॥

६७. माहणा समणा एगे, आह अंडकडे जगे।
असो तत्तमकासी य, अयाणता मुस वदे ॥८॥

६८. सएहिं परियाएहिं लोयं, बूया कडे ति य।
तत्तं ते ण विजाणंती ण, विणासि कयाइ वि ॥९॥

६९. अमणुण्णसमुप्पाय, दुक्खमेव विजाणिया।
समुप्पादमयाणता, किह नाहिंति संवर ॥१०॥

६४ (पूर्वोक्त अज्ञानो के अतिरिक्त) दूसरा अज्ञान यह भी है—'इस लोक (दार्शनिक जगत्) मे किसी ने कहा है कि यह लोक (किसी) देव के द्वारा उत्पन्न किया हुआ है और दूसरे कहते हैं कि ब्रह्मा ने बनाया है।'

---

४. (क) सूत्रकृ० शीला० वृ० पत्राक ४०-४१

(ख) सूत्रकृताग चूर्णि (सूयगडग मूलपाठ टिप्पण युक्त) पृ० १०-११

६५ जीव और अजीव से युक्त तथा सुख-दुःख से समन्वित (सहित) यह लोक ईश्वर के द्वारा कृत-रचित है (ऐसा कई कहते है) तथा दूसरे (सांख्य) कहते है कि (यह लोक) प्रधान (प्रकृति) आदि के द्वारा कृत है।

६६ स्वयम्भू (विष्णु या किसी अन्य) ने इस लोक को बनाया है, ऐसा हमारे महर्षि ने कहा है। यमराज ने यह माया रची है, इसी कारण यह लोक अशाश्वत-अनित्य (परिवर्तनशील) है।

६७ कई माहन (ब्राह्मण) और श्रमण जगत् को अण्डे के द्वारा कृत कहते है तथा (वे कहते हैं)—ब्रह्मा ने तत्त्व (पदार्थ-समूह) को बनाया है।
वस्तुतत्त्व को न जानने वाले ये (अज्ञानी) मिथ्या ही ऐसा कहते है।

६८ (पूर्वोक्त अन्य दर्शनी) अपने-अपने अभिप्राय से इस लोक को कृत (किया हुआ) बतलाते है। (वास्तव मे) वे (सब अन्यदर्शनी) वस्तुतत्त्व को नही जानते, क्योंकि यह लोक कभी भी विनाशी नही है।

६९ दुःख अमनोज्ञ (अशुभ) अनुष्ठान से उत्पन्न होता है, यह जान लेना चाहिए। दुःख की उत्पत्ति का कारण न जानने वाले लोग दुःख को रोकने (संकट) का उपाय कैसे जान सकते हैं?

विवेचन—लोक कर्तृत्ववाद : विभिन्न मतवादियो की दृष्टि में—गाथा ६४ से ६९ तक शास्त्रकार ने इसे अज्ञानवादियो का दूसरा अज्ञान बताकर लोक-रचना के सम्बन्ध मे उनके विभिन्न मतो को प्रदर्शित किया है। इन सब मतो के बीज उपनिषदो, पुराणो एव स्मृतियो तथा सांख्यादि दर्शनो मे मिलते है। यहाँ शास्त्रकार ने लोक रचना के विषय मे मुख्य ७ प्रचलित मत प्रदर्शित किये है —

(१) यह किसी देव द्वारा कृत है, गुप्त (रक्षित) है, उप्त (बोया हुआ) है।
(२) ब्रह्मा द्वारा रचित है, रक्षित है या उत्पन्न किया गया है।
(३) ईश्वर द्वारा यह सृष्टि रची हुई है।
(४) प्रधान (प्रकृति) आदि के द्वारा लोक कृत है।
(५) स्वयम्भू (विष्णु या अन्य किसी के) द्वारा यह लोक बनाया हुआ है।
(६) यमराज (मार या मृत्यु) ने यह माया बनायी है, इसलिए लोक अनित्य है।
(७) यह लोक अण्डे से उत्पन्न हुआ है।

(१) देवकृत लोक—वैदिक युग मे मनुष्य का एक वर्ग अग्नि, वायु, जल, आकाश, विद्युत, दिशा आदि शक्तिशाली प्राकृतिक तत्त्वो का उपासक था, प्रकृति को ही देव मानता था। मनुष्य मे इतनी शक्ति कहाँ, जो इतने विशाल ब्रह्माण्ड की रचना कर सके, देव ही शक्तिशाली है। इस धारणा से देवकृत लोक की कल्पना प्रचलित हुई। इसलिए कहा गया—**देवउत्ते**। इसके संस्कृत मे तीन रूप हो सकते हैं—देव-उप्त, देवगुप्त और देवपुत्र। 'देव-उप्त' का अर्थ है—देव के द्वारा बीज की तरह बोया गया। किसी देव ने अपना बीज (वीर्य) किसी स्त्री में बोया (डाला) और उससे मनुष्य तथा दूसरे प्राणी हुए। प्रकृति की सब वस्तुए हुई। ऐतरेयोपनिषद् आदि मे इनके प्रमाण मिलते हैं।

देवगुप्त का अर्थ है—देवो या देव द्वारा रक्षित। सारा जगत् किसी देव द्वारा रक्षित है। देवपुत्र का अर्थ है—यह जगत् तथाकथित देव का पुत्र सन्तान है, जिसने ससार को उत्पन्न किया है।[५]

(२) **ब्रह्मरचितलोक**—कोई प्रजापति ब्रह्मा द्वारा लोक की रचना मानते है। उनका कहना है—मनुष्य मे इतनी शक्ति कहाँ कि कितनी विशाल व्यापक सृष्टि की रचना और सुरक्षा कर सके। और देव भले ही मनुष्यो से भौतिक शक्ति मे बढे-चढे हो, लेकिन विशाल ब्रह्माण्ड को रचने मे कहाँ समर्थ हो सकते है? वही सारे ससार को देख सकते है। जैसा कि उपनिषद् मे कहा है- "सृष्टि से पहले हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) अकेला ही था।"[६]

मुण्डकोपनिषद् मे तो स्पष्ट कहा है—विश्व का कर्ता और भुवन का गोप्ता (रक्षक) ब्रह्मा देवो मे सर्वप्रथम हुआ। **तैत्तिरीयोपनिषद्** मे कहा गया है—उसने कामना की—"मै एक हूँ, बहुत हो जाऊँ, प्रजा को उत्पन्न करूँ।" उसने तप तथा तपश्चरण करके यह सब रचा सृजन किया- **प्रश्नोपनिषद्** मे भी इसी का समर्थन मिलता है। इसी तरह छान्दोग्य-उपनिषद् मे पाठ है। **बृहदारण्यक** मे ब्रह्मा के द्वारा सृष्टि रचना की विचित्र कल्पना बतायी गयी है और क्रम भी। "ब्रह्मा अकेला रमण नही करता था। उसने दूसरे की इच्छा की। जैसे स्त्री-पुरुष परस्पर आश्लिष्ट होते है, वैसे ब्रह्मा ने अपने आपके दो भाग किये और वे पति-पत्नी के रूप मे हो गये। पहले मनुष्य फिर गाय, बैल, गर्दभी, गर्दभ, बकरी, बकरा, पशु-पक्षी आदि से लेकर चीटी तक सब के जोडे बनाये। उसे विचार हुआ कि मैं सृष्टि रूप हूँ, मैने ही यह सब सृजन किया है, इस प्रकार सृष्टि हुई।[७] एक वैदिक पुराण

---

५. देवकृत जगत् के प्रमाण उपनिषदो मे—

(क) " दिवमेव भवामो सुतेजा आत्मा वैश्वानरो इत्यादित्यमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै विश्वरूप आत्मा वैश्वानरो य त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्तव बहु विश्वरूप कुले दृश्यते ॥१॥ वायुमेव भगवो ' मुपास्से इत्याकाशमेव भगवो राजन्निति बहुलोऽस्मि प्रजया धनेन च ॥१॥ इत्यप एव भगवो राजन्निति होवाचैष वै रयिरात्मा वैश्वानरो तस्मात्त्व रयिमान् पुष्टिमानसि ॥ पृथिवीमेव भगवो राजन् इति होवाचैष वै प्रतिष्ठात्मा वैश्वानरो य त्वमात्मा न मुपास्से तस्मात्व प्रतिष्ठितोऽसि प्रजया च पशुभिश्च ॥१॥ यूय पृथगिवेममात्मान वैश्वानर विद्वसोऽन्नमात्थ यस्त्वेतमेव प्रादेसमात्रमभिविमानमात्मान वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेष भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति ॥१॥

—छान्दोग्योपनिषद् खण्ड १२ से १८ तक अध्याय ५

(ख) स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति। स इमाल्लोकानसृजत। अम्भो मरीचिर्मरमापोऽम्भ पर दिव द्यौ प्रतिष्ठाऽन्तरिक्ष मरीचय ॥

— ऐतरेयोपनिषद्, प्रथम खण्ड

(ग) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ४२ के आधार पर

६ ब्रह्मा द्वारा रचित जगत् के प्रमाण—

"हिरण्यगर्भ समवर्तताऽग्रे, स ऐक्षत, तत्तेजाऽसृजत।" —छान्दोग्योपनिषद् खण्ड २ श्लोक ३

७ (क) ओ३म् ब्रह्मा देवाना प्रथम सम्बभूव विश्वस्य कर्ता, भुवनस्य गोप्ता।—मुण्डकोपनिषद् खण्ड १ श्लोक १

(ख) सोऽकामयत। बहु स्या प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा इद सर्वमसृजत ॥

—तैत्तिरीयोपनिषद अनुवाक् ६

मे सृष्टि क्रम बताया है कि पहले यह जगत् घोर अन्धकारमय था, बिलकुल अज्ञात, अविलक्षण अतर्क्य और अविज्ञेय। मानो वह बिलकुल सोया हुआ था। वह एक समुद्र के रूप मे था। उसमे स्थावर-जगम, देव, मानव, राक्षस, उरग और भुजग आदि सब प्राणी नष्ट हो गये थे। केवल गड्ढा-सा बना हुआ था, जो पृथ्वी आदि महाभूतो से रहित था। मन से भी अचिन्त्य विभु सोये हुए तपस्या कर रहे थे। सोये हुए विभु की नाभि से एक कमल निकला, जो तरुण सूर्य बिम्ब के समान तेजस्वी, मनोरम और स्वर्णकर्णिका वाला था। उस कमल मे से दण्ड और यज्ञोपवीत से युक्त ब्रह्माजी उत्पन्न हुए। जिन्होने वही आठ जगन्माताएँ बनायी—(१) दिति, (२) अदिति, (३) मनु, (४) विनता, (५) कद्रु, (६) सुलसा, (७) सुरभि और (८) इला। दिति ने दैत्यो को, अदिति ने देवो को, मनु ने मनुष्यो को, विनता ने सभी प्रकार के पक्षियो को, कद्रु ने सभी प्रकार के सरीसृपो (सापो) को, सुलसा ने नागजातीय प्राणियो को, सुरभि ने चौपाये जानवरो को और इला ने समस्त बीजो को उत्पन्न किया।[८]

ये और इस प्रकार के अनेक प्रसग ब्रह्मा द्वारा सृष्टि रचना के मिलते हैं। इसीलिए शास्त्रकार

(ग) प्रजाकामो वै प्रजापति । स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा मिथुनमुत्पादयते। रयिं च प्राण चेत्येतौ मे बहुधा प्रजा करिष्ये ॥४॥ —प्रश्नोपनिषद् प्रश्न १, श्लो० ४

(घ) स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते, स द्वितीयमैच्छत्। स हैतावनाप यथा स्त्रीपुमासौ सपरिष्वक्तौ, स इममेवात्मान द्वेधा पातयत्तत पतिश्च पत्नी चाभवताम्। तस्मादिद मर्धबृगलमिव स्व इतिह स्माह-याज्ञवल्क्य एतस्मादयमाकाश, ततो मनुष्या अजायन्त, गौरभवदृषभ, ततो गावोऽजायन्त, वडवेतरा-भवदश्व वृष इतरो गर्दभीतरा गर्दभ अजेतरभवद्बस्त यदिद किं च मिथुनमगपिपीलिकाभ्यस्तत् सर्वम-सृजन ॥४॥ सेऽवेदह वाव सृष्टिरस्मि, अह सर्वमसृक्षीति, तत सृष्टिरभवत्।

—बृहदारण्यक उपनिषद् ब्रा० ४, सू० ३-४

८ आसीदिद तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेय प्रसुप्तमिव सर्वत ॥१॥
तस्मिन्नेकार्णवीभूते नष्टस्थावरजगमे।
नष्टामरनरे चैव प्रणष्टे राक्षसोरगे ॥२॥
केवल गह्वरीभूते, महाभूतविवर्जिते।
अचिन्त्यात्मा विभुस्तत्र शयानस्तप्यते तप ॥३॥
तत्र यस्य शयानस्य नाभे पद्मविनिर्गतम्।
तरुणार्क बिम्बिनिभ हृद्य काचनकर्णिकाम् ॥४॥
तस्मिन् पद्मे भगवान् दण्डयज्ञोपवीतसयुक्त।
ब्रह्मा तत्रोत्पन्नस्तेन जगन्मातर सृष्टा ॥५॥
अदिति सुर-सन्धाना दितिरसुराणा, मनुर्मनुष्याणाम्।
विनता विहगमाना माता विश्वप्रकाराणाम् ॥६॥
कद्रु सरीसृपाना सुलसा माता च नागजातीनाम्।
सुरभिश्चतुष्पदानामिला पुन सर्वबीजानाम् ॥७॥ —वैदिक पुराण

ने कहा—"**बंभउत्ते ति श्रावरे**।" देवउत्ते की तरह बभउत्ते के भी तीन सस्कृत रूप होते है और अर्थ भी उसी अनुसार तीन होते है।

ईश्वरकृत लोक—उस युग मे ईश्वर कर्तृत्ववादी मुख्यतया तीन दार्शनिक थे—वेदान्ती, नैयायिक और वैशेषिक।[९] वेदान्ती ईश्वर (ब्रह्म) को ही जगत् का उपादान कारण एव निमित्तकारण मानते है। उनके द्वारा अनेक प्रमाण भी प्रस्तुत किये जाते है। बृहदारण्यक उपनिषद् मे देखिए—"पहले एकमात्र यह ब्रह्म ही था, वही एक सत् था, जिसने इतने श्रेय रूप क्षेत्र का सृजन किया, फिर क्षत्राणी का, जिसने वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु, ईशान आदि देवता उत्पन्न किये। फिर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और अन्त मे सबके पोषक शूद्र वर्ण का सृजन किया।[१०] तैत्तिरीयोपनिषद् मे कहा है—"जिस ब्रह्म—ईश्वर से ये प्राणी उत्पन्न होते है, जिससे ये भूत (प्राणी) उत्पन्न होकर जीवित रहते है, जिसके कारण प्रयत्न (हलन-चलन आदि प्रवृत्ति) करते है, जिसमे विलीन हो जाते है, उन सबका तादाम्य-उपादान कारण ईश्वर (ब्रह्म) ही है।[११]

बृहदारण्यक मे ही आगे कहा है—'उस ब्रह्म के दो रूप है—मूर्त और अमूर्त, अथवा मर्त्य और अमृत, जिसे यत् और त्यत् कहते है। वही एक ईश्वर सब प्राणियो के अन्तर मे छिपा हुआ है।' बादरायण व्यास-रचित ब्रह्मसूत्र के प्रथम सूत्र मे बताया "सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय इसी से होते है।" वेदान्ती अनुमान प्रमाण का प्रयोग भी करते है- "ईश्वर जगत् का कर्ता है, क्योंकि वह चेतन है, जो-जो चेतन होता है, वह-वह कर्ता होता है जैसे—कुम्हार घट का कर्ता है'।[१२]

---

९ (क) सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० २०६
(ख) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ४२ के आधार पर
(ग) वर्तमान मे वैदिक धर्म-सम्प्रदायो के अतिरिक्त इस्लाम धर्म, ईसाई धर्म, आदि भी ईश्वरकर्तृत्ववादी है, परन्तु उनके पास अपने-अपने धर्म-ग्रन्थो मे लिखित ईश्वरकर्तृत्ववाद पर आँखे मूंदकर श्रद्धा करने के अतिरिक्त कोई विशेष प्रमाण, युक्ति या तर्क नही है।

१० (क) ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव, तदेक सन्न व्यभवत्तच्छ्रेयो रूपमत्यसृजत क्षत्र, यान्येतानि देवता क्षत्राणीन्द्रो वरुण सोमो रुद्र पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति तस्मात् क्षत्रात्पर नास्ति, तस्माद् ब्राह्मणा स विशमसृजत यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति ॥१२॥ स शौद्र वर्णमसृजत पूषणम्। तदेतद् ब्रह्म क्षत्र विट् शुद्र ॥ —बृहदा० अ० १, ब्रा० ४

११. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति।
—तैत्तिरीयोपनिषद् ३ भृगुवल्ली

१२ (क) द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च, मर्त्यं चामृत च, स्थित च यच्च त्यच्च।
—बृहदारण्यकोपनिषद् अ २ ब्रा ३।१
(ख) तत पर ब्रह्म पर बृहन्त यथा निकाय सर्वभूतेषु गूढम्। —श्वेताश्वतर. अ ३।७
(ग) 'जन्माद्यस्य यत' —ब्रह्मसूत्र १।१।१
(घ) कर्तास्ति कश्चित् जगत सचैक, स सर्वग स स्ववश स नित्य।
इमा कुहेवाकविडम्बनास्युस्तेषा न येषमनुशासकस्त्वम् ॥
—स्याद्वाद मजरी

दूसरे कर्तृत्ववादी नैयायिक है, नैयायिक मत अक्षपाद ऋषि प्रतिपादित है। इस मत के आराध्य देव महेश्वर (शिव) हैं, महेश्वर ही चराचर सृष्टि का निर्माण तथा सहार करते हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् मे बताया है—'वही देवो का अधिपति है, उसी मे सारा लोक अधिष्ठित है। वही इस द्विपद चतुष्पद पर शासन करता है। वह सूक्ष्म रूप मे कलिल (वीर्य) मे भी हैं, विश्व का स्रष्टा है, अनेक रूप है। वही विश्व का एकमात्र परिवेष्ठिता (अपने मे लपेटने वाला) है, उस शिव को जानकर (प्राणी) परम शान्ति प्राप्त कर लेता है। वही समय पर भुवन (सृष्टि) का गोप्ता (रक्षक) है, वही विश्वाधिप है, सभी प्राणियो मे गूढ है, जिसमे ब्रह्मर्षि और देवता लीन होते है। उसी को जानकर मृत्युपाश का छेदन करते है।'

नैयायिक जगत् को महेश्वर कृत सिद्ध करने के लिए अनुमान प्रमाण का प्रयोग करते है— "पृथ्वी, पर्वत, चन्द्र, सूर्य, समुद्र, शरीर, इन्द्रिय, आदि सभी पदार्थ किसी बुद्धिमान कर्ता द्वारा बनाये गये है, क्योकि वे कार्य है। जो-जो कार्य होते है, वे किसी न किसी बुद्धिमान कर्ता के द्वारा ही किये जाते है, जैसे कि घट। यह जगत् भी कार्य है, अत वह भी किसी बुद्धिमान द्वारा ही निर्मित होना चाहिए। वह बुद्धिमान जगत् का रचयिता ईश्वर (महेश्वर) ही है। जो बुद्धिमान द्वारा उत्पन्न नही किये गये है, वे कार्य नही है, जैसे कि आकाश। यह व्यतिरेक दृष्टान्त है।

ईश्वर को जगत् कर्ता मानने के साथ-साथ वे उसे एक, सर्वव्यापी (आकाशवत्) नित्य स्वाधीन, सर्वज्ञ एव सर्वशक्तिमान भी मानते है। ससारी प्राणियो को कर्मफल भुगतवाने वाला भी ईश्वर है, ऐसा कहते है। नैयायिक वेदान्तियो की तरह ईश्वर को उपादानकारण या समवायीकारण नही मानते, वे उसे निमित्तकारण मानते है। ईश्वर कर्तृत्व के विषय मे वैशेषिको की मान्यता भी लगभग ऐसी ही है।

प्रधानादिकृत लोक साख्यवादी कहते है—यह लोक प्रधान अर्थात् प्रकृति के द्वारा किया गया है। प्रकृति, सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणो की साम्यावस्था है। इसलिए जगत् का मूल कारण प्रधान को कहे या त्रिगुण (सत्त्व, रज और तम) को कहे, एक ही बात है। इन्ही गुणो से सारा लोक उत्पन्न हुआ है। सृष्टि त्रिगुणात्मक कहलाती है। जगत् के प्रत्येक पदार्थ मे तीन गुणो की सत्ता देखी जाती है। इसलिए सिद्ध है कि यह जगत त्रिगुणात्मक प्रकृति से बना है।[१३]

मूलपाठ मे कहा गया है- **'पहाणाइ तहावरे'**—आदि पद से महत्तत्त्व (बुद्धि), अहकार आदि का ग्रहण करना चाहिए। साख्य-दर्शन का सिद्धान्त है त्रिगुणात्मक प्रकृति सीधे ही इस जगत् को उत्पन्न नही करती। प्रकृति मूल, अविकृति (किसी तत्त्व के विकार से रहित) और नित्य है, उससे महत् (बुद्धि) तत्त्व उत्पन्न होता है, महत्तत्त्व से अहकार और अहकार से पाच तन्मात्रा (इन्द्रिय विषय) पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और मन ये १६ तत्त्व (षोडशगण) उत्पन्न होते है, पाँच तन्मात्राओ से पृथ्वी आदि पाँच भूत उत्पन्न होते है इस क्रम से प्रकृति सारे लोक को उत्पन्न करती है।[१४]

---

१३ (क) 'सत्त्वरजस्तमसा साम्यावस्था प्रकृति । —साख्यतत्त्व कौमुदी

१४ (क) मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्या प्रकृतिविकृतय सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो, न प्रकृतिर्न विकृति पुरुष ॥ —साख्यकारिका १

(ख) सूत्रकृतांग शीलाकवृत्ति पत्राक ४१

अथवा, प्रधानादि शब्द मे आदि शब्द से काल, स्वभाव, नियति आदि का ग्रहण करके इस जगत् को कोई कालकृत कोई स्वभावकृत, कोई नियतिकृत, कोई एकान्त कर्मकृत मानते है।

पूर्वोक्त कर्ताओं से उत्पन्न जगत् कैसा है—प्रश्न होता है—पूर्वोक्त विभिन्न जगत्कर्तृत्ववादियो के मत से उन-उन कारणो (कर्ताओ) द्वारा उत्पन्न जगत् कैसा है ? इस शका के उत्तर मे शास्त्रकार उनकी ओर से लोक के दो विशेषण व्यक्त करते है—**जीवाजीव समाउत्ते** और **सुहदुक्खसमन्निए,** अर्थात् वह लोक, जीव और अजीव दोनो से सकुल है, तथा सुख और दुःख से समन्वित ओत-प्रोत है।[१५]

स्वयम्भू द्वारा कृत लोक—महर्षि का कहना है—यह लोक स्वयम्भू द्वारा रचित है। महर्षि के दो अर्थ चूर्णिकार प्रस्तुत करते है—(१) महर्षि अर्थात् ब्रह्मा। अथवा (२) व्यास आदि ऋषि महर्षि है।

स्वयम्भू शब्द का अर्थ वृत्तिकार करते है—विष्णु या अन्य कोई। स्वयम्भू शब्द ब्रह्मा के अर्थ मे भी प्रयुक्त होता है और विष्णु के अर्थ मे भी। नारायणोपनिषद् मे कहा है—'अन्तर और बाह्य जो भी जगत् दिखायी देता है, सुना जाना है, नारायण (विष्णु) उस सारे जगत् को व्याप्त करके स्थित है। नारायणार्थवशिर उपनिषद् मे कहा है—पुरुष नारायण (विष्णु) ने चाहा कि मै प्रजाओ का सृजन करूँ और उससे प्राण, मन, इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ब्रह्मा, रुद्र, वसु यहा तक कि सारा जगत् नारायण से ही उत्पन्न होता है।[१६]

पुराण मे वर्णित ब्रह्मा द्वारा सृष्टि-रचना के क्रम की तरह मनुस्मृति मे भी उसी प्रकार का वर्णन मिलता है। यह 'जगत् सर्वत्र अन्धकारमय था, सुषुप्त-सा था। उसके पश्चात् महाभूतादि से ओज का वरण करके अन्धकार को हटाते हुए अव्यक्त स्वयम्भू इस (जगत्) को व्यक्त करते हुए स्वय प्रादुर्भूत हुए। वे अतीन्द्रिय द्वारा ग्राह्य, सूक्ष्म अव्यक्त, सनातन, सर्वभूतमय एव अचिन्त्य स्वयम्भू स्वत

---

१५ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ४२

(ख) सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ २१२

१६ (क) सूत्रकृताग चूर्णि

(ख) जैन साहित्य का बृहत् इतिहास भा १

(ग) यच्च किञ्चिज्जगत् सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा।
अन्तर्बहिश्च तत् सर्वं व्याप्य नारायण स्थित ॥ —नारायणोपनिषद, १३वाँ गुच्छ

(घ) अथ पुरुषो हवै नारायणोऽकामयत—प्रजा सृजयेति। नारायणात् जायते, मन सर्वेन्द्रियाणि च। ख वायुर्ज्योतिराय पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥ नारायणाद् ब्रह्मा जायते, नारायणात्प्रजापति प्रजायते·· नारायणादेव समुत्पद्यते, नारायणात् प्रवर्तन्ते, नारायणे प्रणीयन्ते ।'' —नारायणाथर्वशिर उपनिषद् १

उत्पन्न हुए। ध्यान करके अपने शरीर से विविध प्रजाओं की सृष्टि की। उसमें सर्वप्रथम पानी बनाया, फिर उसमें बीज उत्पन्न किया।"[१७]

मार द्वारा रचित माया : संसार प्रलयकर्ता मार—इसके पश्चात् शास्त्रकार ने कहा है—**मारेण संथुता माया, तेण लोए असासए** अर्थात् मार ने माया की रचना की। इस कारण यह जगत् अशाश्वत-अनित्य है।

मार के दो अर्थ यहाँ किये गये हैं—वृत्तिकार ने अर्थ इस प्रकार किया है—'जो मारता है, नष्ट करता है, वह मार—मृत्यु या यमराज।' पौराणिक कहते हैं—"स्वयम्भू ने लोक को उत्पन्न करके अत्यन्त भार के भय से जगत् को मारने वाला मार यानी मृत्यु-यमराज बनाया। मार (यम) ने माया रची, उस माया से प्राणी मरते हैं।" मार का अर्थ चूर्णिकार विष्णु करते हैं। वे नागार्जुनीय सम्मत पाठान्तर के रूप में एक नई गाथा उद्धृत करते हैं—

"अतिवड्ढीयजीवाणं मही विण्णवते पभुं।
ततो से मायासंजुत्ते करे लोगस्सऽभिद्दवा।"

अर्थात् पृथ्वी अपने पर जीवों का भार अत्यधिक बढ़ जाने के कारण प्रभु (विष्णु) से विनती करती है। इस पर उस प्रभु ने लोक का विनाश (संहार) करने के लिए उसे (लोक को) माया से युक्त बनाया।[१८]

वैदिक ग्रन्थों में एक प्रसिद्ध उक्ति है—

"विष्णोर्माया भगवती, यया सम्मोहितं जगत्।"

विष्णु की माया भगवती है, जिसने सारे जगत् को सम्मोहित कर दिया है। कठोपनिषद् में उस स्वयम्भू की माया के सम्बन्ध में कहा गया है—ब्राह्मण और क्षत्रिय जिसके लिए भात (भोजन) है, मृत्यु जिसके लिए व्यंजन (शाकभाजी) के समान है, उस विष्णु (स्वयम्भू) को कौन यहाँ जानता है जहाँ वह है?" जो भी हो मृत्यु का विनाश प्रत्येक सजीव-निर्जीव पदार्थ के साथ लगा हुआ है, इसी कारण लोक का अनित्य विनाशशील होना स्वाभाविक है। मृत्यु की महिमा बताते हुए बृहदारण्यक में कहा है—"यहाँ पहले कुछ भी नहीं था। मृत्यु से ही यह (सारा जगत्) आवृत्त था। वह मृत्यु सारे जगत् को निगल जाने के लिए थी।"[१९]

---

१७ आसीदिदं तमोभूतं मलक्षणम्।
अप्रतर्क्यं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥५॥
ततः स्वयम्भूर्भगवान् अव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्।
महाभूतादि वृत्तौजा प्रादुरासीत् तमोनुदः ॥६॥
योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः।
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ ॥७॥
सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमिवासृजत् ॥८॥ —मनुस्मृति अध्याय १

१८ (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ४२-४३ (ख) सूयगडंग चूर्णि (मूलपाठ टिप्पणयुक्त) पृ० ११

१९ (क) यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः। —कठोपनिषद् १ वल्ली २।२४
(ख) नेवेह किंचनाग्र आसीत् मृत्युनैवेदमावृतमासीत्। —बृहदारण्यक० ब्राह्मण २।१

मार्कण्ड ऋषि की एक कहानी मिलती है, जिसमे विष्णु द्वारा सृष्टि की रचना की जाने का रोचक वर्णन प्राकृत भाषा मे निबद्ध है।

अण्डे से उत्पन्न जगत्—"कुछ (त्रिदण्डी आदि) श्रमणो-ब्राह्मणो ने या कुछ पौराणिको ने अण्डे से जगत् की उत्पत्ति मानी है।" ब्रह्माण्ड पुराण मे बताया गया है कि पहले समुद्र रूप था, केवल जलाकार। उसमे से एक विशाल अण्डा प्रकट हुआ, जो चिरकाल तक लहरो से इधर-उधर बहता रहा। फिर वह फूटा तो उसके दो टुकडे हो गये। एक टुकड़े से पृथ्वी और दूसरे से आकाश बना। फिर उससे देव, दानव, मानव, पशु-पक्षी आदि के रूप मे सम्पूर्ण जगत् पैदा हुआ। फिर जल, वायु, समुद्र, नदी, पहाड आदि उत्पन्न हुए। इस प्रकार यह सारा ब्रह्माण्ड (लोक) अण्डे से बना हुआ है।

मनुस्मृति मे भी इसी से मिलती-जुलती कल्पना है—"वह अण्डा स्वर्णमय और सूर्य के समान अत्यन्त प्रभावान् हो गया। उसमे से सर्वलोक पितामह ब्रह्माजी उत्पन्न हुए। उस अण्डे मे वे भगवान् परिवत्सर (काफी वर्षों) तक रहे, फिर स्वय आत्मा का ध्यान करके उस अण्डे के दो टुकडे कर डाले। उन दोनो टुकडो से आकाश और भूमि का निर्माण किया।"[२०]

लोक-कर्तृत्व के सम्बन्ध में ये सब मिथ्या एवं असंगत कल्पनाएँ—गाथा ६७ के उत्तरार्द्ध मे ६८ वी सम्पूर्ण गाथा मे पूर्वोक्त जगत् कर्तृत्ववादियो को परामर्श से अनभिज्ञ, मृषावादी, अपने-अपने कृतवाद को अपनी-अपनी युक्तियो या स्वशास्त्रोक्तियो को सच्ची बताने वाले कथञ्चित् नित्य--अविनाशी लोक को एकान्त अनित्य-विनाशी बताने वाले कहा है। मूल गाथाओ मे केवल इतना-सा सकेत अवश्य किया है कि वे अविनाशी लोक को कृत—अर्थात् विनाशी कहते है। वे लोक के यथार्थ स्वभाव (वस्तुतत्त्व) को नही जानते। वृत्तिकार ने इसी पक्ति की व्याख्या करते हुए कहा है- वास्तव मे यह लोक कभी सर्वथा नष्ट नही होता, क्योकि द्रव्य रूप से यह सदैव स्थित रहता है। यह लोक अतीत मे भी था, वर्तमान मे भी है और भविष्य मे भी रहेगा। अत यह लोक पहले-पहल किसी देव ब्रह्मा,, ईश्वर, प्रकृति, विष्णु, शिव आदि के द्वारा बनाया हुआ नही है। यदि कृत (बनाया हुआ) होता तो सदैव सर्वथा नाशवान् होता, परन्तु लोक एकान्तत. ऐसा नही है।। अत लोक देव

---

२० (क) तदण्डमभवद्धैम सहस्राशुसमप्रभम्।
तस्मिन् जज्ञे स्वय ब्रह्मासर्वलोक पितामह ॥९॥
तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम्।
स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद् द्विधा ॥१२॥
ताभ्या स शकलाभ्या च दिव भूमिं च निर्ममे।
मध्येव्योम दिशश्चाष्टावपा स्थान च शाश्वतम् ॥१३॥
उद्बबर्हात्मनश्चैव पचेन्द्रियाणि च ॥१४-१५॥
—मनुस्मृति अ० १

(ख) कृतवाद-सम्बधित विचार के लिए देखिये सूत्रकृताग सूत्र ६५९-६६२।

आदि के द्वारा भी बनाया हुआ नही है। ऐसा कोई प्रमाण नही है कि जिससे विभिन्न कृतवादी अपने-अपने मान्य आराध्य द्वारा लोक का कर्तृत्व सिद्ध कर सके। ईश्वर कर्तृत्ववादियो ने लोक के विभिन्न पदार्थों को कार्य बताकर कुम्हार के घट रूप कार्य के कर्ता की तरह ईश्वर को जगत् कर्तृत्व रूप कार्य का कर्ता सिद्ध करने का प्रयास किया है, परन्तु लोक द्रव्य रूप से नित्य होने के कारण कार्य है ही नही। पर्याय रूप से अनित्य है, पर कार्य का कर्ता के साथ कोई अविनाभाव नही है।

दूसरा प्रश्न कृतवादियो के समक्ष यह उपस्थित होता है कि उनका सृष्टि कर्ता इस सृष्टि को स्वय उत्पन्न होकर बनाता है या उत्पन्न हुए बिना बनाता है ? स्वय उत्पन्न हुए बिना तो दूसरे को कैसे बना सकता है ? यदि उत्पन्न होकर बनाता है तो स्वय उत्पन्न होता है या दूसरे के द्वारा उत्पन्न किया है ? यदि माता-पिता के बिना स्वयमेव उत्पन्न होता है, तब तो इस जगत् को भी स्वय उत्पन्न क्यो नही मानते ? यदि दूसरे से उत्पन्न होकर लोक को बनाता है, तो यह बताये कि उस दूसरे को कौन उत्पन्न करता है ? वह भी तीसरे से उत्पन्न होगा, और तीसरा चौथे से उत्पन्न मानना पड़ेगा। इस प्रकार उत्पत्ति का प्रश्न खड़ा रहने पर अनवस्था दोष आ जायेगा। इसका कृतवादियो के पास कोई उत्तर नही है।

तीसरा प्रश्न यह खड़ा होता है कि वह सृष्टिकर्ता नित्य है या अनित्य है ? नित्य तो एक साथ या क्रमश भी अर्थक्रिया कर नही सकता, क्योंकि वह तो अपनी जगह से हिल भी नही सकता और न उसका स्वभाव बदल सकता है। यदि वह अनित्य है तो उत्पत्ति के पश्चात् स्वय विनाशी होने के कारण नष्ट हो सकता है, अत उसका कोई भरोसा नही है कि वह जगत् को बनायेगा, क्योकि नाशवान होने मे अपनी रक्षा करने मे असमर्थ हो, वह दूसरे की उत्पत्ति के लिए व्यापार चिन्ता क्या कर सकता है ?

अब प्रश्न यह है कि वह सृष्टि कर्ता मूर्त है या अमूर्त ? यदि वह अमूर्त है तो आकाश की तरह वह भी अकर्ता है, यदि मूर्तिमान है, तब कार्य करने के लिए उसे साधारण पुरुष की तरह उपकरणो की अपेक्षा रहेगी। उपकरण बनायेगा तो उनके लिए दूसरे उपकरण चाहिए। वे उपकरण कहाँ से आयेगे ? यदि पहले ईश्वर द्वारा सृष्टि की रचना मानने से उसमे अन्यायी, अबुद्धिमान, अशक्तिमान, पक्षपाती, इच्छा, राग-द्वेष आदि विकारो से लिप्त आदि अनेक दोषो का प्रसग होता है।[२१] इसीलिए भगवद्गीता मे कहा गया है—

> **"न कर्तृत्वं न कर्माणि, लोकस्य सृजति प्रभुः।**
> **न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥"**

ईश्वर न तो लोक का सृजन करता है, न ही कर्मों का और न लोकगत जीवो के शुभाशुभ कर्मफल का सयोग करता है। लोक तो स्वभावत स्वय प्रवर्तित है—चल रहा है।[२२]

---

२१ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ४३-४४ के आधार पर

(ख) स्याद्वाद मजरी—"कर्ताऽस्ति कश्चिज्जगत …" कारिका की व्याख्या

२२. भगवद्गीता अ० ५, श्लोक १४

ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, उदर से वैश्य और पैरो से शूद्र की तथा अण्डे से जगत् की उत्पत्ति मानना एक तरह से असगत है, अयुक्ति है। जब ईश्वर आदि भी जगत् के कर्ता न हो सके तो स्वयम्भू द्वारा मार की रचना, अण्डे की उत्पत्ति, (पंचभूतो के बिना) आदि तथा अव्यक्त अमूर्त, अचेतन प्रकृति से मूर्त, सचेतन एव व्यक्त की रचना आदि सब निरर्थक कल्पनाएँ है।

जैन दर्शन के अनुसार यह लोक अनादि-अनन्त है। लोक द्रव्यार्थ रूप से नित्य है और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य-परिवर्तनशील है। जीव अनादिकाल से और अजीव-जड पदार्थ अपने रूप मे न कभी नष्ट होते है, न उत्पन्न होते है। उनमे मात्र अवस्थाओ का परिवर्तन हुआ करता है।

जो लोक के कर्ता नहीं, वे उसके दुःख-सुख सयोजनकर्ता कैसे?—गाथा ६९ भी लोककर्तृत्व-वाद से सम्बन्धित है। पहले ६५वी गाथा मे यह बताया गया था कि **'जीवाजीव समाउत्ते सुहदुक्ख-समन्निए'**—ईश्वर या प्रधानादि जीवाजीव एव सुख-दु ख से युक्त लोक का निर्माण करते है। उसी सन्दर्भ में यहाँ उत्तर दिया गया है कि ये लोग मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभयोग दु ख की उत्पत्ति के कारण है यह नही जानते तथा सम्यक्त्व, हिंसादि से विरति आदि की साधना-आराधना करना दु ख निवारण का उपाय है, ऐसा भी नही जानते-मानते है। इसलिए ६९वी गाथा मे कहा गया है—**अमणुण्ण समुप्पादं कहं नाहिंति संवरं?** इसका आशय यह है—अपने द्वारा किये गये अशुभ अनुष्ठान (पापाचरण या धर्माचरण) से दु ख की उत्पत्ति होती है, इसके विपरीत अपने द्वारा किये गये शुद्ध धर्मानुष्ठान (रत्नत्रयाचरण) से ही सुख की उत्पत्ति होती है। दूसरा कोई देव, ब्रह्मा, विष्णु, महेश या ईश्वर किसी को सुख या दु ख से युक्त नही कर सकता। अगर ऐसा कर देता तो वह सारे जगत् को सुखी ही कर देता, दु खी क्यो रहने देता? जो लोग सुख-दु ख की उत्पत्ति के कारणो को स्वय नही जानते, वे दूसरो को सुख-दु ख दे पायेगे? अथवा दूसरो को सुख-दु ख प्राप्त करने का उपाय भी कहाँ से बतायेगे?

इस गाथा द्वारा शास्त्रकार ने **'अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य'** (आत्मा ही अपने सुखो और दु खो का कर्ता एव भोक्ता है) के सिद्धान्त को ध्वनित कर दिया है तथा दु ख रूप कर्म-बन्धन को तोडने के लिये किसी देव, ब्रह्मा, विष्णु, महेश या परमात्मा के समक्ष गिडगिडाने, याचना करने का खण्डन करके स्वकर्तृत्ववाद—स्वय पुरुषार्थ द्वारा आत्म-शक्ति प्रकट करने का श्रमण सस्कृति का मूलभूत सिद्धान्त व्यक्त कर दिया है।[२३]

कठिन शब्दों की व्याख्या—**सएहिं परियाएहि लोयं बूया कडेति य**—अपने-अपने पर्यायो-अभि-प्रायो से युक्ति विशेषो से उन्होने कहा कि यह लोक कृत (अमुक द्वारा किया हुआ) है। चूर्णिकार के अनुसार 'य' (च) शब्द से **'अकडेति च'** यह भी अध्याहृत होता है, अर्थ होता है—और (यह लोक) अकृत (नित्य) भी है। यहाँ **'लोयं बूया कडेविधि'** भी पाठान्तर मिलता है, उसका अर्थ किया गया है—विधि-विधान या प्रकार। लोक को 'कृत' का एक प्रकार कहते है। **'ण विणासी कयाइ वि'** इसके बदले

२३ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ४४-४५ के आधार पर

(ख) सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० २३० के आधार पर

चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है—**'णायं ण ऽऽसि कयाति वि'** अर्थात् यह लोक कभी 'नही था' ऐसा नही है। **अमणुण्णसमुप्पादं दुक्खमेव**—जिस दु ख की उत्पत्ति अमनोज्ञ-असत् अनुष्ठान से होती है। **विजाणीया**—बुद्धि विशेष रूप से जाने।[२४]

अवतारवाद

> ७०. **सुद्धे अपावए आया, इहमेगेसि आहित।**
> **पुणो कीडा-पदोसेणं, से तत्थ अवरज्झई ॥११॥**
>
> ७१. **इह संवुडे मुणी जाए, पच्छा होति अपावए।**
> **वियडं व जहा भुज्जो, नीरयं सरयं तहा ॥१२॥**

७० इस जगत् मे किन्ही (दार्शनिको या अवतारवादियो) का कथन (मत) है कि आत्मा शुद्धाचारी होकर (मोक्ष मे) पापरहित हो जाता है। पुन क्रीडा (राग) या प्रद्वेष (द्वेष) के कारण वही (मोक्ष मे ही) बन्ध युक्त हो जाता है।

७१ इस मनुष्य भव मे जो जीव सवृत—सयम-नियमादि युक्त मुनि बन जाता है, वह बाद मे निष्पाप हो जाता है। जैसे—रज रहित निर्मल जल पुन सरजस्क मलिन हो जाता है, वैसे ही वह (निर्मल निष्पाप आत्मा भी पुन मलिन हो जाती है)।

विवेचन—त्रैराशिकवाद बनाम अवतारवाद—वृत्तिकार के अनुसार दोनो गाथाओ मे गोशालक मतानुसारी (आजीवक) मत की मान्यता का दिग्दर्शन कराया गया है। समवायाग वृत्ति और इसी आगम के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के छठे अध्ययन मे त्रैराशिको को आजीवक या गोशालक मतानुसारी बनाया है। त्रैराशिक का अर्थ है—जो मत या वाद सर्वत्र तीन राशियाँ मानता है, जैसे जीव राशि, अजीव राशि और नोजीव राशि। यहाँ आत्मा की तीन राशियो का कथन किया गया है। वे तीन अवस्थाएँ इस प्रकार है—

(१) राग-द्वेष सहित कर्म-बन्धन से युक्त पाप सहित अशुद्ध आत्मा की अवस्था,

(२) अशुद्ध अवस्था से मुक्त होने के लिए शुद्ध आचरण करके शुद्ध निष्पाप अवस्था प्राप्त करना, तदनुसार मुक्ति मे पहुच जाना।

(३) इसके पश्चात् शुद्ध-निष्पाप आत्मा जब क्रीडा—राग अथवा प्रद्वेष के कारण पुन कर्मरज

---

२४ (क) सूत्रकृतांग शीलाकवृत्ति पत्राक ४२ से ४५ तक
(ख) सूत्रकृताग चूर्णि (मूलपाठ टिप्पण) पृ० १२

से लिप्त (अशुद्ध) हो जाता है, वह तीसरी अवस्था। तीन अवस्थाओ की मान्यता के कारण इन्हे त्रैराशिक कहा जाता है। इन दोनो गाथाओ मे इसी मत का निदर्शन किया गया है।[२५]

शुद्ध निष्पाप आत्मा पुनः अशुद्ध और सपाप क्यों?—प्रश्न होता है, जो आत्मा एक बार कर्मफल से सर्वथा रहित हो चुका है, शुद्ध-बुद्ध-मुक्त, निष्पाप हो चुका है, वह पुन अशुद्ध, कर्मफल युक्त और पापयुक्त कैसे हो सकता है? जैसे बीज जल जाने पर उससे अकुर उत्पन्न होना असम्भव है, वैसे ही कर्मबीज के जल जाने पर फिर ससार रूपी (जन्म-मरण-युक्त) अकुर का फूटना असम्भव है। गीता मे इसी तथ्य का समर्थन अनेक बार किया गया है।[२६] जितनी भी अध्यात्म साधनाएँ की जाती है, उन सबका उद्देश्य पाप से, कर्मबन्ध से राग-द्वेष-कषायादि विकारो से सर्वथा मुक्त, शुद्ध एव निष्पाप होना है। भला कौन ऐसा साधक होगा, जो शुद्ध-बुद्ध-मुक्त होने के बाद पुन अशुद्धि और राग-द्वेष की गन्दगी मे आत्मा को डालना चाहेगा? अगर ऐसा हुआ, तब तो सारा काता-पीजा कपास हो जायेगा। इतनी की हुई साधना मिट्टी मे मिल जायेगी। परन्तु त्रैराशिक मतवादी इन सब युक्तियो की परवाह न करके मुक्त एव शुद्ध आत्मा के पुन प्रकट होने या पुन कर्मरज से मलिन होकर कर्म-बन्ध मे जकडने के दो मुख्य कारण बताते है—**'पुणो कीडापदोसेण:'**—इसका आशय यह है कि उस मुक्तात्मा को अपने शासन की पूजा और पर-शासन (अन्य धर्मसघ) का अनादर देखकर (क्रीडा) प्रमोद उत्पन्न होता है, तथा स्वशासन का पराभव और परशासन का अभ्युदय देखकर द्वेष होना है। इस प्रकार वह शुद्ध आत्मा राग-द्वेष से लिप्त हो जाता है, राग-द्वेष ही कर्मबन्ध के कारण है, इस कारण पुन अशुद्ध-सापराध हो जाता है। वह आत्मा कैसे पुन मलिन हो जाता है? इसके लिए वे एक दृष्टान्त देकर अपने मत का समर्थन करते है—**"वियडम्बु जहा भुज्जो नीरय सरय तहा।"** आशय यह है कि जैसे मटमैले पानी को निर्मली या फिटकरी आदि से स्वच्छ कर निर्मल बना लिया जाता है, किन्तु वही निर्मल पानी, आँधी, तूफान आदि के द्वारा उडायी गयी रेत, मिट्टी, कचरा आदि के

---

२५ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ८५-८६
(ख) 'ते एव च आजीवाकास्त्रैराशिका भणिता —समवायागवृत्ति अभयदेव सूरि पृ० १३०
(ग) स एव गोशालकमतानुसारी त्रैराशिक निराकृत —सूत्रकृ० २, श्रु० ६, अ० गा० १८
(घ) "त्रैराशिका गोशालकमतानुसारिणो येषामेकविंशतिसूत्राणि पूर्वगत त्रैराशिकसूत्रपरिपाट्या व्यवस्थितानि।" —सूत्र० १, श्रु० १, सूत्र गा० ७० वृत्ति

२६ (क) सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० २३३
(ख) "दग्धे बीजे यथाऽत्यन्त प्रादुर्भवति नांकुर।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाकुर॥
(ग) मामुपेत्य पुनर्जन्म दुखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मान ससिद्धि परमा गता॥१५॥
मामुपेत्य तु कौन्तेय! पुनर्जन्म न विद्यते।१६॥
य प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परम मम॥२१॥ —गीता अ० ८। १५-१६-२१
(घ) सूत्रकृताग शीलांकवृत्ति पत्रांक ४५ के आधार पर

कारण पुन मलिन हो जाता है, वैसे ही कोई जीव मनुष्य जन्म पाकर राग-द्वेष से, कषायादि से या कर्मों से मलिन बनी हुई अपनी आत्मा को मुनि बनकर संयम नियमादि की साधना करके विशुद्ध बना लेता है, एक दिन वह आत्मा समस्त कर्मरहित होकर शुद्ध-बुद्ध-मुक्त बन जाता है, किन्तु पुन पूर्वोक्त कारणवश राग-द्वेष की आँधी या तूफान आने से वह विशुद्धात्मा पुन अशुद्ध एव कर्म-मलिन हो जाता है।

इस सम्बन्ध मे चूर्णिकार ७० वी गाथा के उत्तरार्द्ध मे **कीलावणप्पदोसेणा रजसा अवतारते,** इस प्रकार का पाठान्तर मानकर अवतारवाद की झाँकी प्रस्तुत करते है—वह आत्मा मोक्ष प्राप्त (मुक्त) होकर भी क्रीडा और प्रदोष के कारण (कर्म) रज से (लिप्त होने से) ससार मे अवतरित होता (जन्म लेता) है। इस कारण वह अपने धर्म शासन की पुन प्रतिष्ठा करने के लिए रजोगुण युक्त होकर अथवा उस कर्म रज से श्लिष्ट होकर अवतार लेता है।[२७]

कुछ-कुछ इसी प्रकार की मान्यता बौद्ध धर्म के एक सम्प्रदाय की तथा धर्म-सम्प्रदायो की भी है। उनका कथन है कि सुगत (बुद्ध) आदि धर्म तीर्थ के प्रवर्तक ज्ञानी तीर्थकर्ता (अवतार) परम पद (मोक्षावस्था) को प्राप्त करके भी जब अपने तीर्थ (धर्म-सघ) का तिरस्कार (अप्रतिष्ठा या अवनति) देखते है तो (उसका उद्धार करने के लिए) पुन ससार मे आते है (अवतार लेते है)।[२८]

धर्म का ह्रास और अधर्म का अभ्युत्थान (प्रतिष्ठा) होता देखकर मुक्त आत्मा के अवतरित होने की मान्यता वैदिक-परम्परा मे प्रसिद्ध है और गीता आदि ग्रन्थो मे अवतारवाद का स्पष्ट वर्णन है- "जब-जब ससार मे धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि-उन्नति होने लगती है, तब तब मै (मुक्त आत्मा) ही अपने रूप को रचता हूँ—प्रकट करता हूँ। साधु पुरुषो की रक्षा तथा दूषित कर्म करने वालो का नाश करने के लिए मै युग-युग मे जन्म (अवतार) लेता हूँ।" अत. इसे अवतारवाद या पुनरागमनवाद भी कहा जा सकता है।[२९]

गाथा ७० मे शुद्ध आत्मा के पुन अशुद्ध एव कर्मलिप्त होने के दो कारण—क्रीडा एव प्रद्वेष बताये गये है, वे इस अवतारवाद मे सगत होते है। क्रीडा का अर्थ जो भक्तिवादी सम्प्रदायो मे प्रचलित है, वह है, 'लीला।' ऐसा कहा जाता है—'भगवान् अपनी लीला दिखाने के लिए अवतरित

---

२७ "स मोक्षप्राप्तोऽपि भूत्वा कीलावणप्पदोसेण रजसा अवतारते। तस्य हि स्वाशसन पूज्यमान दृष्ट्वा अन्यशासनान्यपूज्यमानानि च क्रीडा भवति, मानस प्रमोद इत्यर्थ, अपूज्यमाने वा प्रदोष, तेन रजसाऽवतार्यते।" —सूयगडग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० १२

२८ ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य कर्तार परम पदम्।
गत्वाऽऽगच्छन्ति भूयोऽपि भव तीर्थनिकारत ॥

२९ यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽत्मान सृजाम्यहम् ॥७॥
परित्राणाय साधूनां, विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे-युगे ॥८॥ —गीता अ० ४/७-८

होते है। अथवा सज्जनो की रक्षा एव दुर्जनो के सहार के रूप मे अपनी लीला करते है। ऐसी लीला के समय जब वे दुष्टो का नाश करते है, तब अपने भक्त की रक्षा के लिए हर सम्भव प्रयत्न करते है, ऐसा करने मे उनमे द्वेष एव राग का होना स्वाभाविक है। इसीलिए इस गाथा मे **'कीडापदोसेण'** के साथ अर्थ सगति बैठ जाती है।

पाठान्तर एवं व्याख्याए—७१ वी गाथा की पूर्वार्द्ध-पक्ति का चूर्णिसम्मत पाठान्तर इस प्रकार है- **"इह संवुडे भवित्ताण, (सुद्धे सिद्धीए चिट्ठती)—पेच्चा होति अपावए"** इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है—**इह**—यहाँ आकर मनुष्य भव मे वयस्क होकर प्रव्रज्या ग्रहण करके सवृतात्मा होकर जानक अर्थात्—ज्ञानवान आत्मा (जिसका ज्ञान प्रतिपाती नही होता) (शुद्ध होकर सिद्धिगति-मुक्ति मे स्थित हो जाता है।) अथवा यह (मेरे द्वारा प्रवर्तित) शासन (धर्म सघ) जाज्वल्यमान नही होता, इसलिए उसे जाज्वल्यमान करके कुछ काल तक ससार मे अवस्थित होकर वहाँ से शरीर छोडकर पुन अपापक अर्थात् मुक्त हो जाता है। इसी प्रकार ७० वी गाथा के उत्तरार्द्ध का चूर्णि-सम्मत पाठान्तर है— **"पुणोकालेणऽणंतेण तत्थ से अवरज्झति।"** अर्थात् अनन्तकाल के बाद स्वशासन को अपूज्यमान या पूज्यमान (प्रतिष्ठित अथवा अप्रतिष्ठित) देखकर वह उस पर अवरज्झति- यानि अपराध करता है। अर्थात् राग या द्वेष को प्राप्त हो जाता है।[30] **'वियड वा जहा भुज्जो नीरय सरय तथा'** की व्याख्या वृत्तिकार के अनुसार—विकटवत्—उदक (पानी) के समान। जैसे रज (मिट्टी) रहित निर्मल पानी, हवा, आँधी आदि से उडायी हुई धूल से पुन सरजस्क-मलिन हो जाना है।[31]

स्व-स्व-प्रवाद-प्रशंसा एवं सिद्धि का दावा

> ७२. **एयाणुवीति मेधावि, बभचेरे ण ते वसे।**
> **पुढो पावाउया सव्वे, अक्खायारो सय सय ॥१३॥**
>
> ७३. **सए सए उवट्ठाणे, सिद्धिमेव ण अन्नहा।**
> **अहो वि होति वसवत्ती, सव्वकामसमप्पिए ॥१४॥**
>
> ७४. **सिद्धा य ते अरोगा य, इहमेगेसि आहितं।**
> **सिद्धिमेव पुराकाउ, सासए गढिया णरा ॥१५॥**
>
> ७५. **असवुडा अणादीय, भमिहिंति पुणो पुणो।**
> **कप्पकालमुवज्जंति, ठाणा आसुर किब्बिसिय ॥१६॥ त्ति बेमि।**

---

३० "इहेति—इह आगत्य मानुष्ये वय प्राप्य प्रव्रर्ज्यामभ्युपेत्य सवृतात्मा भूत्वा, जानको नाम जानक एव आत्मा न तस्य तज् ज्ञान प्रतिपतति, यदि वा एतत् (यतश्चैतत् शासन न ज्वलति, तत एव प्रज्वाल्य किञ्चित्काल ससारेऽवस्थित्य प्रेत्य पुनरपापको भवति मुक्त इत्यर्थ।"
"एव पुनरनन्तेन कालेन स्वशासन पूज्यमान वा अपूज्यमान दृष्टवा तत्थ से अवरज्झति = अवराधो णाम राग दोस वा गच्छति।"
—सूयगडग (चूर्णि मू० पा० टिप्पण) पृ० १२

३१ विकटवद् उदकवद नीरजस्क सद् वातोद्धूतरेणु निवहसम्पृक्त सरजस्क मलिन भूयो यथा भवति, तथाऽयमप्यात्मा॥
—सूत्र० शी० वृत्ति ४५

७२. बुद्धिमान् साधक इन (पूर्वोक्त वादियो के कथन पर) चिन्तन करके (मन मे यह) निश्चित कर ले कि (पूर्वोक्त जगत् कर्तृत्ववादी या अवतारवादी) ब्रह्म=आत्मा की चर्या (सेवा या आचरण) में स्थित नही है। वे सभी प्रावादुक अपने-अपने वाद की पृथक्-पृथक् वाद (मान्यता) की बढ़ा-चढाकर प्रशसा (बखान) करने वाले हैं।

७३. (विभिन्न मतवादियो ने) अपने-अपने (मत मे प्ररूपित) अनुष्ठान से ही सिद्धि (समस्त सासारिक प्रपञ्च रहित सिद्धि) होती है, अन्यथा (दूसरी तरह से) नही, ऐसा कहा है। मोक्ष प्राप्ति से पूर्व इसी जन्म एव लोक में ही वशवर्ती (जितेन्द्रिय अथवा हमारे तीर्थ या मत के अधीन) हो जाए तो उसको समस्त कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं।

७४ इस ससार मे कई मतवादियो का कथन है कि (हमारे मतानुसार अनुष्ठान से) जो सिद्धि (रससिद्धि या अष्टसिद्धि प्राप्त) हुए हैं, वे नीरोग (रोग मुक्त) हो जाते हैं। परन्तु इस प्रकार की डींग हांकने वाले) वे लोग (स्वमतानुसार प्राप्त) तथाकथित सिद्धि को ही आगे रखकर अपने-अपने आशय (दर्शन या मत) मे ग्रथित (आसक्त/ग्रस्त-बँधे हुए) हैं।

७५ वे (तथाकथित लौकिक सिद्धिवादी) असंवृत-इन्द्रिय मन सयम से रहित होने से (वास्तविक सिद्धि मुक्ति तो दूर रही) इस अनादि ससार मे बार-बार परिभ्रमण करेगे। वे कल्पकाल पर्यन्त—चिरकाल तक असुरो-भवनपतिदेवो तथा किल्विषिक(निम्नकोटि के) देवो के स्थानो मे उत्पन्न होते है।

विवेचन—अन्यतीर्थिक मतवादी प्रावादुक और स्वमत प्रशंसक—७२वी गाथा मे शास्त्रकार ने पूर्वोक्त जगत्कर्तृत्ववादियो, अवतारवादियो को 'पृथक् प्रावादुक' कहकर उल्लिखित किया। प्रावादुक होने के दो कारण शास्त्रकार ने प्रस्तुत किए है—(१) कार्य-कारण विहीन तथा युक्ति रहित अपने ही मतवाद की प्रशसा करते है, और (२) आत्म-भावो के विचार मे स्थित नही हैं। इन्ही दो कारणो को स्पष्ट करने के लिए शास्त्रकार ने अगली दो गाथाएँ (७३-७४वी) प्रस्तुत की हैं।

इन भ्रान्त मान्यताओ के कारण राग-द्वेष-मुक्त एवं कर्म बीज रहित मुक्त जीवो का पुन· राग-द्वेष से प्रेरित होकर कर्मलिप्त बनना कार्य-कारण भाव के सिद्धान्त के विरुद्ध है। जब मुक्त जीवो के जन्म-मरणरूप ससार के कारण कर्म बीज ही जल गये हैं, तब वे कर्म के बिना कैसे राग-द्वेष से लिपटेगे और ससार मे अवतरित होगे?

देखा जाये तो इस भ्रान्त धारणा का कारण यह है कि वे अपने अवतारवाद के प्रवाह मे इतने बह जाते हैं कि आत्मा की ऊर्ध्वगामिता के सिद्धान्त पर विचार करना भूल जाते हैं। जब एक आत्मा इतने उत्कर्ष पर पहुँच चुका है, जहाँ से उसका पुन नीचे गिरना असम्भव है, क्योंकि आत्मा का स्वभाव कर्म लेप से रहित होने पर अग्नि की लौ की तरह उर्ध्वगमन करना है, नीचे गिरना नही। ऐसी स्थिति मे पूर्ण सिद्ध-मुक्तात्मा क्यो वापस ससार मे आगमन रूप पतन के गर्त मे गिरेगा? यही कारण है कि आचार्य सिद्धसेन को अवतारवादी अन्यतैर्थिको की मोहवृत्ति को प्रकट करते हुए कहना पड़ा—

दग्धेन्धनः पुनरुपैति भवं प्रमथ्य, निर्वाणमप्यनवधारितभीरुनिष्ठम् ।
मुक्तः स्वय कृतभवश्च परार्थशूरम्, त्वच्छासनप्रतिहतेस्विह मोहराज्यम् ।।[३२]

हे वीतराग प्रभो ! आपके शासन (सघ) को ठुकराने वाले व्यक्तियो पर मोह का प्रबल साम्राज्य छाया हुआ है । वे कहते हैं—जिस आत्मा ने कर्म रूपी ईन्धन (कारण) को जला कर ससार (जन्म-मरण) का नाश कर दिया है, वह भी मोक्ष को छोड़कर पुनः ससार मे अवतार लेता है । स्वय मुक्त होते हुए भी शरीर धारण करके पुन. ससारी बनता है, केवल दूसरो को मुक्ति दिलाने मे शूरवीर बनकर वह कार्यकारण सिद्धान्त का विचार किये बिना ही लोकभीरु बनता है । यह है अपनी (शुद्ध) आत्मा का विचार किए बिना ही दूसरो की आत्माओ का उद्धार या सुधार करने की मूढ़ता ।

यह निश्चित सिद्धान्त है कि मुक्त जीवो को राग-द्वेष नही हो सकता । उनके लिए फिर स्व-शासन या परशासन का भेद ही कहाँ रह जाता है ? जो सारे ससार को एकत्व दृष्टि से—आत्मौपम्य दृष्टि से देखता है, वहाँ अपनेपन-परायेपन या मोह का काम ही क्या ? जिनकी अहंता-ममता (परिग्रह वृत्ति) सर्वथा नष्ट हो चुकी है, जो राग-द्वेष, कर्म-समूह आदि को सर्वथा नष्ट कर चुके हैं, जो समस्त पदार्थों का यथार्थ स्वरूप जानते है, निन्दा-स्तुति मे सम है, ऐसे निष्पाप, शुद्ध आत्मा मे राग-द्वेष होना कदापि सम्भव नही और राग-द्वेष के अभाव मे कर्म-बन्धन कैसे हो सकता है ? कर्म के सर्वथा अभाव मे ससार मे पुनरागमन (जन्म-मरण) हो ही नही सकता ।[३३]

दूसरा कारण है—उन परतीर्थिको का अपने ही ब्रह्मैकत्व-विचार मे स्थित न रहना । जब वे ससार की समस्त आत्माओ को सम मानते हैं, तब उनके लिए कौन अपना, कौन पराया रहा ? फिर वे अपने-अपने भूतपूर्व शासन का उत्थान-पतन का विचार क्यो करेंगे ? यह तो अपने ब्रह्मैकत्व विचार से हटना है ।

इस प्रकार कार्य-कारण भाव न होते हुए भी सिद्धान्त एव युक्ति से विरुद्ध होते हुए भी अपने-अपने मतवाद की प्रशसा और शुद्ध आत्मभाव मे अस्थिरता, ये दोनो प्रबल कारण अन्य मतवादियो की भ्रान्ति के सिद्ध होते है ।

निष्कर्ष यह है कि जैन-दर्शन जैसे शिव (निरुपद्रव-मगलकर), अचल (स्थिर), अरूप (अमूर्त), अनन्त (अनन्त ज्ञानादियुक्त) अक्षय, अव्याबाध, अपुनरावृत्ति (ससार मे आवागमन रहित) रूप सिद्धि-गति को ही मुक्ति मानता है और ऐसे सिद्ध को समस्त कर्म, काया, मोह-माया से सर्वथा रहित—मुक्त मानता है, वैसे अन्यतीर्थी नही मानते । उनमे से प्राय कई तो सिद्धि को पुनरागमन युक्त मानते हैं, तथा सिद्धि का अर्थ कई मतवादी मुक्ति या मोक्ष मानते हैं, लेकिन सम्यक्-दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप से

---

३२. द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका (सिद्धसेनकृत)

३३ (क) "यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानते ।
तत्र को मोह क शोक एकत्वमनुपश्यत ? ।।९।। —ईशोपनिषद्

(ख) तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केन चित् ।। —गीता अ० १२।१९

या ज्ञान-क्रिया दोनो से अथवा समस्त कर्म क्षय से मोक्ष या सिद्धि न मानकर स्वकल्पित एकान्त ज्ञान से, क्रिया से, सिद्धि मानते हैं, या योगविद्या से अणिमादि अष्ट सिद्धि प्राप्ति या रससिद्धि (पारद या स्वर्ण की रसायन सिद्धि) को अथवा स्वकीयमतानुवर्ती होने या जितेन्द्रिय होने मात्र से यहाँ सर्वकामसिद्धि मानते है। ऐसे लौकिक सिद्धो (अष्टसिद्धि प्राप्त या स्वकीय मत के तत्त्वज्ञान मे निपुण) की पहचान नीरोग होने मात्र से हो जाती है, ऐसा वे कहते हैं।[३४] इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—**सिद्धिमेव ... गढिया नरा ?** अर्थात्—वे सिद्धिवादी अपनी पूर्वोक्त युक्तिविरुद्ध स्वकल्पित सिद्धि को ही सामने (केन्द्र मे) रखकर चलते हैं, उसी की प्रशसा करते हैं, उसी से ही इहलौकिक-पारलौकिक सिद्धि को सिद्ध करने के लिए युक्तियो की खीचतान करते है, इस प्रकार वे अपने-अपने आशय (मत या कल्पना) मे आसक्त है।

आशय यह है कि वे इतने मिथ्याग्रही है कि दूसरे किसी वीतराग सर्व हितैषी महापुरुष की युक्तियुक्त बात को नही मानते।

अन्यमतवादियों के मताग्रह से मोक्ष या संसार ?—७५वी गाथा मे पूर्वोक्त अन्य मतवादियो द्वारा स्व-स्वमतानुसार कल्पित लौकिक सिद्धि से मोक्ष का खण्डन करते हुए शास्त्रकार कहते है—

"**असंवुडा ... आसुरकिब्बिसिया।**" इसका आशय यह है, जो दार्शनिक सिर्फ ज्ञान से, या सिर्फ क्रियाकाण्ड से, अथवा अष्ट-भौतिक ऐश्वर्य प्राप्ति अथवा अन्य लौकिक एव यौगिक उपलब्धियो से सिद्धि (मुक्ति) मानते हैं, उनके मतानुसार हिंसा आदि पाँच आस्रवो से, अथवा मिथ्यात्वादि पाँच कर्मबन्ध के कारणो से अथवा इन्द्रिय और मन में असयम से अपने आपको रोकने (सवृत्त होने) की आवश्यकता नही मानी जाती, कही किसी मत मे कुछ तपस्या या शारीरिक कष्ट सहन या इन्द्रिय-दमन का विधान है, तो वह भी किसी न किसी स्वर्गादि कामना या इहलौकिक (आरोग्य, दीर्घायु या अन्य किसी लाभ की) कामना से प्रेरित होकर अज्ञानपूर्वक किया जाता है, इसलिए वे सच्चे माने मे सवृत नही है। इस कारण वास्तविक सिद्धि (मुक्ति) से वे कोसो दूर रहते, बल्कि अज्ञानवश अपने आपको ज्ञानी, मुक्तिदाता, तपस्वी और क्रियाकाण्डी मानकर भोले लोगो को मिथ्यात्वजाल में फँसाने के कारण तीन दुष्फल बताये हैं—

---

३४ (क) सिद्धि (मुक्ति या मोक्ष) के सम्बन्ध मे विभिन्न वाद—

(i) दीक्षात एक मोक्ष.। —शैव

(ii) "पचविंशति तत्त्वज्ञो मुच्यते नात्र सशय।" —सांख्य

(iii) नवानामात्मगुणानामुच्छेदो मोक्ष। —वैशेषिक (प्रशस्तपाद भाष्य)

(iv) ऋते ज्ञानन्न मुक्ति। —वेदान्त

(v) योगाभ्यास से अष्टसिद्धिया प्राप्त होती हैं। —योगदर्शन

"अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा।

प्राप्ति प्राकाम्यमीशित्वं वशित्व चाष्टसिद्धय।" —अमरकोश

कहीं-कही गरिमा और प्राप्ति के बदले अप्रतिघातित्व और यत्रकामावसायित्व नाम की सिद्धियाँ हैं।

(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० २४० से २४३ तक तथा सूत्र० शी० वृत्ति पत्र ४६ के आधार पर।

(१) अनादि ससार मे बार-बार परिभ्रमण, (२) दीर्घ (कल्प) काल पर्यन्त भवनपति देव (असुर) मे, (३) अल्पऋद्धि, अल्प आयु और अल्पशक्ति से युक्त अधम किल्विषिक देव के रूप मे उत्पत्ति।[३५]

कठिन शब्दों की व्याख्या—एयाणुवीति मेधावी—पूर्वोक्त कुवादियो के युक्ति विरुद्ध मतो पर गहराई से विचार करके मेधावी निश्चय करे कि इनके वाद सिद्धि-मुक्ति (निर्वाण या मोक्ष) के लिए नही है, **बभचेरे ण ते वसे**—ब्रह्मचर्य (शुद्ध-आत्म-विचार) में वे स्थित नही हैं, अथवा वे सयम मे स्थित नही हैं। **पावाउया**—प्रावादुक—वाचाल या मतवादी। **अक्खायारो**—अनुरागवश अच्छा बतलाने वाले। **सए-सए-उवट्ठाणे**—अपने-अपने (मतीय) अनुष्ठानो से। **अन्नहा**—अन्यथा—दूसरे प्रकार से। **अहो विहोति वसवत्ती**—समस्त द्वन्द्वो (प्रपचो) से निवृत्ति रूप सिद्धि की प्राप्ति से पूर्व भी इन्द्रियो को वशीभूत करने वालो को इसी जन्म मे, हमारे दर्शन मे प्रतिपादित अनुष्ठान के प्रभाव से अष्टविध ऐश्वर्य रूप सिद्धि प्राप्त हो जाती है। चूर्णिकार के अनुसार पाठान्तर है—**अधोधि होति वसवत्ती** एवं **अहो इहेव वसवत्ती**। प्रथम, पाठान्तर की व्याख्या की गई है, दूसरे दर्शनो मे तो उनके स्वकीय ग्रन्थोक्त चारित्र धर्म विशेष से व्यक्ति को इसी जन्म मे, या इसी लोक मे अष्टगुण रूप ऐश्वर्य प्राप्त हो जाता है। दूसरे पाठान्तर की व्याख्या है—अधोधि—यानि अवधिज्ञान से सिद्धि होती है, किसको ? जिसकी इन्द्रियाँ वश मे है, न कि उसे जो इन्द्रियो के वश मे है।[३६] **सव्वकाम समप्पिए**—समस्त कामनाए उनके चरणो मे समर्पित हो जाती हैं—अर्थात्—वह सभी कामनाओ से पूर्ण हो जाता है। **सिद्धिमेव पुराकाउं**—सिद्धि को ही आगे रखकर। **सासए गढिया नरा**—वृत्तिकार के अनुसार—वे लोग स्वाशय, अपने-अपने आशय—दर्शन या मान्यता मे ग्रथित—बँधे हुए है। चूर्णिकार ने **'आसएहिं गढिया णरा'** पाठान्तर मानकर व्याख्या की है—हिंसादि आश्रवो मे वे लोग गृद्ध-मूर्च्छित है।[३७]

॥ तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

---

३५ (क) 'कल्पकाल प्रभूतकालमुत्पद्यन्ते सम्भवन्ति आसुरा असुरस्थानोत्पन्ना नागकुमारादय तत्रापि न प्रधाना, किंतर्हि ? किल्विषिका अधमा।

(ख) कप्पकालुववज्जति ठाणा आसुरकिब्बिसा—कल्पपरिमाण काल कप्प एव वा काल तिष्ठन्ति तस्मिन् इति स्थानम्। आसुरेषूत्पद्यन्ते किल्विषिकेषु च।

—सूत्र कृ० चूर्णि (मू० पा० टि०) पृ० १३

३६ (क) 'अन्येषा तु स्वाख्यातचरणधर्मविशेषाद् इहैव अष्टगुणैश्वर्यप्राप्तो भवति। तद्यथा—अणिमान लघिमानमित्यादि अहवा 'अधोधि होति वसवत्ती' अधोधि नाम—अवधिज्ञान वशवर्ती नाम वशे तस्येन्द्रियाणि वर्तन्ते, नाऽसाविन्द्रियावशक।

—सूत्र कृ० चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० १३

(ख) सिद्धिप्राप्तेरधस्तात् प्रागपि यावदद्यापि सिद्धिप्राप्तिर्न भवति, तावदिहैव जन्मन्यस्मदीयदर्शनोक्तानुष्ठानुभावादष्टगुणैश्वर्यसद्भावो भवतीति दर्शयति आत्मवशवर्तितु शीलमस्येति वशवर्ती वशेन्द्रिय इत्युक्त भवति।

—सूत्र कृ० शीलांक वृत्ति पत्र ४६

३७ हिंसादिषु आश्रवेषु गढिता नाम मूच्छिता। —सूत्रकृतांग चूर्णि (मूलपाठ टिप्पण) पृष्ठ १३

"स्वकीये आशये स्वदर्शनाभ्युपगमे ग्रथिता सम्बद्धा।"

—सूत्र शी० वृत्ति पत्र ४६

चउत्थो उद्देसओ

चतुर्थ उद्देशक

मुनि धर्मोपदेश

७६. एते जिता भो ! न सरणं, बाला पंडितमाणिणो ।
हेच्चा णं पुव्वसंजोगं, सिया किच्चोवदेसगा ॥१॥

७७. तं च भिक्खू परिण्णाय, विज्जं तेसु ण मुच्छए ।
अणुक्कसे अप्पलोणे, मज्झेण मुणि जावए ॥२॥

७८. सपरिग्गहा य सारंभा, इहमेगेसि आहियं ।
अपरिग्गहे अणारंभे, भिक्खू ताणं परिव्वए ॥३॥

७९. कडेसु घासमेसेज्जा, विऊ दत्तेसणं चरे ।
अगिद्धो विप्पमुक्को य, ओमाणं परिवज्जए ॥४॥

७६ हे शिष्यो ! ये (पूर्वोक्त अन्यतीर्थी) साधु [काम, क्रोध आदि से अथवा परीषह-उपसर्ग रूप शत्रुओ से] पराजित (जीते जा चुके) हैं, (इसलिए) ये शरण लेने योग्य नही हैं अथवा स्वशिष्यो को शरण देने मे समर्थ नही हैं। वे अज्ञानी हैं, (तथापि) अपने आपको पण्डित मानते हैं। पूर्व सयोग (बन्धु-बान्धव, धन-सम्पत्ति आदि) को छोडकर भी (दूसरे आरम्भ-परिग्रह मे) आसक्त है, तथा गृहस्थ को सावद्य कृत्यो का उपदेश देते है।

७७ विद्वान् भिक्षु उन (आरम्भ-परिग्रह मे आसक्त साधुओ) को भली-भाति जानकर उनमे मूर्च्छा (आसक्ति) न करे, अपितु (वस्तुस्वभाव का मनन करने वाला) मुनि किसी प्रकार का मद न करता हुआ उन अन्यतीर्थिको, गृहस्थो एव शिथिलाचारियो के साथ ससर्गरहित होकर, मध्यस्वभाव से सयमी जीवन-यापन करे, या मध्यवृत्ति से निर्वाह करे।

७८. मोक्ष के सम्बन्ध मे कई (अन्यतीर्थी) मतवादियों का कथन है कि परिग्रहधारी और आरम्भ (आलम्भन हिंसाजनक प्रवृत्ति) से जीने वाले जीव भी मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। परन्तु निर्ग्रन्थ भावभिक्षु अपरिग्रही और अनारम्भी (आरम्भरहित महात्माओ) की शरण मे जाए।

७९ सम्यग्ज्ञानी विद्वान् भिक्षु (गृहस्थ द्वारा अपने लिए) किये हुए (चतुर्विध) आहारो मे से (कल्पनीय) ग्रास—यथोचित आहार की गवेषणा करे, तथा वह दिये हुए आहार को (विधिपूर्वक) लेने की इच्छा (ग्रहणैषणा) करे। (भिक्षा प्राप्त आहार में वह) गृद्धि (आसक्ति) रहित एवं (राग-द्वेष से) विप्रमुक्त (रहित) होकर (सेवन करे), तथा (किसी के द्वारा कुछ कह देने पर) मुनि उसका अपमान न करे, (दूसरे के द्वारा किये गये) अपने अपमान को मन से त्याग (निकाल) दे।

विवेचन—निर्ग्रन्थ को संयम धर्म का उपदेश—प्रस्तुत चतु सूत्री मे निर्ग्रन्थ भिक्षु को संयमधर्म का अथवा स्वकर्तव्य का बोध दिया गया है। भिक्षुधर्म की चतु सूत्री इस प्रकार है—

(१) पूर्व सम्बन्ध त्यागी अन्ययूथिक साधु सावद्य-कृत्योपदेशक होने से शरण ग्रहण करने योग्य नही है,

(२) विद्वान् मुनि उन्हे भलीभाँति जानकर उनसे आसक्तिजनक ससर्ग न रखे, मध्यस्थभाव से रहे,

(३) परिग्रह एव आरम्भ से मोक्ष मानने वाले प्रव्रज्याधारियो का सग छोडकर निष्परिग्रही, निरारम्भी महात्माओ की शरण मे जाये, और

(४) आहार सम्बन्धी ग्रासैषणा, ग्रहणैषणा परिभोगैषणा आसक्तिरहित एव राग-द्वेषयुक्त होकर करे। इस चतु सूत्री मे स्व-पर-समय (स्वधर्माचार एव परधर्माचार) का विवेक बताया गया है।

प्रथम कर्तव्यबोध : ये साधु शरण योग्य नहीं—भिक्षुधर्म के प्रथम सूत्र (गाथा ७६) मे 'भो' शब्द से शास्त्रकार ने निर्ग्रन्थ शिष्यो का ध्यान केन्द्रित किया है कि ऐसे तथाकथित साधुओ की शरण मे न जाओ, अथवा वे शरण (आत्मरक्षण) देने मे असमर्थ—अयोग्य है। वे शरण के अयोग्य क्यो है? इसके लिए उन्होने ५ कारण बतलाये है—

(१) ये बाल-मुक्ति के वास्तविक मार्ग से अनभिज्ञ है,

(२) फिर भी अपने आपको पण्डित तत्त्वज्ञ मानते है,

(३) साधु जीवन मे आने वाले परीषहो एव उपसर्गों से पराजित है, अथवा काम, क्रोधादि रिपुओ द्वारा विजित हारे हुए है,

(४) वे बन्धु-बान्धव, धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदाद तथा गृहस्थ प्रपञ्चरूप पूर्व (परिग्रह) सम्बन्ध को छोडकर भी पुन दूसरे प्रकार के परिग्रह मे आसक्त है, और

(५) गृहस्थ को सावद्य (आरम्भ-समारम्भयुक्त) कृत्यो का उपदेश देते है।

बाला पंडितमाणिणो—इस अध्ययन की प्रथम सूत्र गाथा मे बोधि प्राप्त करने और बन्धन तोडने कहा गया था, परन्तु बन्धन तोडने के लिए उद्यत साधको को बन्धन-अबन्धन का बोध न हो, बन्धन समझ कर गृह-त्याग कर देने के पश्चात् भी जो पुन. गृहस्थ सम्बन्धी या गृहस्थवत् आरम्भ एव परिग्रह मे प्रवृत्त हो जाये, जिन्हे अपने सन्यास धर्म का जरा भी भान न रहे, वे लोग बालक के समान विवेक न होने से जो कुछ मन मे आया कह या कर डालते हैं, इसी तरह ये तथाकथित गृहत्यागी भी कह या कर डालते है, इसीलिए शास्त्रकार ने इन्हे **'बाला'** कहा है, पूर्वोक्त कारणो से ये अज्ञानी होते हुए भी अपने आपको महान् तत्त्वज्ञानी समझते हैं, रटा-रटाया शास्त्रज्ञान बघारते हैं। इस कारण शास्त्रकार ने इन्हे **'पण्डितमानी'** कहा है।

यहाँ वृत्तिकार एक पाठान्तर सूचित करते हैं कि **'बाला पंडितमाणिणो'** के बदले कही **'जत्थ**

बालेऽवसीयइ' पाठ है, जिसका अर्थ होता है—"जिस अज्ञान में पड़कर अज्ञजीव दु.खित होते है, उसी अज्ञान मे ये अन्यतीर्थी बाल (अज्ञ) पड़कर दुःखित होते हैं।"[1]

एते जिता—'एते' शब्द से वृत्तिकार पचभूतवादी, एकात्मवादी, तज्जीव-तच्छरीरवादी, कृतवादी, अवतारवादी, सिद्धिवादी आदि पूर्वोक्त सभी मतवादियो का ग्रहण कर लेते है, क्योकि तथाकथित मतवादी गृहत्यागियो मे ये सब कारण पाये जाते हैं, जो उन्हे शरण के अयोग्य सिद्ध करते है। जिन्हे आत्मा-परमात्मा, स्वर्ग-नरक, पुण्य-पाप, शुभ-अशुभ कर्मों का ही यथार्थ बोध नही है, जो बन्ध और मोक्ष के तत्त्व से अनभिज्ञ हैं, अथवा जो देव, ब्रह्मा, ईश्वर, अवतार आदि किसी न किसी शक्ति के हाथो में अपने बन्ध-मोक्ष या डूबने-तरने का भार सौंपकर निश्चिन्त हो जाते हैं, वे भला हिसादि पापो या आरम्भपरिग्रह से बचने की चिन्ता क्यो करेगे ? वे तो बेखटके परिग्रह मे आसक्त होंगे और नाना आरम्भजनक प्रवृत्ति करेगे। प्रव्रजित जीवन मे आने वाले कष्टो या उपसर्गों को भी क्यो सहन करेगे ? तथा काम, क्रोध आदि को भी घटाने या मिटाने का पुरुषार्थ क्यो करेगे ? इसीलिए शास्त्रकार ठीक कहते है—**'एते जिता'**—अर्थात् ये परीषहो, उपसर्गों तथा कामादि शत्रुओ से हारे हुए है, उनका सामना नही कर सकते।[2]

हेच्चा णं सिया किच्चोवदेसगा—इसका भावार्थ यह है कि जिस घर बार, कुटुम्ब-कबीला, जमीन-जायदाद, धन-धान्य, आरम्भ-समारम्भ (गार्हस्थ्य-प्रपञ्च) आदि को पहले त्याज्य समझकर छोडा था, प्रव्रजित होकर मोक्ष के लिए उद्यत हुए ये, उन्ही गृहस्थ सम्बन्ध परिग्रहो को शिष्य-शिष्या, भक्त-भक्ता, आश्रम, जमीन-जायदाद, धान्य-सग्रह, भेंट-दान आदि के रूप मे सम्पत्ति ग्रहण तथा आये दिन बडे भोजन समारोह के लिए आरम्भ-समारम्भ आदि के रूप मे पुन स्वीकार कर लिया, साथ ही गृहस्थो को उन्ही सावद्य (आरम्भ-समारम्भ युक्त) कृत्यो का उपदेश देने लगे। अत वे प्रव्रजित होते हुए भी गृहस्थो से भिन्न नही, अपितु उन्ही के समान परिग्रहधारी एव समस्त सावद्य प्रवृत्तियो के अनुमोदक, प्रेरक एव प्रवर्तक बन बैठे।

इन सब कारणो से वे शरण-योग्य नही है, क्योकि जब वे स्वय आत्मरक्षा नही कर सकते तो

---

१ (क) सूत्रकृताक शीलाक वृ० पत्राक ४६-४७ के आधार पर

(ख) देखिये- -सुत्तपिटक दीघनिकाय (पालि भा० १) सामञ्जफल सुत्त पृ० ४१-५३ मे पूरण काश्यप का मत—"पूरणो कस्सपो म एतदवोच—करोतो खो, महाराज, कारयतो छिन्दते छेदापयतो न करीयति पाप··· नत्थि ततो निदान पाप, नत्थि पापस्स आगमो। दानेन, दमेन, सच्चवज्जे नत्थि पुञ्ञ, नत्थि पुञ्ञस्स आगमो ति

२ (क) सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० २४७-२४८ के आधार पर

(ख) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति, पत्राक ४७-४८ के आधार पर

(ग) पचशूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्कर।
कुण्डनी चोदकुम्भश्च वध्यन्ते यास्तु वाहयन्॥ —मनुस्मृति

गृहस्थ के घर मे पाच कसाईखाने (हिंसा के उत्पत्तिस्थान) होते हैं, जिन्हे निभाता हुआ वह हिंसा (आरम्भजन्य) मे प्रवृत्त होता है। वे पाच ये हैं—चूल्हा, चक्की, झाडू, ऊखली और पानी का स्थान (परिंडा)।

शरणागत अनुयायी (शिष्य) की आत्मरक्षा कैसे करेगे ? इसीलिए शास्त्रकार ने कहा—**'न सरणं'** । कही-कही **'णोऽसरणं'** पाठ भी है, उसका भी अर्थ यही है ।

सरलात्मा निर्ग्रन्थ साधुओ को सावधान करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि ऐसे तथाकथित प्रव्रजितो के आडम्बर एव वाक्छटा से प्रभावित होकर उनके चक्कर मे साधु न आये ।[3]

अणुक्कसे—आठ प्रकार के मदो मे से कोई भी मद न करे ।

तीन सावधानियां—पूर्वोक्त अन्यतीर्थिक साधु के मिल जाने पर उसे भली-भाँति जान-परख लेने के बाद यदि विज्ञ साधु को ऐसा प्रतीत हो कि तथाकथित अन्यतीर्थी साधु मूढ मान्यताओ का है, मिथ्याभिमानी है, हठाग्रही है, उसके मन मे रोष एव द्वेष है, उसका अचार-विचार अतीव निकृष्ट है, न उसमे जिज्ञासा है, न सरलता, तब क्या करे ? उसके साथ कैसे बरते, कैसे निपटे ? इसके लिए शास्त्रकार ने तीन सावधानियाँ, तीन विवेक सूत्रो-के रूप मे प्रस्तुत की है—

(१) **विज्ज तेसु ण मुच्छए,**
(२) **अप्पलीणे,**
(३) **मज्जेण मुणि जावए**

इनका आशय यह है कि विज्ञ साधु उक्त साधु के प्रति किसी प्रकार की ममता-मूर्च्छा न रखे, उसके साथ अन्तर् से लिप्त-ससक्त, ससर्गयुक्त न हो ।

तृतीय कर्तव्यबोध : निरारम्भी निष्परिग्रहियों की शरण में जाये—सूत्रगाथा ७८ मे शास्त्रकार ने आरम्भ-परिग्रह मे आसक्त पुरुष भी मोक्ष प्राप्त कर सकते है, इस मन्तव्य के मोक्षवाद के प्रवर्तको या मतवादियो से सावधान रहने तथा निरारम्भी निष्परिग्रही महान् आत्माओ की शरण मे जाने का निर्देश दिया है ।

प्रश्न होता है—७६वी सूत्रगाथा मे भी शरण के अयोग्य व्यक्तियो की पहचान बतायी गयी थी, उससे यह स्पष्ट प्रतिफलित होता था कि जो साधक आरम्भ-परिग्रह से मुक्त है, उन्ही की शरण लेनी चाहिए, फिर यहाँ पुन उस बात को शास्त्रकार ने क्यो दुहराया ? इसका समाधान यह है कि "शास्त्रकार यहाँ एक विचित्र मोक्षवादी मत का रहस्योद्घाटन करते हुए उक्त मतवादी साधको की शरण कतई न स्वीकारने का स्पष्ट रूप से निर्देश कर रहे हैं कि निरारम्भी और निष्परिग्रही निर्ग्रन्थ की शरण मे जाओ ।" यद्यपि शास्त्रकार ने **'सपरिग्गहा या सारम्भा'** इन दो शब्दो का प्रयोग किया है, परन्तु वृत्तिकार आशय स्पष्ट करते हुए कहते है—सपरिग्रह और सारम्भ प्रव्रजित भी मोक्ष प्राप्त कर लेते है । मोक्ष के विषय मे ऐसा कतिपय मतवादियो का कथन है । जो धन-धान्य, द्विपद-चतुष्पद, मकान, जमीन-जायदाद, शारीरिक सुखोपभोग सामग्री तथा स्त्री-पुत्र आदि पर स्व-स्वामित्व एव ममत्व रखते हैं, वे **'सपरिग्रहः'** कहलाते हैं । जो षट्कायिक जीवो का उपमर्दन करने वाली प्रवृत्तियाँ करते हैं,

---

३ (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ४८-४९ के आधार पर

(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या, पृ० २५२ से २५५ तक

अथवा जो स्वयं आरम्भ-समारम्भ न करते हुए भी आरम्भानुमोदक-औद्देशिक आहार करते हैं, वे **सारम्भ** कहलाते हैं। फिर वे प्रव्रजित हो, किसी भी वेश मे हों या अप्रव्रजित, आरम्भ-परिग्रह से युक्त हो तो भी वे मोक्षमार्ग के साधक हैं। इन दो कारणो से ये तथाकथित मोक्षवादी शरण ग्रहण करने योग्य नही हैं।

ऐसी सुविधाजनक, आसान, सस्ती आरम्भ-परिग्रहवादियो की मोक्ष-कल्पना के चक्कर मे आकर-कोई मुमुक्षु साधक फँस न जाये, इसीलिए शास्त्रकार को स्पष्ट कहना पड़ा—जो आरम्भ-परिग्रह से सर्वथा रहित, भिक्षाजीवी निर्ग्रन्थ साधक हैं, जो सयम-पालन के लिए—जीवन टिकाने हेतु नियम-प्राप्त भोजन, वस्त्र आदि लेते हैं, धर्मोपकरण, पुस्तक आदि सामग्री के सिवाय वे अपने स्वामित्व या ममत्व से युक्त कोई भी धन-धान्यादि नही रखते, न ही पचन-पचनादि आरम्भ करते है, अहिंसादि महाव्रतो मे लीन समताधारी उन निर्ग्रन्थो की शरण मे जाना चाहिए। यही शास्त्रकार का आशय है।[४]

चतुर्थ कर्तव्यबोध : आसक्ति से मुक्त एवं त्रिविध एषणा से युक्त आहार करे—सूत्रगाथा ७९ मे आरम्भ एव परिग्रहो से मुक्त होने के लिए राग-द्वेष, आसक्ति आदि से मुक्त होकर त्रिविध एषणाओ से युक्त आहार-ग्रहण एव उपभोग करने का विधान है। साधु-जीवन मे मुख्यतया तीन आवश्यकताएँ होती है--भोजन, वस्त्र और आवास। तीनो मे मुख्य समस्या भोजन की है, क्योकि अहिंसा महाव्रती साधु न स्वय भोजन पकाता है, न पकवाता है और न ही भोजन बनाने का अनुमोदन करता है क्योकि इस कार्य से हिसा होती है। हिंसाजनक कार्य को ही आरम्भ कहा जाता है। अत साधु को आहार सम्बन्धी उक्त आरम्भ से बचना आवश्यक है। तब फिर प्रश्न हुआ कि आहार कैसे, किससे और कहाँ से ले, जिससे आरभदोष से बच सके? इसी समस्या का समाधान शास्त्रकार ने चार विवेक-सूत्रो मे दिया है---

(१) **कडेसु घासमेसेज्जा,**
(२) **विऊ दत्तेसणं चरे,**
(३) **अगिद्धो विप्पमुक्को य,**
(४) **ओमाण परिवज्जए।**

इन्हे शास्त्रीय परिभाषा मे आहार-सम्बन्धी तीन एषणाएँ कह सकते हैं—(१) गवेषणा, (२) ग्रहणैषणा, (३) ग्रासैषणा या परिभोगैषणा। इन्ही तीनो के कुल मिलाकर ४७ दोष होते है, वे इस प्रकार वर्गीकृत किये जा सकते हैं--गवेषणा के ३२ दोष (१६ उद्गम के एव १६ उत्पाद के), ग्रहणैषणा के १० एव परिभोगैषणा के ५ दोष।

१६ उद्गम दोष ये हैं, जो मुख्यतया गृहस्थ से आहार बनाते समय लगते है—

(१) आधाकर्म, (२) औद्देशिक, (३) पूतिकर्म, (४) मिश्रजात, (५) स्थापना, (६) प्राभृतिका, (७) प्रादुष्करण, (८) क्रीत, (९) प्रामित्य, (१०) परिवर्तित, (११) अभिहृत, (१२) उद्भिन्न, (१३) मालाहृत, (१४) आच्छेद्य, (१५) अनि सृष्ट (१६) अध्यवपूरक दोष।

४ (क) सूत्रकृताग शीलाक वृत्ति, पत्रांक ४९
(ख) सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० २५६ से २६१ तक

१६ प्रकार के उत्पाद दोष ये है, जो साधु की असावधानी एव रसलोलुपता से उसके स्वय के निमित्त से लगते है—

(१) धात्री दोष, (६) चिकित्सा दोष, (११) पूर्व-पश्चात् सस्तव दोष,
(२) दूति दोष या दौत्य दोष, (७) क्रोध दोष, (१२) विद्या दोष,
(३) निमित्त दोष, (८) मान दोष, (१३) मन्त्र दोष,
(४) आजीव दोष, (९) माया दोष, (१४) चूर्ण दोष,
(५) वनीमक दोष, (१०) लोभ दोष, (१५) योग दोष (१६) मूलकर्म दोष।

ये दोनो प्रकार के दोष आहार की गवेषणा करते समय साधु की असावधानी से लगते है। आहार लेते समय पूछताछ, खोज-बीन करके लेना गवेषणा है, यहा **'कडेसु घासमेसेज्जा'** कहकर गृहस्थ द्वारा अपने लिए कृत चतुर्विध आहारो मे से ग्राह्य आहार की एषणा करनी आवश्यक बतायी है।[5]

इसके पश्चात् **'दत्तेसेण चरे'** इस वाक्य से शास्त्रकार ने ग्रहणैषणा के १० दोषो से बचने का सकेत किया है। वे इस प्रकार हैं—

(१) शकित, (४) पिहित, (७) उन्मिश्र दोष
(२) म्रक्षित, (५) सहृत, (८) अपरिणत दोष,
(३) निक्षिप्त, (६) दायक दोष, (९) लिप्त दोष (१०) छर्दित दोष।

इसके अनन्तर तीन विवेक-सूत्र परिभोगैषणा या ग्रासैषणा के ५ दोषो के सम्बन्ध मे बताये है—

(१) अगिद्धो, (२) विप्पमुक्को, (३) ओमाण परिवज्जए।

---

५ आहार ग्रहण-सेवन आदि के ४७ दोष इस प्रकार है—

१६ उद्गम दोष—

आहाकम्मुद्देसिय पूइकम्मे य मीसजाए य।
ठवणा पाहुडियाए पाओअरकीयपामिच्चे ॥१॥
परियट्टिए अभिहडे उब्भिन्ने मालोहडे इय।
आच्छिज्जे अणिसिट्ठे अज्झोयरए य सोलसमे ॥२॥

१६ उत्पाद दोष—

धाई दुई निमित्ते आजीव-वणीमगे तिगिच्छाय।
कोहे माणे माया लोभे य हवति दस एए ॥१॥
पुव्विपच्छासत्थवविज्जामते य चुणजोगे य।
उप्पायणाइदोसा सोलसमे मूलकम्मे ॥२॥

१० एषणा (ग्रहणैषणा) दोष—

सकिय-मक्खिय-निक्खित्त-पिहिय-साहरिय-दायगुम्मीसे।
अपरिणय-लित्ति-छड्डिय एषणदोसा दस हवति ॥१॥

५ परिभोगैषणा दोष—

(१) इगाले, (२) धूमे, (३) सजोयणा, (४) पमाणे, (५) कारणं चेव। पच एए हवति घासेसण-दोसा ॥

नोट—इनका समस्त वर्णन दशवैकालिक, पिण्डनिर्युक्ति, आचारांग आदि से जान लेना चाहिए। —सम्पादक

गृद्धि, राग-द्वेषलिप्तता एव अपमान या अवमान—ये तीनो दोष है।
परिभोगैषणा के ५ दोष इस प्रकार हैं—
१ अगार दोष, २ धूम दोष, ३ सयोजना दोष, ४ प्रमाण दोष
५ कारण दोष।

ओमाणं परिवज्जए—वृत्तिकार ने इसकी व्याख्या यो की है—भिक्षा के समय साधु गृहस्थ के यहाँ जाये, उस समय यदि कोई उसे झिडक दे, अपमानित कर दे या अपशब्द या मर्मस्पर्शी शब्द कह दे तो भी साधु उस अपमान को दिल-दिमाग से निकाल दे, या गृहस्थ कोई सरस चीज न दे, बहुत ही कम दे या तुच्छ रूखा-सूखा आहार देने लगे, तब उस पर झुझलाकर उसका अपमान न करे। ज्ञान और तप के मद का परित्याग करे। ये चारो आहार विवेक-सूत्र साधु को आरम्भ-मुक्त होने के लिए बताये है।

कठिन शब्दों की व्याख्या – **जिता**—जो परीषह-उपसर्ग तथा काम-क्रोधादि ६ शत्रुओ से पराजित है। **हेच्चा**—छोडकर। **विज्जं**—विद्वान्। **अणुक्कसे**—वृत्तिकार के अनुसार—अनुत्कर्षवान् अर्थात्—आठ प्रकार के मदस्थानो मे से किसी भी प्रकार का मद न करता हुआ। चूर्णिकार ने **'अणुक्कसो'** और **'अणुक्कसायो'**, ये दो पाठान्तर माने है। इनके अर्थ क्रमश इस प्रकार है—अनुत्कर्ष का अर्थ है, जो जाति आदि मदस्थानो द्वारा उत्कर्ष (गर्व) को प्राप्त नही होता और अनुत्कषाय का अर्थ है—जो तनुकषाय हो, जिसका कषाय मन्द हो। **अप्पलीणे**—वृत्तिकार के अनुसार—अप्रलीन का अर्थ है—असम्बद्ध—अन्यतीर्थी, गृहस्थ या पार्श्वस्थ आदि के साथ ससर्ग न रखता हुआ। चूर्णिकार के अनुसार—**अप्पलीणे** का अर्थ—अपलीन हो, अर्थात् अपने आप का उन अन्यतीर्थिको आदि मे ग्रहण—सम्पर्क न होने दे। **'मज्झेण मुणि जावए'**—मध्यस्थभाव से मुनि जीवन-यापन करे अर्थात् न तो उन पर राग करे, न ही द्वेष, अथवा मुनि उनकी निन्दा-प्रशसा से बचता हुआ व्यवहार करे। **ताण परिव्वए**—शरण प्राप्त करे। चूर्णिकार ने **'जाणं परिव्वए'** पाठ मानकर अर्थ किया है—ज्ञान भिक्षु (अनारम्भी-अपरिग्रही की सेवा मे) पहुँचे। **विउ**—विज्ञ। **कडेसु**—दूसरो द्वारा कृत—बनाये हुए मे से। **घासमेसेज्जा**—कल्पनीय ग्राह्य ग्रास—आहार की एषणा—गवेषणा करे। **विप्पमुक्को**—राग-द्वेष से मुक्त होकर। **ओमाणं**—अपमान या अष्टविध मद।[६]

लोकवाद-समीक्षा

८०. लोगावाय निसामेज्जा, इहमेगेसि आहितं।
विवरीतपण्णसंभूतं, अण्णण्णबुतिताणुयं॥ ५॥

८१. अणंते णितिए लोए, सासते ण विणस्सति।
अंतव णितिए लोए, इति धीरोऽतिपासति॥ ६॥

---

६ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति, पत्रांक ४८-४९
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या, पृ० २४७ से २६१ तक
(ग) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० १३-१४

८२. अपरिमाणं विजाणाति, इहमेगेसि आहितं ।
सव्वत्थ सपरिमाणं, इति धीरोऽतिपासति ।। ७ ।।

८३. जे केइ तसा पाणा, चिट्ठंति अदु थावरा ।
परियाए अत्थि से अंजू, तेण ते तस-थावरा ।। ८ ।।

८०. इस लोक मे किन्ही लोगो का कथन है कि लोकवाद—पौराणिक कथा या प्राचीन लौकिक लोगो द्वारा कही हुई बाते सुनना चाहिए, (किन्तु वस्तुत पौराणिको का वाद) विपरीत बुद्धि की उपज है—तत्त्वविरुद्ध प्रज्ञा द्वारा रचित है, परस्पर एक दूसरो द्वारा कही हुई मिथ्या बातो (गप्पो) का ही अनुगामी यह लोकवाद है ।

८१ यह लोक (पृथ्वी आदि लोक) अनन्त (सीमारहित) है, नित्य है और शाश्वत है, यह कभी नष्ट नही होता, (यह किसी का कथन है ।) तथा यह लोक अन्तवान्, ससीम और नित्य है । इस प्रकार व्यास आदि धीर पुरुष देखते अर्थात् कहते हैं ।

८२ इस लोक मे किन्ही का यह कथन है कि कोई पुरुष सीमातीत पदार्थ को जानता है, किन्तु सर्व को जानने वाला नही । समस्त देश-काल की अपेक्षा वह धीर पुरुष सपरिमाण— परिमाण सहित—एक सीमा तक जानता है ।

८३ जो कोई त्रस अथवा स्थावर प्राणी इस लोक मे स्थित है, उनका अवश्य ही पर्याय (परिवर्तन) होता है, जिससे वे त्रस से स्थावर और स्थावर से त्रस होते हैं ।

विवेचन—लोकवाद : एक समीक्षा—प्रस्तुत चतु सूत्री मे लोकवाद-सम्बन्धी मीमासा है । प्रस्तुत चतु सूत्री को देखते हुए लोकवाद के प्रस्तुत समय-अध्ययन की दृष्टि से चार अर्थ फलित होते है—(१) लोको—पौराणिक लोगो का वाद-कथा या मत प्रतिपादन, (२) लोको—पाषण्डियो द्वारा प्राणियो के जन्म-मरण (इहलोक-परलोक) के सम्बन्ध मे कही हुई विसगत बाते, (३) लोक की नित्यता-अनित्यता, अनन्तता-सान्तता आदि के सम्बन्ध मे विभिन्न पौराणिको के मत, और (४) प्राचीन लोगो द्वारा प्रचलित परम्परागत अन्धविश्वास की बाते—लोकोक्तियाँ । वृत्तिकार ने इन चारो ही अर्थों को प्रस्तुत चारो सूत्रगाथाओ (८० से ८३ तक) की व्याख्या मे ध्वनित कर दिया है । शास्त्रकार ने प्रस्तुत चतु सूत्री की चारो गाथाओ मे निम्नोक्त समीक्षा की है -(१) लोकवाद कितना हेय-ज्ञेय या उपादेय है ? (२) कुछ कहते है—यह लोक अनन्त, नित्य, शाश्वत एव अविनाशी है । दूसरे कहते है—लोक अन्तवान है, किन्तु नित्य है, (३) पौराणिको आदि का अवतार लोकवादी है, जो अपरिमित ज्ञाता है तथा सपरिमाण ज्ञाता है, और (४) त्रस त्रस ही रहते है, स्थावर स्थावर ही, इस लोकवाद का खण्डन ।

बहुर्चाचत लोकवाद क्यो और कब से ?—शास्त्रकार ने लोकवाद की चर्चा इसलिए छेडी है कि उस युग मे पौराणिको का बहुत जोर था । लोग उन पौराणिको को सर्वज्ञ मानते और कहते थे, उनसे आगम-निगम की, लोक-परलोक की, मरणोत्तर लोक के रहस्य की या प्राणी की मरणोत्तर दशा की, अथवा प्रत्यक्ष दृश्यमान सृष्टि (लोक) की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय की बहुत चर्चाएँ करते थे ।

उस युग में जो व्यक्ति बहुत वाचाल होता और तर्क-युक्तिपूर्वक लोकमानस मे अपनी बात बिठा देता, उसे अन्धविश्वास पूर्वक अवतारी, सर्वज्ञ, ऋषि, पुराण-पुरुष आदि मान लिया जाता था। कई बार ऐसे लोग अपने अन्धविश्वासी लोगो मे ब्राह्मण, कुत्ता, गाय आदि प्राणियो के सम्बन्ध मे अपनी सर्वज्ञता प्रमाणित करने के लिए आश्चर्यजनक, विसगत एव विचित्र मान्यताएँ फैला देते थे।

भगवान् महावीर के युग मे पूरण काश्यप, मक्खली गोशालक, अजितकेश कम्बल, पकुद्ध कात्यायन, गौतम बुद्ध एव सजय बेलट्ठिपुत्त आदि कई तीर्थंकर माने जाने वाले व्यक्ति थे, जो सर्वज्ञ कहे जाते थे, उधर वैदिक पौराणिको मे व्यास, बादरायण, भारद्वाज, पाराशर, हारीत, मनु आदि भी थे, जिन्हे लोग उस युग के सर्वज्ञाता मानते थे। यही कारण है कि शास्त्रकार ने ८०वी सूत्रगाथा मे प्रस्तुत किया है -आम जनता मे प्रचलित लोकवाद को सुनने का कुछ लोगो ने हमसे अनुरोध किया है, किन्तु हमने बहुत कुछ सुन रखा है, प्रचलित लोकवाद उन्ही विपरीत बुद्धि वाले पौराणिको की बुद्धि की उपज है, जिसमे उन्होने कोई यथार्थ वस्तुस्वरूप का कथन नही किया है। जैसे उन लोकवादियो की मान्यता भी परस्पर-विरुद्ध है, वैसे यह लोकवाद भी उसी का अनुगामी है। निष्कर्ष यह है कि प्रस्तुत लोक ज्ञेय और हेय अवश्य हो सकता है, उपादेय नही।[७]

लोकवाद : परस्पर विरुद्ध क्यों और कैसे ?—प्रश्न होता है, जब प्राय. हर साधारण व्यक्ति इस लोकवाद को मानता है, तब आप (शास्त्रकार) उसे क्यो ठुकराते हैं? इसके उत्तर मे ८१वी सूत्रगाथा प्रस्तुत की गई है। कुछ वादियो के अनुसार पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पति तथा एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक जितने भी प्राणी है, वे सब मिलकर लोक कहलाता है। इस प्रकार के लोक का निरन्वय नाश नही होता। उनका आशय यह है कि जो जीव इस जन्म मे जैसा है, परलोक मे भी, यहाँ तक कि सदा काल के लिए वह वैसा ही उत्पन्न होता है। पुरुष पुरुष ही होता है, स्त्री स्त्री ही होती है। अन्वय (वश या नस्ल) के रूप मे कभी उसका नाश नही होता। इसलिए उन्होने कह दिया—लोक अविनाशी है, फिर उन्होने कहा—लोक नित्य है, उत्पत्ति-विनाश रहित, सदैव स्थित एव एक सरीखे स्वभाव वाला रहता है। तथा यह लोक शाश्वत है—बार-बार उत्पन्न नही होता, सदैव विद्यमान रहता है। यद्यपि द्वयणुक आदि कार्य-द्रव्यो (अवयवियो) की उत्पत्ति की दृष्टि से यह शाश्वत नही है, तथापि कारण-द्रव्य परमाणुरूप से इसकी कदापि उत्पत्ति नही होती, इसलिए यह शाश्वत ही माना जाता है, क्योकि उनके मतानुसार काल, दिशा, आकाश, आत्मा और परमाणु नित्य है। तथा यह लोक अनन्त है, अर्थात् इसकी कालकृत कोई अवधि नही है, यह तीनो कालो मे विद्यमान है।

---

७ (क) सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या, पृ २६६-२६७

(ख) सूत्रकृताग शीलाक वृत्ति, पत्राक ४९

(ग) देखिये दीघनिकाय मे—अय देव! पूरणो कस्सपो सघी चेव गणी च गणाचरियो च ञातो, यसस्सी, तित्थकरो, साधु सम्मतो बहुजनस्य रत्तञ्ञू, चिर पब्बजितो, अद्धगतो, वयो अनुप्पत्तो ""मक्खलि गोसालो"" अजितो केस कम्बलो ' पकुधो कच्चायनो सञ्जयो बेलट्ठपुत्तो""निगण्ठो""नायपुत्तो भगवा अरह सम्मा सम्बुद्धो विज्जाचरण सम्पन्नो सुगतो लोकविदू, अनुत्तरो, पुरिस दम्म सारथिसत्थादेव मनुस्सान, बुद्धो भगवा ति।

—सुत्त पिटके दीघनिकाय, पालि भा. १ मे ४१-५३

कुछ पौराणिको के मतानुसार यह लोक अन्तवान् है। जिसका अन्त अथवा सीमा हो, उसे अन्तवान् कहते है। लोक ससीम-परिमित है। क्योकि पौराणिको ने बताया है—**"यह पृथ्वी सप्तद्वीप पर्यन्त है, लोक तीन हैं, चार लोक सनिवेश है,** इत्यादि। इस दृष्टि से लोकसीमा दृष्टिगोचर होने के कारण यह अन्तवान् है। किन्तु सपरिमाण (ससीम) होते हुए भी यह लोक नित्य है, क्योकि प्रवाहरूप से यह सदैव दृष्टिगोचर होता है।

बौद्धधर्म के दीर्घनिकाय ग्रन्थ के ब्रह्मजाल सुत्त मे बनाया गया है कि "कितने ही श्रमण ब्राह्मण एक या अनेक पूर्वजन्मो के स्मरण के कारण कहते है—यह आत्मा और लोक नित्य, अपरिणामी, कूटस्थ और अचल है, प्राणी चलते-फिरते, उत्पन्न होते और मर जाते है, लेकिन अस्तित्व नित्य है।' ' कितने ही श्रमण और ब्राह्मण है, जो आत्मा और लोक को अशत नित्य और अशत अनित्य मानते है लोक का प्रलय हो जाता है, तब पहले-पहल जो उत्पन्न होता है वह पीछे जन्म लेने वाले प्राणियो द्वारा नित्य, ध्रुव, शाश्वत अपरिणामधर्मा और अचल माना जाता है, अपने आपको उस (ब्रह्मा) से निर्मित किये जाने के कारण अपने को अनित्य, अध्रुव, अशाश्वत, परिणामी और मरणशील मानता है।"

" कितने ही श्रमण-ब्राह्मण लोक को सान्त और अनन्त मानते है। यह लोक ऊपर से सान्त और दिशाओ की ओर से अनन्त है।"[८]

शास्त्रकार ने इसका खण्डन करते हुए कहा है—**'इति धीरोऽतिपासति'** इसका आशय यह है कि लोकवाद इस प्रकार की परस्पर-विरोधी और विवादास्पद बातो का भण्डार है, जो व्यास आदि के समान किसी साहसिक बुद्धिवादी (धीर) पुरुष का अतिदर्शन है—अर्थात् वस्तुस्वरूप के यथार्थ दर्शन का अतिक्रमण है। इस वाक्य मे से यह भी ध्वनित होता है कि वस्तुस्वरूप का यथार्थ दर्शन वही कर सकता है जिसका दर्शन सम्यक् हो। इसीलिए चूर्णिकार ने पाठान्तर माना है, **'एव वीरोऽधिपासति'** इस प्रकार वादवीर सामान्य जनो से अधिक देखता है, वह सर्वज्ञ नही है।[९]

लोकवाद की ऐकांतिक एवं युक्तिविरुद्ध मान्यताए—पौराणिक आदि लोकवादियो की सर्वज्ञता के सम्बन्ध मे शास्त्रकार ने यहाँ दो मान्यताएँ प्रस्तुत की है—(१) एक मान्यता तो यह है, जो

---

८ (क) सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ. २६२-२६३ के आधार पर
(ख) सूत्रकृताग शीलाक वृत्ति, ४९-५० के आधार पर
(ग) 'सप्तद्वीपा वसुन्धरा' इत्यादि बातें पुराणो मे वर्णित हैं।
(घ) ' एकच्चो समणो ब्राह्मणो वा अन्तसञ्ञी लोकस्सि विहरति। सो एवमाह—अन्तवा सय लोको परिवट्टुमो । एकच्चो समणो वा ब्राह्मणो वा "अनन्तसञ्ञी लोकस्सि विहरति सो एवमाह—अनन्तो अय लोको अपरियन्तो ।

९ (क) सूत्रकृताग शीलाक वृत्ति, पत्राक ४९ के आधार पर
(ख) सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या, पृ २६३ के आधार पर
(ग) सूयगडग चूर्णि (मूलपाठ टिप्पण) पृ १४

पौराणिको की है कि हमारा मान्य अवतार या ईश्वर अपरिमित पदार्थों को जानता है, क्योंकि वह अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञाता है। दूसरी मान्यता यह है कि हमारा ईश्वर या अवतारी पुरुष अपरिमित पदार्थों का ज्ञाता अवश्य है, मगर वह सर्वज्ञ नहीं है—सर्वक्षेत्र-काल के सब पदार्थों का ज्ञाता नही है। सीमित क्षेत्रकालगत पदार्थों को ही जानता-देखता है।

कई अतीन्द्रिय द्रष्टा सर्वज्ञ एव अपने मत के तीर्थंकर कहलाते थे, तथापि वे कहते थे—जो अतीन्द्रिय पदार्थ उपयोगी हो, जिनसे कोई प्रयोजन हो, उन्ही को हमारे तीर्थंकर जानते है। जैसे कि आजीवक मतानुयायी अपने तीर्थंकर मक्खली गोशालक के सम्बन्ध मे कहते थे—

तीर्थंकर सभी पदार्थों को देखे या न देखे, जो पदार्थ अभीष्ट एव मोक्षोपयोगी हों, उन्हे देख ले, इतना ही काफी है। कीड़ों की संख्या का ज्ञान भला हमारे किस काम का ? कीड़ो की संख्या जानने से हमे क्या प्रयोजन ? अतएव हमे उस (तीर्थंकर) के अनुष्ठान सम्बन्धी या कर्तव्याकर्तव्य सम्बन्धी ज्ञान का विचार करना चाहिए। अगर दूर तक देखने वाले को ही प्रमाण मानेंगे तब तो हम उन दूरदर्शी गिद्धो के उपासक माने जायेंगे।[10]

यह सर्वत्र को पूर्णज्ञता न मानने वालो का मत है।

इस गाथा मे प्रथम मत पौराणिको का है, और द्वितीय मत है—आजीवक आदि मत के तीर्थकरो का। एक प्रकार से सारी गाथा मे पौराणिकों के मत का ही प्ररूपण है। पुराण के मतानुसार 'ब्रह्माजी का एक दिन चार हजार युगो का होता है' और रात्रि भी इतनी ही बडी होती है।[11] ब्रह्माजी दिन मे जब पदार्थों की सृष्टि करते है, तब तो उन्हे पदार्थों का अपरिमित ज्ञान होता है, किन्तु रात मे जब वह सोते है तब उन्हे परिमित ज्ञान भी नही होता। इस प्रकार परिमित अज्ञान होने से ब्रह्माजी मे ज्ञान और अज्ञान दोनो की सम्भावना है। अथवा वे कहते हैं—ब्रह्माजी एक हजार दिव्य वर्ष सोये रहते है, उस समय वह कुछ भी नही देखते और जब उतने ही काल तक वे जागते हैं, तब वे देखते है। इसीलिए शास्त्रकार कहते है—**'धीरोऽतिपासई'** अर्थात्—धीर ब्रह्मा का यह (लोकवाद) अतिदर्शन है।[12]

अपुत्रस्य गतिर (लोको) नास्ति, स्वर्गो नैव च, नैव च—पुत्रहीन की गति (लोक) नही होती, स्वर्ग तो उसे हर्गिज नही मिलता। इस प्रकार की धारणाएँ लोकवाद है।

लोकवाद युक्ति-प्रमाण विरुद्ध है—सूत्रगाथा ८३ मे लोकवाद के रूप मे प्रचलित युक्ति-प्रमाण विरुद्ध मान्यताओ का निराकरण किया गया है। जैसे कि लोकवादी यह कहते हैं—यह लोक अनन्त, नित्य, शाश्वत और अविनाशी है। इस विषय मे जैनदर्शन यह कहता है कि अगर लोकगत पदार्थो को

१० सर्वंपश्यतु वा मा वा, इष्टमर्थं तु पश्यतु।
कीटसख्यापरिज्ञान तस्य न क्वोपयुज्यते ॥१॥
तस्मादनुष्ठानगत ज्ञानमस्य विचार्यताम्।
प्रमाण दूरदर्शी चेदेते गृद्धानुपास्महे ॥२॥

११ "चतुर्युग सहस्राणि ब्रह्मणो दिनमुच्यते।" —पुराण

१२ (क) सूत्रकृताग शीलाक वृत्ति ५०
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या २६८-२६९

उत्पत्ति-विनाश रहित, स्थिर, एक स्वभाव वाले कूटस्थ नित्य मानते है तो यह प्रत्यक्ष प्रमाण विरुद्ध है। इस जगत् मे जड-चेतन कोई भी पदार्थ ऐसा दृष्टिगोचर नही होता, जो क्षण-क्षण मे उत्पन्न न हो। प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण पर्याय रूप से उत्पन्न और विनष्ट होता हुआ दिखता है। अतएव लोकगत पदार्थ सर्वथा पर्याय रहित कूटस्थ नित्य कैसे हो सकते है? लोकवाद की इसी कूटस्थ नित्य की मान्यता को लेकर जो यह कहा जाता है कि त्रस सदैव त्रस पर्याय मे ही होता है, स्थावर स्थावर पर्याय मे ही होता है, तथा पुरुष मरकर पुरुष ही बनता है, स्त्री मरकर पुन स्त्री ही होती है, यह लोकवाद सत्य नही है। आचाराग सूत्र मे भगवान् महावीर के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है—"स्थावर (पृथ्वीकाय आदि) जीव त्रस (द्वीन्द्रियादि) के रूप मे उत्पन्न हो जाते है और त्रसजीव स्थावर के रूप मे उत्पन्न हो जाते है। अथवा ससारी जीव सभी योनियो मे उत्पन्न हो सकते हैं। अज्ञानी जीव अपने-अपने कर्मों से पृथक्-पृथक् रूप रचते हैं।"[13]

यदि यह लोकवाद सत्य हो कि जो मनुष्य इस जन्म मे जैसा है, अगले जन्म मे भी वह वैसा ही होता है, तब तो दान, अध्ययन, जप, तप, यम, नियम, आदि समस्त अनुष्ठान व्यर्थ हो जाएँगे, फिर क्यो कोई दान देगा, यम नियमादि की साधना करेगा? क्योकि उस साधना या धर्माचरण से कुछ भी परिवर्तन होने वाला नही है। परन्तु स्वय लोकवाद के समर्थको ने जीवो का एक पर्याय से दूसरी पर्याय मे उत्पन्न होना स्वीकार किया है—

'स वै एष शृगालो जायते, य· सपुरीषो दह्यते।'

अर्थात्—'वह पुरुष अवश्य ही सियार होता है, जो विष्ठा सहित जलाया जाता है।'

तथा— **"गुरुं तु कृत्य हुंकृत्य, विप्रान्निर्जित्य वादतः।**
श्मशाने जायते वृक्षः, कंक-गृध्रोपसेवित·॥"

अर्थात्—जो गुरु के प्रति 'तु' या 'हु' कहकर अविनयपूर्ण व्यवहार करता है, ब्राह्मणो को वाद मे हरा देता है, वह मरकर श्मशान मे वृक्ष होता है, जो कक, गिद्ध आदि नीच पक्षियो द्वारा सेवित होता है।

इसलिए पूर्वोक्त लोकवाद का खण्डन उन्ही के वचनो से हो जाता है। निष्कर्ष यह है कि त्रस हो या स्थावर, सभी प्राणियो का अपने-अपने कर्मानुसार विभिन्न गतियो और योनियो के रूप मे पर्याय परिवर्तन होता रहता है। स्मृतिकार ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है।[14]

एक द्रव्यविशेष की अपेक्षा से कार्यद्रव्यो को अनित्य और आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन को सर्वथा नित्य कहना भी लोकवाद का असत्य है क्योकि सभी पदार्थ उत्पात, विनाश और ध्रौव्य इन तीनो से युक्त होते है। ऐसा न मानने पर आकाश-कुसुमवत् वस्तु का वस्तुत्व ही नही रहेगा। पदार्थों

---

१३ अदु थावरा य तसत्ताए, तस जीवा य थावरत्ताए।
अदुवा सव्व जोणिया सत्ता कम्मुणा कप्पिया पुढो बाला॥ —आचाराग १, श्रु० ९, अ० १, उ० गा० ५४

१४ देखिये स्मृति मे—"अन्त प्रज्ञा भवन्त्येते सुख-दु ख समन्विता।
शारीरजैः कर्मदोषैर्यान्ति स्थावरता नर॥"

की अपनी-अपनी जाति (सत्ता) का नाश नही होता फिर भी वे परिणामी हैं, यही (परिणामी नित्य) मानना ही जैनदर्शन को अभीष्ट है।

लोक को अन्तवान् सिद्ध करने के लिए लोक (पृथ्वी) को सात द्वीपों से युक्त कहना भी प्रमाण-विरुद्ध है। क्योंकि इस बात को सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नही है।

लोकवादियों के द्वारा मान्य अवतार या भगवान् अपरिमितदर्शी होते हुए भी सर्वज्ञ नहीं हैं, इसलिए उनका भी यदि यह कथन हो तो प्रमाण नही माना जा सकता, क्योंकि जो पुरुष अपरिमित-दर्शी होकर भी सर्वज्ञ नहीं हैं, वे हेय-उपादेय का उपदेश देने मे भी समर्थ नही हैं, अतीन्द्रिय पदार्थों का उपदेश देना तो दूर रहा।

लोकवाद मान्य अवतार या तीर्थंकर यदि अपरिमित पदार्थदर्शी या अतीन्द्रिय पदार्थ द्रष्टा है, तो उनका सर्व-देश-कालज्ञ होना अत्यावश्यक है। यदि उन्हे कीडो की सख्या का उपयोगी ज्ञान भी नही होगा तो बुद्धिमान पुरुष शका करने लगेंगे कि उन्हे उसी प्रकार अन्य पदार्थों का भी ज्ञान नही होगा। ऐसे शकित-मानस उनके द्वारा उपदिष्ट हेयोपादेय मे निवृत्त-प्रवृत्त नही हो सकेंगे।

लोकवादियो का यह कथन भी कोई अपूर्व नही है कि "ब्रह्मा सोते समय कुछ नही जानता, जागते समय मब कुछ जानता है," यह तो सभी प्राणियो के लिए कहा जा सकता है। तथा ब्रह्मा के मोने पर जगत् का प्रलय और जागने पर उत्पाद (सर्जन) होता है, यह कथन भी प्रमाणशून्य होने से उपादेय नही है।

वास्तव मे लोक का न तो एकान्त रूप से उत्पाद होता है और न ही सर्वथा विनाश (प्रलय)। द्रव्य रूप से लोक सदैव बना (नित्य) रहता है, पर्याय रूप से बदलता (अनित्य) रहता है।

लोकवादियो का यह कथन भी छोटे बालक के समान हास्यास्पद है कि पुत्रहीन पुरुष की कोई गति (लोक) नही। अगर पुत्र के होने मात्र से विशिष्ट लोक प्राप्त होता हो, तब तो बहुपुत्रवान् कुत्तो और सूअरो से लोक परिपूर्ण हो जाएगा। हर कुत्ता या सूअर विशिष्ट लोक (सुगति) मे पहुँच जाएगा, विना ही कुछ धर्माचरण किये, शुभकर्म किये। पुत्र के द्वारा किये गए अनुष्ठान से उसके पिता को विशिष्ट लोक प्राप्त होता हो, तब तो कुपुत्र के द्वारा किये गए अशुभ अनुष्ठान से कुलोक (कुगति) मे भी जाना पडेगा, फिर उस पिता के स्वकृत शुभाशुभ कर्मों का क्या होगा? वे तो व्यर्थ ही जाएँगे? अत कर्म-सिद्धान्त-विरुद्ध, प्रमाण-विरुद्ध लोकवादीय कथन कथमपि उपादेय नही है।

'कुत्ते यक्ष हैं', 'ब्राह्मण देव हैं' इत्यादि लोकोक्तियाँ भी लोकवाद के युक्ति-प्रमाण शून्य विधान हैं। अत ये विश्वसनीय नही हो सकते।[१५]

कठिन शब्दों की व्याख्या—**णिसामिज्जा**—सुनना चाहिए, अर्थात् जानना चाहिए। **विपरीत-पण्णसंभूतं**—परमार्थ-वस्तुतत्त्व से विपरीत प्रज्ञा (बुद्धि) द्वारा उत्पन्न-सम्पादित-रचित। **अण्णण्ण-**

---

१५ (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ४९

(ख) सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० २६९-२७०

वृतिताणुगं—चूर्णिकार के अनुसार—अन्योन्य—एक दूसरे के उक्त कथन का अनुगामी है। वृत्तिकार ने **अन्नउत्तं तयाणुयं**—पाठान्तर मानकर व्याख्या की है—विपरीत स्वरूप बनाने वाले अन्य अविवेकियो ने जो मिथ्या अर्थ बतलाया है, उसी का अनुगामी (लोकवाद है।) **अणंत**—जिसका अन्त—निरन्वय नाश नही है, अथवा अनन्त यानी परिमाण रहित—निरवधि। **इहमेगेसि आहित**—इस लोक मे किन्ही सर्वज्ञापह्नववादियो का यह कथन या मत है। **अपरिमाणं विजानाति**—क्षेत्र और काल की जिसमे इयत्ता—सीमा नही है, ऐसा अपरिमित ज्ञाता अतीन्द्रियदर्शी **सव्वत्थ सपरिमाणं इति धीरोऽतिपासति**=बुद्धिमान (धीर) (व्यास आदि) सर्वार्थ देशकालिक अर्थ सपरिमाण-सीमित जानता है, यह अतिदर्शन है। **अदु**—अथवा, **अंजु**—अवश्य, **परियाए**—पर्याय मे।[१६]

अहिंसा धर्म-निरूपण

८४. उरालं जगओ जोयं, विपरीयास पलेंति य।
सव्वे अक्कंत दुक्खा य, अतो सव्वे अहिंसिया ॥ ९ ॥

८५. एतं खु णाणिणो सार, जं न हिंसति किंचणं।
अहिंसा समयं चेव, एतावत वियाणिया ॥ १० ॥

८४ (औदारिक त्रस-स्थावर जीव रूप) जगत् का (बाल्य-यौवन-वृद्धत्व आदि) सयोग—अवस्थाविशेष अथवा योग—मन वचन काया का व्यापार (चेष्टाविशेष) उदार-स्थूल है—इन्द्रिय प्रत्यक्ष है। और वे (जीव) विपर्यय (दूसरे पर्याय) को भी प्राप्त होते है तथा सभी प्राणी दु ख से आक्रान्त—पीडित हैं, (अथवा सभी प्राणियो को दु ख अकान्त—अप्रिय है, और सुख प्रिय है) अत सभी प्राणी अहिंस्य—हिंसा करने योग्य नही—है।

८५ विशिष्ट विवेकी पुरुष के लिए यही सार - न्याय सगत निष्कर्ष है कि वह (स्थावर या जगम) किसी भी जीव की हिसा न करे। अहिसा के कारण सब जीवो पर समता रखना और (उपलक्षण से सत्य आदि) इतना ही जानना चाहिए, अथवा अहिसा का समय (सिद्धान्त या आचार) इतना ही समझना चाहिए।

विवेचन—अहिंसा के सिद्धान्त या आचार का निरूपण—इस गाथा द्वय (८४-८५) मे स्व-समय के सन्दर्भ मे अहिंसा के सिद्धान्त एव आचार का प्रतिपादन किया गया है।

लोकवाद के सन्दर्भ मे कहा गया था कि उसकी यह मान्यता है कि त्रस या स्थावर, स्त्री या पुरुष, जो इस लोक मे जैसा है, अगले लोको मे भी वह वैसा ही होता है, इसलिए कोई श्रमण निर्ग्रन्थ अहिंसादि के आचरण से विरत न हो जाये, इसीलिए ये दोनो गाथाए तथा आगे की गाथाएँ शास्त्रकार ने प्रस्तुत की हैं। प्रस्तुत गाथा द्वय से मिलती-जुलती गाथाएँ इसी सूत्र के १२वे अध्ययन की सूत्रगाथा ५०५ और ५०६ मे भी हैं।

---

१६ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ४९-५०
(ख) सूयगडग चूर्णि (मूलपाठ टिप्पण) पृ० १४

समस्त प्राणी अहिंस्य क्यो ?—प्रस्तुत गाथा मे संसार के समस्त जीव अहिंस्य क्यो हैं ? अर्थात् जीव हिंसा क्यो नही करनी चाहिए ? इसके तीन कारण बताये हैं—

(१) इस दृश्यमान त्रस-स्थावर जीव रूप जगत् की मन-वचन-काया की प्रवृत्तियां (योग) अथवा बाल्य-यौवन-वृद्धत्व आदि (अवस्थाएँ) स्थूल (प्रत्यक्ष) हैं,

(२) स्थावर-जगम सभी प्राणियो की पर्याय—अवस्थाएँ सदैव एक-सी नही रहती, तथा

(३) सभी प्राणी शारीरिक-मानसिक दु:खो से पीडित रहते हैं, अथवा सभी प्राणियो को दु ख अप्रिय है ।

बहुत से मतवादियो का कथन है आत्मा कूटस्थनित्य, एक-से स्वभाव का, उत्पत्ति-विनाश से रहित है, इसलिए वे यह तथ्य प्रस्तुत करते है कि आत्मा की बाल्यादि अवस्थाए नही होती, न ही अवस्था परिवर्तन होता है, और न कभी सुख-दु ख आदि होते हैं, इसलिए किसी जीव को मारने-पीटने, सताने आदि से कोई हिंसा नही होती है । यह वाद दीघनिकाय मे वर्णित पकुद्धकात्यायन के अकृततावाद से प्राय. मिलता-जुलता है ।[१७] इसी मिथ्यात्वग्रस्त पर-समय का निराकरण करने हेतु आत्मा की कथचित् अनित्यता, परिणामधर्मिता तथा तदनुसार सुख-दु.खादि प्राप्ति, दु ख से अरुचि आदि स्वसमय का प्रतिपादन किया गया है और यह स्पष्ट बता दिया गया है कि समस्त प्राणि-जगत् की विविध चेष्टाएँ तथा बाल्यादि अवस्थाएँ प्रत्यक्ष हैं, अवस्थाएँ (पर्यायें) भी सदा एक-सी नही रहती प्राणिमात्र मरणधर्मा है । वह एक शरीर नष्ट होते ही स्व-स्वकर्मानुसार आत्मा दूसरे मनुष्य, तिर्यंच, नरक आदि गतियो और योनियो रूप पर्यायो मे पर्यटन करती रहती है, और एक पर्याय (अवस्था) से दूसरी पर्याय बदलने पर जन्म, जरा, मृत्यु, शारीरिक-मानसिक चिन्ता, सन्ताप आदि नाना प्रकार के दु ख भी भोगने पडते है, जो कि उन प्राणियो को अप्रिय हैं । इसलिए यह स्वाभाविक है कि कोई भी व्यक्ति जब किसी भी प्राणी को सतायेगा, पीडा देगा, मारेगा-पीटेगा, डरायेगा या किसी भी प्राणी को हानि पहुँचायेगा, प्राणो से रहित कर देगा तो उसे दु खानुभव होगा, इसलिए शास्त्रकार ने इन्ही तीन मुख्य प्रत्यक्ष दृश्यमान स्थूल कारणो को प्रस्तुत करके बता दिया कि प्राणी सदैव एक से नही रहते—उनमे परिवर्तन होना प्रत्यक्षसिद्ध है । अत किसी भी प्राणी की हिंसा न करो ।

---

१७ (क) तुलना कीजिए—सव्वे अक्कतदुक्खा य, अतो सव्वे न हिंसया
एय खु णाणिणो सार, ज न हिंसति कचण ।
अहिंसा समय चेव एतावत विजाणिया ॥

—सूत्रकृ० १ श्रु० अ० ११, गा० ९-१०, सू० ५०५-६

(ख) पकुधो कच्चायनो य एतदवोच—सत्तिमे महाराज, काया अटका, अकटविधा अनिम्मिता अनिम्माता, वञ्झा कूटट्ठा एसिकट्ठायिट्ठिता । तेन इञ्जन्ति, न विपरिणामेति, अञ्ञमञ्ञ व्याबाधेति, नाल अञ्ञमञ्ञस्स सुखाय वा दुक्खाय वा, सुखदुक्खाय वा । कतमे सत्त ? पठविकायो, आपोकायो, तेजोकायो, वायोकायो, सुखे, दुक्खे, जीवे सत्तमे ।

—सुत्तपिटके दीघनिकाय पालि भा० १, सामञ्ञफलसुत्त

(ग) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्रांक ५१ के आधार पर

(घ) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या २७४-२७५ के आधार पर

"अप्पो सव्वे अहिंसिया"—किसी भी प्राणी को किसी भी रूप से पीडा देना, सताना, मारना-पीटना, डराना आदि हिसा है, और किसी भी प्रकार की हिसा से प्राणी को दु ख होता है। हिसा करना निर्ग्रन्थ क्यो छोडते है ? इस प्रश्न का उत्तर दशवैकालिक एव आचाराग मे स्पष्ट दिया गया है कि समस्त जीव जीना चाहते है, मरना कोई भी नही चाहता, सभी को अपना जीवन प्रिय है, सभी सुख चाहते हैं, दु ख सभी को अप्रिय है, इसीलिए निर्ग्रन्थ प्राणिवध को घोर पाप समझकर उसका त्याग करते हैं।[१८]

यह भी सत्य है कि असत्य, चोरी, मैथुन-सेवन, परिग्रह वृत्ति आदि पापास्रवो से भी प्राणियो को शारीरिक-मानसिक दु ख होता है, इसलिए ये सब हिसा के अन्तर्गत आ जाते है। प्रस्तुत गाथा मे प्रयुक्त 'य' (च) शब्द से उपलक्षण से असत्यादि का त्याग भी समझ लेना चाहिए।

हिंसा आदि पापास्रव अविरति के अन्तर्गत है, जो कि अशुभ कर्मबन्धन का एक कारण है। इस दृष्टि से भी शास्त्रकार ने प्राणिहिसा का निषेध किया है।

ज्ञानी के ज्ञान का सार : हिंसा न करे—प्राणिहिसा निषेध के पूर्वोक्त विवेक सूत्र को और स्पष्ट करते हुए शास्त्रकार सूत्र गाथा ८५ मे कहते है—**'एत ख नाणिणो सार किंचणं'**—अर्थात् ज्ञानी होने का सार—निष्कर्ष यही है कि वह किसी भी प्राणी की हिंसा न करे।

ज्ञानी कौन ? उसके ज्ञान का सार क्या ?—यहाँ ज्ञानी उसे नही बताया गया है, जो पोथी-पण्डित हो, रटारटाया शास्त्र पाठ जिसके दिमाग मे भरा हो, अथवा जो केवल शास्त्रीय ज्ञान बघारता हो, अथवा जिसका लौकिक या भौतिक विद्याओ का पाठन-अध्ययन प्रचुर हो। यहाँ ज्ञानी के मुख्य दो अर्थ फलित होते है—(१) अध्यात्म-ज्ञानवान्—जो आत्मा से सम्बन्धित पुण्य-पाप, आस्रव-सवर, बन्ध-मोक्ष, निर्जरा, आत्मा का स्वरूप, कर्मबन्ध, शुद्धि, विकास-ह्रास आदि का सम्यग् ज्ञाता हो।

(२) सभी प्राणियो को मेरे समान ही सुख प्रिय हैं, दु ख अप्रिय, सभी को अपने प्राण प्यारे हैं, सभी जीना चाहते हैं, मरना नही। हिंसा, असत्य आदि से मेरे समान सभी प्राणियो को दु ख होता है, इस प्रकार आत्मवत् सर्वभूतेषु सिद्धान्त का जिसे अनुभव ज्ञान हो। इसीलिए शास्त्रकार का यहाँ आशय यह है **'ज्ञानस्य सारो विरति'** ज्ञान का सार है—(पाप कर्मबन्ध या दु ख प्रदान से) विरति। इस दृष्टि से आत्मा को कर्मबन्ध से मुक्त कराने और बन्धन को भली-भाँति समझकर तोडना ही जब ज्ञानी के ज्ञान का सार है, तब हिंसादि जो कर्मबन्ध या कर्मास्रव के कारण है, उनमे वह कैसे पड सकता है। इसीलिए यहाँ कहा गया—**'जं न हिंसति किंचणं'**। तात्पर्य यह है कि ज्ञानी के लिए न्याय सगत (सार) यही है कि पाप कर्मबन्धन के मुख्य कारण हिंसा को छोड दे। किसी भी प्राणी की किसी

---

१८ (क) सव्वे जीवा वि इच्छति जीविउ न मरिज्जिउ।
तम्हा पणिवह घोर निग्गथा वज्जयति ण॥ —दशवैकालिक अ० ६ गा० १०

(ख) सव्वे पाण पियाउया, सुहसाया दुक्खपडिकूला, अप्पियवहा, पियजीविणो, जीविउकामा, सव्वेसि जीविय पिय।" —आचाराग श्रु० १, अ० २, सू० २४०-२४१

(ग) सर्वभूतस्थमात्मान सर्वभूतानि चात्मनि। ईक्षते योग-युक्तात्मा सर्वत्र समदर्शन॥ —गीता ६/२९

भी प्रकार से हिंसा न करे, परितापना पीडा न दे। उपलक्षण से पाप कर्मबन्ध के अन्य कारण तथा पीडाजनक (हिंसाजनक)—मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन सेवन, परिग्रह वृत्ति से भी दूर रहे।

अहिंसा से समता या समय को जाने—ज्ञानी के लिए सारभूत दूसरा तथ्य यहाँ बताया गया है—**'अहिंसा-समयं चेव · वियाणिया'** इसके तीन अर्थ यहाँ फलित होते हैं—

(१) अहिंसा से समता को जाने, इतना ही सार है,

(२) अहिंसा रूप समता को विशेष रूप से जाने, इतना ही सार है,

(३) इतना ही (यही) अहिंसा का समय (सिद्धान्त या आचार या प्रतिज्ञा) है, यह जाने।

तीनो अर्थों का आशय यह है कि साधु ने दीक्षा ग्रहण करते समय **'करेमि भन्ते सामाइयं'** के पाठ समता की प्रतिज्ञा ली है। अहिंसा भी एक प्रकार की समता है अथवा समता का कारण है। क्योकि साधक अहिंसा का पालन या आचरण तभी कर सकता है, जब वह प्राणिमात्र के प्रति समभाव-आत्मौपम्य भाव रखे। दूसरो की पीडा, दु ख, भय, त्रास को भी अपनी ही तरह या अपनी ही पीडा, दु ख, भय, त्रास आदि समझे। जैसे मेरे शरीर मे विनाश, प्रहार, हानि एव कष्ट से मुझे दु ख का अनुभव होता है, वैसे ही दूसरे प्राणियो को भी उनके शरीर के विनाशादि से दु खानुभव होता है। इसी प्रकार मुझे कोई मारे-पीटे, सताये, मेरे साथ झूठ बोले, धोखा करे, चोरी और बेईमानी करे, मेरी बहन-बेटी की इज्जत लूटने लगे या सग्रहखोरी करे तो मुझे दु ख होगा, उसी तरह दूसरो के साथ मैं भी वैसा व्यवहार करू तो उसे भी दु ख होगा। इस प्रकार समतानुभूति आने पर ही अहिंसा का आचरण हो सकता है।[१९]

भगवान् महावीर ने तो स्पष्ट कहा है—**'अप्पणा सच्चमेसेज्जा'**—अपनी आत्मा को तराजू पर तोलकर सत्य का अन्वेषण करे। ऐसा करने पर ही मालूम होगा कि दूसरे प्राणी को मारने, सताने आदि से उतनी ही पीडा होती है जितनी तुम्हे होती है। आचाराग सूत्र मे तो यहाँ तक कह दिया है कि "जिस प्राणी को तुम मारना, पीटना, सताना, गुलाम बनाकर रखना, त्रास देना, डराना आदि चाहते हो, वह तुम्ही हो, ऐसा सोच लो कि उसके स्थान पर तुम्ही हो।"[२०]

---

१९ (क) सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० २७६

(ख) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ५१

(ग) 'करेमि भन्ते सामाइय'—आवश्यक सूत्र, सामायिक सूत्र सभाष्य

२० (क) अहिंसया समता अहिंसा समता ता चैतावद् विजानीयात्। —शीलांकवृत्ति पत्र ५१

(ख) अप्पणा सच्चमेसेज्जा .. —उत्तराध्यन सूत्र अ० ६

(ग) तुम सि णाम त चेव ज हतव्व ति मण्णसि, तुम सि० ज अज्जावेतव्व ति० · तुमंसि · परितावेतव्व ति मण्णसि, तुमसि परिघेतव्व ति , तुमसि उद्दवेतव्वत्ति मण्णसि।'

—आचाराग श्रु० १, अ० ५, उ० ५, सू० १७०

निष्कर्ष यह है—इस प्रकार की समता का जीवन मे आ जाना ही अहिंसा है। इसी समता सूत्र से अहिंसा आदि का आचरण होता है। यही अहिंसा का सिद्धान्त है। इसे भलीभाँति हृदयगम कर लेना ही ज्ञानी होने का सार है। अगर पुरुष इतना भी न कर सकता, तो उनका ज्ञान निरर्थक ही नही, भारभूत है, परिग्रह रूप है। एक आचार्य ने कहा है कि 'भूसे के ढेर के समान उन करोडों पदो के पढ़ने से क्या लाभ, जिनसे इतना भी ज्ञान न हुआ कि दूसरो को पीडा नही देनी चाहिए।[२१]

इस समग्र गाथा का निष्कर्ष यह है कि ज्ञानी पुरुष के लिए यही न्यायोचित है कि वह किसी भी प्राणी की हिंसा न करे, "आत्मवत् सर्वभूतेषु" का भाव रखकर अहिंसा का आचरण करे।

कठिन शब्दों की व्याख्या—**उरालं**—उदार, स्थूल है, इन्द्रिय-प्रत्यक्ष है, आँखो से प्रत्यक्ष दृश्यमान है। **जोग**—प्राणियो के योग-व्यापार,चेष्टा या अवस्था विशेष को। **विवज्जास पलिति**—औदारिक शरीरधारी जीव गर्भ, कलल और अर्बु दरूप पूर्वावस्था छोडकर उससे विपरीत बाल्य-कौमार्य-यौवन-वृद्धत्व आदि स्थूल पर्यायो (अवस्था विशेषो) को प्राप्त करते है। **अक्कंतदुक्खा** -असातावेदनीय के उदय से, शारीरिक-मानसिक दु खो से आक्रान्त-पीडित है। चूर्णिकार **'अकंतदुक्खा'** पाठान्तर मानकर अर्थ करते हैं—कान्त का अर्थ है—प्रिय। जिन्हे दु ख अकान्त-अप्रिय अनिष्ट है।[२२]

अहिंसिया—सभी प्राणी साधु के लिए अहिंसनीय—अवध्य है। चूर्णिकार **'अहिंसगा'** पाठान्तर मानकर अर्थ करते हैं—इस कारण से साधु अहिसक होते है। **सारं**—न्याय-सगत या निष्कर्ष।[२३]

चारित्र शुद्धि के लिए उपदेश

८६. वुसिए य विगयगेही य, आयाणं सरक्खए।
चरियाऽऽसण-सेज्जासु, भत्तपाणे य अंतसो ॥११॥

८७. एतेहिं तिहिं ठाणेहिं, संजते सतत मुणी।
उक्कसं जलण णूमं, मज्झत्थ च विगिंचए ॥१२॥

८८. समिते उ सदा साहू, पंचसवरसंवुडे।
सितेहिं असिते भिक्खू, आमोक्खाए परिवएज्जासि ॥१३॥

—त्ति बेमि

८६ दस प्रकार की साधु समाचारी मे स्थित और आहार आदि मे गृद्धि (आसक्ति) रहित साधु (मोक्ष प्राप्ति के) आदान (साधन-ज्ञानदर्शन-चारित्र) की सम्यक् प्रकार से रक्षा करे। (तथा)

---

२१ किं तया पठितया पदकोट्या पलालभूतया।
येनैतन्न ज्ञात परस्य पीडा न कर्तव्या॥

२२. "कान्त प्रियमित्यर्थं, न कान्तमकान्त दुक्ख अणिट्ठ—अकतदुक्खा" —चूर्णि

२३. (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ५१
(ख) सूयगडग चूर्णि (मू पा. टिप्पण) पृ १५

चर्या (चलने-फिरने), आसन (बैठने) और शय्या (सोने) के विषय मे और अन्ततः आहार-पानी के सम्बन्ध मे (सदा उपयोग रखे)।

८७ इन (पूर्वोक्त) तीनो (इर्यासमिति, आदान-निक्षेपणसमिति और एषणासमिति रूप) स्थानों मे सतत सयत (सयमरत) मुनि मान (उत्कर्ष), क्रोध (ज्वलन), माया (णूम) और लोभ (मध्यस्थ) का परिहार (विवेकपूर्वक त्याग) करे।

८८. भिक्षाशील साधु सदा पच समितियो से युक्त (होकर) पाँच संवर (अहिंसादि) से आत्मा को आस्रवो से रोकता (सुरक्षित रखता हुआ) गृहपाश—(गृहस्थ के बन्धन मे) बद्ध—श्रित गृहस्थो मे न बँधता (मूर्च्छा न रखता) हुआ मोक्ष प्राप्त होने तक सब ओर से सयम (परिव्रज्या) मे उद्यम करे।

(श्री सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कहते हैं—) इस प्रकार मैं कहता हूँ।

विवेचन—चारित्र शुद्धि के लिए उपदेश—प्रस्तुत त्रिसूत्री मे कर्मबन्धनों को तोडने के लिए चारित्र-शुद्धि का उपदेश दिया गया है। वास्तव मे ज्ञान, दर्शन, चारित्र (चारित्र के अन्तर्गत तप) यह रत्नत्रय मिलकर मोक्षमार्ग कर्मबन्धनो से छुटकारे का एकमात्र साधन है। मोक्षरूप शुद्ध साध्य के लिए पिछली गाथाओ मे पर्याप्त चर्चा की गयी है। शुद्ध साध्य की प्राप्ति के लिए साधनो (रत्नत्रय) की शुद्धि पर ध्यान देना आवश्यक है। इसी दृष्टि से ज्ञान और दर्शन की शुद्धि के हेतु पिछली अनेक गाथाओ मे शास्त्रकार ने सुन्दर ढग से निर्देश किया है। बाकी रही चारित्र-शुद्धि। अत पिछली दो अहिसा निर्देशक गाथाओ के अतिरिक्त अब यहाँ तीन गाथाओ मे चारित्र-शुद्धि पर जोर दिया है। हिसा आदि पाँच आस्रवो से अविरति, प्रमाद, कषाय और मन-वचन-काया-योग का दुरुपयोग, ये सब चारित्र-दोष के कारण है, और कर्मबन्धन के भी मुख्य कारण हैं। चारित्रशुद्धि से ही आत्मशुद्धि (निर्जरा या कर्मक्षय, कर्मास्रव-निरोध) होती है। तत्त्वार्थसूत्रकार ने आत्म शुद्धि (निर्जरा) के लिए समिति, गुप्ति, दशविध धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, चारित्र और तप की आराधना-साधना बतायी है। इसी प्रकार चारित्रशुद्धि के परिप्रेक्ष्य मे शास्त्रकार ने प्रस्तुत तीन गाथाओ मे १० विवेकसूत्र बताये है—

(१) दस प्रकार की समाचारी मे स्थित रहे।
(२) आहार आदि मे गृद्धि—आसक्ति न रखे।
(३) अप्रमत्त होकर अपनी आत्मा का या रत्नत्रय का सरक्षण करे।
(४) गमनागमन, आसन, शयन, खान-पान (भाषण एव परिष्ठापन) मे विवेक रखे।
(५) पूर्वोक्त तीन स्थानो (समितियो) अथवा इनके मन-वचन-काया गुप्ति रूप तीन स्थानो मे मुनि सतत सयत रहे।
(६) क्रोध, मान, माया, और लोभ इन चार कषायो का परित्याग करे।
(७) सदा पच समिति से युक्त अथवा सदा समभाव मे प्रवृत्त होकर रहे।
(८) प्राणातिपातादि-विरमण रूप पच महाव्रत रूप सवरो से युक्त रहे।
(९) भिक्षाशील साधु गार्हस्थ्य बन्धनों से बँधे हुए गृहस्थो से आसक्तिपूर्वक बँधा हुआ न रहे।
(१०) मोक्ष प्राप्त होने तक सयमानुष्ठान में प्रगति करे—डटा रहे।

इस प्रकार चारित्र शुद्धि के लिए साधु को दस विवेकसूत्रो का उपदेश शास्त्रकार ने प्रस्तुत प्रसग मे दिया है।[२४]

इस दस विवेक सूत्री पर क्रमश. चिन्तन-विश्लेषण करना आवश्यक है—

१. **समाचारी मे विविध प्रकार से रमा रहे**—चारित्र शुद्धि के लिए यह प्रथम विवेकसूत्र है। समाचारी साधु सस्था की आचार सहिता है, उस पर साधु की श्रद्धा, आदर एव निष्ठा होनी आवश्यक है। इसीलिए यहाँ शास्त्रकार ने एक शब्द प्रयुक्त किया है—**'वुसिए'** जिसका शब्दश अर्थ होता है—**विविध** प्रकार से बसा हुआ। वृत्तिकार उसका आशय खोलते हुए कहते है—अनेक प्रकार से दशविध साधु-समाचारी मे स्थित—बसा रहने वाला। क्योकि यह समाचारी भगवदुपदिष्ट है, ससार सागर से तारने वाली एव साधु के चारित्र को शुद्ध रखती हुई उसे अनुशासन मे रखने वाली है। समाचारी के दस प्रकार क्रमश ये है—

(१) **आवस्सिया**—उपाश्रय आदि स्थान मे बाहर कही भी जाना हो तो 'आवस्सही आवस्सही' कहना आवश्यकी है।

(२) **निसीहिया**—वापस लौटकर स्वस्थान (उपाश्रयादि) मे प्रवेश करते समय निस्सिही-निस्सिही कहना नैषिधिकी है।

(३) **आपुच्छणा**—कार्य करते समय ज्येष्ठ दीक्षित से पूछना आपृच्छना है।

(४) **पडिपुच्छणा**—दूसरो का कार्य करते समय बडो से पूछना प्रतिपृच्छना है।

(५) **छंदणा**—पूर्वगृहीत द्रव्यो के लिए गुरु आदि को आमन्त्रित (मनुहार) करना 'छन्दना' है।

(६) **इच्छाकार**—अपने और दूसरे के कार्य की इच्छा बताना या स्वय दूसरो का कार्य अपनी सहज इच्छा से करना, किन्तु दूसरो से अपना कार्य कराने (कर्तव्यनिर्देश करने) से पहले विनम्र निवेदन करना कि आपकी इच्छा हो तो अमुक कार्य करिए, अथवा दूसरो की इच्छा अनुसार चलना 'इच्छाकार' है।

(७) **मिच्छाकार**—दोष की निवृत्ति के लिए गुरुजन के समक्ष आलोचना करके प्रायश्चित्त लेना अथवा आत्मनिन्दापूर्वक 'मिच्छामि दुक्कड' कहकर उस दोष को मिथ्या (शुद्ध) करना 'मिथ्याकार' है।

(८) **तहक्कार**—गुरुजनो के वचनो को, **तहत्ति**—आप जैसा कहते है, वैसा ही है।" कहकर यो सम्मानपूर्वक स्वीकार करना तथाकार है।

(९) **अब्भुट्ठाण**—गुरुजनो का सत्कार-सम्मान या बहुमान करने के लिए उद्यत रहना, उनके सत्कार के लिए आसन से उठकर खडा होना अभ्युत्थान—समाचारी है।

(१०) **उपसपया**—शास्त्रीय ज्ञान आदि विशिष्ट प्रयोजन के लिए किसी दूसरे आचार्य के पास विनयपूर्वक रहना 'उपसम्पदा' समाचारी है।

यो दस प्रकार की समाचारी मे हृदय से स्थित रहना, सतत निष्ठावान रहना चारित्रशुद्धि का महत्त्वपूर्ण अग है।[२५]

---

२४. (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ५२ के आधार पर।

(ख) सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ २७७ के आधार पर

२५ सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या तथा उत्तराध्ययनसूत्र अ २६, गाथा १ से ४ तक देखें।

२. आहारादि में गृद्धि (आसक्ति) रहित रहे—समस्त प्रपच-त्यागी साधु जब जिह्वालोलुप अथवा प्रलोभनकारी आहार, वस्त्र या अन्य धर्मोपकरण-सामग्री, अथवा सघ, पथ, गच्छ, उपाश्रय, शिष्य-शिष्या भक्त-भक्ता आदि की आसक्ति मे फँस जाता है तो उसका अपरिग्रह महाव्रत दूषित होने लगता है। वह बाहर से तो साधुवेष एव साधु समाचारी (क्रिया आदि) से ठीक-ठीक लगता है, पर अन्दर से सजीव-निर्जीव, मनोज्ञ अभीष्ट पदार्थों की ममता, मूर्च्छा, आसक्ति एव वासना से उसका चारित्र खोखला होने लगता है। इसी दृष्टि से शास्त्रकार चारित्र शुद्धि हेतु कहते हैं—**विगयगेही।** इसका सस्कृत रूपान्तर '**विगतगृद्धि**.' के बदले **विगतगेही** भी हो सकता है, जिसका अर्थ होता है—गृहस्थो से या घर से जिसका ममत्व-सम्बन्ध हट गया है, ऐसा साधु।[२६]

३. रत्नत्रयरूप मोक्ष साधन का संरक्षण करे—साधु दीक्षा लेते समय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एव पचमहाव्रतादि रूप सम्यक् चारित्र अगीकार कर लेता है। इनकी प्रतिज्ञा भी कर लेता है, किन्तु बाद मे हीनाचार, ससर्ग, शिथिल वातावरण आदि के कारण प्रमादी बन जाता है, वह लापरवाही करने लगता है, बाहर से वेष साधु का होता है, क्रिया भी साधु की करता है, किन्तु प्रमादी होने के कारण सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय मे दोष लगाकर मलिन करता जाता है। अत शास्त्रकार चारित्र शुद्धि की दृष्टि से कहते हैं—**आयाणं संरक्खए**—अर्थात् जिसके द्वारा मोक्ष का आदान—ग्रहण हो, वह आदान या आदानीय ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप रत्नत्रय है।[२७] उस मोक्षमार्ग—कर्मबन्धन से मुक्ति के साधन का सम्यक् प्रकार से रक्षण करना—उसे सुरक्षित रखना चाहिए। रत्नत्रय की उन्नति या वृद्धि हो, वैसा प्रयत्न करना चाहिए।

४. ईर्यादि समितियो का पालन करे—साधु को अपनी प्रत्येक प्रवृत्ति (गमनागमन, आसन, शयन, भोजन, भाषण, परिष्ठापन, निक्षेपण आदि हर क्रिया) विवेकपूर्वक करनी चाहिए। अगर वह अपनी प्रवृत्ति विवेकपूर्वक नही करेगा तो उसकी प्रवृत्ति, हिसा, असत्य, चौर्य, कुशील, परिग्रह आदि दोषो से दूषित होनी सम्भव है, ऐसी स्थिति मे उसका चारित्र विराधित—खण्डित हो जायेगा, उसके महाव्रत दूषित हो जायेंगे। अत चारित्र शुद्धि की दृष्टि से ईर्या समिति, आदाननिक्षेपण समिति एव एषणा समिति को अप्रमत्ततापूर्वक पालन करने का सकेत है। उपलक्षण से यहाँ भाषासमिति और परिष्ठापना समिति का सकेत भी समझ लेना चाहिए। इसी बात को शास्त्रकार कहते है—'**चरिया-ऽऽसणसेज्जासु भत्तपाणे य अंतसो**'—अर्थात्—चर्या एव आसन (चलने-फिरने एव बैठने आदि) मे सम्यक् उपयोग रखे—ईर्यासमिति का पालन करे, तथा शय्या (सोने तथा शयनीय बिछौने, पट्टे आदि) का भलीभाँति प्रतिलेखन (अवलोकन) प्रमार्जन करे—आदान निक्षेपणा समिति का पालन करे, एव निर्दोष आहारपानी ग्रहण-सेवन का ध्यान रखे—एषणासमिति का पालन करे। आहारपानी के लिए जब भिक्षाटन करेगा—गृहस्थ के घर मे प्रवेश करेगा, तब भाषण-सम्भाषण होना भी सम्भव है, तथा आहार-पानी का सेवन करने पर उच्चार-प्रस्रवण भी अवश्यम्भावी है, इसलिए इन दोनो मे विवेक के लिए एषणासमिति के साथ ही भाषा समिति और परिष्ठापन समिति का भी समावेश यहाँ हो जाता है।

---

२६ विगता अपगता आहारादौ गृद्धिर्यस्याऽसौ विगतगृद्धि साधु।

२७ "आदीयते मोक्षो येन तदादानीय—ज्ञानदर्शनचारित्रत्रयम्।" —सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ५२

५. इन तीन स्थानों में मुनि सतत संयत रहे—पूर्व गाथा मे क्रियापद नही है, इसलिए ८७वी सूत्र-गाथा के पूर्वार्द्ध मे शास्त्रकार ने यह पक्ति प्रस्तुत की है—**'एतेहिं तिहिं ठाणेहिं संजते सततं मुणी'**—अर्थात्—इन (पूर्वोक्त) तीन स्थानो (समितियो) मे मुनि सतत सम्यक् प्रकार से यतनाशील रहे। इससे प्रतिक्षण अप्रमत्त होकर रहना भी सूचित कर दिया है।

६. कषाय-चतुष्टय का परित्याग करे—कषाय भी कर्मबन्ध का एक विशिष्ट कारण है। कषाय मुख्यतया चार प्रकार के हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। साधु जीवन मे कोई भी कषाय भड़क उठेगा, या तीव्र हो जायेगा, वह सीधा चारित्र का घात कर देगा। बाहर से उच्च क्रिया पालन करने पर भी साधक मे अभिमान, कपट, लोभ (आसक्ति) या क्रोध की मात्रा घटने के बजाय बढती गई तो वह उसके साधुत्व को चौपट कर देगी, साधु धर्म का मूल चारित्र है, वह कषाय विजय न होने से दूषित हो जाता है। इसीलिए शास्त्रकार ने कहा—**'उक्कस जलण णूम मज्झत्थं च विगिंचए'**—मान, क्रोध, माया और लोभ का परित्याग करे, इन चारो के लिए क्रमशः इन चार पदो का प्रयोग किया गया है।[२८]

७. साधु सदा समित होकर रहे—यद्यपि वृत्तिकार **'समिते सदा साहू'** इस विवेकसूत्र का अर्थ करते हैं कि 'साधु पच समितियो से समित—युक्त हो।'[२९]

८. पंचमहाव्रत रूप संवर से संवृत्त हो—पाँच महाव्रत कहे या प्राणातिपात-विरमण आदि पाँच सवर कहे, बात एक ही है। ये पच सवर कर्मास्रव को रोकने वाले है, कर्मबन्ध के निरोधक है। दूसरे शब्दो मे कहे तो साधु-जीवन के ये पच प्राण है। इनके बिना साधु-जीवन निष्प्राण है। इसलिए साधु को चाहिए कि चारित्र के मूलाधार, इन पाँच महाव्रतो (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को प्राणप्रण से सुरक्षित (गुप्त) रखे। अन्यथा चारित्रशुद्धि तो दूर रही, चारित्र का ही विनाश हो जायेगा। इसीलिए शास्त्रकार ने विवेकसूत्र बताया **"पचसंवर संवुडे।"**[३०]

९. गृहपाश-बद्ध गृहस्थो मे आसक्त न हो—यह विवेकसूत्र भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। स्थविर-कल्पी साधु को आहार, पानी, आवास, प्रवचन आदि को लेकर बार-बार गृहस्थ वर्ग से सम्पर्क आता है। ऐसी स्थिति मे उससे सम्बन्ध रखे बिना कोई चारा नही, किन्तु साधुगृहस्थो से—गृहस्थ के पत्नी, पुत्र, माता-पिता आदि पारिवारिकजनो से सम्पर्क रखते हुए भी उनके मोहरूपी पाश-बन्धनो मे न फँसे, वह राग-द्वेषादिवश गृहस्थ वर्ग की झूठी निन्दा-प्रशसा, चाटुकारी आदि न करे, न ही उसके

---

२८. (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ५२
(ख) सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ. २७९

२९. (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ५२
(ख) देखिये आचारागसूत्र मे 'समित' के तीन अर्थ—(१) समिते एयाणुपस्सी (आचा० १।२।३।७६) समिते—सम्यग्दृष्टिसम्पन्न, (२) " ' उवसमे समिते सहिते ।"— (१।३।२।११६) समिते—सम्यक्प्रवृत्त। "अहियासए सदा समिते समिते—समभाव मे प्रवृत्त-युक्त होकर (आचा० १।९।२।२८६)।

३० (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति, पत्राक ५२
(ख) सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या भा. १ पृ २७९

समक्ष दीनता-हीनता प्रकट करे, उससे किसी प्रकार का मोह सम्बन्ध भी न रखे। उससे निर्लिप्त, अनासक्त, नि:स्पृह और निर्मोह रहने का प्रयत्न करे, अन्यथा उसका पंच महाव्रत रूप चारित्र खतरे में पड सकता है, आचार शैथिल्य आने की सम्भावना है, वह समाज (गृहस्थ वर्ग) के बीच रहता हुआ भी उसके गार्हस्थ्य प्रपंच (व्यवसाय या वैवाहिक कर्म आदि) से जलकमलवत् निर्लिप्त रहे। इसीलिए चारित्रशुद्धि हेतु शास्त्रकार कहते हैं—**'सितेहिं असिते भिक्खू'**—अर्थात् भिक्षु गृहपाशादि में सित-बद्ध-आसक्त गृहस्थों में असित—अनवबद्ध अर्थात् मूर्च्छा न करता हुआ जल-कमलवत् अलिप्त होकर रहे।[३१]

१०. मोक्ष होने तक संयम में उद्यम करे—यह अन्तिम और सबसे महत्त्वपूर्ण विवेकसूत्र है। चारित्र पालन के लिए साधु को तन-मन-वचन से होने वाली प्रत्येक प्रवृत्ति में सावधान रहना आवश्यक है। उसे प्रत्येक प्रवृत्ति में संयम में दृढ रहना है। मुक्त होने के लिए ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप संयम में सतत उद्यम करते रहना है, उसकी कोई भी प्रवृत्ति कर्मबन्धनयुक्त न हो, प्रत्येक प्रवृत्ति कर्म-बन्धन से मुक्ति के लिए हो। प्रवृत्ति करने से पहले उसे उस पर भलीभाँति चिन्तन कर लेना चाहिए कि मेरी इस प्रवृत्ति से कर्मबन्ध होगा या कर्म-मोक्ष? अगर किसी प्रवृत्ति के करने से सस्ती प्रतिष्ठा या क्षणिक वाहवाही मिलती हो, अथवा प्रसिद्धि होती हो, किन्तु वह कर्मबन्धनकारक हो तो उससे दूर रहना उचित है। किसी प्रवृत्ति के करने से मोक्षमार्ग का मुख्य अंग—चारित्र या संयम जाता है, नष्ट होता है, तो उसे भी करने का विचार न करे। अथवा इस विवेक सूत्र का यह आशय भी सम्भव है कि मोक्ष होने तक बीच में साधनाकाल में कोई परीषह, उपसर्ग, संकट या विषम परिस्थिति आ जाए, तो भी साधु अपने संयम में गति-प्रगति करे, वह संयम (चारित्र) को छोडने का कतई विचार न करे। जैसे सत्त्वशाली प्रवासी पथिक जब तक अपनी इष्ट मंजिल नहीं पा लेता, तब तक चलना बन्द नहीं करता, या नदी तट का अन्वेषक जब तक नदी तट न पा ले, तब तक नौका का परित्याग नहीं करता, इसी तरह जब तक समस्त दुःखों (कर्मों) को दूर करने वाले सर्वोत्तम सुखरूप मोक्ष की प्राप्ति न हो जाये तब तक मोक्षार्थी को संयम-पालन करना चाहिए। अन्यथा, कर्मबन्धन काटने के लिए किया गया उसका अब तक का सारा पुरुषार्थ निष्फल हो जायेगा। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—**"आमोक्खाए परिव्वएज्जासि।"** निष्कर्ष यह है कि समस्त कर्मों के क्षय (मोक्ष) के लिए सतत संयम में पराक्रम करता रहे, ऐसा करना चारित्र शुद्धि के लिए आवश्यक है।[३२]

---

३१ (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ५२

(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ. २८०

(ग) सितेहिं—सितेषु गृहपाशादिषु सिता-बद्धा-आसक्ता ये ते सिता-गृहस्थास्तेषु गृहस्थेषु असित-अनवबद्ध-मूर्च्छामकुर्वाण। यथा पंके जायमाने जले च वर्धमानमपि कमलं न पंकेन जलेन वा स्पृष्टं भवति, किन्तु निर्लिप्तमेव तिष्ठति जलोपरि, तथैव तेषु सम्बन्धरहितो भवेत्।

—सूत्रकृतांग समयार्थबोधिनी भा. १ पृ. ४५९

३२ (क) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ. २८०

(ख) सूत्रकृतांग समयार्थबोधिनी टीका भा. १ पृ. ४६०-४६१

(ग) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति; भाषानुवाद सहित भा. १ पृ. १९१

कठिन शब्दों की व्याख्या—उक्कसं—उत्कर्ष—जिससे मनुष्य उकसा जाए--गर्वित हो जाए वह उत्कर्ष—मान। **जलणं**—जिससे व्यक्ति अन्दर ही अन्दर जलता है, वह जलन यानी क्रोध। **णूमं**—नूम का अर्थ है—जो प्रच्छन्न-अप्रकट-गहन-गूढ हो, वह माया। **मज्झत्थं**—मध्यस्थ—अर्थात् जो सारे ससार के प्राणियो के मध्य-अन्तर मे रहता है, वह मध्यस्थ—लोभ। अथवा **मज्झत्थं** के बदले **'अज्झत्थं'** पाठान्तर मानकर चूर्णिकार अर्थ करते है—**"अज्झथो णाम अभिप्रेयः, स च लोभः"**—अध्यस्थ यानी अभिप्रेत (अभीष्ट) और वह है लोभ।[३३]

।। चतुर्थ उद्देशक समाप्त ।।

।। सूत्रकृतांग सूत्र प्रथम अध्ययन · समय—समाप्त ।।

□□

---

३३ सूत्रकृताग शीलाकवत्ति पत्राक ५२
(ख) सूयगडग चूर्णि (मू पा टिप्पण) पृ १५

वैतालीय—द्वितीय अध्ययन

प्राथमिक

☐ सूत्रकृतागसूत्र (प्र. श्रु) के द्वितीय अध्ययन का नाम **'वैतालीय'** है।

☐ प्राकृत मे इसका नाम वेयालीय है, सस्कृत मे उसके दो रूप होते है—वैतालीय और वैदारिक, जिन्हे निर्युक्तिकार, चूर्णिकार और वृत्तिकार तीनो स्वीकार करते हैं।

☐ कर्मों के या कर्मों के बीज--रागद्वेष-मोह के सस्कारो के विदार (विदारण-विनाश) का उपदेश होने से इस अध्ययन को वैदारिक कहा गया है। इस अध्ययन के प्रथम उद्देशक मे **'वेयालिय-मग्गमागओ'** का अर्थ चूर्णि और वृत्ति मे 'कर्म-विदारण का, अथवा कर्म-विदारक भगवान् महावीर का मार्ग' किया गया है।

☐ इस अध्ययन की रचना वैतालीय वृत्त (छन्द) मे की गई है, इस कारण भी इस अध्ययन का नाम 'वैतालीय' है।[1]

☐ मोहरूपी वैताल (पिशाच) साधक को सामाजिक, पारिवारिक, शारीरिक, मानसिक, आदि रूप मे कैसे-कैसे पराजित कर देता है? उससे कहाँ-कहाँ, कैसे-कैसे बचना चाहिए?, इस प्रकार मोह वैताल-सम्बन्धी वर्णन होने के कारण इसका नाम वैतालीय या वैतालिक सार्थक है।[2]

---

१ (क) वेयालिय इह देसियंति, वेयालिय तओ होइ।
वेयालिय तहा वित्तमत्थि, तेणेव य णिबद्ध ॥ —सूत्रकृ निर्युक्ति गाथा ३८

(ख) वैयालियमग्गमागओ—कर्मणा विदारणमार्गमागतो भूत्वा । —सूत्रकृ शीलांकवृत्ति पत्र ५९

(ग) "विदार का अर्थ है—विनाश। यहाँ रागद्वेष रूप सस्कारो का विनाश विवक्षित है। जिस अध्ययन मे रागद्वेष के विदार का वर्णन हो, उसका नाम है वैदारिक।"
—जैनसाहित्य का बृहद् इतिहास भा. १ पृ १४०

(घ) "वैतालीय र्लगनैर्घना षड्युक्पादेऽष्टौ समे च ल.।
न समोऽत्र परेण युज्यते, नेत षट् च निरन्तरा युजो ॥"
—जिस वृत्त (छन्द) के प्रत्येक पाद के अन्त मे रगण, लघु और गुरु हो, तथा प्रथम और तृतीय पाद मे ६-६ मात्राएँ हो, एव द्वितीय और चतुर्थ पाद मे ८-८ मात्राएँ हो, तथा समसख्या वाला लघु परवर्ण से गुरु न किया जाता हो, एव दूसरे व चौथे चरण मे लगातार छह लघु न हो, उसे वैतालीय छन्द कहते हैं।
—सूत्रकृ शी. वृत्ति पत्राक ५३

२. (क) सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ २८२ के आधार पर
(ख) जैन-आगम साहित्य मनन और मीमासा पृ. ८१ के आधार पर

☐ अष्टापद पर्वत पर विराजमान भगवान् ऋषभदेव ने मार्गदर्शन के लिए अपने समीप समागत ९८ पुत्रो को जो प्रतिबोध दिया था, जिसे सुनकर उनका मोहभग हो गया, वे प्रतिबुद्ध होकर प्रभु के पास प्रव्रजित हो गए, वह प्रतिबोध इस अध्ययन मे सगृहीत है[३], ऐसा निर्युक्तिकार का कथन है।

☐ यहाँ द्रव्य विदारण का नही, भाव विदारण का प्रसग है। दर्शन, ज्ञान, तप, सयम आदि भाव विदारण है, कर्मों को या राग-द्वेष-मोह को विदारण (नष्ट) करने का सामर्थ्य इन्ही मे है।[४]

☐ भाव विदारण के परिप्रेक्ष्य मे प्रस्तुत अध्ययन के तीन उद्देशको मे वस्तु तत्त्व का प्रतिपादन वैशालिक ज्ञातपुत्र महावीर भगवान् द्वारा किया गया है, जिसका उल्लेख अध्ययन के अन्त मे है।[५]

☐ प्रथम उद्देशक मे सम्बोध (हित-प्राप्ति और अहित-त्याग के सम्यक् बोध) और ससार की अनित्यता का उपदेश है।

☐ द्वितीय उद्देशक मे मद, निन्दा, आसक्ति आदि के त्याग का तथा समता आदि मुनिधर्म का उपदेश है।

☐ तृतीय उद्देशक मे अज्ञान-जनित कर्मों के क्षय का उपाय, तथा सुखशीलता, काम-भोग, प्रमाद आदि के त्याग का वर्णन है।

☐ प्रथम उद्देशक मे २२, द्वितीय उद्देशक मे ३२ और तृतीय उद्देशक मे २२ गाथाएँ है। इस प्रकार इस वैतालीय या वैदारिक अध्ययन मे कुल ७६ गाथाएँ है, जिनमे मोह, असयम, अज्ञान, राग-द्वेष आदि के सस्कारो को नष्ट करने का वर्णन है।[६]

☐ सूत्रगाथा सख्या ८९ से प्रारम्भ होकर सूत्रगाथा १६४ पर द्वितीय अध्ययन समाप्त होता है।

☐☐

---

३ (क) काम तु सासणमिण कहिय अट्ठावयमि उसभेण।
अट्ठाणउति सुयाण सोऊण ते वि पव्वइया॥　　　　—सूत्रकृ निर्युक्ति गा ३९

(ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्राक ५३

४ "भावविदारण तु दर्शन-ज्ञान-तप सयमा, तेषामेव कर्मविदारणे सामर्थ्यमित्युक्त भवति। विदारणीय पुनरष्टप्रकार कर्मेति।"　　　　—सूत्र शी वृत्ति, पत्रांक ५३

५ "वेसालिए वियाहिए।"　　　　—सूत्र शी वृत्ति भाषानुवादसहित भा. १ पृ ३००

६ (क) पढमे संबोहो अणिच्चया य, बीयमि माणवज्जणया।
अहिगारो पुण भणिओ, तहा तहा बहुविहो तत्थ॥ ४०॥
उद्देसंमि य तइए अन्नाणचियस्स अवचओ भणिओ।
वज्जेयव्वो य सया सुहप्पमाओ जइजणेण॥ ४१॥　　　　— सूत्रकृ निर्युक्ति

(ख) जैन-आगम-साहित्य मनन और मीमांसा पृ. ८१

बिइयं अज्झयणं 'वेयालियं'

द्वितीय अध्ययन : वैतालीय

पढमो उद्देसओ : प्रथम उद्देशक

भगवान् ऋषभदेव द्वारा अठानवें पुत्रों को सम्बोध

८९. संबुज्झह किं न बुज्झह, संबोही खलु पेच्च दुल्लहा ।
णो हूवणमंति रातिओ, णो सुलभं पुणरावि जीवियं ।।१।।

९०. डहरा वुड्ढा य पासहा, गब्भत्था वि चयंति माणवा ।
सेणे जह वट्टयं हरे, एवं आउखयम्मि तुट्टती ।।२।।

९१. मायाहिं पियाहिं लुप्पति, णो सुलभा सुगई वि पेच्चओ ।
एयाइं भयाइं पेहिया, आरंभा विरमेज्ज सुव्वते ।।३।।

९२. जमिणं जगती पुढो जगा, कम्मेहिं लुप्पंति पाणिणो ।
सयमेव कडेहिं गाहती, णो तस्सा मुच्चे अपुट्ठवं ।।४।।

८९ (हे भव्यो !) तुम बोध प्राप्त करो । बोध क्यो नही प्राप्त करते ? (मरने के पश्चात्) परलोक मे सम्बोधित प्राप्त करना अवश्य ही दुर्लभ है । बीती हुई राते लौटकर नही आती, और सयमी जीवन फिर (पुन पुन) सुलभ नही है ।

९० छोटे बच्चे, बूढे और गर्भस्थ शिशु भी अपने जीवन (प्राणो) को छोड़ देते है, मनुष्यो ! यह देखो ! जैसे बाज बटेर पक्षी को (झपट कर) मार डालता है; इसी तरह आयुष्य क्षय (नष्ट) होते ही (मृत्यु भी प्राणियो के प्राण हर लेती है, अथवा) जीवो का जीवन भी टूट (नष्ट हो) जाता है ।

९१ कोई व्यक्ति माता-पिता आदि (के मोह मे पडकर, उन्ही) के द्वारा मार्गभ्रष्ट कर दिया जाता है, या वे ससार-परिभ्रमण कराते हैं । उन्हे मरने पर (परलोक मे) सुगति (मनुष्यगति या देवगति) सुलभ नही होती—आसानी से प्राप्त नही होती । इन भयस्थलो (खतरो) को देख जानकर व्यक्ति सुव्रती (व्रतधारी) बनकर आरम्भ (हिंसादि जनित भयकर पापकर्म) से विरत-निवृत्त हो जाय ।

९२. क्योकि (मोहान्ध होकर सावद्य कार्यों से अविरत) प्राणी इस ससार में अलग-अलग अपने-अपने (स्वय) किये हुए कर्मों के कारण दु ख पाते हैं, तथा (स्वकृत कर्मों के ही फलस्वरूप) नरकादि यातना स्थानो में जाते हैं । अपने कर्मों का स्वय फलस्पर्श किये (फल भोगे) बिना (उनसे) वे छूट (मुक्त) नहीं (हो) सकते ।

विवेचन—सम्बोधि प्राप्ति का उपदेश—इस अवसर्पिणी काल के प्रथम चक्रवर्ती भरत ने जब अपने ९८ लघु भ्राताओ को अधीनता स्वीकार करने का सदेश भेजा, तब वे मार्गदर्शन के लिए प्रथम तीर्थंकर पितामह भगवान् ऋषभदेव की सेवा मे पहुचे और 'हम क्या करे ?' का समाधान पूछा। तब आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव अपने गृहस्थपक्षीय पुत्रो को लक्ष्य करके विभिन्न पहलुओ से त्याग, वैराग्य का बोध प्राप्त करने का उपदेश देते है, जो इस उद्देशक मे सकलित है। प्रस्तुत चतु सूत्री मे वे चार तथ्यो का बोध देते हैं—

(१) यही और अभी जीते जी बोध प्राप्त कर लो, परभव मे पुन बोध-प्राप्ति सुलभ नही,
(२) मृत्यु सभी प्राणियो की निश्चित है,
(३) माता-पिता आदि का मोह सुगति से वचित कर देगा,
(४) मोहान्ध जीव अपने दुष्कृत कर्मों के फलस्वरूप स्वय दु खित एव दुर्गतियो मे पीडित होते है।

सम्बोध क्या और वह दुर्लभ क्यो—प्रथम गाथा (सूत्र ८९) मे यथाशीघ्र सम्बोध प्राप्त करने की प्रेरणा दी गयी है वह सम्बोध क्या है ? वृत्तिकार कहते है—सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र, इस रत्नत्रय रूप उत्तम धर्म का बोध ही सम्बोध है।

पहले तो मनुष्य जन्म प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है। मनुष्य जन्म की प्राप्ति के साथ आर्य देश, कर्म भूमि, उत्तम कुल, कार्यक्षम पाँचो इन्द्रियाँ, स्वस्थ शरीर, दीर्घायु, नीरोगता तथा उत्तम सद्धर्म की प्राप्ति आदि अनेक दुर्लभ घाटियाँ पार करने के बाद भी मनुष्य प्रमाद मे पड जाये तो सद्धर्म श्रवण और उस पर श्रद्धा करना अत्यन्त कठिन है। जब तक व्यक्ति सद्धर्म का श्रवण और उस पर श्रद्धा न कर ले, तब तक सम्बोध प्राप्ति भी दूर है, ऐसा समझकर ही सम्बोध दुर्लभतम बताया है।

सद्धर्म-श्रवण से पहले ही दुर्लभ वस्तुएँ प्राप्त होने पर अधिकाश लोग सोचने लगते है कि परलोक मे बोध प्राप्त कर लेगे, अभी क्या जल्दी है ? उसका निराकरण करते हुए कहा गया है—**'नो सुलह पुणरावि जीविय'** अर्थात् यह मनुष्य जीवन अथवा सयमी जीवन पुन मिलना सुलभ नही है।

दो कारण से मनुष्य वर्तमान मे प्राप्त उत्तम अवसर को आगे पर टालना है—(१) देवलोक या पुन मनुष्य लोक मिलने की आशा से, अथवा (२) इस जन्म मे भी वृद्धावस्था आने पर या भोगो से तृप्त हो जाने पर, परन्तु शास्त्रकार स्पष्ट कह देते है कि यह निश्चित नही है कि तुम्हे मरने के बाद देवलोक मिलेगा ही ! तिर्यञ्चगति या नरकगति मिल गई तो वहाँ सम्बोध पाना प्राय असम्भव-सा है। देवगति मिल गई तो भी वहाँ सम्यग्दर्शन बोध उसी को प्राप्त होता है, जो मनुष्य-जन्म मे उत्तम धर्मकरणी करते है, और बडी कठिनता से अगर वहाँ सम्बोध मिल भी गया तो भी देवता धर्माचरण या सयमी जीवन स्वीकार नही कर सकते, उसे मनुष्य ही कर सकते है। मनुष्य जन्म भी तभी मिलता है, जबकि प्रकृति भद्रता, विनीतता सहृदयता एव दया भाव हो। मान लो, मनुष्य जन्म मिल भी गया तो भी पूर्वोक्त विकट घाटियाँ पार होनी अत्यन्त कठिन है, फिर यदि मनुष्य जन्म को भी विषय-भोगो मे फँसकर खो दिया अथवा बुढापा आदि आने पर धर्म-बोध पाने की आशा से कुछ किया नही, यो ही हाथ पर हाथ धरे बैठे रहे—क्या पता है, बुढापा आयेगा या नही ? मान लो, बुढापा भी आ गया, तो भी उस समय मनोवृत्ति कैसी होगी ? धर्म-श्रवण की जिज्ञासा होगी या नही ? सद्धर्म पर

श्रद्धा होगी या नही ? किसे पता है ? और फिर बुढापे मे जब इन्द्रियाँ क्षीण हो जायेगी, शरीर जर्जर हो जायेगा धर्माचरण या सयम पालन करने की शक्ति नही रह जायेगी । इसलिए शास्त्रकार का तात्पर्य यह है कि सयमयुक्त मानव जीवन पुन प्राप्त होना दुर्लभ है । **'णो हूवणमंति राइओ'** इस बोध वाक्य का भी आशय यही है कि बीता हुआ समय या अवसर लौटकर नही आता । इसलिए इस जन्म में भी जो क्षण बीत गया है, वह वापस लौटकर नही आयेगा, और न यह भरोसा है कि इस क्षण के बाद अगले क्षण तुम्हारा जीवन रहेगा या नही ? जीवन के इस परम सत्य को प्रकट करते हुए कहा गया है—**"संबुज्झह, किं न बुज्झह ?"** इसका आशय यही है कि इसी जन्म मे और अभी बोध प्राप्त कर लो । जब इतने सब अनुकूल सयोग प्राप्त है तो तुम बोध क्यो नही प्राप्त कर लेते ?

भगवान् ऋषभदेव का यह वैराग्यप्रद उपदेश समस्त भव्य मानवो के राग-द्वेष-मोह-विदारण करने एव बोध प्राप्त करने मे महान् उपयोगी है । केनोपनिषद् मे भी इसी प्रकार की प्रेरणा है—"यहाँ जो कुछ (आत्मज्ञान) प्राप्त कर लिया, वही सत्य है, अगर यहाँ उसे (आत्मादि तत्त्व को) नही जाना तो (आगे) महान् विनाश है ।[1]

द्रव्य सम्बोध की अपेक्षा भाव सम्बोध दुर्लभतर—द्रव्यनिद्रा से जागना द्रव्य सम्बोध है, और भाव-निद्रा (ज्ञान-दर्शन-चारित्र की शून्यता या प्रमाद) से जागना भाव सम्बोध है, जिसे प्राप्त करने की ओर शास्त्रकार का इगित है, क्योकि द्रव्य सम्बोध की अपेक्षा भाव सम्बोध दुर्लभ है । यहाँ निर्युक्तिकार ने द्रव्य और भाव से जागरण और शयन को लेकर चतुर्भंगी सूचित की है—(१) एक साधक द्रव्य से सोता है, भाव से जागता है, (२) दूसरा द्रव्य से जागता है, भाव से सोता है, (३) तीसरा साधक द्रव्य से भी सोता है, भाव से भी, और (४) चौथा साधक द्रव्य और भाव दोनों से जागता है, यह चतुर्थभग है और यही सर्वोत्तम है । इसके बाद प्रथम भग ठीक है । शेष दोनो भग निकृष्ट है ।[2]

मृत्यु किसी को, किसी अवस्था मे नहीं छोड़ती—वीतराग केवली चरमशरीरी या तीर्थंकर आदि इने-गिने महापुरुषो के सिवाय मृत्यु पर किसी ने भी विजय प्राप्त नही की । आयुष्य की डोरी टूटते ही मृत्यु निश्चित है । जैसे —बाज बटेर पर झपटकर उसका जीवन नष्ट कर देता है, वैसे ही मृत्यु आयुष्य क्षय होते ही मनुष्य जीवन पर टूट पडती है । इसी आशय से दूसरी गाथा मे कहा गया है —**'डहरा वुड्ढा य आउक्खयम्मि तुट्टइ ।'**

मनुष्य जन्म प्राप्त हो जाने पर भी मृत्यु निश्चित है, वह कब आकर गला दबोच देगी, यह निश्चित नही है, इसलिए सम्बोध प्राप्त करने तथा धर्माराधना करने मे विलम्ब नही करना चाहिए, यह आशय इस गाथा में गर्भित है ।

---

१. (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पृ० ५४ के आधार पर
   (ख) इहचेदवेदीदथ सत्यमस्ति, न चेदवेदीन्महती विनष्टि । —केनोपनिषद्

२ (क) दव्व निद्दावेओ दसणणाणतवसजमा भावे ।
   अहिगारी पुण भणिओ, णाणे तव-दसण-चरित्ते ।। —सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा० ४२
   (ख) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति भाषानुवाद भाग १, पृ० १९९

माता-पिता आदि का मोह दुर्गति से नहीं बचा पाता—कई लोग यह सोच लेते है कि माता-पिता के कारण हम तर जायेगे। इस भ्रान्ति का निराकरण करते हुये तृतीय गाथा (९१) मे कहा गया है—**'मायाहिं पियाहिं लुप्पई।'**

एआइं भयाइं पेहिया ... सुव्वए—इस पक्ति का आशय यह है कि माता-पिता आदि स्वजनो के मोह से विवेक विकल होकर उनके निमित्त से नाना पापकर्म से दुर्गतिगमनादि जो खतरे पैदा होते है, उन्हे जान-देखकर (कम-से-कम) व्रतधारी-श्रावक बनकर उक्त निरर्थक आरम्भादि सावद्य (पाप) कार्यों से रुके—बचे।

यहाँ माता-पिता आदि की गृहस्थ श्रावक-धर्मोचित सेवा आज्ञापालन आदि कर्तव्य-पालन का निषेध नही किया है, किन्तु उनके प्रति मोहान्ध होकर श्रावक धर्म विरुद्ध अन्ध परम्परागत हिसाजनक कुप्रथाओं का पालन करने तथा पशुबलि, मदिरापानादि दुर्व्यसन, हिसा, झूठ, चोरी, लूटपाट डकैती, गिरहकटी आदि भयकर पापकर्म से बचने की प्रेरणा दी गई है।

स्वकृत कर्मों का फलभोग स्वयं को ही करना होगा—पूर्वगाथा के सन्दर्भ मे "माता-पिता आदि पारिवारिकजनो के लिए किये गये पापकर्म का फल स्वय (पुत्र) को नही भोगना पडेगा", इस भ्रान्ति के शिकार व्यक्तियो को लक्ष्य मे रखकर चतुर्थ गाथा (सू० ९२) मे कहा गया है—**"जमिणं जगती पुढो जगा, कम्मेहिं लुप्पंति पाणिणो। सयमेव कडेहिं गाहइ, णो तस्स मुच्चेज्ज पुट्ठयं।"** इसका आशय यह है कि जगत् मे समस्त प्राणियो के कर्म पृथक्-पृथक् है, उन स्वकृत कर्मों के फलस्वरूप व्यक्ति स्वय ही यातना स्थानो मे (फल भोगने के लिए) जाता है। कर्मों का फल भोगे बिना छुटकारा नही हो सकता। इस गाथा मे तीन रहस्यार्थ छिपे है—(१) पुत्रादि के बदले मे माता-पिता आदि उन पुत्रादि-कृतकर्मों का फल नही भोगेगे, (२) सबके कर्म सम्मिलित नही है कि एक के बदले दूसरा उस कर्म का फल भोग ले, इसलिए व्यक्ति को स्वय ही स्वकृत कर्मफल भोगना पडेगा। (३) स्वकृत कर्मफल से छुटकारा न तो माता-पिता आदि स्वजन दिला सकेंगे, न देवता, ईश्वर या कोई विशिष्ट शक्तिशाली व्यक्ति ही दिला सकेगे, स्वकृत कर्म से छुटकारा व्यक्ति स्वय ही कर्मोदय के समय समभाव से भोगकर पा सकेगा। अथवा अहिंसा, सयम (महाव्रत ग्रहण) एव विशिष्ट तपस्या से उन कर्मों की निर्जरा किए बिना उन (कर्मों) से छुटकारा नही हो सकेगा।[१]

कठिन शब्दों की व्याख्या—पेच्च—परलोक मे जाने पर। **णो हूवणमंति रातिओ**—नि.सन्देह रात्रियाँ (व्यतीत समय) वापस नही लौटती। **डहरा**—छोटे बच्चे। **चयंति**—जीवन या प्राणी को छोड देते है। **सेणे**—श्येनबाज। **वट्टयं**—वर्तक—बतक या बटेर पक्षी। **हरे**—मार डालता है। **मातांहि पितांहि लुप्पति, णो सुलभा सुगई वि पेच्चओ**—कोई व्यक्ति माताओ (माता, दादी, नानी, चाची, ताई, मौसी, मामी आदि) तथा पिताओ (पिता, दादा, ताऊ, चाचा, नाना, बाबा, मौसा, मामा आदि) के मोह मे पडकर धर्म आचरण से विरत हो जाता है, उसे उन्ही के द्वारा ससार भ्रमण कराया जाता

---

१. (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पृ० ५५ के आधार पर

(ख) स्वयकृत कर्म यदात्मना पुरा, फल तदीय लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्त यदि लभ्यते स्फुट, स्वय कृत कर्म निरर्थक तदा॥

है। परलोक मे उसके लिए सुगति भी सुलभ नही है। किसी प्रति में **मायाइ पियाइ लुप्पति** पाठान्तर है, अर्थ होता है—माता के द्वारा या पिता के द्वारा धर्ममार्ग से भ्रष्ट कर दिया जाता है। चूर्णिकार ने नागार्जुनीय सम्मत पाठान्तर सूचित किया है—**"मातापितरो य भातरो विलभेज्ज सुकेण पच्चए।"** पुत्रादि के बदले माता, पिता, पितामहादि या भाई आदि भी मरने के बाद परलोक मे कैसे उनके कर्मफल प्राप्त कर सकते हैं ? या पुत्रादि को माता-पिता आदि परलोक मे कैसे प्राप्त हो सकते हैं ? **पेहिया**—देखकर, चूर्णि मे पाठान्तर है—**देहिया**। अर्थ समान है। **सुव्वते**—सुव्रत—श्रेष्ठ व्रतधारी बनकर। वृत्तिकार इसके बदले **'सुट्ठिते'** पाठान्तर सूचित करके व्याख्या करते है—भली भाँति धर्म मे स्थित—स्थिर होकर। **जमिणं**—क्योकि जो पुरुष सावद्य-अनुष्ठानो से निवृत्त नही होते, उनकी यह दशा होती है। **पुढो**—पृथक्-पृथक्। **जगा पाणिणो**—जीवधारी प्राणी। **लुप्पंति**—विलुप्त-दु खित होते है। **गाहती**—नरकादि यातना स्थानो मे अवगाहन करते है—भटकते हैं। अथवा उन दु ख हेतुक कर्मों का गाहन-वर्धन (वृद्धि) करते हैं। **'णो तस्सा मुच्चे अपुट्ठवं'**—अशुभाचरण जन्य पापकर्मों के विपाक से अस्पृष्ट—अछुए रहकर (भोगे बिना) वे मुक्त नही हो सकते।[४]

अनित्यभाव-दर्शन

९३. देवा गंधव्व-रक्खसा, असुरा भूमिचरा सिरीसिवा।
राया नर-सेट्ठि-माहणा, ठाणा ते वि चयंति दुक्खिया॥ ५॥

९४. कामेहि य संथवेहि य, गिद्धा कम्मसहा कालेण जंतवो।
ताले जह बंधणच्चुते, एवं आउखयम्मि तुट्टती॥ ६॥

९३ देवता, गन्धर्व, राक्षस, असुर, भूमिचर (भूमि पर चलने वाले) सरीसृप (सरक कर चलने वाले साप आदि तिर्यंच), राजा, मनुष्य, नगरसेठ या नगर का श्रेष्ठ पुरुष और ब्राह्मण, ये सभी दु खित होकर (अपने-अपने) स्थानो को छोडते है।

९४ काम-भोगो (की तृष्णा) मे और (माता-पिता, स्त्री-पुत्र आदि) परिचितजनो मे गृद्ध-आसक्त प्राणी (कर्मविपाक के समय) अवसर आने पर अपने कर्म का फल भोगते हुए आयुष्य के क्षय होने पर ऐसे टूटते (मर जाते) है, जैसे बन्ध से छुटा हुआ तालफल (ताड का फल) नीचे गिर जाता है।

विवेचन—सभी प्राणियों के जीवन की अस्थिरता एवं अनित्यता—प्रस्तुत दो गाथाओ मे दो पहलुओ से जीवन की समाप्ति बताई है—(१) चारो ही गति के जीवो के स्थान अनित्य है, (२) आसक्त प्राणी आयुष्य क्षय होते ही समाप्त हो जाते है। सभी स्थान अनित्य हैं—ससार मे कोई भी गति, योनि पद, शारीरिक स्थिति या आर्थिक स्थिति आदि स्थायी नही है, चाहे वह देवगति का किसी भी कोटि का देव हो, चाहे मनुष्य गति का किसी भी श्रेणी का मानव हो, चाहे तिर्यञ्चगति का किसी भी जाति का विशालकाय जन्तु हो, अथवा और कोई हो, सभी को मृत्यु आते ही, अथवा अशुभ कर्मों का उदय होते ही अपनी पूर्व स्थिति विवश व दु:खित होकर छोडनी पडती है, इसीलिए

४ (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति ५४
(ख) सूत्रकृतांग चूर्णि (मूलपाठ टिप्पण) पृ० १६

शास्त्रकार कहते है—**देवा गंधव्वरक्खसा चयंति दुक्खिया ।** आशय यह है—मनुष्य भ्रान्तिवश यह **सोच लेता है** कि मनुष्य मरकर पुन मनुष्य ही बनता है, अत मुझे फिर यही गति मिलेगी, **अथवा मैं** राजा, **नगरसेठ** या ब्राह्मण आदि पद पर वर्ण—जाति मे सदैव स्थायी रहूँगा, या मेरी वर्तमान **सुखी** स्थिति, यह परिवार, धन, धाम आदि सदैव ऐसे ही बने रहेगे, परन्तु मृत्यु आती है, या पापकर्म उदय **में आते हैं**, तब सारो आशाओ पर पानी फिर जाता है, सभी स्थान उलट-पलट जाते है । व्यक्ति **अपने पूर्व स्थानो** या स्थितियो के मोह मे मूढ होकर उनसे चिपका रहता है, परन्तु जब उस **स्थिति को छोडने** का अवसर आता है, तो भारी मन से विलाप-पश्चात्ताप करता हुआ दु खित होकर **छोडता है, क्योंकि** उसे उस समय बहुत बडा धक्का लगता है ।[५]

देवता को अमर (न मरने वाला) बताया गया है, इस भ्रान्ति के निवारणार्थ इस **गाथा मे** देव, गन्धर्व, राक्षस एव असुर आदि प्राय सभी प्रकार के देवो की स्थिति भी अनित्य, विनाशी एव परिवर्तनशील बताई है । गीता मे भी देवो की स्थिति अनित्य बताई गई है ।[६]

शास्त्रकार का यह आशय गर्भित है कि सुज्ञ मानव अपनी गति, जाति, शरीर, धन, धाम, परिवार, पद आदि समस्त स्थानो को अनित्य एव त्याज्य समझ कर इनके प्रति मोह ममता स्वय छोड दे, ताकि इन्हे छोडते समय दु खी न होना पडे । वास्तव मे देवो को अमर कहने का आशय केवल यही है कि वे अकालमृत्यु से नही मरते ।

विषय-भोगों एव परिचितो मे आसक्त जीवो की दशा भी वही— इस द्वितीय गाथा मे भी उसी अस्थिरता की झाकी देकर मनुष्य की इस भ्रान्ति को तोडने का प्रयास किया गया है कि वह यह न समझ ले कि पचेन्द्रिय विषय-भोगो का अधिकाधिक सेवन करने से तृप्ति हो जाएगी और ये विषय-भोग मेरा साथ कभी नही छोडेगे, तथा माता-पिता, स्त्री-पुत्र आदि सजीव तथा धन, धाम, भूमि आदि निर्जीव परिचित पदार्थ सदा ही मेरे साथ रहेगे, ये मुझे मौत से या दु ख से बचा लेगे । जब अशुभ कर्म उदय मे आएँगे और आयुष्य क्षय हो जाएगा, तब न तो ये विषय-भोग साथ रहेगे और न ही परिचित पदार्थ । इन सभी को छोडकर जाना पडेगा, अथवा पापकर्मोदयवश भयकर दु ख के गर्त मे गिरना पडेगा । फिर व्यर्थ ही काम-भोगो पर या परिचित पदार्थों पर आसक्ति करके क्यो पाप कर्म का बन्ध करते हो, जिससे फल भोगते समय दु खित होना पडे ? **'कामेहि संथवेहि तुट्टती'** गाथा का यही आशय है ।

कठिन शब्दों की व्याख्या—रायां—चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, सम्राट्, राणा, राव राजा, ठाकुर जागीरदार आदि सभी प्रकार के शासक । **कामेहि**—इच्छाकाम (विषयेच्छा) और मदनकाम

---

५ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति, पत्राक ५५ के आधार पर
(ख) सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या के आधार पर पृ० २९३

६ (क) "स्वर्गलोका अमृतत्व भजन्ते ।" —कठोपनिषद् अ० १, वल्ली ३, श्लो० १२-१३
(ख) "ते त भुक्त्वा स्वर्गलोक विशाल,
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोक विशन्ति ।" —भगवद्गीता अ० ९/२१
(ग) सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० २९२

(कामभोग) मे । **संथवेहिय**---और माता-पिता, स्त्री पुत्र आदि सजीव एव धन, धाम, जमीन-जायदाद आदि निर्जीव परिचित पदार्थों मे । **कम्मसहा**—वृत्तिकार के अनुसार—कर्मविपाक (कर्मफल) को सहते भोगते हुए । चूर्णिकार 'कम्मसहे' पाठान्तर मानकर व्याख्या करते है—कामेभ्य सस्तवेभ्यश्च कम्मसहित्ति—कर्मभि सह त्रुट्यतीति । कर्मों के साथ ही आयु कर्मों के क्षय होने के साथ ही उन काम-भोगो एव परिचित पदार्थों से सम्बन्ध टूट जाता है । अर्थात्—**तुट्टती**—जीवन रहित हो जाते है । **ठाणा ते वि चयंति दुक्खिया**—ये सभी अपने स्थानो को दु खित होकर छोडते है ।[७]

कर्म-विपाक-दर्शन

> ९५. **जे यावि बहुस्सुए सिया, धम्मिए माहणे भिक्खुए सिया ।**
> **अभिनूमकडेहिं मुच्छिए, तिव्वं से कम्मेहिं किच्चती ।।७।।**
>
> ९६. **अह पास विवेगमुट्ठिए, अवितिण्णे इह भासती धुवं ।**
> **णाहिसि आर कतो परं, वेहासे कम्मेहिं किच्चती ।।८।।**

९५ यदि कोई बहुश्रुत —अनेक शास्त्र पारगत हो, चाहे धार्मिक—धर्मक्रियाशील हो, ब्राह्मण (माहन) हो या भिक्षु (भिक्षाजीवी) हो, यदि वह मायामय-प्रच्छन्न दाम्भिक कृत्यो मे आसक्त (मूर्च्छित) है तो वह कर्मों द्वारा अत्यन्त तीव्रता से पीडित किया जाता है ।

९६ अब तुम देखो कि जो (अन्यतीर्थी साधक) (परिग्रह का) त्याग अथवा (ससार की अनित्यता का) विवेक (ज्ञान) करके प्रव्रज्या ग्रहण करने को उद्यत होता है, परन्तु वह ससार-सागर से पार नही हो पाता, वह यहाँ या धार्मिक जगत् मे ध्रुव –मोक्ष के सम्बन्ध मे भाषण मात्र करता है । (हे शिष्य !) तुम (भी उन मोक्षवादी अन्यतीर्थियो का आश्रय लेकर) इस लोक तथा परलोक को कैसे जान सकते हो ? वे (अन्यतीर्थी उभय भ्रष्ट होकर) मध्य मे ही कर्मों के द्वारा पीडित किये जाते है ।

विवेचन –दाम्भिक एवं भाषणशूर साधक कर्मों से पीड़ित—प्रस्तुत गाथा द्वय मे उन साधको से सावधान रहने का सकेत किया गया है, जो मायायुक्त कृत्यो मे आसक्त हैं, अथवा जो मोक्ष के विषय मे केवल भाषण करते है, क्योकि ये दोनो राग-द्वेष (माया-मान-कषाय) के वश होकर ऐसा करते हैं, और रागद्वेष कर्मबन्ध के बीज हैं, अत वे नाना कर्मबन्ध करके कर्मोदय के समय दु खित-पीड़ित होते है । इसलिए दोनो गाथाओ के अन्त मे कहा गया है—**कम्मेहिं किच्चति ।**

प्रथम प्रकार के अन्यतीर्थी साधक (बहुश्रुत, धार्मिक, ब्राह्मण या भिक्षु) अथवा अन्य साधक गृहत्यागी एव प्रव्रजित होते हुए भी सस्ते, सुलभ मोक्ष पथ का सब्जबाग दिखाते है, किन्तु वे स्वय मोक्षपथ से काफी दूर है, मोक्ष तो क्या, लोक-परलोक का भी, पुण्य-पाप आदि का भी उन्हे यथार्थ ज्ञान नही है, न ही अन्तर मे मोक्ष मार्ग पर श्रद्धा है, और न रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग पर चलते है, तब

---

७ (क) सूत्रकृतांक शीलांकवृत्ति पत्रांक ५४-५५

(ख) सूत्रकृताग चूर्णि (मूलपाठ टिप्पण) पृष्ठ १७

भला वे कैसे ससार सागर को पार कर सकते है ? सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय ही तो मोक्षपथ है, जिसका उन्हें सम्यग्ज्ञान—बोध नही है।

निष्कर्ष यह है कि मायाचार युक्त अनुष्ठानो मे अधिकाधिक आसक्ति अथवा मोक्ष का भाषण मात्र करने वाले कोई भी साधक प्रव्रजित या धार्मिक होकर कर्मक्षय करने के बदले घोर कर्मबन्धन कर लेते है, जो कर्मोदय के समय उन्हे अत्यन्त पीडा देते है। कदाचित् हठपूर्वक अज्ञानतप, कठोर क्रियाकाण्ड या अहिंसादि के आचरण के कारण उन्हे स्वर्गादि सुख या इहलौकिक विषय-सुख मिल भी जाएँ, तो भी वे सातावेदनीय कर्मफल भोग के समय अतीव गृद्ध होकर धर्म मार्ग से विमुख हो जायेगे। फलत वे सातावेदनीय कर्म भी उनके लिए भावी पीडा के कारण बन जायेगे।

णाहिसि आरं कतो परं—यह वाक्य शिष्यो को पूर्वोक्त दोनो कोटि के अन्यतीर्थी साधको से सावधान रहने के लिए प्रयुक्त है। इसका आशय यह है कि शिष्यो! यदि तुम मोक्ष और लोक से अनभिज्ञ कोरे भाषणभट्टो का आश्रय लेकर उनके पक्ष को अपनाओगे तो कैसे ससार और मोक्ष को जान सकोगे ?[९]

कठिन शब्दो की व्याख्या —अभिणूमकडेहिं मुच्छिए—अभिमुख रूप से (चलाकर) 'णूम' यानि मायाचार कृत असदनुष्ठानो मे मूर्च्छित—गृद्ध।[१०] **कम्मेहिं किच्चति**—वे (पूर्वोक्त साधक) कर्मों से छेदे जाते हैं—पीडित किये जाते है। **विवेग**—विवेक के दो अर्थ है—परित्याग और परिज्ञान। यहाँ कुछ अनुरूप प्रासगिक शब्दो का अध्याहार करके इसकी व्याख्या की गयी है—परिग्रह का त्याग करके[११] या ससार की अनित्यता जानकर। **अवितिण्णे**—ससार सागर को पार नही कर पाते। **ध्रुव**—शाश्वत होने से ध्रुव यहाँ मोक्ष अर्थ मे हैं। अत ध्रुव का अर्थ है मोक्ष या उसका उपायरूप सयम।[१२]

णाहिसि आरं कतो परं—वृत्तिकार के अनुसार उन अन्यतीर्थिको के पूर्वोक्त मार्ग का आश्रय करके आर—इस लोक को तथा पर—परलोक को कैसे जान सकेगा ? अथवा आर यानी गृहस्थ धर्म और परं (पार) अर्थात् प्रव्रज्या के पर्याय को अथवा आर यानी ससार को और पर यानी मोक्ष को[१३] चूर्णिकार इसके बदले **'ण णेहिसि आरं परं वा'** पाठान्तर मानकर व्याख्या करते है—'णणेहिसित्ति न नयिष्यसि मोक्षम् आत्मान पर वा। तत्रात्मा आरं, पर पर एव।'' अर्थात् उन अन्य-तीर्थिको के मत का आश्रय लेने पर आर यानी आत्मा स्वय और पर यानी पर दूसरे को मोक्ष नही ले जा सकोगे। **वेहासे**—अन्तराल (मध्य) मे ही, इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्ट होकर मझधार मे ही।

---

९ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति, पृ० ५६ के आधार पर

१० अभिमुख्येन णूमति कर्ममाया वा तत्कृतैरसदनुष्ठानै मूर्च्छिता गृद्धा।

११. विवेक परित्याग परिग्रहस्य, परिज्ञान वा ससारस्य।

१२ ध्रुवो मोक्षस्त, तदुपाय वा सयम।

१३ कथ ज्ञास्यस्यार इहभव कुतो वा पर परलोक, यदि वा आरमिति गृहस्थत्व, परमिति प्रव्रज्यापर्यायम्, अथवा आरमिति संसारं, परमिति मोक्षम्।'' —सूत्रकृताग शीलांकवृत्ति पृ० ५६ के अनुसार

मायाचार का कटुफल

९७. जइ वि य णिगिणे किसे चरे, जइ वि य भुंजिय मासमंतसो।
जे इह मायाइ मिज्जती, आगंता गब्भायऽणंतसो ॥९॥

९७ जो व्यक्ति इस ससार मे माया आदि से भरा है, वह यद्यपि (चाहे) नग्न (निर्वस्त्र) एव (घोर तप से) कृश होकर विचरे और (यद्यपि) कदाचित् मासखमण करे, किन्तु (माया आदि के फलस्वरूप) वह अनन्त काल तक गर्भ मे आता रहता है—गर्भवास को प्राप्त करता है।

विवेचन—मायादि युक्त उत्कृष्ट क्रिया और तप : संसार-वृद्धि के कारण—प्रस्तुत सूत्र गाथा से कर्मक्षय के लिए स्वीकार की गयी माया युक्त व्यक्ति की नग्नता कृशता एव उत्कृष्ट तपस्या को कर्मबन्ध की और परम्परा से जन्म-मरण रूप ससार परिभ्रमण की जड़ बतायी जाती है, कारण बताया गया है—**'जे इह मायाइ मिज्जइ'**। आशय यह है कि जो साधक निष्कञ्चन है, निर्वस्त्र है, कठोर क्रियाओ एव पचाग्नि तप आदि से जिसने शरीर को कृश कर लिया है, उत्कृष्ट दीर्घ तपस्या करता है, किन्तु यदि वह माया (कपट), दम्भ, वञ्चना, धोखाधडी; अज्ञान एव क्रोध, अहकार, लोभ, मोह आदि से लिपटा हुआ है, तो उससे मोक्ष दूराति दूर होता चला जाता है, वह अनन्तकाल तक ससार मे परिभ्रमण करता है। यहाँ माया शब्द से उपलक्षण से समस्त कषायो और आभ्यन्तर परिग्रहो का ग्रहण कर लेना चाहिए। वास्तव मे कर्मों से मुक्त हुए बिना मुक्ति नही हो सकती, और कर्मों से मुक्ति राग, द्वेष, मोह, कषाय आदि के छूटे बिना हो नही सकती। व्यक्ति चाहे जितनी कठोर साधना कर ले, जब तक उसके अन्तर से राग, द्वेष, मोह, माया आदि नही छूटते, तब तक वह चतुर्गति रूप ससार मे ही अनन्त बार परिभ्रमण करता रहेगा। यद्यपि तपस्या साधना कर्म-मुक्ति का कारण अवश्य है, लेकिन वह राग, द्वेष, काम, मोह, मिथ्यात्व, अज्ञान आदि से युक्त होगी तो ससार का कारण बन जायेगी।

इसी आशय से उत्तराध्ययन सूत्र, इसिभासियाइ एव धम्मपद आदि मे बताया गया है कि जो अज्ञानी मासिक उपवास के अन्त मे कुश की नोक पर आये जितना भोजन करता है, वह जिनोक्त रत्नत्रय रूप धर्म की सोलहवी कला को भी नही पा सकता।[१४]

'जे इह मायाइ ··· णंत सो' वाक्य की व्याख्या—वृत्तिकार के अनुसार—जो (तीर्थिक) इस लोक मे माया आदि से परिपूर्ण है, उपलक्षण से कषायो से युक्त है, वह गर्भ मे बार-बार आता रहेगा, अनन्त बार यानी अपरिमित काल तक। चूर्णिकार **'जइ विह मायाइ मिज्जति'** ऐसा पाठान्तर

---

१४ देखिये—इसी के समर्थक पाठ—

(क) मासे-मासे तु जो बालो कुसग्गेण तु भुंजए।
न सो सुयक्खाय धम्मस्स कल अग्घइ सोलसिं॥ —उत्तराध्ययन अ० ९।४४

(ख) मासे-मासे कुसग्गेन बालो भुञ्जेय्य भोजन।
न सो सखत धम्मानं कल अग्घति सोलसिं॥ —धम्मपद ७०

(ग) इन्दनागेण अरहता इसिणा बुइत—
मासे मासे य जो बालो कुसग्गेण आहारए।
ण से सुक्खाय धम्मस्स अग्घती सतिम कल ॥१३॥ —इसिभासियाइ अ० १३, पृ० ९३

मानकर व्याख्या करते है—माया का अर्थ है—जहां निदश (कथन) अनिर्दिष्ट—अप्रकट रखा जाता है। उन माया प्रमुख कषायो से यदि वह साधक भरा (युक्त) है तो ।[१५]

पाप-विरति-उपदेश

९८. पुरिसोरम पावकम्मुणा, पलियंत मणुयाण जीविय।
सन्ना इह काममुच्छिया, मोहं जंति नरा असंवुडा ॥१०॥

९९. जययं विहराहि जोगव, अणुपाणा पंथा दुरुत्तरा।
अणुसासणमेव पक्कमे, वीरेहि सम्मं पवेदिय ॥११॥

१००. विरया वीरा समुट्ठिया, कोहाकायरियादिपीसणा।
पाणे ण हणंति सव्वसो, पावातो विरयाऽभिनिव्वुडा ॥१२॥

९८ हे पुरुष! पापकर्म से उपरत—निवृत्त हो जा। मनुष्यो का जीवन सान्त—नाशवान् है। जो मानव इस मनुष्य जन्म मे या इस ससार मे आसक्त है, तथा विषय-भोगो मे मूर्च्छित—गृद्ध है, और हिंसा, झूठ आदि पापो से निवृत्त नही है, वे मोह को प्राप्त होते है, अथवा मोहकर्म का सचय करते है।

९९ (हे पुरुष!) तू यतना (यत्न) करता हुआ, पाच समिति और तीन गुप्ति से युक्त होकर विचरण कर, क्योकि सूक्ष्म प्राणियो से युक्त मार्ग को (उपयोग यतना के बिना) पार करना दुष्कर-दुस्तर है। अत शासन—जिन प्रवचन के अनुरूप (शास्त्रोक्त विधि के अनुसार) (सयम मार्ग मे) पराक्रम (सयमानुष्ठान) करो। सभी रागद्वेष विजेता वीर अरिहन्तो ने सम्यक् प्रकार से यही बताया है।

१०० जो (हिंसा आदि पापो से) विरत है, जो (कर्मो को विदारण—विनष्ट करने मे) वीर है, (गृह—आरम्भ-परिग्रह आदि का त्याग कर सयम पालन मे) समुत्थित—उद्यत है, जो क्रोध और माया आदि कषायो तथा परिग्रहो को दूर करने वाले हैं, जो सर्वथा (मन-वचन-काया से) प्राणियो का घात नही करते, तथा जो पाप से निवृत्त है, वे पुरुष (क्रोधादि शान्त हो जाने से मुक्त जीव के समान) शान्त हैं।

विवेचन—पापकर्म से विरत होने का उपदेश—प्रस्तुत त्रिसूत्री मे साधु-जीवन मे पापकर्म से दूर रहने का परम्परागत उपदेश विविध पहलुओ से दिया गया है। इनमे पापकर्म से निवृत्ति के लिए निम्नोक्त बोधसूत्र है—

(१) जीवन नाशवान् है, इसलिए विविध पापकर्मों से दूर रहो।
(२) विषयासक्त मनुष्य हिंसादि पापो मे पडकर मोहमूढ बनते हैं।

---

१५. (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्र ५७
(ख) सूत्रकृतांग चूर्णि (मू० पा० टि०) पृ० १७

(३) यतनापूर्वक समिति-गुप्तियुक्त होकर प्रवृत्ति करने से पापकर्मबन्ध नही होता ।

(४) जो हिंसादि पापो तथा क्रोधादि कषायो से विरत होकर सयम मे उद्यत हैं, वे मुक्त आत्मा के समान शान्त एव सुखी हैं ।[१६]

पाप कर्म क्या है, कैसे बंधते-छूटते हैं ?—बहुत से साधक साधु-जीवन को तो स्वीकार कर लेते हैं, परन्तु पाप-पुण्य का सम्यक् परिज्ञान उन्हे नही होता, न ही वे यह जानते हैं कि पापकर्म कैसे-कैसे बँध जाते हैं ? और कैसे उन पापकर्मों से छुटकारा हो सकता है ? प्रस्तुत त्रिसूत्री मे भगवान् ऋषभदेव ने समस्त कर्म-विदारण वीर तीर्थंकरों द्वारा उपादिष्ट पापकर्म विषयक परिज्ञान दिया है । पापकर्म वे हैं, जो आत्मा को नीचे गिरा देते हैं, उसकी शुद्धता, स्वाभाविकता और निर्मलता पर अज्ञान, मोह आदि का गाढ आवरण डाल देते है, जिससे आत्मा उर्ध्वगमन नही कर पाता, विकास नही कर पाता । पापकर्मों के कारण ही तो प्राणी को सम्यक् धर्ममार्ग नही मिल पाता और बार-बार मोह एव अज्ञान के कारण पाप मे अधिकाधिक वृद्धि करके नरक, तिर्यंच आदि दु ख प्रदायक गतियो मे भटकता रहता है । इसीलिए गाथा ९८ मे स्पष्ट कहा गया है—**'पुरिसोरम पावकम्मुणा'** । इसका आशय यह है कि अब तक तुम अज्ञानादिवश पापकर्मों मे बार-बार फँसते रहे, जन्म-मरण करते रहे, किन्तु अब इस पापकर्म से विरत हो जाओ । इस कार्य मे शीघ्रता इसलिए करनी है कि जिदगी का कोई भरोसा नही है, वह नाशवान है । जो मनुष्य इस शरीरादि जीवन को, मोह मे पडकर इसे विषय-भोगो मे नष्ट कर देते है, विविध हिसादि पाप करके शरीर को पोषते रहते है, तप-सयम के कष्ट से कतराते है, वे मोहनीय प्रमुख अनेक पापकर्मों का सचय कर लेते है, उनका फल भोगते समय फिर मोहावृत हो जाते है । इसलिए सद्धर्माचरण एव तप-सयम द्वारा पापकर्म से शीघ्र विरत हो जाना चाहिए ।

प्रश्न होता है—पापकर्म तो प्रत्येक प्रवृत्ति मे होना सम्भव है, इससे कैसे बचा जाय ? इसके लिए गाथा ९९ मे कहा गया है—**'जययं विहराहि पवेइयं ।'** अर्थात् प्रत्येक प्रवृत्ति यतनापूर्वक करने से पापकर्म का बन्ध नही होता । दशवैकालिक आदि शास्त्रो मे यही उपाय पापकर्मबन्ध से बचने का बताया है । आचाराग आदि शास्त्रो मे यत्रतत्र पापकर्म से बचने की विधि बतायी गयी है । पाँच समिति, तीन-गुप्ति, पचमहाव्रत, दशयतिधर्म आदि सब पापकर्म से बचने के शास्त्रोक्त एव जिनोक्त उपाय हैं ।

पापकर्म का बन्ध प्रमत्त योग से, कषाय से, हिसादि मे प्रवृत्त होने से होता है ।

पापकर्म से विरत साधक कैसा होता है, उसकी क्या पहिचान है ? इसके लिए गाथा १०० मे स्पष्ट बताया है—(१) वे हिंसा आदि पापो से निवृत्त होते हैं, (२) कर्मक्षय करने के अवसर पर वीरवृत्ति धारण कर लेते है, (३) सयमपालन मे उद्यत होते हैं, (४) क्रोधादि कषायो को पास नही फटकने देते, (५) मन-वचन-काया से कृत-कारित-अनुमोदित रूप से प्राणिहिसा नही करते, (६) पापकर्मबन्ध होने के कारणो (मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, अशुभ योग, से दूर रहते है, (७) ऐसे साधक मुक्त जीवो के समान शान्त होते है ।

---

१६. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्र ५६ के आधार पर

कठिन शब्दों की व्याख्या— **पलियंतं**—वृत्तिकार ने इसके सस्कृत मे दो रूप—**'पल्यान्त'** एव **'पर्यन्त'** मानकर व्याख्या की है कि पुरुषो का जीवन अधिक से अधिक तीन पल्य (पल्योपम) पर्यन्त टिकता है। और पुरुषो का सयम जीवन तो पल्योपम के मध्य मे होता है। अथवा पुरुषो का जीवन पर्यन्त—सान्त—नाशवान् है। **जोगवं**—सयम-योग से युक्त यानी पचसमिति—त्रिगुप्ति से युक्त होकर। **अणुसासणं**—शास्त्र या आगम के अनुसार। **अणुपाणा**—सूक्ष्म प्राणियो से युक्त। **वीरेहिं**—कर्मविदारण—वीर अरिहन्तो ने। **कोहकायरियाइपीसणा**—क्रोध और कातरिका—माया, आदि शब्द से मान, लोभ, मोहनीय कर्म आदि से दूर। **अभिनिव्वुडा**—शान्त।[१७]

परीषहसहन-उपदेश

१०१. ण वि ता अहमेव लुप्पए, लुप्पती लोगंसि पाणिणो।
एवं सहिएऽधिपासते, अणिहे से पुट्ठोऽधियासए ॥१३॥

१०२. धुणिया कुलियं व लेववं, कसए देहमणासणादिहिं।
अविहिंसामेव पव्वए, अणुधम्मो मुणिणा पवेदितो ॥१४॥

१०३. सउणी जह पंसुगुंडिया, विधुणिय धंसयती सियं रयं।
एवं दविओवहाणवं, कम्मं खवति तवस्सि माहणे ॥१५॥

१०१ ज्ञानादि से सम्पन्न साधक इस प्रकार देखे (आत्म-निरीक्षण करे) कि शीत-उष्ण आदि परीषहो (कष्टो) से केवल मैं ही पीडित नही किया जा रहा हूँ, किन्तु ससार मे दूसरे प्राणी भी (इनसे) पीडित किये जाते है। अत उन परीषहो का स्पर्श होने पर वह (सयमी) साधक क्रोधादि या राग-द्वेष-मोह से रहित होकर उन्हे (समभावपूर्वक) सहन करे।

१०२ जैसे लीपी हुई दीवार—भीत (लेप) गिरा कर पतली कर दी जाती है, वैसे ही अनशन के द्वारा देह को कृश कर देना—सुखा देना चाहिए। तथा (साधक को) अहिसा धर्म मे ही गति प्राप्ति करनी चाहिए। यही अनुधर्म—परीषहोपसर्ग सहन रूप एव अहिसादि धर्म समयानुकूल या मोक्षानुकूल है, जिसका प्ररूपण मुनीन्द्र सर्वज्ञ प्रभु ने किया है।

१०३ जैसे धूल से भरी हुई पक्षिणी अपने अगो या पखो को फडफडाकर शरीर मे लगी हुई रज को झाड देती है, इसी प्रकार भव्य उपधान आदि तपस्या करने वाला तपस्वी पुरुष कर्मरज को झाड (नष्ट कर) देता है।

विवेचन—परीषह और उपसर्ग : क्यो और कैसे सहे ?—प्रस्तुत त्रिसूत्री मे शीत और उष्ण परीषहो—उपसर्गों को सहन करने का उपदेश क्यो है ? तथा परीषहादि कैसे किस पद्धति से सहना चाहिए ? इन सम्बन्ध मे मार्ग निर्देश किया गया है। परीषह जैन धर्म का पारिभाषिक शब्द है। तत्त्वार्थसूत्र मे कहा गया है **'मार्गाच्यवन-निर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः'**—धर्ममार्ग से विचलित या भ्रष्ट न होने तथा निर्जरा के लिए जो कष्ट मन-वचन-काया से सहे जाते है, वे परीषह कहलाते है।[१८]

---

१७ सूत्रकृतांग शीलाकवृत्ति पत्र ५७

१८ तत्त्वार्थसूत्र अ० ९/३

ऐसे परीषह २२ हैं। आचाराग-सूत्र मे दो प्रकार के परीषह बताये गये हैं—शीत और उष्ण। जिन्हे अनुकूल और प्रतिकूल परीषह भी कहा जाता है। २२ परीषहो मे से स्त्री और सत्कार, ये दो शीत या अनुकूल परीषह कहलाते हैं, तथा शेष २० परीषह उष्ण या प्रतिकूल कहलाते है। इसीप्रकार उपसर्ग भी शीत और उष्ण दोनो प्रकार के होते हैं।[१९] उपसर्ग परीषह सहन क्यो करना चाहिए? इसके लिए शास्त्रकार चिन्तन सूत्र प्रस्तुत करते हैं—(१) ये उपसर्ग और परीषह मुझे ही पीड़ित नही करते, ससार के सभी प्राणियो को पीडित करते है। परन्तु पूर्वकृत कर्मोदयवश जब ये कष्ट साधारण व्यक्ति पर आते हैं, तो वह हाय-हाय करता हुआ इन्हे भोगता है, जिससे कर्मक्षय (निर्जरा) के बदले और अधिकाधिक कर्म बध कर लेता है, ज्ञानादि सम्पन्न साधक पूर्वकृत अशुभ कर्मों का फल जानकर इन्हे शत्रु नही, मित्र के रूप मे देखता है, क्योकि ये परिषह या उपसर्ग साधक को कर्मनिर्जरा का अवसर प्रदान करते है, धर्म पर दृढता की भी कसौटी करते हैं। अत परीषहो और उपसर्गों को समतापूर्वक सहन करना चाहिए। उस समय न तो उन कष्टदाताओ या कष्टो पर क्रोध करे, और न कष्टसहिष्णु होने का गर्व करे। अनुकूल परीषह या उपसर्ग आने पर विषयसुख लोलुपतावश विचलित न हो, अपने धर्म पर डटा रहे। इन्हे सहन करने से साधक मे कष्टसहिष्णुता, धीरता, कायोत्सर्ग-शक्ति, आत्म-शक्ति आदि गुणो मे वृद्धि होती है।

अज्ञानी लोग विविध कष्टो को सहते है, पर विवश होकर, समभाव से नही, इसी कारण वे निर्जरा के अवसरो को खो देते है।

परीषह और उपसर्ग सहने के सहज उपाय—शास्त्रकार ने परीषह और उपसर्ग को सहजता से सहने के लिए तीन उपाय बताये है—

(१) शरीर को अनशन आदि (उपवासादि) तपश्चर्या के द्वारा कृश कर दे;

(२) परीषह या उपसर्ग के आने पर अहिंसा धर्म मे डटा रहे,

(३) उपसर्ग या परीषह को पूर्वकृत कर्मोदयजन्य जानकर समभाव से भोग कर कर्मरज को झाड दे।[२०]

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि स्वेच्छा से अपनाये हुए कष्टो को मनुष्य कष्ट अनुभव नही करता, किन्तु जब दूसरा उन्ही कष्टो को देने लगता है तो कष्ट असह्य हो जाते हैं। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं कि परीषहो और उपसर्गो को समभावपूर्वक हँसते-हँसते सहने के लिए पहले साधक को स्वेच्छा से विविध कष्टो को—अनशनादि तपस्या, त्याग, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग, सेवा, आतापना, वस्त्रसयम, कायक्लेश, प्रतिसलीनता, ऊनोदरी, रसपरित्याग, वृत्ति सक्षेप आदि के माध्यम से अपनाकर अभ्यास करना चाहिए। आचाराग सूत्र मे इसके लिए सम्यक् मार्गदर्शन दिया गया है।

---

१९ इत्थीसक्कार-परीसहो य दो भाव सीयला एए।
सेसा वीस उण्हा परीसहा हुंति नायव्वा॥ —आचा० निर्युक्ति गा० २०३

२० (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्र ५७-५८ के आधार पर
(ख) 'कसेहि अप्पाण जरेहि अप्पाण' —आचारांग श्रु० १ अ० ४ उ० ३/१४१

अभ्यास परिपक्व हो जाने पर साधु-जीवन मे अकस्मात् कोई भी उपसर्ग या परीषह आ पड़े तो उस समय अहिंसा धर्म के गुणो—क्षमा, दया, धैर्य आदि को धारण करना चाहिए। उस समय न तो उस परीषह या उपसर्ग के निमित्त को कोसना चाहिए और न ही झुंझलाना या झल्लाना चाहिए। विलाप, आर्त्तध्यान, रोष, या द्वेष करना भावहिसा है, और यह प्रकारान्तर से आत्महिंसा (आत्मगुणो का घात) है।

जैन दर्शन का माना हुआ सिद्धान्त है कि मनुष्य पर कोई भी विपत्ती, सकट, यातना या कष्ट अथवा दुःख पूर्वकृत अशुभ कर्मों के उदय के कारण आते है, परन्तु अज्ञानी व्यक्ति असातावेदनीय कर्मों को भोगने के साथ आकुल-व्याकुल एव शोकार्त्त होकर नया कर्मबन्ध कर लेता है, इसलिए शास्त्रकार ने सूत्र गाथा १०१ मे बताया है कि ज्ञानी साधक उपसर्ग या परीषहजन्य कष्ट आने पर पूर्वकृत कर्मफल जानकर उन्हे समभाव से भोगकर उस कर्मरज को इस तरह झाड दे, जिस तरह धूल से सना हुआ पक्षी अपने पख फडफडा कर उस धूल को झाड देता है।

कठिन शब्दो की व्याख्या—लुप्पए—शीतोष्णादिदुःख विशेषो, (परीषहो) से पीडित होता है। **लुप्पंती**—अतिदुःसह, दुःखो से परितप्त—पीडित होते है। **सहितेऽधिपासते**—वृत्तिकार के अनुसार—**सहितोज्ञानादिभिः, स्वहितो वा आत्महितः सन् पश्येत्**'—ज्ञानादि से युक्त-सम्पन्न, अथवा स्वहित यानी आत्म-हितैषी होकर कुशाग्र बुद्धि से देखे—पर्यालोचन करे। चूर्णिकार के अनुसार—"**सहिते** अधिक पृथग् जनान् पश्यतिअधिपश्यति"—अर्थात् ज्ञानादि सहित साधक पृथक्-पृथक् अपने से अधिक लोगो को देखता है। **अणिहे स पुट्ठोऽधियासए**—निह कहते है—पीडित को। जो क्रोधादि द्वारा पीडित न हो, वह अनिह कहलाता है। ऐसा महासत्व परीषहो से स्पृष्ट—आक्रान्त होने पर समभाव से सहन करे, अथवा अनिह अर्थात् अनिगूहित—नही छिपाने वाला। अर्थात् तप-सयम मे तथा परीषह सहन मे अपने बल-वीर्य को न छिपाए। **कुलियं व लेववं**—लेप वाली (लीपी हुई) भीत या दीवार को। **कसए**—पतली, कृश कर दे। **अविहिंसा पव्वए**—विविध प्रकार की हिसा विहिसा है। विहिसा न करना अविहिसा है, उस अविहिसा धर्म पर प्रबल रूप मे चलना या डटे रहना चाहिए। **अणुधम्मो**—वृत्तिकार के अनुसार '**अनुगतो मोक्षम्प्रति अनुकूलो धर्मोऽनुधर्मः अहिंसालक्षणः परीषहोपसर्गसहनलक्षणश्च धर्मः**" अर्थात् मोक्ष के अनुकूल अहिंसा रूप और परिषहोपसर्ग सहनरूप धर्म अनुधर्म है। **अनुधर्म** शब्द आचाराग सूत्र मे तथा बौद्ध ग्रन्थो मे भी प्रयुक्त है, वहाँ इसका अर्थ किया गया है—पूर्व तीर्थंकरो द्वारा आचरित धर्म के अनुरूप, अथवा पूर्व तीर्थंकर चरित धर्म का अनुसरण अथवा धर्म के अनुरूप—धर्म सम्मत।[२१] **पंसुगुंडिया**—धूल से सनी हुई। **धंसयती**—झाड देती है। **सियं रयं**—लगी हुई रज को। **दविओ**—द्रव्य अर्थात् भव्य—मुक्ति गमन योग्य व्यक्ति। **उवहाणवं**—जो मोक्ष के उप—समीप, स्थापित कर देता है, वह उपधान (अनशनादि तप) कहलाता है, उपधान रूप तप के आराधक को उपधानवान कहते है।

---

२१ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ५७-५८

(ख) सूयगडग चूर्णि, (मू० पा० टिप्पण) पृ० १८

(ग) देखो आचाराग मे—'एत खु अणुधम्मियं तस्स' का विवेचन—आचाराग विवेचन ९/१/४२, पृ० ३०७

अनुकूल-परीषह-विजयोपदेश

१०४. उट्ठियमणगारमेसणं, समणं ठाणठियं तवस्सिणं ।
डहरा बुड्ढा य पत्थए, अवि सुस्से ण य तं लभे जणा ॥१६॥

१०५. जइ कालुणियाणि कासिया, जइ रोवंति व पुत्तकारणा ।
दवियं भिक्खु समुट्ठितं, णो लब्भंति ण संठवित्तए ॥१७॥

१०६. जइ वि य कामेहि लाविया, जइ णेज्जाहि णं बंधिउं घरं ।
जति जीवित णावकंखए, णो लब्भंति ण संठवित्तए ॥१८॥

१०७. सेहंति य णं ममाइणो, माय पिया य सुता य भारिया ।
पोसाहि णे पासओ तुमं, लोयं परं पि जहाहि पोस णे ॥१९॥

१०८. अन्ने अन्नेहि मुच्छिता, मोहं जंति नरा असंवुडा ।
विसमं विसमेहिं गाहिया, ते पावेहिं पुणो पगब्भिता ॥२०॥

१०४ गृह त्याग कर अनगार बने हुए तथा एषणा पालन के लिए उत्थित—तत्पर अपने सयम स्थान मे स्थित तपस्वी श्रमण को उसके लडके-बच्चे तथा बडे-बूढे (मा-बाप आदि) (प्रव्रज्या छोड देने की) चाहे जितनी प्रार्थना करे, चाहे (प्रार्थना करते-करते) उनका गला सूखने लगे—(वे थक जाएँ, परन्तु वे) उस (श्रमण) को पा नही सकते, अर्थात्—मनाकर अपने अधीन नही कर सकते ।

१०५ यदि वे (साधु के माता-पिता आदि स्वजन) (उसके समक्ष) करुणा-प्रधान वचन बोले या कारुण्योत्पादक कार्य करे और यदि वे अपने पुत्र के लिए रोये-विलाप करे, तो भी मोक्ष-साधना या साधुधर्म का पालन करने मे उद्यत उस द्रव्य (भव्य—मुक्तिगमन योग्य) उस (परिपक्व) भिक्षु को प्रव्रज्या भ्रष्ट नही कर सकते, न ही वे उसे पुन. गृहस्थ वेष मे स्थापित कर सकते है ।

१०६ चाहे (साधु के पारिवारिक जन उसे) काम-भोगो का प्रलोभन दे, वे उसे बाँधकर घर पर ले जाएँ, परन्तु वह साधु यदि असयमी जीवन नही चाहता है, तो वे उसे अपने वश मे नही कर सकते, और न ही उसे पुन गृहवास मे रख सकते है ।

१०७ 'यह साधु मेरा है,' ऐसा जानकर साधु के प्रति ममत्व करने वाले उसके माता-पिता और पत्नी-पुत्र आदि (कभी-कभी) साधु को शिक्षा भी देते हैं—तुम तो प्रत्यक्षदर्शी हो या सूक्ष्म (दूर) दर्शी हो, अत हमारा भरण-पोषण करो । ऐसा न करके, तुम इस लोक और परलोक दोनों के कर्तव्य को छोड़ रहे हो । (अत किसी भी तरह से) हमारा पालन-पोषण करो ।

१०८ संयम भाव से रहित (असवृत) कोई-कोई मनुष्य—(अपरिपक्व साधक) (माता-पिता, स्त्री-पुत्र आदि) अन्यान्य पदार्थों के मूर्च्छित-आसक्त होकर मोहमूढ हो जाते है । विषय व्यक्तियो—संयम रहित मानवो द्वारा विषम-असयम ग्रहण कराये हुए वे मनुष्य पुन. पापकर्म करने मे धृष्ट हो जाते है ।

विवेचन—**अनुकूल परीषह-उपसर्ग—सहन का उपदेश**—प्रस्तुत पाँच सूत्रो मे शास्त्रकार ने माता-पिता आदि स्वजनो द्वारा साधु को सयम छोडने के लिए कैसे-कैसे विवश किया जाता है ? उस समय साधु क्या करे ? कैसे उस उपसर्ग या परीषह पर विजय प्राप्त करे ? अथवा साधु धर्म पर कैसे डटा रहे ? यह तथ्य विभिन्न पहलुओ से प्रस्तुत किया है।

स्वजनो द्वारा असंयमी जीवन के लिए विवश करने के प्रकार—यहाँ पाँच सूत्रो मे क्रमश अनुकूल उपसर्ग का चित्रण किया है, साथ ही साधु को दृढता रखने का भी विधान किया है—

(१) सयमी तपस्वी साधु को गृहवास के लिए उसके गृहस्थ पक्षीय स्वजन प्रार्थना एव अनुनय-विनय करे,

(२) दीनतापूर्वक करुण विलाप करे या करुणकृत्य करे,

(३) उसे गृहवास के लिए विविध काम-भोगो का प्रलोभन दे,

(४) उसे भय दिखाएँ, मारे-पीटे, बाँधकर घर ले जाएँ,

(५) नव दीक्षित साधु को उभय-लोक भ्रष्ट हो जाने की उलटी शिक्षा देकर सयम से भ्रष्ट करे,

(६) जरा-सा फिसलते ही उसे मोहान्ध बनाकर नि सकोच पाप-परायण बना देते है।

पाँचवी अवस्था तक सर्व विरति सयमी साधु को स्वजनो द्वारा चलाए गए अनुकूल उपसर्ग बाणो से अपनी सुरक्षा करने का अभेद्य सयम कवच पहनकर उनके उक्त प्रक्षेपास्त्रो को काट देने और दृढता बताने का उपदेश दिया है।

उपसर्ग का प्रथम प्रकार—जो अनगार तपस्वी, सयमी और महाव्रतो मे दृढ है, उसे उसके बेटे, पोते या माता-पिता आदि आकर बार-बार प्रार्थना करते है—आपने बहुत वर्षों तक सयम पालन कर लिया, अब तो यह सब छोडकर घर चलिए। आपके सिवाय हमारा कोई आधार नही है, हम सब आपके बिना दु खी हो रहे है, घर चलिए, हमे सभालिए।" इसीलिए इस गाथा मे कहा गया है—**'डहरा वुड्ढा य पत्थए।'**

उपसर्ग का द्वितीय प्रकार—अब दूसरा प्रकार है—करुणोत्पादक वचन या कृत्य का। जैसे—उसके गृहस्थ पक्षीय माता, दादी, या पिता, दादा आदि करुण स्वर मे विलाप करके कहे—बेटा ! तुम हम दु खियो पर दया करके एक बार तो घर चलो, देखो, तुम्हारे बिना हम कितने दु खी हैं ? हमे दु खी करके कौन सा स्वर्ग पा लोगे ?" यह एक पहलू है, सयम से विचलित करने का जिसके लिए शास्त्रकार कहते हैं—**"जइ कालुणियाणि कासिया।"** इसी का दूसरा पहलू है, जिसे शास्त्रकार इन शब्दो मे व्यक्त करते हैं—**'जइ रोयंति य पुत्तकारणा'**—आशय यह है कि उस साधु की गृहस्थ पक्षीय पत्नी रो-रोकर कहने लगे—हे नाथ ! हे हृदयेश्वर ! हे प्राणवल्लभ ! आपके बिना सारा घर सूना-सूना लगता है। बच्चे आपके बिना रो रहे हैं, जब देखो, तब वे आपके ही नाम की रट लगाया करते हैं। उन्हे आपके बिना कुछ नही सुहाता। मेरे लिए नहीं तो कम से कम उन नन्हे-मुन्नो पर दया करके ही घर चलो ! आपके घर पर रहने से आपके बूढे माता-पिता का दिल भी हरा-भरा रहेगा। अथवा उक्त साधु की पत्नी अश्रुपूरित नेत्रो से गद्गद होकर कहे—'आप घर नही चलेंगे तो मैं

यहीं प्राण दे दूंगी । आपको नारी हत्या का पाप लगेगा । इतने निष्ठुर मत बनिये ।" अथवा उसके बूढ़े स्वजन रो-रोकर कहे—"बेटा ! एक बार तो घर चलो । कुलदीपक पुत्र के बिना घर मे सर्वत्र अन्धेरा है । हमारा वंश, कुल या घर सूना-सूना है । अत. और कुछ नही तो अपनी वशवृद्धि के लिए कम से कम एक पुत्र उत्पन्न करके फिर तुम भले ही सयम पालना । हम फिर तुम्हें नही रोकेंगे । केवल एक पुत्र की हमारी मनोकामना पूर्ण करो ।"

उपसर्ग का तीसरा प्रकार—यह प्रारम्भ होता है—प्रलोभन से । साधु के स्वजन प्रलोभन भरे मधुर शब्दो मे कहते है—तुम हमारी बात मानकर घर चले चलो । हम तुम्हारी सुख-सुविधा मे कोई कमी नही आने देंगे । तुम्हारी सेवा में कोई कमी नही आने देंगे । उत्तमोत्तम नृत्य, गायन, वादन, राग-रग आदि से तुम्हारी प्रसन्नता बढा देंगे । बढिया-बढिया स्वादिष्ट खानपान से तुम्हे तृप्त कर देंगे । मनचाहे सुगन्धित पदार्थों से तुम्हारा मन जरा भी नही ऊबेगा, एक से एक बढकर स्वर्ग की अप्सरा-सी सुन्दरियाँ तुम्हारी सेवा मे तत्पर रहेगी । तुम्हारे उपभोग के लिए सब तरह की सुख-सामग्री जुटा देंगे ।" इसी तथ्य को उजागर करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—**'जइ विय कामेहि लाविया'** ।

उपसर्ग का चौथा प्रकार—इसी गाथा मे उपसर्ग के चौथे प्रकार का रूप दिया गया है—**'जइ णेज्जाहि य बधिऊँ घरं'**—आशय यह है कि प्रलोभन से जब साधु डिगता न दीखे तो पारिवारिक जन भय का अस्त्र छोडे—"उसे डराएँ-धमकाएँ, मारे-पीटें या जबरन रस्सी से बाँधकर घर ले जाएँ, अथवा उसे वचनबद्ध करके या स्वय स्वजन वर्ग उसके समक्ष वचनबद्ध होकर घर ले जाएँ ।

उपसर्ग का पाँचवाँ प्रकार—इतने पर भी जब सयमी विचलित न हो तो स्वजन वर्ग नया मोह प्रक्षेपास्त्र छोडते है, शिक्षा देने के बहाने से कहते हैं—"यह तो सारा ससार कहता है कि माता-पिता एव परिवार को दु खी, विपन्न, अर्थ-सकटग्रस्त एव पालन-पोषण के अभाव मे त्रस्त बनाकर साधु बने रहना धर्म नही है, यह पाप है । माता-पिता आदि का पालन-पोषण करने वाला घर मे कोई नही है, और एक तुम हो कि उनके पालन-पोषण की जिम्मेदारी से छिटककर साधु बन गये हो । चलो, अब भी कुछ नही बिगडा है । घर मे रहकर हमारा भरण-पोषण करो । अथवा वे कहते हैं—तुम तो प्रत्यक्षदर्शी हो, घर की सारी परिस्थिति तुम्हारी आँखो देखी है, तुम्हारे बिना यह घर बिलकुल नष्ट-भ्रष्ट हो जायेगा । अथवा तुम तो दूरदर्शी हो या सूक्ष्मदर्शी, जरा बुद्धि से सोचो कि तुम्हारे द्वारा पालन-पोषण के अभाव मे हमारी कितनी दुर्दशा हो जायेगी ? अथवा वे यो कहते है—ऐसे समय मे दीक्षा लेकर तुमने इहलोक भी बिगाडा, इस लोक का भी कोई सुख नही देखा और अब परलोक भी बिगाड रहे हो, माता-पिता एव परिवार के पालन-पोषण के प्रथम कर्तव्य से विमुख होकर ! दु खी परिवार का पालन-पोषण करना तुम्हारा प्रथम धर्म है,[२२] इस पुण्य लाभ को छोडकर भला परलोक

२२ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ५८ से

(ख) सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ३१० से ३१२ तक

(ग) देखिये उनके द्वारा दिया जाने वाला शिक्षासूत्र—

"या गतिः क्लेशदग्धाना गृहेषु गृहमेधिनाम् ।
बिभ्रताम् पुत्र दारांस्तु ता गतिं व्रज पुत्रक ।"

अर्थात्—हे पुत्र ! पुत्र और पत्नी का भरण पोषण करने हेतु क्लेश सहने वाले गृहस्थो का (गृहस्थी का) जो मार्ग है, उसी मार्ग से तुम भी चलो ।" —सूत्र कृ० शीलाकवृत्ति भाषानुवाद भा० १, पृ० २२२

का सुख कैसे मिलेगा ?" अत घर मे रहकर हमारा पालन-पोषण करो। इसी बात को शास्त्रकार कहते हैं—**"सेहंतिय""जहासि पोसणे।'**

सच्चा साधु बहके-फिसले नहीं—ये और इस प्रकार के अनेक अनुकूल उपसर्ग साधु को सयम मार्ग एव साधुत्व से विचलित एव भ्रष्ट करने और उसे किसी तरह से मनाकर पुन गृहस्थ भाव मे स्थापित करने के लिए आते है, परन्तु शास्त्रकार उपदेश की भाषा मे कहते हैं कि वह अनगार, श्रमण सयम स्थान में स्थित तपस्वी, भिक्षु मोही स्वजनो की प्रार्थना पर जरा भी ध्यान न दे। वे प्रार्थना करते-करते थक जाएँ फिर भी साधु इस प्रकार की दृढता दिखाए कि वे उसे अपने वश—अधीन न कर सके, न ही गृहस्थी मे उसे स्थापित कर सके। इस बात को शास्त्रकार ने तीनो गाथाओ में दोहराया है। उसे सयम पर दृढ रहने के लिए यहाँ शास्त्रकार ने ७ बाते ध्वनित की है—(१) उनकी प्रार्थना पर ध्यान न दे, (२) उनकी बातो से जरा भी न पिघले, (३) उनके करुण-विलाप आदि से जरा भी विचलित न हो, (३) उनके द्वारा प्रदर्शित प्रलोभनो से बहके नही, भयो से घबराकर डिगे नही, (५) उनकी बातो मे जरा भी रुचि न दिखाए, (६) उनकी सयम भ्रष्टकारिणी शिक्षा पर जरा भी विचार न करे, (७) असयमी जीवन की जरा भी आकाक्षा न करे।

शास्त्रकार उन सच्चे साधुओ को अपने साधुत्व—सयम और श्रमणत्व मे दृढ एव पक्के रखने के आशय से कहते है—**अन्ने अन्नेहिं मुच्छिता मोह जंति पुणो पगब्भिता**—अर्थात् वे दूसरे है, कच्चे साधु हैं, जो माता-पिता आदि अन्य असयमी लोगो द्वारा प्रलोभनो से बहकाने-फुसलाने से, भय दिखाने से मूर्च्छित हो जाते है, और उनके चक्कर मे आकर दीर्घकालीन अथवा महामूल्य अति दुर्लभ सयम धन को खोकर असयमी बन जाते हैं। उन मूढ साधको को उन असयमी लोगो के द्वारा विषम (सिद्धान्त एव सयम से हीन) पथ पकडा दिया जाता है, फलत वे गृहस्थ-जीवन मे पडकर अपने परिजनो या कामभोगो मे इतने आसक्त हो जाते है कि फिर वे किसी भी पाप को करने मे कोई सकोच नही करते। यहाँ तक कि फिर गृहस्थोचित धर्म-मर्यादाओ को भी वे ताक मे रख देते है। सयम भ्रष्ट पुरुष अठारह ही प्रकार के पापो को करने मे धृष्ट एव निरकुश हो जाते हैं।

अन्ने अन्नेहिं मुच्छिया—आदि पाठ से शास्त्रकार ने उन सच्चे श्रमणो को सावधान कर दिया है कि वे दूसरे है, तुम वैसे नही हो, वे मन्द पराक्रमी, आचार-विचार शिथिल, साधुत्व मे अपरिपक्व, असयम रुचि व्यक्ति है, जो परायो (असयमियो) को अपने समझकर उनके चक्कर मे पड जाते हैं, पर तुम ऐसे कदापि नही बनोगे, अपने महामूल्य सयम धन को नही खोओगे।[२३]

कठिन शब्दो की व्याख्या—**उट्ठियमणगारमेसणं**—घर-बार, धन-सम्पत्ति, एव सासारिक कामभोगो को छोडकर गृह-त्यागी होकर मुनि धर्मोचित एषणा-पालन के लिए उद्यत है। **समण ठाणठियं**—श्रमण (सयम मे पुरुषार्थी है तथा उत्तरोत्तर विशिष्ट सयम स्थानो मे स्थित है। चूर्णिकार के अनुसार **'समणट्ठाणठिय'** पाठान्तर सम्भावित है, क्योकि इसकी व्याख्या की गयी है—**'समणाणं ठाणे ठित चरित्ते णाणातिसु'**—अर्थात् श्रमणो के स्थान मे—चारित्र मे या ज्ञानादि मे स्थित है। **अवि सुस्से**—(यो कहते-कहते) उनका गला सूख जाए अर्थात् वे थक जाएँ अथवा इसका **'अपि शोष्ये'** रूप

२३ सूत्रकृतांग शीलाकवृत्ति पत्राक ५८-५९ पर से

भी सस्कृत मे होता है, **अर्थ** होता है—वह साधु उनकी बात सुनेगा, किन्तु वाग्जाल मे न फँसेगा। काम रूप, काम भोगो—इन्द्रियविषयो से ललचाएँ, प्रलोभन दे; भोगो का निमन्त्रण दे। **णेज्जाहि णं बंधिउं घरं**—यदि बाँधकर घर ले जाये। चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर—**आणेज्ज णं बंधित्ता घरं**—या बाँधकर घर ले आएँ। **"जीवियं णावकंखए"** इसके दो अर्थ वृत्तिकार ने किये है—(१) यदि जीवित रहने (जीने) की आकाक्षा-आसक्ति नही है, अथवा (२) यदि असयमी जीवन की आकांक्षा नही करता या उसे पसन्द नही करता। **ममाइणो**—यह साधु मेरा है, इस प्रकार ममत्व रखने वाले। **सेहंति**—शिक्षा देते है। **अन्ने**—कई अल्प पराक्रमी कायर। **अन्नेहिं**—माता-पिता आदि द्वारा। **विसम**—असयम। साधक के लिए सयम सम है, असयम विषम है। **विसमेहिं**—असयमी पुरुषो—उन्मार्ग मे प्रवृत्त होने और अपाय—विपत्ति से न डरने के कारण राग-द्वेष युक्त विषम पथ को ग्रहण करने वालो द्वारा। अथवा विषमो—यानी राग-द्वेषो के द्वारा।[२४]

कर्मविदारक वीरों को उपदेश

१०९ तम्हा दवि इक्ख पंडिए, पावाओ विरतेऽभिनिव्वुडे।
पणया वीरा महाविहिं, सिद्धिपहं णेयाउयं धुवं ॥२१॥

११०. वेतालियमग्गमागओ, मण वयसा काएण संवुडो।
चेच्चा वित्तं च णायओ, आरंभं च सुसंवुडे चरेज्जासि ॥२२॥
—त्ति बेमि।

१०९ [माता-पिता आदि के मोह बन्धन मे पडकर कायर पुरुष सयम भ्रष्ट हो जाते हैं] इसलिए द्रव्यभूत भव्य (मुक्तिगमन योग्य अथवा राग-द्वेष रहित) होकर अन्तर्निरीक्षण करे। पण्डित—सद्-असद् विवेकयुक्त पुरुष पापकर्म से सदा विरत होकर अभिनिवृत्त (शान्त) हो जाता है। वीर (कर्म-विदारण मे समर्थ पुरुष) उस महावीथी (महामार्ग) के प्रति प्रणत—समर्पित होते है, जो कि सिद्धि पथ (मोक्षमार्ग) है, न्याय युक्त अथवा मोक्ष की ओर ले जाने वाला और ध्रुव (निश्चित या निश्चल) है।

११० (अब तुम) वैदारिक (कर्मो को विदारण—विनष्ट करने मे समर्थ) मार्ग पर आ गए हो। अत मन, वचन और काया से सवृत (गुप्त-सयत) होकर, धन-सम्पत्ति तथा ज्ञाति जनो (कुटुम्बियो) एव आरम्भ (सावद्य कार्य) को छोडकर श्रेष्ठ इन्द्रिय सयमी (सुसवृत) होकर विचरण करो।

—ऐसा मै कहता हूँ।

विवेचन—कर्म-विदारण-वीर साधको को उपदेश—प्रस्तुत सूत्र गाथा द्वय (१०९-११०) मे सयम भ्रष्ट साधको की अवदशा बताकर सुविहित साधको को महापथ पर चलने का उपदेश दिया है। उक्त महापथ पर चलने की विधि के लिए सात निर्देश सूत्र हैं—(१) भव्य-मोक्षगमन के योग्य हो, (२) स्वय अन्तर्निरीक्षण करो, (३) सद्-असद् विवेक युक्त पण्डित हो, (४) पाप-कर्म से विरत हो,

२४ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्र ५८-५९
(ख) सूत्रकृतांग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० १८-१९

(५) कषायो से निवृत्त शान्त हो, कर्म विदारण वीर साधक इस सिद्ध पथ, न्याय युक्त और ध्रुव महा मार्ग के प्रति समर्पित होते हैं, तुम भी समर्पित हो जाओ, इसी वैदारिक महामार्ग पर आ जाओ, (६) मन-वचन-काया से सयत-सवृत्त बनो, तथा (७) धन-सम्पत्ति, कुटुम्ब कबीला, एव सावद्य आरम्भ-समारम्भ का त्याग कर उत्तम सयमी बनकर विचरण करो।

पणया वीरा महावीहिं—आचाराग सूत्र के प्रथम अध्ययन मे भी यह वाक्य आता है। सम्भव है, सूत्रकृताग के द्वितीय अध्ययन की २१वी गाथा मे इस वाक्य सहित पूरा पद्य दे दिया हो। यहाँ वृत्तिकार ने इस वाक्य का विवेचन इस प्रकार किया है—वीर-परीषह-उपसर्ग और कषाय सेना पर विजय प्राप्त करने वाले—वीर्यवान (आत्म-शक्तिशाली) पुरुष महावीथी—सम्यग्दर्शनादि रूप मोक्ष मार्ग के प्रति प्रणत हैं—झुके हुए है—समर्पित हैं। यहाँ **'वीरा'** का अर्थ वृत्तिकार ने 'कर्म-विदारण समर्थ' किया है। **'महावीहिं'** शब्द के ही यहाँ **'सिद्धिपहं; णेयाउयं'** एव **'ध्रुवं'** विशेषण प्रयुक्त किये गये है। 'णेयाउय' का अर्थ वृत्तिकार ने किया है—मोक्ष के प्रति ले जाने वाले किन्तु आवश्यक-सूत्रान्तर्गत श्रमण सूत्र मे तथा उत्तराध्ययन मे समागत **'णेयाउयं'** का अर्थ न्याययुक्त या न्यायपूर्ण किया गया है।[२५]

'पणया वीरा महावीहिं' के स्थान पर शीलाकाचार्यकृत वृत्ति सहित मूलपाठ मे **'पणए वीर महाविहिं'** पाठान्तर है। चूर्णिकार ने एक विशेष पाठान्तर उद्धृत किया है—**'पणता वीधेतऽणुत्तरं'**। व्याख्या इस प्रकार है—**'एतदिति भावविधी ज भणिहामि, अणुत्तर असरिस, अणुत्तरं वा ठाणादि'**—अर्थात् यह भावविधि (जिसका वर्णन आगे कहेगे) अनुत्तर-असदृश-अप्रतिम है, अथवा स्थानादि अनुत्तर है। उसके प्रति प्रणत—समर्पित हो।[२६] **तम्हा दवि इक्ख पडिए**—इस गाथा मे सर्वप्रथम आन्तरिक निरीक्षण करने को कहा गया है, उसके लिए दो प्रकार से योग्य बनने का निर्देश भी है। **'दवि'** और **'पंडिए'**। 'दविए' के जैसे दो अर्थ होते है—द्रव्य अर्थात् भव्य मोक्ष गमन योग्य, अथवा राग-द्वेष रहित, वैसे 'पडिए' के भी मुख्य चार अर्थ होते है—(१) सद्-असद्-विवेकशील, (२) पाप से दूर रहने वाला, (३) इन्द्रियो से अखण्डित अथवा (४) ज्ञानाग्नि से अपने कर्मो को जला डालने वाला।[२७]

---

२५ (क) प्रणता प्रह्वा वीरा परीषहोपसर्ग—कषाय सेनाविजयात् वीथि पन्था महाश्चासौ वीथिश्च महा-वीथि=सम्यग्दर्शनादिरूपो मोक्षमार्गो जिनेन्द्रचन्द्रादिभि प्रहत त प्रति प्रह्वा —वीर्यवन्त ।
—आचारांग श्रु० १, अ० १,३-१, सूत्र २० की वृत्ति पत्राक ४३

(ख) प्रणता —प्रह्वीभूता वीरा. कर्मविदारणसमर्था महावीथि महामार्गं
—सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ६०

(ग) णेआउय—मोक्षम्प्रति नेतार प्रापक। —सूत्रकृताग वृत्ति पत्राक ६०

२६ (क) 'पणए वीर महाविहिं' —सूत्रकृताग मूलपाठ शीलाकवृत्ति युक्त पत्राक ६०

(ख) सूत्रकृताग चूर्णि—(मूलपाठ टिप्पणयुक्त) पृ० १९-२०

२७. (क) दवि-द्रव्यभूतो भव्य मुक्ति गमनयोग्य रागद्वेष रहिता वा सन् —सूत्रकृताग वृत्ति पत्राक ६०

(ख) पडिए—पण्डा—सदसद्विवेकशालिनी बुद्धि, सजाता अस्येति पण्डित
—वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी (भट्टोजिदीक्षित)

पापाड्डीन पण्डित·—दशवैकालिक हारी० वृत्ति

स पण्डितो य करणैरखण्डित·—उपाध्याय यशोविजयजी

" ज्ञानादिदग्धकर्माण तमाहु. पण्डिता बुधा —गीता० अ० ४/१९

"पावाओ विरतेऽभिनिव्वुडे—इस पंक्ति का आशय यह है कि "साधक पुरुष ! तुम भव्य हो, राग से ऊपर उठकर, स्व-पर के प्रति निष्पक्ष, सद्-असद् विवेकी या पापो से दूर रहकर ठण्डे दिल-दिमाग से उन पाप कर्मों के परिणामो पर विचार करो अथवा अपने जीवन आदि पापजनक जो भी स्थान या कार्य हो, उनसे विरत होकर तथा कषाय और राग-द्वेष आदि से या इन्हें उत्पन्न करने वाले कार्यों से सर्वथा निवृत्त—शान्त हो जाओ।" शान्ति से आत्म-स्वभाव मे या आत्म-भाव मे रमण करो, यह आशय भी यहाँ गर्भित है।

'वेतालियमग्ग···चरेज्जासि'—इस गाथा का यह आशय ध्वनित होता है कि आदिनाथ भगवान् ऋषभदेव ने अपने पुत्रो को उपदेश देने के साथ समस्त मोक्ष-पथिक गृहत्यागी साधुओं को उपदेश दिया है कि हे साधको ! अब तुम कर्मबन्धन का मार्ग छोडकर पूर्वोक्त वीरतापूर्वक विदारण समर्थ (वैदारक) मार्ग पर चल पडे हो। अब तुम्हे सयम पालन के तीन साधनो—मन-वचन-काया पर नियन्त्रण रखना है। मन को सावद्य (पापयुक्त) विचारो से रोककर निर्वद्य (मोक्ष एव सयम) विचारो मे आत्मभाव मे लगाना है, वचन को पापोत्पादक शब्दो को व्यक्त करने से रोककर धर्म (सवर निर्जरा) युक्त वचनो को व्यक्त करने मे लगाना है या मौन रहना है और काया को सावद्य कार्यों से रोककर निर्वद्य सम्यग्दर्शनादि धर्माचरण मे लगाना है। साथ ही धन-सम्पत्ति, परिवार, स्वजन या गार्हस्थ्य-जीवन के प्रति जो पहले लगाव रहा है, उसे अब सर्वथा छोड देना है, बिलकुल भूल जाना है, और मन तथा इन्द्रियो के विजेता जागरूक सयमी बनकर इस वैदारिक महापथ पर विचरण करना है।[२८]

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

□

बीओ उद्देसओ

द्वितीय उद्देशक

मद-त्याग-उपदेश

१११. तयसं व जहाति से रयं, इति संखाय मुणी ण मज्जती।
गोतण्णतरेण माहणे, अहऽसेयकरी अन्नेसि इंखिणी ॥१॥

११२. जो परिभवती परं जणं, संसारे परियत्तती महं।
अदु इंखिणिया उ पाविया, इति संखाय मुणी ण मज्जती ॥२॥

११३. जे यावि अणायगे सिया, जे वि य पेसगपेसए सिया।
जे मोणपदं उवट्ठिए, णो लज्जे समयं सया चरे ॥३॥

---

३० (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ६० के आधार पर

१११ जैसे सर्प अपनी त्वचा—केंचुली को छोड देता है, यह जानकर (वैसे) माहन (अहिंसा प्रधान) मुनि गोत्र आदि का मद नही करता (छोड देता है) दूसरो की निन्दा अश्रेयस्कारिणी-अकल्याणकारिणी है। (मुनि उसका भी त्याग करता है।)

११२ जो साधक दूसरे व्यक्ति का तिरस्कार (प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से अवज्ञा) करता है, वह चिरकाल तक या अत्यन्त रूप से चतुर्गतिक ससार मे परिभ्रमण करता है। अथवा (या क्योकि) पर निन्दा पापिका-पापो की जननी-दोषोत्पादिका ही है, वह जानकर मुनिवर जाति आदि का मद नही करते।

११३ चाहे कोई अ-नायक (स्वय-नायक-प्रभु-चक्रवर्ती आदि) हो (रहा हो), अथवा जो दासो का भी दास हो (रहा हो), (किन्तु अब यदि वह) मौनपद-सयम मार्ग मे उपस्थित (दीक्षित) हैं तो उसे (मदवश या हीनतावश) लज्जा नही करनी चाहिए। अपितु सदैव समभाव का आचरण करना चाहिए।

विवेचन—मद का विविध पहलुओ से त्याग क्यो और कैसे ?—प्रस्तुत त्रिसूत्री मे मुख्य रूप से मद त्याग का उपदेश विविध पहलुओ से दिया गया है। मद त्याग के विविध पहलू ये हैं—(१) साधु, कर्म बन्धन के कारण मूल अष्टविध मद का त्याग करे, (२) साधु मदान्ध होकर अकल्याणकारी परनिन्दा न करे (३) जाति आदि मद के वशीभूत होकर पर का तिरस्कार न करे, (४) मद के कारण पूर्व दीक्षित दास और वर्तमान मे मुनि को वन्दनादि करने मे लज्जित न हो, न ही हीन भावनावश साधु अपने से बाद मे दीक्षित भूतपूर्व स्वामी से वन्दना लेने मे लज्जित हो।'' इसमे प्रस्तुत गाथा मे मद त्याग क्यो करना चाहिए ? इसका निर्देश है और शेष दो गाथाओ मे यह बताया गया है कि मद कैसे-कैसे उत्पन्न होता है तथा साधक मद के कारण किन-किन दोषो को अपने जीवन मे प्रविष्ट कर लेता है ? उन्हे आते ही कैसे और क्यो खदेडे ?

इति संखाय मुणी न मज्जती—वह महत्त्वपूर्ण मद त्याग सूत्र है। इसका आशय यह है कि मद चाहे किसी भी प्रकार का हो, वह पाप-कर्मबन्ध का कारण है। सर्प जैसे अपनी त्वचा (केंचुली) को सर्वथा छोड देता है, इसी तरह साधु को कर्म आस्रव को या कर्मबन्ध को सर्वथा त्याज्य समझकर कर्म-जनक जाति, गोत्र (कुल), बल, रूप, धन-वैभव आदि मद का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए।

'अहऽसेयकरी अन्नेसि इखिणी'—इस पक्ति का आशय यह है कि साधक मे दीक्षा लेने के बाद जरा-सा भी जाति, कुल, बल, रूप, तप, लाभ, शास्त्रज्ञान, ऐश्वर्य (पद या अधिकार) का मद होता है, तो उसके कारण वह दूसरो का उत्कर्ष, किसी भी बात मे उन्नति सह नही सकता, दूसरो की (मनुष्यो, साधको या सम्प्रदायो की) उन्नति, यशकीर्ति, प्रसिद्धि, प्रतिष्ठा, वृद्धि देखकर वह मन-ही-मन कुढता है, जलता है, ईर्ष्या करता है, दोष-दर्शन करता रहता है। फलत अपने मद को पोषण देने के लिए वह दूसरो की निन्दा, चुगली, बदनामी, मिथ्यादोषारोपण, अप्रसिद्धि या अपकीर्ति करता रहता है। इस प्रकार अपने मद की वह वृद्धि करके भारी पाप कर्मबन्धन कर लेता है।[1]

शास्त्रकार ने यहाँ सकेत कर दिया है कि साधु अपने आत्म-कल्याण के लिए कर्मबन्धजनक समस्त बातो का त्याग कर चुका है, फिर आत्मा का अकल्याण करने वाली पापकर्मवर्द्धक परनिन्दा

---

१ *सूत्रकृताग मूलपाठ एव शीलाकवृत्ति भाषानुवाद, पृ० २२६ से २३०*

को वह क्यो अपनाएगा ? और क्यो परनिन्दा तथा उसके समकक्ष ईर्ष्यादि अनेक दोषो को पैदा करने वाले मद को अपनाएगा ? इसीलिए सूत्रगाथा ११२ के उत्तरार्द्ध मे इसी तथ्य को पुन अभिव्यक्त किया है—"**अदु इंखिणिया उ पाविया, इति सखाय मुणी ण मज्जति ।**" यहाँ शास्त्रकार ने '**इंखिणी**' शब्द का प्रयोग किया है, जिसका सस्कृत रूप होता है—ईक्षिणी अर्थात् देखने वाली परदोषदर्शिनी । परनिन्दा, चुगली, बदनामी, अपकीर्ति, मिथ्या दोषारोपण आदि सब परदोष दर्शन से होते हैं, इसलिए ये सब ईक्षिणी के अन्तर्गत है । वृत्तिकार ने इसीलिए '**इंखिणी**' का अर्थ परनिन्दा किया है । साधक मदावेश मे आकर ही अनेक पापो की जननी ईक्षिणी को पालता है, यह समझकर उसे मूल मे ही मद को तिलाजलि दे देनी चाहिए । निर्युक्तिकार ने इसी सन्दर्भ मे परनिन्दा-त्याग एव मद-त्याग की प्रेरणा देने वाली दो गाथाएँ प्रस्तुत की हैं ।[२]

जो परिभवई परं जणं · महं—इस गाथा के पूर्वार्द्ध मे मदावेश से होने वाले अन्य विकार और उसके भयकर परिणाम का सकेत किया है । इसका आशय यह है कि जाति आदि के मद के कारण साधक अपने से जाति, कुल वैभव (पदादि या अधिकारादि का), बल, लाभ, शास्त्रीय ज्ञान, तप आदि मे हीन या न्यून व्यक्ति का तिरस्कार, अवज्ञा, अपमान या अनादर करने लगता है, उसे दुरदुराता है, धिक्कारता, डाँटता-फटकारता है, बात-बात मे नीचा दिखाने का प्रयत्न करता है, अपनी बडाई करके दूसरो को नगण्य—तुच्छ बताता है, लज्जित करता है, लाछित करता है, उसे अपने अधीनस्थ बनाकर मनमाना काम लेता है, चुभते मर्मस्पर्शी वचन या अपशब्द भी कह देता है, क्योकि ये सब 'पर-परिभव' की ही सतति है । इसलिए मदजनित पर-परिभव भी त्याज्य है ।

संसारे परिवत्तती महं—परिभव आदि भी ईक्षिणी के ही परिवार है । ईक्षिणी को पापो की जननी बताया गया था कि परनिन्दा करते समय साधु दूसरे के प्रति ईर्ष्या-द्वेष करता है, यह भी पाप स्थान है । पर-परिवाद भी अपने-आप मे पाप स्थान है, पर-परिभव भी अपने को अधिक गुणी, उत्कृष्ट मानने से होता है, अत मान रूपी पाप स्थान भी आ जाता है, साथ ही क्रोध, माया, असत्य (मिथ्या दोषारोपण के कारण), पैशुन्य (चुगली), कपट-क्रिया आदि बताकर अपने मद का पोषण करने से मायामृषा, माया, उच्च पदादि प्राप्ति का लोभ, अहर्निश दूसरो के दोष या छिद्र देखने की वृत्ति के कारण आर्त्तध्यान-रौद्रध्यान रूप पाप आता है । अपना स्वाध्याय, ध्यान, अध्ययन-मनन, आत्म-चिन्तन, परमात्म-स्मरण आदि आत्म-कल्याण की चर्चा का अधिकाश समय परनिन्दा आदि मे व्यतीत करके तीर्थंकर-आज्ञा के उल्लघन रूप अदत्तादान एव ईर्ष्या-द्वेष-कषायादि के कारण भावहिसा रूप पाप आता है । यो उनका जीवन अनेक पापो का अड्डा बन जाता है । उन सचित पापो के

---

२ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पृ० ६०-६१ के आधार पर

(ख) तव-सजम-णाणेसु वि जइ माणो वज्जिओ महेसीहि ।
अत्तसमुक्करिसत्थ किं पुण हीला उ अन्नेसिं ॥४३॥
जइ ताव निज्जरमाओ पडिसिद्धो अट्ठमाण महेसीहिं ।
अवसेसमयट्ठाणा परिहरियव्वा पयत्तेण ॥४४॥

अर्थात्—जब तप, सयम और ज्ञान का अभिमान भी महर्षियो ने त्याज्य कहा है, तब अपना बडप्पन प्रकट करने के लिए दूसरो की निन्दा या अवज्ञा को प्रयत्नपूर्वक छोड ही देना चाहिए ।" —सूत्रकृताग निर्युक्ति

फलस्वरूप वह मदोन्मत्त साधक मोक्ष (कर्ममुक्ति) की ओर गति-प्रगति करने के बजाय दीर्घकाल या महाकाल तक ससार-सागर मे ही भटकता रहता है, अत मुनि चाहे कितना ही क्रियाकाण्डी हो, आचारवान् हो, विशिष्ट कुल जाति मे उत्पन्न हो, शास्त्रज्ञ हो, तपस्वी हो अथवा उच्च पदाधिकारी आदि हो, उसे मदावेश मे किसी की निन्दा या तिरस्कार आदि नही करना चाहिए। दूसरो के दोष-दर्शन मे पडकर अपने आत्मकल्याण के अमूल्य अवसर को खोना तथा पापपु ज इकट्ठा करके अनन्त ससार परिभ्रमण करना है। यही इस गाथा का आशय है।[3]

उत्कर्ष और अपकर्ष के समय सम रहे—एक साधु अपनी भूतपूर्व गृहस्थावस्था मे चक्रवर्ती राजा, मन्त्री या उच्च प्रभुत्व सम्पन्न पदाधिकारी था। दूसरा एक व्यक्ति उसके यहाँ पहले नौकरी करता था, अथवा वह उसके नौकर का नौकर था, किन्तु प्रबल पुण्योदयवश वह ससार से विरक्त होकर मुनि बन गया और उसका मालिक या ऊपरी अधिकारी कुछ वर्षों बाद मुनि बनता है। अब वह अपनी पूर्व जाति कुल आदि की उच्चता के मद मे कुसस्कारवश अपने से पूर्व दीक्षित (अपने भूतपूर्व दास) के चरणो मे वन्दन-नमन करने मे लज्जा करता है, कतराता है, अपनी हीनता महसूस करता है, यह ठीक नही है। इसीलिए सूत्र गाथा ११३ मे कहा गया है—"**जे यावि अणायगे सिया णो लज्जे।**" इस गाथा का यह आशय भी हो सकता है—जो पहले किसी प्रभुत्वसम्पन्न व्यक्ति के नौकर का नौकर था, वह पहले मुनि पदारूढ हो जाने पर अपने भूतपूर्व प्रभुत्वसम्पन्न, किन्तु बाद मे दीक्षित साधु द्वारा वन्दना किये जाने पर जरा भी लज्जित न हो, अपने मे हीन भावना न लाये, अपने को नीचा न माने।

'समय सयाचरे'—इसीलिये अन्त मे, दोनो कोटि के साधको को विवेक सूत्र दिया गया है कि वे दोनो सदैव समत्व मे विचरण करे। 'मुनि-पद' समता का मार्ग है, इसलिए वह कभी हीन तो हो ही नही सकता। वह तो सर्वदा, सर्वत्र विश्ववन्द्य पद है, उसे प्राप्त कर लेने के बाद तो भूतपूर्व जाति, कुल आदि सब समाप्त हो जाते है। वीतराग मुनीन्द्र के धर्म सघ मे आकर सभी समान हो जाते हैं। इसीलिए मदावेश मे आकर कोई साधु अपने से जाति आदि से हीन पूर्व दीक्षित साधु का न तो तिरस्कार करे, न ही उसको वन्दनादि करने मे लज्जित हो। इसी कारण **'समय सयाचरे'** का अर्थ यह भी सम्भव है—'समय-जैन सिद्धान्त पर या साध्वाचार पर सदा चले।' साधक मे उत्कर्ष तो मदजनित है ही, अपकर्ष भी दूसरे के वृद्धिगत उत्कर्ष मद को देखकर होता है, इसलिए यह भी मदकारक होता है। क्योकि ऐसा करने मे कषायवश अधिक पाप कर्मबन्ध होगा, इसलिए समभाव या साधुत्व (सयम) मे विचरण करना चाहिए। मान और अपमान दोनो ही साधु के लिए त्याज्य है।"[4]

---

३ (क) सूत्रकृताग शीलांकवृत्ति, पृ० ६१ के आधार पर

(ख) तुलना कीजिये—अहकार बल दर्प काम क्रोध च सश्रिता।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयक ॥१८॥
तानह द्विषत क्रूरान् ससारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१९॥ —गीता० अ० १५/१८-१९

४. (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति, पृ० ६१ के आधार पर

(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या, पृ० ३२२ से ३२६ के आधार पर

समताधर्म उपदेश

११४. सम अन्नयरम्मि संजमे, संसुद्धे समणे परिव्वए।
जे आवकहा समाहिए, दविए कालमकासि पंडिए ॥ ४ ॥

११५. दूरं अणुपस्सिया मुणी, तीतं धम्ममणागयं तहा।
पुट्ठे फरुसेहि माहणे, अवि हण्णू समयंसि रीयति ॥ ५ ॥

११६. पण्णसमत्ते सदा जए, समिया धम्ममुदाहरे मुणी।
सुहुमे उ सदा अलूसए, णो कुज्झे णो माणि माहणे ॥ ६ ॥

११७. बहुजणणमणम्मि संवुडे, सव्वट्ठेहिं णरे अणिस्सिते।
हरए व सया अणाविले, धम्मं पादुरकासि कासवं ॥ ७ ॥

११८. बहवे पाणा पुढो सिया, पत्तेयं समयं उवेहिया।
जे मोणपदं उवट्ठिते, विरतिं तत्थमकासि पंडिते ॥ ८ ॥

११४ सम्यक् प्रकार से शुद्ध श्रमण जीवनपर्यन्त (पाँच प्रकार के चारित्र सयम मे से) किसी भी एक सयम (सयम स्थान) मे स्थित होकर समभाव के साथ प्रव्रज्या का पालन करे। वह भव्य पण्डित ज्ञानादि समाधि से युक्त होकर मृत्यु काल तक सयम पालन करे।

११५ मुनि (तीनो काल की गतिविधि पर मनन करने वाला) मोक्ष (दूर) को तथा जीवो को अतीत एव अनागतकालीन धर्म—जीवो के स्वभाव को देखकर (जानकर) कठोर वाक्यो या लाठी आदि के द्वारा स्पर्श (प्रहार) किया जाता हुआ अथवा हनन किया (मारा) जाता हुआ भी समय मे—(सयम मे) विचरण करे।

११६ प्रज्ञा मे परिपूर्ण मुनि सदा (कषायो पर) विजय प्राप्त करे तथा समता धर्म का उपदेश दे। सयम का विराधक न हो। माहन (साधु) न तो क्रोध करे, न मान करे।

११७ अनेक लोगो द्वारा नमस्करणीय-वन्दनीय अर्थात् धर्म मे सावधान रहने वाला मुनि समस्त (बाह्याभ्यन्तर) पदार्थों या इन्द्रिय-विषयो मे—अप्रतिबद्ध होकर ह्रद—सरोवर की तरह सदा अनाविल (निर्मल) रहता हुआ काश्यप गोत्रीय भगवान् महावीर के धर्म—समता धर्म को प्रकाशित-प्रकट करे।

११८ बहुत से प्राणी पृथक्-पृथक् इस जगत् मे निवास करते हैं। अत प्रत्येक प्राणी को समभाव से सम्यक् जान-देखकर जो मुनिपद सयम मे उपस्थित—पण्डित साधक है, वह उन प्राणियो की हिंसा से विरति—निवृत्ति करे।

विवेचन—समता-धर्म की आराधना के विविध पहलू—प्रस्तुत पचसूत्री (११४ से ११८ तक) में साधु को समता धर्म कहाँ-कहाँ, किस-किस अवसर पर कैसे-कैसे पालन करना चाहिए? इस पर सम्यक् प्रकाश डाला गया है। जो सरल सुबोध है।

कठिन शब्दों की व्याख्या—अन्नयरंमि संजमे—सामायिक, छेदोपस्थानीय, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यात। इन पाँचों में से किसी एक संयम में, या संयम में ६ प्रकार का तारतम्य होने से ६स्थानों में से किसी भी संयम स्थान में स्थित होकर। **समणे**—सम, श्रम (तप) एवं शम करने वाला या सममना। **आवकहा**—यावत्कथा—जहाँ तक देवदत्त, यज्ञदत्त इस प्रकार के नाम की कथा चर्चा हो, वहाँ तक, यानी जीवन की समाप्ति तक। **समाहिए**—सम्यक् रूप से ज्ञानादि में आत्मा को स्थापित करने वाला अथवा समाधिभाव-शुभ अध्यवसाय से युक्त। **दूर**—अति दूर होने के कारण, दूर का अर्थ मोक्ष किया गया है। अथवा सुदूर अतीत एवं सुदूर भविष्य काल को भी 'दूर' कहा जा सकता है। **धम्मं**—जीवों के उच्चनीच स्थान गति रूप अतीत-अनागत धर्म यानी स्वभाव को। **'अविहण्णू'**—प्राणों से वियुक्त किये जाने पर भी। **समयंमि रीयइ**—समता धर्म में या संयम में विचरण करे। **पण्णसमत्ते**—प्रज्ञा में समाप्त पूर्ण अथवा पटु प्रज्ञावाला। वृत्तिकार द्वारा सूचित पाठान्तर है—**पण्हसमत्थे**—इसके दो अर्थ किये गये हैं—प्रश्नों का उत्तर देने में समर्थ अथवा जिसके प्रश्न (संशय) समाप्त हो गये हों वह संशयातीत—समाप्त प्रश्न। **'समयाधम्ममुदाहरे'**—समताधर्म का कथन-प्ररूपण करे अथवा समता धर्म का उदाहरण—आदर्श प्रस्तुत स्थापित करे। चूर्णिकार—**समिया धम्ममुदाहरेज्ज**—इस प्रकार का पाठान्तर स्वीकार करके व्याख्या करते हैं—**समिता णाम सम्म धम्म उदाहरेज्ज**—अर्थात् समिता यानी सम्यक् धर्म का उपदेश करे। **सुहुमेउ सदा अलूसए**—सूक्ष्म अर्थात् संयम में सदा अविराधक रहे। **बहुजण णमणंमि**—बहुत से लोगों द्वारा नमस्करणीय धर्म में। **अणाविले**—अनाकुल-अकलुष हृदय की तरह क्रोधादि से अक्षुब्ध अनाकुल, अथवा चूर्णिकार के अनुसार—**अणाइल इति निरुद्धाश्रवः अणातुरो न म्लायति धर्मं कथयन्** अर्थात् अनाविल का अर्थ है जिसने आश्रवों का निरोध कर लिया है, जो अनातुर होगा, वही क्षमादि रूप धर्म का धर्मोपदेश देता हुआ नहीं घबरायेगा। **समयं उवेहिया**—समता माध्यस्थ्य वृत्ति या आत्मौपम्य भाव धारण करके अथवा पाठान्तर है **'समोहिया'** उसके अनुसार अर्थ होता है स्वयम्-आत्मरूप जान-देखकर। अथवा प्रत्येक प्राणी में दुःख की अप्रियता एवं सुख की प्रियता समान भाव से जानकर। **मोणपद**—मौनीन्द्र तीर्थंकर के पद—पथ—संयम में अथवा आचारांग के अनुसार साम्य या सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय रूप मौन-पद में।[५]

परिग्रह त्याग-प्रेरणा

११९. धम्मस्स य पारए मुणी, आरंभस्स य अंतए ठिए।
सोयंति य णं ममाइणो, नो य लभंति णियं परिग्गहं ॥९॥

१२०. इहलोग दुहावहं विऊ, परलोगे य दुहं दुहावहं।
विद्धंसणधम्ममेव तं, इति विज्ज कोऽगारमावसे ॥१०॥

---

५. (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ६१ से ६३
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या ३२८ से ३३५ पृष्ठ तक
(ग) सूयगडंग चूर्णि (जम्बूविजयजी सम्पादित टिप्पण) पृ० २१
(अ) पण्हसमत्थे—समाप्तप्रश्न इत्यर्थः।
(ब) सवाजतेत्ति—ज्ञानवान् अप्रमत्तश्च।
(स) अणाइले हरदेत्ति—पद्म महापद्मादयो वा हृदा अनाकुला, क्रोधादीहि वा अणाइलो, अथवा अणाइल इति निरुद्धाश्रव अनातुरो, न म्लायति धर्मं कथयन्।"

११९ जो पुरुष धर्म का पारगामी और आरम्भ के अन्त (अभाव) मे स्थित है, (वही) मुनि है। ममत्वयुक्त पुरुष (परिग्रह का) शोक (चिन्ता) करते हैं, फिर भी अपने परिग्रह (परिग्रह रूप पदार्थ) को नही पाते।

१२० (सासारिक पदार्थों और स्वजन वर्ग का) परिग्रह इस लोक मे दु ख देने वाला है और परलोक मे भी दु.ख को उत्पन्न करने वाला है, तथा वह (ममत्व करके गृहीत पदार्थ समूह) विध्वस-विनश्वर स्वभाव वाला है, ऐसा जानने वाला कौन पुरुष गृह-निवास कर सकता है ?

विवेचन—परिग्रह-त्याग : क्यो और किसलिए ? प्रस्तुत त्रि-सूत्री मे परिग्रह त्याग की प्रेरणा दी गई है। सूत्रगाथा ११९ मे सच्चे अपरिग्रही मुनि की दो अर्हताएँ बतायी हैं—(१) जो श्रुतचारित्र रूप धर्म के सिद्धान्तो मे पारगत हो, (२) जो आरम्भ के कार्यों से दूर रहता है। जो इन दो अर्हताओ से युक्त नही है, अर्थात् जो मुनि धर्म के सिद्धान्तो से अनभिज्ञ है, आरम्भ मे आसक्त रहता है, धर्माचरण करने मे मन्द रहता है, वह इष्ट पदार्थों और इष्टजनो को 'वे मेरे हैं, उन पर मेरा स्वामित्व या अधिकार है,' इस प्रकार ममत्व करता है, उनके वियोग मे झूरता रहता है, शोक करता है, किन्तु वे पदार्थ उनके हाथ मे नही आते। तात्पर्य यह है कि इतनी आकुलता-व्याकुलता करने पर भी वे उस पदार्थ को प्राप्त नही कर पाते। इसीलिए कहा गया है—**"धम्मस्स य पारए नो य लभंति णियं परिग्गहं।"**

इस गाथा का यह अर्थ भी सम्भव है—जो मुनि धर्म मे पारगत है, और आरम्भ कार्यों से परे है, उसके प्रति ममत्व और आसक्ति से युक्त स्वजन उसके पास आकर शोक, विलाप और रुदन करते है, उस साधु को ले जाने का भरसक प्रयत्न करते हैं, परन्तु वे अपने माने हुए उस परिग्रहभूत (ममत्व के केन्द्र) साधु को नही प्राप्त कर सकते, उसे वश करके ले जा नही सकते।[७]

परिग्रह उभयलोक मे दु.खद व विनाशी होने से त्याज्य—इस सूत्र गाथा १२० मे परिग्रह क्यो त्याज्य है ? इसके कारण बताये गये है—(१) सासारिक पदार्थ और स्वजन वर्ग के प्रति परिग्रह (ममत्व) रखता है, वह इस लोक मे तो दु खी होता ही है, परलोक मे भी दु ख पाता है। (२) परिगृहीत सजीव-निर्जीव सभी पदार्थ नाशवान् है। यह जानकर कौन विज्ञ पुरुष परिग्रह के भण्डार गृहस्थवास मे रह सकता है ? अर्थात् परिग्रह का आगार गृहस्थवास पूर्वोक्त कारणो से त्याज्य ही है।

इह लोक मे परिग्रह दुःखदायी है—धन, सोना-चाँदी, जमीन, मकान आदि निर्जीव पदार्थों का परिग्रह (ममत्व) इस लोक मे चार कारणो से दु खदायक होता है—(१) पदार्थों को प्राप्त करने मे, (२) फिर उनकी रक्षा करने मे, (३) उनके व्यय मे दु ख तथा (४) उनके वियोग मे दु:ख।[८]

---

७ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ६३
(ख) सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ३३६

८ (क) अर्थानामर्जने दु खमर्जिताना च रक्षणे।
आये दु ख व्यये दु ख धिगर्था कष्टसश्रया ॥ —नितिकार

(ख) राजत सलिलादग्नेश्चोरत स्वजनादपि।
नित्य धनवतां भीतिर्दृश्यते भुवि सर्वदा ॥

इसी प्रकार माता-पिता आदि स्वजनो के प्रति ममत्व (परिग्रह) भी दु खदायी है, क्योकि रोग, कष्ट, निर्धनता, आफत आदि के समय स्वजनो से लगाई हुई सहायता, तथा मौत, सकट आदि के समय सुरक्षा की आशा प्राय सफल नही होती, क्योकि ससार मे प्राय स्वार्थ का बोलबाला है। स्वार्थपूर्ति न होने पर स्वजन प्राय छोड देते है।

परलोक में भी परिग्रही दु खदायी—इहलोक मे इष्ट पदार्थों पर किये गये राग के कारण जो कर्मबन्धन हुआ, उसके फलस्वरूप परलोक मे भी नाना दु ख भोगने पडते है। उन दु खो को भोगते समय फिर शोक, चिन्ता या विषाद के वश नये कर्मबन्धन होते है, फिर दु ख पाता है, इस प्रकार दु खपरम्परा बढती जाती है।

गृहवास : परिग्रह भण्डार होने से गृहपाश है—शास्त्रकार ने स्पष्ट कह दिया—**इति विज्जा कोऽगारमावसे ?**—आशय यह है कि परिग्रह को उभयलोक दु खद एव विनाशवान जानकर कौन विज्ञ परिग्रह के भण्डार गृहस्थ मे आवास करेगा ? कौन उस गृहपाश मे फँसेगा ?

अतिपरिचय-त्याग-उपदेश

१२१. महयं पलिगोव जाणिया, जा वि य वदण-पूयणा इहं।
सुहुमे सल्ले दुरुद्धरे, विदुमं ता पयहेज्ज सथव ।। ११ ।।

१२१ (सासारिकजनो का) अतिपरिचय (अतिससर्ग) महान् पक (परिगोप) है, यह जानकर तथा (अतिससर्ग के कारण प्रव्रजित को राजा आदि द्वारा) जो वदना और पूजा (मिलती) है उसे भी इस लोक मे या जिन-शासन मे स्थित विद्वान् मुनि (वन्दन-पूजन को) गर्वरूप सूक्ष्म एव कठिनता से निकाला जा सकने वाला शल्य (तीर) जानकर उस (गर्वोत्पादक) सस्तव (सासारिकजनो के अतिपरिचय) का परित्याग करे।

विवेचन—अतिपरिचय : कितना सुहावना, कितना भयावना ? प्रस्तुत सूत्र मे सासारिक जनो के अतिपरिचय के गुण-दोषो का लेखा-जोखा दिया गया है। सासारिक लोगो के अतिपरिचय को शास्त्रकार ने तीन कारणो से त्याज्य बताया है—(१) गाढा कीचड है, (२) साधु को वन्दना-पूजा मिलती है, उसके कारण साधु-जीवन मे गर्व (ऋद्धि, रस और साता रूप गौरव) का तीखा और बारीक तीर गहरा घुस जाता है कि उसे फिर निकालना अत्यन्त कठिन होता है यद्यपि अपरिपक्व साधु को धनिको और शासको आदि का गाढ ससर्ग बहुत मीठा और सुहावना लगता है, अपने भक्त-भक्ताओ के अतिपरिचय के प्रवाह मे साधु अपने ज्ञान-ध्यान, तप-सयम और साधु-जीवन की दैनिक-चर्या से विमुख होने लगता है, भक्तो द्वारा की जाने वाली प्रशसा और प्रसिद्धि, भक्ति और पूजा से साधु के मन मे मोह, अहकार और राग घुस जाता है, जो भयकर कर्मबन्ध का कारण है। इसीलिए इसे गाढ कीचड एव सूक्ष्म तथा दुरुद्धर शल्य की उपमा दी है। अत साधु अतिपरिचय को साधना मे भयकर विघ्नकारक समझकर प्रारम्भ मे ही इसका त्याग करे। यह इस गाथा का आशय है।[१]

---

१ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ६३
(ख) सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ३३७

महयं पलिगोव जाणिया—सासारिकजनो का अति परिचय साधको के लिए परिगोप है—पक (कीचड) है। परिगोप दो प्रकार का है—द्रव्य-परिगोप और भाव परिगोप। द्रव्यपरिगोप कीचड को कहते है, और भावपरिगोप कहते हैं आसक्ति को। इसके स्वरूप और परिणाम को जानकर। जैसे कीचड मे पैर पडने पर आदमी या तो फिसल जाता है या उसमे फँस जाता है, वैसे ही सासारिकजनो के अतिपरिचय से ये दो खतरे है।

जावि वंदणपूयणा इह—मुनि धर्म मे दीक्षित साधु के त्याग-वैराग्य को देखकर बडे-बडे धनिक, शासक, अधिकारी लोग उसके परिचय मे आते हैं, उसकी शरीर से, वचन से वन्दना, भक्ति, प्रशसा की जाती है और वस्त्रपात्र आदि द्वारा उसकी पूजा-सत्कार या भक्ति की जाती है। अधिकाश साधु इस वन्दना एव पूजा से गर्व मे फूल जाते है। यद्यपि जो वन्दना-पूजा होती है वह जैन सिद्धान्तानुसार कर्मोपशमजनित फल मानी जाती है अत उसका गर्व न करो।

नागार्जुनीय पठान्तर—यहाँ वृत्तिकार एक नागार्जुनीय सम्मत पाठान्तर सूचित करते हैं—

पलिमथ मह विजाणिया, जा वि य वदनपूयणा इधं।
सुहुम सल्लं दुरुल्लसं, तं पि जिणे एएण पडिए॥

अर्थात्—स्वाध्याय-ध्यानपरायण एव एकान्तसेवी नि स्पृह साधु का जो दूसरो—सासारिक लोगो द्वारा वन्दन-पूजनादि रूप मे सत्कार किया जाता है वह भी साधु के धर्म के सदनुष्ठान या सद्गति मे महान् पलिमन्थ—विघ्न है, तब फिर शब्दादि विषयो मे आसक्ति का तो कहना ही क्या? अत बुद्धिमान् साधक इस दुरुद्धर सूक्ष्म शल्य को छोड दे।[10]

चूर्णिकार **'महय पलिगोव जाणिया'** के बदले **'महता पलिगोह जाणिया'** पाठान्तर मानकर अर्थ करते है—**'परिगोहो णाम परिष्वग भावे अभिलाषो बाह्याभ्यन्तरवस्तुषु।'** अर्थात् परिगोह कहते है—परिष्वग (आसक्ति) को, द्रव्यपरिगोह पक है, जो मनुष्य के अगो मे चिपक जाता है, भावपरिगोह है—बाह्य-आभ्यन्तर पदार्थों की अभिलाषा-लालसा।[11]

इसी आशय को बोधित करने वाली एक गाथा सुत्तपिटक मे मिलती है। उसमे भी सत्कार को सूक्ष्म दुरूह शल्य बताया गया है।[12]

---

१० (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति, पत्राक ६४
(ख) सूत्राकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ३४०-३४१

११ (क) सूत्रकृतांग चूर्णि पृ० ६३
(ख) सूत्रकृताग समयार्थबोधिनी टीका भा० १, पृ० ४६०-४६१

१२ पङ्कोति हि न पवेदयु याय, वन्दनपूजना कुलेसु।
सुखुम सल्ल दुरुब्बहु सक्कारो कापुरिसेन दुज्जहो॥

—सुत्तपिटक खुद्दकनिकाये थेरगाथा २५३, ३१४, ३७२

एकलविहारीमुनि-चर्या

१२२. एगे चरे ठाणमासणे, सयणे एगे समाहिए सिया।
भिक्खू उवधाणवीरिए, वइगुत्ते अज्झप्पसंवुडे ॥१२॥

१२३. णो पीहे णावऽवंगुणे, दारं सुन्नघरस्स संजते।
पुट्ठो ण उदाहरे वय, न समुच्छे नो य संथरे तणं ॥१३॥

१२४. जत्थऽत्थमिए अणाउले, सम-विसमाणि मुणीऽहियासए।
चरगा अदुवा वि भेरवा, अदुवा तत्थ सिरीसिवा सिया ॥१४॥

१२५. तिरिया मणुया य दिव्वगा, उवसग्गा तिविहाऽधियासिया।
लोमादीयं पि ण हरिसे, सुन्नागारगते महामुणी ॥१५॥

१२६. णो अभिकखेज्ज जीवियं, णो वि य पूयणपत्थए सिया।
अब्भत्थमुवेंति भेरवा, सुन्नागारगयस्स भिक्खुणो ॥१६॥

१२७. उवणीततरस्स ताइणो, भयमाणस्स विवित्तमासण।
सामाइयमाहु तस्स जं, जो अप्पाणं भए ण दसए ॥१७॥

१२८. उसिणोदगतत्तभोइणो, धम्मट्ठियस्स मुणिस्स हीमतो।
ससग्गि असाहु रार्याहि, असमाही उ तहागयस्स वि ॥१८॥

१२२ भिक्षु वचन से गुप्त और अध्यात्म-सवृत (मन से गुप्त) तथा तपोबली (उपधान-वीर्य) होकर अकेला (द्रव्य से सहायरहित एकाकी, और भाव से रागद्वेष रहित) विचरण करे। कायोत्सर्ग, आसन और शयन अकेला ही करता हुआ समाहित (समाधियुक्त धर्मध्यान युक्त होकर) रहे।

१२३ सयमी (साधु) सूने घर का द्वार न खोले और न ही बन्द करे, किसी से पूछने पर (सावद्य) वचन न बोले, उस मकान (आवासस्थान) का कचरा न निकाले, और तृण (घास) भी न बिछाए।

१२४ जहाँ सूर्य अस्त हो जाए, वही मुनि क्षोभरहित (अनाकुल) होकर रह जाय। सम-विषम (कायोत्सर्ग, आसन एव शयन आदि के अनुकूल या प्रतिकूल) स्थान हो तो उसे सहन करे। वहाँ यदि डास-मच्छर आदि हो, अथवा भयकर प्राणी या साप आदि हो तो भी (मुनि इन परीषहो को सम्यक् रूप से सहन करे।)

१२५ शून्य गृह मे स्थित महामुनि तिर्यञ्चजनित, मनुष्यकृत एव देवजनित त्रिविध उपसर्गों को सहन करे। भय से रोमादि-हर्षण (रोमाच) न करे।

१२६ (पूर्वोक्त उपसर्गों से पीडित साधु) न तो जीवन की आकाक्षा करे और न ही पूजा का

प्रार्थी (सत्कार-प्रशसा का अभिलाषी) बने। शून्यगृह-स्थित (जीवन-मरण और पूजा से निरपेक्ष) भिक्षु को (धीरे-धीरे) भैरव (भयकर) प्राणी अभ्यस्त—सह्य हो जाते हैं।

१२७ जिसने अपनी आत्मा को ज्ञानादि के समीप पहुचा दिया है, जो त्रायी (अपना और दूसरो का उपकार कर्त्ता या त्राता) है, जो स्त्री-पशु-नपु सक-ससर्ग से रहित विविक्त (विजन) स्थान का सेवन करता है तथा जो अपनी आत्मा मे भय प्रदर्शित नही करता उस साधु का जो चरित्र है, उसे तीर्थंकरो ने सामायिक चारित्र कहा है।

१२८. गर्मजल को गर्म (बिना ठडा किये) ही पीने वाले, (श्रुत-चारित्र-रूप) धर्म मे स्थित (स्थिर) एव (असयम से) लज्जित होने वाले मुनि को राजा आदि से ससर्ग करना अच्छा नही है। (क्योकि वह) उक्त प्रकार के शास्त्रोक्त आचार-पालन मे स्थित तथागत मुनि का भी समाधिभग करता है।

विवेचन—एकाकी-विचरणशील साधु की आचार-संहिता—प्रस्तुत सप्तसूत्री (सूत्रगाथा १२२ से १२८ तक) मे एकाकी विचरणशील विशिष्ट साधु की योग्यता एव आचार सहिता की झाकी दी गई है। वह २२ सूत्री आचार सहिता इस प्रकार है—

(१) एकचारी साधु स्थान (कायोत्सर्गादि), आसन और शयन अकेला ही करे, (२) सभी परिस्थितियो मे समाधियुक्त होकर रहे, (३) मनोगुप्त, वाग्गुप्त और तपस्या मे पराक्रमी हो, (४) शून्यगृह का द्वार न खोले, न बन्द करे, (५) प्रश्न का उत्तर न दे, (६) मकान का कचरा न निकाले, (७) वहाँ घास भी न बिछाए, (८) जहाँ सूर्य अस्त हो जाए, वही क्षोभरहित होकर ठहर जाए, (९) अनुकूल-प्रतिकूल आसन, शयन और स्थान को सहन करे, (१०) वहाँ डास-मच्छर आदि का उपद्रव हो या भयकर राक्षस आदि हो, अथवा सर्प आदि हो तो भी समभावपूर्वक सहन करे, (११) शून्यागार स्थित साधु दिव्य, जो मानुष और तिर्यंचगत उपसर्ग आएँ उन्हे सहन करे, (१२) भय से जरा भी रोगटे खडे न होने दे, (१३) भयकर उपसर्ग-पीडित होने पर न तो जीने की इच्छा करे न ही पूजा प्रार्थी हो, (१४) शून्यगृह स्थित साधु के सतत अभ्यास से भयकर प्राणी भी सह्य हो जाते है। (१५) अपनी आत्मा ज्ञानादि मे स्थापित करे (१६) स्व-परत्राता बने, (१७) विविक्तासनसेवी हो, (१८) अपनी आत्मा मे भय का सचार न होने दे (१९) उष्णोदक, गर्म जल पीए, (२०) श्रुत-चारित्र धर्म मे स्थित रहे, (२१) असयम से लज्जित हो, (२२) शास्त्रोक्त आचारवान मुनि भी असमाधिकारक राजादि का ससर्ग न करे।

ये मुख्य-मुख्य अर्हताएँ है, जो एकाकीचर्याशील साधु मे होनी चाहिए या उसे प्राप्त करनी चाहिए।[१३]

एकाकीचर्या : लाभ या हानि ?—प्रस्तुत सात गाथाओ मे एकाकी विचरण की विशिष्ट साधना से सम्बन्धित निरूपण है। समूह के साथ साधु रहेगा तो उसे समूह की रीति-नीति के अनुसार चलना पडेगा। सामूहिक रूप से कायोत्सर्ग, स्वाध्याय, शयन एव आसन का उपयोग करना होगा।

---

१३ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति मूल भाषानुवाद भा० १ पृ० २४४ से २५० तक का सार

(ख) सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ३४२ से ३५२ तक का सार

समूह मे रहने पर गृहस्थो का सम्पर्क अधिक होगा, साधु को उनसे सम्मान, प्रतिष्ठा, कल्पनीय यथोचित साधन, सुख-सुविधाएँ, योग्य वस्त्र, पात्र, आवासस्थान आदि मिलने सम्भव है। ऐसे समय मे वह साधु अगर सावधानी न रखे तो उसका जीवन ससर्गजनित दोषो और गर्वादि जनित अनिष्टो से बचना कठिन है। इसी दृष्टि से तथा उक्त दोनो दोषो से दूर रहकर साधुजीवन की समाधि और यथार्थ आनन्द प्राप्त करने हेतु शास्त्रकार ने एक विशिष्ट उच्च साधना—एकचर्या-साधना बताई है— **एगे चरे ठाणमासणे सयणे एगे समाहिए**। इस पक्ति का आशय यह है कि इन सब दोषो तथा राग-द्वेष कषाय आदि से बचने के लिए साधु अकेला विचरण करे, अकेला ही कायोत्सर्ग करे, अकेला ही ठहरे-बैठे और अकेला ही शयन करे। यहाँ जितनी भी एकाकीचर्या बताई है, वहाँ द्रव्य और भाव दोनो से वह एकाकी होनी चाहिए। द्रव्य से एकाकी का मतलब है—दूसरे-साधु श्रावकवर्ग से सहायता लेने मे निरपेक्ष। भाव से एकाकी का अर्थ है—राग-द्वेषादि दोषो से तथा जनसम्पर्क-जनित दोषो से रहित एकमात्र आत्मभावो में या आत्म गुणो मे स्थित रहकर विचरण करना। अपना स्थान भी ऐसा चुने, जो एकान्त, विजन, पवित्र, शान्त और स्त्री-पशु-नपु सक ससर्ग रहित हो। जिसके लिए शास्त्रकार ने आगे निर्देश किया है—**'भयमाणस्स विवित्तमासणं'**। यदि साधु एकलविहार भी हो गया, किन्तु ग्राम के बाहर अथवा कही एकान्त मे रहकर भी अपना अखाडा जमाना शुरू कर दिया, जनता की भीड वहाँ भी आने लगी, अथवा वह स्थान एकान्त मे होते हुए भी मुर्दाघाट है या गन्दगी (मल-मूत्र) डालने का स्थान है तो वह भी ठीक नही। अथवा एकान्त होते हुए भी वहाँ आस-पास कल-कारखानो का या अन्य कोई कोलाहल होता है, अथवा वह पशुओ को बाधने का बाडा हो, अथवा किसी स्त्री या नपु सक का वहाँ रात्रिकाल मे आवागमन होता हो तो वह विविक्त नही कहलाता, अपवित्र, अशान्त, कोलाहल युक्त या स्त्री-पशु-नपु सक ससक्त जन समुदाय के जमघट वाले स्थान मे रहने से साधु के एकाकीचर्या की साधना स्वीकार करने का उद्देश्य पूर्ण नही होता। वहाँ उसके स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग आदि साधना मे विक्षेप पडेगा, लौकिक स्वार्थवश सासारिक लोगो का जमघट शुरू हो गया तो साधु को उनके झमेले से ही अवकाश नही मिल पाएगा। इन सब खतरो से बचे रहने के लिए एकचर्या के विशिष्ट साधक को यहाँ सावधान किया है। १२८ वी गाथा मे इसी बात को स्पष्ट कर दिया है— **'ससग्गी असाहु रायिंहि'**।'- -अर्थात् राजा आदि राजनीतिज्ञो या सत्ताधारियो के साथ ससर्ग ठीक नही है, वह आचारवान् साधु के लिए असमाधिकारक है।[१४]

एकाकीचर्या के योग्य कौन और कौन नहीं?—एकाकी विचरण करने वाले साधु को कठोर साधना करनी पडती है, क्योकि एकाकी विचरण-साधना अगीकार करने के बाद जरा-सी स्थान की, आहार-पानी की असुविधा हुई, सम्मान-सत्कार मे लोगो की अरुचि देखी कि मन मे उचाट आ गया, अथवा वाणी मे रोष, कठोरता एव अपशब्द आ गये, या किसी सूने घर मे ठहर जाने पर वहाँ किसी प्रकार का देवी, मानुषी, या पाशविक उपद्रव खडा हो गया, तो साधु की समाधि भग हो जायेगी, मन मे राग-द्वेष-मोह का उफान आने लगेगा। दशाश्रुतस्कन्ध मे कहा है—उक्त बीस असमाधि स्थानो से दूर रहकर श्रुत, विनय, आचार एव तप, इन चार प्रकार की समाधि मे स्थित रहना चाहिए। वस्तुत: एकचर्या का लाभ उसी को मिल सकता है, जो पहले अपने आपको एकचर्या के योग्य बना ले। अन्यथा,

---

१४ सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ३४३-३४४ के आधार पर

एकचर्या से लाभ के बदले हानि ही अधिक उठानी पड सकती है।[१५] चित्त समाधि युक्त साधक की इस प्रकार की विशिष्ट उपलब्धियाँ भी हो सकती है। इसलिए इन सूत्रगाथाओ मे एकचारी साधक मे १२ विशिष्ट गुणो का होना अनिवार्य बताया है—

(१) वह समाधियुक्त हो, (२) वचनगुप्ति (मौन या विवेकपूर्वक अल्प भाषण) से युक्त हो, (३) मन को भी राग-द्वेष-कषायोत्पादक विचारो से रोककर (सवृत-गुप्त) रखे, (४) बाह्य एव आभ्यन्तर तप करने मे शक्तिशाली (पराक्रमी) हो, (५) भिक्षणशील हो, (६) जीने की आकाक्षा (प्राणो का मोह) न हो, (७) पूजा-प्रतिष्ठा की चाह न हो, (८) सभी प्रकार के परीषहो और उपसर्गों को समभावपूर्वक सहने मे सक्षम हो, (९) भय से रोमाच या अग विकार न हो, (१०) अपनी आत्मा मे परीषहोपसर्ग जनित भय का भूत खडा न करे और (११) श्रुत-चारित्रधर्म या मुनिधर्म मे स्थिर रहे तथा (१२) असयम के कार्य करने मे लज्जित हो।

इसके अतिरिक्त एकचारी साधु के लिए अहिसादि की दृष्टि से कुछ कठोरचर्याओ का भी निर्देश किया है—

(१) शून्यगृह का द्वार न खोले, न बंद करे—वर्षों से बिना सफाई किये पडे हुए जन शून्य मकान मे जाले जम जाते हैं, मकडी आदि कई जीव आकर बसेरा कर लेते हैं, चिडिया-कबूतर आदि पक्षी, छिपकली आदि भी वहाँ अपना घोसला बना लेते हैं, अण्डे दे देते हैं, साँप, बिच्छू आदि विषैले जन्तु भी वहाँ अपना डेरा जमा लेते हैं। कीडे वहाँ रेगते रहते हैं। इसलिए साधु वर्षा, सर्दी या गर्मी का परीषह सह ले, किन्तु उसके द्वार को न तो खोले, न बन्द करे, यह निर्देश किया गया है।

(२) न सफाई करे, न घास बिछाए—साथ ही उस दीर्घकाल से सूने पडे हुए मकान की सफाई (प्रमार्जन) करने और घास बिछाने का निषेध इसलिए किया गया है कि वहाँ रहने वाले जीव-जन्तुओ की इससे विराधना होगी।

(३) पूछने पर बोले नहीं—साधु को कायोत्सर्ग मे सूने घर मे खडे देख बहुत से लोग उस पर चोर, डाकू, गुप्तचर, लुटेरा या अन्य अपराधी होने का सन्देह कर बैठते हैं, और उससे पूछते है—"कौन है? कहाँ से आया है?" इस सम्बन्ध मे शास्त्रकार कहते हैं—**पुट्ठे ण उदाहरे वयं**। प्रश्न होता है—बिलकुल न बोलने पर लोग कदाचित् कुपित होकर मारे-पीटे, सताएँ उस समय समभावपूर्वक सहन करने की शक्ति न हो तो मुनि क्या करे? यहाँ वृत्तिकार अभिग्रहधारी या जिनकल्पिक साधु के लिए तो निरवद्यवचन भी बोलने का निषेध करते है, किन्तु स्थविरकल्पी गच्छगत साधु के लिए वे

---

१५ (क) देखिये दशाश्रुतस्कन्ध मे २० असमाधिस्थान। — दशाश्रुतस्कन्ध सू० १-२

(ख) "चत्तारि विणयसमाहिट्ठाणा पन्नत्ता—तजहा विणयसमाही, सुयसमाही, तवसमाही, आयारसमाही।" —दशवै० अ० ९, ३-४

(ग) इमाइ दश चित्तसमाहिठाणाइ असमुप्पण्णपुव्वाइ समुपज्जेज्जा (१) धम्मचिंता (२) सण्णिजाइ-सरणेण (३) सुमिणदसणे (४) देवदसणे (५) ... ओहिणाणे (६) ओहिदसणे (७) मणपज्ज-वणाणे.... (८) केवलणाणे ..(९) केवलदसणे, (१०) केवलमरणे वा।" —दशा० श्रु० दशा० ५, सू० ६

कहते है—"शून्य आगार मे या अन्यत्र स्थित (स्थविरकल्पी) साधु से यदि कोई धर्म आदि के सम्बन्ध मे या मार्ग अथवा परिचय पूछे तो सावद्य (समाप) भाषा न बोले।"

(४) **सूर्य अस्त हो जाए वहाँ शान्ति से रह जाए**—इस निर्देश के पीछे यह रहस्य है कि रात के अँधेरे में साँप, बिच्छू आदि दिखाई न देने के कारण काट सकते हैं, हिंस्र वन्य पशु भी आक्रमण कर सकते हैं, चोर-लुटेरे आदि के सन्देह मे वह पकडा जा सकता है, अन्य सूक्ष्म व स्थूल जीव भी पैर के नीचे आकर कुचले जाने सम्भव है। इसलिए सूर्यास्त होते ही वह उचित स्थान देखकर वही रात्रि-निवास करे।

(५) **प्रतिकूल एवं उपद्रव युक्त स्थान मे समभाव से परीषह सहे**—कदाचित् कोई ऊबड-खाबड खुला या बिलकुल बन्द स्थान मिल गया, जहाँ डास, मच्छर आदि का उपद्रव हो, जगली जानवरो का भय हो, जहरीले जन्तु निकल आये तो साधु व्याकुल हुए बिना शान्ति से उन परीषहो को सह ले।

(६) **गर्म पानी गर्म-गर्म ही पीये**—यह स्वाद-विजय एव कष्टसहिष्णुता की दृष्टि से एकचारी साधु का विशिष्ट आचार बताया है।[१६]

एकचर्या की विकट साधना का अधिकारी साधक—सूत्रगाथा १२२ से १२८ तक एकचर्या की विशिष्ट साधना, उसकी योग्यता तथा उस साधना की कुछ विशिष्ट आचार-सहिता को देखते हुए नि सन्देह कहा जा सकता है कि इस कठोर साधना का अधिकारी या तो कोई विशिष्ट अभिग्रहधारी साधु हो सकता है, या फिर जिनकल्पिक साधु। स्थविरकल्पी साधु के वश की बात नही है कि वह दैवी, मानुषी या तिर्यञ्चकृत उपसर्गों या विविध परीषहो के समय उक्त प्रकार मे अविचल रह सके, भय से कापे नही, जीवन का मोह या यश-प्रतिष्ठा की आकाक्षा का मन से जरा भी स्पर्श न हो। वृत्तिकार ने भी इसी बात का समर्थन किया है।[१७]

इतनी विशिष्ट योग्यता कैसे आये? प्रश्न होता है—इतने भयकर कष्टो, उपद्रवो एव सकटो का सामना करने की शक्ति किसी भी साधक मे एकदम तो आ नही सकती। कोई दैवी वरदान से तो यह शक्ति और योग्यता प्राप्त होने वाली नही, ऐसी स्थिति मे एकचारी साधक मे ऐसी क्षमता और योग्यता कैसे आ पायेगी? शास्त्रकार इसका समाधान करते हुए कहते है—"**अब्भत्थमुवेंति भेरवा भिक्खुणे।**" इसका आशय यह है कि ऐसा विशिष्ट साधक महामुनि जब जीने की आकाक्षा और पूजा-प्रतिष्ठा की लालसा का बिलकुल त्याग करके बार-बार शून्यागार मे कायोत्सर्गादि के लिए जायेगा, वहाँ पूर्वोक्त दश-मशक आदि के उपद्रव तथा भयकर उपसर्ग आदि सहने का अभ्यास हो जायेगा, तब उसे ये सब उपसर्गकर्ता प्राणी आत्मीय मित्रवत् प्रतीत होने लगेगे, और मतवाले हाथी के

---

१६ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ६४

१७ (क) सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या ३४२ से ३५२

(ख) I शून्यागारगत शून्यगृहव्यवस्थितस्य चोपलक्षणार्थत्वात् पितृवनादि स्थितो महामुनिर्जिनकल्पादिरिति।

II तत्रस्थोऽन्यत्र वा केनचिद् धर्मादिक मार्ग वा पृष्ट—सन् सावद्या वाच नोदाहरेन्नब्रूयात्, आभिग्रहिको जिनकल्पादिर्निरवद्यामपि न ब्रूयात्।"' नाऽपि शयनार्थी कश्चिदाभिग्रहिकः तृणादिक सस्तरेत्—तृणैरपिसस्तेरक न कुर्यात् किं पुन कम्बलादिना?

—सूत्रकृ० वृत्ति पत्राक ६४-६५

समान उसके मन पर शीत-उष्ण, दश-मशक आदि परीषहों का कोई प्रभाव नही पड़ेगा। उसके लिए ये भयकर परीषह या उपसर्ग सह्य हो जायेगे।[१७]

कठिन शब्दों की व्याख्या—**ठाणं**—कायोत्सर्ग, या एक स्थान मे स्थित होना। **उवधाण-वीरिए**—तपस्या मे पराक्रमी। **अज्झप्पसंवुडे**—आत्मा मे लीन अथवा मनोगुप्ति से युक्त। **णो पीहे**—न बन्द करे, **णाऽवंगुणे**—नही खोले। **ण समुच्छे**—इसके दो अर्थ फलित होते हैं—वृत्तिकार ने व्याख्या की है—**न समुच्छिन्द्यात् तृणानि कचवर च प्रमार्जनेन नापनयेत्**—अर्थात्—घास-तिनके एव कचरा झाड-बुहार कर निकाले-हटाए नही। **चरगा**—डास, मच्छर आदि काटने वाले जीव। **समविसमाई**—अनुकूल-प्रतिकूल शयन, आसन आदि। **मुणी**—यथार्थ सस्कार का वेत्ता-मननकर्ता। **महामुणी**—जिनकल्पिक मुनि या उच्च अभिग्रहधारी साधक। **समाहिए**—वृत्तिकार के अनुसार—'विचरण-निवास, आसन, कायोत्सर्ग, शयन आदि विविध अवस्थाओ मे राग-द्वेष रहित होने से ही समाहित-समाधियुक्त होता है।' चूर्णिकार के अनुसार—'एकाकी विचरण समाहित अर्थात्—आचार्य, गुरु आदि से अनुमत होकर करे।' **तिविहाऽधिवासिया**—तीनो प्रकार के उपसर्गों को सम्यक् सहन करे। चूर्णिकार **'तिविहावि सेविया'** पाठान्तर मानते है। **अब्भत्थमुवेंति भेरवा**—भयानक परिषह-उपसर्ग (उपद्रव) आदि अभ्यस्त—आसेवित या सुसह हो जाते हैं। **उवणीततरस्स**—जिस साधक ने अपनी आत्मा ज्ञानादि के निकट पहुँचा दी है, उस उपनीततर साधु का। **धम्मट्ठियस्स**—वृत्तिकार के अनुसार—धर्म मे स्थित साधु के, चूर्णिकार के अनुसार—जिसका धर्म से ही अर्थ—प्रयोजन है, वह धर्मार्थी। **असमाही उ तहागयस्स वि**—शास्त्रोक्त आचारपालक साधु का भी राजा आदि के ससर्ग से असमाधि अर्थात्—अपध्यान ही सम्भव है। **उसिणोवगतत्तभोइणो**—तीन बार उकाला आये हुए गर्म जल का सेवन करने वाला अथवा उष्णजल को ठडा न करके गर्म-गर्म ही सेवन करने वाला। **हीमतो**—असयम के प्रति लज्जावान् है।[१८]

उवणीयतरस्स ... अप्पाण भए ण दसए—इसी गाथा से मिलती-जुलती गाथा बौद्धधर्म-ग्रन्थ सुत्तपिटक मे मिलती है।[१९]

अधिकरण-विवर्जना

१२९. अहिगरणकडस्स भिक्खुणो, वयमाणस्स पसज्झ दारुण।
अट्ठे परिहायती बहू, अहिगरण न करेज्ज पडिए ॥१९॥

---

१७ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ६४-६५

(ख) अब्भत्थमवेंति भेरवा—अभ्यस्ता नाम आसेविता नीराजितवारणस्येव भैरवा एव भवन्ति।

—सूत्रकृ० चूर्णि (मू० पा० टि०) पृ० २३

१८ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ६४-६५

(ख) सूत्रकृताग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० २२-२३

१९ तुलना—पतिलीनचरस्स भिक्खुनो भजमानस्स विवित्तमासन।
सामग्गियमाहु तस्स त यो अत्तान भवने न दस्सये।

—सुत्तपिटके खुद्दकनिकाये सुत्तनिपाते अट्ठकवग्गे पृ० ३९४

१२९ जो साधु अधिकरण (कलह या विवाद) करता है, और हठपूर्वक या मुँहफट होकर भयकर कठोर वचन बोलता है, उसका बहुत-सा अर्थ (सयमधन या मोक्षरूप प्रयोजन) नष्ट हो जाता है। इसलिए पण्डित (सद्-असद् विवेकी) मुनि अधिकरण न करे।

विवेचन—अधिकरण निषेध—प्रस्तुत गाथा मे साधु के लिए अधिकरण सर्वथा वर्जनीय बताया है। इसके दो लक्षण बताये गये है—अधिकरणशील साधु रौद्रध्यान ईर्ष्या, रोष, द्वेष, छिद्रान्वेषण, कलह आदि पाप-दोष बटोरता है, (२) वह हठपूर्वक प्रकट रूप से भयकर कठोर वचन बोलता है।

परिणाम—अधिकरण करने वाले साधु का बहुत-सा सयमधन लुट जाता है, अथवा उसका मोक्षरूप प्रयोजन सर्वथा नष्ट हो जाता है। कहा भी है—

"जं अज्जिय समीखल्लएहिं तवनियमबभमाइएहि ।
माहु तय कलहंता छड्डे अहसागपत्तेहिं ॥"

—चिरकाल तक कठोर तप, नियम एव ब्रह्मचर्य आदि बडी मुश्किल से जो सत्फल उपार्जित किया है, उसे तुच्छ बातो के लिए कलह करके नष्ट मत करो, ऐसा पण्डितजन उपदेश देते है।

अधिकरणकर का अर्थ—बात को अधिकाधिक बढा-चढाकर करना, उसे बतगड बना देना, और विवाद खडा करके कलह करना अधिकरण है। बात-बात मे जिसका अधिकरण करने का स्वभाव हो जाता है, उसे 'अधिकरणकर' कहते है।[२०]

सामायिक-साधक का आचार

१३०. सीओदगपडिदुगुञ्छिणो, अपडिण्णस्स लवावसक्किणो ।
सामाइयमाहु तस्स जं, जो गिहिमत्तेऽसण न भुञ्जती ॥२०॥

१३१. न य सखयमाहु जीवियं, तह वि य बालजणे पगब्भती ।
बाले पावेहिं मिज्जती, इति सखाय मुणी ण मज्जती ॥२१॥

१३२. छदेण पलेतिमा पया, बहुमाया मोहेण पाउडा ।
वियडेण पलेति माहणे, सीउण्ह वयसाऽहियासए ॥२२॥

१३० जो साधु ठण्डे (कच्चे—अप्रासुक) पानी से घृणा (अरुचि) करता है, तथा मन मे किसी प्रकार की प्रतिज्ञा (सासारिक कामना पूर्ति का सकल्प—निदान) नही करता, कर्म (बन्धन) से दूर रहता है, तथा जो गृहस्थ के भाजन (बर्तन) मे भोजन नही करता, उस साधु के समभाव को सर्वज्ञो ने सामायिक (समतायोग) कहा है।

---

२० (क) सूत्रकृताग समयार्थबोधिनी टीका, भाग १, पृ० ५८५
(ख) सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ३५४
(ग) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पृ० ६६

१३१ जीवन सस्कार करने (जोडने) योग्य नही है ऐसा (सर्वज्ञो ने) कहा है, तथापि अज्ञानीजन (पाप करने मे) धृष्टता करता है। वह अज्ञजन (अपने बुरे कार्यों से उपार्जित पापो के कारण) पापी माना जाता है, यह जानकर (यथावस्थित पदार्थवेत्ता) मुनि मद नही करता।

१३२. बहुमायिक एव मोह से प्रावृत (आच्छादित) ये प्रजाएँ (विभिन्न जाति के प्राणी) अपने स्वच्छन्दाचार के कारण नरक आदि गतियो मे जाकर लीन (प्रविष्ट) होती हैं, किन्तु अहिसा महाव्रती महामाहन (कपट रहित कर्म के कारण मोक्ष अथवा सयम मे) प्रलीन होता है और शीत (अनुकूल) और उष्ण (प्रतिकूल) परीषहो को मन-वचन-काया से सहता है।

विवेचन—सामायिक-साधक के मौलिक आचारसूत्र—प्रस्तुत तीन गाथाओ मे शास्त्रकार ने सामायिक साधक के कुछ मौलिक आचारसूत्र बताये है—(१) वह ठण्डे (कच्चे-अप्रासुक) जल से घृणा (अरुचि) करता है, (२) किसी भी प्रकार का निदान (सासारिक पदार्थों की प्राप्ति का सकल्प) नही करता (३) कर्मबन्धन के कारणो से दूर हट जाता है, (४) गृहस्थ के भाजन (बर्तन) मे भोजन नही करता, (५) जीवन को क्षणभगुर (असस्कृत) जानकर मद (घमण्ड) नही करता, (६) स्वच्छन्दाचार, मायाचार एव मोह प्रवृत्ति के दुष्परिणाम जानकर इनसे रहित होकर सयमसाधना मे लीन रहता है, (७) अनुकूल-प्रतिकूल परीषहो को मन-वचन-काया से समभावपूर्वक सहता है।[२१]

सीओदगपडिदुगुञ्छिणो—शीतोदक—ठण्डे-अप्रासुक-सचित्त पानी के सेवन के प्रति जुगुप्सा—घृणा—अरुचि करने वाला। कैसा भी विकट प्रसग हो, साधु जरा-सा भी अप्रासुक जल-सेवन करना पसन्द नही करता क्योकि जल-जीवो की विराधना को वह आत्म-विराधना समझता है।

अपडिण्णस्स—प्रतिज्ञा—किसी भी अभीष्ट मनोज्ञ इहलौकिक-पारलौकिक विषय को प्राप्त करने का निदान रूप सकल्प (नियाणा) न करने वाला साधु।

'लवावसक्किणो'—शब्द का अर्थ है—लेशमात्र कर्मबन्धन से भी दूर रहने वाला। वृत्तिकार सम्मत पाठान्तर है—**लवावसप्पिणो**। व्याख्या की है—**लव कर्म तस्मात् अवसर्पिण यदनुष्ठानं कर्मबन्धोपादानरूप तत्परिहारिण इत्यर्थ**। अर्थात्—लव कहते है कर्म को, उससे अलग हट जाने वाला, अर्थात् जो कार्य कर्मबन्धन का कारण है, उसे जानते ही तुरन्त छोड देने वाला। वह लेशमात्र भी कर्मबन्धन के कारण के पास नही फटकता।[२२]

'गिहिमत्तेऽसणं न भुंजती'—गृहस्थ के बर्तनो मे भोजन नही करता। दशवैकालिक सूत्र मे साधु को गृहस्थ के बर्तन मे भोजन करने का निषेध निम्नोक्त कारणो से किया है—(१) पश्चात्कर्म और पुर कर्म की सम्भावना है, (२) बर्तनो को गृहस्थ द्वारा सचित्त जल से धोने और उस धोए हुए

२१ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ६६ का साराश
(ख) सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या ३५५-३५७ के आधार पर

२२ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ६६
(ख) सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ३५५ के आधार पर
(ग) सूत्रकृताग चूर्णि (मू० पा० टि०) पृ० २३

पानी को अयतनापूर्वक फेंकने से प्राणियो की हिंसा होती है, (३) गृहस्थ के कासे आदि के बर्तनो मे भोजन करने वाला श्रमण आचारभ्रष्ट हो जाता है। यही कारण है कि गृहस्थ के बर्तन मे भोजन आदि करने से समत्वयोग भग होता है।[२३]

इति संखाय मुणी ण मज्जती—जीवन को क्षणभगुर जानकर भी धृष्टतापूर्वक बेखटके पापकर्म मे प्रवृत्त होने वाले पापीजनो को जान-देखकर तत्त्वज्ञ मुनि किसी प्रकार का मद-- घमण्ड नही करता। इसका अर्थ वृत्तिकार ने किया है—ऐसी स्थिति मे मुनि के लिए ऐसा मद करना (अभिमान या घमण्ड करना) पाप है कि इन बुरे कार्य करने वालो मे मैं ही सत्कार्य करने वाला हूँ, मै ही धर्मात्मा हूँ, अमुक मनुष्य तो पापी है, मै उच्च क्रियापात्र हूँ, ये सब तो शिथिलाचारी है। असन्ध्येय—असस्कृत जिन्दगी मे मानव किस बूते पर अभिमान कर सकता है?"

अथवा इस पक्ति का आशय यह भी हो सकता है--आयुष्य के क्षण नष्ट होते ही जीवन समाप्त हो जाता है, किसी का भी जीवन स्थायी और आयुष्य के टूटने पर जुडने वाला नही है, फिर कोई भी तत्त्वज्ञ विचारशील मुनि अपने पद, ज्ञान, विद्वत्ता, वक्तृत्वकला, तपश्चरणशक्ति, या अन्य किसी लब्धि-उपलब्धि या योग्यता विशेष का मद (अभिमान) कैसे कर सकता है?

"छदेण पले इमा पया वियडेंण पलेंति माहणे"—इस पक्ति का आशय यह है कि अज्ञ-प्रजाजन अपने-अपने स्वच्छन्द आचार-विचार के कारण, तथा मायाप्रधान आचार के कारण मोह से—मोहनीय कर्म से आवृत्त होकर नरकादि गतियो मे जाते है। स्वत्वमोह से उनकी बुद्धि आवृत्त हो जाने से वे लोग **'अग्निष्टोमीयं पशुमालभेत'** इत्यादि श्रुति वाक्यो को प्रमाण रूप मे प्रस्तुत करके देवी-देवो के नाम से या धर्म के नाम से बकरे, मुर्गे आदि पशु-पक्षियो की बलि करते है। इसे वे यज्ञ—अभीष्ट कल्याण साधक मानते है। कई विभिन्न यज्ञो मे अश्व, गौ, मनुष्य आदि को होमने का विधान करते हैं। कई मोहमूढ लोग अपने धर्मसघ, आश्रम, मन्दिर, सस्था या जाति आदि की रक्षा के नाम पर दासी-दास अथवा पशु तथा धनधान्य आदि का परिग्रह करते हैं। भोले-भाले लोगो को अपनी ओर आकर्षित करने हेतु तथा क्रियाकाण्डो का सब्जबाग दिखाकर उनसे धन-साधन आदि बटोरने-ठगने के लिए बाह्य शौच को धर्म बताकर शरीर पर बार-बार पानी छीटने, स्थान को बार-बार धोने, बर्तनो को बार-बार रगडने तथा कान का स्पर्श करने आदि मायाप्रधान वचनात्मक प्रवृत्ति करते हैं, और उसी का समर्थन करते हुए वे कहते हैं—

---

२३ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ६६
(ख) तुलना कीजिए—
कसेसु कसपाएसु कुण्डमोएसु वा पुणो।
भुजतो असणपाणाइ, आयारा परिभस्सइ॥
सीओदगसमारभे, मत्तधोयण-छड्डणे।
जाइ छन्नति भूयाइ, दिट्ठो तत्थ असजमो॥
पच्छाकम्म पुरेकम्म सिया तत्थ न कप्पई।
एयमट्ठ न भुजति निग्गथा गिहिभायणे॥ —दसवेआलिय (मुनि नथमलजी) अ० ६, गा० ५०, ५१, ५२

"कुक्कुटसाध्यो लोको, नाकुक्कुटतः प्रवर्त्तते किंचित् ।
तस्माल्लोकस्यार्थे स्वपितरमपि कुक्कुटं कुर्यात् ॥

अर्थात्—'यह ससार कपट से ही साधा (वश मे किया) जाता है, बिना कपट किए जरा-सा भी लोक-व्यवहार नही चल सकता। इसलिए लोक-व्यवहार के लिए व्यक्ति को अपने पिता के साथ भी कपट करना चाहिए। जो भी हो, स्वेच्छाचार और मायाचार, उसके कर्त्ता को नरकादि दुर्गतियो मे ले डूबते है। अत सामायिक साधक महामुनि को कपटाचार एव स्वैराचार का दुष्परिणाम बताकर सावधान करते हुए शास्त्रकार कहते है—वह इस मायाचार एव स्वच्छन्दाचार से बचकर वीतरागोक्त शास्त्रविहित साध्वाचार मे या मोक्ष प्रदायक सयम मे लीन रहे।[२४]

'वियडेंण पलेंति' का अर्थ—**प्रकटेनाऽमायेन कर्मणा मोक्षे संयमे वा प्रकर्षेण**—कई बार सरल निश्चल एव चमत्कार, आडम्बर आदि से रहित सीधे-सादे साधु को विवेक-विकल लोग समझ नही पाते, उसकी अवज्ञा, अपमान एव तिरस्कार कर बैठते हैं। कई बार गृहस्थ लोग अपने पुत्र धनादि प्राप्ति या रोग निवारण इत्यादि स्वार्थों के लिए तपस्वी सयमी साधु के पास आते है। उसके द्वारा कुछ भी न बतलाने या प्रपच न करने पर वे लोग उसे मारते-पीटते हैं या उसे बदनाम करके गाँव से निकाल देते है। अपशब्द भी कहते है। ऐसी स्थिति मे समतायोगी साधु को क्या करना चाहिए? इसके लिए शास्त्रकार कहते है—**सीउण्ह वयसाऽहियासए**—शीत या उष्ण परीषह या उपसर्ग वचन एव उपलक्षण से मन और शरीर से समभावपूर्वक सहने चाहिए। शीत और उष्ण शब्द यहाँ अनुकूल और प्रतिकूल परीषह या उपसर्ग के द्योतक है।[२५]

चूर्णिकार **'छन्देण पलेतिमा पया'** के बदले **'छण्णेण पलेतिया पया'** पाठान्तर मानकर **छण्णेण** का अर्थ करते है—**'छण्णेणेति डम्भेणोवहिणा वा'**—छन्न अर्थात् गुप्त—मायालिप्त, दम्भ या उपधि (कपट) के कारण।[२६]

अनुत्तरधर्म और उसकी आराधना

१३३. कुजए अपराजिए जहा, अक्खेहिं कुसलेहिं दिव्वयं ।
कडमेव गहाय णो कलिं, नो तेयं नो चेव दावरं ॥ २३ ॥

१३४. एवं लोगंमि ताइणा, बुइएऽयं धम्मे अणुत्तरे ।
तं गिण्ह हितं ति उत्तमं, कडमिव सेसऽवहाय पंडिए ॥ २४ ॥

---

२४ (क) सूत्रकृतांग शीलाकवृत्ति, पत्रांक ३४६ के आधार पर
(ख) सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० २६६ के आधार पर

२५ सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ३७५ के आधार पर

२६ सूयगडग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० २४

१३५. उत्तर मणुयाण आहिया, गामधम्मा इति मे अणुस्सुत ।
जसी विरता समुट्ठिता, कासवस्स अणुधम्मचारिणो ।। २५ ।।

१३६. जे एय चरति आहियं, नातेण महता महेसिणा ।
ते उट्ठित ते समुट्ठिता, अन्नोन्न सारेंति धम्मओ ।। २६ ।।

१३७. मा पेह पुरा पणामए, अभिकखे उवहिं धुणित्तए ।
जे दूवणतेहिं णो णया, ते जाणंति समाहिमाहिय ।। २७ ।।

१३८. णो काहिए होज्ज सजए, पासणिए ण य सपसारए ।
णच्चा धम्म अणुत्तर, कयकिरिए य ण यावि मामए ।। २८ ।।

१३९. छण्ण च पसस णो करे, न य उक्कास पगास माहणे ।
तेसि सुविवेगमाहिते, पणया जेहि सुझोसित धुय ।। २९ ।।

१४०. अणिहे सहिए सुसवुडे, धम्मट्ठी उवहाणवीरिए ।
विहरेज्ज समाहितिदिए, आयहिय खु दुहेण लब्भई ।। ३० ।।

१४१ ण हि णूण पुरा अणुस्सुत, अदुवा त तह णो समुट्ठिय ।
मुणिणा सामाइयाहित, णाएणं जगसव्वदसिणा ।। ३१ ।।

१४२. एव मत्ता महंतर, धम्ममिण सहिता बहू जणा ।
गुरुणो छदाणुवत्तगा, विरता तिन्न महोघमाहित ।। ३२ ।।

-ति बेमि ।।

१३३ कभी पराजित न होने वाला चतुर जुआरी (कुजय) जैसे कुशल पासो से जुआ खेलता हुआ कृत नामक चतुर्थ स्थान को ग्रहण करता है, कील को नही, (इसी तरह) न तो तृतीय स्थान (त्रेता) को ग्रहण करता है, और न ही द्वितीय स्थान (द्वापर) को ।

१३४ इसी तरह लोक मे जगत् (षड्जीवनिकायरूप) के त्राता (रक्षक) सर्वज्ञ के द्वारा कथित जो अनुत्तर (सर्वोत्तम) धर्म है, उसे वैसे ही ग्रहण करना चाहिए, जैसे कुशल जुआरी शेष समस्त स्थानो को छोडकर कृत नामक स्थान को ही ग्रहण करता है, क्योकि वही (धर्म) हितकर एव उत्तम है ।

१३५ मैने (सुधर्मा स्वामी ने) परम्परा से यह सुना है कि ग्राम-धर्म (पाँचो इन्द्रियो के शब्दादि विषय अथवा मैथुन सेवन) इस लोक मे मनुष्यो के लिए उत्तर (दुर्जेय) कहे गये है । जिनसे विरत (निवृत्त) तथा सयम (सयमानुष्ठान) मे उत्थित (उद्यत) पुरुष ही काश्यपगोत्रीय भगवान् ऋषभदेव अथवा भगवान् महावीर स्वामी के धर्मानुयायी साधक है ।

१३६ जो पुरुष महान् महर्षि ज्ञातपुत्र के द्वारा कथित इस धर्म का आचरण करते है, वे ही मोक्षमार्ग मे उत्थित (उद्यत) हैं, और वे सम्यक् प्रकार से समुत्थित (समुद्यत) है, तथा वे ही धर्म से (विचलित या भ्रष्ट होते हुए) एक-दूसरे को सँभालते हैं, पुन· धर्म मे स्थिर या प्रवृत्त करते है।

१३७. पहले भोगे हुए शब्दादि विषयो (प्रणामको) का अन्तर्निरीक्षण या स्मरण मत करो। उपधि (माया या अष्टविध कर्म-परिग्रह) को धुनने—दूर करने की अभिकाक्षा (इच्छा) करो। जो दुर्मनस्को (मन को दूषित करने वाले शब्दादि विषयो) मे नत (समर्पित या आसक्त) नही है, वे (साधक) अपनी आत्मा मे निहित समाधि (राग-द्वेष से निवृत्ति या धर्मध्यानस्थ चित्तवृत्ति) को जानते है।

१३८ सयमी पुरुष विरुद्ध काथिक (कथाकार) न बने, न प्राश्निक (प्रश्नफल वक्ता) बने, और न ही सम्प्रसारक (वर्षा, वित्तोपार्जन आदि के उपाय निर्देशक) बने, न ही किसी वस्तु पर ममत्ववान् हो, किन्तु अनुत्तर (सर्वोत्कृष्ट) धर्म को जानकर सयमरूप धर्म-क्रिया का अनुष्ठान करे।

१३९ माहन (अहिंसाधर्मी साधु) माया और लोभ न करे, और न ही मान और क्रोध करे। जिन्होने धुत (कर्मों के नाशक—सयम) का अच्छी तरह सेवन—अभ्यास किया है, उन्ही का सुविवेक (उत्कृष्ट विवेक) प्रसिद्ध हुआ है, वे ही (अनुत्तर धर्म के प्रति) प्रणत—समर्पित है।

१४० वह अनुत्तर-धर्मसाधक किसी भी वस्तु की स्पृहा या आसक्ति न करे, ज्ञान-दर्शन-चारित्र की वृद्धि करने वाले हितावह कार्य करे, इन्द्रिय और मन को गुप्त—सुरक्षित रखे, धर्मार्थी तपस्या मे पराक्रमी बने, इन्द्रियो को समाहित—वशवर्ती रखे, इस प्रकार सयम मे विचरण करे, क्योकि आत्महित (स्वकल्याण) दु ख से प्राप्त होता है।

१४१ जगत् के समस्त भावदर्शी ज्ञातपुत्र मुनिपु गव भगवान् महावीर ने जो सामायिक आदि का प्रतिपादन किया है, निश्चय ही जीवो ने उसे सुना ही नही है, (यदि सुना भी है तो) जैसा (उन्होने) कहा, वैसा (यथार्थरूप से) उसका आचरण (अनुष्ठान) नही किया।

१४२ इस प्रकार जानकर सबसे महान् (अनुत्तर) अर्हद्धर्म को मान (स्वीकार) करके ज्ञानादिरत्नत्रय–सम्पन्न गुरु के छन्दानुवर्ती (आज्ञाधीन या अनुज्ञानुसार चलने वाले) एव पाप से विरत अनेक मानवो (साधको) ने इस विशालप्रवाहमय ससारसागर को पार किया है, यह भगवान् महावीर स्वामी ने कहा है।

—ऐसा मै तुमसे कहता हूँ।

विवेचन—अनुत्तरधर्म और उसकी आराधना के विविध पहलू—सूत्रगाथा १३३ से १४२ तक दस सूत्रो मे शास्त्रकार ने तीर्थंकरो द्वारा प्रतिपादित अनुत्तरधर्म का माहात्म्य और उसकी विविध प्रकार से आराधना की प्रक्रिया बतायी है। प्रथम दो सूत्र गाथाओ मे अनुत्तर धर्म की महत्ता और उपादेयता कुशल दुर्जेय जुआरी की उपमा देकर समझायी है। तदनन्तर अनुत्तरधर्म की साधना के अधिकारी कौन हो सकते है? इसके लिए दो अर्हताएँ बतायी है—(१) जो दुर्जेय ग्रामधर्म (शब्दादि विषय या काम) से निवृत्त हैं, तथा (२) जो मोक्षमार्ग मे उत्थित-समुत्थित है। इसके बाद चार सूत्रगाथाओ (१३७ से १४० तक) मे अनुत्तरधर्म के आराधक के लिए निषेध-विधान के रूप मे कुछ आचारधाराएँ बतायी है—

(१) वह पूर्वभुक्त शब्दादि विषयो का स्मरण न करे, (२) अष्टविध कर्मपरिग्रह या माया

(उपधि) को दूर करने की अभिकांक्षा करे, ताकि समाधि के दर्शन कर सके, (३) आत्महित-विरुद्ध कथा करने वाला न बने, (४) न प्राश्निक (प्रश्नो का फलादेश बताने वाला) बने, और (५) न सप्रसारक (अपने व्यक्तित्व का प्रसार (प्रसिद्धि) करने हेतु धनादि के सम्बन्ध मे उपाय निर्देशक) बने, (६) किसी भी वस्तु पर ममता न रखे, (७) अनुत्तरधर्म को जानकर सयम साधक क्रिया करे, (८) क्रोध, मान, माया और लोभ का परित्याग करे, (९) कर्मनाशक सयम (धुत) का सम्यक् अभ्यास करे, (१०) अनुत्तरधर्म के प्रति सर्वथा प्रणत—समर्पित हो, ताकि उसका सुविवेक जागृत हो, (११) ससार के सभी सजीव-निर्जीव पदार्थों के प्रति अनासक्त, निरपेक्ष एव निरीह रहे, (१२) ज्ञानादि की वृद्धि वाले हित कार्य करे, (१३) इन्द्रियो और मन को अशुभ मे जाने से बचाए—गुप्त रखे, (१४) धर्मार्थी बने, (१५) तपस्या मे पराक्रमी हो, (१६) इन्द्रियाँ वश मे रखे, (१७) प्रतिक्षण सयम मे विचरण करे, ताकि आत्महित सिद्ध हो।

यह धर्म अनुत्तर और उपादेय क्यो?—प्रश्न होता है—यही धर्म अनुत्तर (सर्वश्रेष्ठ) क्यो है ? दूसरे क्यो नही ? इसके लिए दो विशेषताएँ यहाँ बताई गयी है—(१) यह लोक मे ज्ञाता सर्वज्ञ वीतराग द्वारा कथित है, (२) यह आत्मा के लिए हितकर है। इसी कारण चतुर अपराजेय जुआरी जैसे जुए के अन्य पाशो को छोडकर कृत नामक पाशो को ही ग्रहण करता है, वैसे ही जिन-प्रवचन कुशल साधु को भी गृहस्थ, कुप्रावचनिक और पार्श्वस्थ आदि के धर्मो को छोडकर सर्वज्ञ वीतरागोक्त सर्वोत्तम, सर्व महान्, सर्वहितकर, सार्वभौम, दशविध श्रमण धर्म रूप या श्रुत-चारित्र रूप अनुत्तर धर्म का ग्रहण करना चाहिए।

'उत्तर मणुयाण आहिया, गामधम्मा' इस वाक्य का आशय यह है कि ग्राम इन्द्रिय समूह का धर्म-विषय (स्वभाव), और इन्द्रिय-विषय ही काम है। काम मनुष्यो के लिए उत्तर प्रधान या दुर्जेय कहे गये है। **'उत्तर'** का अर्थ यो तो प्रधान होता है, किन्तु लक्षणा से यहाँ वृत्तिकार ने इसका अर्थ 'दुर्जेय' किया है। सयमी पुरुषो को छोडकर काम प्राय सभी प्राणियो पर हावी हो जाता है, इसलिए यह दुर्जेय है। काम मे सर्वेन्द्रिय-विषयो का एव मैथुन के अगो का समावेश हो जाता है।

इति मे अणुस्सुत—इसका आशय यह है कि गणधर श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्य श्री जम्बू-स्वामी आदि से कहते हैं—ऐसा मैने कर्णोपकर्ण सुना है। अर्थात् जो पहले कहा गया है और आगे कहा जायेगा, यह सब आदितीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने अपने पुत्रो से कहा था, इसके पश्चात् मैने (आर्य सुधर्मा ने) भगवान् महावीर से सुना था।

'ज सि विरता समुट्ठिता अणुधम्मचारिणो'—इस पक्ति से श्री सुधर्मास्वामी का यह आशय प्रतीत होता है कि यद्यपि काम दुर्जेय है, तथापि जो पवित्रात्माएँ आत्मधर्म को तथा आत्मशक्तियो को सर्वोपरि जान-मानकर सयम-पथ पर चलने के लिए कटिबद्ध है, उनके लिए काम-विजय दुष्कर नही है। वास्तव मे वे ही साधक भगवान् ऋषभदेव या भगवान् महावीर के धर्मानुगामी है।

'अणुधम्मचारिणो'—आचाराग आदि मे अणुधम्म (अनुधर्म) का अर्थ है—पूर्व तीर्थंकरो द्वारा आचरित धर्म का अनुगमन-अनुसरण। पाली शब्द-कोष मे अनुधर्म का अर्थ किया गया है—धर्म के अनुरूप—धर्म-सम्मत। बौद्धग्रन्थ **'सुत्तपिटक'** मे भी **अनुधम्मचारिनो'** शब्द का यही अर्थ आता है।[२७]

---

२७ भगवतो सावका वियत्ता विनीता विसारदा अनुधम्मचारिनो —सुत्तपिटके उदान पृ १३८

आहियं नातेणं महता महेसिया—वृत्तिकार और चूर्णिकार दोनो ने इस पंक्ति का अर्थ किया है—"ज्ञातेन ज्ञातपुत्रेण, ज्ञातकुलीयेन ज्ञातृत्वेऽपि सति राजसूनुना केवलज्ञानवेत्ता वा, महेय त्ति-महाविषयस्य ज्ञानस्यानन्त्यभूतत्वान्महान् तेन तथाऽनुकूल-प्रतिकूलोपसर्ग-सहिष्णुत्वान्महर्षिणा"—अथवा ज्ञात के द्वारा यानी ज्ञातपुत्र द्वारा, ज्ञातकुलोत्पन्न के द्वारा, राजपुत्र होने से ज्ञातृकुलत्व होने पर भी केवलज्ञान सम्पन्न द्वारा महाविषयरूप ज्ञान के अनन्त होने से भगवान् महान् थे, अतः उस महान् के द्वारा तथा अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्ग सहिष्णु होने से वे महर्षि थे, अत महर्षि द्वारा जो (अनुत्तरधर्म) कहा गया है।"

अन्नोन्नं सारेंति धम्मओ—अन्योन्य—परस्पर, धर्मत यानी धर्म से सम्बन्धित या धर्म से भ्रष्ट व्यक्ति को धर्म मे प्रेरित करते है।

कठिन शब्दों की व्याख्या—**पणामए**—दुर्गति या ससार की ओर प्राणियो को झुकाने वाले शब्दादि विषय। **उवहिं**—जिसके द्वारा आत्मा दुर्गति के समीप पहुचा दिया है, उसे उपधि कहते है, वह माया एव अष्टविध कर्म परिग्रह है। **काहिए**—जो कथा से आजीविका करता है, वह काथिक—कथाकार। आचाराग चूर्णिकार के अनुसार **'णो काहिए'** का अर्थ है—शृ गारकथा (शृ गार सम्बन्धी बात) न कहे। विरुद्ध कथा कहते है विकथा को। जिससे कामोत्तेजना भडके, भोजन लालसा बढे, जिससे युद्ध, हत्या, दगा, लडाई या वैमनस्य बढे तथा देश-विदेश के गलत आचार-विचारो के सस्कारो का बीजारोपण हो, ये चारो विकथाएँ है, ऐसा सयम-विरुद्ध कथाकार न बने। **पासणिए**—प्राश्निक वह है, जो गृहस्थो के व्यवहारो या व्यापार वगैरह या सतान आदि के विषय मे प्रश्नो का फल ज्योतिषी की तरह बताता हो। प्राश्निक का विशेष अर्थ आचाराग चूर्णि मे बताया गया है—स्वप्नफल या किसी स्त्री के विषय मे यह पूछने पर कि यह कला-कुशल या सन्तानवती होगी या नही ? इत्यादि प्रश्नो का फल बताने वाला साधु। **णो पासणिए** का अर्थ आचारागवृत्ति मे किया गया है—स्त्रियो के अगोपाग न देखे।[२६]

---

२६ कथया चरित कथिक प्रश्ननिमित्तरूपेण चरतीति प्राश्निक —सम्प्रसारक देववृष्टयर्थकाण्डादिसूचक कथा-विस्तारक । कृता स्वभ्यस्ता क्रिया सयमानुष्ठानरूपा येन स कृतक्रिय । तथाभूतश्च न चापि मामको—ममेदमहमस्य स्वामीत्येव परिग्रहाग्रही । —सूत्र० वृत्ति

(ख) कथयतीति कथक , पासणिओ-णाम गिहीण व्यवहारेषु प्रस्तुतेषु पणियगादिषु वा प्राश्निको ।
सपसारकोनाम सम्प्रसारक , तद्यथा—इम वरिस कि देवो वासिस्सति ण वेत्ति । कतकिरिओ—णाम कृत परै कर्म पुट्ठो अपुट्ठो वा भणति शोभनमशोभन वा मामको णाम ममीकार करेति ।
—सूत्रकृताग चूर्णि पृ० २५

तुलना – से णो काहिए, णो पासणिए, णो सपसारए, णो मामए, णो कतकिरिए ।"
—आचाराग श्रु० १, अ० ५, उ० ४, सू० १६५, पृ० १७३

(ग) से णो काहीए सिंगारकहा ण कहेयव्वा । पासणितत्तपि ण करेति । कयरी अम्ह सा भवति सुमडिता वा कलाकुसला वा । सपसारतो णामा उवसमतिआ । एरिसिया मम भाउज्जा, भइणी, भज्जा वा ममीकार करेइ । कतकिरियो णाम के ते किरिय करेइ अहो सोभसि न व सोभसि । —आचा० चूर्णि

(घ) से णो काहिए—स्त्रीसगपरित्यागी स्त्रीनेपथ्यकथा शृगारकथा वा नो कुर्यात् तथा नो पासणिए तासामङ्ग प्रत्यगादिक न पश्येत् । नो सपसारणाए ताभि न सम्प्रसारण पर्यालोचनमेकान्ते....कुर्यात् । णो मामए न तासु ममत्व कुर्यात् । णो कयकिरिए – कृता मण्डनादिका क्रिया येन स कृतक्रिय इत्येवभूतो न भूयात् । —आचाराग शीला० वृत्ति

संपसारए—वृत्तिकार के अनुसार—वर्षा आदि के लिए आरम्भजनक या आरम्भोत्तेजक कथा-विस्तारक सम्प्रसारक है। आचाराग चूर्णि के अनुसार—सम्प्रसारक का अर्थ मिथ्या सम्मति देने वाला है। वास्तव मे सम्प्रसारक वह है जो वर्षा, धन-प्राप्ति, रोग-निवारण आदि के लिए आरम्भ-समारम्भजनक उपाय बताये। आचारागवृत्ति में सम्प्रसारण का अर्थ किया गया है—स्त्रियो के सम्बन्ध मे एकान्त मे पर्यालोचन करना। **मामए**--वृत्तिकार के अनुसार—'यह मेरा है', मै इसका स्वामी हूँ, इस प्रकार का परिग्रहाग्रही मामक है। आचाराग चूर्णि के अनुसार—गृहस्थ के घर मे जाकर जो यह कहता है कि मेरी पत्नी ऐसी थी, मेरी भौजाई या मेरी बहन ऐसी थी, इस प्रकार जो मेरी-मेरी करता है, वह मामक है।' इस प्रकार ममत्व करने से उसके वियोग मे या न मिलने पर दुख होगा, उसकी रक्षा की चिन्ता बढेगी, उसके चुराये जाने या नष्ट होने पर भी आर्त्तध्यान होगा। ऐसा साधु व्यर्थ की आफत मोल ले लेता है।

कयकिरिए—वृत्तिकार के अनुसार—जिसने अच्छी तरह सयमानुष्ठान रूप क्रिया की है, वह कृतक्रिय है। परन्तु चूर्णिकार के अनुसार इसका अर्थ है जो दूसरो के द्वारा किये हुए कर्म के विषय मे पूछने या न पूछने पर अच्छा या बुरा बताता है, वह कृतक्रिय है। आचारागवृत्ति के अनुसार इसका अर्थ है—जिसने शृ गारादि या मण्डनादि क्रिया की है, वह कृतक्रिय है।[२९]

छण्णं—छन्न का अर्थ है गुप्त क्योकि उसमे अपने अभिप्राय को छिपाया जाता है। **पसस**—जिसकी सब लोग प्रशसा करते है, जिसे आदर देते है, उसे प्रशसा यानी लोभ कहते है। **उक्कोसं**- जो नीच प्रकृति वाले व्यक्ति को जाति आदि मदस्थानो द्वारा मदमत्त बना देता है, उसे उत्कर्ष—मान कहते है।

पगास--जो अन्तर मे स्थित होते हुए भी मुख आदि के विकारो से प्रकट हो जाता है, उसे प्रकाश—क्रोध कहते है।[३०]

तेसिं सुविवेगमाहिते—इसके दो अर्थ वृत्तिकार ने किये है--(१) उन कषायो का सम्यक् विवेक परित्याग आहित– उत्पन्न किया है, अथवा (२) उन्ही सत्पुरुषो का सुविवेक प्रसिद्ध हुआ है। **जेहिं सुझोसित धुय**--जिससे कर्मों का धूनन-क्षपण किया जाए, उसे धुत कहते हैं, वह है-- ज्ञानादि-रत्नत्रय या सयम अथवा ज्ञानादि या सयम जिनके द्वारा भलीभाँति सेवित - अभ्यस्त है, उन्हे 'सुजोषित' कहते है। **सहिए** के भी सस्कृत मे तीन अर्थ होते है - (१) जो हित सहित हो, वह सहित है, (२) ज्ञानादि से युक्त—सहित, (३) 'सहिए' का सस्कृत रूप —**स्वहित** मानने पर अर्थ होता है--जो सदनुष्ठान के कारण आत्मा का हितैषी हो।[३१] **महतर**—सब धर्मों मे महान् अन्तर रखने वाले धर्म-विशेष को अथवा कर्म के अन्तर को।

---

२९ देखिए टिप्पण २८, पृष्ठ १५३ पर

३० (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ६९
(ख) सूत्रकृताग चूर्णि (मूलपाठ टिप्पण) पृष्ठ २५

३१ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ६९-७०—
"सह हितेन वर्तत इति सहित , सहितो युक्तो वा ज्ञानादिभि , स्वहित आत्महितो वा सदनुष्ठान प्रवृत्ते ।"

जे दूवणतेहि णो णया—चूर्णिकार के अनुसार—दुष्प्रवृत्तियो-आरम्भपरिग्रहादि मे प्रणत—झुके हुए है, वे दूपनत—शाक्यादि धर्मानुयायी हैं, उनके धर्मों मे जो नत—झुके हुए नही है, अर्थात् उनके आचार के अनुसार प्रवृत्ति नही करते। वृत्तिकार के अनुसार—(१) दुष्ट धर्म के प्रति जो उपनत है—कुमार्गानुष्ठानकर्ता है। जो उनके चक्कर मे नही है। अथवा **'दूमणतेहिं'** पाठान्तर मानने से अर्थ होता है—मन को दूषित करने वाले जो शब्दादि विषय हैं, उनके समक्ष नत—दास नही है।[३२] **समाहिमाहियं**—(अपनी आत्मा मे) निहित स्थित राग-द्वेष परित्यागरूप समाधि या धर्मध्यानरूप समाधि को। **आयहिय खु दुहेण लब्भइ**—अर्थात् आत्महित की प्राप्ति बडी कठिनता से होती है। क्यो? इसका उत्तर वृत्तिकार देते है कि 'ससार मे परिभ्रमण करने वाले प्राणी को धर्माचरण किये बिना आत्म-कल्याण कैसे प्राप्त होगा ? गहराई से विचार करने पर इस कथन की यथार्थता समझ मे आ जावेगी, क्योकि सभी प्राणियो मे जगम (त्रस) प्राणी श्रेष्ठ है, उनमे भी पचेन्द्रिय जीव उत्कृष्ट है और पचेन्द्रिय प्राणियो से भी मनुष्यभव विशिष्ट है। मनुष्यभव मे भी आर्यदेश, फिर उत्तमकुल और उसमे भी उत्तम जाति, उसमे भी रूप, समृद्धि, शक्ति, दीर्घायु, विज्ञान (आत्मज्ञान), सम्यक्त्व, फिर शील यो उत्तरोत्तर विशिष्ट पदार्थ की प्राप्ति पदार्थ की प्राप्ति दुर्लभ होने से आत्महित का साधन दुर्लभतम है। इतनी घाटियाँ पार होने के बाद आत्महित की प्राप्ति सम्भव है, इससे आत्महित की दुष्प्राप्यता सहज ही जानी जा सकती है।

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

□

तइओ उद्देसओ

तृतीय उद्देशक

संयम से अज्ञानोपचित कर्म-नाश और मोक्ष

१४३. संवुडकम्मस्स भिक्खुणो, ज दुक्खं पुट्ठं अबोहिए।
तं संजमओऽवचिज्जइ, मरण हेच्च वयंति पडिता ॥१॥

१४३ अष्टविध कर्मों का आगमन जिसने रोक दिया है, ऐसे भिक्षु को अज्ञानवश जो दु ख (या दु खजनक कर्म) स्पृष्ट हो चुका है, वह (कर्म) (सत्रह प्रकार के) सयम (के आचरण) से क्षीण हो जाता है। (और) वे पण्डित मृत्यु को छोड (समाप्त) कर (मोक्ष को) प्राप्त कर लेते है।

विवेचन—मुक्तिप्राप्ति के लिए नवीन कर्मो के आस्रव का निरोध अर्थात् सवर पूर्वबद्ध कर्मो

---

३२ (क) जे दूवणतेहि णो णता—जे दुष्ट प्रणता दूपनता शाक्यादय, 'आरम्भ-परिग्रहेषु ये न नता।
—सू० कृ० चूर्णि० (मू० पा० टि०) पृ० २४

(ख) दुष्ट धर्मं प्रति उपनता दुरूपनता, कुमार्गानुष्ठायिनस्तीर्थिका, यदि वा दूमणत्ति दुष्ट मन कारिण विषया तेषु ये महासत्त्वा न नता' तदाचारानुष्ठायिनो न भवन्ति। —सूत्रकृ० शी० वृत्ति पत्राक ६२

का क्षय -निर्जरा अनिवार्य है। जिस साधक ने मिथ्यात्व आदि आस्रवो को रोक दिया है वह नवीन कर्मबन्ध नही करता किन्तु पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय हुए बिना तो मोक्ष प्राप्त नही हो सकता। प्रस्तुत गाथा मे उन कर्मों के क्षय का उपाय बतलाया गया है। सयम के द्वारा—जिसमे तपश्चर्या भी गर्भित है, पूर्वकर्मों का क्षय किया जाता है—इस सवर और निर्जरा द्वारा मुक्तिप्राप्ति का निरूपण किया गया है।

सयम से ही अज्ञानोपचित कर्मनाश और मोक्ष— प्रस्तुत मे समस्त कर्मों से रहित होकर मोक्ष प्राप्त कर लेने हेतु सयम की प्रेरणा दी गयी है।

कर्मों के आस्रव या बन्ध के कारण तथा प्रकार—कर्मो के आगमन द्वार एव बन्धन के कारण मुख्यतया पाँच है—(१) मिथ्यादर्शन, (२) अविरति, (३) प्रमाद, (४) कषाय और (५) योग। इन पाँचो आस्रवद्वारो से उपरति—विरति सयम है। कर्मबन्ध की चार अवस्थाएँ है (१) स्पृष्ट, (२) बद्ध, (३) निधत्त और (४) निकाचित। इसे कर्मग्रन्थ मे सूइयो का दृष्टान्त देकर समझाया गया है—किसी ने बिखरी हुई सूइयो को एकत्र कर दिया, ऐसा एकत्र किया हुआ ढेर आसानी से पृथक् हो सकता है। इसी प्रकार जो कर्म केवल स्पृष्ट रूप से बंधे हुए है, वे प्रतिक्रमण, आलोचना, निन्दा आदि के अल्प प्रयत्न से आत्मा से पृथक् हो जाते है। किसी ने उन सूइयो के ढेर को सूत के धागे से बाँध दिया जो परिश्रम से ही खुल जाता है, इसी प्रकार कुछ कर्म ऐसे बधते है, जो कुछ तप, सयम के परिश्रम से छूट जाते है, वे बद्धरूप मे बधे हुए होते है। किसी ने सूइयो के ढेर को तार से बाँध दिया, अब उस ढेर को खोलने मे काफी श्रम करना पडता है, इसी प्रकार निधत्त रूप मे बँधे हुए जिन कर्मों के कु ज को आत्मा से छुडाने मे कठोर तप-सयम का आचरण करना पडता है, और एक सूइयो का ढेर ऐसा है, जिसे आग मे गर्म करके एक लोहपिण्ड बना दिया गया है, उसमे सूइयो का अलग-अलग करना असम्भव है। इसी प्रकार जिन कर्मों को निकाचित रूप मे बाँध लिया है, सम्पूर्ण रूप से उन कर्मो का फल भोगे बिना अन्य उपायो से उनसे छुटकारा होना असम्भव है। प्रस्तुत मे '**दुक्ख पुट्ठ**' शब्द है, जिनका अर्थ वृत्तिकार ने किया है जो दु ख यानी, असाता-वेदनीय, उसके उपादान रूप अष्टविधकर्म स्पृष्ट रूप मे बंध गये है, अथवा उपलक्षण से बद्ध, स्पृष्ट एव निकाचित रूप से कर्म उपचित हुए है।[1]

'मरण हेच्च वयति' इस वाक्य का आशय यह है कि पुरुष सवृतात्मा है और वे मरण यानी मरणस्वभाव को तथा उपलक्षण से जन्म, जरा, मरण, शोक आदि के क्रम को छोड—मिटाकर मोक्ष मे चले जाते है।[2]

सयम के १७ भेद—(१-५) पृथ्वीकायादि पाच स्थावर-सयम, (६) द्वीन्द्रिय-सयम, (७) त्रीन्द्रिय सयम, (८) चतुरिन्द्रिय सयम, (९) पचेन्द्रिय सयम, (१०) अजीव सयम, (११) प्रेक्षासयम, (१२) उपेक्षा सयम, (१३) प्रमार्जना सयम, (१४) परिष्ठापना सयम, (१५) मन सयम, (१६) वचन सयम (१७) काय सयम।

दूसरी प्रकार से भी सयम के १७ भेद होते है—(१-५) हिसादि पाँच आस्रवो से (६-१०) स्पर्श, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र, इन पाँच इन्द्रियो को उनके विषयो की ओर से रोकना, (११-१४) क्रोध,

१ सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ६० के आधार पर

२ सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पृ० ६०

मान, माया और लोभ रूप चार कषायों का त्याग करना, (१५-१७) मन-वचन-काया की अशुभ-प्रवृत्ति रूप तीन दण्डो से विरति ।[3]

कामासक्ति-त्याग का उपदेश

१४४ जे विण्णवणाहिऽझोसिया, संतिण्णेहि समं वियाहिया ।
तम्हा उड्ढं ति पासहा, अद्दक्खू कामाइ रोगवं ।।२।।

१४५. अग्गं वणिएहिं आहियं, धारेंती राईणिया इहं ।
एवं परमा महव्वया, अक्खाया उ सराइभोयणा ।।३।।

१४६. जे इह सायाणुगा णरा, अज्झोववन्ना कामेसु मुच्छिया ।
किवणेण समं पगब्भिया, न वि जाणंति समाहिमाहियं ।।४।।

१४७. वाहेण जहा व विच्छते, अबले होइ गवं पचोइए ।
से अंतसो अप्पथामए, नातिवहति अबले विसीयति ।।५।।

१४८. एवं कामेसणं विदू, अज्ज सुए पयहेज्ज संथवं ।
कामी कामे ण कामए, लद्धे वा वि अलद्ध कण्हुई ।।६।।

१४९ मा पच्छ असाहुया भवे, अच्चेही अणुसास अप्पगं ।
अहियं च असाहु सोयती, से थणती परिदेवती बहु ।।७।।

१५०. इह जीवियमेव पासहा, तरुणए वाससयाउ तुट्टती ।
इत्तरवासे व बुज्झहा, गिद्धनरा कामेसु मुच्छिया ।।८।।

१४४ जो साधक स्त्रियो से सेवित नही है, वे मुक्त (ससार-सागर-सन्तीर्ण) पुरुषो के समान कहे गये है। इसलिए कामिनी या कामिनी-जनित कामो के त्याग से ऊर्ध्व—ऊपर उठकर (मोक्ष) देखो। जिन्होने काम-भोगो को रोगवत् देखा है, (वे महासत्त्व साधक भी मुक्त तुल्य है।)

१४५ जैसे इस लोक मे वणिको -व्यापारियो के द्वारा (सुदूर देशो से) लाये हुए (वा लाकर भेंट किये हुए) उत्तमोत्तम सामान (पदार्थ) को राजा-महाराजा आदि सत्ताधीश या धनाढ्य लेते है, या खरीदते है, इसी प्रकार आचार्यों द्वारा प्रतिपादित रात्रिभोजनत्यागसहित पाँच परम (उत्कृष्ट) महाव्रतो को कामविजेता श्रमण धारण—ग्रहण करते है।

---

३ (क) समवायाग, समवाय १७ देखिए

(ख) प्रवचनसारोद्धार द्वार, गाथा ५५५-५५६

१४६ इस लोक मे जो मनुष्य सुखानुगामी (सुख के पीछे दौडते) है, वे (ऋद्धि-रस-साता-गौरव) मे अत्यासक्त है, और काम-भोग मे मूच्छित है, वे दयनीय (इन्द्रियविषयो से पराजित) के समान काम-सेवन मे धृष्ट बने रहते हैं। वे कहने पर भी समाधि को नही समझते।

१४७ जैसे गाडीवान के द्वारा चाबुक मारकर प्रेरित किया हुआ बैल कमजोर हो जाता है, (अत. वह विषम—कठिन मार्ग मे चल नही सकता, अथवा उसे पार नही कर सकता।) आखिरकार वह अल्पसामर्थ्य वाला (दुर्बल बैल) भार वहन नही कर सकता, (अपितु कीचड आदि में फँसकर) क्लेश पाता है।

१४८ इसी तरह काम के अन्वेषण मे निपुण पुरुष, आज या कल मे कामभोगो का ससर्ग (एषणा) छोड देगा, (ऐसा सिर्फ विचार किया करता है, छोड नही सकता।) अत कामी पुरुष काम-भोग की कामना ही न करे, तथा कही से प्राप्त हुए कामभोग को अप्राप्त के समान (जाने, यही अभीष्ट है।)

१४९ पीछे (मरण के पश्चात्) दुर्गति (बुरी दशा) न हो, इसलिए अपनी आत्मा को (पहले से ही) विषय-सग से हटा लो, उसे शिक्षा दो कि असाधु (असयमी) पुरुष अत्यधिक शोक करता है, वह चिल्लाता है, और बहुत विलाप करता है।

१५० इस लोक मे अपने जीवन को ही देख लो, सौ वर्ष की आयु वाले मनुष्य का जीवन तरुणावस्था (युवावस्था) मे ही नष्ट हो जाता है। अत इस जीवन को थोडे दिन के निवास के समान समझो। (ऐसी स्थिति मे) क्षुद्र या अविवेकी मनुष्य ही काम-भोगो मे मूच्छित होते है।

विवेचन—कामासक्ति-त्याग की प्रेरणा—प्रस्तुत सात सूत्रगाथाओ (१४४ से १५० तक) मे विविध पहलुओ से कामभोगो की आसक्ति के त्याग की प्रेरणा दी गई है। वे प्रेरणासूत्र ये है—(१) कामवासना को व्याधि समझ कर जो कामवासना की जड-कामनियो से असेवित-असमक्त है, वे ही पुरुष मुक्ततुल्य है, (२) जैसे व्यापारियो द्वारा दूरदेश से लाई हुई उत्तमसामग्री को राजा आदि ही ग्रहण करते है, वैसे ही कामभोगो से ऊपर उठे हुए महापराक्रमी साधु ही रात्रिभोजन-विरमण व्रत-सहित पचमहाव्रतो को धारण करते है। (३) विषयसुखो के पीछे दौडने वाले त्रिगौरव मे आसक्त कामभोगो मे मूर्च्छितजन, इन्द्रियो के गुलाम के समान ढीठ होकर कामसेवन करते है, वे लोग समाधि का मूल्य नही समझते। (४) जैसे गाडीवान के द्वारा चाबुक मार-मारकर प्रेरित किया हुआ दुर्बल बैल चल नही सकता, भार भी नही ढो सकता और अन्त मे कही कीचड आदि मे फँसकर क्लेश पाता है, वैसे ही कामभोगो से पराजित मनोदुर्बल मानव भी कामैषणा को छोड नही सकता, काम-भोगो के कीचड मे फँसकर दु ख पाता है। (५) कामभोगो को छोडने के दो ठोस उपाय है—(१) कामभोगो की कामना ही न करे, (२) प्राप्त कामभोगो को भी अप्राप्तवत् समझे (६) मरणोपरान्त दुर्गति न हो, पीछे असयमी (कामी-भोगी) की तरह शोक, रुदन और विलाप न करना पड़े, इसलिए पहले से ही अपनी आत्मा को विषय सेवन से अलग रखो, उसे ठीक अनुशासित करो, और (७) जीवन अल्प-कालीन है यह देखकर अविवेकी मनुष्यो की तरह काम-भोगो मे मूर्च्छित नही होना चाहिए।[४]

---

४ सूत्रकृताग सूत्र मूलपाठ, शीलाकवृत्ति भाषानुवाद सहित भाग १, पृ० २७३ से २८० तक का सार।

कामिनीसंसर्गत्यागी मुक्तसदृश क्यों और कैसे ?—साधक को मुक्ति पाने मे सबसे बडी बाधा है—कामवासना। कामवासना जब तक मन के किसी भी कोने मे हलचल करती रहती है, तब तक मुक्ति दूर रहती है। और कामवासना की जड़ कामिनी है, वास्तव मे कामिनी का ससर्ग ही साधक मे कामवासना उत्पन्न करता है। कामिनी-ससर्ग जब तक नही छूटता, तब तक मनुष्य चाहे जितनी उच्च क्रिया कर ले, साधुवेश पहन ले, और घरबार आदि छोड दे, उसकी मुक्ति दूरातिदूर है। मुक्ति के निकट पहुँचने के लिए, दूसरे शब्दो मे ससारसागर को पार करने के लिए कामिनियो के काम-जाल से सर्वथा मुक्त-असमक्त रहना आवश्यक है। जो व्यक्ति कामवासना की जड कामिनियो के ससर्ग से सर्वथा दूर हैं, वे मुक्तसदृश हैं। इसीलिए शास्त्रकार कहते है— **"जे विण्णवणाहिऽझोसिया, सतिण्णेहि सम वियाणिया।"** यहाँ **'विण्णवणा'** (विज्ञापना) शब्द कामिनी का द्योतक है। जिसके प्रति कामीपुरुष अपनी कामवासना प्रकट करता है, अथवा जो कामसेवन के लिए प्रार्थना-विज्ञपना या निवेदन करती है, इस दृष्टि से कामिनी को यहाँ विज्ञापना कहा गया है। विज्ञापनाओ—कामिनियो से जो महासत्त्व साधक असंसक्त है, सन्तीर्ण—ससार-सागरसमुत्तीर्ण करने वाले मुक्त पुरुष के समान कहे गए है। यद्यपि उन्होने अभी तक संसारसागर पार नही किया, तथापि वे निष्किचन और कचनकामनी मे ससक्त होने मे ससारसागर के किनारे पर ही स्थित हैं।[५]

यहाँ मूल मे **'अझोसिया'** पाठ है, उसका वृत्तिकार अर्थ करते है—जो स्त्रियो से **"अजुष्टाः असेविता· क्षय वा अवसायलक्षणमतीता·"**—अर्थात्—अजुष्ट यानी असेवित हैं, अथवा जो कामिनियो द्वारा विनाशरूप क्षय को प्राप्न नही है। चूर्णिकार अर्थ करते है—**अझूषिता नाम अनाद्रियमाणा इत्यर्थः**—अर्थात्—जो कामिनियो द्वारा अभूषित—अनादृत है। तात्पर्य यह है कि जो काम और कामिनियो से इतने विरक्त है कि स्वय कामिनियाँ उनका अनादर करती है, उपेक्षा करती है, क्योकि उनका त्याग, रहन-सहन, वेशभूषा या चर्या ही ऐसी है कि कामिनियाँ उनसे कामवासना पूर्ति की दृष्टि से अपेक्षा ही नही करती, वे उनके पास आएँगी तो भी उनकी कामवासना भी उनके सान्निध्य प्रभाव से ही शान्त हो जाएँगी।[६]

'तम्हा उड्ढंति पासहा'—इस वाक्य का आशय यह है कि स्त्रीससर्गरूप महासागर को पार करने वाला, ससारसागर को लगभग पार कर लेता है, इस दृष्टि से कामिनीससर्ग से ऊपर उठकर देखो क्योकि कामनीससर्गत्याग के बाद ही मोक्ष का सामीप्य होता है। इस वाक्य के बदले **"उड्ढ तिरियं अहे तहा"** पाठ भी मिलता है जिसका **'अद्दक्खु कामाइ रोगवं'** पाठ के साथ सम्बन्ध जोडकर अर्थ किया जाता है—सौधर्म आदि ऊर्ध्व (देव) लोक, तिर्यक्लोक मे, एव भवनपति आदि अधोलोक मे भी कामभोग विद्यमान है, उन्हे जिन महासत्त्वो ने रोगसदृश जान-देख लिया, वे भी ससारसमुद्र से तीर्ण—मुक्त पुरुष के समान कहे गये हैं। इसी से मिलते-जुलते आशय का एक श्लोक वैदिक सम्प्रदाय मे प्रसिद्ध है—

> **"वेधा द्वेधा भ्रमं चक्रे, कान्तासु कनकेषु च ॥**
> **तासु तेष्वनासक्तः साक्षात् भर्गो नराकृतिः ॥"**

---

५ सूत्रकृतांग शीलाकवृत्ति पृ० ७०

६. (क) सूत्रकृतांग शीलाकवृत्ति ७०

(ख) सूयगडग चूर्णि (मूलपाठ टिप्पण) पृ० २६

अर्थात्—विधाता (कर्मरूपी विधाता) ने दो भ्रम (ससार परिभ्रमण के कारण) पैदा किये हैं—एक तो कामिनियो मे, दूसरा कनक मे। उन कामिनियो मे और उन धन-साधनो मे जो अनासक्त है, समझ लो मनुष्य की आकृति मे वह साक्षात् परमात्मा है।[७]

काम सामग्री के बदले मोक्ष सामग्री ग्रहण करना ही अभीष्ट—साधु-जीवन का उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति है, और मोक्ष प्राप्ति के लिए सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक, सम्यक्चारित्र का ध्यान करना आवश्यक है, किन्तु अगर कोई साधक इस तथ्य को भूलकर मोक्षसामग्री के लिए कामसामग्री (स्त्री तथा अन्य पचेन्द्रिय विषय आदि) इकट्ठी करने लगे, या इन्ही के चिन्तन मे रात-दिन डूबे रहे तो यह उसकी उच्चश्रेणी के अनुरूप नही है।[८] इसीलिए १४५वी गाथा मे कहा गया है- **'अग्गं वणिएहिं आहियं धराइ भोयणा'**। इसका तात्पर्य यह है कि व्यापारियो के द्वारा दूर देश से लाया हुआ उत्तम पदार्थ राजादि ले लेते है वैसे साधु आचार्यों द्वारा प्रतिपादित या प्रदत्त रात्रि-भोजन विरमण व्रत सहित पचमहाव्रतो को ही धारण करे। काम सामग्री को नही।[९]

काम-भोगों में आसक्त : समाधिसुख से अनभिज्ञ—शास्त्रकार ने इस गाथा १४६ के द्वारा उन लोगो की आँखे खोल दी है कि जो तुच्छ प्रकृति के लोग साधुवेष धारण करके भी परीषहो—उपसर्गों से घबराकर रात-दिन सुख-सुविधाओ के पीछे या वैषयिक सुखो की तलाश मे भाग-दौड करते रहते हैं वे अपनी समृद्धि (पद प्रसिद्धि एव धनिक भक्तो द्वारा पूजा-प्रतिष्ठा), रस (स्वाद) एव साता (सुख-सुविधाओ) के अहकार (गौरव) मे डूबे हुए तथा काम-भोगो मे इतने आसक्त रहते है कि उन्हे समाधि के परम सुख को जानने-समझने की भी परवाह नही रहती। इसे ही शास्त्रकार कहते है- **"जे इह सायणुगा" समाहिमाहियं।"** इसके द्वारा शास्त्रकार यह कहना चाहते है कि सुख भोगो के पीछे पड-कर वास्तविक सुख और बहुमूल्य जीवन को नष्ट कर डालना बुद्धिमानी नही है। काम, कामनाओ या सुख-सुविधाओ के पीछे दीवाने बन श्वेत वस्त्र सम अपने सयम को मलिन बनाने से सारी ही मोक्ष सुख-साधना चौपट हो जाती है।[१०]

काम-भोगो की चाट छूटती नहीं—जैसे मरियल बैल चाबुको की मार खाकर भी विषम मार्ग मे चल नही पाता, भार ढो नही सकता और अन्त मे वह कीचड आदि मे फँसकर दुःख पाता है, वैसे ही काम-भोगो का गुलाम और दुर्बल मन का साधक गुरुवचनो की फटकार पडने पर भी परीषहादि सहन रूप विषम मार्ग मे चल नही पाता नाम की एषणा छोड न पाने के कारण वह सयम का भार ढो नही सकता और अन्त मे शब्दादि विषय-भोगो के कीचड मे फँसकर दुःखी होता है। यही तथ्य

---

७ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पृ० ७१ मे उद्धृत

८ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पृ० ७१ के आधार पर

९ इस गाथा की व्याख्या मे चूर्णिकार ने दो मतो का उल्लेख किया है—पूर्व मे रहने वाले आचार्यों के मत का एव पश्चिम दिशा मे रहने वाले आचार्यों के मत का। सम्भव है—चूर्णिकार का तात्पर्य पूर्व दिशागत मथुरा या पाटलिपुत्र के सम्बन्ध से स्कन्दिलाचार्य आदि से एव पश्चिम दिशागत वल्लभी के सम्बन्ध से नागार्जुन या देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण आदि से हो। —जैन साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग १, पृ० १४१

१० सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पृ० ७१

(१४७-१४८) द्वय मे बताया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि काम-भोगो के चक्कर मे पडने वाला साधक इस भ्रम मे न रहे कि मैं कुछ दिनो बाद ही जब चाहे तब इसे छोड दूँगा, बल्कि एक बार काम-भोगो की चाट लग जाने पर शास्त्र चाहे कितनी ही प्रेरणा देते रहे, गुरुजन आदि चाहे जितनी शिक्षाएँ दे, उसे फटकारे तो भी वह चाहता हुआ भी काम-भोगो की लालसा को छोड नही सकेगा।

काम-भोगों के त्याग के ठोस उपाय—दो ही उपाय हैं कामभोगो की आसक्ति से छूटने के—(१) कामी काम-भोगो की कामना ही न करे, (२) प्राप्त कामभोगो को अप्राप्त के समान समझे, उनसे बिलकुल उदासीन रहे। "**कामी कामे ण अलद्धे कण्हुई।**" इस पक्ति का आशय यह है कि अगर कोई साधक अपने पूर्व (गृहस्थ) जीवन मे कदाचित् काम से अतृप्त रहा हो तो उसे काम-सेवन के दुष्परिणामो पर विचार करके साधु-जीवन में वज्रस्वामी या जम्बूस्वामी की तरह मन मे काम-भोगो की जरा भी कामना-वासना न रखनी चाहिए। स्थूलभद्र एव क्षुल्लककुमार की तरह किसी भी निमित्त से प्रतिबद्ध साधक कदाचित् पूर्व जीवन मे कामी रहा हो, तो उसे पूर्वभुक्त कामभोगो का कदापि स्मरण नही करना चाहिए, और कदाचित् कोई इन्द्रिय-विषय (काम) प्राप्त भी हो जाये तो नही मिले के समान जानकर उसके प्रति निरपेक्ष, नि स्पृह एव उदासीन रहना चाहिए।[11]

काम-त्याग क्यो ?—साधु को काम-त्याग क्यो करना चाहिए ? इसके लिए शास्त्रकार गाथा-द्वय द्वारा दो प्रबल युक्तियो से काम-त्याग की अनिवार्यता समझाते है—(१) मृत्यु के बाद अगले जन्म मे दुर्गति न हो, वहाँ की भयकर यातनाएँ सहनी न पडे, वहाँ असयमी की तरह रोना-पीटना न पडे। (२) इसी जन्म मे देखो न, सौ वर्ष की आयु वाला मानव जवानी मे ही चल बसता है, अत इस अल्प-कालिक जीवन मे अविवेकी मानव की भाँति कामभोग मे मूर्च्छित हो जाना ठीक नही है।

'मा पच्छा असाधुता भवे परिवेवती बहु' एव **'इह जीवियमेव पासहा⋯कामेसु मुच्छिया'** इन दोनो गाथाओ द्वारा साधक को कामभोगो के त्याग की प्रेरणा देने के पीछे पहली युक्ति यह है कि कामभोगो मे जो भ्रमवश सुख मानते है, वे उनके भावी दुष्परिणामो पर विचार करे कि क्षणिक कामसुख कितने भयकर चिरकालीन दु ख लाता है, जिन्हे मनुष्य को रो-रोकर भोगना पडता है। काम-भोगो को शास्त्रो मे किंपाकफल की उपमा देकर समझाया है कि किंपाकफल जैसे दिखने मे सुन्दर, खाने मे मधुर एव सुगन्ध सुरस से युक्त होता है, परन्तु उसके खाने पर परिणाम मृत्यु रूप मे आता है, वैसे ही ये कामभोग आपात रमणीय, उपभोग करने मे मधुर एव सुहावने लगते है, परन्तु इनका परिणाम दुर्गति गमन अवश्यम्भावी है, जहाँ नाना प्रकार की यातनाएँ सहनी पडती है। इसीलिए उत्तराध्ययनसूत्र मे कहा गया है—

---

११ (क) चूर्णिकार १४७वी सूत्रगाथा—'से अतसो विसीयति' का पाठान्तर—'से अतए अप्पथामए णातिचए अवसे विसीदति' मानकर कहा है—'से अतए—अन्त्यायामपि अवस्थाया अन्तश णातिचए—ण सक्केति, अवसे विसीदति एव। सोवि सयमादि निरुद्यम। अर्थात् वह (मरियल बैल) अन्तिम अवस्था मे भी अल्प सामर्थ्य होने से बोझ नही ढो सकता, न विषम मार्ग मे चल सकता है, अत विवश होकर दु ख पाता है। इसी प्रकार साधु भी सयमादि मे निरुद्यम हो जाता है।

—सूत्रकृताग चूर्णि (मूलपाठ टिप्पण) पृ० २७

(ख) सूत्रकृताग शीलांकवृत्ति पृ० ७१ के आधार पर

"सल्लं कामा, विसं कामा, कामा आसीविसोपमा।
कामे पत्थेमाणा अकामा जंति दुग्गइं॥"

अर्थात्—ये काम शल्य के समान है, काम विषवत् है, काम आशीविष सर्प तुल्य है, जो व्यक्ति कामभोगो की लालसा करते है, वे काम-भोग न भोगने पर भी, केवल कामभोग की लालसा मात्र से ही दुर्गति मे चले जाते है।

दूसरी युक्ति यह दी गयी है कि मनुष्य की जिन्दगी कितनी अल्प है? कई लोग जवानी मे और कई बचपन मे ही चल देते है। इतनी छोटी-सी अल्पकालीन जिन्दगी है, उसमे भी साधारण मनुष्यो की आयु सोपक्रमी (अकाल मे ही नष्ट होने वाली) होती है। वह कब, किस दुर्घटना से या रोगादि निमित्त से समाप्त हो जायेगी, कोई पता नही। ऐसी स्थिति मे कौन दूरदर्शी साधक अपनी अमूल्य, किन्तु अल्प स्थायी जिन्दगी को कामभोगो मे खोकर अपने आपको नरकादि दुर्गतियो मे डालना चाहेगा? वर्तमान काल मे मनुष्य की औसत आयु १०० वर्ष की मानी जाती है, वह भी अकाल मे ही नष्ट हो जाने पर बहुत थोडी रहती है। सागरोपम कालिक आयु के समक्ष तो यह आयु पलक झपकने समान है। जीवन की ऐसी अनित्यता, अस्थिरता एव अनिश्चितता जानकर क्षुद्र-प्रकृति के जीव ही शब्दादि कामभोगो मे आसक्त हो सकते है, बुद्धिमान साधक नही।

बुद्धिमान दूरदर्शी साधक को कामत्याग के लिए दो बातो की प्रेरणा दी है—**"अच्चेही अणुसास अप्पग।"** अर्थात्—(१) साधु को पहले से ही सावधान होकर इन कामभोगो से अपने आपको मुक्त (दूर) रखना चाहिए, और (२) कदाचित् पूर्वभुक्त कामभोग स्मृति-पट पर आ जाए या कभी काम-कामना मन मे उत्पन्न हो जाये तो अविलम्ब उस पर नियन्त्रण करना चाहिए, आत्मा को इस प्रकार अनुशासित (प्रशिक्षित) करना चाहिए—"हे आत्मन्! पहले ही हिसादि पापकर्मो के कारण पुण्यहीन हुआ है, फिर कामभोग-सेवन करके या कामभोगो की अभिलाषा करके क्यो नये कर्म बाँधता है? क्या इनका दुष्परिणाम नही भोगना पडेगा?" इस प्रकार मन मे काम का विचार आते ही उसे खदेड दे।[12]

कठिन शब्दो की व्याख्या—अग्ग—प्रधान या वरिष्ठ रत्न, वस्त्र, आभूषण आदि। **आहियं**—देशान्तर से लाये हुए। **राइणिया**—राजा या राजा के समान, सामन्त, जागीरदार आदि शासक। **अज्झोववन्ना**—समृद्धि, रस और साता इन तीन गौरवो मे गृद्ध आसक्त। **किवणेण सम पगब्भिया**—इन्द्रियो के गुलाम (इन्द्रियो से पराजित) होने के कारण दीन, बेचारे, दयनीय, इन्द्रियलम्पट के समान काम-सेवन मे ढीठाई धारण किए हुए। **समाहि**—धर्मध्यानादि, या मोक्ष सुख। **वाहेण जहा व**

---

१२ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ७२

(ख) सूयगडग चूर्णि मे 'तरुणए स दुब्बल वाससय तिउट्टति' इस प्रकार का पाठान्तर मानकर अर्थ किया गया है—"तरुणगो असम्पूर्णवया अन्यो वा कश्चित्, दुर्बल वाससय परमायु, ततो तिउट्टति।" अर्थात् तरुण का अर्थ है—अपूर्ण वय वाला अथवा और कोई, शतवर्ष की परमायु (उत्कृष्ट आयु) होने पर भी दुर्बल होने से बीच मे टूट जाती है। —सूत्रकृताग चूर्णि (मूल पाठ टिप्पण) पृ० २७

विच्छले—वृत्तिकार के अनुसार—'वाह' अर्थात् व्याध (शिकारी) जैसे मृगादि पशु विविध प्रकार के कूटपाश आदि से क्षत—घायल, परवश किया हुआ, या थकाया हुआ दुर्बल हो जाता है। दूसरा अर्थ है—'वाह यानी शाकटिक—गाड़ीवान, वह गाडी को ठीक से चलाने के लिए चाबुक आदि से प्रहार करके चलने को प्रेरित करता है। **अप्पथामए**—अल्पसामर्थ्य वाला। **कामेसणं विऊ**—कामभोगो के अन्वेषण मे विद्वान् (निपुण) पुरुष। **असाधुता**—कुगतिगमन आदि रूप दु:स्थिति—दुर्दशा। **सोयती**—शोक करता है। **थणति**—सिसकता है या सशब्द नि श्वास छोड़ता है। **परिदेवती**—विलाप करता है, बहुत रोता-चिल्लाता है। **वाससयाउ**—सौ वर्ष से। **इत्तरवासेव**—थोडे दिन के निवास के समान।[13]

आरम्भ एवं पाप में आसक्त प्राणियों की गति एवं मनोदशा

१५१. जे इह आरंभनिस्सिया, आयदंड एगंतल सगा।
गंता ते पावलोगयं, चिररायं आसुरियं दिस ॥९॥

१५२. ण य संखयमाहु जीवियं, तह वि य बालजणे पगब्भती।
पच्चुप्पन्नेण कारितं, के दट्ठु परलोगमागते ॥१०॥

१५१ इस लोक मे जो मनुष्य आरम्भ मे आसक्त, आत्मा को दण्ड देने वाले एव एकान्त रूप से प्राणि-हिंसक हैं, वे चिरकाल के लिए पापलोक (नरक) मे जाते है, (कदाचित् बालतप आदि के कारण देव हो तो) आसुरी दिशा मे जाते है।

१५२ (सर्वज्ञ पुरुषो ने) कहा है—यह जीवन सस्कृत करने (जोडने) योग्य नही है, तथापि अज्ञानीजन (पाप करने मे) धृष्टता करते है। (वे कहते हैं—) (हमे तो) वर्तमान (सुख) से काम (प्रयोजन) है, परलोक को देखकर कौन आया है ?

विवेचन—आरम्भासक्त एवं पापाचरण धृष्ट व्यक्तियो की दशा—यहाँ सूत्रगाथाद्वय मे से प्रथम मे आरम्भजीवी या आरम्भाश्रित साधको की दशा का और द्वितीय गाथा मे वर्तमानदर्शी अज्ञानीजनो की मनोदशा का वर्णन किया है।

आरम्भासक्त साधका : दुष्कृत्य और उनका फल—आरम्भ निश्रित साधको के लिए यहाँ दो विशेषण ध्यान देने योग्य हैं—**"आयदडा तथा एगंतलूसगा।"** यहाँ शास्त्रकार ने आरम्भनिश्रित शब्द का प्रयोग किया है, उसका अर्थ वृत्तिकार करते हैं—'आरम्भो यानी हिसादि सावद्यानुष्ठान रूप कार्यों मे जो निश्चयत (नि सकोच) श्रित—यानी सम्बद्ध हैं, आरम्भ पर ही आश्रित हैं, आसक्त हैं।'

आरम्भ जैनधर्म का पारिभाषिक शब्द है, उसका एक खास अर्थ है। जिस कार्य या प्रवृत्ति से जीवो का द्रव्य और भाव से, चारो ओर से प्राणातिपात (हिसा) हो, उसे 'आरम्भ' कहते हैं। आरम्भ

---

१३ (क) सूत्रकृतांग शीलाकवृत्ति पत्र ७०-७२
(ख) सूत्रकृताग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० २६-२७

अनेक प्रकार का होता है—जैसे भोजन पकाना, हरी वनस्पति तोडना, मकान बनवाना, जमीन खोदना, खेती करना, आग जलाना, कलकारखाने चलाना, युद्ध करना, लडाई-झगडे करना, दूसरो को सताना, मारपीट, दगा, आगजनी, चोरी, डकैती, धोखाधडी आदि सब प्रकार की हिंसा, असत्य, चोरी आदि पापजनक (सावद्य) कार्य आरम्भ है।[१४] आत्म-कल्याण की इच्छा रखने वाले को सभी प्रकार के आरम्भो का त्याग करना आवश्यक है। परन्तु कई साधक शरीर या जीवन की सुख-सुविधा के मोह मे पडकर ऐसे आरम्भो मे स्वय प्रवृत्त हो जाते है, अथवा दूसरो से करवाते है। इस प्रकार धीरे-धीरे उनकी वृत्ति इतनी आरम्भाश्रित हो जाती है कि वे आरम्भ के बिना जी नही सकते। ऐसे आत्मार्थी साधक दूसरे प्राणियो को दण्डित (हिंसा) करने के बदले उक्त आरम्भजन्य पाप कर्म के कारण स्वय आत्मा (निज) को उनके फलस्वरूप दण्डित करते है। वास्तव मे आरम्भ आसक्त साधक एकान्तलूसक (प्राणि-हिंसक) या सत्कर्म के ध्वसक है।

उक्त आरम्भासक्ति के फलस्वरूप वे या तो मरकर पापलोक मे जाते है। पापलोक से यहाँ शास्त्रकार का तात्पर्य पापियो के लोक से है, वह पापियो का लोक नरक तो है ही तिर्यचगति भी है, और मनुष्यगति मे भी निकृष्ट पापी-म्लेच्छ क्षेत्र सम्भव है अथवा कदाचित् ऐसे व्यक्ति बालतप या अकाम-निर्जरा कर लेते है तो उसके फलस्वरूप मरकर वे आसुरी योनि मे उत्पन्न होते है।

'आसुरिय दिस' की व्याख्या वृत्तिकार इस प्रकार करते है—**'असुराणामिय आसुरी, ता दिश यन्ति, अपरप्रेष्या किल्विषिकाः देवाधमाः भवन्तीत्यर्थः।'** असुरो की दिशा आसुरी दिशा है, वे आसुरी दिशा मे जाते है, अर्थात् दूसरो के दासरूप किल्विषी देव बनते है, परमाधार्मिक असुर बनते हैं। चूर्णिकार **'आसूरिय'** पाठान्तर मानकर अर्थ करते है—**'न तत्थ सूरो विद्यते'**—अर्थात् जहाँ सूर्य नही होता है, यानी सूर्य प्रकाश के बिना अन्धकार छाया रहता है, द्रव्य अन्धकार भी तथा अज्ञान मोहरूप भावान्धकार भी। जैसे कि ईशावास्योपनिषद् मे कहा है—

> **असुर्यानाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।**
> **तांस्ते प्रेत्यभिगच्छन्ति, ये केचात्महनो जनाः॥**

अर्थात् असूर्य नामक लोक वे है, जो गाढ अन्धकार से आवृत्त हैं। जो कोई भी आत्मघातक (आत्मदण्डक) जन है, वे यहाँ से मरकर उन लोको मे जाते है।[१५]

वर्तमानदर्शी अज्ञानी जीवों की मनोवृत्ति एवं पापप्रवृत्ति—गाथा १५२ मे सर्वप्रथम उन अज्ञानियो की मनोदशा बतायी है कि यह तो प्रत्यक्ष अनुभव है कि यह प्रत्यक्ष दृश्यमान जीवन,

---

१४ (क) अभिधान राजेन्द्रकोश भाग १, 'आरम्भ' शब्द देखिए।
(ख) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति, पृ० ७२-७३

१५ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति, पृ० ७३
(ख) सूयगडग चूर्णि (मूलपाठ टिप्पण), पृ० २७
(ग) ईशावास्योपनिषद् श्लोक ३
(घ) वैदिक मतानुसार 'दक्षिण दिशा'—असुरो की दिशा है।

आयुष्य के टूटने पर वस्त्र की तरह फिर साधा (जोडा) नही जा सकता, ऐसा जीवन के रहस्य वेत्ता सर्वज्ञो ने कहा है। फिर भी अज्ञान और मोह के अन्धकार से व्याप्त मूढजन पापकर्म मे नि सकोच धृष्टतापूर्वक प्रवृत्ति करते हैं। उन्हे यह भान ही नही रहता कि वे जो पापकर्म करते हैं, उसके कितने दारुण-दुष्परिणाम भोगने होगे। और जिस जीवन के लिए वे पापकर्म करते है, वह जीवन भी तो पानी के बुलबुले या कांच की तरह एक दिन नष्ट हो जायेगा। उनसे जब कोई कहता है कि 'तुम्हे परलोक में (अगले जन्मो मे) इन पापकर्मों का भयकर फल भोगना पडेगा, उसका तो विचार करो।' तब वे उत्तर दे देते हैं—'पच्चुपन्नेन कारिय परलोकमागते।' अरे! परलोक किसने देखा है? कौन परलोक देखकर आया है? परलोक की बाते गप्प लगती है। मुझे तो बस वर्तमान काम-भोगजन्य सुख से मतलब (काम) है। उत्तराध्ययन सूत्र मे भी कहा है—"जो काम भोग अभी हस्तगत है, प्रत्यक्ष है, वे ही है, जिन्हे बहुत-सा काल व्यतीत हो गया, वे तो अतीत (नष्ट) हो गये और अनागत भी अभी अविद्यमान एव अनिश्चित है। कौन जानता है—परलोक है या नही है?" ऐसे लोग जो परलोक, पुनर्जन्म, पुण्य-पाप का फलभोग आदि को नही मानते, वे बेखटके अहर्निश मनचाहे पाप मे प्रवृत्त होते है। ऐसे लोगो को इस बात की तो कोई परवाह नही होती कि कर्मो का फल भोगना ही पडेगा। उन वर्तमानजीवियो का तर्क है—वर्तमान काल मे होने वाले पदार्थ ही वस्तुत सत् है। अतीत और अनागत विनष्ट और अनुत्पन्न होने से अविद्यमान है। इसलिए प्रेक्षापूर्वक कार्य करने वाले के लिए वर्तमानकालीन पदार्थ ही प्रयोजन साधक होने से उपादेय हो सकता है।[१६] शास्त्रकार ने परोक्षरूप से इन दोनो गाथाओ द्वारा सुविदित साधु को आरम्भ एव पापकर्मो से बचने का उपदेश दिया है।

कठिन शब्दो की व्याख्या—**चिरराय**—दीर्घकाल तक। **आरम्भनिस्सिया**—आरम्भ मे रचे-पचे। **पच्चुपन्नेन**—प्रत्युत्पन्न—वर्तमानकालवर्ती। **कारियं**—कार्य, प्रयोजन।[१७]

सम्यग्दर्शन में साधक-बाधक तत्त्व

१५३. अवक्खुव वक्खुवाहितं, सद्दहसु अद्दक्खुदंसणा।
हंदि हु सुनिरुद्धदंसणे, मोहणिज्जेण कडेण कम्मुणा ॥११॥

१५४. दुक्खी मोहे पुणो पुणो, निव्विदेज्ज सिलोग-पूयणं।
एव सहितेऽहिपासए, आयतुलं पाणेहिं संजते ॥१२॥

---

१६ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ७२
(ख) अमरसुखबोधिनी व्याख्या, पृ० ३८३
(ग) सूत्रकृताग मूलपाठ टिप्पण युक्त, पृ० २७
(घ) उत्तराध्ययन अ० ५, गाथा ६

१७ सूत्रकृताग शीलांकवृत्ति पत्र ७२-७३

१५३. अद्रष्टावत् (अन्धतुल्य) पुरुष ! प्रत्यक्षदर्शी (सर्वज्ञ) द्वारा कथित दर्शन (सिद्धान्त) मे श्रद्धा करो। हे असर्वज्ञदर्शन पुरुषो ! स्वयकृत मोहनीय कर्म से जिसकी दृष्टि (ज्ञान दृष्टि) अवरुद्ध (बन्द) हो गई है; (वह सर्वज्ञोक्त सिद्धान्त को नही मानता) यह समझ लो।

१५४ दु.खी जीव पुन -पुन मोह—विवेकमूढता को प्राप्त करता है। (अत मोहजनक) अपनी स्तुति (श्लाघा) और पूजा (सत्कार-प्रतिष्ठा) से साधु को विरक्त रहना चाहिए। इस प्रकार ज्ञान-दर्शन-चारित्र सम्पन्न (सहित) सयम साधु समस्त प्राणियो को आत्मतुल्य देखे।

विवेचन—सम्यग्दर्शन मे साधक एव बाधक तत्व—इन दो सूत्रगाथाओ मे सम्यग्दर्शन मे साधक-बाधक निम्नोक्त ६ तथ्यो का दिग्दर्शन कराया गया है—(१) सम्यग्द्रष्टा बनने के लिए केवलज्ञान-केवल दर्शन-सम्पन्न वीतरागोक्त-दर्शन (सिद्धान्त) पर दृढ श्रद्धा करो, (२) स्वयकृत मोहकर्म के कारण सम्यग्-दृष्टि अवरुद्ध हो जाने से व्यक्ति सर्वज्ञोक्त सिद्धान्त पर श्रद्धा नही करता, (३) अज्ञान एव मिथ्यात्व के कारण जीव दु खी होता है, (४) दु खी जीव बार-बार अपनी दृष्टि एव बुद्धि पर पर्दा पड जाने के कारण विवेकमूढ (मोह-प्राप्त) होता है, (५) साधक को मोह पैदा करने वाली आत्मश्लाघा और पूजा से विरक्त रहना चाहिए, (६) समस्त प्राणियो को आत्मतुल्य देखने वाला सयमी साधु ही सम्यग्दर्शी एव रत्नत्रय सम्पन्न होता है।[१८]

'अद्दक्खु व दक्खुवाहितं सद्दहसू'—'अद्दक्खूव' यह सम्बोधन है। सस्कृत मे इसके पाँच रूप वृत्तिकार ने प्रस्तुत किये है—(१) हे अपश्यवत्। (२) हे अपश्यदर्शन ! (३) अदक्षवत्। (४) अदृष्टदर्शिन्। (५) अदृष्टदर्शन। इनके अर्थ क्रमश इस प्रकार है—

(१) जो देखता है, वह 'पश्य' है, जो नही देखता वह 'अपश्य' कहलाता है। अपश्य को व्यवहार मे अन्धा कहते है। यहाँ दार्शनिक क्षेत्र मे द्रव्य-अन्ध से मतलब नही है, भाव-अन्ध ही वहाँ विवक्षित है। भावअन्ध तुल्य यहाँ तीन कारणो से माना गया है—(क) एकमात्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानने के कारण, (ख) कर्तव्य-अकर्तव्य, हिताहित के विवेक से रहित होने के कारण, (ग) व्यवहार मात्र का लोप हो जाने के कारण।

(२) 'पश्य' कहते है सर्वज्ञ—सर्वदर्शी को, अपश्य कहते है—जो सर्वज्ञ-सर्वदर्शी नही है, उसे। अत यहाँ **'अपश्यदर्शन'** का अर्थ हुआ हे असर्वज्ञ—असर्वदर्शी के दर्शन को मानने वाले पुरुष ! इसे दूसरे शब्दो मे 'अन्य दर्शनानुयायी पुरुष' कह सकते हैं।

(३) दक्ष का अर्थ है निपुण। दर्शनिक क्षेत्र मे निपुण उसे कहते है जो प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि प्रमाणो से तत्व को सिद्ध करने मे निपुण हो। जो ऐसा न हो, वह 'अदक्ष' कहलाता है। अत: **'अदक्षवत्'** का अर्थ हुआ—'हे अदक्ष के समान पुरुष।'

(४) **अदृष्टदर्शिन्**—अदृष्ट उसे कहते है—जैसे सूक्ष्म, व्यवहित, दूर, परोक्ष (क्षेत्र और काल) से भरिष्य एव इन्द्रिय-क्षीणता आदि के कारण सूक्ष्मादि पदार्थ दृष्ट नही है—दिखाई नही देते। इस

---

१८ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति भाषानुवाद सहित भाग-१, पृष्ठ २८४ से २८७ तक का साराश

कारण उसे **अवृष्टदर्शी**—अर्वाग्दर्शी—जो सामने निकटवर्ती-प्रत्यक्ष है, उसे ही देखने वाला कहते हैं। उसका सम्बोधन मे अदृष्टदर्शिन् रूप होता है।

(५) अदृष्ट असर्वज्ञ-असर्वदर्शी को भी कहते हैं, इस दृष्टि से **अवृष्टदर्शन** का अर्थ हुआ—जो अदृष्ट (असर्वदर्शी) के दर्शन वाला है। जो भी हो, अपश्यदर्शन या अदृष्टदर्शी भावत अन्ध होने के कारण सम्यग्दर्शन युक्त नही होता। अत उसे सम्बोधन करते हुए परमहितैषी शास्त्रकार कहते है—**'वक्खुवाहियं सद्दहसु'** इसका भावार्थ यह है कि तुम कब तक सम्यग्दृष्टि विहीन रहोगे ? सम्यग्दर्शन सम्पन्न बनने के लिए सर्वज्ञ सर्वदर्शी द्वारा कथित तत्त्वो या सिद्धान्तो या आगमो पर श्रद्धा करो। एक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानने से समस्त व्यवहार का लोप हो जाने से मनुष्य बहुत सी बातो मे अप्रामाणिक एव नास्तिक बन जाता है, फिर पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, कर्तव्य-अकर्तव्य, कर्म-अकर्म को नही मानने पर उसका सारा ही बहुमूल्य जीवन (सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयरूप) धर्म से विहीन हो जाता है। यह कितनी बडी हानि है। इसीलिए इस गाथा के उत्तरार्द्ध मे कहा गया है—**'हदिहु सुनिरुद्धदंसणे कम्मुणा'** सम्यग्दर्शन प्राप्ति का अवसर खो देने से अपने पूर्वकृत मोहनीय कर्म के कारण मनुष्य की सम्यग्दर्शन पूर्वक ज्ञानदृष्टि बन्द हो जाती है।[१९]

दुक्खी मोहे पुणो पुणो—इस पक्ति मे शास्त्रकार के दो आशय छिपे है—पहला आशय यह है कि सम्यग्दर्शन एव सम्यग्ज्ञान के अभाव मे अज्ञान, अन्धविश्वास और मिथ्यात्व के कारण मनुष्य पाँच तरह से दु खी हो जाता है—(१) हिताहित, कर्तव्याकर्तव्य, श्रेय-प्रेय, हेय-उपादेय का भान भूल जाने, से, धर्म-विरुद्ध कार्य करके, (२) वस्तु-तत्त्व का यथार्थ ज्ञान न होने से इष्ट वियोग-अनिष्ट सयोग मे आर्त्तध्यान या चिन्ता करके, (३) परम हितैषी या आप्त वीतराग सर्वज्ञ सिद्धान्त या दर्शन पर विश्वास न करने से, तथा (४) अज्ञानवश मान-अपमान, निन्दा प्रशसा, लाभ-अलाभ, सुख-दु ख, जीवन-मरण आदि द्वन्द्वो मे समभाव न होने से। (५) मिथ्यात्वादि के कारण भयकर पाप कर्मबन्ध हो जाने से बार-बार कुगतियो मे जन्म-मरणादि करके।

शास्त्रीय परिभाषा मे उदयावस्था को प्राप्त असातावेदनीय को या असातावेदनीय के कारण को दु ख कहते हैं, अथवा जो प्राणी को बुरा (प्रतिकूल) लगता है, सुहाता नही, उसे भी दु ख कहते है। दु ख जिसको हो रहा हो, उसे दु खी कहते हैं। वही असातावेदनीय कर्म जब उदय में आता है, तब मूढजीव ऐसे दुष्कर्म करता है, जिससे वह बार-बार दु खी होता है।

दूसरा आशय है—दु खी मनुष्य पुन -पुन मोहग्रस्त विवेकमूढ हो जाता है। उपर्युक्त छ प्रकारो मे से किसी भी प्रकार से दु खी मानव अपनी बुद्धि पर मिथ्यात्व और अज्ञान का पर्दा पड जाने से सही सोच नही सकता, वास्तविक निर्णय नही कर सकता, तत्त्व पर दृढ श्रद्धा नही कर सकता सर्वज्ञोक्त वचनो पर उसका विश्वास नही जम सकता, फलत. वह बार-बार कुकृत्य करके विपरीत चिन्तन करके मूढ या मोहग्रस्त होता रहता है। अथवा मोहनीय कर्मबन्धन करके फिर चतुर्गतिक रूप भयकर दु:खकारी अनन्त ससाराटवी मे चक्कर काटता रहता है।[२०]

---

१९ सूत्रकृतांग शीलाकवृत्ति पत्रांक ७३ के आधार पर

२०. सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्रांक ७३ के आधार पर

मोह के दो प्रबल कारणों—श्लाघा और पूजा से विरक्त रहे—यहाँ एक प्रश्न होता है कि साधु-जीवन अगीकार करने के पश्चात् तो सम्यग्दर्शनादि का उत्कट आचरण होने लगता है, फिर वहाँ मोह का और दुःख का क्या काम है? इसका समाधान इसी पक्ति मे गर्भित है कि साधु-साध्वी सासारिक पदार्थों की मोह-ममता त्याग कर सम्यक् प्रकार से सयम के लिए उत्थित हुये है फिर भी जब तक साधक वीतराग नही हो जाता, तब तक उसे कई प्रकार से मोह घेर सकता है जैसे—

(१) शिष्य-शिष्याओ, (२) भक्त-भक्ताओ, (३) वस्त्र-पात्रादि उपकरणो, (४) क्षेत्र-स्थान, (५) शरीर, (६) प्रशसा-प्रसिद्धि, (७) पूजा-प्रतिष्ठा आदि का मोह। इसीलिए आचाराग सूत्र मे दुःखी **'मोहे-पुणो-पुणो'** के बदले **'एत्थ मोहे पुणो-पुणो'** पाठ है, जिसका आशय है—इस साधु-जीवन मे भी पुनः-पुनः मोह का ज्वार आता है। प्रस्तुत गाथा मे विशेष मोहोत्पादक दो बातो से खासतौर से विरक्त होने की प्रेरणा दी गयी है—**णिव्विदेज्ज सिलोग-पूयण**—श्लोक का अर्थ है—आत्मश्लाघा, या स्तुति, प्रशसा, यशकीर्ति, प्रसिद्धि या वाहवाही। और पूजा का अर्थ है—वस्त्रादि दान द्वारा सत्कार, अथवा प्रतिष्ठा, बहुमान, भक्ति आदि। साधु-जीवन मे और बातो का मोह छूटना फिर भी आसान है, परन्तु अपनी प्रशसा, प्रसिद्धि, पूजा-सम्मान और प्रतिष्ठा की लालसा छूटनी बहुत कठिन है, क्योकि वह चुपके-चुपके साधक के मानस मे घुसती है, और सम्प्रदाय, धर्म, कुल, तप, ज्ञान, अहकार, प्रभुत्व आदि कई रूपो मे साधक का दिल-दिमाग भ्रान्त करती हुई आती है। इसीलिए शास्त्रकार यहाँ उसका समूलोच्छेदन करने के लिए कहते है—**'णिव्विदेज्ज'** अर्थात् इन दोनो मोह जननियो से विरक्त हो जाओ। मन से भी इन्हे मत चाहो, न इनका चिन्तन करो। इनकी जरा-सी भी चाट लगी कि मोह मूढ बना साधक बात-बात मे अपना अपमान, तिरस्कार, अपकीर्ति आदि मानकर दुःखी हो जायेगा।[21]

सम्यग्दर्शन पुष्ट होता है—सर्वप्राणियो के आत्मवत् दर्शन मे—१५४वी सूत्रगाथा के उत्तरार्द्ध मे समस्त प्राणियो को आत्मवत् दृष्टि से देखने की प्रेरणा है। सयमी साधु के लिए स्व-पर का भेद-भाव, स्व-सुख की ममता, और पर-सुख की उपेक्षा, स्वजीवन का मोह, परजीवन की उपेक्षा आदि विषमभाव निकालकर दूर कर देना चाहिए। इस विषयभाव को मिटाने का सबसे सरल तरीका है—साधक समस्त प्राणियो को आत्मतुल्य दृष्टि से देखे। अपने सुख-दुःख, जीवन-मरण के समान ही उनके सुख-दुःखादि को जाने। इसीलिए कहा गया है—**"एवं सहितेऽहिपासए सजते।"** चूर्णिकार इसका अर्थ करते है—इस प्रकार सयमी साधु ज्ञानादि सम्पन्न होकर सभी प्राणियो को आत्मतुल्य से भी अधिक देखे।[22]

'दक्खु वाहितं' आदि पदो का अर्थ—दक्खुवाहित—सर्वज्ञ-सर्वदर्शी द्वारा व्याहृत-कथित,

---

२१ (क) सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या, पृ० ३८७ के आधार पर
(ख) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ७३
(ग) आचाराग सूत्र श्रु०१ अ०२ उ०२ सू० ७० पृ० ४६ मे देखिए 'एत्थ मोहे पुणो-पुणो सण्णा, णो हव्वाए, णो पाराए।'

२२ (क) शीलाकवृत्ति (सू० कृ०) पत्राक ७३ का साराश
(ख) अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ३८७ का साराश
(ग) सूयगडग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० २८

वृत्तिकार के अनुसार—**'अचक्षुदर्शनः—केवलदर्शनः—सर्वज्ञः, तस्माद् यदाप्यते हित तत् ।'** अर्थात् अचक्षुदर्शन वाला—यानी केवलदर्शनी जो सर्वज्ञ है, उससे जो हित (हितकर वचन) प्राप्त होता है उस पर। **अदक्खुदंसणा**—असर्वज्ञ के दर्शन वालो ! वृत्तिकार ने **'अचक्खुदंसणा'** पाठान्तर मानकर उपर्युक्त अर्थ ही किया है ।[23]

सुव्रती समत्वदर्शी-गृहस्थ देवलोक में

१५५. गारं पि य आवसे नरे, अणुपुव्वं पाणेहिं संजए ।
समया सव्वत्थ सुव्वए, देवाण गच्छे स लोगयं ।।१३।।

१५५. घर (गृहस्थ) मे भी निवास करता हुआ मनुष्य क्रमश प्राणियो पर (यथाशक्ति) सयम रखता है तथा सर्वत्र (सब प्राणियो मे) समता रखता है, तो वह (समत्वदर्शी) सुव्रती (श्रावकव्रती गृहस्थ) भी देवो के लोक मे जाता है ।

विवेचन—सुव्रती समत्वदर्शी गृहस्थ भी देवलोकगामी—प्रस्तुत गाथा मे बताया गया है कि गृहस्थी भी तीन गुणो मे समन्वित होकर देवो के लोक मे चला जाता है । वे तीन विशिष्ट गुण ये है—(१) वह गृहस्थ मे रहता हुआ मर्यादानुसार प्राणिहिंसा पर सयम (नियन्त्रण) रखे, (२) आर्हत्-प्रवचनोक्त समस्त एकेन्द्रियादि प्राणियो पर समभाव-आत्मवद्भाव रखे तथा (३) श्रावक के व्रत धारण करे । उत्तराध्ययनसूत्र मे भी इसी तथ्य का समर्थन किया गया है कि सुव्रती भिक्षु हो या गृहस्थ, दिव्यलोक मे जाता है ।[24]

कठिन शब्दो की व्याख्या—'समया सव्वत्थ सुव्वए'—वृत्तिकार के अनुसार—इस वाक्य के दो अर्थ है—(१) समता यानी समभाव—स्व-पर तुल्यता सर्वत्र—साधु और गृहस्थ के प्रति रखता है अथवा आर्हत्प्रवचनोक्त एकेन्द्रियादि समस्त प्राणियो पर समभाव रखता है, ऐसा सुना जाता है, कहा जाता है । चूर्णिकार के अनुसार—जो सर्वत्र समताभाव रखता है, वह गृहस्थ भले ही सामायिक आदि क्रियाएँ न करता हो, फिर भी समताभाव के कारण । **देवाणं गच्छे स लोगयं**—वह देवो (वैमानिको) के लोक मे जाता है । चूर्णिकार **'स लोगयं'** को **'सलोगत'** पाठ मानकर अर्थ करते है—**'देवाण गच्छेे सलोगतं—समानलोगत सलोगत ।'** अर्थात्—देवो का समान लोकत्व (स्थान या अवधिज्ञान दर्शन) पा जाता है अथवा देवो का श्लोकत्व—प्रशसनीयत्व प्राप्त कर लेता है ।[25] **गारं पि य आवसे नरे**—आगार—गृह मे निवास करता हुआ भी ।

मोक्षयात्री भिक्षु का आचरण

१५६. सोच्चा भगवाणुसासणं, सच्चे तत्थ करेज्जुवक्कमं ।
सव्वत्थऽवणीयमच्छरे, उंछं भिक्खु विसुद्धमाहरे ।।१४।।

---

२३ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ७३

२४ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ७४

(ख) तुलना 'भिक्खाए व गिहत्थे वा सुव्वए कम्मइ दिव ।' —उत्तराध्ययन अ० ५।२२

२५ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ७४

(ख) 'सव्वत्थ समता भावयति, तदनु चाकृतसामायिक शोभनव्रत सुव्रत ।'

—सूयगडग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० २८

१५७. सव्वं णच्चा अहिट्ठए, धम्मट्ठी उवहाणवीरिए ।
गुत्ते जुत्ते सदा जए, आय-परे परमायतट्ठिए ॥१५॥

१५६ भगवान् (वीतराग सर्वज्ञ प्रभु) के अनुशासन (आगम या आज्ञा) को सुनकर उस **प्रवचन** (आगम) मे (कहे हुए) सत्य (सिद्धान्त या सयम) मे (उपक्रम) करे। भिक्षु सर्वत्र (सब पदार्थों मे) मत्सररहित होकर शुद्ध (उञ्छ) आहार ग्रहण करे।

१५७ साधु सब (पदार्थों या हेयोपादेयो) को जानकर (सर्वज्ञोक्त सर्वसवर का) आधार (आश्रय) ले, धर्मार्थी (धर्म का अभिलाषी) रहे, तप (उपधान) मे अपनी शक्ति लगाये, मन-वचन-काया की गुप्ति (रक्षा) से युक्त होकर रहे, सदा स्व-पर-कल्याण के विषय मे अथवा आत्मपरायण होकर यत्न करे और परम-आयत (मोक्ष) के लक्ष्य मे स्थित हो।

विवेचन—मोक्षयात्री भिक्षु का आचरण—प्रस्तुत सूत्र गाथाद्वय मे मोक्षयात्री भिक्षु के लिए ग्यारह आचरणसूत्र प्रस्तुत किये गये है—(१) सर्वज्ञोक्त अनुशासन (शिक्षा, आगम या आज्ञा) को सुने, (२) तदनुसार सत्य (सिद्धान्त या सयम) मे पराक्रम करे, (३) सर्वत्र मत्सररहित (**रागद्वेष रहित** या क्षेत्र, गृह, उपाधि, शरीर आदि पदार्थों मे **लिप्सारहित**) होकर रहे, (४) शुद्ध भिक्षुचर्या करे, (५) हेय-ज्ञेय-उपादेय को जानकर सर्वज्ञोक्त सवर का ही आधार ले, (६) धर्म से ही अपना प्रयोजन रखे, (७) तपस्या मे अपनी शक्ति लगाये, (८) तीन गुप्तियो से युक्त होकर रहे, (९) सदैव यतनशील रहे, (१०) आत्मपरायण या स्व-पर-हित मे रत रहे और (११) परमायत-मोक्षरूप लक्ष्य मे दृढ रहे।[२६]

भगवदनुशासन—श्रवण क्यो आवश्यक ?—मोक्षयात्री के लिए पाथेय के रूप मे सर्वप्रथम भगवान् का अनुशासन-श्रवण करना इसलिए आवश्यक है कि जिस मोक्ष की वह यात्रा कर रहा है, भगवान् उस मोक्ष के परम अनुभवी, मार्गदर्शक है, क्योकि ज्ञान, वैराग्य, धर्म, यश, श्री, समग्र ऐश्वर्य, एव मोक्ष इन छह विभूतियो से वे (भगवान्) सम्पन्न होते है। वे वीतराग एव सर्वज्ञ होते है, वे निष्पक्ष होकर वास्तविक मोक्ष-मार्ग ही बताते है। उनकी आज्ञाएँ या शिक्षाएँ (अनुशासन) आगमो मे निहित है, इसलिए गुरु या आचार्य से उनका प्रवचन (आगम) सुनना सर्वप्रथम आवश्यक है। सुनकर ही तो साधक श्रेय-अश्रेय का ज्ञान कर सकता है।[२७]

सर्वज्ञोक्त सत्य-सयम मे पराक्रम करे—जब श्रद्धापूर्वक श्रवण होगा, तभी साधक उस सुने हुए सत्य को सार्थक करने हेतु अपने जीवन मे उतारने का पुरुषार्थ करेगा। अन्यथा कोरा श्रवण या कोरा भाषण तो व्यर्थ होगा। शास्त्र मे बताया है—"**सच्चे सच्चपरक्कमे**" साधु सत्य मे सच्चा पराक्रम करे।[२८] परन्तु साधक का सत्य-सयम मे पुरुषार्थ मत्सररहित—राग-द्वेष रहित होगा तभी वह सच्चा पुरुषार्थ होगा।

---

२६ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ७४

२७ (क) सूत्रकृताग **अमरसुखबोधिनी** व्याख्या पृ० ३८९ **के अनुसार**
(ख) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ७४
(ग) सोच्चा जाणइ कल्लाण सोच्चा जाणइ पावग—दशवै० ४।११

२८ उत्तराध्ययन सूत्र अ० १८।२४

सब पदार्थों मे मत्सररहित होकर रहे—मूल में '**सव्वत्थ विणीयमच्छरे**' पाठ है, उसका शब्दश: अर्थ तो यही होता है, किन्तु वृत्तिकार ने इसके दो और विशेष अर्थ प्रस्तुत किये है—(१) सर्वत्र यानी क्षेत्र, गृह, उपाधि, शरीर आदि पदार्थों की तृष्णा (लिप्सा) को मन से हटा दे, अथवा (२) सर्व पदार्थों के प्रति न तो राग या मोह करे, न ही द्वेष, घृणा या ईर्ष्या करे, क्योकि मत्सर होगा, वहाँ द्वेष तो होगा ही, जहाँ एक ओर द्वेष होगा, वहाँ दूसरी ओर राग मोह-अवश्यम्भावी है। साधक की मोक्षयात्रा मे ये बाधक है, अत इनसे दूर ही रहे।[२९]

शुद्ध भिक्षाचरी क्या, क्यों और कैसे ?—साधु भिक्षाजीवी होता है, परन्तु उसकी भिक्षाचरी ४७ एषणा दोषो से रहित होनी चाहिए, वही विशुद्ध भिक्षा कहलाती है। औद्देशिक आदि दोषो से युक्त भिक्षा होगी तो साधु अहिसा महाव्रत, सयम, एषणा समिति अथवा तप का आचरण यथार्थ रूप से नही कर सकेगा। दोषयुक्त भिक्षा ग्रहण एव सेवन से साधु की तेजस्विता समाप्त हो जायेगी, उसमे नि स्पृहता, निर्लोभता (मुत्ती), त्याग एव अस्वादवृत्ति नही रह पायेगी। यहाँ **भिक्षा के बदले** शास्त्रकार ने '**उछ**' शब्द का प्रयोग किया है, प्राकृत शब्दकोश के अनुसार उसका अर्थ होता है—"क्रमश (कण-कण करके) लेना।" इसका तात्पर्य है—अनेक गृहस्थो के घरो से **थोडी-थोडी भोजन** सामग्री ग्रहण करना।[३०]

जाने सब, पर आधार सर्वज्ञोक्त शास्त्र का ले—साधु यद्यपि बहुत-सी चीजो को जानता-देखता है, उनमे कई हेय होती है, कई ज्ञेय और कई उपादेय। साधु राजहस की तरह सर्वज्ञोक्त शास्त्ररूपी चोच द्वारा हेय-ज्ञेय-उपादेय का नीर-क्षीर-विवेक करे, यही अभीष्ट है। अथवा सर्वज्ञोक्त पचसवर को आधारभूत मानकर उसी कसौटी पर उन पदार्थों को कसे और जो सवर के अनुकूल हो, उसे ग्रहण करे शेष को छोड दे या जानकर ही विराम करे। साधु स्वय हेयादि का निर्णय करने जायेगा तो छद्मस्थता (अल्पज्ञता) वश गडबडा जायेगा, इसलिए सर्वज्ञोक्त पचसवर के माध्यम से निर्णय करे।[३१]

सया जए—यह छोटा-सा आचरण सूत्र है, लेकिन इसमे गम्भीर अर्थ छिपा हुआ है। इसका तात्पर्य यह है कि साधु चलना-फिरना, उठना-सोना, खाना-पीना, बोलना आदि प्रत्येक क्रिया यत्नपूर्वक करे। वह इस बात का विवेक रखे कि इस प्रवृत्ति या क्रिया के करने मे कही हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य, परिग्रह आदि आस्रवो से तो मै नही लिप्त हो जाऊँगा? अगर कोई क्रिया हिसादि दोषयुक्त हो, या भविष्य मे अनर्थकारक, हिंसादि पापवर्द्धक हो तो उसे न करना। यह इस सूत्र का आशय है।[३२]

आय-परे—का वृत्तिकार ने तो '**यतेताऽऽत्मनि परस्मिश्च**'—अपने और पर के सम्बन्ध मे यत्न करे, यही अर्थ किया है, परन्तु हमारी दृष्टि से इसका दूसरा अर्थ '**आत्म-परायण हो**' यह होना चाहिए। इसका आशय यह है कि साधु की प्रत्येक प्रवृत्ति आत्मा को केन्द्र मे रखकर होनी चाहिए। जो प्रवृत्ति आत्मा के लिए अहितकर, आत्मशुद्धिबाधक, कर्मबन्धजनक एव दोषवर्द्धक हो, आत्म-गुणो

---

२९ सूत्रकृतांग शीलाकवृत्ति पत्राक ७४

३० सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ ३९० पर से

३१ सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ ३९०

३२ दशवैकालिक अ०४/गा० १ से ९ तक की हारिभद्रीय टीका

(ज्ञानादि रत्नत्रयादि) के घातक हो, उससे सतत बचना ही आत्मपरकता या आत्मपरायणता है। जो प्रवृत्ति आत्मा के लिए अकल्याणकर अहितकर हो, किन्तु दूसरो को उससे अर्थादिलाभ होता हो तो भी उसे न करे।[33]

परमाययट्ठिए परमायत—मोक्ष (मोक्ष के लक्ष्य) मे स्थित रहे। परम उत्कृष्ट आयत-दीर्घ हो, वह परमायत है, अर्थात् जो सदा काल शाश्वत स्थान है, श्रेष्ठ धाम है। साधु उस परमायत लक्ष्य मे स्थित—परमायतस्थित तथा उस परमायत का अर्थी परमायतार्थिक मोक्षाभिलाषी हो। अथवा अपने मन, वचन और काया को साधु मोक्षरूप लक्ष्य मे ही स्थिर रखे, डाँवाडोल न हो कि कभी तो मोक्ष को लक्ष्य बना लिया, कभी अर्थ-काम को या कभी किसी क्षुद्र पदार्थ को।[34]

शेष आचरण-सूत्र तो स्पष्ट है। इन ११ आचरणसूत्रो को हृदयगम करके साधु को मोक्षयात्रा करनी चाहिए।

अशरण भावना

१५८. वित्त पसवो य णातयो, त बाले सरण ति मण्णती।
एते मम तेसु वी अहं, नो ताण सरण च विज्जइ ॥ १६ ॥

१५९. अब्भागमितम्मि वा दुहे, अहवोवक्कमिए भवतए।
एगस्स गती य आगती, विदुमं ता सरण न मन्नती ॥ १७ ॥

१६०. सव्वे सयकम्मकप्पिया, अव्वत्तेण दुहेण पाणिणो।
हिडति भयाउला सढा, जाति-जरा-मरणेहऽभिद्दुता ॥ १८ ॥

१५८ अज्ञानी जीव धन, पशु और ज्ञातिजनो को अपने शरणभूत (शरणदाता या रक्षक) समझता है कि ये मेरे हैं, मै भी उनका हूँ। (किन्तु वस्तुत ये सब उसके लिए) न तो त्राणरूप है और न शरणरूप है।

१५९ दुख आ पडने पर, अथवा उपक्रम (अकालमरण) के कारणो से आयु समाप्त होने पर या भवान्त (देहान्त) होने पर अकेले को जाना या आना होता है। अत विद्वान् पुरुष धन, स्वजन आदि को अपना शरण नही मानता।

१६० सभी प्राणी अपने-अपने कर्मों के कारण विभिन्न अवस्थाओ मे व्यवस्थित—विभक्त है और सभी प्राणी अव्यक्त (अलक्षित) दुख से दुखी है। भय से व्याकुल शठ (अनेक दुष्कर्मों के कारण दुष्ट) जन जन्म, जरा और मरण से पीडित होकर (बार-बार ससार-चक्र मे) भ्रमण करते है।

---

३३ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ७४
(ख) सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ ३९०

३४ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ७४

विवेचन—कोई भी त्राता एवं शरणदाता नहीं—प्रस्तुत तीन गाथाओ मे अशरण-अनुप्रेक्षा (भावना) का विविध पहलुओ से चित्रण किया गया है—(१) अज्ञानी जीव धन, पशु एव स्वजनो को भ्रमवश त्राता एव शरणदाता मानता है, परन्तु कोई भी सजीव-निर्जीव त्राण एव शरण नही देता। (२) दु:ख, रोग, दुर्घटना, मृत्यु आदि आ पडने पर प्राणी को अकेले ही भोगना या परलोक जाना-आना पडता है। (३) विद्वान् (वस्तुतत्वज्ञ) पुरुष किसी भी पदार्थ को अपना शरणरूप नही मानता। (४) सभी प्राणी अपने-अपने पूर्वकृत कर्मानुसार विभिन्न अवस्थाओ (गतियो-योनियो) को प्राप्त किये हुए है। (५) समस्त प्राणी अव्यक्त दु खो मे दु खित है। (६) दुष्कर्म करने वाले जीव जन्म, बुढापा और मृत्यु आदि से पीडित एव भयाकुल होकर ससार चक्र मे परिभ्रमण करते है।

धन आदि शरण योग्य एव रक्षक क्यो नहीं?—प्रश्न होता है कि धन आदि शरण्य एव रक्षक क्यो नही होते? इसके उत्तर मे एक विद्वान् ने कहा है—

"रिद्धि सहावतरला, रोग-जरा-भगुरं हयसरीरं।
दोण्हं पि गमणसीलाणं कियच्चिरं होज्ज संबंधो?"

अर्थात्—ऋद्धि (धन-सम्पत्ति) स्वभाव से ही चचल है, यह विनश्वर शरीर रोग और बुढापे के कारण क्षणभगुर है। अत इन दोनो (गमनशील-नाशवान्) पदार्थों का सम्बन्ध कब तक रह सकता है? वास्तव मे जिस शरीर के लिए धनादि वस्तुओ के सचय की इच्छा की जाती है, वह शरीर ही विनाशशील है। फिर वे धनादि चचल पदार्थ शरीर आदि को कैसे नष्ट होने से बचा सकेगे? कैसे उन्हे शरण दे सकेगे?

जिन पशुओ (हाथी, घोडा, बैल, गाय, भैंस, बकरी आदि) को मनुष्य अपनी सुख-सुविधा, सुरक्षा एव आराम के लिए रखता है, क्या वे मनुष्य की मृत्यु, व्याधि, जरा आदि को रोक सकते है? वे ही स्वय जरा मृत्यु, व्याधि आदि से ग्रस्त होते है, ऐसी स्थिति मे वे मनुष्य की सुरक्षा कैसे कर सकते है? युद्ध के समय योद्धा लोग हाथी, घोडा आदि को अपना रक्षक मानकर मोर्चे पर आगे कर देते है, परन्तु क्या वे उन्हे मृत्यु से बचा सकते है? जो स्वय अपनी मृत्यु आदि को रोक नही सकता, वह मनुष्य की कैसे रक्षा कर सकता है, शरण दे सकता है?

इसी प्रकार माता-पिता, स्त्री-पुत्र, भाई-बहन आदि ज्ञाति (स्व) जन भी स्वय मृत्यु, जरा, व्याधि आदि से असुरक्षित है, फिर वे किसी की कैसे रक्षा कर सकेंगे, कैसे शरण दे सकेंगे? इसीलिए शास्त्रकार कहते है—'**वित्त पसवो सरण मण्णती।**'—इसका आशय यही है कि धनादि पदार्थ शरण योग्य नही है, फिर भी अज्ञानी जीव मूढतावश इन्हे शरणरूप मानते है। वे व्यर्थ ही ममत्ववश मानते है कि 'ये सजीव-निर्जीव पदार्थ मेरे हैं, मै भी उनका हूं।[३५]

---

३५ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति सहित भाषानुवाद भा० १, पृ० २९१ से २९५ तक का सार
(ख) सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या, पृ० ३९१ से ३९३ तक का साराश
(ग) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पृ० ७५ के आधार पर

मान लो, माता-पिता आदि स्वजनो को कोई भ्रान्तिवश अपना शरणदाता एव त्राता मानता है, परन्तु अशुभ कर्मोदयवश उस व्यक्ति पर कोई दु ख, सकट आ गया, सोपक्रमी आयु वाला होने से अकस्मात् कोई दुर्घटना हो गयी, इस कारण आयु नष्ट हो गयी तथा देहान्त हो गया। ऐसे समय मे उस व्यक्ति के माता-पिता आदि स्वजन न तो उसके बदले मे दु ख भोग सकते है, न ही दुर्घटना से उसे बचा सकते हैं, और न ही आयुष्य नष्ट होने से रोक सकते है, तथा शरीर छूटने से भी यानी मृत्यु से भी उसे बचा नही सकते, क्यो ? इसलिए कि उसके स्वकृत कर्म अलग है, माता-पिता आदि स्वजन के कृतकर्म अलग है। उसके कर्मो का फल न तो उसके माता-पिता आदि भोग सकते हैं और न ही पुत्र आदि अपने माने हुए माता-पिता आदि के द्वारा किये गये कर्मो का फल भोग सकते है। कोई भी स्वजन उसके रोग को न तो घटा सकता है और न ही नष्ट कर सकता है। इससे स्पष्ट है कि कर्मों का सुखद या दु खद फल भोगते समय व्यक्ति अकेला ही होता है। अकेला ही परलोक मे जाता है, अकेला ही वहाँ से दूसरे लोक मे जन्म लेता है। दूसरा कोई भी उसके साथ परलोक मे नही जाता और न वहाँ से आता है। इसीलिए शास्त्रकार कहते है—"**अब्भागमितम्मि वा दुहे विदुम ता सरणं न मन्नती।**" आशय ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। निष्कर्ष यह है कि इन सब कारणो से वस्तुतत्वज्ञ विद्वान् किसी भी सजीव-निर्जीव पदार्थ को अपना शरणभूत नही मानते।

स्वकर्म-सूत्र से ग्रथित सारा ससार—प्रश्न होता है कि जीव अकेला ही जन्मता-मरता और अकेला ही किसी गति या योनि मे क्यो जाता-आता है ? इस प्रश्न का उत्तर इस गाथा मे दिया गया है—'**सव्वे सयकम्मकप्पिया जाइजरामरणे हुऽभिद्दुता।**' सभी जीव अपने-अपने कर्मो के कारण नाना गतियाँ, योनियाँ, शरीर, इन्द्रियाँ आदि प्राप्त करते है। अपने ही ज्ञानावरणीयादि कर्मो के कारण जीव सूक्ष्मबादर, पर्याप्त-अपर्याप्त, सम्मूर्च्छिम-गर्भज तथा एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय और पचेन्द्रियो मे भी मनुष्य, तिर्यञ्च, देव या नरक आदि विभिन्न अवस्थाओ को प्राप्त करते हैं। दूसरा तथ्य यह है कि इन विभिन्न अवस्थाओ मे भी प्राणी अपने-अपने कर्मो के प्रभाव मे रोग, निर्धनता, अभाव, अपमान, सकट, कर्जदारी, आदि विभिन्न कारणो से स्वय ही शारीरिक, मानसिक एव प्राकृतिक दु ख पाता है। ये समस्त दु ख मन मे ही महसूस होते है, इसलिए इन्हे अव्यक्त-अप्रकट कहा है, क्योंकि साधारण अल्पज्ञ व्यक्ति इन्हें सहसा जान नही पाता। हाँ, असातावेदनीय के फलस्वरूप दु ख आ पडने पर व्यक्ति के वाणी तथा आकृति आदि पर से दु ख को अनुमानत व्यक्त रूप से जाना जा सकता है, परन्तु सामान्यतया दु ख अव्यक्त होता। दु ख एक मानसिक अवस्था है, प्रतिकूल रूप से वेदन भी मानसिक होता है, जो प्रत्येक प्राणी का अपना अलग-अलग होता है।[३६]

कई लोग कहते है कि समस्त प्राणियो को अपने-अपने कर्मों का फल मिलता है, किन्तु प्राय देखा जाता है कि कई दुष्कर्म करने वाले पापी लोग पापकर्म (हत्या, लूटपाट, चोरी, व्यभिचार आदि) करते है, फिर भी वे यहाँ मौज से रहते है, वे सम्पन्न है, समाज मे भी प्रशसित है, ऐसा क्यो ? इसी का समाधान देने हेतु सूत्रगाथा ६० का उत्तरार्द्ध प्रस्तुत है—

---

३६ (क) सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ३९४
(ख) सूत्रकृतांग शीलाकवृत्ति पृ० ७५

"हिंडंति भयाउला सढा जाति जरामरणेहऽभिवृदुता" इससे दो तथ्य प्रतिफलित होते है—(१) यहाँ वे भयाकुल होकर ही घूमते है, (२) अथवा वे जन्म, जरा, मरण आदि से यहाँ या आगे पीडित रहते हैं। प्राय: देखा जाता है चोरी, डकैती, हत्या, लूटपाट, बलात्कार आदि भयकर पाप करने वाले दुष्ट (शठ) लोग प्रतिक्षण आशंकित, भयभीत, दण्डभय से व्याकुल और समाज मे बेइज्जती हो जाने की आशका से चिन्तित रहते है। कई लोग तो एकान्त स्थानो मे छिपकर या सरकार की नजर बचाकर अपनी जिन्दगी बिताते है। उनका पाप उन्हे हरदम कचोटता रहता है। कोई उसकी हत्या न कर दे, बदला न ले ले, बुरी तरह मारपीट कर अधमरा न कर दे, इस प्रकार उन दुष्कर्मियो का वह जीवन मुट्ठी मे रहता है। चिन्ता ही चिन्ता के कारण उनका मानसिक सन्तुलन बिगड जाता है। विक्षिप्त, अर्धविक्षिप्त-से हो जाते है। कभी हृदय-रोग का हमला, रक्तचाप, क्षय आदि रोगो के कारण जिन्दगी बर्बाद हो जाती है, असमय मे ही बुढापा आ जाता है। इसलिए बहुत-से लोगो को तो इसी जन्म मे दुष्कर्म का फल मिल जाता है। मृत्यु के समय भी कई अत्यन्त भयभीत रहते है। अगर किसी को इस जन्म मे अपने दुष्कर्मों का फल नही मिलता तो अगले जन्मो मे अवश्य ही मिलता है। वे जन्म-मृत्यु के चक्के में पिसते रहते है। नि सन्देह कहा जा सकता है कि ससार मे कोई किसी का त्राता एव शरणदाता नही हो सकता, सभी को अपने-अपने कर्मों से तथा तदनुसार दु खो से निपटना होता है। उत्तराध्ययन आदि सूत्रो मे भी इसी तथ्य का उद्घाटन किया गया है।[३७]

कठिन शब्दो की व्याख्या—**'अव्वत्तेण दुहेण पाणिणो'** का अर्थ वृत्तिकार के अनुसार है—अव्यक्त अपरिस्फुट शिरोवेदना आदि अलक्षित स्वभावरूप दु ख से प्राणी दु खित है। चूर्णिकार **'अव्वत्तेण'** के बदले **अवियत्तेण** पाठ मानकर इसके सस्कृत मे दो रूप बनाकर अर्थ करते है—**"अवियत्तेण कृती छेदने, न विकृतं अच्छिन्नमित्यर्थस्तेन, अथवा अवियत्तेन अधिगच्छन्तेनेत्यर्थ:"** कृती धातु छेदने अर्थ मे है। विकृत नही, अर्थात् अविकृत-अविच्छिन्न, उस (दु ख) से, अथवा अवियत्तेन का अर्थ—'जानते हुए या स्मरण करते हुए' भी होता है। पहले अर्थ के अनुसार—अविच्छिन्न (लगातार) दु ख मे प्राणी दु खी होते है, दूसरे अर्थ के अनुसार—ज्ञात और सस्मृत दु ख से प्राणी दु खी होते है, **'जातिजरामरणे हऽभिद्दुता'** के बदले चूर्णिकार ने **'वाधिजरामरणेहिऽभिद्दुता'** पाठान्तर माना है, जिसका अर्थ होता है—यहाँ व्याधि, जरा एव मरण से पीडित। **'विदुमता'** का अर्थ वृत्तिकार के अनुसार है—विद्वान्-विवेकी-ससार स्वभाव का यथार्थवेत्ता। चूर्णिकार 'विदु मता' इन दोनो पदो को 'विदु मत्वा' के रूप मे पृथक्-पृथक् करके अर्थ करते है—विद्वान् इस प्रकार जान-मानकर (पूर्वोक्त ज्ञाति आदि वस्तुओ को शरण नही मानते।)[३८]

---

३७ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पृ ७५ के आधार पर

(ख) देखिए प्रश्नव्याकरण सूत्र मे प्रथम आस्रव द्वार और तृतीय आस्रव द्वार का वर्णन।

(ग) माणुसत्ते असारमि वाहीरोगाण आलए।
जरा-मरणघत्थमि खणपि न रमामह॥ —उत्तराध्ययन सूत्र अ १९।१४

३८ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति, पृ ७५

(ख) सूयगडग चूर्णि (मूलपाठ टिप्पण) पृ २९

बोधिदुर्लभता की चेतावनी

१६१. इणमेव खणं वियाणिया, णो सुलभं बोहिं च आहियं ।
एवं सहिएऽहिपासए, आह जिणे इणमेव सेसगा ॥१९॥

१६१ ज्ञानादि सम्पन्न या स्वहितैषी मुनि इस प्रकार विचार (या पर्यालोचन) करे कि यही क्षण (बोधि प्राप्ति का) अवसर है, बोधि (सम्यग्दर्शन या सद्बोध की प्राप्ति) सुलभ नही है, ऐसा जिन-रागद्वेष विजेता (तीर्थंकर ऋषभदेव) ने और शेष तीर्थंकरो ने (भी) कहा है ।

विवेचन—बोधिदुर्लभता की चेतावनी—इस गाथा मे शास्त्रकार वर्तमान क्षण का महत्त्व बताकर चेतावनी देते है कि बोधि दुर्लभ है । उत्तरार्द्ध मे इस तथ्य की पुष्टि के लिए—समस्त राग-द्वेष-विजेता तीर्थंकरो की साक्षी देते है ।

इणमेव खण—इस वाक्य मे 'इण' (इद) शब्द प्रत्यक्ष और समीप का और 'खण' अर्थ का बोधक है । 'एव' शब्द निश्चय अर्थ मे है । शास्त्रकार के आशय को खोलते हुए वृत्तिकार कहते है - मोक्ष साधना के लिए यही क्षेत्र और यही काल तथा यही द्रव्य और यही भाव श्रेष्ठ अवसर है ।

द्रव्यतः श्रेष्ठ अवसर—जगम होना, पचेन्द्रिय होना, उत्तमकुलोत्पत्ति तथा मनुष्य जन्म प्राप्ति है । **क्षेत्रतः श्रेष्ठ अवसर है**—साढे पच्चीस जनपद रूप आर्यदेश प्राप्त होना । **कालत श्रेष्ठ अवसर है**—अवसर्पिणी काल का चतुर्थ आदि आरा तथा वर्तमान काल धर्म प्राप्ति के योग्य है । **भावत श्रेष्ठ अवसर है**-सम्यक् श्रद्धान एव चारित्रावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न सर्वविरति स्वीकार करने मे उत्साह रूप भाव अनुकूलता ।

सर्वज्ञोक्त (शास्त्रोक्त) कथन से ऐसा क्षण (अवसर) प्राप्त होने पर भी जो जीव धर्माचरण या मोक्षमार्ग की साधना नही करेगा उसे फिर बोधि प्राप्त करना सुलभ नही होगा, यही इस गाथा का आशय है ।[39]

इस प्रेरणा सूत्र के द्वारा साधक को गम्भीर चेतावनी शास्त्रकार ने दे दी है **'एव सहिएऽहियासए'** इस प्रकार (पूर्वोक्त कथन को जानकर) ज्ञानादि सहित या स्वहितार्थी साधक को अपनी आत्मा मे (भीतर) झाकना चाहिए । इस चेतावनी के रहस्य को खोलने के लिए वृत्तिकार एक गाथा प्रस्तुत करते है -

"लद्धेल्लिय बोहिं, अकरे तो अणागय च पत्थेतो ।
अन्ने दाइं बोहिं, लब्भिसि कयरेण मोल्लेणं ?"

३९ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पृ ७५ के आधार पर
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ ३९५ के आधार पर
(ग) तुलना— 'खण जाणाहि पडिए'—आचाराग सूत्र १, अ २ उ २ स ६८ पृ० ४४

अर्थात्—जो पुरुष उपलब्ध बोधि को सार्थक नही करता और भविष्य काल मे बोधि प्राप्त करने की अभिलाषा रखता है अर्थात् यह चाहता है कि मुझे भविष्य मे बोधि मिले, वह दूसरो को बोधि देकर क्या मूल्य चुकाकर पुन बोधि लाभ करेगा ?

तात्पर्य यह है कि आत्महितार्थी साधक को दीर्घदृष्टि से सोचना चाहिए कि अगर एक बार बोधिलाभ का अवसर खो दिया तो अर्धपुद्गल-परावर्तन काल तक फिर बोधि (सम्यक्त्व) प्राप्त करना दुर्लभ होगा । अत साधक सदैव बोधि दुर्लभता का ध्यान रखे । वह अपने अतरतम मे झाककर सदैव पता लगाता रहे कि बोधि-लाभ को सार्थक करने का कोई भी क्षण खोया तो नही है ।

बोधिदुर्लभता का यह उपदेश केवल शास्त्रकार ही नही कर रहे है, अष्टापद पर्वत पर प्रथम तीर्थकर ने अपने पुत्रो को यह उपदेश दिया था, शेष तीर्थंकरों ने भी यही बात कही है ।

पाठान्तर—**'अहियासए'** के बदले 'अधियासए' पाठान्तर भी है, जिसका अर्थ होता है—परिषहोपसर्गो को समभाव से सहन करे ।[४०]

भिक्षुओं के मोक्षसाधक गुणों में ऐकमत्य

१६२. अभविंसु पुरा वि भिक्खवो, आएसा वि भविंसु सुव्वता ।
एताइ गुणाइं आहु ते, कासवस्स अणुधम्मचारिणो ॥२०॥

१६३. तिविहेण वि पाणि मा हणे, आयहिते अणियाण संवुडे ।
एवं सिद्धा अणतगा, संपति जे य अणागयाऽवरे ॥२१॥

१६२ भिक्षुओ ! पूर्वकाल मे भी जो (सर्वज्ञ) हो चुके है और भविष्य मे भी जो होगे, उन सुव्रत पुरुषो ने इन्ही गुणो को (मोक्ष साधन) कहा है । काश्यपगोत्रीय (भगवान् ऋषभदेव एव भगवान् महावीर स्वामी) के धर्मानुगामी साधको ने भी यही कहा है ।

१६३ मन, वचन और काया इन तीनो से प्राणियो का प्राणातिपात (हिंसा) न करे तथा-हित (अपने कल्याण) मे रत रहे, स्वर्गादि सुखो की वाञ्छा (निदान) से रहित, सुव्रत होकर रहे । इस प्रकार (रत्नत्रय की साधना से) अनन्त जीव (भूतकाल मे) सिद्ध-मुक्त हुए है, (वर्तमानकाल मे हो रहे हैं) और भविष्य मे भी अनन्त जीव सिद्ध-बुद्ध मुक्त होगे ।

विवेचन—भिक्षुओं के मोक्षसाधक गुण : सभी तीर्थंकरों का एकमत—प्रस्तुत गाथाद्वय मे पूर्वोक्त गाथाओ मे निरूपित मोक्ष साधक गुणो के सम्बन्ध मे सभी तीर्थकरो की एक वाक्यता बतायी गयी है, तथा पचमहाव्रत आदि चारित्र गुणो से युक्त साधको की तीनो कालो मे मुक्ति भी बतायी गयी है ।[४१]

'अभविंसु पुरावि एताइगुणाइं आएसा ।'—इस गाथा पक्ति का आशय यह है कि पूर्व

४० सूत्रकृतांग शीलाकवृत्ति पृ ७५

४१ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति, पृ ७५

गाथाओं मे जिन मोक्ष साधक गुणो का निरूपण किया गया है, उस सम्बन्ध मे अतीत, अनागत वर्तमान के सर्वज्ञ एक मत हैं, इतना ही नही काश्यप गोत्रीय भगवान् ऋषभदेव एव भगवान् महावीर के धर्मानुगामी साधको का भी यही मत है ।

'सुव्वया'—शब्द इस बात का सूचक है कि इन पुरुषो को जो सर्वज्ञता प्राप्त हुई थी, वह उत्तम व्रतो के पालन से ही हुई थी और होगी ।

तिविहेण वि पाणि मा हणे—संवुडे—यद्यपि मोक्ष-साधन तीन है- सम्यग् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र, परन्तु यहा केवल सम्यक् चारित्र (महाव्रतादि) से मुक्त-सिद्ध होने का जो वर्णन किया है—वह इस अपेक्षा से है कि जहाँ सम्यक् चारित्र आयेगा, वहाँ सम्यक् ज्ञान अवश्यम्भावी है और ज्ञान सम्यक् तभी होता है, जब दर्शन सम्यक् हो । अत सम्यक् चारित्र मे सम्यक् ज्ञान और सम्यग्दर्शन का समावेश हो ही जाता है । अथवा पूर्व गाथाओ मे सम्यग्दर्शन एव सम्यग्ज्ञान के सम्बन्ध मे बहुत कुछ कहा ही जा चुका है, इसीलिए शास्त्रकार ने पुनरुक्ति न करते हुए इतना सा सकेत कर दिया है— **'एताइ गुणाइं आहु ते'** । फिर भी शास्त्रकार उत्तराध्ययन सूत्र मे उक्त **'अगुणिस्स नत्थि मोक्खो'**[४२] चारित्र गुण रहित को मोक्ष नही होता, इस सिद्धान्त की दृष्टि से यहाँ कुछ मूलभूत चारित्र गुणो का उल्लेख मात्र कर दिया है—**'तिविहेण वि पाणि मा हणे**— । यहाँ सर्वचारित्र के प्रथम गुण—अहिसा महाव्रत पालन का निर्देश समझ लेना चाहिए । अन्य चारित्र से सम्बद्ध मुख्य तीन गुणो का भी यहाँ उल्लेख है—(१) आत्महित तत्पर, (२) निदान (स्वर्गादि-सुख भोग प्राप्ति की वाञ्छा रूप) से मुक्त, तथा (३) सुव्रत (तीन गुप्तियो से गुप्त, या पचसवर से युक्त ।) निष्कर्ष यह है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान युक्त चारित्र गुणो से अतीत मे अनन्त जीव सिद्ध मुक्त हुए है, भविष्य मे भी होगे और वर्तमान मे भी । चूर्णिकार के **'संपतंसखेज्जा सिज्झंति'** इस मतानुसार 'वर्तमान मे सख्यात जीव सिद्ध होते है ।

१६४. एवं से उदाहु अणत्तरनाणी अणुत्तरदंसी अणुत्तरनाणदसणधरे ।
अरहा णायपुत्ते भगव वेसालीए वियाहिए ।।२२।। त्ति

१६४ इस प्रकार उस (भगवान् ऋषभदेव स्वामी) ने कहा था, जिसे अनुत्तरज्ञानी, अनुत्तर-दर्शी, अनुत्तर ज्ञान-दर्शन-धारक, इन्द्रादि देवो द्वारा पूजनीय (अर्हन्त) ज्ञातपुत्र तथा ऐश्वर्यादि गुण युक्त भगवान् वैशालिक महावीर स्वामी ने वैशाली नगरी मे कहा था —'सो मै (सुधर्मा स्वामी) तुमसे जम्बू स्वामी आदि शिष्य वर्ग से) कहता हूँ ।'

विवेचन—प्रस्तुत गाथा वैतालीय या वैदारिक अध्ययन की अन्तिम गाथा है । इसमे इस अध्ययन का उपसहार करते हुए श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी आदि से इस अध्ययन रचना का

---

४२ (क) देखिए उत्तराध्ययन (अ २८।३०) मे मोक्ष-विषयक सिद्धान्त—
'नादसणिस्स नाण, नाणेण विणा ण हुँति चरणगुणा ।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाण ।।'
(ख) (अ) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति सहित भाषानुवाद भा १, पृ. २९८ पर से
(ब) सूयगडग चूर्णि (मूलपाठ टिप्पण) पृ २९

इतिहास बताते हुए कहते है—**'एवं से उदाहु— वेसालिए वियाहिए'**। इसका आशय यह है कि 'तीन उद्देशकों से युक्त इस वेतालीय अध्ययन मे जो उपदेश है, वह आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने अपने ९८ पुत्रो को लक्ष्य करके अष्टापद पर्वत पर दिया था, उसे ही भगवान् महावीर स्वामी ने हमे (गणधरो को) विशाला नगरी मे फरमाया था। उसी उपदेश को मै तुमसे कहता हूँ।'

भगवान् महावीर के विशेषणो के अर्थ—प्रस्तुत गाथा मे भगवान् महावीर के ७ विशेषण उनकी मोक्ष प्राप्ति की गुणवत्ता एव योग्यता बताने के लिए प्रयुक्त किये गये हैं। उनके अर्थ क्रमश इस प्रकार है—**अणुत्तर णाणी**—केवलज्ञानी, जिससे उत्तम (बढकर) और कोई ज्ञान कही ऐसे अनुत्तर ज्ञान से सम्पन्न। **अणुत्तरदसी**—केवलदर्शन, जिससे बढकर कोई दर्शन न हो, ऐसे अनुत्तर दर्शन से सम्पन्न। **अणुत्तर णाणदंसण धरे**—केवल (अनुत्तर) ज्ञान-दर्शन के धारक। **अरहा**—इन्द्रादि देवो द्वारा पूज्य अर्हन्। **नायपुत्ते**—ज्ञातृकुल मे उत्पन्न होने से ज्ञातपुत्र। **भगवं**—ऐश्वर्यादि छ गुणो से युक्त भगवान्। **वेसालिए**—इसके सस्कृत मे दो रूप बनते है वैशालिक और वैशाल्याम्। अत 'वैसालिए' के तीन अर्थ निकलते है—(१) वैशाली मे, अथवा विशाला नगरी मे किया गया प्रवचन, (२) विशाल कुल मे उत्पन्न होने से वैशालिक भगवान् ऋषभदेव, (३) अथवा वैशालिक भगवान् महावीर। पिछले अर्थ का समर्थन करने वाली एक गाथा वृत्तिकार ने दी—

> **"विशाला जननी यस्य, विशालं कुलमेव वा।**
> **विशालं वचनं चास्य, तेन वैशालिको जिन ॥"[४३]**

अर्थात् (भगवान् महावीर) की माता विशाला थी, उनका कुल भी विशाल था, तथा उनका प्रवचन भी विशाल था, इसलिए जिनेन्द्र (भगवान् महावीर) को वैशालिक कहा गया है। इसलिए **'वेसालिए वियाहिए'** का अर्थ हुआ—(१) वैशाली नगरी मे (यह उपदेश) कहा गया था, अथवा (२) वैशालिक भगवान् महावीर ने (इसका) व्याख्यान किया था।

अधिक गाथा—एक प्रति मे चूर्णिकार एव वृत्तिकार के द्वारा व्याख्या न की हुई एक गाथा इस अध्ययन के अन्त मे मिलती है—

> **'इति कम्मवियालमुत्तमं जिणवरेण सुदेसियं सया।**
> **जे आचरंति आहिय खवितरया वईहिति ते सिव गति।'[४४]** —त्ति बेमि

अर्थ—इस प्रकार उत्तम कर्मविदार नामक अध्ययन का उपदेश श्री जिनवर ने स्वय फरमाया है, इसमे कथित उपदेश के अनुसार जो आचरण करते है, वे अपने कर्मरज का क्षय करके मोक्षगति प्राप्त कर लेते है। —ऐसा मैं कहता हूँ।

॥ तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

॥ वैतालीय : द्वितीय अध्ययन सम्पूर्ण ॥

---

४३ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ७६ के आधार पर

४४ सूयगडग सुत्त मूल (जम्बूविजयजी-सम्पादित) पृ० ३०

उपसर्ग-परिज्ञा : तृतीय अध्ययन

प्राथमिक

☐ सूत्रकृतागसूत्र के तृतीय अध्ययन का नाम है—'उपसर्गपरिज्ञा'।

☐ प्रतिबुद्ध (सम्यक् उत्थान से उत्थित) साधक जब मोक्ष प्राप्ति हेतु रत्नत्रय की साधना करने जाता है, तब से लेकर साधना के अन्त तक उसके समक्ष कई अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्ग आते है। कच्चा साधक उस समय असावधान हो तो उनसे परास्त हो जाता है, उसकी की हुई साधना दूषित हो जाती है। अत साधक उन उपसर्गों को भलीभाँति जाने और उनसे पराजित न होकर समभाव पूर्वक अपने धर्म पर डटा रहे तभी वह वीतराग, प्रशान्तात्मा एव स्थितप्रज्ञ बनता है। यही इस अध्ययन का उद्देश्य है।[1]

☐ उपसर्गों की परिज्ञा दो प्रकार से की जाती है -(१) ज्ञपरिज्ञा से उन्हे जाने और (२) प्रत्याख्यान परिज्ञा से उनके समक्ष डटा रहकर प्रतीकार करे। यही तथ्य उपसर्ग परिज्ञा अध्ययन मे प्रतिपादित है।

☐ 'उपसर्ग' जैन धर्म का एक पारिभाषिक शब्द है। निर्युक्तिकार ने उपसर्ग का निर्वचन इस प्रकार किया है—'जो किसी देव, मनुष्य या तिर्यञ्च आदि दूसरे पदार्थों से (साधक के समीप) आता है तथा जो साधक के देह और सयम को पीडित करता है वह 'उपसर्ग' कहलाता है।[2] उपताप, शरीर-पीडोत्पादन इत्यादि उपसर्ग के पर्यायवाची शब्द है। प्रचलित भाषा मे कहे तो, साधना-काल मे आने वाले इन विघ्नो, बाधाओ, उपद्रवो और आपत्तियो को उपसर्ग कहा जाता है।

☐ निर्युक्तिकार ने **'उपसर्ग'** को विभिन्न दृष्टियो से समझाने के लिए ६ निक्षेप किये है--(१) नाम उपसर्ग, (२) स्थापना-उपसर्ग, (३) द्रव्य-उपसर्ग, (४) क्षेत्र-उपसर्ग, (५) काल-उपसर्ग और (६) भाव-उपसर्ग।

☐ किसी का गुण शून्य उपसर्ग नाम रख देना **'नाम-उपसर्ग'** है, उपसर्ग सहने वाले या उपसर्ग सहते समय की अवस्था को चित्रित करना, या उसका कोई प्रतीक रखना **'स्थापना-उपसर्ग'** है, उपसर्ग

१ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ७७

२ (क) "आगतुगो य पीलागरो य जो सो उवसग्गो।" —सूत्रकृताग निर्युक्ति गा० ४५

(ख) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ७७

(ग) जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भा० १, पृ० १४२

कर्ता या उपसर्ग करने का साधन **द्रव्य उपसर्ग** है । यह दो प्रकार का है-- चेतन द्रव्यकृत, अचेतन द्रव्यकृत । तिर्यञ्च, मनुष्य आदि अचेतन प्राणी अगो का घात करके जो उपसर्ग (देह पीडा) उत्पन्न करते हैं, वह **सचित्त द्रव्यकृत** है और काष्ठ आदि अचित्त द्रव्यो द्वारा किया गया आघात **अचित्त द्रव्यकृत** उपसर्ग है ।

☐ जिस क्षेत्र मे क्रूर जीव, चोर आदि द्वारा शरीर पीडा, सयम-विराधना आदि होती है, अथवा कोई वस्तु किसी क्षेत्र मे दु ख उत्पन्न करती है, उसे **क्षेत्रोपसर्ग** कहते है । जिस काल मे एकान्त दु ख ही होता है, वह दु षम आदि काल, अथवा —ग्रीष्म, शीत आदि ऋतुओ का अपने-अपने समय मे दु ख उत्पन्न करना **कालोपसर्ग** है । ज्ञानावरणीय, असातावेदनीय आदि कर्मों का उदय होना भावोपमर्ग है ।

☐ नाम और स्थापना को जोडकर पूर्वोक्त सभी उपसर्ग **औधिक** और **औपक्रमिक** के भेद से दो प्रकार के होते है ।

☐ अशुभकर्म प्रकृति से उत्पन्न उपसर्ग औधिक उपसर्ग है, और डडा, चाबुक, शस्त्र, मुट्ठी आदि के द्वारा जो दु ख उत्पन्न होना है, वह औपक्रमिक उपसर्ग है ।

☐ यहाँ 'उपक्रम' का अर्थ है —जो कर्म उदय-प्राप्त नही है, उसका उदय होना । अत औपक्रमिक उपसर्ग का अर्थ हुआ —जिस द्रव्य का उपयोग करने से, या जिस द्रव्य के निमित्त से असाता-वेदनीय आदि अशुभकर्मो का उदय होता है, और जब अशुभकर्मोदय होता है, तब अल्प पराक्रमी साधक के सयम मे विघ्न, दोष या विघात आ जाता है, उस द्रव्य द्वारा उत्पन्न उपसर्ग को 'औपक्रमिक उपसर्ग' कहते है । मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रवृत्त मुनियो का सयम (रत्नत्रय साधक) ही मोक्ष का अग है । अत उस सयम मे विघ्नकारक औपक्रमिक उपसर्ग का ही इस अध्ययन मे वर्णन है, औधिक उपसर्ग का नही ।

☐ औपक्रमिक उपसर्ग द्रव्य रूप से चार प्रकार का होता है- -दैविक, मानुष्य, तिर्यञ्चकृत और आत्म-सवेदन रूप ।

☐ इनमे से प्रत्येक के चार-चार प्रकार होते है । दैविक (देवकृत) उपसर्ग हास्य से, द्वेष से, परीक्षा करने के लिए तथा अन्य अनेक कारणो से होता है । मनुष्कृत उपसर्ग भी हास्य से, द्वेष से, परीक्षा करने के लिए एव कुशील सेवन निमित्त से होता है । तिर्यञ्चकृत उपसर्ग भय से, द्वेष से, आहार के लिए तथा अपनी सतान आदि की रक्षा के लिए होता है । आत्म सवेदन रूप उपसर्ग भी चार प्रकार का होता है (१) अगो के परस्पर रगडने से, (२) अँगुलि आदि अगो के चिपक जाने या कट जाने से (३) रक्त सचार रुक जाने से एव ऊपर से गिर जाने से । अथवा (४) वात, पित्त, कफ और इन तीनो के विकार से भी आत्म-सवेदनरूप उपसर्ग चार प्रकार का होता है । पूर्वोक्त देवकृत आदि चारो उपसर्ग अनुकूल और प्रतिकूल के भेद से ८ प्रकार के हैं । तथा पूर्वोक्त चारो के ४ भेदो को परस्पर मिलाने से कुल १६ भेद उपसर्गों के होते है ।[3]

---

३ (क) सूत्रकृताग निर्युक्ति गा० ४५, ४६, ४७, ४८

(ख) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ७७-७८

- प्रस्तुत अध्ययन के चार तथ्यो का सागोपाग निरूपण किया गया है —
  (१) कैसे-कैसे उपसर्ग किस-किस रूप मे आते है ?
  (२) उन उपसर्गों को सहने मे क्या-क्या पीडा होती है ?
  (३) उपसर्गों से सावधान न रहने या उनके सामने झुक जाने से कैसे सयम का विघात होता है ?
  (४) उपसर्गों के प्राप्त होने पर साधक को क्या करना चाहिए ।[४]

- प्रस्तुत अध्ययन के चार उद्देशक है—प्रथम उद्देशक मे प्रतिकूल उपसर्गों का वर्णन है । द्वितीय उद्देशक मे स्वजन आदिकृत अनुकूल उपसर्गों का निरूपण है । तृतीय उद्देशक मे आत्मा मे विषाद पैदा करने वाले अन्यतीर्थिको के तीक्ष्णवचन रूप उपसर्गो का विवेचन है और चतुर्थ उद्देशक मे अन्यतीर्थिको के हेतु सदृश प्रतीत होने वाले हेत्वाभासो से वस्तुस्वरूप को विपरीत रूप मे ग्रहण करने से चित्त को विभ्रान्त एव मोहित करके जीवन को आचारभ्रष्ट करने वाले उपसर्गों का तथा उन उपसर्गों के समय स्वसिद्धान्त प्रसिद्ध मुक्ति सगत हेतुओ द्वारा यथार्थ बोध देकर सयम मे स्थिर रहने का उपदेश है ।

  चारो उद्देशको मे क्रमश १७, २२, २१ और २२ गाथाएँ है ।

- इस अध्ययन की सूत्र गाथा सख्या १६५ से प्रारम्भ होकर गाथा २४६ पर समाप्त है ।

□□

४ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति, पत्राक ७८
(ख) सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ४०२

५ (क) सूत्रकृताग निर्युक्ति गाथा ४९, ५०
(ख) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ७८
(ग) जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग १, पृ० १४१, १४३, १४४

उवसग्गपरिण्णा–तइयं अज्झयणं

पढमो उद्देसओ : प्रथम उद्देशक

उपसर्ग-परिज्ञा : तृतीय अध्ययन

प्रतिकूल-उपसर्ग विजय

१६५. सूरं मन्नति अप्पाण जाव जेत न पस्सति ।
जुज्झंतं दढधम्माण सिसुपाले व महारहं ॥१॥

१६६. पयाता सूरा रणसीसे सगामम्मि उवट्ठिते ।
माता पुत्त ण याणाइ जेतेण परिविच्छए ॥२॥

१६७. एवं सेहे वि अप्पुट्ठे भिक्खाचरियाअकोविए ।
सूरं मन्नति अप्पाणं जाव लूहं न सेवई ॥३॥

१६५ जब तक विजेता पुरुष को नही देख लेता, (तब तक कायर) अपने आपको शूरवीर मानता है। युद्ध करते हुए दृढधर्मा (अपने प्रण पर दृढ) महारथी (श्रीकृष्ण) को देखकर जैसे शिशुपाल के छक्के छूट गए थे।

१६६ युद्ध छिडने पर युद्ध के अग्रभाग मे (मोर्चे पर) पहुचे हुए शूरवीर (वीराभिमानी पुरुष), (जिम युद्ध मे) माता अपनी गोद से गिरते हुए बच्चे को नही जानती, (ऐसे कलेजा कपा देने वाले भयकर युद्ध मे), जब विजेता पुरुष के द्वारा क्षत-विक्षत (घायल) कर दिये जाने पर दीन हो जाते हैं।

१६७ इसी प्रकार भिक्षाचर्या मे अनिपुण तथा परीषहो और उपसर्गों का स्पर्श नही पाया हुआ नवदीक्षित साधु (शैक्ष) भी अपने आपको तभी तक शूरवीर मानता है, जब तक वह सयम का सेवन—आचरण नही करता।

विवेचन—उपसर्ग विजय—कितना सरल, कितना कठिन ?—प्रस्तुत तीन गाथाओ मे शास्त्रकार साधक को दृष्टान्तो द्वारा उपसर्ग विजय की महत्ता समझाने का प्रयत्न कर रहे है कि (१) उपसर्ग पर विजय पाना कायर एव शूराभिमानी पुरुष के लिए उतना आसान नही, जितना वह समझता है, (२) कदाचित युद्ध के मोर्चे पर कोई वीराभिमानी कायर पुरुष आगे बढ भी जाए, किन्तु भीषण युद्ध मे विजेता द्वारा घायल कर दिये जाने पर वह दीन हो जाता है, (३) भिक्षाचरी आदि

साधुचर्या मे अनिपुण एव अभी तक उपसर्गों से अछूता नवदीक्षित साधु तभी तक अपने आपको उपसर्ग विजयी शूर मान सकता है, जब तक वह सयम का सेवन नही करता ।

उपसर्ग देखते ही सूराभिमानी के छक्के छूट जाते हैं—साधु का वेष पहन लेने और महाव्रतो का एवं सयम का स्वीकार कर लेने मात्र से कोई उपसर्ग विजेता साधक नही हो जाता ।

उपसर्गों पर विजय पाना युद्ध मे विजय पाने से भी अधिक कठिन है । उपसर्गों से लडना भी एक प्रकार का धर्मयुद्ध है । इसीलिए शास्त्रकार यहाँ दृष्टान्त द्वारा यह सिद्ध करते है कि युद्ध मे जब तक अपने सामने विजयशील प्रतियोद्धा को नही देखता, तभी वीराभिमानी होकर गर्जता है । जैसे माद्रीपुत्र शिशुपाल योद्धा के रूप मे तभी तक अपनी प्रशसा करता रहा, जब तक युद्ध मे अपने समक्ष प्रण-दृढ महारथी प्रतियोद्धा श्रीकृष्ण को सामने जूझते हुए नही देखा । यह इस गाथा का आशय है ।

शिशुपाल श्रीकृष्णजी की फूफी (बुआ) का लडका था । एक बार माद्री (फूफी) ने पराक्रमी श्रीकृष्ण के चरणो मे शिशुपाल को झुकाकर प्रार्थना की 'श्रीकृष्ण ! यदि यह अपराध करे तो भी तू क्षमा कर देना । श्रीकृष्णजी ने भी सौ अपराध क्षमा करने का वचन दे दिया । शिशुपाल जब जवान हुआ तो यौवन मद से मत्त होकर श्रीकृष्ण को गालिया देने लगा । दण्ड देने मे समर्थ होते हुए भी श्रीकृष्णजी ने प्रतिज्ञा बद्ध होने से उसे क्षमा कर दिया । जब शिशुपाल के सौ अपराध पूरे हो गए, तब श्रीकृष्णजी ने उसे बहुत समझाया, परन्तु वह नही माना ।

एक बार किसी बात को लेकर शिशुपाल ने कृष्ण के साथ युद्ध छेड दिया । जब तक श्रीकृष्ण स्वय युद्ध के मैदान मे नही आए, तब तक शिशुपाल अपने और प्रतिपक्षी सैन्य के लोगो के सामने अपनी वीरता की डीग हाकता रहा, किन्तु ज्यो ही शस्त्रास्त्र का प्रहार करते हुए श्रीकृष्ण को प्रति-योद्धा के रूप मे सामने उपस्थित देखा, त्यो ही उसका साहस समाप्त हो गया, घबराहट के मारे पसीना छूटने लगा, फिर भी अपनी दुर्बलता छिपाने के लिए वह श्रीकृष्ण पर प्रहार करने लगा । श्रीकृष्णजी ने उसके सौ अपराध पूरे हुए देख चक्र से उसका मस्तक काट डाला ।[1]

इसी दृष्टि से शास्त्रकार कहते है । **सूरमन्नति महारह** । अपने को शूरवीर मानने वाला घायल होते ही दीन बन जाता है —कई शूराभिमानी अपनी प्रशसा से उत्तेजित होकर युद्ध के मोर्चे पर तो उपस्थित हो जाते है, किन्तु जब दिल दहलाने वाला युद्ध होना है, तब वे घबराने लगते है । युद्ध की भीषणता तो इतनी होती है कि युद्ध की भयकरता मे घबराई हुई माता को अपनी गोद से गिरते हुए प्यारे पुत्र का भी ध्यान नही रहता । और जब विजेता प्रतिपक्षी सुभटो द्वारा चलाए गए शस्त्रास्त्र से वे क्षत-विक्षत कर दिये जाते है, तब तो वे दीन-हीन होकर गिर जाते है, उनका साहस टूट जाता है । यह भाव इस गाथा मे व्यक्त किया गया है '**पयाता सूरा परिविच्छए** ।'[2]

---

१ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति सहित भाषानुवाद भा २ पृ, ५ से ९ तक का सार

२ (क) सूत्रकृताक शीलाकवृत्ति पत्राक ७८ के आधार पर

(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ ४०४

इसी प्रकार उपसर्गों को सहन करने मे कायर, अथवा उपसर्गों से अछूता नवदीक्षित साधक, जो उपसर्ग के साथ जूझने से पहले अपने आपको शूरवीर मानता था, प्रबल उपसर्गों से पराजित हो जाता है। वह दीन बन जाता है, अतएव उपसर्ग पर डटे रहने, और उसके सामने हार न मानने के लिए सयम का सतत अभ्यास आवश्यक है। जब तक सयम का सतत आचरण नही होगा तब तक साधक के लिए उपसर्ग—विजय अत्यन्त कठिन है। लूहं—अर्थात् रूक्ष—सयम। अष्टविध कर्म नही चिपकने (राग रहित होने) के कारण सयम को रूक्ष कहा गया है।[3]

दढधम्माणं—का अर्थ वृत्तिकार के अनुसार—"दृढ समर्थो धर्मो स्वभाव. सग्रामाभगरूपो यस्य स तथा तम् दृढधर्माणम्" जिसका स्वभाव सग्राम मे पलायित न होने का दृढ है, वही। चूर्णिकार के अनुसार—"दढधन्नाण" पाठान्तर है, अर्थ है—जिसका धनुष्य दृढ है।[4]

शीतोष्ण परीषह-रूप उपसर्ग के समय मन्द साधक की दशा

१६८. जदा हेमंतमासम्मि सीतं फुसति सवातग।
तत्थ मंदा विसीयंति रज्जहीणा व खत्तिया ॥ ४ ॥

१६९. पुट्ठे गिम्हाभितावेण विमणे सुप्पिवासिए।
तत्थ मंदा विसीयंति मच्छा अप्पोदए जहा ॥ ५ ॥

१६८ हेमन्त (ऋतु) के मास (मौसम) मे जब शीत (ठण्ड) (सभी अगो को) स्पर्श करती है तब मन्द पराक्रमी (मनोदुर्बल साधक) राज्यविहीन क्षत्रिय की तरह विषाद का अनुभव करते हैं।

१६९ ग्रीष्म (ऋतु) के प्रचण्ड ताप (गर्मी) से स्पर्श पाया हुआ (साधक) उदास (अनमना-सा) और पिपासाकुल (हो जाता है।) उस (भयकर उष्ण परीषह) का उपसर्ग प्राप्त होने पर मन्द (शिथिल या मूढ) साधक इस प्रकार विषाद अनुभव करते है, जैसे थोडे-से जल मे मछली।

विवेचन—शीतोष्णपरिषह रूप उपसर्ग के समय मन्द साधक की मनोदशा—प्रस्तुत गाथाद्वय मे हेमन्त ऋतु मे शीत और ग्रीष्मऋतु मे ताप-परीषह रूप उपसर्गो के समय मन्द साधक किस प्रकार विषाद का अनुभव करते है, इसे उपमा द्वारा समझाया गया है।

'जदा हेमन्तमासम्मि रज्जहीणा व खत्तिया'—इसका आशय यह है कि जब कभी हेमन्त ऋतु के पौष-माघ महीनो मे ठण्ठी-ठण्डी कलेजे को चीरने वाली बर्फीली हवाओ के साथ ठण्ड शरीर के सभी अगो को स्पर्श करने लगती है, तब असह्यशीतस्पर्श से कई मन्द—अल्पपराक्रमी भारीकर्मी साधक इस प्रकार दुखानुभव करते है, जिस प्रकार राज्यभ्रष्ट होने पर क्षत्रिय (शासक) विषाद का अनुभव करते है। तात्पर्य यह है—जैसे राज्यभ्रष्ट शासक मन मे खेद-खिन्न होता है कि लडाई भी

---

३ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ७९
(ख) सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या ४०५

४ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ७८-७९

लड़ी, इतने सैनिक भी मारे गये और राज्य भी हाथ से गया, वैसे ही उपसर्ग सहने मे कायर साधक भी कड़ाके की ठण्ड का उपमर्ग आने पर यह सोचकर खिन्न होता है कि 'मैने घरबार भी छोड़ा, सुख-सुविधाएँ भी छोडी, परिवार वालो को भी रुष्ट किया, फिर भी ऐसी असह्य सर्दी का सामना करना पड़ रहा है।'[५]

पुट्ठे गिम्हाभितावेणं मच्छा अप्पोदए जहा –इस गाथा का आशय यह है कि ग्रीष्मऋतु—ज्येष्ठ और आषाढमास मे जब भयकर गर्मी पडती है, लू चलती है, सनसनाती हुई गर्म हवाएँ शरीर को स्पर्श करती है, कण्ठ प्यास से व्याकुल हो जाता है, उस समय अल्पपराक्रमी साधक उदास, खिन्न एव अनमना-सा हो जाता है। ऐसी स्थिति मे विवेकमूढ अल्पसत्व नव दीक्षित साधक एकदम तडप उठते हैं। इसे दृष्टान्त द्वारा समझाते है—जैसे कि किसी जलाशय मे पानी सूखने लगता है, तब अत्यन्त अल्पजल मे मछलियाँ गर्मी से सतप्त होकर तडप उठती है, वहाँ से हटने मे असमर्थ होकर वे वही मरणशील हो जाती है।[६]

फलितार्थ—दोनो ही गाथाओ का यह उपदेश फलित होता है कि सर्दी का उपसर्ग हो या गर्मी का, साधक को अपना मनोबल, धैर्य और साहस नही खोना चाहिए। उपसर्गो पर विजय प्राप्त करने से कर्मनिर्जरा, आत्मबल, और सहनशक्ति मे वृद्धि होगी यह सोचकर उपसर्ग-सहन के लिए कटिबद्ध रहना चाहिए। दोनो उपसर्गों मे शीतोष्ण, पिपासा, अचेलक, अरति आदि परीषहो का समावेश हो जाता है।

कठिन शब्दो का अर्थ—सवातग- हवा के साथ, किसी प्रति मे इसके बदले पाठान्तर है—**सव्वंग**—अर्थात् सभी अगो को। **रज्जहीणा**—राज्य-विहीन, राज्य से भ्रष्ट, चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—**रट्ठहीणा**—अर्थात् राष्ट्र से हीन, राष्ट्र से निष्कासित। **गिम्हाभितावेणं**—ग्रीष्मऋतु ज्येष्ठ आषाढमास के अभिताप-गर्मी से। **अप्पोदए**—थोडे पानी मे।[७]

याचना-आक्रोश परीषह उपसर्ग

१७०. सदा दत्तेसणा दुक्ख जायणा दुप्पणोल्लिया।
कम्मत्ता दुब्भगा चेव इच्चाहंसु पुढो जणा॥ ६॥

१७१. एते सद्दे अचायता गामेसु नगरेसु वा।
तत्थ मंदा विसीयंति सगामंसि व भीरुणो॥ ७॥

१७० साधुओ के लिए दूसरे (गृहस्थ) के द्वारा दी हुई वस्तु ही एषणीय (उत्पादादि दोष-रहित होने पर ग्राह्य या उपभोग्य) होती हैं। सदैव यह दुःख (बना रहता) है, (क्योकि) याचना

५. (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ८० पर से
(ख) सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ४०७ पर से

६ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ८० पर से
(ख) सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ४०८ पर से

७ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ८०
(ख) सूयगडग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ३१

(भिक्षा माँगने) की पीडा दुस्त्याज्य (या दु सह) होती है। प्राकृत जन (अज्ञ लोग) इस प्रकार कहते है कि ये (भिक्षु-साधु) पूर्वकृत पापकर्म का फल भोग रहे है, ये अभागे हैं।

१७१ गावो मे या नगरो मे इन (पूर्वोक्त आक्रोशजनक) शब्दो को सहन न कर सकने वाले मन्द (अल्पसत्व साधक) आक्रोश परीषहरूप उपसर्ग के प्राप्त होने पर इस प्रकार विषाद पाते है, जैसे सग्राम में डरपोक लोग (विषाद पाते है)।

विवेचन—याचना—आक्रोश परीषहरूप उपसर्गों के समय कच्चे साधक की मनोदशा—प्रस्तुत सूत्रगाथाद्वय मे दो उपसर्गों के समय अल्पपराक्रमी साधको की मनोदशा का वर्णन किया गया है। वे दो उपसर्ग हैं—याचना परिषहरूप एव आक्रोश परीषहरूप।

याचना--साधु के लिए कष्टदायिनी, क्यो और कैसे ?—प्रश्न होता है कि साधु तो भिक्षाजीवी होता है फिर उसे भिक्षा मागने मे कष्ट क्यो होता है ? इसके उत्तर मे कहा गया है—**सया दत्तेसणा दुक्ख दुप्पणोल्लिया**--साधु भिक्षाजीवी है, इसीलिए तो प्रत्येक वस्तु याचना (माँग) करके गृहस्थ से (उसके द्वारा) दी जाने पर लेनी या उपभोग करनी होती है। ऐसी स्थिति मे पहले तो साधु को भिक्षा के लिए घर-घर घूमना, गृहस्थ (चाहे परिचित हो या अपरिचित) के घर मे प्रवेश करना, आवश्यक वस्तु भिक्षाचरी के ४२ दोषो मे से किसी दोष से युक्त तो नही है, इस प्रकार की एषणा करना, सदैव दु खदायक होना है। तत्पश्चात् दाता से आवश्यक वस्तु की याचना करना असह्य दु खद होता है। क्षुधावेदना से पीडित किन्तु पूर्व (गृहस्थ) जीव मे अभिमानी नवदीक्षित, परीषहोपसर्ग से अनभ्यस्त अल्पसत्व साधक किसी के द्वार पर निर्दोष आहारादि लेने जाता है, उस समय उसकी मन.स्थिति का वर्णन विद्वानो ने यो किया है –

खिज्जइ मुखलावण्णं वाया घोलेइ कंठमज्झंमि।
कहकहकहेइ हियय देहित्ति परं भणंतस्स ॥
गतिभ्रंशो मुखे दैन्यं गात्रस्वेदो विवर्णता।
मरणे यानि चिह्नानि तानि चिह्नानि याचके ॥

अर्थात्- याचना करने से गौरव समाप्त हो जाता है, इसलिए चेहरे की काति क्षीण हो जाती है, वाणी कठ मे ही घुटती रहती है, महसा यह नही कहा जाता कि मुझे अमुक वस्तु दो, हृदय धक्-धक् करने लगता है।

माँगने के लिए जाने मे उसके पैर लडखडाने लगते हैं, उसके मुख पर दीनता छा जाती है, शरीर से पसीना छूटने लगता है, चेहरे का रग उड जाता है। इस प्रकार मृत्यु के समय जो चिह्न दिखाई देते हैं, वे सब याचक मे दृष्टिगोचर होते है। 'कवि रहीम' ने भी एक दोहे द्वारा याचक को मृतक-सा बताया है--

"रहिमन वे नर मर चुके, जो कहुं माँगन जाहि।
उनते पहले वे मुए, जिन मुख निकसत नाँहि ॥"

इसका अर्थ यह नही है कि याचना परीषहरूप उपसर्ग प्रत्येक साधक के लिए ही दु खदायी हो। जो महासत्त्व उपसर्ग सहिष्णु एव अभ्यस्त सयमी साधक होते है, वे याचना के समय मन मे

दीनता-हीनता, ग्लानि एवं मिथ्या गौरव भावना नही लाते, वे स्वाभिमान पूर्वक निर्दोष भिक्षा प्राप्त होने पर ही लेते है, गृहस्थदाता द्वारा इन्कार करने पर या, रसहीन रूक्ष, तुच्छ एवं अल्प आहारादि देने पर भी वह विषण्ण नही होते, यही इस गाथा के पूर्वार्द्ध का फलिताशय है।

आक्रोश-परीषह के रूप मे उपसर्ग : किनके लिए सह्य-असह्य ?—इसी गाथा के उत्तरार्द्ध मे बतलाया गया है कि आक्रोश-परीषहरूप उपसर्ग किस रूप मे आता है—साधुओ को ग्राम या नगर मे प्रवेश करते या भिक्षा विहार आदि करते देखकर कई अनाडी लोग उन पर तानाकशी करते है 'अरे! देखो तो, इनके कपडे कितने गदे एव मैले है। शरीर भी गदा है, इनके शरीर और मुँह से बदबू आती हैं, इनके सिर मुडे हुए है, ये बेचारे भूखे-प्यासे, अधनगे एव भिखमगे साधु अपने पूर्वकृत अशुभकर्मों (के फल) से पीडित हैं, अथवा ये अपने पूर्वकृत पापकर्मों का फल भोग रहे है। अथवा ये लोग घर मे खेती, पशुपालन आदि काम धधा नही कर सकते थे, या उन कामो के बोझ से दुखी एव उद्विग्न (आर्त्त) थे, इनसे कामधाम होता नही था, निकम्मे और आलसी थे, घर मे इन्हे कोई पूछता नही था सभी पदार्थों से तग थे, इसलिए साधु बन गए है। ये लोग अभागे है, स्त्रीपुत्रादि सभी लोगो ने इन्हे निकाल (छोड) दिया है, जहाँ जाते है वहाँ इनका दुर्भाग्य साथ-साथ रहता है।' इसी बात को शास्त्रकार कहते है—'कम्मत्ता दुब्भगा जणा' अर्थात्—अज्ञानीजन इस प्रकार के आक्रोशमय (ताने भरे) शब्द उन्हे कहते है।

जो नाजुक, तुच्छ, उपसर्ग सहन मे अनभ्यस्त अल्पसत्त्व (मद) साधक होते है, वे अज्ञानीजनो के इन तानो तथा व्यग्य वचनो को सुनकर एकदम क्षुब्ध हो जाते है। ऐसे आक्षेप, निन्दा, तिरस्कार एव व्यग्य से युक्त तथा कलेजे मे तीर से चुभने वाले कटुवचनो को सुनते ही उनके मन मे दो प्रकार की प्रतिक्रिया होती है—(१) आक्रोश—शब्दो को सुनकर उन्हे सहने मे असमर्थ होने से मन ही मन कुढते या खिन्न होते रहते है, या (२) वे क्रुद्ध होकर वाद-विवाद आदि पर उतर आते है। उस समय उन कायर एव अपरिपक्व साधको की मन स्थिति इतनी दयनीय एव भयाक्रान्त हो जाती है, जैसी कायर और भगौडे सैनिको की युद्ध क्षेत्र मे पहुँचने पर या युद्ध मे जब तलवारे चमकती है, शस्त्रास्त्र उछलने लगते है, तब होती है। यही बात शास्त्रकार कहते है **एते सद्दे अचायता भीरुणो।**[८]

आक्रोश-उपसर्ग विषयक इस गाथा से यह आशय फलित होता है कि महाव्रती साधक उपसर्ग सहिष्णु बनकर ऐसे आक्रोशमय वचनो को समभाव से सहन करे।

कठिन शब्दो की व्याख्या—दुप्पणोल्लिया दुस्त्याज्य या दुसह। **कम्मत्ता दुब्भगा चेव**—वृत्तिकार के अनुसार कर्मों से अति-पीडित है, पूर्व-स्वकृत कर्मों का फल भोग रहे है, अथवा कृषि आदि कर्मों (आजीविका कार्यों) से आर्त्त—पीडित है, उन्हे करने मे असमर्थ एव उद्विग्न है, और दुर्भाग्य युक्त है।[९] चूर्णिकार ने **'कम्मता दुब्भगा चेव'** पाठान्तर मानकर अर्थ किया है—कृषि-पशु-

---

८ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ८० के आधार पर

९ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ८० मे देखिए—

(अ) कर्मभिरार्ता, पूर्वस्वकृतकर्मण फलमनुभवन्ति, यदि वा कर्मभि कृष्यादिभि आर्त्ता, तत्कर्तुमसमर्था उद्विग्ना सन्त।''

(ब) दुर्भगा—सर्वेणैव पुत्रदारादिना परित्यक्ता निर्गतिका सन्त प्रव्रज्यामभ्युपगता।

पालनादि कर्मों का अन्त—विनाश हो जाने, छूट जाने से ये आप्त-अभिभूत (पीडित) है और दुर्भागी है। **पुढोजणा**—पृथक्जन—प्राकृत (सामान्य) लोग। **अचायंता**—सहन करने मे अशक्त।[10]

वध-परीषह रूप उपसर्ग

१७२. अप्पेगे खु ंधियं भिक्खु ं सुणी दंसति लूसए।
तत्थ मंदा विसीयंति तेजपुट्ठा व पाणिणो ॥८॥

१७२ (भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए) क्षुधार्त भिक्षु को यदि प्रकृति से क्रूर कुत्ता आदि प्राणी काटने लगता है, तो उस समय अल्पसत्व विवेक मूढ साधु इस प्रकार दुखी (दीन) हो जाते है, जैसे अग्नि का स्पर्श होने पर प्राणी (वेदना से) आर्त्तध्यानयुक्त हो जाते है।

विवेचन—वधपरीषह के रूप मे उपसर्ग आने पर—प्रस्तुत सूत्र मे वधपरीषह के रूप उपसर्ग का वर्णन और उस मौके पर कायर साधक की मनोदशा का चित्रण किया है।

अप्पेगे खु धिय तेजपुट्ठा व पाणिणो—प्रस्तुत गाथा का आशय यह है कि एक तो बेचारा साधु भूख से व्याकुल होता है, उस पर भिक्षाटन करते समय कुत्ते आदि प्रकृति से क्रूर प्राणी उसकी विशित्र वेष-भूषा देखकर भोंकने, उस पर झपटने या काटने लगते है, दाँतो से उसके अगों को नोच डालते है, ऐसे समय मे नवदीक्षित या साधु सस्था मे नवप्रविष्ट परीषह एव उपसर्ग से अपरिचित अल्पसत्व साधक घबरा जाते हैं। वे उसी तरह वेदना से कराहते हैं, तथा आर्त्तध्यान करते है, जैसे आग से जल जाने पर प्राणी आर्तनाद करते हुए अग पकड या सिकोड कर बैठ जाते है। वे कदाचित् सयम से भ्रष्ट भी हो जाते है।[11]

कठिन शब्दो का अर्थ—अप्पेगे—'अपि' शब्द सम्भावना अर्थ में हैं। 'एगे' का अर्थ है—कई। आशय है—कई साधु ऐसे भी हो सकते हैं। **'खुधियं'**—इसके दो और पाठान्तर हैं—**खुज्झितं** और **खु धिय**- तीनो का अर्थ है क्षुधित—भूखा, क्षुधार्त्त साधक। **सुणी दसति लूसए**—प्रकृति से क्रूर कुत्ता आदि प्राणी काटने लगता है। **तेजपुट्ठा**—तेज—अग्नि से स्पृष्ट जला हुआ।[12]

---

१० (क) कम्मंता—कृषी पशुपाल्यादिभि कर्मान्तै आप्ता अभिभूता इत्यर्थ।—सूयगडग चूर्णि पृ ३१
(ख) पुढो जणा—पृथक् जना, प्राकृत पुरुषा, अनार्यकल्पा।

११ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ८०-८१ के आधार पर
(ख) सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ ४१२

१२ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ८०-८१
(ख) सूयगडंग मूल तथा टिप्पणयुक्त (जम्बूविजयजी सम्पादित) पृ ३२

आक्रोश-परीषह के रूप में उपसर्ग

१७३. अप्पेगे पडिभासंति, पाडिपंथियमागता ।
पडियारगया एते, जे एते एवंजीविणो ।।९।।

१७४. अप्पेगे वइ जुंजंति, नगिणा पिंडोलगाऽहमा ।
मुंडा कंडूविणट्ठंगा, उज्जल्ला असमाहिया ।।१०।।

१७५. एवं विप्पडिवण्णेगे, अप्पणा तु अजाणगा ।
तमाओ ते तमं जंति, मंदा मोहेण पाउडा ।।११।।

१७३ कई (पुण्यहीन) साधुजनो के प्रति द्रोही (प्रतिकूलाचारी) लोग (उन्हे देखकर) इस प्रकार प्रतिकूल बोलते है—ये जो भिक्षु इस प्रकार (भिक्षावृत्ति से) जी रहे है, ये (अपने) पूर्वकृत पापकर्मों का (फल भोग कर) बदला चुका रहे है ।

१७४ कोई-कोई ऐसा कहते हैं कि ये लोग नगे है, परपिण्ड पर पलने वाले (टुकडैल) है, तथा अधम हैं, ये मुण्डित है, खुजली से इनके अग गल गए है (या शरीर विकृत हो गए है), ये लोग सूखे पसीने से युक्त है तथा प्राणियो को असमाधि उत्पन्न करने वाले दुष्ट या बीभत्स है ।

१७५ इस प्रकार साधु और सन्मार्ग के द्रोही कई लोग स्वय अज्ञानी, मोह से आवृत (घिरे हुए) और विवेकमूढ है । वे अज्ञानान्धकार से (निकल कर फिर) गहन अज्ञानान्धकार मे जाते है ।

विवेचन—साधु-द्वेषीजनों द्वारा आक्रोश उपसर्ग—प्रस्तुत सूत्रगाथात्रय मे साधु-विद्वेषी प्रतिकूलाचारी लोगो द्वारा किये जाने वाले आक्रोशपरीषह रूप उपसर्ग का वर्णन है । साथ ही अन्त मे, इस प्रकार द्रोह मोह-युक्त मूढजनो को मिलने वाले दुष्कर्म के परिणाम का निरूपण है ।

कठिन शब्दो की व्याख्या—पडिभासंति—प्रतिकूल बोलते है, या चूर्णिकार सम्मत **'परिभासंति'** पाठान्तर के अनुसार—**'परि-समन्ताद् भाषन्ते परिभाषन्ते'** अर्थात् वे अत्यन्त बडबडाते है । **पाडिपंथिय-मागता-प्रतिपथः प्रतिकूलत्व तेन चरन्ति प्रातिपथिका साधुविद्वेषिण तद्भावमागतः कथञ्चित् प्रतिपथे वा दृष्टा अनार्याः ।** अर्थात्—प्रतिपथ से यानी प्रतिकूलरूप से जो चलते है वे प्रातिपथिक **है,** अर्थात् साधु-विद्वेषी **है** । साधुओ के प्रति द्वेषभाव (द्रोह) पर उतरे हुए, कथञ्चित् असत्-पथ पर देख गए अनार्य लोग ।

पडियारगया—वृत्तिकार के अनुसार—**प्रतीकार.—पूर्वाचरितस्य कर्मणोऽनुभवस्तं गता-प्राप्ताः—स्वकृत-कर्मफल-भोगिनः**—प्रतीकार अर्थात् पूर्वाचरित कर्मफल के अनुभव-भोग को गत—प्राप्त । यानी स्वकृत पापकर्म का फल-भोग करते है । चूर्णिकार इसके बदले **'तद्दारवेदणिज्जे ते'** पाठान्तर मानकर अर्थ करते है—**'जेहिं चेव दारेहिं कतं तेहिं चेव वेदिज्जतित्ति तद्दारवेदणिज्जं, जधा अदत्तादाणा तेण ण लभंते ।'** अर्थात्—जिन द्वारो (रूपो) मे कर्म किये है, उन्ही द्वारो से इन्हे भोगना पडेगा, जैसे—इन्होने पूर्वजन्म मे अदत्त (बिना दिया हुआ) आदान (ग्रहण) कर लिया था (चोरी की थी), अत अब ये बिना दिया ले नही सकते । **एवंजीविणो**—इस प्रकार जीने वाले—अर्थात् भिक्षा

के लिए ये दूसरो के घरो मे घूमते हैं, इसलिए अन्तप्रान्तभोजी, दिया हुआ ही आहार लेते है, सिर का लोच करते है, समस्त भोगो से वचित रहकर दु खमय जीवन व्यतीत करने वाले है । **वइ जु जंति**—वाणी का प्रयोग करते हैं—बोलते है । **नगिणा**—नग्न । चूर्णिकार समस्त पाठान्तर है—**'चरगा'** अर्थात्—ये लोग परिव्राजक हैं, घुमक्कड हैं । **पिंडोलगा**—दूसरो से पिड की याचना करते है । **अहमा**—अधम है, मैले-गदे या घिनौने है । **कंडूविणट्ठगा**—खुजाने से हुए घावो या रगड के निशानो से जिनके अग विकृत हो गए—**उज्जल्ला**— **'उद्गतो जल्लः—शुष्कप्रस्वेदो येषां ते उज्जल्लाः'**—स्नान न करने से सूखे पसीने के कारण शरीर पर मैल जम गया है । चूर्णिकार ने इसके बदले **'उज्जाया'**—पाठान्तर मानकर अर्थ किया है—**'उज्जातो—मृगोनष्ट इत्यर्थः'** बेचारे ये नष्ट हो गए है—उजड गए है ।

असमाहिता —**अशोभना बीभत्सा दुष्टा वा प्राणिनामसमाधिमुत्पादयन्तीति**—अर्थात् ये असमाहित हैं—भद्दे, बीभत्स, दुष्ट है या प्राणियो को असमाधि उत्पन्न करते हैं । **विप्पडिवन्ना**—**विप्रतिपन्नाः—साधुसन्मार्गद्वेषिणः** ।' अर्थात्—साधुओ और सन्मार्ग के द्वेषी-द्रोही । **अप्पणा तु अजाणगा**—स्वय अपने आप तो अज्ञ ही है, तु शब्द से यह अर्थ फलित होता है—अन्य विवेकीजनो के वचन को भी नही मानते । **मन्दा मोहेण पाउडा**—ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से तथा मोह—मिथ्यादर्शन से प्रावृत—आच्छादित है । चूर्णिकार ने इस वाक्य की एक और व्याख्या की है—**अधवा मतिमन्दा इत्थिगाउया मन्दविण्णाणा स्त्री मोहेन** । अर्थात् स्त्री के अनुचर बन जाने से मतिमन्द है, अथवा नारीमोह के कारण मन्द विज्ञानी है । **तमाओ ते तमं जंति**—अज्ञान रूप अन्धकार से पुन. गाढान्धकार मे जाता है, अथवा नीचे से नीची गति मे जाता है ।[13] वस्तुत विवेकहीन और साधु विद्वेषी होने से मोहमूढ होकर वे अन्धकाराच्छन्न रहते है ।[14]

दंश-मशक और तृणस्पर्श परीषह के रूप में उपसर्ग

> १७६. **पुट्ठो य दस-मसएहिं, तणफासमचाइया ।**
> **न मे दिट्ठे परे लोए, जइ परं मरणं सिया ।।१२।।**

१७६ डास और मच्छरो के द्वारा स्पर्श किये (काटे) जाने पर तथा तृण-स्पर्श को न सह सकता हुआ (साधक) (यह भी सोच सकता है कि) मैने परलोक को तो नही देखा, किन्तु इस कष्ट से मरण तो सम्भव ही है (साक्षात् ही दीखता है) ।

१३ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ८१ का सार
(ख) सूयगडग चूर्णि (मू० पा० टि०)

१४ विवेकान्ध लोगो की वृत्ति के लिए एक विद्वान् ने कहा है—
एक हि चक्षुरमल सहजो विवेक तद्वद्भिरेव सह सवसतिर्द्वितीयम् ।
एतद् द्वय भुवि न यस्य स तत्त्वतोऽन्ध तस्यापमार्ग चलने खलु कोऽपराध ?
—एक पवित्र नेत्र तो सहज विवेक है, दूसरा है—विवेकी जनो के साथ निवास । ससार मे ये दोनो आँखे जिसके नही हैं, वह वस्तुत अन्धा है । अगर वह कुमार्ग पर चलता है, तो अपराध ही क्या है ?

विवेचन—दश-मशक परीषह और तृणस्पर्श परीषह के रूप मे उपसर्ग: कायर साधक का दुश्चिन्तन—प्रस्तुत सूत्र मे दो परीषहो के रूप मे उपसर्गों का निरूपण करते हुए कायर एव मनोदुर्बल साधक का दुश्चिन्तन अभिव्यक्त किया है—**'पुट्ठोय तणफासमचाइया। न मे दिट्ठे' 'परं मरणं सिया।'** इसका आशय यह है कि साधु प्राय सभी प्रान्तो-प्रदेशो मे विचरण करता है। कोकण आदि देशो मे साधु को बहुत डास-मच्छरो से पाला पडता है। वे साधु के तन पर सहसा टूट पडते है, साथ ही घास की शय्या पर जब नवदीक्षित साधु सोता है तो उसका खुर्दरा स्पर्श चुभता है। इस प्रकार डास-मच्छरो के उपद्रव तथा तृण स्पर्श के कारण उपसर्ग सहन मे अनभ्यस्त नवदीक्षित साधु एकदम झुँझला उठता है। वह प्राय ऐसा सोचता है कि आखिरकार मै यह सब कष्ट क्यो सहन कर रहा हूँ? व्यर्थ ही कष्ट मे अपने को क्यो डालूँ? कष्ट सहन तो तभी सार्थक हो, जबकि परलोक हो, न तो मैने परलोक को देखा है और न ही परलोक से लौटकर कोई मुझे वहाँ की बाते बताने आया है। प्रत्यक्ष से जब परलोक नही देखा तो उसका अनुमान भी सम्भव नही। अत मेरे इस वृथा कष्ट सहन का नतीजा सिर्फ कष्ट सहकर मर जाने के सिवाय और क्या हो सकता है?

इस प्रकार दुश्चिन्तन करके कच्चा और कायर साधक उपसर्ग-सहन या उपसर्ग-विजय का सुपथ छोडकर सुकुमार एव असयमी बन जाता है।[15] उत्तराध्ययन सूत्र मे भी उपसर्ग विजयोद्यत साधु को इस प्रकार का दुश्चिन्तन करने का निषेध किया गया है।[16]

केशलोच और ब्रह्मचर्य के रूप मे उपसर्ग

१७७. संतत्ता केसलोएण, बंभचेरपराजिया।
तत्थ मदा विसीयंति, मच्छा पविट्ठा व केयणे ॥१३॥

१७७ केश-लुञ्चन मे सतप्त (पीडित) और ब्रह्मचर्य पालन से पराजित (असमर्थ) मन्द (जड-तुच्छ) प्रकृति के साधक (प्रव्रज्या लेकर) मुनिधर्म मे इस प्रकार क्लेश पाते है, जैसे जाल मे फसी हुई मछलियाँ तडफती है।

विवेचन—केशलोच एव ब्रह्मचर्य पालन रूप उपसर्ग—प्रस्तुत सूत्रगाथा (१७७) मे केशलोच और ब्रह्मचर्य पालन रूप उपसर्गों के समय नवदीक्षित साधक की मनोदशा का चित्रण किया गया है। दोनो उपसर्गों पर विजय पाने की प्रेरणा इस गाथा का फलितार्थ है।

केशलोच : दीक्षा के पश्चात् सबसे कठोर परीक्षा रूप उपसर्ग—साधु-दीक्षा लेने के बाद

---

१५ (क) सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ४१६ के आधार पर
(ख) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ८१ के आधार पर

१६ देखिये उपसर्ग या परीषह को सहने मे कायरो के वाक्य—
(अ) 'को जाणइ परे लोए, अत्थि वा नत्थि वा पुणो।' —उत्तरा० अ० ५/६
(ब) "नत्थि नूण परे लोए, इड्ढी वा वि तवस्सिणो।
अदुवा वंचिओमित्ति, इइ भिक्खू न चिंतए॥" —उत्तराध्ययन अ० २।४४

जब सर्वप्रथम केशो को जड से उखाडा जाता है, उस समय कई बार रक्त बह जाता है, कच्चा और कायर साधक घबरा जाता है, मन ही मन संतप्त होता रहता है। इसलिए कहा है—"सतत्ता केसलोएणं।"

ब्रह्मचर्य-पालन भी कम कठिन उपसर्ग नहीं—जो साधक कच्ची उम्र का होता है, उसे कामोन्माद का पूरा अनुभव नही होता। इसलिए कह देता है—कोई कठिन नही है मेरे लिए ब्रह्मचर्य पालन ! परन्तु मनरूपी समुद्र मे जब काम का ज्वार आता है, तब वह हार खा जाता है, मन मे पूर्व-भुक्त भोगो या गृहस्थ लोगो के दृष्ट भोगो का स्मरण, और उससे मन मे रह रह कर उठने वाली भोगेच्छा की प्रबल तरगो को रोक पाना उसके लिए बडा कठिन होता है। वह उस समय घोर पीडा महसूस करता है, जैसे जाल मे पडी हुई मछली उसमे से निकलने का मार्ग न पाकर वही छटपटाती रहती है, और मर जाती है, वैसे ही साधु सघ मे प्रविष्ट साधु भी काम से पराजित होकर भोगो को पाने के लिए छटपटाते रहते है और अन्त मे सयमी जीवन से भ्रष्ट हो जाते हैं। इसीलिए कहा है—**'बंभचेरपराइया'**। **मच्छा पविट्ठा केयणे** का अर्थ—केतन यानी मत्स्यबन्धन मे प्रविष्ट—फसी हुई मछलियाँ। **'विद्धा'** पाठान्तर भी है। उसका अर्थ होता है—(काटे) से बीधी हुई मछलिया जैसे बन्धन मे पडी तडफती है।[17]

वध-बंध-परीषह के रूप में उपसर्ग

१७८. आतदंडसमायारा, मिच्छासंठियभावणा।
हरिसप्पदोसमावण्णा, केयि लूसंतिऽणारिया ॥ १४ ॥

१७९. अप्पेगे पलियंतंसि, चारि चोरो त्ति सुव्वयं।
बंधंति भिक्खुयं बाला, कसायवयणेहि य ॥ १५ ॥

१८०. तत्थ दंडेण संवीते, मुट्ठिणा अदु फलेण वा।
णातीणं सरती बाले, इत्थी वा कुद्धगामिणी ॥ १६ ॥

१७८ जिससे आत्मा दण्डित होता है, ऐसे (कल्याण-भ्रष्ट) आचार वाले, जिनकी भावना (चित्तवृत्ति) मिथ्या बातो (आग्रहो) मे जमी हुई है, और जो राग (—हर्ष) और प्रद्वेष से युक्त है, ऐसे कई अनार्य पुरुष साधु को पीडा देते हैं।

१७९ कई अज्ञानी लोग अनार्यदेश की सीमा पर विचरते हुए सुव्रती साधु को यह गुप्तचर है, यह चोर है, इस प्रकार (के सन्देह मे पकड कर) (रस्सी आदि मे) बाध देते है और कषाययुक्त (—कटु) वचन कहकर (उसे हैरान करते हैं।)

---

१७ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति, पत्रांक ८२

(ख) सूयगडग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ३२

१८० उस अनार्य देश की सीमा पर विचरण करने वाले साधु को डंडों से, मुक्कों से अथवा बिजोरा आदि फल से (या फलक—पटिये से, अथवा भाले आदि से) पीटा जाता है, तब वह नवदीक्षित अज्ञ साधक अपने बन्धु-बाधवों को उसी प्रकार स्मरण करता है, जिस प्रकार रुष्ट होकर घर से भागने वाली स्त्री स्वजनवर्ग को (स्मरण करती है।)

विवेचन—वध-बन्ध परीषह रूप उपसर्ग—प्रस्तुत सूत्रगाथात्रय में वध और बन्ध परीषह के रूप में उपसर्ग साधक को किस प्रकार पीडित करते है? उसका विशद निरूपण है।

पीड़ा देने वाले कौन? कई सुव्रती साधु सहज भाव से अनार्य देश के पारिपार्श्विक सीमावर्ती प्रदेश में विचरण करते है, उस समय उन्हे कई अनार्य पीडा देते है। अनार्यों के लिए यहाँ तीन विशेषण प्रयुक्त किये गए है—**(१) आतदण्ड समायारा, (२) मिच्छासठिय भावणा** और **(३) हरिसप्पदोस-मावण्णा :** अर्थात् जो अनार्य अपनी आत्मा को ही कर्मबन्ध मे दण्डित करने वाले कल्याण भ्रष्ट आचारों से युक्त होते है, जिनकी बुद्धि मिथ्यात्व दोष से जकडी हुई है, तथा जो राग और द्वेष मे कलुषित है।

किस प्रकार पीड़ित करते हैं?—वे अनार्य लोग सीमाचारी सुविहित साधु को यह खुफिया है, या यह चोर है, इस प्रकार के सन्देह मे पकड करके बाध देते है, कषायवश अपशब्द भी कहते है, फिर उसे डंडो, मुक्को और लाठियो से पीटते भी है।

उस समय उपसर्ग से अनभ्यस्त साधक की मनोदशा—उस समय अनाडी लोगो द्वारा किये गए प्रहार से घबराकर सयम से भाग छूटने की मनोवृत्तिवाला कच्चा और अज्ञ नवदीक्षित साधक अपने माता-पिता या स्वजन वर्ग को याद करके उसी प्रकार पछताता रहता है, जिस प्रकार कोई स्त्री घर से रूठकर भाग जाती है, किन्तु कामी लोगो द्वारा पीछा करके बलात् पकड ली जाती है, उस समय वह अपने स्वजनो को याद करके पश्चात्ताप करती है।

शास्त्रकार ने ऐसे उपसर्गों के समय साधक को सावधान करने के लिए ऐसी सम्भावनाएँ व्यक्त की है।[१८]

कठिन शब्दो की व्याख्या—पलियतसि अनार्य देश के पर्यन्त सीमाप्रदेश मे विचरण करते हुए। **चारि**—चारिक, गुप्तचर, चूर्णिकार इसका अर्थ करते है—**चारिकोऽय चारयतीति चारकः येषा परस्पर विरोधस्ते चारिक मित्येन सवदन्ते।** अर्थात्—यह चारिक है। जिन राज्यो का परस्पर विरोध होता है, वे उसे चारिक—विरोधी-गुप्तचार समझते है। **कसायवयणेहिं**—क्रोधादि कषाय युक्त वचनो से पीडित करते है। चूर्णिकार **'कसायवसणेहिं'**- पाठान्तर मानकर अर्थ करते है—काषायरग के वस्त्रो से सज्जित करके कई कार्पटिक पाषण्डिक लोग उस साधु की भर्त्सना करते है, रोकते है या नचाते है। अथवा कषाय के वश होकर के पीडित करते है। **सवीते**—पीटे जाने पर या प्रहत—घायल किये जाने पर।[१९]

---

१८ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति, पत्राक ८२ के आधार पर
(ख) सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या, पृ० ४१७ से ४१९ तक का साराश

१९ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पृ० ८२
(ख) सूयगडग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ३३

उपसर्गों से आहत : कायर साधकों का पलायन

१८१. एते भो कसिणा फासा, फरुसा दुरहियासया ।
हत्थी वा सरसंवीता, कीवाऽवसा गता गिहं ।। १७ ।। त्ति बेमि ।।

१८१ हे शिष्यो ! ये (पूर्वोक्त) समस्त (उपसर्गों और परीषहो के) स्पर्श (अवश्य ही) दु स्सह और कठोर हैं, किन्तु बाणो से आहत (घायल) हाथियो की तरह विवश (लाचार) होकर वे ही (सयम को छोडकर) घर को चले जाते हैं, जो (कायर) है । -यह मै कहता हूँ ।

विवेचन—उपसर्गों से आहत : असमर्थ साधको का पलायन—इस गाथा मे पूर्वगाथाओ मे उक्त दु सह एव कठोर परीषहोपसर्गों के समय कायर पुरुष की पलायनवृत्ति का उल्लेख शिष्यो को सम्बोधित करते हुए किया गया है ।

पूर्वोक्त उपसर्गों के स्पर्श कैसे ?—इस उद्देशक मे जितने भी परीषहो या उपसर्गों का निरूपण किया गया है, उन सब के स्पर्श—स्पर्शेन्द्रियजनित अनुभव—अत्यन्त कठोर है तथा दु सह्य है ।

उन उपसर्गस्पर्शों का प्रभाव किन पर कितना ?—उपसर्ग या परीषह तो जैसे है, वैसे ही है, अन्तर तो उनको अनुभूति मे होता है । जो साधक कायर, कच्चे और गुरुकर्मी होते है, उन्हे ये स्पर्श अत्यन्त तीव्र, असह्य लगते है । फलत जिस तरह रणक्षेत्र मे बाणो के प्रहार से पीडित (घायल) हाथी मैदान छोडकर भाग जाते है, उसी तरह वे अपरिपक्व साधक परीषहो और उपसर्गो की मार से पीडित एव विवश होकर सयम को छोडकर पुन गृहवास मे प्रवृत्त हो जाते है, लेकिन जो परिपक्व वीर साधक होते है, वे सयम मे डटे रहते है ।[20]

कठिन शब्दो की व्याख्या सरसवीता—बाणो के प्रहार से आकुल या पीडित । **कीवा**—असमर्थ, कायर साधक । **अवसा**—परवश या गुरु कर्माधीन (भारीकर्मा) चूर्णिकार **'कीवाऽवसा'** के बदले दो पाठान्तर प्रस्तुत करते है—**'कीवा वसगा'** और **'तिव्वसढगा'** । प्रथम पाठान्तर का अर्थ किया गया है—**"क्लीवा वशका नाम परीषहे वशका"** -अर्थात्—क्लीव (असमर्थ कायर) और वशक अर्थात् —परीषहो से विवश । द्वितीय पाठान्तर का अर्थ है "तीव्र शठा तीव्रशठा तीव्रैर्वा शठा तीव्रशठा , तीव्रै परीषहै प्रतिहता ।" अर्थात् तीव्र शठता (धृष्टता) धारण किये हुए तीव्रशठ, अथवा तीव्र परीषह से शठ प्रतिहत-पीडित । वृत्तिकार ने भी **'तिव्वसढा'** पाठान्तर का उल्लेख करके अर्थ किया है—तीव्रैरूपसर्गैरभिद्रुता शठ शठानुष्ठाना सयम परित्यज्य गृहगता ।" अर्थात् तीव्र उपसर्गों से पीडित शठ यानी शठता का कार्य करने वाले ।[21]

।। प्रथम उद्देशक समाप्त ।।

---

२० सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ८३ के आधार पर

२१. (क) सूत्रकृताग शीलांकवृत्ति पत्राक ८३

(ख) सूयगडग चूर्णि (मू० पा० टि०) पृ० ३३

बिइओ उद्देसओ

द्वितीय उद्देशक

अनुकूल उपसर्ग : सूक्ष्म संग रूप एवं दुस्तर

१८२. अहिमे सुहुमा सगा, भिक्खूणं जे दुरुत्तरा।
जत्थ एगे विसीयंति, ण चयंति जवित्तए ।।१।।

१८२. इसके (प्रतिकूल उपसर्ग के वर्णन के) पश्चात् ये सूक्ष्म (स्थूल रूप से प्रतीत न होने वाले—अनुकूल) सग बन्धु-बान्धव आदि के साथ सम्बन्ध रूप उपसर्ग है, जो भिक्षुओ के लिए दुस्तर—दुरतिक्रमणीय होते है। उन सूक्ष्म आन्तरिक उपसर्गों के आने पर कई (कच्चे) साधक व्याकुल हो जाते है—वे सयमी जीवन-यापन करने मे असमर्थ बन जाते है।

विवेचन—सूक्ष्म-अनुकूल उपसर्ग : दुस्तर एव सयमच्युतिकर—प्रस्तुत सूत्रगाथा मे अनुकूल उपसर्गों का वर्णन प्रारम्भ करते हुए शास्त्रकार उनका परिचय देते है। अनुकूल उपसर्गों की पहिचान दो प्रकार से होती है—(१) ये सूक्ष्म सग रूप होते है, (२) दुरुत्तर होते है। इनका प्रभाव विवेकमूढ साधक पर दो तरह से होता है—(१) वे घबरा जाते है, या (२) सयमी जीवन निभाने मे असमर्थ हो जाते हैं।

ये उपसर्ग सूक्ष्म और दुरुत्तर क्यो ?—स्थूल दृष्टि से देखने वाला इन्हे सहसा उपसर्ग नही कहेगा, बल्कि यह कहेगा कि इन आने वाले उपसर्गों को तो आसानी से सहन किया जा सकता है। इनको सहने मे काया को कोई जोर नही पडता। इसीलिए शास्त्रकार कहते है **'अहिमे सुहुमा सगा भिक्खूणं जे दुरुत्तरा'**, आशय यह है कि अपने पूर्वाश्रम के माता-पिता, भाई-बहन, स्त्री-पुत्र आदि स्वजनो का मधुर एव स्नेहस्निग्ध ससर्ग (सम्बन्ध) रूप उपसर्ग इतना सूक्ष्म होता है कि वह साधक के शरीर पर हमला नही करता, अपितु उसके मन पर घातक आक्रमण करता है, उसकी चित्तवृत्ति मे उथल-पुथल मचा देता है। इसीलिए इस सगरूप उपसर्ग को सूक्ष्म यानी आन्तरिक बताया गया है। प्रतिकूल उपसर्ग तो प्रकट रूप से बाह्य शरीर को विकृत करते है, किन्तु ये (अनुकूल) उपसर्ग बाह्य शरीर को विकृत न करके साधक के अन्तर्हृदय को विकृत बना देते है।

इन सूक्ष्मसगरूप उपसर्गो को दुस्तर (कठिनता से पार किये जा सकनेवाले) इसलिए बताया गया है कि प्राणो को सकट मे डालने वाले प्रतिकूल उपसर्गों के आने पर तो साधक सावधान होकर मध्यस्थवृत्ति धारण कर सकते है, जबकि अनुकूल उपसर्ग आने पर मध्यस्थ वृत्ति का अवलम्बन लेना अतिकठिन होता है। इसीलिए सूक्ष्म या अनुकूल उपसर्ग को पार करना अत्यन्त दुष्कर बताया गया है।[1]

---

१ (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति सहित भाषानुवाद भा० २, पृ० २५ का साराश
(ख) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ८ पर से
(ग) सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ४२३ के आधार पर

इन उपसर्गों का प्रभाव—गाथा के उत्तरार्द्ध मे इन उपसर्गों का प्रभाव बताया गया है। इन अनुकूल उपसर्गों के आने पर कई महान् कहलाने वाले साधक भी धर्माराधना या सयम-साधना से विचलित एव भ्रष्ट हो जाते है, सुकुमार एव सुखसुविधा-परायण कच्चे साधक तो बहुत जल्दी अपने सयम से फिसल जाते है, सम्बन्धियो के मोह मे पडकर वे सयम पालन मे शिथिल अथवा धीरे-धीरे सर्वथा भ्रष्ट हो जाते है। वे सयम पूर्वक अपनी जीवन यात्रा करने मे असमर्थ हो जाते है। सदनुष्ठान के प्रति वे विषण्ण (उदासीन) हो जाते है, सयम पालन उन्हे दु खदायी लगने लगता है। वे सयम को छोड बैठते है या छोडने को उद्यत हो जाते है।[2]

कठिन शब्दो की व्याख्या—**सुहुमा**—प्राय चित्त विकृतिकारी होने से आन्तरिक है, तथा प्रतिकूल उपसर्गवत् प्रकटरूप से शरीर विकृतिकारी एव स्थूल न होने से सूक्ष्म है। **सगा**—माता-पिता आदि का सम्बन्ध। **'जत्थ एगे विसीयति'**—जिन उपसर्गों के आने पर अल्पपराक्रमी साधक विषण्ण हो जाते है, शिथिलाचार-परायण हो जाते है, सयम को छोड बैठते है। चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है—**'जत्थ मदा विसीदंति'** अर्थ प्राय एक-सा ही है। **'ण चयति जवित्तए' नैवात्मान सयमानुष्ठानेन यापयितु वर्तयितु तस्मिन् वा व्यवस्थापयितु शक्नुवन्ति समर्था भवन्ति।'** अर्थात्—अपने आपको सयमानुष्ठान के साथ जीवन-निर्वाह करने मे, सयम मे टिकाए रखने मे समर्थ नही होते।[3]

स्वजनसंगरूप उपसर्ग : विविध रूपों में

१८३. अप्पेगे णायओ दिस्स, रोयंति परिवारिया।
पोस णे तात पुट्ठोऽसि, कस्स तात चयासि णे ।। २ ।।

१८४. पिया ते थेरओ ताय ! ससा ते खुड्डिया इमा।
भायरो ते सगा तात ! सोयरा किं चयासि णे ।। ३ ।।

१८५. मायर पितर पोस, एव लोगो भविस्सइ।
एयं खु लोइयं ताय ! जे पोसे पिउ-मातर ।। ४ ।।

१८६. उत्तरा महुरुल्लावा, पुत्ता ते तात ! खुड्डगा।
भारिया ते णवा तात ! मा से अण्णं जणं गमे ।। ५ ।।

१८७. एहि ताय घर जामो, मा त कम्म सहा वयं।
बीयं पि तात पासामो, जामु ताव सयं गिहं ।। ६ ।।

---

२ सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ४२३ पर से

३ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ८३

(ख) सूत्रकृताग चूर्णि (मूल पाठ टिप्पण) पृ० ३३

१८८. गंतुं तात ! पुणाऽऽगच्छे ण तेणऽसमणो सिया ।
अकामग परक्कम्मं, को ते वारेउमरहति ? ।। ७ ।।

१८९. ज किंचि अणग तात ! तं पि सव्व समीकत ।
हिरण्ण ववहारादी, तं पि दासामु ते वय ।। ८ ।।

१९०. इच्चेव ण सुसेहंति, कालुणिया समुट्ठिया ।
विबद्धो नातिसंगेहिं, ततोऽगारं पधावति ।। ९ ।।

१९१. जहा रुक्ख वणे जाय, मालुया पडिबधति ।
एव ण पडिबंधति, णातओ असमाहिणा ।। १० ।।

१९२. विबद्धो णातिसंगेहिं, हत्थी वा वि नवग्गहे ।
पिट्ठतो परिसप्पति, सूतीगो व्व अदूरगा ।। ११ ।।

१९३. एते संगा मणुस्साणं, पाताला व अतारिमा ।
कीवा जत्थ य कीसति, नातिसंगेहि मुच्छिता ।। १२ ।।

१९४. त च भिक्खू परिण्णाय, सव्वे संगा महासवा ।
जीवित नाभिकंखेज्जा, सोच्चा धम्ममणुत्तर ।। १३ ।।

१९५. अहिमे संति आवट्टा, कासवेण पवेविता ।
बुद्धा जत्थावसप्पंति, सीयंति अबुहा जहिं ।। १४ ।।

१८३ कई-कई ज्ञातिजन साधु को देखकर उसे घेर कर रोते है विलाप करते है, (वे कहते है) "तात ! अब आप हमारा भरण-पोषण करे, हमने आपका पालन-पोषण किया है । हे तात ! (अब) हमे आप क्यो छोडते है ?

१८४ हे पुत्र (तात) ! तुम्हारे पिता अत्यन्त बूढे है, और यह तुम्हारी बहन (अभी) छोटी है । हे पुत्र ! ये तुम्हारे अपने सहोदर भाई हैं । (फिर) तुम हमे क्यो छोड रहे हो ?

१८५ हे पुत्र ! अपने माता-पिता का पालन-पोषण करो । ऐसा करने से ही लोक (लोक—इहलोक-परलोक) सुधरेगा—बनेगा । हे तात ! यही लौकिक आचार है कि जो पुत्र है, वे अपने माता-पिता का पालन करते हैं ।

१८६ हे तात ! तुम्हारे उत्तरोत्तर (एक के बाद एक) जन्मे हुए पुत्र मधुरभाषी (तुतलाते हुए मीठी बोली मे बोलते) है तथा वे अभी बहुत छोटे हैं । हे तात ! तुम्हारी पत्नी अभी नवयौवना है, वह (कही) दूसरे पुरुष के पास न चली जाए ।

१८७ आओ, तात ! घर चलें। (अब से) तुम कोई काम मत करना, हम लोग तुम्हारे काम मे सहायक होंगे। हे तात ! (अब) दूसरी बार (चलो) (तुम्हारा काम) हम देखेंगे। अत. चलो, हम लोग अपने घर चले।

१८८ हे तात ! (अच्छा) एक बार घर जा कर फिर लौट आना। (इससे तुम) अश्रमण नही हो जाओगे। (घर के काम मे) तुम इच्छारहित (अनिच्छुक) हो तो तुम्हे स्वेच्छानुसार कार्य करने से कौन रोक सकता है ?

१८९ हे तात ! जो कुछ ऋण था, वह भी सारा का सारा हमने बराबर (समभाग में) बाँटकर ठीक कर (उतार) दिया है। तुम्हारे व्यवहार आदि के लिए उपयोगी जो हिरण्य (सोना-चाँदी आदि) है, वह भी हम लोग तुम्हे देंगे।

१९० करुणाजनक वचनो से (साधक को फुसलाने हेतु) भलीभाँति उद्यत (कटिबद्ध) बन्धु-बान्धव इसी प्रकार साधु को शिक्षा देते है (बरगलाते हैं।) (ऐसी स्थिति मे) ज्ञातिजनो के सगो—सम्बन्धो से विशेष रूप से (स्नेह बन्धन मे) बधा (जकडा) हुआ साधक उस निमित्त (बहाने) से घर की ओर चल पडता है।

१९१ जैसे वन मे उत्पन्न वृक्ष के लता (लिपट कर) बाँध लेती है, इसी तरह ज्ञातिजन (स्वजन) (साधक के चित्त मे) असमाधि उत्पन्न (समाधिभग) करके (उसे) बाध लेते है।

१९२ (माता-पिता आदि) स्वजनवर्ग के स्नेह सम्बन्धो से बधे हुए साधु के पीछे-पीछे (स्वजन वर्ग) चलते है और नये-नये पकडे हुए हाथी के समान (उसके अनुकूल चलते है)। तथा जैसे नई ब्याई हुई गाय अपने बछडे के पास रहती है, वैसे पारिवारिक जन भी उसके पास ही रहते है।

१९३ ये (माता-पिता आदि स्वजनो के प्रति) सग (स्नेह सम्बन्ध रूप उपसर्ग) मनुष्यो के लिए समुद्र के समान अतल और दुस्तर हैं। इस प्रकार उपसर्ग के आने पर ज्ञातिजनो के सग (सम्बन्ध) मे मूर्च्छित—आसक्त होकर अल्प पराक्रमी साधक क्लेश पाते है।

१९४. भिक्षु उस ज्ञातिजन सम्बन्धरूप उपसर्ग को भलीभाँति जान कर छोड देता है। क्योंकि सभी सग (आसक्तियुक्त सम्बन्ध) कर्म के महान् आस्रव द्वार है। अनुत्तर (वीतरागप्ररूपित) धर्म का श्रवण करके साधु असयमी जीवन की आकाक्षा न करे।

१९५ इसके अनन्तर काश्यपगोत्रीय भगवान् महावीर ने विशेषरूप से बता दिया कि ये सग (ज्ञातिजनो के साथ स्नेहसम्बन्ध) आवर्त्त (भवरजाल या चक्कर) है। जिस उपसर्ग के आने पर प्रबुद्ध (तत्त्वज्ञ) पुरुष इनसे शीघ्र ही अलग (दूर) हट जाते है, जबकि अदूरदर्शी विवेकमूढ इनमे फँसकर दुःख पाते है।

विवेचन—स्वजनसंगरूप उपसर्ग: कैसे-कैसे, किस-किस रूप मे ?—इन (१८३ से १९५ तक १३ सूत्रगाथाओ मे ज्ञातिजन-सग रूप अनुकूल उपसर्ग का विविध पहलुओ से वर्णन किया गया है। ज्ञातिजनो द्वारा आसक्तिमय वचनो से साधक को फुसलाने के सात मुख्य प्रकारो का यहाँ वर्णन है—(१) सम्बन्धी-

जन रो-रो कर अपने भरणपोषण के लिए, कहते है, (२)बूढे पिता, छोटी बहन, तथा सहोदर भाइयोको छोडने का अनुरोध, (३) माता-पिता का भरण-पोषण करना लौकिक आचार है, इससे लोक सुधरता है, (४) छोटे-छोटे दुधमुँहे बच्चे और नवयौवना पत्नी को सँभालने का आग्रह, (५) तुम्हारे जिम्मे का सब काम हम कर लेगे इस प्रकार कह कर घर चलने का आग्रह, (६) घर जाकर वापस लौट आना, वहाँ तुम्हे स्वेच्छा से काम करने से कोई नही रोकेगा (७) तुम्हारा सब कर्ज हमने बराबर बाँटकर चुका दिया है, तथा तुम्हे अब घरबार चलाने एव व्यापार के लिए हम सोना आदि देगे। इस प्रकार बहकाना।

इस प्रकार के अनुकूल उपसर्ग का ४ प्रकार का प्रभाव--(१) स्वजनो के करुणाजनक वार्तालाप से उनके स्नेह सम्बन्धो मे बद्ध साधक घर की ओर चल पडता है, (२) वेल द्वारा वृक्ष को बाँधने की तरह स्वजन समाधि रहित साधक को बाँध लेते है, (३) नये पकडे हुए हाथी की तरह वे उसके पीछे-पीछे चलते है, वे उसे अपने से दूर नही छोडते। (४) समुद्र की तरह गम्भीर एव दुस्तर इन ज्ञाति-सगो में आसक्त होकर कायर साधक कष्ट पाते है।

इन उपसर्गों के समय साधक का कर्तव्य—(१) इस उपसर्गों को भली-भाति जान कर छोड दे, (२) सभी सग रूप उपसर्ग महास्रवरूप है, (३) अनुत्तर निर्ग्रन्थ धर्म का श्रवण-मनन करे, (४) असयमी जीवन की आकाक्षा न करे, (५) भगवान् महावीर ने इन्हें भवरजाल बताया है, (६) अज्ञानी साधक ही इनमे फॅस कर दु खी होते है, ज्ञानी जन इनसे दूर हट जाते है।[४]

स्वजन सगरूप उपसर्ग के मुख्य सात रूप -प्रथमरूप—साधुधर्म मे दीक्षित होते या दीक्षित हुए देखकर स्वजनवर्ग जोर-जोर से रोने लगते है, आँसू बहाते है, स्वजनो की आँखो मे आँसू देखकर कच्चे साधक का मन पिघल जाता है। जब वह उनके मोहगर्भित वचनो को सुनने के लिए तैयार होता है, तब वे कहते है--पुत्र! हमने बचपन से तुम्हारा पालन-पोषण इसलिए किया था कि बुढापे मे तुम हमारा भरण-पोषण करोगे, लेकिन तुम तो हमे अधबीच मे ही छिटका कर जा रहे हो। अत चलो, हमारा भरण-पोषण करो। तुम्हारे सिवाय हमारा पोषक-रक्षक कौन है? हमे असहाय छोडकर क्यो जा रहे हो?

दूसरा रूप—पुत्र! देखो तो सही, तुम्हारे पिता बहुत बूढे है, इन्हे तुम्हारी सेवा की आवश्यकता है! यह तुम्हारी बहन अभी बहुत छोटी है, ये तुम्हारे सहोदर भाई है, इनकी ओर भी देखो। इन सबको छोडकर क्यो जा रहे हो? घर चलो!

तीसरा रूप—बेटा! माँ-बाप का भरण पोषण करो, इसी से लोक-परलोक सुधरेगा। लौकिक आचारशास्त्र मे यह स्पष्ट कहा गया है कि पुत्र अपनी जन्मदात्री माँ का तथा गुरुजनो का अवश्य ही पालन करते है, तभी वे माता-पिता के उपकारो से किंचित उऋण हो सकते है।

चौथा रूप—अभी तुम्हारे एक के बाद एक पैदा हुए सुन्दर सलौने मधुर भाषी दुधमुँहे बच्चे हैं। तुम्हारी पत्नी अभी नवयौवना है। तुम्हारे द्वारा परित्यक्त होने पर यह किसी दूसरे पुरुष के साथ

---

४ सूत्रकृतांग शीलांकवृत्तियुक्त भाषानुवाद भा० २ पृ० २५ से ३७ तक का सार

चली जायगी तो उन्मार्गगामिनी एव स्वच्छन्दाचारिणी बन जायगी। यह बडा लोकापवाद होगा। इन सब बातो पर विचार करके अपने स्त्री-पुत्रो की ओर देखकर तुम घर चलो।

पाँचवाँ रूप—घर के कामधन्धो से कतरा कर तुमने घर छोडा है, परन्तु अब हमने निश्चय कर लिया है कि हम तुम्हे किसी काम के लिए नही कहेगे। तुम्हारे काम मे सहायता करेंगे, तुम्हारे जिम्मे के कामो को हम देखेंगे। अत घर चलो, तुम कोई काम मत करना।

छठा रूप—प्रिय पुत्र ! तुम एक बार घर चल कर अपने स्वजन वर्ग से मिलकर, उन्हे देखकर फिर लौट आना। घर चलने मात्र से तुम कोई असाधु नही हो जाओगे। अगर तुम्हे घर मे रहना नापसन्द हो तो पुन यहा आ जाना। यदि तुम्हारी इच्छा घर का काम-काज करने की न हो तो तुम्हे अपनी रुचि के अनुसार कार्य करने से कौन रोकता है ? अथवा तुम्हारी इच्छा काम-भोगो से निवृत्त होकर बुढापे मे पुन सयमानुष्ठान करने की हो तो कौन मना करता है ? सयमाचरण योग्य अवसर आने पर तुम्हे कोई रोकेगा नही। अत हमारा साग्रह अनुरोध मानकर एकबार घर चलो।

सातवाँ रूप—बेटा ! तुम पर जो भारी कर्ज था, उसे हम लोगो ने परस्पर बराबर हिस्से मे बाँट लिया है, एव चुका दिया है। अथवा ऋण चुकाने के भय से तुमने घरबार छोडा था, उसे हम लोगो ने आसानी से चुकाने की व्यवस्था कर ली है। रहा व्यापार एव घर खर्च का व्यवहार तो उसे चलाने के लिए हम तुम्हे सोना-चाँदी आदि द्रव्य देंगे। जिस निर्धनता से घबरा कर तुमने घर छोड़ा था, अब उस भय को मन से निकाल दो, और घर चलो। अब घर मे रहने मे तुम्हारे लिए कोई विघ्न-बाधा नही रही। स्वजनो द्वारा इन और ऐसे ही मोहोत्पादक विभिन्न आकर्षक तरीको से कच्चे साधक को पुन गृहस्थ-जीवन मे खीच लिया जाता है। सयमी जीवन मे इस प्रकार के प्रलोभन अनुकूल उपसर्ग है, कच्चा साधक स्वजनो के मोह सम्बन्ध मे पडकर सयम से फिसल जाता है।

ये समस्त सूत्रगाथाएँ साधु को इस प्रकार के अनुकूल उपसर्गों के समय सावधान रहने तथा सयम छोडकर पुन गृहवास मे जाने का जरा भी विचार न करने की प्रेरणा देती है।[६]

कठिन शब्दो की व्याख्या—**दिस्स**—देखकर। **अप्पेगे**—(अपि सम्भावना अर्थ मे होने से) सम्भव है,कई तथाकथित। **णायओ**—ज्ञातिजन। **परिवारिया**- घेरकर। **कस्स चयासि णे** ?—किसलिए, किस कारण से हमे तू छोड रहा है। **'चयासि'** के बदले पाठान्तर है—जहासि। अर्थ समान है। **खुड्डिया**—छोटी बच्ची है। **सगा**—अपने, सगे। 'सवा' पाठान्तर भी है, जिसके सस्कृत मे दो रूप होते है—स्वका, श्रवा। स्वका का अर्थ अपने निजी है, और श्रवा का अर्थ होता है--तुम्हारे वचन या आज्ञा आदि को सुनने वाले। **कम्मसहा**—कर्मों (कामो) मे सहायक। चूर्णिकार के अनुसार **इदाणिं वय कम्मसमत्था-कम्मसहा कम्मसहायकत्व प्रतिभवतः**। अर्थात्—अब हम काम करने मे समर्थ है, आपके कामो मे सहायता करने मे भी। **लोगो भविस्सइ**—तुम्हारा इहलोक—परलोक बनेगा—सुधरेगा। **जे पोसे पिउमातरं**—जो पुत्र पिता-माता का पालनपोषण करता है। इसके बदले पाठान्तर है--**'जे पालति**

६ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ८४ से ८६ तक का सार

(ख) सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ४२४ से ४३४ तक के आधार पर

य मातरं ।' अर्थ होता है—जो पुत्र होते हैं, वे माता और अन्य गुरुजनो का पालन करते है । **उत्तरा**—**'उत्तरोत्तरजाता'** यानी एक के बाद एक जन्मे हुए । कही-कही 'उत्तमा' पाठान्तर भी है, अर्थ होता है—सुन्दर श्रेष्ठ । **महुरुल्लावा—मधुरो—मनोज्ञ उल्लापः—आलापो तेषां ते तथाविधाः,**—जिनकी बोली मधुर—मनोज्ञ है, **गंतु**—घर जाकर अपने स्वजन-वर्ग को देखकर । **अकामगं—अनिच्छन्तं— गृहव्यापारेच्छारहितं**—घर के कामकाज करने की इच्छा से रहित (अनिच्छुक) । **परक्कमं**—स्वेच्छानुसार अवसर प्राप्त किसी काम को करने से । चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है—**परक्कमंतं**—अर्थ किया गया है– अपनी रुचि अनुसार पराक्रम करते हुए तुम को । **हत्थीवा वि नवग्गहे**—नये पकडे हुए हाथी की तरह । **'सूतीगोव्व'**—प्रसूता गाय की तरह । **पाताला व अतारिया**—अतल समुद्र की तरह दुस्तर । **मालुया**—लता । **असमाहिणा**—असमाधि पैदा करने वाले रुदन-विलापादि कृत्यो से । चूर्णिकार **असमाधिता** पाठान्तर भी मानते है । अर्थ है—असमाधिपन । **कीवाजत्थ य कीसति**—असमर्थ साधक इन अनुकूल उपसर्गों के आने पर क्लेश (जन्ममरणादिरूप ससार भ्रमण का दु ख) पाते है । चूर्णिकार के अनुसार पाठान्तर है—**कीवा जत्थावकीसंति**—अल्पसत्व साधक जिस उपसर्ग के आने पर मोक्षगुण से या धर्म से अपकृष्ट—दूर हो जाते है । एक और चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—**कीवा जत्थ विसण्णे सी**—कीवा जत्थ विसण्ण एसतीति विसण्णेसी · विसण्णा वा आसन्ति विसण्णासी । अर्थात्- जहाँ कायर साधक विषाद को प्राप्त करते हैं, अथवा विषण्ण होकर बैठ जाते है । **महासवा**—महान् कर्मों के आस्रवद्वार हैं । **अहिमे**—अथ का अर्थ है—इसके अनन्तर ये (पूर्वोक्त स्वजन सगरूप उपसर्ग) । **'अहो इमे'** इस प्रकार का पाठान्तर भी वृत्तिकार ने सूचित किया है । जिसका अर्थ होता है—आश्चर्य है, ये प्रत्यक्ष निकटवर्ती एव सर्वजन विदित । **अवसप्पति**—अप्रमत्तता—सावधानीपूर्वक उससे दूर हट जाते है ।[७]

भोग निमंत्रण रूप उपसर्ग : विविध रूपों मे

१९६. रायाणो रायमच्चा य, माहणाऽदुव खत्तिया ।
निमंतयंति भोगेहिं, भिक्खुय साहुजीविण ।।१५।।

१९७. हत्थऽस्स-रह-जाणेहिं, विहारगमणेहि य ।
भुंज भोगे इमे सग्घे, महरिसी ! पूजयामु तं ।।१६।।

१९८. वत्थगंधमलंकारं, इत्थीओ सयणाणि य ।
भुंजाहिमाइं भोगाइं, आउसो ! पूजयामु तं ।।१७।।

१९९. जो तुमे नियमो चिण्णो भिक्खुभावम्मि सुव्वता ।
अगारमावसंतस्स, सव्वो संविज्जए तहा ।।१८।।

२००. चिरं दूइज्जमाणस्स, दोसो दाणि कुतो तव ?
इच्चेव णं निमंतेंति नीवारेण व सूयरं ।।१९।।

---

७ (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ८४ से ८६ तक
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टि०) पृ० ३४-३५

२०१. चोइता भिक्खुचज्जाए, अचयंता जवित्तए।
तत्थ मंदा विसीयंति, उज्जाणंसि व दुब्बला ॥२०॥

२०२. अचयंता व लूहेण, उवहाणेण तज्जिता।
तत्थ मंदा विसीयंति, उज्जाणंसि जरग्गवा ॥२१॥

२०३. एवं निमंतणं लद्धु, मुच्छिया गिद्ध इत्थीसु।
अज्झोववण्णा कामेहिं, चोइज्जंता गिहं गया ॥२२॥ —त्ति बेमि।

१९६ राजा-महाराजा और राजमन्त्रीगण, ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय साध्वाचार (उत्तमाचार) जीवी भिक्षु को विविध भोग भोगने के लिए निमन्त्रित करते है।

१९७ हे महर्षे! ये हाथी, घोडे, रथ और पालकी आदि सवारियो पर आप बैठिये और मनोविनोद या आमोद-प्रमोद के लिए बाग-बगीचो मे सैर करिए। इन उत्तमोत्तम (श्लाघ्य) भोगो का (मनचाहा) उपभोग कीजिए। हम आपकी पूजा-प्रतिष्ठा (आदर-सत्कार) करते हैं।

१९८ हे आयुष्मन्! वस्त्र, सुगन्धित पदार्थ, आभूषण, ललनाएँ और शय्या तथा शयन-सामग्री, इन भोगो (—भोगसामग्री) का मनचाहा उपभोग करे। हम आपको पूजा-प्रतिष्ठा करते है।

१९९ हे सुन्दर व्रतधारी (मुनिवर)! मुनिभाव मे (रहते हुए) जिस नियम (महाव्रतादि यमनियम) का आपने आचरण (अनुष्ठान) किया है वह सब घर (गृहस्थ) मे निवास करने पर भी उसी तरह (पूर्ववत्) बना रहेगा।

२०० (हे साधकवर!) चिरकाल से (सयमाचरणपूर्वक) विहरण करते हुए आपको अब भोगो का उपभोग करने पर भी) दोष कैसे (लग सकता है)? (इस प्रकार लोभ दिखाकर) जैसे चावलो के दानो (के प्रलोभन) से सूअर को फँसा लेते है, इसी प्रकार (विविध भोगो का) निमन्त्रण देकर (साधु को गृहवास मे फँसा लेते है।)

२०१ सयमी साधुओ की चर्या (समाचारी-पालन) के लिए (आचार्य आदि के द्वारा) प्रेरित सयमी जीवन यापन करने मे असमर्थ, मन्द (अल्पपराक्रमी) साधक उस उच्च सयम मार्ग पर प्रयाण करने मे उसी तरह दुर्बल (मनोदुर्बल) होकर बैठ जाते है जिस तरह ऊँचे मार्ग के चढाव मे मरियल बैल दुर्बल होकर बैठ जाते है।

२०२ रुक्ष (सयम) के पालन मे असमर्थ तथा तपस्या से पीडा पाने वाले मन्द (अल्पसत्व अदूरदर्शी) साधक उस उच्च सयम मार्ग पर चलने मे उसी प्रकार कष्ट महसूस करते है, जिस प्रकार ऊँचे चढाई वाले मार्ग पर चलने मे बूढे बैल कष्ट-अनुभव करते हैं।

२०३ इस (पूर्वोक्त) प्रकार से भोग-भोगने के लिए निमन्त्रण पाकर विविध भोगो मे मूर्च्छित (अत्यासक्त) स्त्रियों मे गृद्ध—मोहित एवं काम-भोगो मे रचे-पचे दत्तचित्त (—कई साधुवेषी) (उच्चाचारपरायण आचार्यादि द्वारा सयम पालनार्थ) प्रेरित किये जाने पर भी घर (गृहवास) को चले गये। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—भोग निमन्त्रण रूप उपसर्ग और उनसे पराजित साधक—प्रस्तुत आठ सूत्रगाथाओ (१९६ से २०३ तक) मे साधु-जीवन मे भोग निमन्त्रणरूप उपसर्ग कैसे-कैसे और किस रूप के अनुसार किनके निमित्त से आते है और मोहमूढ मनोदुर्बल साधक कैसे उन भोगो के जाल मे फँस जाते हैं? विस्तार पूर्वक यह वर्णन किया गया है।

भोगो का निमन्त्रण देने वाले—सूत्रगाथा १९६ के अनुसार साधु को भोगो का निमन्त्रण देकर काम-भोगो एव गृहवास के जाल मे फँसाने वाले ४ कोटि के लोग होते है—(१) राजा महाराजादि, (२) राजमन्त्री वर्ग, (३) ब्राह्मण वर्ग एव (४) क्षत्रिय वर्ग। भोगपरायण शासक वर्ग ही प्राय. भोग निमन्त्रणदाता प्रतीत होते है। वे अपने किसी लौकिक स्वार्थवश या स्वार्थपूर्ति हो जाने के बाद अथवा स्वय के भोग मे साधु बाधक न बने इस कारण साधुओ को भी अपने जैसा भोगासक्त बना देने का कुचक्र चलाते है। जैसे—ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ने चित्त (चित्र) नामक साधु को विविध विषयो के उपभोग के लिए आमन्त्रित किया था।

भोग निमन्त्रण रूप उपसर्ग किस-किस रूप मे?—**प्रथमरूप**—पहले तो समुच्चय रूप से वे साधु को भोगो के लिए इस प्रकार आमन्त्रित करते है—पधारिये, मुनिवर! आप हमारे घर को पावन कीजिए। जितने दिन आपकी इच्छा हो, खुशी से रहिये, आपके लिये यहाँ सब प्रकार की सुख-सुविधाएँ है। शास्त्रकार कहते है—**निमंतयंति भोगेहिं साहुजीविण।**

दूसरा रूप—इस पर जब सुविहित साधु सहसा भोगो का आसेवन करने मे सकोच करता है, तब वे अपने यहाँ लाकर उन्हे खुल्लमखुल्ला भोग प्रलोभन देते है—'देखिये, महात्मन्! ये हाथी, घोडे, रथ और पालकी आदि सवारियाँ आपके लिए प्रस्तुत है। आपको मेरे गुरु होकर पैदल नही चलना है। इनमे जो भी सवारी आपको अभीष्ट हो, उसका मनचाहा उपयोग करे। और जब कभी आपका मन उचट जाए और सैर करने की इच्छा हो तो ये बाग-बगीचे है, इनमे आप मनचाहा भ्रमण करे, ताजे फूलो की सुगन्ध ले, प्राकृतिक सौन्दर्य की बहार का आनन्द लूटे। अथवा यह भी कह सकते है—'इन्द्रियो और मन को रजित करने वाले अन्य खेलकूद, नाचगान, रग राग आदि विहारो का भी आनन्द ले।' 'हम आपके परमभक्त है। आप जो भी आज्ञा देंगे, उसे हम सहर्ष शिरोधार्य करेंगे, आपकी पूजा-प्रतिष्ठा मे कोई कमी न आने देगे। शास्त्रकार कहते है—**'हत्थऽस्स''' पूजयामु त।'**

तीसरा रूप—जब वे यह देखते है कि जब यह साधु इतनी भोग्य-सामग्री एव सुख-सुविधाओ का उपभोग करने लग गया है, तब अन्तरग मित्र बनकर सयम विघातक अन्यान्य भोगसामग्री के लिए आमन्त्रण देते हैं—'महाभाग! आयुष्मन्! आप हमारे पूज्य है, आपके चरणो मे दुनिया की सर्वश्रेष्ठ भोगसामग्री अर्पित है। आप इन उत्तमभोग्य साधनो का उपभोग करेंगे तो हम अपना अहोभाग्य समझेंगे ये चीनाशुक आदि मुलायम रेशमी वस्त्र है, ये इत्र, तेल, फुलैल, सुगन्धित चूर्ण, पुटपाक, आदि सुगन्धित पदार्थ है, ये है कडे, बाजूबन्द, हार, अगूठी आदि आभूषण, ये नवयुवती गौरवर्णा मृगनयनी सुन्दरियाँ है, ये गद्दे, तकिये, पलग, पलगपोश, मखमली शय्या आदि शयनीय सामग्री है, यह सब इन्द्रियो और मन को प्रसन्न करने वाली उत्तमोत्तम भोग्य सामग्री है। आप इनका खुलकर जी चाहा उपयोग करके अपने जीवन को सार्थक करे। हम इन भोग्यपदार्थों से आपका सत्कार करते हैं।'

इस प्रकार का खुला आमन्त्रण पाने पर भी साधु के मन मे सकोच होता है कि मुझे इन पदार्थों का उपभोग करते देख नये बने हुए राजा आदि भक्तो के मन मे कदाचित् अश्रद्धा-अप्रतिष्ठा का भाव पैदा हो, इस सकोच के निवारणार्थ साधु को आश्वस्त करते हुए वे कहते है—'हे पूज्य ! आप निश्चिन्त रहे । इन चीजो के उपभोग से आपकी पूजा-प्रतिष्ठा मे कोई कमी नही आएगी । हम आपकी पूजा-प्रतिष्ठा करते है । राजा या समाज मे प्रतिष्ठित व्यक्ति सत्कार सम्मान करता है तो जनता तो अवश्य ही करेगी, क्योकि साधारण जनता तो श्रेष्ठ कहलाने वाले व्यक्तियो का अनुसरण करती है ।' इसी आशय से शास्त्रकार कहते है— **"वत्थगध' ' आउसो पूजयामु त ।"** साधु को पूजा-प्रतिष्ठा की ओर से आश्वस्त करने हेतु शास्त्रकार 'पूजयामु त' वाक्य का दो गाथाओ मे प्रयोग करते हैं ।

चौथा रूप—कई साधनाशील साधक इन सयम विघातक भोगो का खुला उपभोग करके भिक्षुभाव से गृहवास मे जाने से यो कतराते है कि ऐसा करने से हमारे यम-नियम आदि सब भग हो जाएँगे, आज तक की-कराई सयम साधना चौपट हो जायगी । अत सुविहित एव सकोचशील साधु को आश्वस्त करने एव गृहवास मे फँसाने की दृष्टि से वे कहते है—हे सुव्रतधारिन् महामुने ! आपने मुनिभाव मे महाव्रत आदि यम-नियमो का पालन किया है, गृहवास मे जाने पर वे उसी तरह बरकरार रहेगे, उनका फल कभी समाप्त नही होगा, या गृहवास मे भी वे पूर्ववत् पाले जा सकेगे, उनका फल भी पूर्ववत् मिलता रहेगा, क्योकि स्वकृत पुण्य-पाप के फल का कभी नाश नही होता । अत नियमभग के भय से सुखोपभोग करने मे सकोच न कीजिए । इसी आशय से शास्त्रकार कहते है—**"जो तुमे नियमो चिण्णो सव्वो सविज्जए तहा ।"**

पाँचवाँ रूप- इतना आश्वासन देने के बावजूद भी सुसयमी साधु का मन सहसा यह सोचकर गृहवास मे जाने को तैयार नही होता कि गृहस्थावास मे जाने से मुझे पूर्व स्वीकृत यम-नियमो को भग करने का महादोष लगेगा, अत वे फिर दूसरा पासा फैकते है—"साधकवर ! अपने बहुत वर्षों तक सयम मे रमण कर लिया, यम-नियमो से युक्त होकर विहार कर लिया, अब आप अनायास प्राप्त उन भोगो को निर्लिप्त भाव से भोगेगे तो आपको कोई भी दोष नही लगेगा । इसी आशय को शास्त्रकार व्यक्त करते है—**'चिर दूइज्जमाणस्स कुतो तव ?'**

उपसर्ग के प्रभाव—ये और इस प्रकार के अन्य अनेक भोग निमन्त्रणरूप उपसर्ग के रूप हो सकते है । इस प्रकार के अनुकूल उपसर्ग है, जिन पर विजय करने मे कच्चा साधक असमर्थ रहता है । एक बार भोग बुद्धि साधु के हृदय मे उत्पन्न हुई कि फिर पतन का दौर शुरू हो जाता है, फिर वह उत्तरोत्तर फिसलता ही चला जाता है । जैसे लोग चावलो के दाने डालकर सूअर को फँसा लेते है, वैसे ही भोगवृत्ति-परायण लोग भोग सामग्री के टुकडे डालकर साधु को भोगो के जाल मे या गृहवास मे फसा लेते है । यह इस उपसर्ग का प्रथम प्रभाव है ।

दूसरा प्रभाव—यह होता है कि जो साधक पूर्वोक्त भोग निमन्त्रण के प्रलोभन मे फसकर एक बार सयम मे शिथिल हो जाता है, भोगपरायण बन जाता है, वह साधुचर्या के लिए प्रेरित किये जाने पर भी उसे क्रियान्वित नही कर पाता । सयम का नाम उसे नही सुहाता ।

तीसरा प्रभाव—वह फिर सयम पालनपूर्वक जीवनयापन करने मे असमर्थ हो जाता है । उसे रात-दिन भोग्य सामग्री पाने की धुन लगी रहती है ।

चौथा प्रभाव—मन्द पराक्रमी (शिथिलाचारी) साधक उच्च सयमाचरण मे फिर इतने दुर्बल होकर बैठ जाते है, जैसे मरियल बैल ऊँचे चढाई वाले मार्ग पर चलने मे अशक्त होकर बैठ जाता है। आशय यह है फिर वह पचमहाव्रत तथा साधुसमाचारी के भार को वहन करने मे अशक्त, मनोदुर्बल होकर सयमभार को त्याग कर या सयम मे शिथिल होकर नीची गर्दन करके बैठ जाता है।

पाँचवाँ प्रभाव—फिर वे कठोर एव नीरस सयम का पालन करने मे सर्वथा असमर्थ हो जाते है।

छठा प्रभाव—तपस्या का नाम सुनते ही उनको बेचैनी हो जाती है। तपस्या से उन्हे बिच्छु के डक-सी पीडा हो जाती है।

सातवाँ प्रभाव—बूढे बैल जैसे ऊँची-चढाई वाले मार्ग मे कष्ट पाते है, वैसे ही वे सयम से हारे-थके, अनुकूल उपसर्ग से पराजित विवेकमूढ साधक सयम साधना की ऊँचाइयो पर चढने मे पद-पद पर कष्टानुभव करते है।

आठवाँ प्रभाव—वे फिर नाना भोग सामग्री मे लुब्ध-मूर्च्छित हो जाते है, कामिनियो के प्रणय मे आबद्ध—आसक्त हो जाते है, और कामभोगो मे अधिकाधिक ग्रस्त रहते है।

नौवाँ प्रभाव—ऐसे काम-भोगासक्त साधको को फिर आचार्य आदि कितनी ही प्रेरणा दे, सयमी सयम जीवन मे रहने की, किन्तु वे बिलकुल नही सुनते और गृहस्थजीवन स्वीकार करके ही दम लेते है। वे सयम मे नही टिकते।

पिछली साढे तीन गाथाओ (सू० गा० २०० के उत्तरार्द्ध से लेकर सू० गा० २०३ तक) द्वारा शास्त्रकार ने उपभोग निमन्त्रण रूप उपसर्ग के मन्दसत्व साधक पर नौ प्रभावो का उल्लेख किया है।[८]

पाठान्तर—'**भिक्खुभावम्मि सुव्वता**' के बदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—'**सव्वो सो चिट्ठती तधा**' अर्थ होता है (जो भी तुमने आज तक यम-नियमो का आचरण किया है) वह सब ज्यो का त्यो (वैसा ही) रहेगा।

कठिन शब्दो की व्याख्या—**नीवारेण**—वृत्तिकार के अनुसार—'**व्रीहिविशेषकणदानेन**'—विशेष प्रकार के चावलो के कण डालकर। चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है—**णीयारेण** अर्थ है—**णीयारे कुण्डगादि**—चावल आदि देकर। **उज्जाण सि**—चूर्णिकार के अनुसार—**ऊर्ध्वं यानम् उद्यानम् तच्च नदी, तीर्थ-स्थल गिरिपब्भारो वा**' ऊर्ध्वयान—चढाई को उद्यान कहते है, वह है नदीतट, तीर्थस्थल पर्वतशिखर उस पर गमन करने मे। वृत्तिकार के अनुसार—**ऊर्ध्वं यानमुद्यानम् मार्गस्योन्नतो भाग; उट्टङ्कमित्यर्थः तस्मिन्नुद्यानशिरसि।** अर्थात्—मार्ग का उन्नत ऊँचा या उठा हुआ भाग उद्यान है। उस उद्यान के लिए-चोटी पर दूसरी बार उज्जाणसि के बदले (२०२ सू० गाथा मे) **पंकसि** पाठान्तर चूर्णिसम्मत प्रतीत होता है, क्योकि इस वाक्य की व्याख्या चूर्णिकार ने की है—**पके जीर्णगौः जरद्गववत्**। अर्थात् कीचड मे फँसे हुए बूढे बैल की तरह।[९]

।। द्वितीय उद्देशक समाप्त ।।

---

८ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति, पृ० ८६ से ८८ के आधार पर

(ख) सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ४३५ से ४४३ तक के आधार पर

९ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ८६ से ८८ तक

(ख) सूयगडग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ३६-३७

तइओ उद्देसओ

तृतीय उद्देशक

आत्म-संवेदनरूप उपसर्ग : अध्यात्म विषाद के रूप में

२०४. जहा संगामकालम्मि, पिट्ठतो भीरु पेहति ।
वलयं गहणं नूम, को जाणेइ पराजय ? ॥ १ ॥

२०५. मुहुत्ताणं मुहुत्तस्स, मुहुत्तो होति तारिसो ।
पराजियाऽवसप्पामो, इति भीरु उवेहति ॥ २ ॥

२०६. एव तु समणा एगे, अबलं नच्चाण अप्पगं ।
अणागतं भय दिस्स, अवकप्पतिम सुयं ॥ ३ ॥

२०७. को जाणति विओवात, इत्थीओ उदगाओ वा ।
चोइज्जता पवक्खामो, न णे अत्थि पकप्पित ॥ ४ ॥

२०८. इच्चेव पडिलेहंति, वलाइ पडिलेहिणो ।
वितिगिञ्छ समावण्णा, पंथाणं व अकोविया ॥ ५ ॥

२०४ जैसे युद्ध के समय कायर पुरुष पीछे की ओर गड्ढा, (वृक्षो और बेलो से) आच्छादित गहन तथा प्रच्छन्न स्थान (पर्वत की गुफा आदि) देखता है। (वह सोचता है—) कौन जाने (कि युद्ध मे) किसकी हार होगी ?

२०५ बहुत से मुहूर्तों मे से, अथवा एक ही मुहूर्त मे कोई ऐसा अवसर विशेष (मुहूर्त) होता है, (जिसमे जय या पराजय सम्भव है।) (अतः शत्रु के द्वारा) पराजित होकर जहाँ भाग (कर छिप) जाएं ऐसे स्थान के सम्बन्ध मे कायर पुरुष (पहले से) सोचता (ढूंढता) है।

२०६ इसी प्रकार कई श्रमण अपने आपको जीवन-पर्यन्त सयम-पालन करने मे दुर्बल (असमर्थ) जानकर तथा भविष्यकालीन भय (खतरा) देखकर यह (व्याकरण, ज्योतिष, वैद्यक आदि) शास्त्र (मेरे जीवननिर्वाह का साधन बनेगा,) ऐसी कल्पना कर लेते है।

२०७ कौन जानता है --मेरा पतन (सयम से पतन) स्त्री-सेवन से या (स्नानादि के लिए) सचित्त जल के उपयोग से हो जाए ? (या और किसी उपसर्ग से पराजित होने से हो जाए ?) (ऐसी स्थिति मे) मेरे पास पूर्वोपार्जित द्रव्य भी नही है। अत किसी के द्वारा पूछे जाने पर हम हस्तिशिक्षा, धनुर्वेद आदि विद्याएँ) बता देगे।

२०८ (मैं इस सयम का पालन कर सकूंगा या नही ?) इस प्रकार के सशय (विचिकित्सा) से घिरे हुए (आकुल), (मोक्षपथ के विषय मे) अनिपुण (अनभिज्ञ) अल्प पराक्रमी कच्चे साधक भी (युद्ध के समय) गड्ढा (या छिपने का स्थान) आदि ढूंढने वाले कायर पुरुषो के समान (सयम-विघातक रास्ते) ढूंढते है।

विवेचन—आत्मसंवेदनरूप उपसर्ग : प्रस्तुत पाच सूत्रगाथाओ (२०४ से २०८ तक) में सयम-पालन मे अल्पसत्व कायर साधक के मन मे होने वाले भय, कुशका और अस्वस्थ चिन्तन का निरूपण कायर योद्धा के साथ तुलना करते हुए किया गया है।

युद्ध के समय कायर पुरुष के चिन्तन के विविध पहलू—जब रणभेरी बजती है, युद्ध प्रारम्भ होता है, तब युद्ध विद्या मे अकुशल, मनोदुर्बल, कायर योद्धा सोचता है—"(१) पता नही इस युद्ध मे किसकी हार या जीत होगी ? (२) युद्ध क्षेत्र मे शत्रुपक्ष के बडे-बडे योद्धा उपस्थित हैं, दुर्भाग्य से हार हो गई तो फिर प्राण बचाने मुश्किल होगे, अत पहले से ही भाग कर छिपने का स्थान ढूढ लेना चाहिए। (३) वह स्थान इतना गहरा तथा बेलो और झाडियो से कमर तक ढका हुआ होना चाहिए कि शत्रु पीछा न कर सके, न पता लगा सके। (४) पता नही युद्ध कितने लम्बे समय तक चले, (५) इतने लम्बे काल तक युद्ध चलने के बाद भी विजय या पराजय की घडी तो एक ही बार आएगी। (६) उस घडी मे हम शत्रु से हार खा गये तो फिर कही के न रहेगे। अत पहले से ही भाग कर छिपने का गुप्त स्थान ढूँढ लेना अच्छा है।"

संयम-पालन मे कायर, सशयशील एव मनोदुर्बल साधको का चिन्तन—सयम पालन मे उपस्थित होने वाले परिषह-उपसर्गरूप शत्रुओ से जीवन के अन्त तक जूझना और उन पर विजय पाना भी सशयशील मनोदुर्बल एव कायर साधको के लिए अत्यन्त कठिन होता है, इसलिए ऐसे नाजुक साधक कोई भी परीषह और उपसर्ग उपस्थित न हो तो भी मन से इनकी कल्पना करके स्वय को भारी विपत्ति मे फसा हुआ मान लेते है। वे सयम को भारभूत समझते है और कायर योद्धा की तरह उन जरा-जरासी कठिनाइयो से बचने तथा सयममार्ग से पराजित होने पर अपने जीवन को बचाने और जीवनयापन करने के सयम-विघातक तरीके सोच लेते है। उनके अस्वस्थ चिन्तन के ये पहलू है--(१) यहाँ रूखा-सूखा और ठण्डा आहार मिलता है। सो भी भोजन का समय बीत जाने पर, और वह भी नीरस। प्रव्रजित साधक को भूमि पर सोना पडता है। फिर लोच करना, स्नान न करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना इत्यादि सयमाचरण कितना कठोर और कठिन है ! और फिर इस प्रकार कठोर सयमपालन एक-दो दिन या वर्ष तक नही, जीवन भर करना है। यह मुझसे सुकोमल, सुकुमार और आराम से पले हुए व्यक्ति से कैसे हो सकेगा ? हाय ! मै तो इस बन्धन मे फस गया ! (२) जीवन भर चारित्रपालन मे अब मै असमर्थ हूँ। अत सयमत्याग करना ही मेरे लिए ठीक है। परन्तु सयम त्याग करने से सर्वप्रथम मेरे समक्ष जीविका का सकट उपस्थित होगा, जीविका का कोई न कोई साधन हुए बिना मै सुख से कैसे जी सकूगा ? (३) इस सकट से बचने तथा सुख से जीवनयापन करने के लिए मैं अपनी सीखी हुई गणित, ज्योतिष, वैद्यक, व्याकरण और होराशास्त्र आदि विद्याओ का उपयोग करूँगा। (४) ओ हो ! मैं बहुत दूर चला गया। यह कौन जानता है कि सयम से पतन स्त्री-सेवन मे या सचित्त (कच्चे) पानी के उपयोग से, या और किसी उपसर्ग से होगा ! (५) फिर पता नही, मै किस उपसर्ग से, कब सयम मे भ्रष्ट हो जाऊं ? (६) मान, लो मै सयम से भ्रष्ट हो गया तो फिर मै घर का रहा, न घाट का ! मेरे पास पहले का कमाया हुआ कोई धन भी नही है, बडी समस्या खडी होगी, मेरे सामने। (७) कोई पूछेगा कि सयमत्याग करने के बाद आप क्या करेगे, कैसे जीयेगे ? तो हम झूठ-मूठ यही कहेगे कि हमारे पास हस्तिविद्या, धनुर्वेद आदि विद्याएँ है, उन्ही का उपयोग हम करेंगे ! (८) कभी वह सहसा सशयशील बन जाता है, और इस प्रकार के सशयो

मे डूबता-उतराता रहता है—(क) पता नही, मैं जीवन के अन्त तक सयमपालन कर सकूँगा या नही ? (ख) यदि सचमुच ही मुझे सयम छोड़ना पड़ा तो मेरे लिए कौन-सा मार्ग हितकर होगा ? (ग) फिर इतने कठोर सयम के पालन का फल भी मिलेगा या नही ? यदि कुछ भी अच्छा फल न मिला तो इस व्यर्थ कष्ट सहन से क्या लाभ ? (घ) इससे तो बेहतर यही था कि मैं आराम की जिन्दगी जीता, यहाँ तो पद-पद पर कष्ट है। परन्तु आराम की जिन्दगी जीने के साधन न हुए तो मैं कैसे इसमे सफल हो पाऊँगा ? (ङ) क्या मेरी पहली सीखी हुई विद्याएँ काम नही आएँगी ? (च) पर वे तो मोक्षमार्ग या सयम मार्ग से विरुद्ध होगी, ऐसी स्थिति मे अशुभकर्मों का बन्ध होने से मुझे सुख के बदले फिर दु ख ही दु ख नही उठाने पडेगे ?

इस प्रकार अल्पसत्त्व साधक की चित्तवृत्ति डावाडोल एव सशयशील हो जाती है। वह **'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः'** जैसी स्थिति मे पड जाता है। फलत वह अपनी तामसिक एव राजसी बुद्धि से अज्ञान एव मोह से प्रेरित सयम विरुद्ध चिन्तन और तदनुरूप कुकृत्य करता है।[2] फिर भी उस अभागे का मनोरथ सिद्ध नही होता। ये सब आध्यात्मिक विषाद के रूप मे स्व सवेदन रूप उपसर्ग के नमूने है। जिनसे कायर साधक पराजित हो जाता है।

कठिन शब्दो की व्याख्या—वलय—यत्रोदकं वलयाकारेण व्यवस्थितम्, उदक रहिता वा गर्त्ता दुःखनिर्गमन प्रवेशा—अर्थात् वलय का अर्थ है—जहाँ पानी वलय-चूडी के आकार के समान ठहरा हुआ हो अथवा वलय का अर्थ है—जल से रहित सूखा गहरा गड्ढा, जिसमे कठिनता से निकलना और प्रवेश करना हो सके। **गहण—धवादिवृक्षैः कटिसस्थानीयम्**—गहन का अर्थ है—वह वन या स्थान जो धव (खैर) आदि वृक्षो से मनुष्य की कमर तक आच्छादित हो। **नूमं—'प्रच्छन्न गिरिगुहादिकम्'**—अर्थात्—प्रच्छन्न (गुप्त) पर्वत-गुफा आदि स्थान। **अवसप्पामो—नश्याम**। अर्थात्—भाग सके या भागकर छिप सके। **उवेहति**—उत्प्रेक्षा करता है—कल्पना करता है। "अवकप्पति—अवकल्पयन्ति, मन्यन्ते।" अर्थात्—व्याकरणादि शास्त्रो को सकट के समय रक्षा के लिए उपयुक्त मान लेते है। **विओवातं**—चूर्णिकार के अनुसार—**'विओवातो णाम व्यापातः'** अर्थात् विओवातो का अर्थ है—व्यापात—विशेषरूप से (सयम से) पतन या विनाश। **न णे अत्थि पकप्पितं**—हमारे पास अपना प्रकल्पित पूर्वोपार्जित द्रव्य कुछ नही है। **वितिगिच्छा समावण्णा—'विचिकित्सा'**—चित्तविप्लुति। अर्थात् विचिकित्सा का अर्थ चित्त की उछलकूद है, मैने यह जो सयमभार उठाया है, इसे मै अन्त तक पार लगा सकूँगा या नही ? इस प्रकार के सशय से घिरे हुए।[3]

आत्मसंवेदन रूप उपसर्ग विजयी वीर साधक

२०९. जे उ सगामकालम्मि, नाता सूरपुरंगमा।
ण ते पिट्ठमुवेहति, किं परं मरण सिया ॥६॥

---

१ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति भाषानुवाद सहित भा० २, पृ० ४४

२ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ८८-८९ के आधार पर

३ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति, पत्राक ८८-८९
(ख) सूयगडग चूर्णि (मूलपाठ टिप्पण), पृ० ३७

२१०. एवं समुट्ठिए भिक्खू, वोसिज्जाऽगारबंधणं ।
आरंभं तिरियं कट्टु, अत्तत्ताए परिव्वए ॥७॥

२०९ परन्तु जो पुरुष जगत्-प्रसिद्ध एव शूरवीरो में अग्रगण्य है, वे युद्ध के समय पीछे (युद्ध के फल) की बात की कल्पना तक नही करते । (वे समझते हैं कि) मरण से बढकर और क्या हो सकता है ?

२१० इसी प्रकार गृहबन्धन का त्याग करके और आरम्भ को त्यागकर सयम पालन के लिए समुत्थित-समुद्यत भिक्षु आत्मभाव की प्राप्ति के लिए सयम मे पराक्रम करे ।

विवेचन—आत्मसंवेदन रूप उपसर्ग पर विजयी साधक कौन, कैसे ?— प्रस्तुत सूत्रगाथाद्वय मे सग्राम मे सच्चे वीर योद्धा की उपमा देकर आत्म-सवेदन रूप उपसर्ग पर विजयी साधक के स्वरूप, लक्ष्य और कर्तव्य का निरूपण किया गया है ।

विश्वविख्यात वीर योद्धाओ की मनोवृत्ति—जो पुरुष ससार मे प्रसिद्ध तथा वीरो मे अग्रगण्य है, वे युद्ध के अवसर पर कायरो की तरह आगा पीछा नही सोचते कि युद्ध मे हार गये या मारे गये तो क्या होगा ? न ही उनके मन मे युद्ध मे पराजित होने पर पलायन का या गुप्तस्थान को पहले से टटोलने का विचार आता है और न वे दुर्गम स्थानो मे छिपकर अपनी रक्षा के लिए पीछे की ओर झाकते हैं । बल्कि वे युद्ध के समय अग्रिम मोर्चे पर रहते है, युद्धक्षेत्र छोडकर भागने का उन्हे विचार तक नही होता । वे समझते है—इस युद्ध मे अधिक से अधिक हानि मृत्यु मे बढकर और क्या हो सकती है ? वह मृत्यु हमारी दृष्टि मे सदा स्थायी रहने वाली कीर्ति की अपेक्षा तुच्छ है । इसीलिए इस गाथा मे कहा गया है— **"जे उ सगामकालमि मरण सिया ।"**

आत्मसवेदनोपसर्ग—विजेता साधक की मनोवृत्ति— विश्व-विख्यात सुभटो की-सी ही मनोवृत्ति उपसर्ग विजयी सयमवीर की होनी चाहिए, इसे बताते हुए शास्त्रकार कहते है—"एव समुट्ठिए अत्तत्ताए परिव्वए ।" इसका तात्पर्य यह है कि विश्वविख्यात वीर सुभटो की तरह पराक्रमशाली साधु कषायो और इन्द्रिय विषयो रूपी शत्रुओ पर विजय पाने, परीषहो और उपसर्गों का सामना करने, एव जन्म-मरणचक्र का भेदन करने हेतु सयम भार को लेकर जब उद्यत—उत्थित हो जाता है, तब वह पीछे की ओर मुडकर नही देखता कि मेरे घरवालो का क्या होगा ? ये विविध भोगोपभोग के साधन न मिले तो क्या होगा ? अथवा 'मै सयम-पालन न कर सका या कभी सयमभ्रष्ट हो गया तो भविष्य मे मेरा क्या होगा ?' उसके मन मे ये दुर्विकल्प उठते ही नही । वह दृढतापूर्वक यही चिन्तन करता है है कि जब एक बार मैंने गार्हस्थ्यबन्धन को काटकर फैक दिया है और आरम्भ-समारम्भो को तिलाजलि दे दी है, और सयमपालन के लिए कटिबद्ध हुआ हूँ, तब पीछे मुडकर देखने और भविष्य की निरर्थक चिन्ता करने का मेरे मन मे कोई विकल्प ही नही उठना चाहिए । मेरा प्रत्येक कदम वीर की तरह आगे की ओर होगा, पीछे की ओर नही । अधिक से अधिक होगा तो किसी प्रतिकूल परीषह या उपसर्ग को सहने मे प्राणो की बलि हो जायेगी । परन्तु सच्चे साधक के लिए तो 'समाधिमरण' सर्वश्रेष्ठ अवसर है, कर्मों को या जन्ममरण के बन्धनो को काटने का ।[४]

अत्तत्ताए परिव्वए—ऐसे सयमवीर साधक का यह मूलमन्त्र है । इसका अर्थ है—'आत्मत्व के

---

४ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ८९

लिए पराक्रम करे।' आत्मत्व कहते है—आत्मभाव—आत्मा के स्वभाव को। आत्मा का पूर्णतया शुद्ध स्वभाव समस्त कर्मकलक से रहित होने—मोक्ष प्राप्त होने पर होता है। निष्कर्ष यह है कि आत्मत्व की यानी मोक्ष की प्राप्ति के लिए सुविहित साधु को अप्रमत्त होकर पुरुषार्थ करना चाहिए। अथवा साधु-जीवन का ध्येय आत्मा का मोक्ष या सयम है। चूर्णिकार ने **आततथाए** पाठ मानकर यही अर्थ किया है—**आतो मोक्षः संजमो वा अस्यार्थस्य—आततथाए**। अर्थात् आत्मा मोक्ष या सयम को कहते है, वही आत्मा का आत्मत्व स्वभाव है। जिसे प्राप्त करने के लिए वह सर्वतोमुखी प्रयत्न करे। आत्मा पर कषायादि लग कर उसे विकृत करते हैं, स्वस्वरूप मे स्थिर नही रहने देते। इसीलिए शास्त्र मे कहा गया है—

> **"कोहं माणं च मायं च लोहं पचेंदियाणि य।**
> **दुज्जयं चेवमप्पाणं, सव्वमप्पे जिए-जियं॥"**

"क्रोध, मान, माया और लोभ, ये चार कषाय तथा पाँचो इन्द्रियाँ, ये आत्मा के लिए दुर्जेय है। अत आत्मा को जीत लेने (यानी आत्मा पर लगे कषाय विषयसग आदि को हावी न होने देने) पर सभी को जीत लिया जाता है।"[५]

पाठान्तर—'ण ते पिट्ठमुवेहंति, किं पर मरणं सिया?' के बदले चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है—'ण ते पिट्ठतो पेहंति, कि पर मरण भवे।'—अर्थात्—वे पीछे मुडकर नही देखते। यही सोचते हैं कि मृत्यु से बढकर और क्या होगा?[६]

उपसर्ग : परवादिकृत आक्षेप के रूप में

> २११. **तमेगे परिभासंति, भिक्खुयं साहुजीविणं।**
> **जे ते उ परिभासंति, अंतए ते समाहिए॥८॥**
>
> २१२. **संबद्धसमकप्पा हु, अन्नमन्नेसु मुच्छिता।**
> **पिंडवायं गिलाणस्स, जं सारेह दलाह य॥९॥**
>
> २१३ **एव तुब्भे सरागत्था, अन्नमन्नमणुव्वसा।**
> **नट्ठसप्पहसब्भावा, संसारस्स अपारगा॥१०॥**

२११ साध्वाचार—(उत्तम आचार) पूर्वक जीने वाले उस (सुविहित) भिक्षु के विषय मे कई (अन्यदर्शनी) (आगे कहे जाने वाले) आक्षेपात्मक वचन कहते है, परन्तु जो इस प्रकार (—के आक्षेपात्मक वचन) कहते हैं, वे समाधि से बहुत दूर है।

---

५ (क) उत्तराध्ययन अ० ९, गा० ३६
(ख) सूत्रकृतांग शीलाकवृत्ति पत्राक ८९
(ग) सूयगडग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ ३८

६ सूयगडग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ३८

२१२ (उपकार्य-उपकारक रूप से—) सम्बद्ध गृहस्थ के समान व्यवहार (अनुष्ठान) वाले आप लोग परस्पर (एक दूसरे मे) मूर्च्छित (आसक्त) है, क्योकि आप रुग्ण (ग्लान साधु) के लिए भोजन लाते और देते हैं।

२१३ इस प्रकार (परस्पर उपकार के कारण) आप सराग (स्वजनो के प्रति रागी) और एक दूसरे के वश मे रहते हैं। अत. आप सत्पथ (सन्मार्ग) और सद्भाव (परमार्थ) से भ्रष्ट (दूर) है, तथा ससार (चतुर्गतिक भ्रमणरूप ससार) के पारगामी नही हो सकते।

विवेचन—स्वसवेदनरूप उपसर्ग—परवादिकृत आक्षेप के रूप मे—प्रस्तुत सूत्रगाथात्रय (२११ से २१३ तक) मे अन्य दर्शनियो द्वारा सुविहित साधुओ पर किये जाने वाले मिथ्या आक्षेपो का वर्णन है।

यद्यपि इन मिथ्या आक्षेपो का सम्यग्दृष्टि एव मोक्षविशारद, तत्त्व-चिन्तक साधुओ के मन पर कोई असर नही होता, किन्तु जो साधक अभी तक सिद्धान्तनिष्ठ, तत्त्वज्ञ एव साध्वाचारदृढ नही है, उनका चित्त उक्त आक्षेपो को सुनकर सशयग्रस्त या कषायोत्तेजनाग्रस्त हो सकता है, इस कारण ऐसे आक्षेपवचनो को उपसर्ग माना गया है। शास्त्रकार ऐसे आत्मसवेदनरूप उपसर्ग की सम्भावना होने पर साधु को अपना मन समाधिस्थ रखने हेतु सकेत करते है–**'तमेगे परिभासन्ति अन्तर से समाहिए'**। आशय यह है कि जो साधुताजीवी भिक्षुओ पर ऐसा मिथ्या आक्षेप करते हैं, ज्ञानादि से मोक्षरूप अथवा कषाय की उपशान्ति रूप समाधि से दूर है, अर्थात्—वे बेचारे असमाधि मे है, सासारिक भ्रमणा मे हैं। शास्त्रकार का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि ऐसे मिथ्या-आक्षेपवादियो के द्वारा किये गये असत् आक्षेपो को सुनकर सुविहित साधु को न तो उत्तेजित होकर अपनी चित्त समाधि भग करनी चाहिए और न उनके मिथ्या-आक्षेपो को सुनकर, क्षुब्ध होना चाहिए, अर्थात् स्वय को समाधि से दूर नही करना चाहिए, ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप समाधि मे स्थिर रहना चाहिए।

वृत्तिकार और चूर्णिकार 'एगे' शब्द की व्याख्या करते हुए इन आक्षेपको को गोशालकमतानुसारी आजीवन या दिगम्बर परम्परा के भिक्षु बताते है, वृत्तिकार आगे कहते है—उत्तम साधु यह तटस्थ (राग-द्वेष-पक्षपात रहित) चिन्तन करे कि ये जो साध्वाचार की निन्दा या आलोचना करते हैं, या आक्षेपात्मक वचन बोलते है, उनका धर्म पुष्ट-सुदृढ नही है, तथा वे समाधि से दूर हैं। वे परस्पर उपकार से रहित दर्शन (दृष्टि) से युक्त है, लोहे की सलाइयो की तरह परस्पर मिलते नही, दूर-दूर अलग अलग रहते हैं। पृथक्-पृथक् विचरण करते है।

तात्पर्य यह है कि उत्तम साध्वाचार परायण एव वीतरागता का पथिक साधु उन निन्दको या आलोचको के प्रति तरस खाए, भडके नही, उनकी आक्षेपात्मक बातो पर कोई ध्यान न दे, मोक्षमार्ग पर अबाध गति से चलता रहे। हाँ, अपने सयमाचरण मे कोई त्रुटि या भूल हो तो उसे अवश्य सुधार ले, उसमे अवश्य सावधानी रखे। यही इस गाथा द्वारा शास्त्रकार ने ध्वनित किया है।

आक्षेप कितने और किस प्रकार के?—उत्तम साधुओ पर लगाये जाने वाले मिथ्या आक्षेपो के कुछ नमूने यहाँ शास्त्रकार ने प्रस्तुत किये हैं, वैसे उनकी कोई निश्चित गणना नही की जा सकती, ऐसे और आक्षेप भी अन्य आक्षेपको द्वारा किये जा सकते है।

कुछ आक्षेप इस प्रकार है—(१) परस्पर उपकार्य—उपकारक सम्बन्ध से बँधे हुए गृहस्थो का-सा इनका व्यवहार है, (२) ये परस्पर एक-दूसरे मे आसक्त है, (३) रोगी साधु के प्रति अनुरागवश ये उसके लिए भोजन लाते हैं, और देते हैं। (४) आप लोग स्पष्टत सरागी है, (५) परस्पर एक-दूसरे के वश—अधीन है। (६) सद्भाव और सन्मार्ग से दूर है, (७) आप ससार को पार नही कर सकते।[७]

परोक्ष आक्षेप की झांकी—कोई-कोई परोक्ष मे आक्षेप करते है, जैसे—देखो तो सही! ये लोग घरबार कुटुम्ब परिवार और रिश्ते-नाते छोडकर साधु बने है, परन्तु इनमे अब भी एक-दूसरे साधुओ के साथ पुत्र कलत्र आदि स्नेह-पाशो से बन्धे हुए गृहस्थो का-सा व्यवहार है। गृहस्थ लोग परस्पर एक-दूसरे के सहायक उपकारक होते है, वैसे ही ये साधु भी परस्पर सहायक उपकारक होते है। जैसे गृहस्थ-जीवन मे पिता-पुत्र मे, भाई-भाई मे, भाई-बहन मे परस्पर गाढ अनुराग होता है, वैसे ही इन साधुओ मे गुरु-शिष्य का, गुरु भाइयो का तथा गुरु-भाईयो गुरु-बहनो का परस्पर गाढ अनुराग होता है। इन्होने गृहस्थी के नाते-रिश्ते छोडे, यहाँ नये रिश्ते-नाते बना लिये। आसक्ति तो वैसी की वैसी ही बनी रही, केवल आसक्ति के पात्र बदल गये है। फिर इनमे और गृहस्थो मे क्या अन्तर रहा? फिर ये परस्पर आसक्त होकर एक-दूसरे का उपकार भी करते है, जैसे कि कोई साधु बीमार हो जाता है तो ये उस रुग्ण साधु के प्रति अनुराग वश उसके योग्य पथ्ययुक्त आहार अन्वेषण करके लाते है और उसे देते है। यह गृहस्थ के समान व्यवहार नही तो क्या है? यही बात शास्त्रकार कहते है—**संबद्ध समकप्पा उ**।

कोई आक्षेपकर्ता साधुओ से कहते है—अजी! आप लोग गृहस्थो की तरह परस्पर राग-भाव से ग्रस्त है, अपने माने हुए लोगो का परस्पर उपकार करते है, इसलिए रागयुक्त हैं—राग-सहित स्वभाव मे स्थित (सरागस्थ) है। बन्धनबद्ध या एक-दूसरे के आधीन रहना तो गृहस्थो का व्यवहार है। इसी कारण आप लोग सत्पथ (मोक्ष के यथार्थ मार्ग) तथा सद्भाव (परमार्थ) से भ्रष्ट है। इसीलिए आप चतुर्गति परिभ्रमणरूप ससार के पारगामी नही हो सकते। मोक्ष को प्राप्त नही कर सकते।[८]

पाठान्तर और व्याख्या—'जे तेउ (तेवं) परिभासन्ति अन्तए ते समाहिए'—वृत्तिकार के अनुसार—'ये ते अपुष्टधर्माण, एव वक्ष्यमाण परिभाषन्ते, न एवम्भूता अन्तके—पर्यन्ते—दूरे समाधे मोक्षाख्यात् वर्तन्त इति।' वे अपुष्ट धर्मा (आक्षेपक) ऐसा (आगे कहे जाने वाला आक्षेपात्मक वचन) कहते है, वे मोक्ष नामक समाधि से दूर है। चूर्णिकार **'जे ते एवं भासन्ति, अन्तए (ते) समाहिते'** पाठान्तर मानकर अर्थ करते है—"**अन्तए** नाम नाभ्यन्तरत, दूरत ते समाहिए, णाणादि-मोक्खा परमसमाधी, अत्यन्त असमाधौ वर्तन्ते, **'असमाहिए'**—अकारलोप कृत्वा **संसारे** इत्यर्थ। अर्थात्—**अन्तए** का अर्थ है—आभ्यन्तर से नही, अपितु वे समाधि से दूरत है। ज्ञानादिमोक्षरूप परमसमाधि होती है। अत ऐसा अर्थ सम्भव है कि वे अत्यन्त असमाधि मे है। **असमाहिए** पाठ मे अकार का लोप करने से असमाहिए (असमाधि मे) का फलितार्थ होता है—ससार मे है। **सारेह**—

---

७ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ९० के आधार पर

८ वृत्तिकार के कथनानुसार यह चर्चा दिगम्बर पक्षीय साधुओ और श्वेताम्बर परम्परा के साधुओ के बीच है। वृत्तिकार का यह कथन उपयुक्त प्रतीत होता है। —जैन साहित्य का बृहत् इतिहास भा० १, पृ० १४३

अन्वेषयत—अन्वेषण करते है । **दलाहय** ग्लान के योग्य आहार का अन्वेषण करके उसके उपकारार्थ लाकर देते है । 'च' शब्द से आचार्यादि की वैयावृत्य करने आदि उपकार करते है ।[९]

परवादिकृत आक्षेप निवारण : कौन, क्यो और कैसे करे ?

२१४. अह ते परिभासेज्जा, भिक्खू मोक्खविसारए ।
एव तुब्भे पभासेंता, दुपक्खं चेव सेवहा ।।११।।

२१५. तुब्भे भु जह पाएसु, गिलाणाऽभिहडं ति य ।
त च बीओदग भोच्चा, तमुद्देसादि ज कड ।।१२।।

२१६. लित्ता तिव्वाभितावेण, उज्जया असमाहिया ।
नातिकडुइतं सेय, अरुयस्सावरज्झती ।।१३।।

२१७. तत्तेण अणुसिट्ठा ते, अपडिण्णेण जाणया ।
ण एस णियए मग्गे, असमिक्खा वई किती ।।१४।।

२१८. एरिसा जा वई एसा, अग्गे वेणु व्व करिसिता ।
गिहिणो अभिहड सेय, भु जितु न तु भिक्खुणो ।।१५।।

२१९. धम्मपण्णवणा जा सा, सारंभाण विसोहिया ।
न तु एताहिं दिट्ठीहि, पुव्वमासि पकप्पिय ।।१६।।

२२०. सव्वाहिं अणुजुत्तीहि, अचयता जवित्तए ।
ततो वायं णिराकिच्चा, ते भुज्जो वि पगब्भिता ।।१७।।

२२१. रागदोसाभिभूतप्पा, मिच्छत्तेण अभिद्दुता ।
अक्कोसे सरण जति, टंकणा इव पव्वय ।।१८।।

२२२. बहुगुणप्पगप्पाइं, कुज्जा अत्तसमाहिए ।
जेणऽण्णो ण विरुज्झेज्जा, तेण त तं समायरे ।।१९।।

२२३. इमं च धम्ममादाय, कासवेण पवेइय ।
कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स, अगिलाए समाहिते ।।२०।।

---

९ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ९०
(ख) सूयगडग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ३८

२१४ इसके पश्चात् मोक्षविशारद (ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप मोक्ष की प्ररूपणा करने मे निपुण) साधु उन (अन्यतीर्थिको) से (इस प्रकार) कहे कि यो कहते (आक्षेप करते) हुए आप लोग दुष्पक्ष (मिथ्यापक्ष) का सेवन करते (आश्रय लेते) हैं।

२१५. आप सन्त लोग (गृहस्थ के कासा, ताबा आदि धातु के) पात्रो मे भोजन करते है, रोगी सन्त के लिए गृहस्थो से (अपने स्थान पर) भोजन मँगवा कर लेते है, तथा आप बीज और सचित्त (कच्चे) जल का उपभोग करते है एव जो आहार किसी सन्त के निमित्त (उद्देश्य से) बना है उस औद्देशिक आदि दोषयुक्त आहार का सेवन करते है।

२१६ आप लोग तीव्र कषायो अथवा तीव्र बन्ध वाले कर्मों से लिप्त (सद्विवेक से—) रहित तथा समाधि (शुभ अध्यवसाय) से रहित है। (अत हमारी राय मे) घाव (व्रण) का अधिक खुजलाना अच्छा नही है, क्योकि उससे दोष (विकार) उत्पन्न होता है।

२१७ जो प्रतिकूल ज्ञाता नही है अथवा जिसे मिथ्या (विपरीत) अर्थ बताने की प्रतिज्ञा नही है, तथा जो हेय-उपादेय का ज्ञाता साधु है, उसके द्वारा उन (आक्षेपकर्ता अन्य दर्शनियो) को सत्य (तत्त्व वास्तविक) बात की शिक्षा दी जाती है कि यह (आप लोगो द्वारा स्वीकृत) मार्ग (निन्दा का रास्ता) नियत (युक्ति-सगत) नही है, आपने सुविहित साधुओ के लिए जो (आक्षेपात्मक) वचन कहा है, वह बिना विचारे कहा है, तथा आप लोगो का आचार भी विवेक शून्य है।

२१८ आपका यह जो कथन है कि साधु को गृहस्थ के द्वारा लाये हुए आहार का उपभोग (सेवन) करना श्रेयस्कर है, किन्तु साधु के द्वारा लाये हुए का नही, यह बात बास के अग्रभाग की तरह कमजोर है (वजनदार नही है।)

२१९ (साधुओ को दान आदि देकर उपकार करना चाहिए), यह जो धर्म-प्रज्ञापना (धर्म-देशना) है, वह आरम्भ-समारम्भयुक्त गृहस्थो की विशुद्धि करने वाली है, साधुओ की नही, इन दृष्टियो से (सर्वज्ञो ने) पूर्वकाल मे यह प्ररूपणा नही की थी।

२२० समग्र युक्तियो से अपने पक्ष की सिद्धि (स्थापना) करने मे असमर्थ वे अन्यतीर्थी तब वाद को छोडकर फिर अपने पक्ष की स्थापना करने की धृष्टता करते हैं।

२२१ राग और द्वेष से जिनकी आत्मा दबी हुई है, जो व्यक्ति मिथ्यात्व से ओतप्रोत है, वे अन्य तीर्थी शास्त्रार्थ मे हार जाने पर आक्रोश (गाली या अपशब्द आदि) का आश्रय लेते है। जैसे (पहाड पर रहने वाले) टकणजाति के म्लेच्छ (युद्ध मे हार जाने पर) पर्वत का ही आश्रय लेते है।

२२२ जिसकी चित्तवृत्ति समाधि (प्रसन्नता या कषायोपशान्ति) से युक्त है, वह मुनि (अन्य-तीर्थी के साथ विवाद के समय) अनेक गुण निष्पन्न हो, जिससे इस प्रकार का अनुष्ठान करे और दूसरा कोई व्यक्ति अपना विरोधी न बने।

२२३ काश्यपगोत्रीय भगवान् महावीर स्वामी के द्वारा कहे हुए इस धर्म को स्वीकार करके समाधि युक्त भिक्षु रुग्ण साधु की सेवा (वैयावृत्य) ग्लानि रहित होकर करे।

विवेचन—परवादिकृत-आक्षेपरूप उपसर्ग-निवारण : कौन, क्यो और कैसे करें—इससे पूर्व परवादिकृत आक्षेपरूप उपसर्ग के कुछ नमूने प्रस्तुत किये गये है। अब सूत्रगाथा २१४ से २२३ तक १० सूत्रगाथाओ मे बताया गया है कि परवादिकृत पूर्वोक्त आक्षेपो का निराकरण करे या नही ? करे तो कौन करे ? कैसे करे ? किस पद्धति से करे ?

आक्षेप निवारण करे या नहीं ?—सर्वप्रथम यह प्रश्न होता है कि सुसाधुओ की या उनके आचार-विचार पर कोई अन्यतीर्थी छीटाकशी करे, नुक्ता-चीनी करे, अथवा निन्दा, आलोचना या मिथ्या आक्षेप करे तो क्या वे उसे चुपचाप सुन ले, सह ले, या उसका प्रतिवाद करे, या उनके गलत आक्षेपो का निराकरण करे और भ्रान्ति मे पडे हुए लोगो को यथार्थ वस्तुस्थिति समझाए ?

यद्यपि इससे पूर्व गाथा २११ मे इस प्रकार के मिथ्या आक्षेपको को समाधि से दूर मानकर शास्त्रकार ने साधुओ को उनके प्रति उपेक्षा करने, ध्यान न देने की बात ध्वनित की है।

परन्तु आक्षेपक जब व्यक्तिगत आक्षेप तक सीमित न रहकर उसे समूह मे फैलाए, उसे निन्दा और बदनामी का रूप देने लगे, जैसा कि पूर्वोक्त सूत्र-गाथाओ मे वर्णित है, तब शास्त्रकार उक्त मिथ्या आक्षेपो का प्रतिवाद करने का निर्देश करते है "**अह ते परिभासेज्जा भिक्खू मोक्ख विसारए।**"

शास्त्रकार का आशय यह प्रतीत होता है कि अगर वस्तुतत्त्व प्रतिपादन मे निपुण तत्त्ववेत्ता स्वय की व्यक्तिगत आलोचना या निन्दा को चुपचाप समभावपूर्वक सह लेता है, बदले मे कुछ नही कहता तो यह अपनी आत्मा के लिए निर्जरा (कर्मक्षय) का कारण होने से ठीक है, परन्तु जब समग्र साधु-सस्था या सघ पर मिथ्या आक्षेप होता है, तब उसे चुपचाप सुन लेना अच्छा नही, ऐसा करने से वस्तु तत्त्व से अनभिज्ञ साधारण जनता प्राय यही समझ लेती है कि इनके धर्म, सघ या साधु वर्ग मे कोई दम नही है। ये तो गृहस्थो की तरह अपने-अपने दायरे मे, अपने-अपने गुरु-शिष्यो मे मोहवश बन्धे हुए हैं। इस प्रकार एक ओर धर्मतीर्थ (सघ) की अवहेलना हो, दूसरी ओर साधु-सस्था के प्रति जनता मे अश्रद्धा बढे, तथा मिथ्यावाद को उत्तेजना मिले तो यह दोहरी हानि है। इससे सघ मे नवीन मुमुक्षु साधको का प्रवेश तथा सद्गृहस्थो द्वारा व्रत मे धारण रुकना सम्भव है। इसलिए शास्त्रकार ने इस गाथा द्वारा मार्ग-दर्शन दिया है कि ऐसे समय साधु तटस्थ भावपूर्वक आक्षेपकर्ताओ से प्रतिवाद के रूप मे कहे।[१०]

आक्षेप निवारणकर्ता भिक्षु की योग्यता—शास्त्रकार ने आक्षेप का प्रतिवाद करने का निर्देश किया है, किन्तु साथ ही कौन साधु प्रतिवाद कर सकता है ? इस सम्बन्ध मे शास्त्रकार ने सूत्रगाथा २१४, २१६, २२१ और २२२ मे आक्षेप निवारक भिक्षु के विशेष गुणो के सम्बन्ध मे क्रमश प्रकाश डाला है। वे गुण क्रमश इस प्रकार है—(१) वह साधु मोक्षविशारद हो, (२) वह अप्रतिज्ञ हो, (३) वह हेयोपादेय का सम्यग् ज्ञाता हो, (४) क्रुद्ध, द्वेषी विरोधियो का प्रतिवाद क्रोध-द्वेष-वधादि-पूर्वक न करे, (५) आत्मसमाधि से युक्त हो, (६) अनेक गुणो का लाभ हो, तभी प्रतिवाद करता हो, (७) दूसरे लोग विरोधी न बन जाएँ, ऐसा आचरण करता हो।

---

१०. सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या, पृ० ४५६

मोक्ख विसारए—प्रतिवादकर्ता साधु सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग की प्ररूपणा करने मे प्रवीण होना चाहिए। अगर वह साधु स्वय ही शिथिल आचार का पोषक हुआ तो वह आक्षेपको के आक्षेप का निराकरण ठीक से न कर सकेगा और न ही उसके द्वारा किये गये निराकरण का साधारण जनता पर या आक्षेपको पर प्रभाव पडेगा। इसलिए आक्षेप-निवारक साधु का मोक्ष-प्ररूपणा मे विशारद होना आवश्यक है।

अपडिण्णेण—जो किसी प्रकार की मिथ्या अर्थ बताने की प्रतिज्ञा—से रहित है, वह अप्रतिज्ञ होता है, प्रतिवादकर्ता साधु इस प्रकार की प्रतिज्ञावाला न हो कि मुझे अपनी बात की सिद्धि के लिए असत्य अर्थ का भी समर्थन कर देना चाहिए। क्योकि इस प्रकार असत्य बातों का समर्थक साधु होगा तो वह आक्षेपको के प्रति न्यायी, एव विश्वस्त नही रहेगा। वह स्व-मोह एव पर-द्वेष मे पड जायगा। राग और द्वेष आदि सिद्धान्त-प्रतिकूल विचारो के प्रवाह मे बह जायेगा। अथवा अप्रतिज्ञ यानी उसकी जानकारी सिद्धान्त-प्रतिकूल नही होनी चाहिए। सिद्धान्त-प्रतिकूल जानकारी वाला साधक स्वय अपने सिद्धान्त से च्युत हो जायेगा, आक्षेपको का निराकरण सिद्धान्तानुकूल नही कर सकेगा।

जाणया—फिर वह प्रतिवादकर्ता साधक स्वय हेयोपादेय का सम्यक् ज्ञाता होना चाहिए तभी वह आक्षेपको को उपादेय तत्त्व के अनुरूप शिक्षा दे सकेगा तथा आक्षेपको की बातो मे हेयोपादेय तत्त्व का विश्लेषण करके समझा सकेगा।

रागदोसाभिभूतप्पा अक्कोसे सरण जति—प्रतिवादकर्ता साधु को इस बात को समझने मे कुशल होना चाहिए कि प्रतिपक्षी विवाद मे न टिक पाने के कारण अपनी हार की प्रतिक्रिया स्वरूप अपशब्द, गाली, या डडे, मुक्के या शस्त्रादि द्वारा प्रहार करने आदि पर उतर आया है, तो उन्हे राग-द्वेष कषाय, मिथ्यात्व, आक्रोश आदि विकारो के शिकार जानकर उनसे विवाद मे नही उलझना चाहिए न ही आक्रमण के बदले प्रत्याक्रमण या आक्रोश प्रहार आदि हिंसक तरीको का आश्रय लेना चाहिए। विश्वबन्धु साधु को उस समय उनके प्रति उपेक्षा भाव रखकर मौन हो जाना ही श्रेयस्कर है। जैसा कि वृत्तिकार कहते है—

> **"अक्कोस-हणण-मारण-धम्मब्भंसाण बालसुलभाण।**
> **लाभं मन्नइ धीरो जहुत्तराणं अभावंमि॥"**

अर्थात्—गाली देना, रोष करना, मारपीट या प्रहार करना अथवा धर्मभ्रष्ट करना, ये सब कार्य निपट नादान बच्चो के से है। धीर साधु पुरुष ऐसे लोगो की बातो का उत्तर न देना ही लाभदायी समझते हैं।

इस दृष्टि से शास्त्रकार ने प्रतिवादकर्ता साधु का आवश्यक गुण ध्वनित कर दिया है कि वह इतना अवसरज्ञ हो कि आक्षेपक यदि हिंसा पर उतर आए तो उसके साथ प्रतिहिंसा से पेश न आकर शान्त एव मौन हो जाए।

अत्तसमाहिए—प्रतिवादकर्ता साधु में आत्म-समाधि मे दृढ रहने का गुण होना चाहिए। कैसी भी परिस्थिति हो, अपनी आत्मसमाधि—मानसिक शान्ति, प्रसन्नता या चित्त की स्वस्थता न खोए।

आशय यह है कि वह आक्षेपको के साथ विवाद करते समय उखडे नही, झल्लाए नही, विक्षुब्ध न हो। अथवा वह आत्म-समाधान पर दृढ रहे, जिस प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त आदि से स्वपक्ष सिद्धि होती हो, उसी का प्रतिपादन करे।

बहुगुणप्पगप्पाइ कुज्जा— प्रतिवादकर्ता साधु 'बहुगुणप्रकल्पक' होना चाहिए। जिस विवाद से प्रतिपक्षी के हृदय मे स्नेह, सद्भावना, आत्मीयता, धर्म के प्रति आकर्षण, साधु सस्था के प्रति श्रद्धा, वीतराग देवो के प्रति बहुमान आदि अनेक गुण निष्पन्न होते हो, उसे बहुगुण प्रकल्प कहते है। वृत्तिकार की दृष्टि से **बहुगुणप्रकल्प** का अर्थ है—(१) जिन बातो से स्वपक्ष सिद्धि और परपक्ष के दोषो की अभिव्यक्ति हो अथवा (२) जिन अनुष्ठानो से माध्यस्थ्यभाव आदि प्रकट हो, ऐसे प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन आदि का प्रयोग करे या वचन प्रयोग करे।

इस दृष्टि से प्रतिवादकर्ता साधु उसी प्रकार का विवाद करता हो, जो बहुगुणप्रकल्प हो। प्रशान्तात्मा मुनि को ऐसा प्रतीत हो कि प्रतिपक्षी विवाद मे पराजित होता जा रहा है, और इस विवाद से आत्मीयता, मैत्री, स्नेह-सद्भावना, देव-गुरु-धर्म के प्रति श्रद्धा आदि गुण बढने के बजाय रोष, द्वेष, ईर्ष्या, घृणा, प्रतिक्रिया, अश्रद्धा आदि दोषो के बढने की सम्भावना है, तब वह उस विवाद को वही स्थगित कर दे। यह गुण प्रतिवादकर्ता साधु मे अवश्य होना चाहिए। प्रतिपक्षी को कायल, अश्रद्धालु एव हैरान करने तथा उसे बार-बार चिढाने से उपर्युक्त बहुगुण नष्ट होने की सम्भावना है।

जेणऽण्णो ण विरुज्झेज्जा तेण त त समायरे—प्रतिवादकर्ता मे यह खास गुण होना चाहिए कि वह प्रतिपक्षी के प्रति ऐसा वचन न बोले, न ही ऐसा व्यवहार या आचरण करे, जिससे वह विरोधी, विद्वेषी या प्रतिक्रियावादी बन जाए। धर्मश्रवण करने आदि सद्भावो मे प्रवृत्त अन्यतीर्थी या अन्य व्यक्ति मे अपने प्रतिवाद रूप वचन अनुष्ठान से विरोध, विद्वेष, चित्त मे दु ख या विषाद उत्पन्न हो, वैसा वचन या अनुष्ठान न करे।

इस गुणो से युक्त साधक ही आक्षेपकर्ताओ के आक्षेपरूप उपसर्ग पर यथार्थरूप से विजय प्राप्त कर सकता है।[११]

प्रतिपक्षी के पूर्वोक्त आक्षेपों का उत्तर किस पद्धति से दे—पूर्वगाथाओ मे प्रतिवादी के द्वारा सुविहित साधुओ पर परोक्ष एव प्रत्यक्षरूप से मिथ्या आक्षेपो का निदर्शन बताया गया है और यह भी कहा जा चुका है कि प्रतिपक्षी के आक्षेपो का प्रतिवाद मोक्ष विशारद आदि सात गुण से सम्पन्न साधु यथायोग्य अवसर देखकर कर सकता है। अब प्रश्न यह है कि प्रतिपक्षी के पूर्वोक्त आक्षेपो का उत्तर पूर्वोक्त गुणसम्पन्न साधु को किस पद्धति से देना चाहिए ? इस विषय मे शास्त्रकार ने सूत्रगाथा २१४ से २१९ तक प्रकाश डाला है। आक्षेपो के उत्तर के मुख्य मुद्दे ये है –(१) आपके आक्षेपयुक्त वचनो से आप द्विपक्ष या दुष्पक्ष का सेवन करते प्रतीत होते है (२) आप गृहस्थ के कासा, ताबा आदि धातु के बर्तनो मे भोजन करते हैं, (३) रोगी सत के लिए गृहस्थ से आहारादि मँगवाते है,

११. (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ९१ से ९३ के आधार पर

(ख) सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ४५६ से ४६२

(४) सचित्त बीज और जल का उपभोग करते हैं, (५) औद्देशिक आदि दोषो से बने आहार का सेवन करते हैं। (६) आप लोग तीव्र कषाय या कर्मबन्ध से लिप्त हैं, (७) सद्विवेक से शून्य है, (८) शुभ अध्यवसाय (समाधि) से रहित है, (९) जिस प्रकार घाव के अधिक खुजलाने से विकारवृद्धि होती है, इसी तरह मिथ्या-आक्षेपात्मक चर्चा भी बार-बार रागद्वेष युक्त होकर छेड़ने से कोई लाभ नही, वह कषायादि वर्द्धक ही है। (१०) निन्दा आदि करने का मार्ग भगवान् की नीति के अनुकूल या युक्ति-सगत नही है। (११) आपके आक्षेपात्मक वचन बिना सोचे विचारे कहे गए हैं, (१२) आपके कार्य भी विवेक-विचार शून्य है, (१३) "साधु को गृहस्थ के द्वारा लाया हुआ आहार करना श्रेयस्कर है किन्तु साधु के द्वारा लाया हुआ नही" यह कथन बास के अग्रभाग की तरह दमदार नही है, (१४) साधुओ को दान आदि देकर उपकार करना चाहिए यह धर्मदेशना गृहस्थो की शुद्धि करने वाली है साधुओ को नही, इस दृष्टि से पूर्वकालिक सर्वज्ञो ने प्ररूपणा नही की थी।[१२]

दुपक्खं चेव सेवहा —वृत्तिकार ने **'दुपक्खं'** आदि वाक्य की व्याख्या चार प्रकार से की है—(१) दुष्पक्ष—आप मिथ्या, असत् पक्ष का आश्रय लेते है (२) द्विपक्ष—राग और द्वेषरूप दो पक्षो का सेवन करते हैं। क्योकि आप अपने दोषयुक्त पक्ष का भी समर्थन करते है, इस कारण आपका अपने पक्ष मे राग है, तथा हमारा सिद्धान्त दोष रहित है उसे आप दूषित बतलाते है, इसलिए उस पर आपका द्वेष है। (३) आप लोग द्विपक्षो का आश्रय लेते है। जैसे—आप लोग सचित्त बीज, कच्चा पानी और उदिष्ट आहार आदि का सेवन करने के कारण गृहस्थ है और साधु का वेष रखने के कारण साधु है। (४) अथवा आप दो पक्षो का सेवन करते है। जैसे—स्वय असद् अनुष्ठान करते है और सद् अनुष्ठान करने वाले दूसरो की निन्दा करते है।

तात्पर्य यह है कि आपने जो साधु वर्ग पर सरागस्थ और परस्पर आसक्त होने का आक्षेप लगाया, वह गलत है, दुष्पक्ष है—मिथ्यापूर्वपक्ष से युक्त है।

लित्ता तिव्वाभितावेण असमाहिया—इस गाथा मे तीन प्रत्याक्षेप आक्षेपकर्ताओ पर लगाए है—१ तीव्र अभिताप से लिप्त, २ सद्विवेक से विहीन, तथा ३ समाधि (शुभ अध्यवसाय) से रहित। ये तीनो प्रत्याक्षेप इस प्रकार प्रमाणित होते है—(१) षट्कायिक जीवो का उपमर्दन करके जो आहार उनके निमित्त तैयार किया जाता है, उसका सेवन करने से, झूठी बात को भी दृढतापूर्वक पूर्वाग्रहवश पकड़ने से, मिथ्यादृष्टित्व के स्वीकार से एव सुविहित साधुओ की निन्दा करने के कारण वे लोग तीव्र कषाय या तीव्र कर्मबन्धन के अभिताप से लिप्त है। सुविवेक से विहीन इसलिए है कि भिक्षापात्र न रखकर किसी एक गृहस्थ के घर मे भोजन करने के कारण तथा रुग्ण साधु के लिए गृहस्थ से बनवाकर भोजन मँगाने के कारण वे उद्दिष्ट आदि दोष युक्त आहार करते है। तथा शुभ अध्यवसाय से रहित इसलिए है कि वे उत्तम साधुओ से द्वेष करते है, उनको झूठमूठ बदनाम करते है।

नातिकंडुइत सेयं अरुयस्सावरज्झती—इस प्रत्याक्षेप वाक्य मे सुसाधु द्वारा सामान्य नीति की प्रेरणा है। इसका अर्थ है—घाव को अधिक खुजलाना अच्छा नही होता उससे विकार उत्पन्न होता

---

१२. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति सहित भाषानुवाद भा० २ पृ० ५७ से ६३ तक का सार

है, इस न्याय से हम लोग आपके दोषो को अधिक कुरेदना ठीक नही समझते । इससे आप मे राग-द्वेष वृद्धिरूप दोष उत्पन्न होने की सम्भावना है ।

'ण एस णियए मग्गे'—इसका आशय यह है कि आक्षेपकर्ताओ के प्रति प्रत्याक्षेप करते हुए सुसाधु कहते हैं- आपके द्वारा अपनाया हुआ सुसाधुओ की निन्दा करने का यह मार्ग या रवैया भगवान् के द्वारा नियत—निश्चित या युक्तिसगत नही है, अथवा चूर्णिकार सम्मत **'णितिए'** पाठान्तर के अनुसार "यह मार्ग भगवान् की नीति के अनुकूल (नैतिक) नही है ।"

तत्तेण अणुसिट्ठाते—जो साधक हेयोपादेय ज्ञाता है, तथा रागद्वेष रहित होकर सत्य बाते कहने के लिए कृतप्रतिज्ञ है, वह उन गोशालक मतानुसारी आजीवन आदि श्रमणो से तू-तू मैं-मैं, वाक्कलह, व्यर्थ विवाद या झगडा करने की अपेक्षा वस्तु तत्त्व की दृष्टि से, जिनेन्द्र के अभिप्राय के अनुसार यथार्थ परमार्थ प्ररूपणा के द्वारा बहुत ही मधुर शब्दो मे नम्रतापूर्वक सच्ची और साफ-साफ बाते समझा दे, उन्हे हितकर और वास्तविक वातो की शिक्षा दे । यही इस पंक्ति का आशय है ।

असमिक्खा वई किती—'आपका यह कथन अविचारपूर्वक है कि जो भिक्षु रोगी साधु को आहार लाकर देते है, वे गृहस्थ के समान है । तथा आप जो कार्य, आचरण या व्यवहार करते है, वह भी विवेक विचार शून्य है ।'

एरिसा सा वई ·न तु भिक्खुण—इस गाथा का निष्कर्ष यह है कि "साधु को गृहस्थ के द्वारा लाया हुआ आहार करना श्रेयस्कर है, मगर साधु के द्वारा लाया हुआ नही," आपकी इस बात मे भी बास के अग्रभाग की तरह कोई दम नही है, क्योकि एक तो इस कथन के पीछे कोई प्रमाण, कोई तर्कसगत तथ्य या कोई हेतु सहित युक्ति नही है । वीतराग महर्षियो द्वारा चलाई हुई प्राचीन परम्परा से भी यह सगत नही है । आपका यह कथन इसलिए नि सार है कि गृहस्थो के द्वारा बना कर लाए हुए आहार मे षट्कायिक जीवो का घात स्पष्ट है, साथ ही वह आहार आधाकर्म, औद्देशिक आदि दोषो से युक्त अशुद्ध होता है, जबकि साधुओ के द्वारा अनेक घरो से गवेषणा करके लाया हुआ भुक्त-शिष्ट आहार उद्गमादि दोषो से रहित, साधु के लिए आरम्भ-समारम्भ से वर्जित एव अमृत भोजन होता है ।

धम्मपण्णवणा जा सा पुव्वमासि पकप्पिय—सर्वज्ञो की एक धर्मदेशना है—'साधुओ को दान देकर उपकार करना चाहिये' यह गृहस्थो की शुद्धि करने वाली है, साधुओ की नही, क्योकि साधु तो अपने ही तप-सयम का आचरण करके शुद्ध होते है, यह वीतराग सर्वज्ञ पुरुषो की धर्म देशना का गलत अर्थ लगाना है । इसी गलत अर्थ को लेकर आक्षेपकर्तागण यह सिद्ध करने का प्रयास करते है कि रोगादि अवस्था मे साधु को आहारादि लाकर देने का (साधु के प्रति) उपकार गृहस्थ को ही करना चाहिए, साधुओ को नही, परन्तु पूर्वकालीन सर्वज्ञो की धर्मदेशना ऐसी नही रही है, आप (आक्षेपकर्ता) अपनी मिथ्या दृष्टि के कारण सर्वज्ञोपदिष्ट कथन का विपरीत अर्थ करते है । सर्वज्ञपुरुष ऐसी तुच्छ या विपरीत बात की प्ररूपणा नही करते अत रोगी साधु की वैयावृत्य साधु को नही करनी चाहिए, इत्यादि आजीवकादि आक्षेपको का आक्षेप शास्त्र-विरुद्ध, युक्ति-विरुद्ध एव अयथार्थ है ।

वस्तु स्थिति यह है कि आप (आजीवकादि) लोग रुग्ण साधु की वैयावृत्य करने के लिए गृहस्थ

को प्रेरणा देते है, तथा इस कार्य का अनुमोदन करके रुग्ण साधु का उपकार करना स्वीकार भी करते हैं, अत. आप एक ओर रुग्ण साधु के प्रति उपकार भी करते है, दूसरी ओर इस उपकार का विरोध भी करते है। यह '**वदतो व्याघात**' सा है।[13]

रुग्ण साधु की सेवा प्रसन्नचित्त साधु का धर्म : प्रतिवादी द्वारा किये गए आक्षेप का निवारण करने के पश्चात् शास्त्रकार २२३वी सूत्रगाथा मे स्वपक्ष की स्थापना के रूप मे स्वस्थ साधु द्वारा ग्लान (रुग्ण, वृद्ध, अशक्त आदि) साधु की सेवा को अनिवार्य धर्म बताते हुए कहते है—

"**इम च धम्म कुज्जा भिक्खु गिलाणस्स अगिलाए समाहिते**"—इसका आशय यह है कि साधु के लिए इम सेवाधर्म का प्रतिपादन मैं (सुधर्मास्वामी) ही नही कर रहा हूँ, अपितु काश्यपगोत्रीय भगवान् महावीर ने केवलज्ञान उत्पन्न होने के पश्चात् देव, मनुष्य आदि की परिषद् मे किया था।

ग्लान साधु की सेवा दूसरा साधु किस प्रकार करे ?—इसके लिए यहाँ दो विशेषण अकित किये है—(१) **अगिलाए** (२) **समाहिते**। अर्थात्—ग्लानि रहित एव समाहित—समाधियुक्त—प्रसन्नचित्त होकर। इन दो विशेषनाओ से युक्त होकर रुग्ण साधु की सेवा करेगा, तभी वह धर्म होगा—सवर-निर्जरा का कारण होगा, कदाचित् पुण्यबन्ध हो तो शुभगति का कारण होगा।

ग्लानिरहित एव समाधि युक्त होकर सेवा करने के विधान के पीछे एक अन्य आशय भी वृत्तिकार अभिव्यक्त करते है—यदि साधु स्वय समाधियुक्त होकर अग्लानभाव से रुग्ण साधु की सेवा नही करेगा या सेवा से जी चुराएगा, तो भविष्य मे कदाचित् वह भी किसी समय अशुभ कर्मोदयवश रुग्ण, अस्वस्थ या अशक्त हो सकता है, उस समय उसकी सेवा से दूसरे साधु कतराएँगे, तब उक्त साधु के मन मे असमाधिभाव उत्पन्न होगा। अत स्वय को तथा रुग्ण साधु को जिस प्रकार से समाधि उत्पन्न हो उस प्रकार से आहारादि लाकर देना व उसकी सेवा करना स्वस्थ साधु का मुख्य धर्म है।[14]

परास्तवादियो के साथ विवाद के दौरान मुनि का धर्म—यहाँ सूत्रगाथा २२० से २२२ तक मे अन्यमतवादियो के मिथ्या आक्षेपो का उत्तर देते समय कैसी विकट परिस्थितियो की सम्भावना है, और वैसी स्थिति मे मुनि का धर्म क्या है ? यह सक्षेप मे निर्देश किया गया है। यहाँ तीन परिस्थितियो की सम्भावनाएँ व्यक्त की है—(१) परास्तवादी वाद को छोडकर धृष्टतापूर्वक अपने पक्ष को ही यथार्थ मानने पर अड जाएँ, (२) रागद्वेष एव मिथ्यात्व से ग्रस्त होकर प्रतिवाद आक्रोश (गाली-गलौच, मार-पीट आदि) का आश्रय ले, अथवा (३) विवाद के दौरान कठोरता, अपशब्द-व्यग्यवचन आदि के प्रयोग, या बाध्य) करने की नीति को देखकर कोई अन्यतीर्थी धर्मजिज्ञासु विरोधी न बन जाए।

वृत्तिकार का आशय यह प्रतीत होता है कि ऐसी परिस्थिति मे मुनि को इस प्रकार मन समाधान से युक्त एव कषायोत्तेजना से रहित होकर ऐसे हठाग्रहियो से विवाद न करना ही श्रेयस्कर है।

१३ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ९१ से ९४
(ख) सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ४५६ से ४६२

१४ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पृ० ९३ के आधार पर
(ख) सूत्रकृताक अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ४६८ के आधार पर

पाठान्तर और व्याख्या परिभासेज्जा—कहे, बतलाए। चूर्णिकार **'पडिभासेज्ज'** पाठान्तर मानते है, जिसका अर्थ होता है—प्रतिवाद करे, प्रत्याक्षेप करे। **उज्जया**—उज्जात यानी उज्जड या अक्खड लोग, वृत्तिकार सम्मत पाठान्तर है—**उज्झिया**, अर्थ किया है—सद्विवेकशून्या —सद्विवेक से शून्य। किसी-किसी प्रति मे "**उज्जुया', 'उज्जुत्ता'** पाठान्तर है, जिनका अर्थ होता है— लडाई करने को उद्यत अथवा अपनी जिद् पर अडे हुए। **'ण एस णियए मग्गे'**— वृत्तिकार के अनुसार—आपके द्वारा स्वीकृत यह मार्ग कि "साधुओ को निश्चित न होने के कारण परस्पर उपकार्य-उपकारक भाव नही होता" **नियत** -निश्चित या युक्ति सगत नही है। चूर्णिकार **'ण एस णितिए मग्गे'** पाठान्तर मानकर दो अर्थ प्रस्तुत करते है—**'न एष भगवता नीतिको मार्गः, नितिको नाम नित्यः।'**—भगवान् की (अनेकान्तमयी) नीति के अनुरूप यह मार्ग नही है, अथवा नीतिक का अर्थ 'नित्य' है, यह मार्ग **नित्य** (उत्सर्ग) मार्ग नही है, अर्थात् अपवाद मार्ग है। **'अग्गे वेणुव्व करिसिता'** —वृत्तिकार के अनुसार—**'अग्रे वेणुवत् वशवत् कर्षिता दुर्बलेत्यर्थ.।'** अर्थात् बास के अग्रभाग की तरह आपका कथन दुर्बल है, वजनदार नही। चूर्णिकार के अनुसार पाठान्तर है—**"अग्गे वेलुव्व करिसिति -बिल्वो हि मूले स्थिर अग्रेकर्षित'**। अर्थात् बिल्व की तरह मूल मे स्थिर और अग्रभाग मे दुर्बल। **वाय णिराकिच्चा** वृत्तिकार के अनुसार -**'सम्यग्हेतु दृष्टान्तैर्यो वादो—जल्पस्त परित्यज्य'** अर्थात् सम्यक् हेतु, दृष्टान्त आदि से **युक्त** जो वाद -जल्प है, उसका परित्याग करके। चूर्णिकार सम्मत एक पाठान्तर है —**वाद निरे किच्चा** -अर्थ इस प्रकार है —**निर णाम पृष्ठतः वाद निरेकृत्वा** —अर्थ है वाद को पीठ करके यानी पीछे धकेलकर।[१५] वृत्तिकार ने कहा है -अनेक असत्वादियो की अपेक्षा एक सत्यवादी ज्ञानी का कथन प्रमाणभूत होता है। **'अचयंता जवित्तए'**—स्वपक्ष मे अपने आपको सस्थापित करने मे असमर्थ। पाठान्तर है— "**अचयता जहित्तते**" अर्थ होता है—अपने पक्ष को छोडने मे असमर्थ। **अगिलाए समाहिते**—वृत्तिकार के अनुसार **'अग्लानतया समाहितः समाधि प्राप्तः।'** अर्थात् स्वय अग्लान भाव को प्राप्त एव समाधि युक्त होकर। चूर्णिकार **'अगिलाणेण समाधिए'** पाठान्तर मानकर अर्थ करते है—**'अगिलाणेण—अनार्दितेन अव्यथितेन समाधिएत्ति समाधिहेतोः।'** अर्थात्—समाधि के हेतु अग्लान यानि अव्यथित होते (मन मे किसी प्रकार का दु ख या पीडा महसूस न करते हुए)।[१६]

टकणा इव पव्वय—वृत्तिकार के अनुसार पहाड मे रहने वाली म्लेच्छो की एक जाति

१५ (क) सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या, पृ० ४६३ से ४६७ तक का साराश

(ख) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति, पृ० ९२-९३

१६ एरडकट्ठरासी जहा य गोसीसचन्दनपलस्स।

मोल्ले न होज्ज सरिसो कित्तियमेत्तो गणिज्जतो ॥१॥

तह वि गणणातिरेगो जह रासी सो न चन्दनसरिच्छो।

तह निव्विण्णाणमहाजणो वि सोज्झइ विसवयति।२॥

एक्को सचक्खुगो जह अधलयाण सएहि बहुएहि।

होइ वर दट्ठव्वो णहु ते बहु गा अपेच्छता ॥३॥

एव बहुगा वि मूढा ण पमाण जे गई ण याणति।

ससारगमणगुविल णिउणस्स य बधमोक्खस्स ॥४॥

—सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति मे उद्धृत पत्राक ९३

विशेष टंकण कहलाती है। सूत्रकृताग अग्रेजी अनुवाद के टिप्पण मे टकण जाति को मध्यप्रदेश के ईशानकोण मे रहने वाली पर्वतीय जाति बतलाई है। जैसे दुर्जेय टकण जाति के भील किसी प्रबल शक्तिशाली पुरुष की सेना द्वारा हराकर खदेड दिये जाते है, तब वे आखिर पर्वत का ही आश्रय लेते है, वैसे ही विवाद मे परास्त लोग और कोई उपाय न देखकर आक्रोश का ही सहारा लेते है।[१७]

उपसर्ग विजय का निर्देश

२२४. **सखाय पेसलं धम्मं, दिट्ठिमं परिनिव्वुडे।**
उवसग्गे नियामित्ता, आमोक्खाए परिव्वएज्जासि ॥२१॥ —त्ति बेमि।

२२४ सम्यग् दृष्टिसम्पन्न (पदार्थ के यथार्थ स्वरूप का ज्ञाता-द्रष्टा), प्रशान्त (रागद्वेष रहित-कषायोपशान्तियुक्त) मुनि (इस सर्वज्ञप्रणीत श्रुति-चारित्र रूप) उत्तम धर्म को जानकर उपसर्गो पर नियन्त्रण (उन्हे वश मे) करता हुआ मोक्ष प्राप्ति-पर्यन्त सयम मे पराक्रम करे।—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—मोक्ष प्राप्ति पर्यन्त उपसर्ग-विजय करे—तृतीय उद्देशक के अन्त मे उपसर्ग विजय के निर्देश के सन्दर्भ मे तीन तथ्यो को अभिव्यक्त किया है—(१) उत्तम धर्म को जानकर, (२) दृष्टिमान् एव उपशान्त मुनि (३) मोक्ष प्राप्त होने तक सयमानुष्ठान से उद्यम करे। सक्षेप मे उपसर्ग विजय, क्या करके, कौन और कब तक करता रहे? इन तीन तथ्यो का उद्घाटन किया गया है।[१८]

पाठान्तर और व्याख्या—**पेसल**— सुन्दर— अहिंसादि मे प्रवृत्ति होने के कारण प्राणियो की प्रीति का कारण। **उवसग्गो नियामित्ता** वृत्तिकार के अनुसार—"उपसर्गान् अनुकूल-प्रतिकूलान् नियम्य सयम्य सोढा, नोपसर्गैरुपसर्गितोऽसमजस विदध्यात्।" अर्थात् अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्गों पर नियमन-सयम करके सहन (वश मे) करे। उपसर्गों से पीडित होने पर असमजस (उलझन) मे न पडे। चूर्णिकार **'उवसग्गे अधियासेंतो'** पाठान्तर मानकर अर्थ करते है उपसर्गों को सहन करता हुआ। **'आमोक्खाए'** चूर्णिकार के अनुसार—**मोक्षापरिसमाप्ते मोक्षो द्विविधः भवमोक्षो सव्वकम्ममोक्खो य, उभयहेतोरपि आमोक्षाय परिव्रजे**- अर्थात् मोक्ष की परिसमाप्ति—पूर्णता तक मोक्ष दो प्रकार का है—भवमोक्ष जन्ममरण रूप ससार से मुक्ति, सर्व कर्ममोक्ष—समस्त कर्मक्षय रूप मोक्ष। इन दोनो मोक्षो की प्राप्ति के हेतु सयम मे पराक्रम करे। वृत्तिकार **'आमोक्खाय'** पाठान्तर मानकर अर्थ करते है—"आमोक्षाय अशेषकर्मक्षयप्राप्ति यावत्—अर्थात् मोक्ष प्राप्ति समस्त कर्मक्षय प्राप्ति तक।[१९]

□□

१७ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ९४
(ख) "This hill-tribe lived some-where in the north-east of Madhyapradesa, see Peterburg Dictionary S V" —Sacred Books of the East Vol-XIV, p 268
(ग) सूयगडग चूर्णि (मूलपाठ टिप्पण) पृ० ३८ से ४० तक

१८. सूत्रकृतांग शीलाकवृत्ति भाषानुवाद सहित भा० २, पृ० ७०

१९ (क) सूयगडग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ४०
(ख) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ९४

चउत्थो उद्देसओ

चतुर्थ उद्देशक

महापुरुषों की दुहाई देकर संयम-भ्रष्ट करने वाले उपसर्ग

२२५. आहंसु महापुरिसा, पुव्विं तत्ततवोधणा।
उदएण सिद्धिमावण्णा, तत्थ मंदे विसीयती ॥१॥

२२६. अभुंजिया णमी वेदेही, रामगुत्ते य भुंजिया।
बाहुए उदगं भोच्चा, तहा तारागणे रिसी ॥२॥

२२७. आसिले देविले चेव, दीवायण महारिसी।
पारासरे दगं भोच्चा, बीयाणि हरियाणि य ॥३॥

२२८. एते पुव्वं महापुरिसा, आहिता इह संमता।
भोच्चा बीओदगं सिद्धा, इति मेतमणुस्सुतं ॥४॥

२२९. तत्थ मंदा विसीयंति, वाहछिन्ना व गद्दभा।
पिट्ठतो परिसप्पंति, पीढसप्पी व संभमे ॥५॥

२२५ कई (परमार्थ से अनभिज्ञ) अज्ञजन कहते है कि प्राचीनकाल मे तप्त (तपे तपाये) तपोधनी (तपरूप धन से सम्पन्न) महापुरुष शीतल (कच्चे) पानी का सेवन करके सिद्धि (मुक्ति) को प्राप्त हुए थे। (ऐसा सुनकर) अपरिपक्व बुद्धि का साधक उसमे (शीतजल के सेवन मे) प्रवृत्त हो जाता है।

२२६ वैदेही (विदेह देश के राजा) नमिराज ने आहार छोडकर और रामगुप्त ने आहार का उपभोग करके, तथा बाहुक ने एव तारागण (तारायण या नारायण) ऋषि ने शीतल जल आदि का सेवन करके (मोक्ष पाया था।)

२२७ आसिल और देवल ऋषि ने, तथा महर्षि द्वैपायन एव पाराशर ऋषि (आदि) ने शीतल (सचित्त) जल बीज एव हरी वनस्पतियो का उपभोग करके (मोक्ष प्राप्त किया था।)

२२८ पूर्वकाल मे ये महापुरुष सर्वत्र विख्यात थे और यहाँ (आर्हत प्रवचन मे) भी ये (इनमे से कोई-कोई) सम्मत (मान गये) है। ये सभी सचित्त बीज एवं शीतजल का उपभोग करके सिद्ध (मुक्त) हुए थे, ऐसा मैंने (कुतीर्थिक या स्वयूथिक ने) (महाभारत आदि पुराणो से) परम्परा से सुना है।

२२९ इस प्रकार की भ्रान्तिजनक (बुद्धिभ्रष्ट या आचारभ्रष्ट करने वाले) दुःशिक्षणरूप उपसर्ग के होने पर मन्दबुद्धि साधक भारवहन से पीडित गधो की तरह दुःख का अनुभव करते है। जैसे लकडी के टुकडो को पकडकर चलने वाला (पृष्ठसर्पी) लगडा मनुष्य अग्नि आदि का उपद्रव होने पर

(भगदड के समय) भागने वाले लोगो के पीछे-पीछे (सरकता हुआ) चलता है, उसी तरह मन्दमति साधक भी सयमनिष्ठ मोक्षयात्रियो के पीछे-पीछे रेंगता हुआ चलता है (अथवा वह उन दु शिक्षको का पिछलग्गू हो जाता है।)

विवेचन—महापुरुषों की दुहाई देकर संयमभ्रष्ट करने वाले—प्रस्तुत पंचसूत्रगाथाओ (सूत्र-गाथा २२५ से २२९ तक) मे एक ऐसे अनुकूल उपसर्ग और मन्दबुद्धि साधको पर उसकी प्रतिक्रिया का वर्णन किया गया है, जिसमे कुछ शिथिल साधको द्वारा अपनी अनाचाररूप प्रवृत्तियो को आचार मे समाविष्ट करने हेतु प्रसिद्ध पूर्वकालिक ऋषियो की दुहाई देकर कुतर्को द्वारा मन्दसाधक की बुद्धि को भ्रष्ट किया जाता है और उन्हे अनाचार मे फँसाने का प्रयत्न किया जाता है।

प्रस्तुत पचसूत्री मे कुछ ऋषियो के नाम लिए बिना, तथा कुछ प्रसिद्ध ऋषियो के नाम लेकर इस उपसर्ग के उदाहरण प्रस्तुत किये गए है—

(१) पूर्वकाल मे वल्कलचीरी, तारागण आदि महापुरुषो ने पचाग्नि आदि तप करके शीत-जल, कन्दमूल-फल आदि का उपभोग करके सिद्धि प्राप्त की थी। (२) वैदेही नमिराज ने आहार त्यागकर (३) रामगुप्त ने आहार का उपभोग करके, (४) बाहुकऋषि ने शीतल जल का उपभोग करके, (५) इसी तरह तारायण या नारायण ऋषि ने भी जल सेवन करके, (६, ७, ८, ९) असिल, देवल, द्वैपायन एव पाराशर महर्षि ने शीत (कच्चा) जल, बीज और हरी वनस्पति का उपभोग करके, सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त की है, ऐसा मैने महाभारत पुराणो से सुना है। पूर्वकाल (त्रेता-द्वापर आदि युगो) मे ये महापुरुष प्रसिद्ध रहे है और आर्हत प्रवचन मे ये माने गये है।[1]

ये महापुरुष कहाँ तथा किस रूप मे प्रसिद्ध है—निमिवैदेही—भागवत-पुराण मे **निमि** का चरित्र अकित है। वहाँ निमि के 'जनक', 'वैदेह' और 'मिथिल' नाम क्यो पड़े? इसका भी कारण बताया गया है। बौद्धग्रन्थ सुत्तपिटक मे **'निमिराजचरिया'** के नाम से निमि का चरित मिलता है। जैन आगम उत्तराध्ययन सूत्र मे **'नमिपव्वज्जा'** अध्ययन मे नमिराजर्षि और इन्द्र का सवाद अकित है।[2]

---

१ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भा० १

२ (क) सूयगडग सुत्त (मू० पा० टिप्पण) प्रस्तावना एव टिप्पण पृ० १४, १५ तथा ४०-४१

(ख) णमी वेदेही—देखिये श्रीमद् भागवत० (९।१३।१ से १३ श्लो० तक) मे—'श्री शुक उवाच—

निमिरिक्ष्वाकुतनयो वशिष्ठमवृतर्त्विजम्। आरभ्य वृतोऽस्मि भो ॥१॥

त निर्वर्त्या करोन्मखम् ॥२॥

निमिश्चलमिद विद्वान् यावता गुरु ॥३॥

शिष्यव्यतिक्रम निमे पण्डितमानिन ॥४॥

निमि प्रतिददौ शाप धर्ममजानत ॥५॥

इत्युससर्ज एव देह निमिध्यात्मकोविद प्रपितामह ॥ देवा उचु—विदेह उष्यता काम लोचनेषु शरीरिणाम्। उन्मेषणनिमेषाभ्या लक्षितोऽध्यात्मसस्थित ॥११॥

जन्मना जनक. सोऽभूद् वैदेहस्तु विदेहज। मिथिलो मथनाज्जातो, मिथिला येन निर्मित. ॥१३॥

रामगुत्त-रामपुत्त—इसिभासियाइं (ऋषिभाषित) के रामपुत्तिय नामक २३वे अध्ययन मे रामपुत्त नाम मिलता है। वृत्तिकार के अनुसार रामगुप्त एक राजर्षि थे।[३] **बाहुक-आर्हतऋषि**—इसिभासियाइ के १४वें बाहुक अध्ययन मे बाहुक को आर्हतऋषि कहा गया है। महाभारत के तीसरे आरण्यक-पर्व में नल राजा का दूसरा नाम 'बाहुक' बताया गया है, पर वह तो राजा का नाम है।[४] **तारागण-तारायण या नारायण ऋषि**—इसिभासियाइ के ३६वे तारायणिज्ज नामक अध्ययन में तारायण या तारागण ऋषि का नामोल्लेख आता है।[५] **आसिल (असित ?) देविल (देवल) ऋषि**—वृत्तिकार ने असिल और देविल दोनो अलग-अलग नाम वाले ऋषि माने हैं। किन्तु **'इसिभासियाइ'** के तृतीय **दविल** अध्ययन मे असित दविल आर्हतऋषि के रूप मे एक ही ऋषि का नामोल्लेख है। सूत्रकृताग चूर्णि का भी यही आशय प्रतीत होता है। महाभारत मे भी तथा भगवद्गीता मे आसित देवल के रूप मे एक ही नाम का कई जगह उल्लेख है। इस पर से ऋषि का देवल गोत्र और असित नाम प्रतीत होता है। वायुपुराण के प्रथम खण्ड मे ऋषिलक्षण के प्रकरण के अनुसार असित और देवल ये दोनो पृथक्-पृथक् मालूम होते हैं।[६]

दीवायण महा सी और पारासर—इसिभासियाइ के ४०वे **'दीवायणिज्ज'** नामक अध्ययन मे द्वीपायन ऋषि का नामोल्लेख मिलता है, वहाँ पाराशर ऋषि का नामोल्लेख नही है। महाभारत मे **'द्वैपायन'** ऋषि का नाम मिलता है। व्यास, पाराशर (पराशर पुत्र) ये द्वैपायन के ही नाम है। ऐसा वहाँ उल्लेख है। वृत्तिकार ने द्वैपायन और पाराशर इन दोनो का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया है। इमी

(आ) देखिए सुत्तपिटक चरियापिटक पालि, निमिराज चरिया (पृ० ३९०) मे—

"पुनापर यदा होमि मिथिलाय पुरिसुत्तमे। निमि नाम महाराजा, पण्डितो कुसलत्थिको ॥१॥
तदाह मापयित्वा न चतुस्साल चतुम्मुख। तत्थ दान पवत्तेमि मिगपक्खिनरादिन ॥२॥"

(इ) देखिए—उत्तराध्ययन नमि पविज्जा अध्ययन ९ मे—
तओ नमि रायरिसी देविंद इण मब्बवी

३ रामगुत्ते—(अ) इसिभासियाइ अ १३ रामपुत्तिय अध्ययन देखिए।
(आ) रामगुप्तश्च राजर्षि —वृत्तिकार शीलाकाचार्य

४ इसिभासियाइ मे १४वाँ अध्ययन बाहुकज्झयण देखिये।

५ इसिभासियाइ मे ३६वाँ तारायणिज्जज्झयण देखिये।

६. (अ) इसिभासियाइ मे तीसरे दविलज्झयण मे—"असिएण दविलेण अरहता इसिणा बुइत।"
(आ) आसिलो नाम महर्षि देविलो द्वैपायनश्च तथा पाराशराख्य ॥ —शीला० वृत्ति
(इ) असितो देवलो व्यास स्वयचैव ब्रवीषि मे ॥ —भगवद्गीता अ० १०/१३
(ई) वायुपुराण मे ऋषि लक्षण मे—
काश्यपश्चैव वत्सारो विभ्रमोरैभ्य एव च।
असितो देवलश्चैव षडेते ब्रह्मवादिन ॥
(उ) देवलस्त्वसितोऽब्रवीत् (महा. भीष्म पर्व ६।६४।६)
"नारदस्य च सवाद देवलस्यासितस्य च।" (शान्तिपर्व १२।२६७।१)

तरह औपपातिक (उववाइय) सूत्र मे आठ माहन-परिव्राजको मे **'परासर'** और **'दीवायण'** इन दो परिव्राजको (ऋषियो) के नामोल्लेख है ।[७]

मोक्षप्राप्ति का कारण शीतलजलादि था या और कुछ ?—भ्रान्ति उत्पादक एव बुद्धिवञ्चक अन्यतीर्थिक लोग मोक्ष के वास्तविक कारणो से अनभिज्ञ होते है, इसलिए वे प्रसिद्ध ऋषियो के नाम के साथ कच्चे पानी, पचाग्नि आदि तप, हरी वनस्पति आदि के उपभोग को जोडकर उसी को मोक्ष का कारण बताते है । वृत्तिकार कहते है कि वे परमार्थ से अज्ञ यह नही जानते कि बल्कलचीरी आदि जिन ऋषियो या तापसो को सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त हुई थी, उन्हे किसी निमित्त से जातिस्मरण आदि ज्ञान उत्पन्न हुआ था, जिससे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एव सम्यक्चारित्र प्राप्त हुआ था, किन्तु सर्वविरति परिणामरूप भावलिग के बिना केवल जीवोपमर्दक शीतजल-बीज-वनस्पति आदि के उपभोग से सर्वथा कर्मक्षय नही हो सकता । चूर्णिकार भी यह बात कहते है कि अज्ञलोग कहते है -इन प्रत्येकबुद्ध ऋषियो को वनवास मे रहते हुए बीज, हरितवनस्पति आदि के उपभोग से केवलज्ञान उत्पन्न हो गया था, जैसे कि भरतचक्रवर्ती को शीशमहल मे केवलज्ञान उत्पन्न हुआ था । वे कुतीर्थी यह नही जानते कि किस भाव मे प्रवर्त्तमान व्यक्ति को केवलज्ञान होता है ? किस रत्नत्रय से सिद्धत्व प्राप्त होता है, इस सैद्धान्तिक तत्त्व को न जानते हुए वे विपरीत प्ररूपणा कर देते है ।[८]

कैसे चारित्र से पतित या बुद्धिभ्रष्ट हो जाते है ?—ऐसे अज्ञानियो द्वारा महापुरुषो के नाम स फैलाई हुई गलत बातो को सुनकर अपरिपक्व बुद्धि या मन्दपरिणामी साधक चक्कर मे आ जाते है, वे उन बातो को सत्य मान लेते है, प्रासुक जल पीने तथा स्नान न करने से घबराये हुए वे साधक पूर्वापर का विचार किये बिना झटपट शीतल जल, आदि का उपभोग करने लगते है, शिथिलाचार को सम्यक्आचार मे परिगणित कराने के लिए पूर्वोक्त दुहाई देने लगते है कि जब ये प्रसिद्ध ऋषि सचित्त जल पीकर निरन्तर भोजी रहकर एव फल बीज वनस्पति (कन्दमूल आदि) खाकर मुक्त हुए है, महापुरुष बने है, तो हम वैसा क्यो नही कर सकते ? जैसा कि २२८वी सूत्रगाथा मे कहा है—**'एते पुव्व सिद्धा इति मे समणुस्सुत ।'** इस प्रकार के हेत्वाभास (कुतर्क) द्वारा शिथिल श्रमण साध्वाचार से भ्रष्ट हो जाते है । उनकी बुद्धि चकरा जाती है, वे किकर्तव्यविमूढ होकर चारित्रभ्रष्ट या मार्गभ्रष्ट हो जाते है और अन्त मे ससार-सागर मे डूब जाते हैं । यही बात शास्त्रकार ने २२५वी सूत्रगाथा मे स्पष्ट कह दी है—**'आहसु महापुरिसा मन्दो विसीयती ।'**[९]

---

७ (क) "दीवायण महारिसी । पारासरे —(अ) तत्थ खलु इमे अट्ठमाहण-परिव्वायगा भवति—
कण्हे य करकडे य अबडे य परासरे ।
कण्हे दीवायणे चेव देवगुत्ते य नारए । —ओववाइयसुत्त
(ख) महाभारते—"परासरसुत (पाराशर) श्रीमान् व्यासो वाक्य मुवाचह ।" —शान्तिपर्व १२।३२७।२०
(ग) एतद्विषयक विशेष विवेचन 'पुरातत्त्व' (त्रैमासिकी पत्रिका) मे प्रकाशित 'सूत्रकृताग मा आवता विशेष नामो' शीर्षक लेख मे उपलब्ध है । —सम्पादक

८ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ९६
(ख) सूयगडग चूर्णि पृ० ९६

९ (क) जैन साहित्य का बृहत् इतिहास भा० १
(ख) सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ४७३-४७४ के अनुसार

इस उपसर्ग से पीड़ित साधकों की अवदशा—अदूरदर्शी भोले-भाले मन्दपराक्रमी साधक जब भ्रान्तिजनक मिथ्यादृष्टि दु शिक्षको के चक्कर मे आकर ऐसे उपसर्ग के आने पर झट फिसल जाते हैं, ऐसे साधको की अवदशा को शास्त्रकार दो दृष्टान्तो द्वारा प्रतिपादित करते है—**तत्थ मन्दा विसीयन्ति पिट्ठसप्पीय सम्भमे।** आशय यह है—ऐसे मन्द पराक्रमी साधक सयम के भार को वहन करने मे इसी प्रकार की तीव्र पीडा महसूस करते है, जिस प्रकार बोझ से पीडित गधे चलने मे दु ख महसूस करते हैं। अथवा ऐसे सयम मे शिथिल हतोत्साह साधक अग्निकाण्ड आदि का उपद्रव होने पर हडबड़ी मे भागने वालो के पीछे लकडी के टुकडो को हाथ मे पकडकर सरक-सरक कर चलने वाले उस लगडे की तरह है, जो तेजी से मोक्ष की ओर जाने वाले साधको के पीछे रोते-पीटते रेगते हुए बेमन से चलते हैं। ऐसे कच्ची बुद्धि वाले साधक उपसर्ग पीडित होकर ससार मे परिभ्रमण करते रहते है।

कठिन शब्दों की व्याख्या—आहमु—कहते है। **आहिता**—'आ समन्तात् ख्याता'—आख्याता, प्रख्याता राजर्षित्वेन प्रसिद्धिमुपगता' अर्थात्—पूरी तरह ख्यात यानी प्रख्यात, राजर्षि के रूप मे प्रसिद्धि प्राप्त। **इह सम्मता**—इहापि आर्हत-प्रवचने सम्मता अभिप्रेता—अर्थात् यहाँ ऋषिभाषित आदि आर्हत प्रवचन मे भी इनमे से कई माने गये है। **सम्भमे**—अग्निकाण्ड आदि होने पर भगदड के समय।[10]

सुख से ही सुख प्राप्ति : मिथ्या मान्यता रूप उपसर्ग

२३०. **इहमेगे उ भासति, सात सातेण विज्जती।**
जे तत्थ आरिय मग्ग, परम च समाहियं॥६॥

२३१. **मा एय अवमन्नता, अप्पेण लुम्पहा बहु।**
एतस्स अमोक्खाए, अयहारि व्व जूरहा॥७॥

२३२. **पाणाइवाए वट्टता, मुसावाए असजता।**
अदिन्नादाणे वट्टता, मेहुणे य परिग्गहे॥८॥

२३० इस (मोक्ष प्राप्ति के) विषय मे कई (मिथ्यादृष्टि बौद्ध) कहते है—'सुख (साता) सुख से (साता से) ही प्राप्त होता है।' (परन्तु) अनन्तसुख रूप मोक्ष के विषय मे जो आर्य (समस्त हेय धर्मो से दूर रहने वाला एव तीर्थकर प्रतिपादित) मार्ग (मोक्षमार्ग) है, तथा जो परमसमाधि रूप (ज्ञान-दर्शन-चारित्रात्मक) है, (उसे) जो (छोड देते है, वे व्यामूढमति है।)

२३१ इस (जिनप्ररूपित मोक्षमार्ग) को तिरस्कृत करते हुए ('सुख से ही सुख की प्राप्ति होती है', इस भ्रान्त मान्यता के शिकार होकर ठुकराते हुए) तुम (अन्य साधक) अल्प (तुच्छ) विषय सुख के लोभ से अत्यन्त मूल्यवान मोक्षसुख को मत बिगाडो (नष्ट मत करो)। सुख से ही सुख प्राप्त होता है) इस मिथ्या मान्यता को नही छोडने पर सोने को छोड कर लोहा लेने वाले वणिक् की तरह पछताओगे।

---

१०. (क) सूत्रकृताग शीलांकवृत्ति, पत्राक ९६

२३२ आप (सुख से सुख प्राप्ति के मिथ्यावाद के प्ररूपक) लोग प्राणातिपात (हिंसा) मे प्रवृत्त होते है, (साथ ही) मृषावाद (असत्य), अदत्तादान (चोरी), मैथुन (अब्रह्मचर्य) सेवन और परिग्रह मे भी प्रवृत्त होते है, (इस कारण आप लोग) असयमी हैं।

विवेचन—'सुख से ही सुख प्राप्ति' : एक मिथ्यामान्यता रूप उपसर्ग—प्रस्तुत तीन सूत्रगाथाओ (२३० से २३२ तक) मे मोक्षमार्ग से भ्रष्ट करने वाले मिथ्या मान्यता रूप उपसर्ग का निदर्शन प्रस्तुत किया गया है। इस मिथ्या मान्यता रूप उपसर्ग के सम्बन्ध मे यहाँ दो तथ्य प्रस्तुत किये गये है—(१) 'सुख से ही सुख मिलता है, इस मिथ्या मान्यता के शिकार मूढमति साधक रत्नत्रयात्मक अनन्त सुखात्मक मोक्ष मार्ग को छोड देते है, (२) ऐसे मिथ्यावाद के प्ररूपक तथा ऐसे उपसर्ग से पीडित लोग पाचो आस्रवो मे प्रवृत्त होते देर नही लगाते।[11]

'सुख से ही सुख की प्राप्ति'—यह मान्यता किसकी, कैसे और क्यो ?—चूर्णिकार ने यह मत बौद्धो का माना है, वृत्तिकार ने भी इसका समर्थन किया है, किन्तु साथ ही यह भी बताया है कि कुछ जैन श्रमण, जो केशलोच, पादविहार, रात्रिभोजन-त्याग, कठोर तप आदि कष्टो से सन्तप्त हो जाते है, वे भी इस मिथ्या मान्यता रूप उपसर्ग के प्रवाह मे बह जाते हैं और मोक्षमार्ग से भटक जाते है। वे कहते है—सुख द्वारा सुख प्राप्त किया जा सकता है, अत सुखप्राप्ति के लिए कष्ट सहन करने की आवश्यकता नही है। जो लोग सुख प्राप्ति के लिए तपरूप कष्ट उठाते हैं, वे भ्रम मे है। बौद्धग्रन्थ 'सुत्तपिटक' मज्झिम निकाय के चूल दुक्खखध सुत्त मे निर्ग्रन्थो के साथ गौतम-बुद्ध का जो वार्तालाप हुआ है, उसमे निर्ग्रन्थो के कथन का जो उत्तर दिया है, उस पर से यह बौद्धमत है, इतना स्पष्ट हो जाता है।[12] इसके अतिरिक्त 'इसिभासियाइ' के ३८वें अध्ययन—'साइपुत्तिज्ज' मे इस मान्यता का स्पष्ट उल्लेख है—'जो सुख से सुख उपलब्ध होता है, वही अत्यन्त सुख है, सुख से जो दुःख उपलब्ध होता है, मुझे उसका समागम न हो।' सातिपुत्र बुद्ध का यह कथन है—"मनोज्ञ भोजन एव मनोज्ञ शयनासन का सेवन करके मनोज्ञ घर मे जो भिक्षु (मनोज्ञ पदार्थ का) ध्यान करता है, वही समाधि (सुख) युक्त है। अमनोज्ञ भोजन एव अमनोज्ञ शयनासन का उपभोग करके अमनोज्ञ घर मे (अमनोज्ञ पदार्थ का) जो भिक्षु ध्यान करता है, वह दुःख का ध्यान है।"[13]

---

११ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति भाषानुवाद सहित भा० २, पृ० ७७ से ८२ का साराश

१२ '... न खो, आवुसो गोतम, सुखेन सुख अधिगतब्ब, दुक्खेन खो सुख अधिगतब्ब ...।'

—सुत्तपिटक मज्झिमनिकाय चूलदुक्खखध सूत्र पृ० १२८/१२९

१३ (क) "ज सुहेण सुह लद्ध अच्चत सुखमेव त।
ज सुखेण दुह लद्ध मा मे तेण समागमो ॥" —सातिपुत्तेण बुद्धेण अरहता—बुइत
मणुण्ण भोयण भुच्चा, मणुण्ण सयणासण।
मणुण्णसि अगारसि झाति भिक्खु समाहिए ॥२॥
अमणुण्ण भोयण भुच्चा, अमणुण्ण सयणासण।
अमणुण्णसि गेहसि दुक्ख भिक्खू झियायती ॥३॥ —इसिभासियाइ अ० ३८, पृ० ८५

(ख) सूयगडग मूलपाठ टिप्पण युक्त (जम्बूविजयजी) प्रस्तावना एव परिशिष्ट पृ० १६ एव ३६५

यहाँ 'सातिपुत्त' शब्द का अर्थ गौतम बुद्ध विवक्षित हो तो इस शब्द का संस्कृत रूपान्तर 'शाक्यपुत्र' करना चाहिए । परन्तु इसिभासियाइ की टीका मे अन्त मे शारिपुत्रीयमध्ययनम् कहा गया है । यहाँ 'सातिपुत्र' शब्द का अर्थ यदि 'शारिपुत्र' अभीष्ट हो तो यहाँ बुद्ध का अर्थ बौद्ध (बुद्ध) शिष्य करना चाहिए, जैसा कि इसिभासियाइ की टीका मे भी **'इति बौद्धर्षिणा भावितम्'** कहा गया है ।

'सुख से ही सुख की प्राप्ति होती है' इस मान्यता को सिद्ध करने के लिए उपर्युक्त प्रमाणो के अतिरिक्त, बौद्ध यह कुतर्क प्रस्तुत करते है—न्यायशास्त्र का एक सिद्धान्त है— 'कारण के अनुरूप ही कार्य होता है, इस दृष्टि से जिस प्रकार शालिधान के बीज से शालिधान का ही अकुर उत्पन्न होता है, जौ का नही, उसी प्रकार इहलोक के सुख से ही परलोक का या मुक्ति का सुख मिल सकता है, मगर लोच आदि के दु ख से मुक्ति का सुख नही मिल सकता ।'

इसके अतिरिक्त वे कहते है— 'समस्त प्राणी सुख चाहते है, दु ख से सभी उद्विग्न हो उठते हैं, इसलिए सुखार्थी को स्वय को (दूसरो को भी) सुख देना चाहिए सुख प्रदाता ही सुख पाता है । अत मनोज्ञ आहार-विहार आदि करने से चित्त मे प्रसन्नता (साता) प्राप्त होती है, चित्त प्रसन्न होने पर एकाग्रता (ध्यान विषयक) प्राप्त होती है और उसी से मुक्ति की प्राप्ति होती है किन्तु लोच आदि काया कष्ट से मुक्ति नही हो सकती ।

इसी भ्रान्त मान्यता के अनुसार उत्तरकालीन बौद्ध भिक्षुओ की वैषयिक सुख युक्त दिनचर्या के प्रति कटाक्ष रूप मे यह प्रसिद्ध हो गया—

"मृद्वी शय्या, पातरुत्थाय पेया, भक्त मध्ये पानकं चापराह्णे ।
द्राक्षाखण्ड शर्करा चार्द्धरात्रे, मोक्षश्चान्ते शाक्यपुत्रेण दृष्टाः ।"

'भिक्षु को कोमल शय्या पर सोना चाहिए, प्रात काल उठते ही दूध आदि पेय पदार्थ पीना, मध्याह्न मे भोजन और अपराह्न मे शर्बत, दूध आदि का पान करना चाहिए, फिर आधी रात मे किशमिश और मिश्री खाना चाहिए, इस प्रकार की सुखपूर्वक दिनचर्या से अन्त मे शाक्यपुत्र (बुद्ध) ने मोक्ष देखा (बताया) है ।[१४]

यह ऐतिहासिक तथ्य है कि बुद्ध के निर्वाण के बाद बौद्ध धर्म की एक शाखा के भिक्षुओ मे उपर्युक्त प्रकार का आचारशैथिल्य आ गया था । वृत्तिकार ने इस सूत्रगाथा (२३०) की वृत्ति मे इस तथ्य का विशेष रूप से स्पष्ट उल्लेख किया है । सम्भव है, नौवी-दसवी सदी मे बौद्ध भिक्षुओ के आचारशिथिल जीवन का यह आँखो देखा वर्णन हो । थेरगाथा मे बौद्ध भिक्षुओ की आचारशिथिलता का वर्णन इसी से मिलता-जुलता है । सम्भव है—थेरगाथा के प्रणयन काल मे बौद्ध भिक्षुओ मे यह

---

१४ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पृ० ९६ मे उद्धृत
(ख) सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ४७६-४७७

शैथिल्य आ चुका होगा, जिसकी प्रतिध्वनि थेरगाथा में स्पष्ट अंकित है।[१५] इसीलिए शास्त्रकार ने इस भ्रान्त मान्यता का उल्लेख किया है—**'इहमेगेउ ' सातं सातेण विज्जती।'**

कितनी भ्रान्त और मिथ्या मान्यता है यह ?—इसी गाथा के उत्तरार्द्ध मे इस मान्यता को भ्रान्त और मिथ्या बताया गया है। वृत्तिकार ने इस मान्यता का खण्डन करते हुए कहा है कि इस मान्यता को सिद्ध करने के लिए बौद्धग्रन्थो मे जो युक्तियाँ प्रस्तुत की गई हैं, वे नि सार है। मनोज्ञ आहार आदि को, जो सुख का कारण कहा है, वह भी ठीक नही, मनोज्ञ आहार से कभी-कभी हैजा (विसूचिका), अतिसार एव उदरशूल आदि रोग उत्पन्न हो जाते है।

इसलिए मनोज्ञ आहार एकान्तत सुख का कारण नही है। न ही मनोज्ञ शयनासन ही सुख का कारण है, क्योकि उससे प्रमाद, अब्रह्मचर्य आदि अनेक दोष उत्पन्न होते है, जो दु ख के कारण है। वास्तव मे इन्द्रिय-विषयजन्य सुख दु ख के क्षणिक प्रतीकार का हेतु होने से वह सुख का आभास-मात्र है, उसमे अनेक दु ख गर्भित होने से, वह परिणाम मे विष-मिश्रित भोजन के समान दु ख रूप ही है, दु ख का ही कारण है। फिर जो सुख इन्द्रियो या पदार्थों के अधीन है, वह पराधीन है। इन्द्रियो के विकृत या नष्ट हो जाने पर या पदार्थो के न मिलने या वियोग हो जाने से वह सुख अत्यन्त दु.ख रूप मे परिणत हो जाता है। अत वैषयिक सुख परवश होने से दु ख रूप ही है।

इसके विपरीत त्याग, तप, वैराग्य, यम, नियम, सयम, ध्यान, साधना, भोजनादि परतन्त्रता से मुक्ति, स्वाधीन सुख है, ये ही वास्तविक सुख या मोक्षसुख है। अत दु खरूप विषयजन्य पराधीन सुख परमानन्दरूप ऐकान्तिक एव आत्यन्तिक स्वाधीन मोक्षसुख का कारण कैसे हो सकता है? इसीलिए कहा है-

> **"दु खात्मकेषु विषयेषु सुखाभिमानः, सौख्यात्मकेषु नियमादिषु दु खबुद्धिः।**
> **उत्कीर्णवर्णपदपंक्तिरिवान्यरूपा, सारूप्यमेति विपरीतगतिप्रयोगात् ॥"**

अर्थात्--विवेकमूढ लोग अपनी विपरीत गति, मति और दृष्टि के कारण दु.खरूप पचेन्द्रिय विषयो मे सुख मानते है। किन्तु जो यम-नियम, तप, त्याग आदि सुखरूप है, उन्हे वे दु खरूप समझते है। जैसे किसी धातु पर उत्कीर्ण की (खोदी) हुई अक्षर, पद, एव पंक्ति देखने पर उलटी दिखाई देती है, लेकिन उसे मुद्रित कर दिये जाने से वह सीधी हो जाती है। इसी तरह ससारी जीवो की सुख-दु ख के विषय मे उलटी समझ होती है। अत विषय-भोग को दु खरूप और यम-नियमादि को सुखरूप समझने से उनका यथार्थरूप प्रतीत होता है।

तथाकथित बौद्धभिक्षुओ ने केशलोच, प्रखरतप, भूमिशयन, भिक्षाटन, भूख-प्यास, शर्दी-गर्मी

---

१५ देखिये थेरगाथा मे उत्तरकालीन बौद्ध भिक्षुओ के शिथिलाचार की झाँकी—
अञ्ञथा लोयनाथम्हि तिट्ठते पुरिसुत्तमे।
इरिय आसि भिक्खून अञ्ञथा दानि दिस्सति ॥
सब्बासवपरिक्खीणा महाझायी महाहिता।
निब्बुता, दानि ते थेरा परित्ता दानि तादिसा ॥ —थेरगाथा ९२१, ९२८

आदि परीषह का सहन, आदि दु ख के कारण माने है, वे उनके लिए है जो मन्दपराक्रमी है, परमार्थ-दर्शी नही हैं, अतीव दुर्बल हृदय है। परन्तु जो महान् दृढधर्मी साधक है, परमार्थदर्शी हैं, आत्म स्वभाव मे लीन एव स्व-पर कल्याण मे प्रवृत्त है, उनके लिए ये सब साधनाएँ दु खरूप नही है, बल्कि स्वाधीनतारूप सुख की जननी है। अत सम्यग्ज्ञानपूर्वक की गई ये सब पूर्वोक्त साधनाएँ मोक्ष सुख के साधन हैं। परमार्थचिन्तक महान् आत्मा के लिए ये बाह्य कष्ट भी सुखरूप नही। कहा भी है—

"तण संथारनिसण्णो वि मुनिवरो भट्टरागमयमोहो।
जं पावइ मुत्तिसुह कत्तो त चक्कवट्टी वि?"

"राग, मद और मोह से रहित मुनिवर तृण (घास) की शय्या पर सोया (बैठा) हुआ भी जिस परमानन्दरूप मुक्ति सुख का अनुभव करता है, वह चक्रवर्ती के भाग्य मे भी कहाँ है?" उन बाह्यदु खो को तत्त्वज्ञ मुनि सुखजनक कैसे मानते है?

इसीलिए शास्त्रकार कहते है—**"जे तत्थ आरिय परम च समाहिए।"** तात्पर्य यह है कि परम समाधिकारक (सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय रूप) मोक्षमार्ग है, वैषयिक सुख नही।[१६]

ऐसे मिथ्या मान्यता रूप उपसर्ग के चक्कर मे आने का दुष्परिणाम (१) इस उपसर्ग के प्रभाव मे आने पर साधक लोहवणिक् की तरह बहुत पश्चात्ताप करता है, तथा (२) हिसादि आश्रवो मे प्रवृत्त हो जाता है।

२३१वी सूत्रगाथा मे शास्त्रकार इस उपसर्ग के शिकार लोगो पर अनुकम्पा लाकर उपदेश देते है—इस मिथ्यामान्यता के चक्कर मे पडकर वीतराग प्ररूपित मोक्षमार्ग (अनन्तसुख मार्ग) को या जिन सिद्धान्त को ठुकरा रहे हो, और तुच्छ विषय-सुखो मे पडकर मोक्षसुख की बाजी हाथ मे खो रहे हो यह, तुच्छ वस्तु के लिए महामूल्यवान् वस्तु को खोना है! छोडो इस मिथ्या मान्यता को। अगर मिथ्या मान्यता को हठाग्रहवश पकडे रखोगे, तो बाद मे तुम्हे उसी तरह पछताना पडेगा, जिस तरह सोना आदि बहुमूल्य धातुएँ छोडकर हठाग्रहवश सिर्फ लोहा पकडे रखने वाले लोहवणिक् को बहुत पछताना पडा था। सावधान! इस मिथ्याछलना के चक्कर मे पडकर अपना अमूल्य जीवन बर्बाद मत करो! अन्यथा तुम्हे बहुत बडी हानि उठानी पडेगी।

२३२वी गाथा मे शास्त्रकार इस कुमान्यता के शिकार दुराग्रही व्यक्ति को इसके दुष्परिणाम बताते हुए कहते है—आप लोग जब इस कुमान्यता की जिद्द पकड लेते है तो एकमात्र वैषयिक सुख के पीछे हाथ धोकर पडते है, तब अपने लिए आप विविध सुस्वादु भोजन बनवाकर या स्वय पचन-पाचन के प्रपच आदि मे, आलीशान भवनो के बनाने, सुखसाधनो को जुटाने आदि की धुन मे अहिसा महाव्रत को ताक मे रख देते है, बात-बात मे जीवहिसा का आश्रय लेते है। स्वय को प्रव्रजित एव भिक्षाशील कहकर गृहस्थो का सा आचरण करते है, दम्भ, दिखावा करते है, यह असत्य भाषण मे प्रवृत्त होते हैं। सुखवृद्धि के लिए नाना प्रकार के सुख साधनो को जुटाते है, हाथी, घोडा, ऊँट, जमीन,

---

१६ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ९६-९७

आश्रम आदि अपने स्वामित्व मे रखते हैं, उन पर ममत्व करके आप परिग्रह-सेवन भी करते हैं। सुख प्राप्ति की धुन मे रति-याचना करने वाली ललना के साथ काम-सेवन भी कर लेना सम्भव है। और सुख साधन आदि जुटाने की धुन मे आप दूसरे के अधिकार का हरण एवं बेईमानी भी करते है। यो सर्व प्रसिद्ध पाँचो पापाश्रवो मे आप बेखटके प्रवृत्त होते हैं। फिर भला आपको सयमी कौन कहेगा।[१६] इसीलिए शास्त्रकार कहते है--"पाणाइवाते""परिग्गहे।"

'सुख से सुख की प्राप्ति होती है' इस प्रकार की मिथ्या मान्यता के कारण बौद्ध भिक्षुओ मे पूर्णरूप से शिथिलाचार व्याप्त हो गया था, वे हिंसा आदि पाचो पापो मे प्रवृत्त हो गये थे। शास्त्रकार द्वारा प्रतिपादित उक्त पाचो पापो का बौद्ध भिक्षुओ पर आक्षेप थेरगाथा मे अकित वर्णन से यथार्थ सिद्ध हो जाता है। थेरगाथा मे यह भी शका व्यक्त की गई है कि यदि ऐसी ही शिथिलता बनी रही तो बौद्ध शासन विनष्ट हो जाएगा। आज भिक्षुओ मे ये पाप वासनाएँ उन्मत्त राक्षसो-सी खेल रही है। वासनाओ के वश होकर वे सासारिक विषय भोगो की प्राप्ति के लिए यत्र-तत्र दौड लगाते हैं। असद्धर्म को श्रेष्ठ मानते है। भिक्षा के लिए कुकृत्य करते है। वे सभी शिल्प सीखते है। गृहस्थो के समान आजीविका करते है। वे भिक्षु औषधो के विषय मे वैद्यो को तरह, काम-धाम मे गृहस्थो की तरह, विभूषा करने मे गणिकावत्, ऐश्वर्य मे क्षत्रिय तुल्य है। वे धूर्त है, प्रवचक है, ठग है, असयमी है। वे लोभवश धन सग्रह करते है, स्वार्थ के लिए धर्मोपदेश देते है, सघ मे सघर्ष करते हैं आदि।[१७]

शिथिलाचारी बौद्धो के जीवन का यह कच्चा चिट्ठा बताता है कि एक मिथ्यामान्यता का उपसर्ग साधक को कितना विचार भ्रष्ट कर देता है।

पाठान्तर और कठिन शब्दों की व्याख्या—जे तत्थ आरियं मग्गं परम च समाहिय—वृत्तिकार के अनुसार उस मोक्ष विचार के अवसर पर आर्यमार्ग (जैनेन्द्र प्रतिपादित मोक्ष मार्ग) जो परम समाधि युक्त (ज्ञानदर्शन चारित्रात्मक) है, उसे जो कई (शाक्यादि) अज्ञ छोड देते है, वे सदा ससावशवर्ती होते है। चूर्णिकार ने **'जितत्थ आयरिय मग्गं परमं च समाधिता'** पाठान्तर मानकर अर्थ किया है—**जिता नाम दुःख प्रव्रज्या कुर्वाणा अपि न मोक्षं गच्छत वय सुखेनैव मोक्षं गच्छाम इत्यतो भवन्तो जिताः तेनास्मदीयार्यमार्गेण परम ति समाधित्ति मनःसमाधि परमा असमाधीए शारीरादिना दुःखेनेत्यर्थः'** जिता कहते है—दु खपूर्वक प्रव्रज्या करते हुए, मोक्ष नही जा सकते हुए भी हम सुखपूर्वक मोक्ष चले जाएँगे, इस प्रकार आप जित है, उस हमारे आर्य मार्ग से होने वाली मन.समाधि (को छोडकर) शारीरिक दु ख से असमाधि (प्राप्त करते है)। **इहमेगे उ भासंति**—दार्शनिक क्षेत्र में कई कहते हैं। कही **'भासंति'** के बदले **'मन्नंति'** पाठ है। उसका अर्थ होता है—मानते है। 'मन्नति' पाठ मान्यता को

१६ सूत्रकृतांग शीलाकवृत्ति पत्राक ९६-९७

१७ (क) देखिये थेरगाथा मे अकित बौद्ध साधुओ की पापाचार प्रवृत्ति का निदर्शन—

भेसज्जेसु यथा वेज्जा, किच्चाकिच्चे यथा गिही।
गणिका व विभूसाय, इस्सरे खत्तिओ यथा॥
नेकतिका वचनिका कूटसक्खा अपाटुका।
बहूहि परिकप्पेहि आमिस परिभुञ्जरे। —थेरगाथा ९३८-९३९

(ख) सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या टिप्पण पृ० ४८३

सूचित करता है, इसलिए यह अधिक सगत प्रतीत होता है।[१८]

अनुकूल कुतर्क से वासनातृप्तिरूप सुखकर उपसर्ग—

२३३. एवमेगे तु पासत्था, पण्णवेंति अणारिया ।
इत्थीवस गता बाला, जिणससाणपरम्मुहा ।। ९ ।।

२३४. जहा गडं पिलाग वा, परिपीलेज्ज मुहुत्तग ।
एव विण्णवणित्थीसु, दोसो तत्थ कुतो सिया ? ।। १० ।।

२३५. जहा मधादए नाम, थिमित भुंजती दग ।
एव विण्णवणित्थीसु, दोसो तत्थ कुतो सिया ? ।। ११ ।।

२३६. जहा विहंगमा पिंगा, थिमितं भुंजती दग ।
एव विण्णवणित्थीसु, दोसो तत्थ कुतो सिया ? ।। १२ ।।

२३७. एवमेगे उ पासत्था, मिच्छादिट्ठी अणारिया ।
अज्झोववन्ना कामेहिं, पूतणा इव तरुणए ।। १३ ।।

२३३ स्त्रियो के वश मे रहे हुए अज्ञानी जिनशासन से पराङ्मुख अनार्य कई पाशस्थ या पार्श्वस्थ इस प्रकार (आगे की गाथाओ मे कही जाने वाली बाते) कहते है—

२३४ जैसे फुसी या फोडे को दबा (-कर उसका मवाद निकाल) दे तो (एक) मुहूर्त मे ही (थोडी देर मे ही) शान्ति हो जाती है, इसी तरह समागम की प्रार्थना करने वाली (युवती) स्त्रियो के साथ (समागम करने पर थोडी ही देर मे शान्ति हो जाती है।) इस कार्य मे दोष कैसे हो सकता है ?

२३५ जैसे मन्धादन—भेड बिना हिलाये जल पी लेती है, इसी तरह (किसी को पीडा दिये बिना) रति प्रार्थना करने वाली युवती स्त्रियो के साथ (सहवास कर लिया जाए तो) इसमे (कोई) दोष कैसे हो सकता है ?

२३६ जैसे पिगा नामक पक्षिणी बिना हिलाये पानी पी लेती है, इसी तरह कामसेवन के लिए प्रार्थना करने वाली तरुणी स्त्रियो के साथ (समागम कर लिया जाए तो) इस कार्य मे क्या दोष है ?

२३७. पूर्वोक्त रूप से मैथुन-सेवन को निर्दोष-निरवद्य मानने वाले कई पाशस्थ (पार्श्वस्थ) मिथ्यादृष्टि है, अनार्य है, वे काम-भोगो मे वैसे ही अत्यासक्त है, जैसे पूतना डाकिनी (दुधमुहे) बच्चो पर आसक्त रहती है।

---

१८ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ९६-९७
(ख) सूयगडग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ४१

विवेचन—समागम-प्रार्थना पर स्त्री समागम निर्दोष : एक मिथ्या मान्यता रूप उपसर्ग—प्रस्तुत पाँच सूत्रगाथाओ में एक ऐसे अनुकूल उपसर्ग का विश्लेषण किया गया है, जो अत्यन्त भयकर हेत्वाभासो द्वारा कुतर्क देकर वासना तृप्ति रूप सुखकर एव अनुकूल उपसर्ग के रूप मे उपपन्न किया गया है।

ऐसे भयंकर अनुकूल उपसर्ग के शिकार कौन ?—सूत्रगाथा २३३ में इस भयकर मान्यता के प्ररूपक तथा इस उपसर्ग से पीडित कौन और कैसे हैं ? इसका सक्षेप मे परिचय दिया गया है। प्रस्तुत सूत्रगाथा मे उनके लिए ५ विशेषण प्रयुक्त किये गये हैं—(१) पाशस्थ या पार्श्वस्थ, (२) अनार्य, (३) स्त्रीवशगत, (४) बाल और (५) जिनशासनपराङ्मुख।

एगे—वृत्तिकार ने 'एगे' पद की व्याख्या करते हुए मान्यता के प्ररूपक एव इस उपसर्ग के शिकार प्राणातिपात आदि मे प्रवृत्त नीलवस्त्रधारी विशिष्ट बौद्ध साधको, अथवा नाथवादिक मण्डल मे प्रविष्ट शैवसाधक विशेषो तथा जैन सघीय ऐसे कुशील एव पार्श्वस्थ श्रमणो को बताया है। उन्हे **'पासत्था'** आदि कहा गया है। इन सबका अर्थ इस प्रकार है—(१) **पासत्था**—इसके दो रूप सस्कृत मे बनते है—पार्श्वस्थ और पाशस्थ। प्रथम पार्श्वस्थ रूप का अर्थ है—जिसका आचार-विचार शिथिल हो। शीलाकाचार्य ने इनमे नीलवस्त्रधारी विशिष्ट बौद्ध-साधको एव नाथवादी सम्प्रदाय के शैव साधको को भी समाविष्ट किया है। इन्हे पार्श्वस्थ इसलिए भी बताया है कि ये उत्तम अनुष्ठान मे दूर रहते थे, कुशील सेवन करते थे, स्त्री परीषह से पराजित थे। **पाशस्थ** इसलिए बताया है कि ये स्त्रियो के मोहपाश मे फसे हुए थे।

अणारिया—ये अनार्य कर्म करने के कारण अनार्य है। अनार्य कर्म हैं—हिंसा, असत्य, चोरी-ठगी-बेईमानी, मैथुन सेवन एव परिग्रह। पिछली सूत्रगाथा २३२ मे तथा उसके टिप्पण मे थेरगाथा के प्रमाण देकर तथाकथित बौद्ध साधको के हिसादि मे प्रवृत्त होना सिद्ध कर आए हैं। इसीलिए उन्हे अनार्य कहा है।

इत्थीवसगया—जो तरुण कामिनियो की गुलामी करते हो, जो उनके मोहक जाल मे फँसकर उनके वशवर्ती बन गये हो, वे स्त्री वशगत है। स्त्रियो के वे कितने अधिक गुलाम थे ? यह उन्ही के शब्दो मे देखिये—

प्रिया दर्शनमेवाऽस्तु किमन्यैर्दर्शनान्तरैः।
प्राप्यते येन निर्वाण सरागेणाऽपि चेतसा॥

"मुझे प्रिया का दर्शन होना चाहिए, फिर दूसरे दर्शनो से क्या प्रयोजन ? क्योकि प्रिया दर्शन से सराग चित्त होने पर भी निर्वाण-सुख प्राप्त होता है।"

बाला—अध्यात्म जगत् मे बाल वे हैं—जो अपने हिताहित से अज्ञ हो, जो हिंसादि पापकर्म करने की नादानी करके अपने ही विनाश को निमन्त्रण देते हो, जो बात-बात मे रोष, द्वेष, ईर्ष्या, मोह, कषाय आदि से उत्तेजित हो जाते हैं।[१९]

---

१९ (क) जैन साहित्य का बृहत् इतिहास, भा० १, पृ० १४४

(ख) सूयगडग सुत्त, मूलपाठ टिप्पण युक्त, प्रस्तावना, पृ० १६

'जिणसासण परम्मुहा'—राग-द्वेष विजेता जिन कहलाते है, उनका शासन है—उनकी आज्ञा—कषाय, मोह और राग-द्वेष को उपशान्त करने की आज्ञा से विमुख—अर्थात्—ससाराभिसक्त तथा जैनमार्ग को कठोर समझकर उससे घृणा, द्वेष करने वाले जिनशासन पराङ्मुख कहलाते हैं।

काम-भोगों मे अत्यासक्त—सूत्रगाथा २३७ मे इन भ्रष्ट साधको को, फिर वे चाहे जैन श्रमण ही क्यो न हो, उन्हे पाशस्थ, मिथ्यादृष्टि एव अनार्य बताया गया है और कहा गया है कि पिशाचिनी पूतना जैसे छोटे बच्चो पर आसक्त रहती है, वैसे ही ये मिथ्यात्वी अनार्य एव पाशस्थ तरुणियो के साथ काम-भोगो के सेवन मे अत्यधिक आसक्त रहते है। शास्त्रकार कहते है—**"एवमेग उ पूतणा इव तरुणए।"** चूर्णिकार **'पूयणा इव तण्णए'** पाठान्तर मानकर व्याख्या करते हैं—"पूयणा नाम औरणीया, तस्या अतीव तण्णगे छावके स्नेह।" 'पूयणा' कहते है– भेड को, उसका अपने बच्चे पर अत्यधिक स्नेह (आसक्ति) रहता है। वृत्तिकार ने एक उदाहरण देकर इसे सिद्ध किया है—"एक बार अपनी सन्तान पर पशुओ की आसक्ति की परीक्षा के लिए सभी पशुओ के बच्चे एक जलरहित कुए मे रख दिये गए। उसी समय सभी मादा पशु अपने-अपने बच्चो की आवाज सुनकर कुए के किनारे आकर खडी हो गई। परन्तु भेड अपने बच्चे की आवाज सुनकर उनके मोह मे अन्धी होकर कुए मे कूद पडी। इस पर से समस्त पशुओ मे भेड की अपने बच्चो के प्रति अत्यधिक आसक्ति सिद्ध हो गई।" इसी तरह पूर्वोक्त भ्रान्त मान्यताओ के शिकार साधक कामभोगो मे अत्यन्त आसक्त होते है।[20]

जहा गडं पिलाग वा कओ सिया?—**प्रथम अज्ञानियो की मान्यता** -यह है कि जैसे किसी के शरीर मे फोडा-फुसी हो जाने पर उसकी पीडा शान्त करने के लिए उसे दबा कर मवाद आदि निकालने से थोडी ही देर मे उसे सुख-शान्ति हो जाती है, ऐसा करने मे कोई दोष नही माना जाता, वैसे ही कोई युवती अपनी काम-पीडा शान्त करने के लिए समागम की प्रार्थना करती है तो उसके साथ समागम करके उसकी काम-पीडा शान्त करने मे दोष ही क्या? दोष तो बलात्कार मे होता है।

जहा मधादए ·कओ सिया? दूसरे अज्ञानियो की मान्यता—जैसे भेड घुटनो को पानी मे झुका कर पानी को गदा किये, या हिलाए बिना स्थिरतापूर्वक धीरे से चुपचाप पानी पीकर अपनी तृप्ति कर लेती है, उसकी इस चेष्टा से किसी जीव को पीडा नही होती, इसी प्रकार सम्भोग की प्रार्थना करने वाली नारी के साथ सम्भोग करने से किसी जीव को कोई पीडा नही होती और उसकी व अपनी काम-तृप्ति हो जाती है, इस कार्य मे दोष ही क्या है?

जहा विहगमा पिगा कओ सिया?—तीसरे अज्ञानियो की मान्यता—जैसे कपिजल नाम की चिडिया आकाश मे ही स्थित रहकर दूसरे अगो द्वारा जलाशय के जल को छुए बिना या हिलाये बिना केवल अपनी चोच की नोक से जलपान कर लेती है, उसका जलपान जीवघात एव दोष से रहित है। इसी प्रकार किसी नारी द्वारा समागम प्रार्थना किये जाने पर कोई पुरुष रागद्वेषरहित बुद्धि से, उस स्त्री के अन्य अगो को कुशा से ढक कर न छूते हुए, सिर्फ पुत्रोत्पत्ति के उद्देश्य से

---

२० (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ९७ पर से

(ख) सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या, पृ० ४८५-४८६ एव ४९१

(काम के उद्देश्य से नही) ऋतुकाल मे उसके साथ समागम करता है, तो उसमे उसे कोई दोष न होने से उसके तथारूप मैथुन सेवन मे दोष नही है।[२१]

खण्डन—इन तीनो गाथाओ मे तथाकथित पार्श्वस्थो की तीनो मान्यताओ का मूल स्वर एक ही है। 'रति-प्रार्थिनी स्त्री के साथ समागम निर्दोष है' जिसे प्रत्येक गाथा के अन्त मे दोहराया गया है—**"एवं विण्णवणित्थीसु दोसो तत्थ कुतो सिया ?"**

ये तीनो मान्यताएँ मिथ्या एव सदोष : क्यों और कैसे—विद्वान् निर्युक्तिकार तीन गाथाओ द्वारा इस मिथ्या मान्यता को बहुत बडा उपसर्ग ध्वनित करते हुए इसका खण्डन करते हैं—(१) जैसे कोई व्यक्ति तलवार से किसी का सिर काट कर चुपचाप कही छिप कर बैठ जाए तो क्या इस प्रकार उदासीनता धारण करने से उसे अपराधी मान कर पकडा नही जायगा ? (२) कोई मनुष्य यदि विष की घूट पीकर चुपचाप रहे या उसे कोई पीते देखे नही, इतने मात्र से क्या उसे विषपान के फल-स्वरूप मृत्यु के मुँह मे नही जाना पडेगा ? (३) यदि कोई किसी धनिक के भण्डार से बहुमूल्य रत्न चुरा कर पराङ्मुख होकर चुपचाप बैठ जाए तो क्या वह चोर समझ कर पकडा नही जाएगा ?

तात्पर्य यह है कि कोई मनुष्य मूर्खतावश या दुष्टतावश किसी की हत्या करके, स्वय विषपान करके या किसी की चोरी करके मध्यस्थ भाव धारण करके बैठ जाए तो वह निर्दोष नही हो सकता। दोष या अपराध करने का विचार तो उसने कुकृत्य करने से पहले ही कर लिया, फिर उस कुकृत्य को करने मे प्रवृत्त हुआ, तब दोष-सलग्न हो गया, तत्पश्चात् उस दोष को छिपाने के लिए वह उदासिन होकर या छिपकर एकान्त मे बैठ गया, यह भी दोष ही है। अत दोष तो कुकृत्य करने से पूर्व, कुकृत्य करते समय और कुकृत्य करने के पश्चात् यो तीनो समय है। फिर उसे निर्दोष कैसे कहा जा सकता है ? इसी तरह कोई व्यक्ति किसी स्त्री की मैथुन सेवन करने की प्रार्थना मात्र से उसके साथ मैथुन मे उस कुकृत्य में प्रवृत्त हो जाता है तो उस रागभाव रूप पाप का विचार आए बिना नही रहेगा तत्पश्चात् मैथुन क्रिया करते समय भी तीव्र रागभाव होना अवश्यम्भावी है। इसीलिए दशवैकालिक सूत्र मे निर्ग्रन्थ साधुओ के लिए मैथुन-सेवन वर्जित है, क्योकि यह महादोषोत्पत्ति स्थान है।[२२]

अत राग होने पर ही उत्पन्न होने वाला, समस्त दोषो का स्थान, हिसा का कारण एव

---

२१ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्रांक ९७-९८ के आधार पर
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ४८७-४८८
(ग) देखिये उन्ही के धर्मशास्त्र मे लिखा है—
धमार्थं पुत्रकामाय स्वदारेस्वधिकारिणे।
ऋतुकाले विधानेन दोषस्तत्र न विद्यते ॥

२२ (क) सूत्रकृताग निर्युक्ति गाथा ५३-५४-५५
(ख) सूत्रकृतांग शीलाकवृत्ति पत्राक ९८
(ग) मूलमेयमहम्मस्स महादोससमुस्सय।
तम्हा मेहुणससग्गथा निग्गं वज्जयन्ति ण ॥ —दशवैकालिक ६

ससार भ्रमणवर्द्धक मैथुनसेवन—चाहे वह स्त्री-पुरुष दोनो की इच्छा से ही क्यो न हो, कथमपि निर्दोष नही हो सकता।[२३]

कठिन शब्दों की व्याख्या—विण्णवणीत्थीसु—स्त्री की विज्ञापना—समागम प्रार्थना होने पर। **मंधादए**—मन्धादन-भेड। **थिमित**—हिलाए बिना—स्थिरतापूर्वक। **भु जती**—उपभोग करती है, पीती है। चूर्णिकार ने '**पियति**' पाठान्तर माना है। **पिंगा विहगमा**—कपिजल नामक आकाशचारी पक्षिणी।[२४]

कौन पश्चाताप करता है, कौन नहीं ?

२३८. अणागयमपस्सता, पच्चुप्पन्नगवेसगा।
ते पच्छा परितप्पंति, खीणे आउम्मि जोव्वणे ॥१४॥

२३९. जेहि काले परक्कत, न पच्छा परितप्पए।
ते धीरा बधणुमुक्का, नावकखति जीविय ॥१५॥

२३८ भविष्य मे होने वाले दु ख को न देखते हुए जो लोग वर्तमान सुख के अन्वेषण (खोज) मे रत रहते हैं, वे बाद मे आयु और युवावस्था क्षीण (नष्ट) होने पर पश्चाताप करते है।

२३९ जिन (आत्महितकर्ता) पुरुषो ने (धर्मोपार्जन-) काल मे (समय रहते) धर्माचरण मे पराक्रम किया है, वे पीछे पश्चात्ताप नही करते। बन्धन से उन्मुक्त वे धीरपुरुष असयमी जीवन की आकाक्षा नही करते।

विवेचन—कौन पश्चाताप करते हैं, कौन नहीं ?—इस गाथाद्वय (सू० गा० २३८, २३९) मे पूर्वोक्त उपसर्गो के सन्दर्भ मे यह बताया गया है कि कौन व्यक्ति पश्चात्ताप करते हैं, कौन नही करते—(१) जो वर्तमान मे किये हुए दुष्कृत्यो से अथवा काम-भोग सुखासक्ति से 'भविष्य मे प्राप्त होने वाले दु खरूप कुफल का विचार नही करते, (२) दूरदर्शी न होकर केवल वर्तमान सुख की तलाश मे रहते है। ये मात्र प्रेयोवादी लोग यौवन और आयु ढल जाने पर पश्चात्ताप करते है, परन्तु (१) जो श्रेयोवादी दूरदर्शी लोग धर्मोपार्जन काल मे धर्माचरण मे पुरुषार्थ करते है, (२) जो वर्तमान कामभोगजनित क्षणिक सुख के लिए असयमी जीवन जीना नही चाहते, (३) जो परीषह-उपसर्ग सहन करने मे धीर है, और (४) जो स्नेहबन्धन या कर्मबन्धन से दूर रहते है, वे पश्चात्ताप नही करते।[२५]

पश्चात्ताप करने का कारण और निवारण—जो व्यक्ति पूर्वोक्त भ्रान्त मान्यताजनित उपसर्गो

---

२३ प्राणिना बाधक चैतच्छास्त्रे गीत महर्षिभि।
नलिका तप्त कणकप्रवेशज्ञाततस्तथा ॥१॥
मूल चैतदधर्मस्य भवभावप्रवर्धनम्।
तस्माद् विषान्नवद् त्याज्यमिद पापमनिच्छता ॥२॥

२४ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ९७-९८

२५ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति भाषानुवाद सहित भा० २, पृ० ९०-९१ का साराश

के शिकार होकर वैषयिक सुखो में और कामजनित सुखों मे सलग्न हो जाते हैं, उक्त सुखो की पूर्ति के लिए हिंसा, झूठ, चोरी, बेईमानी, ठगी, कामासक्ति और परिग्रह आदि दुष्कर्मों को नि सकोच होकर करते हैं। उन दुष्कर्मों को करते समय भविष्य मे उनके दुष्परिणाम के रूप मे नरक एव तिर्यञ्च मे मिलने वाली यातनाओ का कोई विचार नही करते। जिनकी दृष्टि केवल वर्तमान के क्षणिक वैषयिक एव कामजन्य सुखो की प्राप्ति मे टिकी रहती है, काम-भोगो के सेवन से जब सारा शरीर जर्जर हो जाता है, शक्ति क्षीण हो जाती है, कोई न कोई रोग आकर घेर लेता है, इन्द्रियाँ काम करने से जवाब दे देती हैं, यौवन ढल जाता है, बुढापा आकर झाकने लगता है, मृत्यु द्वार पर दस्तक देने लगती है, तब वे अत्यन्त पछताते है—अफसोस ! हमने अपना बहुमूल्य जीवन यो ही बर्बाद कर दिया, कुछ भी धर्माचरण न कर सका, ससार की मोहमाया मे उलझा रहा, साधुवेष धारण करके भी लोकवचना की। एक जैनाचार्य ने उनके पश्चात्ताप को इन शब्दो मे व्यक्त किया है—"मैने मनुष्य जन्म पाकर अच्छे कामो को नही अपनाया—सदाचरण नही किया, यो मुट्ठियो से आकाश को पीटता रहा और चावलो का भुस्सा कूटता रहा।"

'वास्तव मे वैभव के नशे मे, यौवन के मद मे जो कार्य नही करने चाहिए, वे किये। किन्तु जब उम्र ढल जाती है और वे अकृत्य याद आते है, तब हृदय मे वे काटे-से खटकने लगते है।' इसी बात को शास्त्रकार कहते है—**'अणागयमपस्संता खीणे आउम्मिजोव्वणे।'**

किन्तु जो विवेक सम्पन्न पुरुष समय पर पराक्रम करते है, धर्म पुरुषार्थ को मुख्य रखकर प्रवृत्ति करते है, एक क्षण भी धर्म रहित होकर असयम या अधर्म मे नही खोते, जो विघ्न बाधाएँ, विपत्तियाँ आने पर भी धर्माचरण नही छोडते, धैर्यपूर्वक परीषह-उपसर्ग को सहन करते है, इहलौकिक, पारलौकिक काम-भोगो या विषय सुखो की वाछा नही करते, स्नेहबन्धन मे फसाने के चाहे जितने अनुकूल उपसर्ग हो, वे स्नेहबन्धन से उन्मुक्त रहते है, वे असंयमी जीवन जीने की वाछा कदापि नही करते इसीलिए वे कर्म विदारण करने मे समर्थ धीर रहकर तपस्या मे रत रहते हैं। ऐसे जीवन-मरण से नि स्पृह सयमानुष्ठान मे दत्तचित्त पुरुष यौवन पार होने के बाद बुढापे मे पश्चात्ताप नही करते।[२६] इसे ही शास्त्रकार कहते है--**जेहिं काले ... नावकखति जीवियं।**

नारी-संयोगरूप उपसर्ग : दुष्कर, दुस्तर एवं सुतर !

२४०. जहा नदी वेयरणी, दुत्तरा इह सम्मता।
एवं लोगंसि नारीओ, दुत्तरा अमतीमता ॥ १६ ॥

---

२६ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्रांक ९९ पर से

(ख) सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ४९२ से ४९४ तक

(ग) "हत मुष्टिभिराकाश, तुषाणा कण्डन कृतम्।
यन्मया प्राप्य मानुष्य, सदर्थे नादर· कृत. ॥"
"विहवावलेवन डिएहिं जाइ कीरति जोव्वण मएण।
वयपरिणामे सरियाइ ताइ हिअए खुडुक्कति ॥".

२४१. जेहिं नारीण संजोगा, पूयणा पिट्ठतो कता।
सव्वमेयं निराकिच्चा, ते ठिता सुसमाहिए ॥ १७ ॥

२४० जैसे वैतरणी नदी दुस्तर मानी गई है, इसी तरह इस लोक मे कामिनियाँ अमतिमान (अविवेकी) साधक पुरुष के लिए दुस्तर मानी है।

२४१ जिन साधको ने स्त्रियो के ससर्ग तथा पूजना (काम-विभूषा) से पीठ फेरली है, वे साधक इन समस्त उपसर्गों को निराकृत (पराजित) करके सुसमाधि (स्वस्थ चित्तवृति) मे स्थित रहने है।

विवेचन—स्त्रीससर्गरूप उपसर्ग : किसके लिए दुस्तर किसके लिए सुतर?—प्रस्तुत सूत्रगाथाद्वय मे से प्रथम गाथा मे अविवेकी के लिए स्त्रीसगरूप उपसर्ग दुस्तर बताया गया है जबकि द्वितीय गाथा मे स्त्री ससर्ग एव कामविभूषा के त्यागी साधको को स्त्रीसगरूप भयकर उपसर्ग ही नही, अन्य समस्त उपसर्ग सुतर-सुजेय हो जाते है।[२७]

स्त्रीसगरूप उपसर्ग कितना और कैसा दुस्तर?—जैसे नदियो मे वैतरणी नदी अत्यन्त प्रबल वेगवाली एव विषमतट वाली होने से अतीव दुस्तर या दुर्लंघ्य मानी जाती है, वैसे ही पराक्रमहीन अविवेकी साधक के लिए स्त्रीससर्गरूप उपसर्गनद का पार करना अत्यन्त दुस्तर है। बल्कि जो साधक विषय-लोलुप काम-भोगासक्त एव स्त्रीसगरूप उपसर्ग से पराजित हो जाते है, वे अगारो पर पडी हुई मछली की तरह कामराग, दृष्टिराग एव स्नेहराग रूपी आग मे जलते-तडफते हुए अशान्त—असमाधिस्थ रहते है।

इसी कारण बडे-बडे पहुचे हुए साधको के लिए भी स्त्री सग पर विजय पाना कठिन है। वे अपने आपको पहुँचे हुए पुराने साधक समझ कर इस अनुकूल स्त्रीसगरूप उपसर्ग से असावधान रहते है, वे कामिनियो के कटाक्ष के आगे पराजित हो जाते है। वे चाहे शास्त्रज्ञ, प्रवचनकार, विद्वान् एव क्रियाकाण्डी क्यो न हो, अगर वे इस उपसर्ग के आते ही तुरन्त इससे सावधान होकर नही खदेड देंगे तो फिर यह उपसर्ग उन पर भी हावी हो जाएगा। किसी अनुभवी ने ठीक ही कहा है—

सन्मार्गे तावदास्ते प्रभवति पुरुषस्तावदेवेन्द्रियाणाम्,
लज्जा तावद्विधत्ते, विनयमपि समालम्बते तावदेव।
भ्रू चापाक्षेपमुक्ताः श्रवणपथजुषो नीलपक्ष्माणा एते,
यावल्लीलावतीनां न हृदि धृतिमुषो दृष्टिबाणाः पतन्ति ॥

पुरुष तभी तक सन्मार्ग पर टिकता है, इन्द्रियो पर भी तभी तक प्रभुत्व (वश) रखता है, लज्जा भी तभी तक करता है एव विनय भी तभी तक करता है, जब तक स्त्रियो द्वारा धैर्य नष्ट करने वाले भ्रकुटि रूपी धनुष को कान तक खीचकर चलाये हुए नीले नयनो वाले दृष्टिबाण उस पर नही गिरे। इसीलिए शास्त्रकार कहते है—**'जह नदी वेयरणी दुत्तरा अमतीमता।'**

---

२७ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ९९ के आधार पर

यह तो बहुत ही असम्भव-सा है कि साधक के साथ स्त्रियो का बिलकुल ही सम्पर्क न हो, भिक्षाचरी, उपाश्रय-निवास, प्रवचन आदि अवसरो पर स्त्री सम्पर्क होता है, परन्तु जो साधक सावधान एव मोक्ष मार्ग की साधना मे दृढ रहता है, वह स्त्री सम्पर्क होने पर भी स्त्रियो के प्रति मोह, आसक्ति, मन मे काम-लालसा, कामोत्तेजना का कामोत्तेजक वस्त्राभूषणादि या शृ गार-साज-सज्जा आदि को अनर्थकर तथा परिणाम मे कटुफल वाले समझकर इनसे बिलकुल दूर रहता है, स्त्री-सगरूप उपसर्ग के आते ही तुरन्त सावधान होकर उससे पीठ फेर लेता है, मन मे जरा भी काम सम्बन्धी विकार नही लाता, वह स्त्रीसगरूप उपसर्ग को तो पार कर ही जाता है, अन्य अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्गों पर भी विजय प्राप्त कर लेता है। ऐसे उपसर्ग विजेता साधक किसी भी प्रकार के उपसर्गों के समय न तो क्षुब्ध होते हैं, न ही उन्हे अपने पर हावी होने देते है, न ही अपने धर्मध्यान या चित्त समाधि का त्याग करते है, बल्कि वे साधक सुसमाधि मे स्थिर रहते है। यही बात शास्त्रकार करते है—**जेहिं नारीण ठिया सुसमाहिए।**[२८]

कठिन शब्दों की व्याख्या—पूयणा—वृत्तिकार के मतानुसार— **पूजना**—कामविभूषा, चूर्णिकार के अनुसार—**'पूयणा'**—शरीर पूजना, अथवा पूतना—"पातयन्ति धर्मात् पासयति वा चारित्रमिति पूतना—पूतीकुर्वन्तीत्यर्थ' अर्थात्—पूयणा के तीन अर्थ फलित होते है—(१) शरीर पूजना—शारीरिक मण्डन विभूषा, अथवा (२) पूतना जो धर्म से पतित करती हो, वह पूतना है, अथवा (३) जो चारित्र को गन्दा (मलिन) करती हो वह पूतना है। **पिट्ठतो कता**--परित्यक्तेत्यर्थ, परित्याग कर दिया है।[२९]

उपसर्ग-विजेता साधु : कौन और कैसे ?

२४२. एते ओघं तरिस्सति, समुद्द व ववहारिणो।
जत्थ पाणा विसण्णा स, किच्चंती सयकम्मुणा ॥१८॥

२४३. त च भिक्खू परिण्णाय, सुव्वते समिते चरे।
मुसावायं विवज्जेज्जाऽदिण्णादाणाइ वोसिरे ॥१९॥

२४४. उड्ढमहे तिरियं वा, जे केई तस-थावरा।
सव्वत्थ विरति कुज्जा, सति निव्वाणमाहित ॥२०॥

२४५. इमं च धम्ममादाय, कासवेण पवेदित।
कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स, अगिलाए समाहिते ॥२१॥

२४६. संखाय पेसलं धम्म, दिट्ठिमं परिनिव्वुडे।
उवसग्गे नियामित्ता, आमोक्खाए परिव्वएज्जासि ॥२२॥ —त्ति बेमि ॥

---

२८. (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ९९ के आधार पर
(ख) सूत्रकृताग अमरसुखबोधिनी व्याख्या, पृष्ठ ४९५-४९६

२९. (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ९९
(ख) सूयगडग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ४३

२४२ ये (अनुकूल-प्रतिकूल-उपसर्ग-विजेता पूर्वोक्त साधक) (दुस्तर) ससार को भी पार कर लेगे, जैसे समुद्र के आश्रय से व्यापार करने वाले (वणिक्) समुद्र को पार कर लेते है, जिस ससार (समुद्र) मे पडे हुए प्राणी अपने-अपने कर्मों से पीडित किये जाते है।

२४३. भिक्षु उस (पूर्वोक्त अनुकूल-प्रतिकूल-उपसर्ग-समूह) को जानकर (ज्ञपरिज्ञा से जानकर और प्रत्याख्यान परिज्ञा से उससे मुक्त रह कर) उत्तम व्रतो से युक्त तथा पच समितियो से सहित रह कर विचरण करे, मृषावाद (असत्य) को छोड दे, और अदत्तादान का व्युत्सर्ग (मन-वचन-काया से त्याग) कर दे।

२४४ ऊपर, नीचे और तिरछे (लोक) मे जो कोई त्रस-स्थावर प्राणी है, उनके नाश (वध) से विरति (निवृत्ति) कर ले। (ऐसा करने से) शान्तिरूप निर्वाणपद की प्राप्ति कही गई है।

२४५ काश्यपगोत्रीय भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित इस धर्म को स्वीकार करके समाधियुक्त भिक्षु अग्लान भाव से ग्लान साधु की वैयावृत्य (सेवा) करे।

२४६ सम्यग्-दृष्टि सम्पन्न एव परिनिर्वृत (प्रशान्त) साधक (मुक्ति प्रदान करने मे) कुशल इस धर्म को सम्यक् प्रकार से जानकर उपसर्गो पर नियन्त्रण (विजय प्राप्त) करता हुआ मोक्ष प्राप्ति पर्यन्त सयम मे पराक्रम (पुरुषार्थ) करे। —ऐसा मै कहता हूँ।

विवेचन —उपसर्गविजेता साधु : कौन और कैसे ?— प्रस्तुत पाच सूत्रगाथाओ मे उपसर्ग विजेता साधक की योग्यता, प्रतिफल और कर्तव्य का निर्देश किया गया है। उपसर्गविजेता के सम्बन्ध मे विभिन्न पहलुओ से यहाँ अध्ययन का उपसहार करते हुए विचार किया गया है - (१) उपसर्गविजेता साधक स्वकर्म पीडित ससार सागर को सामुद्रिक व्यवसायी की तरह पार कर लेते है, (२) पूर्वगाथाओ मे उक्त उपसर्गों को जानकर उनसे बचे, (३) उत्तमव्रत धारक हो, (४) पच समितियो से युक्त हो, (५) मृषावाद का परित्याग करे, (६) अदत्तादान का त्याग करे, (७) समस्त प्राणियो की हिसा से विरत हो, (८) शान्ति ही निर्वाण प्राप्ति का कारण है, (९) भगवान् महावीर द्वारा प्रज्ञप्त धर्म को स्वीकार करे, (१०) ग्लान साधु की अग्लान भाव से सेवा करे, (११) मुक्ति प्रदान-कुशल धर्म को पहचाने-परखे, (१२) सम्यग्दृष्टि से सम्पन्न हो, (१३) राग-द्वेष, कषाय आदि से परिशान्त हो, (१४) उपसर्गो के आने पर शीघ्र नियन्त्रण मे करे, और (१५) मोक्ष प्राप्ति पर्यन्त सयम मे निष्ठापूर्वक पराक्रम करे।[३०]

उपसर्गविजेता बनने के लिए पहला कदम -ससार-सागर को पार करना बडा कठिन है, ससार तभी पार किया जा सकता है, जबकि कर्मों का सर्वथा क्षय हो। कर्मों का क्षय करने के लिए पूर्वगाथाओ मे उक्त अनुकूल और प्रतिकूल समस्त उपसर्गों पर विजेय पाना आवश्यक है। जो मोक्षयात्री साधक इन समस्त उपसर्गो पर विजय प्राप्त कर लेते है, वे बहुत आसानी से उसी तरह ससार-समुद्र को धर्मरूपी या सयमरूपी जहाज से पार कर लेते है, जिस तरह सामुद्रिक व्यापारी समुद्र की छाती पर माल से लदी अपनी जहाजे चला कर लवण समुद्र को पार कर लेते है। इसलिए

३० सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति भाषानुवाद सहित, भा० २, पृ० ९४ से ९९ तक का साराश

शास्त्रकार कहते हैं—**'एते ओघं तरिस्संति समयकम्मुणा ।'** परन्तु जो दुस्तर नारी-सगरूपी उपसर्ग पर विजय प्राप्त नही कर सकते, वे स्वकृत असाता वेदनीय रूप पापकर्म के उदय से ससार-सागर को पार नही कर सकते, वे ससार मे रहते हुए दु ख भोगते है। ससार उन्ही के लिए दुस्तर है, जिनके लिए नारीसग दुस्तर है। एक कवि ने कहा है --

> **"संसार ! तव दुस्तारपदवी न दवीयसी ।**
> **अन्तरा दुस्तरा न स्युर्यदिरे ! मदिरेक्षणा ।।"**[31]

"अरे ससार ! यदि बीच मे ये दुस्तर नारियाँ न होती तो तेरी यह जो दुस्तार पदवी है, उसका कोई महत्त्व न होता !" यह उपसर्ग-विजयी साधक बनने के लिए पहला कदम है।

दूसरा कदम—अनुकूल और प्रतिकूल जितने भी उपसर्गों का निरूपण पिछली सूत्रगाथाओ मे किया गया है, उन्हे भली-भाँति जाने। कौन-कौन से उपसर्ग, कैसे-कैसे किस-किस रूप मे आते है? उन सबको ज्ञपरिज्ञा से अच्छी तरह समझ ले, तत्पश्चात् प्रत्याख्यानपरिज्ञा से उनसे सावधान होकर बचे, उन उपसर्गों के आते ही दृढतापूर्वक उन पर विजय पाए, उन्हे अपने पर हावी न होने दे। यह उपसर्ग विजेता के लिए द्वितीय कदम है, जिसके लिए शास्त्रकार ने कहा है—**'तं च भिक्खू परिण्णाय ।'**

तीसरा कदम -उपसर्ग विजयी बनने के लिए साधक को सुन्दर व्रतो (यम-नियमो) से युक्त होना आवश्यक है। शास्त्रकार ने भी कहा है—"सुव्वते चरे।" 'चरे' क्रिया लगाने के पीछे आशय यह है कि साधक केवल महाव्रत या यम-नियम ग्रहण करके ही न रह जाए, उनका आचरण भी दृढतापूर्वक करे, तभी वह उपसर्गो पर सफलता से विजय पा सकेगा।

चौथा कदम—साधक को उपसर्गविजयी बनने के लिए पाच समितियो और उपलक्षण से तीन गुप्तियो का पालन करना आवश्यक है। अगर इनका अभ्यास जीवन मे नही होगा तो साधु उपसर्गों के समक्ष टिक न सकेगा। इसीलिए शास्त्रकार ने कहा --**'समिते चरे'**। इस वाक्य से शास्त्रकार का आशय उत्तरगुणो के दृढतापूर्वक आचरण से है जबकि 'सुव्वते' शब्द मे मूलगुणो का आचरण द्योतित किया गया है।

पाँचवां, छठा और सातवाँ कदम—पूर्वोक्त कदम मे महाव्रतो का विधेयात्मक रूप से आचरण करने का निर्देश था, किन्तु कई साधक वैसा करते हुए भी फिसल जाते है, इसलिए निषेधात्मक रूप मे भी व्रताचरण करने हेतु यहाँ तीन निर्देशसूत्र हैं—**(१) मुसावाय च वज्जिज्जा, (२) अदिन्नादाणं च वोसिरे,** और **(३) सव्वत्थ विरतिं कुज्जा।** अर्थात्-- उपसर्गों पर विजय पाने के लिए यह आवश्यक है कि साधक मृषावाद (असत्य) का मन-वचन-काया से कृत-कारित-अनुमोदित रूप से सर्वथा त्याग करे, इसी तरह अदत्तादान (चौर्यकर्म) का भी व्युत्सर्ग करे, साथ ही 'च' शब्द से मैथुनवृत्ति (अब्रह्मचर्य) और परिग्रहवृत्ति को भी सर्वथा छोडे, और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु है—जीव हिंसा से सर्वथा विरति होने की। अर्थात्—समस्त लोक और सर्वकाल मे जो भी त्रस-स्थावर आदि एकेन्द्रिय

---

३१. सूत्रकृताग समयार्थबोधिनी टीका, भा० २, पृ० १८५ मे उद्धृत

से लेकर पचेन्द्रिय तक के प्राणी है, उनकी हिसा किसी भी अवस्था मे मन-वचन-काया से कृत-कारित-अनुमोदित रूप से नही करनी चाहिए।

आठवाँ कदम—उपसर्ग-विजय के लिए साधक को सतत तपश्चर्या का अभ्यास होना चाहिए, ताकि वह स्वकृत कर्मों की आग को शान्त कर सके। भगवान् ने कर्माग्नि की शान्ति को ही निर्वाण प्राप्ति का कारण बताया है—**'संति निव्वाणमाहिय'**। इसलिए उपसर्ग-विजयी के लिए कर्मरूप अनल की शान्ति को आठवाँ कदम बताया गया है।

नौवाँ कदम—उपसर्ग-विजय के लिए भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित श्रुत-चारित्र रूप, मूलगुण-उत्तरगुण रूप या क्षमा आदि दशविध श्रमणधर्म को दृढतापूर्वक स्वीकार करना आवश्यक है। यहाँ क्षमा आदि दशविध श्रमणधर्म के स्वीकार का सकेत प्रतीत होता है, क्योकि उपसर्ग-विजय के लिए क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, सयम, तप, त्याग, आकिचन्य और ब्रह्मचर्य इन दस धर्मों का साधु जीवन मे होना अनिवार्य है। इसीलिए शास्त्रकार कहते है—**'इम च धम्ममादाय कासवेण पवेदित।'**

दसवाँ कदम—उपसर्ग-विजय के लिए अग्लान साधक को ग्लान (रुग्ण, अशक्त, वृद्ध आदि) साधु की परिचर्या (सेवा) अग्लान भाव मे करना आवश्यक है। ग्लान साधु की सेवा करने मे वह बेचैनी, ग्लानि या झु झलाहट अनुभव न करे, प्रसन्नमन मे, स्वय को धन्य एव कृतकृत्य मानता हुआ सेवा करे, तभी वह ग्लान-सेवा कर्म-निर्जरा का कारण बनेगी। ग्लान-सेवा का अवसर प्राप्त होने पर उससे जी चुराना, मुख मोडना या बेचैनी अनुभव करना, एक प्रकार का अरति परीषह रूप उपसर्ग है। ऐसा करना साधक की उक्त उपसर्ग से पराजय है। इसीलिए कहा गया है—**"कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स अगिलाए समाहिए।"**

ग्यारहवाँ कदम—उपसर्ग-विजय के लिए यह भी आवश्यक है कि उस धर्म को भली-भाँति परख ले, पहिचान ले, जो मुक्ति प्रदान करने मे (कर्मों से मुक्ति दिलाने मे) कुशल हो। ससार मे अनेक प्रकार के नित्य और नैमित्तिक धर्म प्रचलित है। कई दर्शन या मत तो अमुक कामना-वासनामूलक बातो को भी धर्मसज्ञा देते है, कई अमुक (तथाकथित स्वमान्य) शास्त्रविहित कर्मकाण्डो या सिर्फ ज्ञान को ही धर्म बताते है, उसी के एक-एक अग को मुक्ति का कारण बताते है, जबकि जैनदर्शन यह कहता है जिससे शुभ कर्म की वृद्धि हो, ऐसे सत्कर्म धर्म नही, पुण्य है। धर्म वही है—जिससे कर्मों का निरोध या कर्मक्षय होता हो। इस दृष्टि से न तो सिर्फ ज्ञान ही मोक्ष का कारण है और न ही एकान्त चारित्र (क्रिया), किन्तु सम्यग्दर्शनपूर्वक सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र तीनो मिलकर ही मोक्ष के कारण है, ये तीनो ही जहाँ हो, वही धर्म है। अगर साधक धर्म को पहिचानने-परखने के मामले मे गडबडा जाएगा तो वह धर्म के नाम से धर्मभ्रम (पशुबलि, काम-प्रार्थी नारी समागम, कामनामूलक क्रियाकाण्ड आदि) को पकडकर उपसर्गों की चपेट मे आ जाएगा। इसीलिए उपसर्ग-विजय के लिए ग्यारहवाँ कदम बताया गया है—**सखाय पेसलं धम्मं।**

बारहवाँ कदम—अगर साधक मिथ्या या विपरीत दृष्टि (दर्शन) से ग्रस्त हो जाएगा तो वह फिर अनुकूल उपसर्गों के चक्कर मे आ जाएगा। इसलिए उपसर्ग-विजयी बनने हेतु साधक का सम्यग्-दृष्टिसम्पन्न होना परम आवश्यक बताया गया है। सम्यग्दृष्टिसम्पन्न होने पर साधक व्यवहार मे सुदेव,

सुगुरु और सद्धर्म तथा सच्छास्त्र के प्रति दृढ श्रद्धा रखेगा, हेय-ज्ञेय-उपादेय तत्त्वो को जान सकेगा, तथा सर्वत्र आत्महित की दृष्टि ही मुख्य रखेगा। वह फिर चारित्र भ्रष्ट करने वाले अनुकूल उपसर्गों के चक्कर मे नही आएगा। इसीलिए कहा गया है—**'विट्ठिमं।'**

तेरहवाँ कदम—उपसर्गों पर सफलतापूर्वक विजय पाने हेतु साधक के रागद्वेष एव कषाय आदि परिशान्त होने आवश्यक है। अगर उसका राग-द्वेष या क्रोधादि कषाय बात-बात मे भडक उठेगा, या समय-असमय वह राग-द्वेष-कषायादि से उत्तेजित हो जाएगा तो वह अनेक आत्म-संवेदन-कृत उपसर्गों से घिर जाएगा, फिर उन उपसर्गों से छुटकारा पाना कठिन हो जाएगा। इसीलिए शास्त्रकार ने कहा—**"परिनिव्वुडे'।**

चौदहवाँ कदम—इतना सब करने पर भी साधक के जीवन मे अनुकूल या प्रतिकूल कई उपसर्ग अकस्मात् आ सकते है, उस समय साधक को फौरन ही विवेकपूर्वक उन उपसर्गों पर काबू पाना आवश्यक है। अगर वह उस समय गाफिल होकर रहेगा तो उपसर्ग उस पर हावी हो जाएगा, इसलिए उपसर्ग के आते ही मन से उसे तुरन्त निर्णय करना होगा कि मुझे इस उपसर्ग को अपने पर विजयी नही होने देना है, यानी इस उपसर्ग से पराजित नही होना है, अपितु इस पर नियन्त्रण (विजय) पाना है। इसी बात को शास्त्रकार कहते है—**'उवसग्गे नियामित्ता'।**

पन्द्रहवाँ कदम—सबसे अन्तिम कदम उपसर्ग-विजयी बनने के लिए यह है कि उस साधक को उपसर्गों के बार-बार आक्रमण होने पर मन मे अश्रद्धा, अविश्वास और अधीरता लाकर सयम (सयमी जीवन) को छोड बैठना नही चाहिए अपितु दृढ विश्वास और धैर्य के साथ उपसर्गों को सहन करते हुए, मोक्ष प्राप्ति (कर्मों के सर्वथा क्षय) होने तक सयम पर डटे रहना चाहिए। उसकी सयम-निष्ठा इतनी पक्की होनी चाहिए। इसी तथ्य की ओर शास्त्रकार का सकेत है—**'आमोक्खाए परिव्वएज्जासि।'**

उपसर्ग परिज्ञा अध्ययन की परिसमाप्ति मे अन्तिम दो गाथाओ की (जो कि इसी अध्ययन के तृतीय उद्देशक के अन्त मे दी गई थी) पुनरावृत्ति करके भी शास्त्रकार ने पाँच सूत्रगाथाओ मे उपसर्ग-विजयी बनने के लिए पचदशसूत्री कदमो का मार्ग निर्देश किया।[३२]

पाठान्तर और व्याख्या—विसण्णा सं कच्चंति सयकम्मुणा—वृत्तिकार के अनुसार—**'विषण्णाः सन्तः कृत्यन्ते-पीड्यन्ते स्वकृतेन-आत्मनाऽनुष्ठितेन पापेन कर्मणा असद्वेदनीयोदयरूपेण'**—अर्थात् जिस ससार मे विषण्ण—फँसे हुए प्राणी स्वकृत असातावेदनीयरूप पापकर्म के उदय से पीडित होते है। चूर्णिकार **'विसण्णासी च कच्चंती सह कम्मुणा'** पाठान्तर मानकर व्याख्या करते है—'यस्मिन्-यत्र एते पाषण्डा. विषयजिता विषण्णा आसते गृहिणश्च, इह परत्र च कच्चति सहकम्मुणा'—जिस ससार मे ये पाषण्ड व्रतधारी (साधक) या गृहस्थ विषयो से पराजित होकर विषण्ण—दुखी रहते हैं, और अपने कर्मों से यहाँ और वहाँ पीडित होते है। **विवज्जेज्जाऽदिण्णादाणाइ वोसिरे**—वृत्तिकार **'वज्जिज्जा अदिन्नादाण च वोसिरे'** पाठान्तर मानकर अर्थ करते है—**'अदत्तादानं च व्युत्सृजेत्'** दन्तशोधनमात्र-

३२ (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १००, १०१ के आधार पर
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ४९६ से ५०५ के आधार पर

मप्यदत्त न गृह्णीयात् ।' अर्थात् —अदत्तादान का व्युत्सर्ग-त्याग करे, यानी दात कुरेदने के लिए तिनका भी बिना दिया हुआ, ग्रहण न करे।' वृत्तिकार यहाँ **'आदि'** शब्द मानकर अर्थ करते है—**'आदिग्रहणाम्-मैथुनादेः परिग्रह.'** आदि शब्द यहाँ (मूलपाठ मे) ग्रहण किया गया है, इसलिए मैथुन आदि का ग्रहण करना अभीष्ट है। चूर्णिकार तो **'विवज्जेज्ज अदिण्णादि च वोसिरे'**—पाठान्तर मानकर उपर्युक्त अर्थ स्वीकार करते है। **'सव्वत्थ विरतिं कुज्जा'**—वृत्तिकार के अनुसार—**सर्वत्र-काले, सर्वावस्थास्वित्यनेनेनाऽपि कालभावभेदभिन्नः प्राणातिपात उपात्तो द्रष्टव्यः**—अर्थात् सव्वत्थ का अर्थ है—सर्वत्र यानी सब काल मे, सभी अवस्थाओ मे प्राणातिपात नही करना चाहिए, यह कहकर शास्त्रकार ने काल और भाव रूप से प्राणातिपात का ग्रहण किया दिखता है। चूर्णिकार इसके बदले **'सव्वत्थ विरतिं विज्जं'** पाठान्तर मानकर व्याख्या करते है—**'सव्वत्थ—सर्वत्र विज्ज—विद्वान, सर्वत्र-विरतिं—सर्वविरति विद्वान् 'कुर्याद' इति वाक्यशेष**—अर्थात् विज्ज—विद्वान् सर्वत्र अथवा सर्वत्रविरति—सर्वविरति, 'कुर्याद्' यह वाक्य शेष है, अर्थ होता है—करे। **समाहिते**—समाधि प्राप्त।[33]

।। चतुर्थ उद्देशक समाप्त ।।

।। उपसर्ग परिज्ञा : तृतीय अध्ययन सम्पूर्ण ।।

---

३३ (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १००, १०१ का सार

(ख) सूयगडग चूर्णि (मू० पा० टि०) पृ ४३, ४४

स्त्रीपरिज्ञा : चतुर्थ अध्ययन

प्राथमिक

- ☐ सूत्रकृताग सूत्र (प्र० श्रु०) के चतुर्थ अध्ययन का नाम 'स्त्रीपरिज्ञा' है।

- ☐ स्त्री शब्द के निक्षेप की दृष्टि से अनेक अर्थ होते है। नाम स्त्री और स्थापना स्त्री प्रसिद्ध है। द्रव्य स्त्री दो प्रकार की हैं--आगमत और नोआगमत:। जो स्त्री पद के अर्थ को जानता है किन्तु उसके उपयोग से रहित है, वह आगम-द्रव्यस्त्री है। नोआगम-द्रव्यस्त्री के तीन भेद है—ज्ञशरीर-द्रव्यस्त्री, भव्य शरीर द्रव्यस्त्री और ज्ञशरीर भव्यशरीर-व्यतिरिक्त-द्रव्यस्त्री। इनमे से ज्ञशरीर-भव्यशरीर-तद्व्यतिरिक्त द्रव्यस्त्री के तीन प्रकार हैं—(१) एक भविका (जो जीव एक भव के बाद ही स्त्री शरीर को प्राप्त करने वाला हो) (२) बद्धायुष्का (जिसने स्त्री की आयु बाध ली हो) और (३) अभिमुख-नाम-गोत्रा (जिस जीव के स्त्रीनाम-गोत्र अभिमुख हो)।

- ☐ इसी तरह चिह्नस्त्री, वेदस्त्री और अभिलापस्त्री आदि भी द्रव्यस्त्री के प्रकार है। जो चिह्नमात्र से स्त्री है, अथवा स्त्री के स्तन आदि अगोपाग तथा स्त्री की तरह की वेशभूषा आदि धारण करने वाला जीव है वह चिह्नस्त्री है। अथवा जिस महान् आत्मा का स्त्रीवेद नष्ट हो गया है, इसलिए जो (छद्मस्थ, केवली या अन्यजीव) केवल स्त्रीवेष धारण करता है, वह भी चिह्नस्त्री है। जिसमे पुरुष को भोगने की अभिलाषारूप स्त्रीवेद का उदय हो, उसे वेदस्त्री कहते है। स्त्रीलिंग का अभिलापक (वाचक) शब्द अभिलाप स्त्री है। जैसे—माला, सीता, पद्मिनी आदि।

- ☐ भावस्त्री दो प्रकार की होती है—आगमत , नो-आगमत । जो स्त्री पदार्थ को जानता हुआ उसमे उपयोग रखता है वह आगमत भावस्त्री है। जो स्त्रीवेदरूप वस्तु मे उपयोग रखता है, अथवा स्त्रीवेदोदय प्राप्त कर्मों में उपयोग रखता है—स्त्रीवेदनीय कर्मों का अनुभव करता है, वह नो-आगमत. भावस्त्री है।

- ☐ प्रस्तुत अध्ययन मे चिह्नस्त्री, वेदस्त्री आदि द्रव्यस्त्री सम्बन्धी अर्थ ही अभिष्ट है।

- ☐ परिज्ञा का भावार्थ है—तत्सम्बन्धी सभी पहलुओ से ज्ञान प्राप्त करना। परिज्ञा के शास्त्रीय दृष्टि से दो अर्थ फलित होते है—ज्ञपरिज्ञा द्वारा वस्तु तत्त्व का यथार्थ परिज्ञान और प्रत्याख्यान परिज्ञा द्वारा उसके प्रति आसक्ति, मोह, रागद्वेषादि का परित्याग करना।

☐ **'स्त्रीपरिज्ञा'** का विशिष्ट अर्थ हुआ—स्त्री के स्वरूप, स्वभाव आदि का परिज्ञान और उसके प्रति आसक्ति, मोह आदि के परित्याग का जिस अध्ययन मे वर्णन है, वह स्त्रीपरिज्ञा अध्ययन है ।

☐ स्त्रीसगजनित उपसर्ग किस-किस प्रकार से साधुओ पर आता है ? साधुओ को उक्त उपसर्ग से कैसे बचना चाहिए ? इत्यादि परिज्ञान कराना इस अध्ययन का उद्देश्य है ।[1]

☐ स्त्रीपरिज्ञा अध्ययन के दो उद्देशक है । प्रथम उद्देशक मे स्त्रीजन्य उपसर्ग के सन्दर्भ मे यह बताया गया है कि स्त्रियो के साथ ससर्ग रखने, उनके साथ चारित्र भ्रष्ट करने वाली बाते करने तथा उनके कामोत्तेजक अगोपागो को विकार भाव से देखने आदि से मन्दपराक्रमी साधु शीलभ्रष्ट हो जाता है । तनिक-सी असावधानी रखने पर श्रमणत्व का विनाश हो सकता है, वह साधु दीक्षा तक को छोड सकता है । प्रथम उद्देशक मे ३१ गाथाएं है ।

☐ द्वितीय उद्देशक मे बताया गया है कि शीलभ्रष्ट साधु को स्वपक्ष और परपक्ष की ओर से कैसे-कैसे अपमान, तिरस्कार आदि दु खो के प्रसग आते है ? शीलभग से हुए अशुभ कर्मबन्ध के कारण अगले जन्मो मे उसे दीर्घकाल तक ससार परिभ्रमण करना पडता है । विचित्र छलनापूर्ण मनोवृत्ति वाली स्त्रियो द्वारा अतीव बुद्धिमान् प्रचण्ड शूरवीर एव महातपस्वी कैसे-कैसे चक्कर मे फँसा लिये जाते है, यह दृष्टान्तपूर्वक समझाया गया है । द्वितीय उद्देशक मे २२ गाथाएँ हैं ।[2]

☐ इस अध्ययन मे स्त्रियो को अविश्वसनीय, कपट की खान आदि दुर्गुणो से युक्त बताया गया है, वह मात्र पुरुष को जागृत और काम विरक्त करने की दृष्टि से है, वहाँ स्त्रियो की निन्दा करने की दृष्टि कतई नही है, विशेषत श्रमण को सावधान करने की दृष्टि से ऐसा बताया गया है । वास्तव मे पुरुष की भ्रष्टता का मुख्य कारण तो उसकी स्वय की काम-वासना है, उस वासना के उत्तेजित होने मे स्त्री निमित्त कारण बन जाती है । इसलिए **'स्त्रीपरिज्ञा'** का तात्पर्य स्त्री-ससर्ग निमित्तक उपसर्ग की परिज्ञा समझना चाहिए ।[3]

☐ इसी कारण निर्युक्तिकार और वृत्तिकार इस तथ्य को स्वीकार करते है- स्त्रियो के ससर्ग से जितने दोष पुरुष मे उत्पन्न होते है, प्राय उतने ही दोष पुरुषो के ससर्ग से स्त्री मे उत्पन्न हो सकते है । अत वैराग्यमार्ग मे स्थित श्रमणो को स्त्री-ससर्ग से सावधान रहने की तरह दीक्षित साध्वियों को भी पुरुष-ससर्ग से सावधान (अप्रमत्त) रहना चाहिए ।

---

१ (क) सूत्रकृताग निर्युक्ति गाथा ५६
(ख) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १०२

२ (क) सूत्रकृताग निर्युक्ति गाथा ५८
(ख) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १०२

३ जैन साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग १, पृ० १४५

☐ प्रस्तुत अध्ययन में स्त्री-संसर्ग से पुरुष साधक में होने वाले दोषों के समान ही पुरुष के संसर्ग से स्त्री में होने वाले दोष भी बताये गये है, तथापि इसका नाम 'पुरुष-परिज्ञा' न रखकर 'स्त्री-परिज्ञा' इसलिए रखा गया है कि अधिकतर दोष स्त्री संसर्ग से ही पैदा होते हैं।[४] तथा इसके प्रवक्ता पुरुष हैं, यह भी एक कारण हो सकता है।

☐ तथापि निर्युक्तिकार ने स्त्री शब्द के निक्षेप की तरह 'पुरुष' के भी नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, प्रजनन, कर्म, भोग, गुण और भाव की दृष्टि से १० निक्षेप बताये हैं, जिन्हे पुरुषपरिज्ञा की दृष्टि से समझ लेना चाहिए।[५]

☐ यह अध्ययन सूत्रगाथा २४७ से प्रारम्भ होकर सूत्रगाथा २९९ पर समाप्त होता है।[६]

☐☐

४. (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा ६३
 (ख) सूत्रकृतांग शीलाकवृत्ति, पत्रांक १०४
५. (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा ५७
 (ख) सूत्रकृतांग शीलाकवृत्ति पत्रांक १०२
६. सूयगडंग सुत्त (मू० पा० टिप्पण) पृ० ४५ से ५३ तक

'इत्थीपरिण्णा'-चउत्थं अज्झयणं

पढमो उद्देसओ

स्त्रीसंगरूप उपसर्ग : विविध रूप : सावधानी की प्रेरणाएँ

२४७. जे मायरं च पियरं च, विप्पजहाय पुव्वसयोग ।
एगे सहिते चरिस्सामि, आरतमेहुणे विवित्तेसी ।।१।।

२४८. सुहुमेण तं परक्कम्म, छन्नपदेण इत्थिओ मदा ।
उवायं पि ताओ जाणिसु, जह लिस्सति भिक्खुणो एगे ।।२।।

२४९. पासे भिस निसीयति, अभिक्खणं पोसवत्थ परिहिंति ।
काय अहे वि दसेंति, बाहुमुद्धट्टु कक्खमणुवज्जे ।।३।।

२५०. सयणा-ऽऽसणेण जोग्गेण, इत्थीओ एगया निमतेंति ।
एताणि चे सेव जाणे, पासाणि विरूवरूवाणि ।।४।।

२५१. नो तासु चक्खु सधेज्जा, नो वि य साहस समभिजाणे ।
नो सद्धिय पि विहरेज्जा, एवमप्पा सुरक्खिओ होइ ।।५।।

२५२. आमतिय ओसवियं वा, भिक्खु आयसा निमतेंति ।
एताणि चेव से जाणे, सद्दाणि विरूवरूवाणि ।।६।।

२५३. मणबधणेहिं, णेगेहिं, कलुणविणीयमुवगसित्ताण ।
अदु मजुलाइ भासंति, आणवयति भिन्नकहाहि ।।७।।

२५४. सीह जहा व कुणिमेणं, णिब्भयमेगचरं पासेण ।
एवित्थिया उ बंधंति, सवुडं एगतियमणगार ।।८।।

२५५. अह तत्थ पुणो नमयति, रहकारु व्व णेमि आणुपुव्वीए ।
बद्धे मिए व पासेणं, फंदंते वि ण मुच्चती ताहे ।।९।।

२५६. अह सेऽणुतप्पती पच्छा, भोच्चा पायसं व विसमिस्सं ।
एवं विवेगमायाए, संवासो न कप्पती दविए ।।१०।।

२५७. तम्हा उ वज्जए इत्थी, विसलित्तं व कंटगं णच्चा ।
ओए कुलाणि वसवत्ती, आघाए ण से वि णिग्गंथे ।।११।।

२५८. जे एयं उछं अणुगिद्धा, अण्णयरा हु ते कुसीलाणं ।
सुतवस्सिए वि से भिक्खू, णो विहरे सह णमित्थीसु ।।१२।।

२५९. अवि धूयराहिं सुण्हाहिं, धातीहिं अदुव दासीहिं ।
महतीहिं वा कुमारीहिं, संथवं से णेव कुज्जा अणगारे ।।१३।।

२६०. अदु णातिणं व सुहिणं वा, अप्पियं दट्ठु एगता होति ।
गिद्धा सत्ता कामेहिं, रक्खण-पोसणे मणुस्सोऽसि ।।१४।।

२६१. समणं पि दट्ठुदासीणं, तत्थ वि ताव एगे कुप्पंति ।
अदुवा भोयणेहिं णत्थेहिं, इत्थीदोससंकिणो होंति ।।१५।।

२६२. कुव्वंति संथवं ताहिं, पब्भट्ठा समाहिजोगेहिं ।
तम्हा समणा ! ण समेंति, आतहिताय सण्णिसेज्जाओ ।।१६।।

२६३. बहवे गिहाइं अवहट्टु, मिस्सीभावं पत्थुता एगे ।
धुवमग्गमेव पवदंति, वायावीरियं कुसीलाणं ।।१७।।

२६४. सुद्धं रवति परिसाए, अह रहस्सम्मि दुक्कडं करेंति ।
जाणंति य णं तहावेदा, माइल्ले महासढेऽयं ति ।।१८।।

२६५. सयं दुक्कडं च न वयइ, आइट्ठो वि पकत्थती बाले ।
वेयाणुवीइ मा कासी, चोइज्जतो गिलाइ से भुज्जो ।।१९।।

२६६. उसिया वि इत्थिपोसेसु, पुरिसा इत्थिवेदखेतण्णा ।
पण्णासमन्निता वेगे, णारीण वसं उवकसंति ।।२०।।

२६७. अवि हत्थ-पादछेदाए, अदुवा वद्धमंस उक्कंते ।
अवि तेयसाऽभितवणाइं, तच्छिय खारसिंचणाइं च ।।२१।।

२६८. अदु कण्ण-णासियाछेज्जं, कंठच्छेदणं तितिक्खंति ।
इति एत्थ पावसंतत्ता, न य बेंति पुणो न काहिं ति ।।२२।।

२६९. सुतमेतमेवमेगेसिं, इत्थीवेदे वि हु सुअक्खायं ।
एवं पि ता वदित्ताणं, अदुवा कम्मुणा अवकरेंति ।।२३।।

२७०. अन्नं मणेण चिंतेंति, अन्नं वायाइ कम्मुणा अन्नं ।
तम्हा ण सद्दहे भिक्खू, बहुमायाओ इत्थिओ णच्चा ।।२४।।

२७१. जुवती समणं बूया उ, चित्तलंकारवत्थगाणि परिहेत्ता ।
विरता चरिस्स हं लूहं, धम्ममाइक्ख णे भयतारो ।।२५।।

२७२. अदु साविया पवावेण, अहगं साधम्मिणी य समणाणं ।
जतुकुम्भे जहा उवज्जोती, संवासे विदू वि सीएज्जा ।।२६।।

२७३. जतुकुम्भे जोतिमुवगूढे, आसुऽभितत्ते णासमुपयाति ।
एवित्थियाहिं अणगारा, सवासेण णासमुवयंति ।।२७।।

२७४. कुव्वंति पावगं कम्मं, पुट्ठा वेगे एवमाहंसु ।
नाहं करेमि पावं ति, अंकेसाइणी ममेस त्ति ।।२८।।

२७५. बालस्स मंदयं बितियं, जं च कडं अवजाणई भुज्जो ।
दुगुणं करेइ से पावं, पूयणकामए विसण्णेसी ।।२९।।

२७६. संलोकणिज्जमणगारं, आयगतं णिमंतणेणाऽऽहंसु ।
वत्थं व ताति ! पातं वा, अन्नं पाणगं पडिग्गाहे ।।३०।।

२७७. णीवारमेयं बुज्झेज्जा, णो इच्छे अगारमागतुं ।
बद्धे य विसयपासेहिं, मोहमागच्छती पुणो मंदे ।।३१।। त्ति बेमि ।।

२४७ जो पुरुष (इस भावना से दीक्षा ग्रहण करता है कि मै) "माता-पिता तथा समस्त पूर्व सयोग (पूर्व सम्बन्ध) का त्याग करके, मैथुन (सेवन) से विरत होकर तथा अकेला ज्ञान-दर्शन-चारित्र से युक्त (सहित) रहता हुआ विविक्त (स्त्री, पशु एव नपु सक रहित) स्थानो मे विचरण करूँगा ।"

२४८ उस साधु के निकट आकर हिताहितविवेकरहित स्त्रियाँ छल से, अथवा गूढार्थ वाले पदो (छन्न शब्दो, पहेली व काव्य) से उसे (शीलभ्रष्ट करने का प्रयत्न करती है ।) वे स्त्रियाँ वह उपाय भी जानती है, जिससे कई साधु उनका सग कर लेते हैं ।

२४९ वे साधु के पास बहुत अधिक बैठती है, बार-बार कामवासना-पोषक सुन्दर वस्त्र पहनती है, शरीर के अधोभाग (जाघ आदि) को भी (साधु को कामोत्तेजित करने हेतु) दिखाती है, तथा बाहे ऊँची करके काख (दिखाती हुई साधु के) सामने से जाती हैं ।

२५० कभी (वे चालाक) स्त्रियाँ (उपभोग करने) योग्य शयन, आसन आदि (सुन्दर पलग, शय्या, कुर्सी या आराम कुर्सी आदि) का उपभोग करने के लिए साधु को (एकान्त मे) आमन्त्रित करती हैं। वह (परमार्थदर्शी विवेकी) साधु इन (सब बातो) को कामजाल मे फँसाने के नाना प्रकार के बन्धन समझे।

२५१. साधु उन स्त्रियों पर आँख न गडाए (मिलाए) न उनके साथ कुकर्म करने का साहस भी स्वीकार करे, न ही उनके साथ-साथ (ग्राम-नगर आदि मे) विहार करे। इस प्रकार (ऐसा करने पर) साधु की आत्मा सुरक्षित होती है।

२५२. विलासिनी स्त्रियाँ साधु को सकेत करके (अर्थात्—मैं अमुक समय आपके पास आऊँगी, इत्यादि प्रकार से) आमन्त्रित करके तथा (अनेक प्रकार के वार्तालापो से) विश्वास दिला कर अपने साथ सम्भोग करने के लिए निमन्त्रित—प्रार्थना करती है। अत. वह (विवेकी साधु) (स्त्री सम्बन्धी) इन सब शब्दो—बातो को नाना प्रकार के पाशबन्धन समझे।

२५३ चालाक नारियाँ साधु के मन को बाँधने वाले (मनोमोहक-चित्ताकर्षक) अनेक उपायो के द्वारा तथा करुणोत्पादक वाक्य और विनीत भाव से साधु के समीप आकर मधुर-मधुर सुन्दर बोलती है, और काम सम्बन्धी बातो से साधु को अपने साथ कुकर्म करने की आज्ञा (अनुमति) दे देती है।

२५४ जैसे वन मे निर्भय और अकेले विचरण करने वाले सिह को मास का लोभ देकर सिह पकडने वाले लोग पाश से बाँध लेते है, इसी तरह मन-वचन-काय से सवृत-गुप्त रहने वाले किसी-किसी शान्त साधु को स्त्रियाँ अपने मोहपाश मे बाँध लेती है।

२५५ रथकार जैसे रथ की नेमि चक्र के बाहर लगने वाली पुट्ठी को क्रमश नमा (झुका) लेता है, इसी तरह स्त्रियाँ साधु को अपने वश मे करने के पश्चात् अपने अभीष्ट (मनचाहे) अर्थ मे क्रमश झुका लेती है। मृग की तरह पाश मे बँधा हुआ साधु (पाश से छूटने के लिए) कूद-फाँद करता हुआ भी उस (पाश) से छूट नही पाता।

२५६ जैसे विषमिश्रित खीर को खाकर मनुष्य पश्चात्ताप करता है, वैसे ही स्त्री के वश मे होने के पश्चात् वह साधु पश्चात्ताप करता है। अत. मुक्तिगमन-योग्य (द्रव्य) साधु को स्त्रियो के साथ सवास (एक स्थान मे निवास) या सहवास—ससर्ग करना उचित—कल्पनीय नही है।

२५७ स्त्रियो को विष से लिप्त काटे के समान समझ कर साधु स्त्रीससर्ग से दूर रहे। स्त्री के वश मे रहने वाला जो साधक गृहस्थो के घरो मे अकेला जाकर (अकेली स्त्री को) धर्मकथा (उपदेश) करता है, वह भी 'निर्ग्रन्थ' नही है।

२५८ जो पुरुष (साधक) इस (स्त्रीससर्गरूपी) झूठन या त्याज्य निन्द्यकर्म मे अत्यन्त आसक्त है, वह अवश्य ही कुशीलो (पार्श्वस्थ, अवसन्न आदि चारित्रभ्रष्टो) मे से कोई एक है। इसलिए वह साधु चाहे उत्तम तपस्वी भी हो, तो भी स्त्रियो के साथ विहार न करे।

२५९ अत: अपनी पुत्रियो, पुत्रवधुओ, धाय-माताओ अथवा दासियो, या बडी उम्र की स्त्रियो अथवा कु आरी कन्याओ के साथ भी वह अनगार सम्पर्क—परिचय न करे।

२६०. किसी समय (एकान्त स्थान मे स्त्री के साथ बैठे हुए साधु को) देखकर (उस स्त्री के) ज्ञाति (स्व) जनो अथवा सुहृदो—हितैषियो को अप्रिय लगता है। (वे कहते है—) जैसे दूसरे प्राणी काम-भोगो मे गृद्ध-आसक्त हैं (वैसे ही यह साधु भी है।) (वे साधु से कहते है—) 'तुम इस (स्त्री) का रक्षण-पोषण करो, (क्योकि) तुम इसके पुरुष हो।'

२६१. (रागद्वेषवर्जित) उदासीन तपस्वी (श्रमण) साधु को भी स्त्री के साथ एकान्त मे बातचीत करते या बैठे देखकर कोई-कोई व्यक्ति क्रुद्ध हो उठते है। अथवा नाना प्रकार के स्वादिष्ट भोजन साधु के लिए बनाकर रखते या देते देखकर वे उस स्त्री के प्रति दोष की शका करने लगते हैं (कि यह उस साधु से अनुचित सबध रखती है)।

२६२. समाधियोगो (धर्मध्यान) से भ्रष्ट पुरुष ही उन स्त्रियो के साथ ससर्ग करते है। इसलिए श्रमण आत्महित के लिए स्त्रियो के निवास स्थान (निषद्या) पर नही जाते।

२६३ बहुत से लोग घर से निकल कर प्रव्रजित होकर भी मिश्रभाव-अर्थात्—कुछ गृहस्थ का और कुछ साधु का, यो मिला-जुला आचार अपना लेते है। इसे वे मोक्ष का मार्ग ही कहते है। (सच है) कुशीलो के वचन मे ही शक्ति (वीर्य) होती है, (कार्य मे नही)।

२६४ वह (कुशील पुरुष-साधक) सभा मे (स्वय को) शुद्ध कहता है, परन्तु एकान्त मे दुष्कृत (पापकर्म) करता है। तथाविद् (उसकी अगचेष्टाओं-आचार-विचारो एव व्यवहारो को जानने वाले व्यक्ति) उसे जान लेते है कि यह मायावी और महाधूर्त है।

२६५ बाल (अज्ञ) साधक स्वय अपने दुष्कृत-पाप को नही कहता, तथा गुरु आदि द्वारा उसे अपने पाप को प्रकट करने का आदेश दिये जाने पर भी वह अपनी बडाई करने लगता है। "तुम मैथुन की अभिलाषा (पुरुषवेदोदय के अनुकूल कामभोग की इच्छा) मत करो", इस प्रकार (आचार्य आदि के द्वारा) बार-बार प्रेरित किये जाने पर वह कुशील ग्लानि को प्राप्त हो (मुर्झा) जाता है (झेंप जाता है या नाराज हो जाता है)।

२६६ जो पुरुष स्त्रियो की पोषक प्रवृत्तियो मे प्रवृत्त रह चुके है, अतएव स्त्रियो के कारण होने वाले खेदो के ज्ञाता (अनुभवी) है एव प्रज्ञा (औत्पात्तिकी आदि बुद्धियो) से सम्पन्न (युक्त) है, ऐसे भी कई लोग स्त्रियो के वश मे हो जाते है।

२६७. (इस लोक मे परस्त्री-सेवन के दण्ड के रूप मे) उसके हाथ-पैर भी छेदे (काटे) जा सकते है, अथवा उसकी चमडी और मास भी उखेडा(काटा) जा सकता है, अथवा उसे आग मे डालकर जलाया जाना भी सम्भव है, और उसका अग छीलकर उस पर क्षार (नमक आदि) का पानी भी छिडका जा सकता है।

२६८ पाप-सन्तप्त (पाप की आग मे जलते हुए) पुरुष इस लोक मे (इस प्रकार से) कान और नाक का छेदन एव कण्ठ का छेदन (गला काटा जाना) तो सहन कर लेते है, परन्तु यह नही कहते कि हम अब फिर ऐसे पाप नही करेगे।

२६९ 'स्त्रीससर्ग बहुत बुरा होता है', यह हमने सुना है, कई अनुभवियो का भी यही (कथन) कहता है। स्त्रीवेद (वशिक काम शास्त्र) का भी यह कहना है कि 'अब मैं ऐसा नही करूँगी', यह कह कर भी वे (काम कला-निपुण स्त्रियाँ) कर्म से अपकृत्य करती है।

२७०. स्त्रियाँ मन से और कुछ सोचती है, वाणी से दूसरी बात बोलती हैं और कर्म से और ही करती हैं। इसलिए स्त्रियो को बहुत माया (कपट) वाली जानकर उन पर विश्वास (श्रद्धा) न करे।

२७१. कोई युवती विचित्र आभूषण और वस्त्र पहन कर श्रमण से यो कहे कि—"हे कल्याण करने वाले या ससार से पार करने वाले, अथवा हे भय से बचाने वाले साधो ! मैं विरत (ससार से विरक्त) हो गई हूँ, मैं अब सयम पालन करूँगी, आप मुझे धर्मोपदेश दीजिए।"

२७२ अथवा श्राविका होने के बहाने से स्त्री साधु के निकट आकर कहती है—"मैं श्रमणो की साधर्मिणी हूँ।" (किन्तु) जैसे अग्नि के पास लाख का घडा पिघल जाता है, वैसे ही विद्वान् पुरुष भी स्त्री के साथ रहने से शिथिलाचारी हो जाते हैं।

२७३ जैसे अग्नि को छूता हुआ लाख का घडा शीघ्र ही तप्त होकर नाश को प्राप्त (नष्ट) हो जाता है, इसी तरह स्त्रियो के साथ सवास (ससर्ग) से अनगार पुरुष (भी) शीघ्र ही नष्ट (सयमभ्रष्ट) हो जाते हैं।

२७४ कई भ्रष्टाचारी पापकर्म करते है, किन्तु आचार्य आदि के द्वारा पूछे जाने पर यो कहते हैं कि मै पापकर्म नही करता, किन्तु 'यह स्त्री (बाल्यकाल मे) मेरे अक मे सोती थी।'

२७५ उस मूर्ख साधक की दूसरी मूढता यह है कि वह पुन -पुन किये हुए पापकर्म को, 'नही किया', कहता है। अत वह दुगुना पाप करता है। वह जगत् मे अपनी पूजा चाहता है, किन्तु असयम की इच्छा करता है।

२७६ दिखने मे सुन्दर आत्मज्ञानी अनगार को स्त्रियाँ निमत्रण देती हुई कहती हैं—हे भवसागर से त्राता (रक्षा करने वाले) साधो ! आप मेरे यहाँ से वस्त्र, पात्र, अन्न (आहार) या पान (पेय पदार्थ) स्वीकार (ग्रहण) करे।

२७७ इस प्रकार के प्रलोभन को साधु, सूअर को फँसाने वाले चावल के दाने के समान समझे। ऐसी स्त्रियो की प्रार्थना पर वह (उनके) घर जाने की इच्छा न करे। (किन्तु) विषय-पाशो से बधा हुआ मूर्ख साधक पुन पुन मोह को प्राप्त हो जाता है। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—स्त्रीसंगरूप उपसर्ग : विविध रूप, दुष्परिणाम एवं कर्त्तव्यनिर्देश—प्रस्तुत उद्देशक की ३१ सूत्रगाथाओं (सू० गा० २४७ से २७७ तक) मे स्त्रीससर्गरूप के विविध रूपो का परिचय देते हुए शास्त्रकार ने बीच-बीच मे स्त्रीसग से भ्रष्ट साधक की अवदशा, स्त्रीससर्गभ्रष्टता के दुष्परिणामो एव इस उपसर्ग से बचने के कर्त्तव्यो का निरूपण भी किया गया है।[1]

---

[1] सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति (भाषानुवाद सहित), भाग २, पृ० १०९ से १४७ तक का साराश

स्त्रीसंगरूप उपसर्ग एक : रूप अनेक—वास्तव में साधु मन मे जब कामवासना के मलिन विचारो को घुलाता रहता है, तब वह किसी भी स्त्री के हावभाव, मधुर आलाप, नम्र वचन, चाल-ढाल या अगोपाग को देखकर उसके प्रति कामासक्त हो सकता है। फिर भी साधु की भूमिका इससे काफी ऊँची है और शास्त्रकार इस अध्ययन के प्रारम्भ मे सर्वप्रथम उसकी उच्च भूमिका का स्मरण कराते है—'जब कोई व्यक्ति घर-बार, माता-पिता आदि स्वजनो, कुटुम्बीजनो, धन-सम्पत्ति तथा समस्त सासारिक वस्तुओ से पहले का मोहसम्बन्ध छोडकर एकाकी बन मुनिधर्म मे दीक्षित होता है, तब यही प्रतिज्ञा करता है कि मै आज से सम्यग्दर्शन सहित सम्यग्ज्ञानपूर्वक सम्यक्चारित्र (पचमहाव्रत पचसमिति, त्रिगुप्ति आदि) मे अथवा स्व-(आत्म) हित मे विचरण करूँगा। तब से वह समस्त प्रकार के मैथुन से मन-वचन-काया से विरत हो जाता है और विविक्त (स्त्री-पशु-नपु सकससर्गरहित) स्थान की गवेषणा करता है, अथवा विविक्त-पवित्र साधुओ के मार्ग के अन्वेषण मे तत्पर रहता है, या कर्मों से विविक्त-रहित मोक्ष का अभिलाषी रहता है। फिर भी उक्त ब्रह्मचर्यपरायण साधु के समक्ष अत्यन्त सूक्ष्म रूप मे कई विवेकमूढ नारियाँ आकर उसे नाना रूप से शीलभ्रष्ट कर सकती है। साधु को सहसा उस स्त्रीजन्य सूक्ष्म उपसर्ग का पता ही नही लगता, वह ठगा जाता है, उक्त उपसर्ग के प्रवाह मे बह जाता है। अत शास्त्रकार श्रमण को सावधान करने और उस उपसर्ग मे फँसने से बचाने की दृष्टि से स्त्रीजन्य उपसर्ग के विभिन्न रूपो को यहाँ प्रस्तुत करते है।[2]

१. **प्रथम रूप**—विवेकमूढ स्त्रियाँ साधु के पास आकर बैठ जाती हैं, और इधर-उधर के पुराने गार्हस्थ्य या दाम्पत्य सस्मरण याद दिलाकर साधक को शीलभ्रष्ट करने का प्रयत्न करती हैं। जैसे नाना प्रकार से छल करने मे निपुण, कामवासना पैदा करने मे चतुर, मागधवेश्या आदि नारियो ने कूलबालुक जैसे तपस्वी रत्नो को शीलभ्रष्ट कर दिया था। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—**'सुहुमेण तं परिक्कम्म।'** अर्थात् अन्य कामुक स्त्रियाँ भाई, पुत्र, स्वजन या अन्य सासारिक रिश्ते के बहाने से साधु के पास आकर धीरे-धीरे उससे अनुचित अनैतिक सम्बन्ध कर लेती है। यह स्त्रीजन्य उपसर्ग का प्रथम रूप है।

२. **दूसरा रूप**—कई कामुक रमणियाँ साधु को शीलभ्रष्ट करने हेतु गूढ अर्थ वाले शब्दो का प्रयोग करके अपने मनोभाव जताकर फँसा लेती है। वे इस प्रकार द्व्यर्थक श्लोक, कविता, पहेली, भजन या गायन साधु के पास आकर सुनाती है और उसी के माध्यम से अपना कामुक मनोभाव प्रकट कर देती हैं। अपरिपक्व साधक उसके मोहजाल मे फँसकर अपने सयम से हाथ धो बैठता है।[3]

---

२ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १०४ पर से।

३ वृत्तिकार इसी प्रकार का एक गूढार्थक श्लोक उदाहरण रूप मे प्रस्तुत करते हैं—

"**काले** प्रसुप्तस्य जनार्दनस्य, मेघान्धकारासु च शर्वरीसु।
मिथ्या न माषेऽहविशालनेत्रा, ते प्रत्यया ये प्रथमाक्षरेषु॥"

इस श्लोक के चारो चरणो के प्रथम अक्षरो की योजना करने से **'कामेमि ते'** (मैं तुम्हे चाहती हूँ) यह वाक्य बन जाता है।

इसके अतिरिक्त गुप्त नाम के द्वारा या गूढार्थक मधुर वार्तालाप करके अपने जल मे साधु को फसा लेती हैं। इसलिए शास्त्रकार कहते हैं—**'छन्नपए।'**

३ **तृतीय रूप**—प्राय कामुक रमणियाँ साधु को अपने कामजाल मे फसाने के अनेक तरीके जानती है, जिसमे भोलेभाले साधक वेदमोहनीय कर्मोदयवश फसकर उनमे आसक्त हो जाते है। शास्त्रकार यही बात कहते है—**उवायं पि ताउ लिस्संति भिक्खुणो।** कामुक स्त्रियो द्वारा साधु को जाल मे फसाये जाने के कुछ तरीके सूत्रगाथा २४९ मे बताये हैं—**पासे भिसं " कक्खमणुव्वज्जे।** अर्थात्—(१) वे साधु के पास अत्यन्त सटकर कोई गुप्त बात कहने के बहाने बैठ जाती है, या बहुत अधिक देर तक बैठती है, (२) बारबार कामोत्तेजक वस्त्रो को ढीला होने का बहाना बना कर पहनती है, (३) शरीर के अधोभाग (जाघ, नाभि, टांग, नितम्ब आदि) दिखाती है, (४) बाँहे ऊंची करके काँख को दिखाती हुई सामने से जाती हैं, ताकि साधु उसे देखकर काम-विह्वल हो जाए। इसके अतिरिक्त हाथ से इशारे करना, आँखे मटकाना, स्तन दिखाना, कटाक्ष करना आदि तो कामुक कामिनियो के कामजाल मे फसाने के सामान्य सूत्र है।

४ **चौथा रूप**— कभी-कभी ऐसी चालाक नारियाँ कामजाल मे फँसाने के लिए साधु को अत्यन्त भावभक्तिपूर्वक किसी को दर्शन देने आदि के बहाने से पधारने की प्रार्थना करती है, या घर पर एकान्त कमरे मे अनुनय-विनय करके ले जाती है। जब अविवेकी साधु उसकी प्रार्थना या मनुहार पर उसके घर पर या एकान्त मे चला जाता है, तब वे साधु को शीलभ्रष्ट करने हेतु कहती हैं—जरा इस पलग या गद्दे पर या शय्या पर विराजिए। इसमे कोई सजीव पदार्थ नही है, प्रासुक है। अच्छा, और कुछ नही तो, कम से कम इस आराम-कुर्सी पर तो बैठ जाइए। इतनी दूर से पधारे है तो जरा इस गलीचे पर बैठकर सुस्ता लीजिए। भोला साधु स्त्री के वाग्जाल मे फँस जाता है। यही बात शास्त्रकार कहते है—**सयणासणेण जोग्गेण णिमंतंति।**

५ **पाँचवा रूप**—कई कामलोलुप कामिनियाँ साधु को अपने कामजाल मे फँसाने के लिए पहले साधु को इशारा करती है, या वचन देती है कि 'मै अमुक समय मे आपके पास आऊँगी, आप भी वहाँ तैयार रहना।' इस प्रकार का आमत्रण देकर फिर वे साधु को अनेक विश्वसनीय वचनो से विश्वास दिलाती है, ताकि वह सकोच छोड दे। वे साधु का भय एव सकोच मिटाने के लिए झूठमूठ कहती है—'मै अपने पति से पूछकर, अपने पति को भोजन कराकर, उनके पैर धोकर तथा उन्हे सुलाकर आपके पास आई हूँ। मेरा यह तन, मन, धन, आभूषण आदि सब आपका है। आप शरीर का मनचाहा उपभोग कीजिए, मै तो आपके चरणो की दासी हूँ। यो विविध वाग्जाल बिछाकर साधु को विश्वस्त करके रमणियाँ अपने साथ रमण करने के लिए प्रार्थना करती है। शास्त्रकार कहते है—**आमंतिय उस्सविया आयसा निमंतंति।**

६ **छठा रूप**—कई चतुर ललनाएँ साधु को अपने साथ समागम के हेतु मनाने के लिए मन को काम-पाश मे बाँध देने वाले विविध आकर्षणकारी दृश्यो, सगीतो, रसो, सुगन्धियो और गुदगुदाने वाले कोमल स्पर्शो से लुभाकर अपनी ओर खीचती है। इसके लिए वे मधुर-मधुर वचन बोलती है, आकर्षक शब्दो से सम्बोधित करती है, कभी साधु की ओर स्नेहपूर्ण दृष्टि से कटाक्ष फेंककर अथवा आँखे या

मु ह मटकाकर देखती है, कभी अपने स्तन, नाभि, कमर, जघा आदि अगो को दिखाती है, कभी मनोहर हावभाव, अभिनय या अगविन्यास करती है, जिससे कि साधु उस पर मुग्ध हो जाए। कभी वे करुणा उत्पन्न करने वाले मधुर आलाप करती है—'हे प्राणनाथ ! हे करुणामय, हे जीवनाधार, हे प्राणप्रिय, हे स्वामी, हे कान्त ! हे हृदयेश्वर ! आप मुझे प्राणो से भी अधिक प्रिय है। आप ही मेरे इस तन-मन के स्वामी है, आपको देखकर ही मै जीती हूँ। आपने मुझे बहुत रुलाया, बहुत ही परीक्षा कराई, अब तो हद हो चुकी। अब मेरी बात मानकर मेरी मनोकामना पूर्ण करिये। अब भी आप मुझे नही अपनाएँगे तो मै निराधार हो जाऊँगी, मै यही सिर पछाडकर मर जाऊँगी। आपको नारी-हत्या का पाप लगेगा। आपने अस्वीकार किया तो मेरी सौगन्ध है आपको ! बस, अब तो आप मुझे अपनी चरणदासी बना ले, मै हर तरह से आपकी सेवा करू गी। निश्चिन्त होकर मेरे साथ समागम कीजिए।' इस प्रकार की करुणाजनक एव विश्वासोत्पादक मीठी-मीठी बातो से अनुनय-विनय करके साधक के हृदय मे कामवासना भडकाकर अपने साथ सहवास के लिए उसे मना लेती है। कभी वे मीठी चुटकी लेती है—'प्रियवर ! अब तो मान जाइए न ! यो कब तक रूठे रहेगे ? मुझे भी तो रूठना आता है !' कभी वे मन्द हास्य करती है —'प्राणाधार ! अब तो आपको मै जाने नही दूँगी। मुझे निराधार छोडकर कहाँ जाएँगे ?' कभी वे एकान्त मे कामवासना भडकाने वाली बाते कहकर साधु को काम-विह्वल कर देती है। वे येन-केन-प्रकारेण साधु को मोहित एव वशीभूत करके उसे अपना गुलाम बना लेती है, फिर तो वे उसे अपने साथ सहवास के लिए बाध्य कर देती है। इसी तथ्य को शास्त्रकार व्यक्त करते है—**मणबधणेहिं आणवयंति भिन्नकहाहिं।**

७. **सातवाँ रूप**—जैसे वन मे स्वच्छन्द विचरण करने वाले एकाकी एव पराक्रमी वनराज सिह को पकडने वाले चतुर शिकारी मास आदि का लोभ देकर विविध उपायो से बाध लेते है, या पिजरे मे बद कर लेते है, फिर उसे तरह-तरह की यातनाएँ देकर पालतू पशु की तरह काबू मे कर लेते है। ठीक इसी तरह कामकला चतुर कामिनियाँ मन-वचन-काया को गुप्त (सुरक्षित) रखने वाले कठोर सयमी साधु को भी पूर्वोक्त अनेकविध उपायो से अपने वश मे कर लेती है, मोहपाश मे जकड लेती है। जब वे इतने कठोर सयमी सुसवृत साधु को भी अपना पथ बदलने को विवश कर सकती है तो जिनके मन-वचन-काया सुरक्षित नही है, उनको काबू मे करने और डिगाने मे क्या देर लगती है ? इसीलिए शास्त्रकार कहते है—**सीह जहा व मुच्चए ताहे।**

८ **आठवाँ रूप**—जिस प्रकार बढई रथ के चक्र से बाहर की पुट्ठी को गोलाकार बनाकर धीरे-धीरे नमा देता है, उसी तरह साधु को अपने वश मे करके उससे अभीष्ट (मनचाहे) कार्यों की ओर मोड लेती है। कामकलादक्ष कामिनियो के मोहपाश मे एक बार बध जाने के बाद फिर चाहे जितनी उछलकूद मचाए, उससे उसी तरह नही छूट सकता, जिस तरह पाश मे बधा हुआ मृग पाश से छूटने के लिए बहुत छटपटाता है, मगर छूट नही सकता। नारी के मोहपाश का बन्धन कितना जबर्दस्त है, इसे एक कवि के शब्दो मे देखिये—

> **"बन्धनानि खलु सन्ति बहूनि, प्रेमरज्जुकृतबन्धनमन्यत्।**
> **दारुभेदनिपुणोऽपि षडङ्घ्रिर्निष्क्रियो भवति पंकजकोषे॥"**

—ससार मे बहुत से बन्धन है, परन्तु इन सब मे प्रेम (मोह) रूपी रस्सी का बन्धन निराला ही

है। कठोर काष्ठ को भेदन करने मे निपुण भौरा कमल सौरभ के प्रेम (मोह) के वशीभूत होकर उसके कोष मे ही निष्क्रिय होकर स्वय बद हो जाता है। इसी बात को शास्त्रकार कहते है—'**अह तत्थ पुणो नमयंती ण मुच्चति ताहे।**'

९. **नौवाँ रूप** –स्त्रियो के मायावी स्वभाव का वर्णन करते हुए शास्त्रकार स्त्रीजन्य उपसर्ग को समझने के लिए कहते हैं—'**अन्नं मणेण कम्मुणा अन्न।**' इसका आशय यह है कि स्त्रियाँ पाताल के उदर के समान अत्यन्त गम्भीर होती है। उन्हे समझना अत्यन्त कठिन है। वे मन से कुछ सोचती है, वचन से कुछ और ही बोलती है और शरीर से चेष्टाएँ दूसरी ही करती है, उनका कहना, सोचना और करना अलग-अलग होता है।[1]

१०. **दसवाँ रूप**—कई बार साधु को अपने कामजाल मे फँसाने के लिए कोई नवयौवना कामिनी आकर्षक वस्त्राभूषणो से सुसज्जित होकर साधु के पास आकर कहती है—'गुरुदेव! आप तो ससार-सागर में डूबते जीवो का उद्धार करने और पार लगाने वाले है। मुझे उबारिये। मै अब इस गृहपाश (बन्धन) से विरक्त हो गई हूँ। मेरा पति मेरे अनुकूल मे नही हैं, अथवा उसने मुझे छोड दिया है। अत अब मै सयम या मुनिधर्म का आचरण करूँगी। आप मुझे धर्मोपदेश दीजिए, ताकि मुझे इस दु ख का भाजन न बनना पडे।' इसी तथ्य को शास्त्रकार २७१वी सूत्रगाथा मे कहते है—**जुवती समण णे भयंतारो।**

११. **ग्यारहवाँ रूप** –मायाविनी नारी साधु को फँसाने के लिए श्राविका के रूप मे उसके पास आती है और कहती है –मै आपकी श्राविका हूँ, साधुओ की साधर्मिणी हूँ। मुझसे आप किसी बात का सकोच न करिये। जिस चीज की आवश्यकता हो मुझे कहिए। यो वह बारबार साधु के सम्पर्क मे आती है, घण्टो उसके पास बैठती है और चिकनीचुपडी बाते बनाकर वह श्राविकारूपधारी मायाविनी नारी कूलबालुक की तरह साधु को धर्मभ्रष्ट कर देती है। इसी बात को शास्त्रकार (२७२वी सूत्रगाथा मे) अभिव्यक्त करते है –**अदु साविया साधम्मिणी य समणाण।**

१२. **बारहवाँ रूप**—कई बार व्यभिचारिणी स्त्रियाँ भद्र एव सयमी साधु को अतिभक्ति का नाटक करके फसा लेती है। कई कामुक नारिया सुन्दर, सुडौल, स्वस्थ एव सुरूप आत्मज्ञानी अनगार

---

१ वृत्तिकार ने दुर्ग्राह्य स्त्री स्वभाव को समझाने के लिए एक कथा दी है—एक युवक था दत्तावैशिक। उसे अपने कामजाल मे फँसाने के लिए एक वेश्या ने अनेक उपाय किये। परन्तु दत्तावैशिक ने मन मे भी उसकी कामना नही की। यह देख वेश्या ने एक नया पासा फेंका। उसने दयनीय चेहरा बनाकर रोते-रोते युवक से कहा—'मेरा दुर्भाग्य है कि आपने इतनी प्रार्थना करने के बावजूद भी मुझे छिटका दिया। अब मुझे इस ससार मे जीकर क्या करना है? मैं अब शीघ्र ही अग्नि प्रवेश करके जल मरूँगी।' यह सुनकर दत्तावैशिक ने कहा—'स्त्रियाँ माया करके अग्निप्रवेश भी कर सकती हैं।' इस पर वेश्या ने सुरग के पूर्वद्वार के पास लकडियाँ इकट्ठी करके उन्हे जला दिया और सुरगमार्ग से अपने घर चली गई। दत्तावैशिक ने सुना तो कहा—'स्त्रियो के लिए ऐसी माया करना बाएँ हाथ का खेल है।' वह यो कह ही रहा था कि कुछ धूर्तों ने उसे विश्वास दिलाने के लिए उठाकर चिता मे फेंक दिया, फिर भी दत्तावैशिक ने विश्वास नही किया। इस प्रकार के स्त्रीसग उपसर्ग को भलीभाँति समझ लेना चाहिए।

को सभ्य तरीके से फसाने हेतु प्रार्थना करती है—ससारसागर से त्राता ! मुनिवर ! वस्त्र, पात्र, अन्न-पान आदि जिस किसी वस्तु की आपको आवश्यकता हो, आपको और कही पधारने की आवश्यकता नही । आप मेरे यहाँ पधारे । मै आपको सब कुछ दू गी ।

यदि साधु उसके वाग्जाल मे फसकर उसकी प्रार्थना स्वीकार करके बार-बार उसके यहाँ जाने-आने लगता है और वस्त्रादि स्वीकार कर लेता है तो नि सदेह वह एक दिन उस स्त्री के मोहजाल मे फस सकता है । इसीलिए शास्त्रकार २७६वी गाथा द्वारा इसे स्त्रीसगरूप उपसर्ग बताते हुए कहते है—**संलोकणिज्जमणगारं ··· पाणग पडिग्गाहे ।**

ये ही कुछ निदर्शन हैं, स्त्रीजन्य उपसर्ग के, जो इस उद्देशक मे बताये गए है । इनके सिवाय और भी अनेको रूप हो सकते है, जिनसे चारित्रनिष्ठ साधु को प्रतिक्षण सावधान रहना चाहिए ।

स्त्रीजन्य उपसर्गों से सावधान रहने की प्रेरणाएँ—इस समग्र उद्देशक मे बीच-बीच मे स्त्रीजन्य उपसर्ग के पूर्वोक्त विविध रूपो से सावधान रहने और इस उपसर्ग पर विजय पाने की विभिन्न प्रेरणाएँ शास्त्रकार ने दी है । वे प्रेरणाएँ इस प्रकार है[२]—

प्रथम प्रेरणा—शास्त्रकार ने इस उपसर्ग से बचने के लिए साधु को सर्वप्रथम प्रेरणा दी है—साधु-दीक्षा ग्रहण करते समय की हुई प्रतिज्ञा का स्मरण कराकर । प्रतिज्ञा स्मरण कराने का उद्देश्य यह है कि साधु अपनी गृहीत प्रतिज्ञा को स्मरण करके स्त्रीजन्य उपसर्ग से अपने आपको बचाए ।

इसीलिए **'जे मातर पितर ··· आरतमेहुणो विवित्तेसी'** इस गाथा द्वारा शास्त्रकार साधु को अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण कराते हुए **'उवाय पि ताओ जाणिसु जह लिस्सति भिक्खुणो एगे'** इस गाथार्ध द्वारा स्त्रीजन्य उपसर्ग से पराजित होने से बचने की प्रेरणा देते है ।

द्वितीय प्रेरणा—स्त्रियो द्वारा अग-प्रदर्शन, हावभाव, निकट आकर किसी बहाने से बैठने आदि अथवा भावभक्तिपूर्वक शय्या, आसन आदि पर बैठने के नाना प्रकार के प्रलोभनो, कामोत्तजक बातो से साधु सावधान रहे । विवेकी साधु इन सब बातो को व कामजाल मे फसाने के नाना प्रकार के बधन (पाश बन्धन) समझे और इन लुभावने फदो से अपने आपको बचाए । शास्त्रकार इनसे सावधान रहने की प्रेरणा देते हुए २५०वी सूत्रगाथा मे कहते है—**एताणि चेव से जाणे, पासाणि विरूव रूवाणि ।**

तृतीय प्रेरणा—प्राय साधु दृष्टिराग के कारण शीलभ्रष्ट होता है, अगर वह अपनी दृष्टि पर सयम रखे, स्त्री के अगो पर चलाकर अपनी नजर न डाले, उसकी दृष्टि से दृष्टि न मिलावे, उसके द्वारा कटाक्षपात आदि किये जाने पर स्वय उसकी ओर से दृष्टि हटा ले । दशवैकालिक सूत्र मे बताया गया है कि 'साधु स्त्री का भित्ती पर अकित चित्र भी न देखे, शृङ्गारादि से विभूषित नारी को भी न देखे, कदाचित् उस पर दृष्टि पड जाए तो जैसे सूर्य की ओर देखते ही दृष्टि हटा ली जाती है,

---

२ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १०४ से ११३ तक मे से ।

उसी तरह उस पर से दृष्टि हटा ले।[3] प्रयोजनवश कदाचित् स्त्री की ओर देखना पडे तो इसके लिए वृत्तिकार कहते है—

"कार्येऽपीषन् मतिमान् निरीक्षते योषिदगमस्थिरया।
अस्निग्धतया वृशाऽवज्ञया ह्यकुपितोऽपि कुपित इव॥"

अर्थात्—जरूरत पडने पर बुद्धिमान साधक स्त्री के अग की ओर जरा-सी अस्थिर (उडती) अस्निग्ध, सूखी एव अवज्ञापूर्ण दृष्टि से देखे, ताकि अकुपित होते हुए भी बाहर से कुपित-सा प्रतीत हो।

तात्पर्य यह है कि साधक टकटकी लगाकर, दृष्टि जमाकर स्त्री के रूप, लावण्य एव अगो को न देखे। यही बात स्त्रीजन्य उपसर्ग से बचने के लिए शास्त्रकार कहते है—**'नो तासु चक्खु संधेज्जा'**।

चौथी प्रेरणा—कई कामुक ललनाएँ साधु को आश्वस्त-विश्वस्त करके उसे वचनबद्ध कर लेती है। भोलाभाला साधु उनके मायाजाल मे फस जाता है। शास्त्रकार पहले से ही ऐसे अवसर पर सावधान रहने की प्रेरणा देते है—**'नो वि य साहस समभिजाणे'**। इसका आशय यह है कि साधु किसी भी मूल्य पर स्त्री के साथ अनाचार सेवन करने का साहसिक कुकर्म करना स्वीकार न करे, ऐसा कुकर्म करने के लिए हर्गिज वचनबद्ध न हो, क्योकि नरक-गमन, इहलोक-निन्दा, भयकर दण्ड आदि कुशीलसेवन के दुष्परिणामो का ज्ञाता साधु यह भलीभाति समझ ले कि स्त्री के साथ समागम करना युद्ध मे उतरने के समान जोखिम भरा दु साहस का कार्य है।

पाँचवी प्रेरणा—स्त्रीजन्य उपसर्ग से शीलभ्रष्ट होने का खतरा निम्नोक्त कारणो से भी है—(१) स्त्रियो के साथ ग्राम, नगर आदि विहार करने से, (२) उनके साथ अधिक देर तक या एकान्त मे बैठने-उठने, वार्तालाप करने आदि से। इसीलिए शास्त्रकार इस खतरे से सावधान रहने की प्रेरणा देते है—**'नो सद्धिय पि विहरेज्जा'**। 'विहार' के भ्रमण या गमन ही नही, साथ-साथ उठना-बैठना, क्रीडा करना (खेलना) आदि क्रियाएँ भी सूचित होती है। शास्त्रकार का तात्पर्य यह भी प्रतीत होता है कि स्त्रीससर्गों को हर हालत मे टालने का प्रयत्न करना चाहिए।

छठी प्रेरणा—स्त्रीजन्य उपसर्ग केवल स्त्री के द्वारा किये गए प्रलोभनो आदि से ही नही होता, कभी-कभी दुर्बलमना साधु स्वय किसी स्त्री को देखकर, पूर्वभुक्त कामभोगो का स्मरण करके या स्वय किसी स्त्री का चिन्तन करके अथवा किसी स्त्री को लुभाकर फसाने से भी होता है। ऐसी स्थिति मे, जबकि साधु स्वयमेव विचलित हो रहा हो, कौन उसे उबार सकता है? शास्त्रकार इसका समाधान देते हैं—**'एवमप्पा सुरक्खिओ होइ।'** इसका आशय यह है कि ये (पूर्वोक्त) और इनके समान अन्य कई प्रकार के कामोत्तेजक या शीलनाशक खतरे है, जिनसे साधु को स्वय बचना चाहिये। आत्महितैषी साधक को स्वय अपनी आत्मा की सुरक्षा करनी चाहिए। साधक की आत्मा स्वयमेव ही इस प्रकार से सुरक्षित हो सकती है।

---

३ 'चित्तभित्ति न निज्झाए, नारिं वा सु अलकिय।
भक्खर पिव दट्ठूण, दिट्ठि पडिसमाहरे॥' —दशवैकालिक अ० ८, गा० ५५

सातवीं प्रेरणा— जब भी कोई नारी कामुकतावश साधु के समक्ष अमुक समय पर अमुक जगह आने का वादा करे या साधु को सकेत दे, या इधर-उधर की बाते बनाकर साधु को विश्वास दिलाकर समागम के लिए मनाने लगे तो विवेकी साधु तुरन्त सम्भल जाए। वह स्त्री की उन सब बातो को नाना प्रकार के कामजाल (पाशबन्धन) समझे। वह इन सब बातो मे न आए, वाग्जाल में न फसे। साधक इस प्रकार की स्त्रियो को मोक्षमार्ग मे अर्गला के समान बाधक समझकर उनके ससर्ग से दूर रहे। स्त्रीसमागम तो दूर रहा, स्त्रीसमागम का चिन्तन भी भयकर कर्मबन्ध का कारण है। अत इन्हे प्रत्याख्यानपरिज्ञा से त्याग दे। यही प्रेरणा शास्त्रकार देते है—**एताणि चेव से जाणे सद्दाणि विरूवरूवाणि।**

आठवीं प्रेरणा—स्त्रियो की मनोज्ञ एव मीठी-मीठी बातो, चित्ताकर्षक शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि के प्रलोभनो, करुणोत्पादक वचनो अथवा विभिन्न मोहक बातो से साधु सावधान रहे। ऐसे सब प्रलोभनो या आकर्षणो को साधु कामपाश मे बाँधने के बन्धन समझे, जिस बधन मे एक बार बध जाने के बाद उससे छूटना अत्यन्त कठिन है। और फिर स्त्री के मोहपाश मे बधने के बाद मनुष्य को पश्चात्ताप के सिवाय कोई चारा नही रहता, क्योकि गृहस्थी का चलाना, निभाना और चिन्तामुक्त रहना टेढी खीर है। इसलिए साधु को समय रहते चेत जाना चाहिए। उसे मोहपाश मे बाधने और कामजाल मे फँसाने के स्त्री-प्रयुक्त सभी उपसर्गो से सावधान रहना चाहिये, स्त्रियो के ससर्गजनित मोहपाश मे कतई न बधना चाहिए। मुक्तिगमनयोग्य साधु को विवेक बुद्धि से सोचकर स्त्री-सवास या स्त्री-सग करना कथमपि उचित नही है, इसे प्रारम्भ से ही तिलाजलि दे देनी चाहिए। यही प्रेरणा २५६वी सूत्रगाथा के उत्तरार्द्ध मे शास्त्रकार देते है– **'एव विवेकमायाए सवासो न कप्पती दविए।'**

नौवीं प्रेरणा—स्त्री-ससर्ग को शास्त्रकार विषलिप्त काँटा बताकर उसे सर्वथा त्याज्य बताते है। एक तो काँटा हो, फिर वह विषलिप्त हो, जो चुभने पर केवल पीडा ही नही देता, जानलेवा भी बन जाता है। यदि वह शरीर के किसी अग मे चुभकर टूट जाए तो अनर्थ पैदा करता है, इसी तरह पहले स्त्री का स्मरण, कीर्तन ही अनर्थकारी है, फिर प्रेक्षण, गुह्यभाषण, मिलन, एकान्त-उपवेशन, सह-विहार आदि के माध्यम से उसका ससर्ग किया जाए तो विषलिप्त काँटे की तरह केवल एक बार ही प्राण नही लेता, अनेक जन्मो तक जन्म-मरण एव नाना दु ख देता रहता है। एक प्राचीन आचार्य ने कहा है- -

> "वरि विसखइय, न विसयसुहु, इक्कसि विसिणि मरति।
> विसयामिस-घाइया पुण, णरा णरएहि पडति।।"

'विष खाना अच्छा, किन्तु विषयसुख का सेवन करना अच्छा नही, क्योकि विष खाने से तो जीव एक ही बार मरण का कष्ट पाता है, किन्तु विषयरूपी माँस के सेवन से मनुष्य नरक के गड्ढे में गिर कर बार-बार कष्ट पाता है।' विष तो खाने से मनुष्य को मारता है, लेकिन विषय स्मरणमात्र से मनुष्य के सयमी जीवन की हत्या कर डालते हैं।

इसीलिए स्त्री विषयों मे फसाने मे निमित्त है, इसलिए शास्त्रकार २५७वी सूत्रगाथा के पूर्वार्द्ध द्वारा साधक को उससे सावधान रहने की प्रेरणा देते हैं—**तम्हा उ वज्जए कंटगं णच्चा।**

दसवीं प्रेरणा—साधु परकल्याण की दृष्टि से धर्मकथा करता है, परन्तु यदि वह किसी अकेली स्त्री के घर अकेला जाकर धर्मकथा करता है तो उसकी निर्ग्रन्थता एव स्वकल्याण (शील-रक्षण) खतरे में

पडते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो अकेली स्त्री के पास अकेले साधु के बैठकर धर्मोपदेश देने से कभी-न-कभी मोह या काम (वेद) की ग्रन्थि मे बंध जाने की सम्भावना है। आभ्यन्तरग्रन्थ का शिकार वह साधु धीरे-धीरे उस स्त्री का वशवर्ती या गुलाम होकर फिर किसी न किसी बहाने से स्त्रीससर्ग करने का प्रयत्न करेगा, निषिद्ध आचरण करने से वह निर्ग्रन्थ धर्म से भ्रष्ट हो जाएगा। फिर वह सच्चे माने मे निर्ग्रन्थ नही रह जाएगा। अत साधु को अपनी निर्ग्रन्थता सुरक्षित रखने के लिए २५७वी सूत्रगाथा के उत्तरार्द्ध द्वारा शास्त्रकार सावधान करते है—**'ओए कुलाणि ण से वि णिग्गथे।'**

वृत्तिकार इस सम्बन्ध में कुछ स्पष्टीकरण करते है कि यदि कोई स्त्री बीमारी के या अन्य किसी गाढ कारण से साधु के स्थान पर आने मे असमर्थ हो, अतिवृद्ध एव अशक्त हो, और उस साधु के दूसरे सहायक (साथी) साधु उस समय न हो तो अकेला साधु भी उस महिला के यहाँ जाकर दूसरी स्त्रियो या पुरुषो की उपस्थिति मे उस महिला को वैराग्योत्पादक धर्मकथा या मगलपाठ सुनाए तो कोई आपत्ति नही है।

ग्यारहवीं प्रेरणा--स्त्रियाँ कूलबालुक जैसे महातपस्वियो को भी तपस्या से भ्रष्ट कर देती है। इसलिए चाहे कोई उत्कृष्ट तपस्वी हो मगर उसे यह नही सोचना चाहिए कि मै तो तपस्वी हूँ, तपस्या से मेरा शरीर कृश है, मेरी इन्द्रियाँ शिथिल या शान्त हो गई है, अब मुझे क्या खतरा है स्त्रियो से ? तपस्वी साधु इस धोखे मे न रहे कि स्त्रीससर्ग से कभी भ्रष्ट नही हो सकता। स्त्री जलती हुई आग है, उसके पास साधकरूपी घृत रहेगा, तो पिघले बिना न रहेगा। तपस्वी यह भलीभाँति समझ ले कि वर्षों तक किया हुआ तप स्त्रीससर्ग से एक क्षण मे नष्ट हो सकता है। अत· आत्महितैषी तपस्वी चारित्रभ्रष्ट करने वाली स्त्रियो के साथ न भ्रमण-गमन करे, न साथ रहे, न ही क्रीडा या विनोद करे, न बैठे-उठे, न विहार करे। यही प्रेरणा शास्त्रकार ने २५८वी सूत्रगाथा के उत्तरार्द्ध मे दी है— **'सुतवस्सिए वि भिक्खू णो विहरे सह णमित्थीसु'।**

बारहवीं प्रेरणा- साधु कई बार यह समझ बैठता है कि यह छोटी-सी लडकी है, यह कुमारी कन्या है, अथवा यह मेरी गृहस्थ पक्षीय पुत्र, पुत्रवधू, धायमाता या दासी है। यह मेरे-से भी उम्र मे बहुत बडी है या साध्वी है इनके साथ एकान्त मे बैठने, बातचीत करने, या सम्पर्क करने मे मेरा शील-भग कैसे हो जाएगा ? अथवा किसी को मेरे पर क्या शका हो सकती है ? यद्यपि अपनी कन्या, या पुत्रवधू, अथवा धायमाता अथवा मातृसमा चाची, ताई आदि के साथ एकान्त मे रहने पर साधु का चित्त सहसा विकृत नही हो सकता, फिर भी नीतिकारो ने कहा है—

> **"मात्रा स्वस्रादुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।**
> **बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वाँसमपि कर्षति।"**

अर्थात्—'माता, बहन या पुत्री के साथ भी एकान्त मे नही बैठना चाहिए, क्योकि इन्द्रियाँ बडी बलवती होती है, वे विद्वान् पुरुष को (मोह की ओर) खीच लेती है।

वास्तव मे मोहोदय वश कामवासना का उदय कब, किस घडी हो जाएगा ? यह छद्मस्थ साधक के लिए कहना कठिन है। दूसरी बात है—स्त्री (चाहे वह पुत्री, माता या बहन ही क्यो न हो)

के साथ एकान्त मे बैठे देखकर सामान्य लोगो को[४] शका उत्पन्न हो सकती है। यही प्रेरणा शास्त्रकार ने २५९वी सूत्रगाथा मे अभिव्यक्त की है—**'अवि धूयराहि सथव से णेव कुज्जा अणगारे।'**

तेरहवीं प्रेरणा—स्त्रीससर्ग करने से साधु का समाधियोग (धर्मध्यान के कारण होने वाली चित्त की समाधि अथवा श्रुत-विनय-आचार-तपरूप समाधि का योग मन-वचन काय का शुभ व्यापार) नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। स्त्रियो के आवास स्थानो मे बार-बार जाना, उनके साथ पुरुषो की उपस्थिति के बिना बैठना, सलाप करना, उन्हे रागभाव से देखना ये सब वेदमोहोदय जनित स्त्री-सस्तव—गाढ-परिचय साधु को समाधि योग से भ्रष्ट करने वाले है। इसीलिए शास्त्रकार २६२वी सूत्रगाथा मे प्रेरणा देते है—**'कुव्वंति संथवं ताहि तम्हा समणा ण समेति सण्णिसेज्जाओ।'**

चौदहवीं प्रेरणा—साधु को अपने ब्रह्मचर्य-महाव्रत की सभी ओर से सुरक्षा करनी आवश्यक है। इसलिए चाहे स्त्री सच्चरित्र हो, श्राविका हो, धर्मात्मा नाम से प्रसिद्ध हो, सहसा विश्वास न करे। ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए नौ बाड के पालन मे जरा भी शिथिलता न दिखाए। इसमे किसी स्त्री की अवमानना या निन्दा करने की दृष्टि नही, किन्तु शीलभ्रष्टता से अपनी रक्षा की दृष्टि है। कई स्त्रियाँ बहुत मायाविनी भी होती है, वे विरक्ता के रूप मे, श्राविका या भक्ता के रूप मे साधु को छलकर या फुसला कर शीलभ्रष्ट कर सकती है। इसीलिए २७०वी सूत्रगाथा मे शास्त्रकार स्त्रीसग-रूप अनर्थ (उपसर्ग) से बचने के लिए प्रेरणा देते है **'अन्न मणेण तम्हा ण सद्दहे णच्चा।'**

पन्द्रहवीं प्रेरणा—जिस तरह लाख का घडा, आग के पास रखते ही पिघल जाता है, वह शीघ्र ही चारो ओर से तपकर गल (नष्ट हो) जाता है, वैसे ही ब्रह्मचारी भी स्त्री के साथ निवास करने से भ्रष्ट—शिथिलाचारी एव सयम भ्रष्ट हो जाता है चाहे वह कितना ही विद्वान् श्रुतधर क्यो न हो। स्त्री का सवास एव ससर्ग तो दूर रहा, स्त्री के स्मरण मात्र से ब्रह्मचारी का सयम नष्ट हो जाता है। इसलिए ब्रह्मचारी के लिए स्त्री ससर्ग से दूर रहना ही हितावह है। शास्त्रकार भी २७२ एव २७३ इन दो सूत्रगाथाओ द्वारा इस प्रेरणा को व्यक्त करते हैं—**'जतुकुम्भे जहा उवज्जोती सीएज्जा' 'जतुकुम्भे णासमुवयंति।'**

सोलहवीं प्रेरणा—पूर्वोक्त गाथाओ मे वर्णित कामुक एव मायाविनी स्त्रियो द्वारा दिये जाने वाले विविध प्रलोभनो को साधु सूअर को फँसाने के लिए डाले जाने वाले चावलो के दानो की तरह समझे। स्त्री ससर्ग सम्बन्धी जितने भी आकर्षण या प्रलोभन है उन सबसे मुमुक्षु साधु बचे, सतर्क रहे, आते ही उन्हे मन से खदेड दे, उनके पैर न जमने दे।

फिर वह उस मोहपाश को तोड नही सकेगा, वह अज्ञ साधक पुन-पुन मोह के भवरजाल मे गिरता रहेगा। उसका चित्त मोहान्धकार से घिर जाएगा, वह कर्तव्य विवेक न कर सकेगा। अत शास्त्रकार साधु को प्रेरणा देते है कि किसी भी स्त्री के बुलावे और मनुहार पर अपने विवेक से दीर्घदृष्टि से विचार करे और उक्त प्रलोभन मे न फँसे, अथवा एक बार सयम लेने के बाद साधु पुन गृहरूपी भवर मे पडने की इच्छा न करे।

---

४ देखिये तुलना करके—

हत्थपायपडिच्छिन्न कण्ण-नास-विगप्पिय।

अवि वाससय नारि, बभयारी विवज्जए॥ —दशवैकालिक अ० ८, गा० ५६

इसी प्रेरणा को शास्त्रकार २७७वी सूत्रगाथा द्वारा अभिव्यक्त करते है[५]—**'णीवारमेव पुणोमते ।'**

स्त्रीसंग में भ्रष्ट साधक की अवदशा—प्रस्तुत उद्देशक मे शास्त्रकार ने स्त्रीसगरूप उपसर्ग के अनेक रूप और उनसे सावधान रहने की यत्र-तत्र प्रेरणाएँ दी है, इनके बावजूद भी जो साधक स्त्री-सग से भ्रष्ट हो जाना है, उसकी कैसी अवदशा होती है, उसके कुछ नमूने शास्त्रकार ने इस उद्देशक मे दिये है, शेष द्वितीय उद्देशक मे प्रतिपादित है ।

पहली अवदशा—जब साधु मायाविनी स्त्रियो के मोहक वाग्विलासो, मधुरालापो, करुणा-जनक सम्बोधनो एव वाक्यो से प्रभावित होकर उनका वशवर्ती हो जाता है, अथवा किसी स्त्री के रूप-रग, अग-विन्यास आदि देखकर स्वय कामज्वर से पीडित हो जाता है, तब वे कामिनियाँ उस साधक की दुर्बलता को जानकर उसे इतना बाध्य कर देती है कि फिर उस शीलभ्रष्ट साधक को उनके इशारे पर नाचना पडता है । वे स्त्रियाँ जैसी आज्ञा देती है, वैसे ही उन्हे चुपचाप करना पडता है । इसी अवदशा को शास्त्रकार २५३वी सूत्रगाथा मे अकित करते है—**आणवयंति भिन्नकहाहिं ।**

दूसरी अवदशा—उसके पश्चात् वे स्त्रियाँ पूर्वोक्त अनेक उपायो से मन-वचन-काया को सवृत--सुरक्षित (गुप्त) रखने वाले उस कठोर सयमी साधु को अपने मोहपाश मे इस तरह बाध लेती है, जिस तरह वन मे एकाकी और निर्भय विचरण करने वाले पराक्रमी सिह को मास आदि का लोभ देकर सिह को पकडने वाले चतुर शिकारी विविध उपायो से उसके गले मे फदा डालकर बाँध लेते है । फिर वे उसे अनेक यातनाएँ देकर पालतू जानवर की तरह काबू मे कर लेते है । साधक की इस अवदशा को शास्त्रकार २५४वी सूत्रगाथा द्वारा प्रकट करते है—**'सोह जहा व एगतियमणगारं ।'**

तीसरी अवदशा—नारियो के मोहपाश मे बध जाने के पश्चात् साधु को वे अपने मनचाहे अर्थ मे इस तरह झुका लेती है, जिस तरह रथकार रथ के चक्र के बाहर की पुट्ठी को क्रमश गोलाकार बना कर नमा देना है । स्त्री के मोहपाश मे बँधा हुआ साधु फिर चाहे जितनी उछलकूद मचा ले, वह पाश से मुक्त नही हो सकना । यह उक्त साधु की तीसरी अवदशा है, जिसे सूचित करते हुए २५५वी सूत्रगाथा मे शास्त्रकार कहते है—**'अह तत्थ पुणो नमयति फंदते वि ण मुच्चए ताहे ।'**

चौथी अवदशा—साधु की उस समय होती है, जब वह स्त्रीससर्गरूपी झूठन या त्याज्य निन्द्य-कर्म मे अत्यन्त आसक्त हो जाता है । उसी के सेवन मे प्रवृत्त हो जाता है । शास्त्रकार कहते है—कुशील पाशस्थ, या पार्श्वस्थ, अवसन्न, ससक्त और अपच्छन्द रूप कुशील साधको मे कोई एक है, अथवा वह काथिक, पश्यक, सम्प्रसारक और नामक रूप कुशीलो मे से कोई एक कुशील है । यह निश्चित है कि स्त्रीसग आदि निन्द्य कृत्यो से ऐसी कुशील दशा प्राप्त हो जाती है । ऐसा कुशील साधु सामाजिक एव राजकीय दृष्टि से निन्द्य एव दण्डनीय होता है । इसी तथ्य को शास्त्रकार २५८वी सूत्रगाथा के पूर्वार्द्ध द्वारा व्यक्त करते है—**'जे एयं ते कुसीलाणं ।'**

पाँचवीं अवदशा—साधु को एकान्त स्थान मे किसी स्त्री के साथ बैठे हुए या वार्तालाप करते

५ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १०४ से ११३ के अनुसार ।

हुए देखकर उस स्त्री के ज्ञाति (पारिवारिक) जनो और सुहृदजनो (हितैषियो) के हृदय मे दुःख उत्पन्न होता है। उन्हे उस अकेली स्त्री का साधु के पास बैठे रहना बहुत बुरा लगता है। वे इसे अपनी जाति या कुल की बदनामी या कलक समझते हैं। वे साधु के इस रवैये को देखकर उसके सम्बन्ध में अनेक प्रकार की शका-कुशका एव निन्दा करते है।

उस स्त्री के स्वजनो द्वारा बार-बार रोक-टोक करने और समझाने पर भी जब वह अपनी इस बुरी आदत को नही छोडता तो वे क्रुद्ध होकर उससे कहते है—अब तो आप ही इसका भरण-पोषण करिए, क्योकि यह आपके पास ही अधिकतर बैठी रहती है, अत अब तो आप ही इसके स्वामी है। अथवा उस स्त्री के ज्ञातिजन उस साधु पर ताना कसते हुए कहते हैं—'हम लोग तो इसके भरण-पोषण करने वाले है, इसके पति तो तुम हो, क्योकि यह अपने सब कामकाज छोडकर सदा तुम्हारे पास ही बैठी रहती है।' कितनी निन्दा, भर्त्सना बदनामी, अपमान और अवदशा है, स्त्री ससर्ग के कारण! यही अवदशा शास्त्रकार ने २६०वी सूत्रगाथा मे अभिव्यक्त की है।

छठी अवदशा—तपस्वी साधु को भी किसी स्त्री के साथ एकान्त मे बैठे या वार्तालाप करते देखकर कई लोग सहन नही करते, वे क्रोधित हो जाते हैं। अथवा **'समणं दट्ठुदासीणं'** का यह अर्थ भी हो सकता है—तपस्वी साधु को अपनी स्वाध्याय, ध्यान एव सयमक्रियाओ के प्रति उदासीन (लापरवाह) होकर जब देखो, तब किसी स्त्री के साथ एकान्त मे बैठकर बातचीत करते देखकर कई लोगो मे रोष पैदा जाता है। इसी अवदशा को शास्त्रकार सूत्रगाथा २६१ के पूर्वार्द्ध मे अभिव्यक्त करते हैं—**'समणं दट्ठुदासीणं एगे कुप्पंति।'**

सातवीं अवदशा—साधु के लिए भाँति-भाँति के पकवान बनाते और देते देखकर कई लोग उस स्त्री के प्रति चरित्रहीन या बदचलन होने की शका करते है। इसी बात को शास्त्रकार २६१वी सूत्रगाथा के उत्तरार्द्ध मे व्यक्त करते है—**'अदुवा भोयणेहिं णत्थेहिं इत्थीदोससंकिणो होंति।'** अथवा इस पंक्ति का यह अर्थ भी सम्भव है—'अब यह स्त्री उस साधु के आने पर चचलचित्त होकर श्वसुर आदि को आधा आहार या एक के बदले दूसरा भोज्य पदार्थ परोस देती है, इसलिए वे उस स्त्री के प्रति एकदम शका-शील हो जाते है कि यह स्त्री अवश्य ही उस साधु का सग करती होगी, क्योकि यह उस साधु के लिए विशिष्ट आहार बना कर रखती है या देती है।

वृत्तिकार ने इस अर्थ का समर्थक एक दृष्टान्त प्रस्तुत किया है कि एक स्त्री भोजन की थाली पर बैठे अपने पति व श्वसुर को भोजन परोस रही थी, किन्तु उसका चित्त उस समय गाँव मे होने वाले नट के नृत्य को देखने मे था। अत अन्यमनस्क होने से उसने चावल के बदले रायता परोस दिया। उसके श्वसुर और पति इस बात को ताड गए। उसके पति ने क्रुद्ध होकर उसे बहुत पीटा और परपुरुषासक्त जानकर उसे घर से निकाल दिया।

निष्कर्ष यह है कि स्त्रीससर्ग या स्त्री के प्रति लगाव के कारण साधु के चरित्र पर लाछन आता है, लोग उसके प्रति दोष की आशका से शकित रहते है।

आठवीं अवदशा—बहुत-से साधु घरबार आदि छोडकर साधु और गृहस्थ के मिलेजुले आचार

का पालन करते हैं और उसी को सयमपथ या मोक्षमार्ग बताते हैं। अथवा उसी की विशेषता बताते हैं, उसी के समर्थन मे तर्क और प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। अपने द्वारा स्वीकृत मार्ग को ही वे ध्रुव (धोरी या उत्सर्ग) मार्ग बतलाते हैं। वे द्रव्यसाधु ऐसी प्ररूपणा इसलिए करते है कि घरबार, कुटुम्ब कबीला और धनसम्पत्ति आदि पूर्वसग छोड देने के बावजूद भी मोह कर्मोदयवश वे पुन स्त्रियो से ससर्ग, भक्त-भक्ताओ से अतिपरिचय, परिजनो से मोह-ममता आदि के कारण न तो पूरे साधुजीवन के मौलिक आचार का पालन कर पाते है और न ही वे गृहस्थजीवन के आचार का पूर्णतया पालन करते हैं। इसी कारण वे ऐसे स्वकल्पित मिश्रमार्ग का अपना लेते है। उन कुशीलो के द्वारा मिश्र मार्ग का यह प्रतिपादन केवल वाणी की शूरवीरता समझनी चाहिए। उनके द्वारा इस मिश्रमार्ग को अपनाने के पीछे कोई शास्त्रसम्मत आचार का बल नही है। यह साधु-जीवन की एक विडम्बना ही है, जिसे शास्त्रकार इन शब्दो मे अभिव्यक्त करते हैं—**'बहवे गिहाइं वायावीरियं कुसीलाणं।'**

नौवीं अवदशा—स्त्रीसगरूप उपसर्ग से पराजित कुशील साधक की पतन दशा यहाँ तक हो जाती है कि वह शीलभ्रष्ट, अशुद्ध एव दोषयुक्त होते हुए भी भरी सभा मे अपने आपको शुद्ध, निर्दोष एव दूध का धोया कहता है। वह भरी सभा मे जोर से गर्जता हुआ कहता है—मै शुद्ध-पवित्र हूँ, मेरा जीवन निष्पाप है। परन्तु उसके काले कारनामो को जानने वाले जानते है कि उसकी शुद्धता की दुहाई धोखा है, प्रवचना है, छलावा है। वह छिप-छिपकर एकान्त मे पापकर्म करता है, यह मायावी और महाधूर्त है। शास्त्रकार सूत्रगाथा २६४ द्वारा इसी बात को कहते हैं-**'सुद्ध रवति ··महासठेऽयं ति।'** आशय यह है कि उसकी विसगत दिनचर्या से उसके शिथिल आचार-विचार से, तथा उसकी अग-चेष्टाओ पर से यह भलीभाँति जानते है कि यह केवल वचन के गुब्बारे उछालता है। यह जितना और जो कुछ कहता है, आचरण मे उतना ही विपरीत है। मोहान्धपुरुष अँधेरे मे छिपकर कुकृत्य करता है, और सोचता है कि मेरे पापकर्म को कौन जानता है ? मगर नीतिकार कहते है—

"आकारैरिंगितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च।
नेत्र-वस्त्रविकारेण लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः॥"

अर्थात्—आकृति से, इशारो से, गति (चाल-ढाल) से, चेष्टा से, भाषण (बोली) से तथा आँख और मुँह के विकारो से किसी व्यक्ति के अन्तर्मन मे रही हुई बात परिलक्षित हो जाती है। साधारण मनोविज्ञान के अभ्यासियो या सतत सम्पर्क मे रहने वालो से उस व्यक्ति के दुष्कर्म छिपे नही रह सकते।

दसवीं अवदशा—ऐसा दुष्कर्मी द्रव्यलिंगी अज्ञपुरुष अपने दुष्कर्म (पाप) को स्वय आचार्य या गुरु के समक्ष प्रकट नही करता, वह चाहे जितना पापकर्म करता हो, बाहर से तो वह धर्मात्मा ही कहलाना चाहता है। धर्मिष्ठ कहलाने की अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए वह गुप्त रूप से पाप या कुशील सेवन करता है, ताकि कोई उसे पापी न कह सके किन्तु उसके प्रच्छन्न पापो के जानकार गुरु, आचार्य या कोई हितैषी व्यक्ति उसे अपने पापो या दुष्कृत्यो को प्रकट करने या कहने के लिए आदेश या प्रेरणा देते हैं तो वह उनकी बातो को ऊपर उडा देता है, या सुनी-अनसुनी कर देता है।

इसके पश्चात् आचार्य या गुरु उसकी थोथी बाते सुनकर सखेद बार-बार कहासुनी करते या प्रेरणा देते हैं कि 'तुम आज से मन से भी मैथुनसेवन की इच्छा मत करो, तब वह एकदम मुर्झा जाता

है, झेंप जाता है, या उसके चेहरे पर हवाइयाँ उडने लग जाती है या उसका चेहरा फीका हो जाता है, अथवा मर्माहत-सा खिन्न होकर कहता है—'मुझ पर पाप की आशका की जाती है, तब मुझे पापरहित होकर क्या करना है, यो ही सही !' इस प्रकार कुशील साधक की सघ और समाज मे बडी दुर्गति होती है। शास्त्रकार सू० गा० २६५ मे इसी अवदशा को सूचित करते है—**'सय दुक्कड गिलाइ से भुज्जो ।'**

ग्यारहवीं अवदशा—स्त्रीजन्य आकर्षण इतना प्रबल होता है कि बडे-बडे इन्द्रिय-विजेता पुरुष भी महामोहान्ध होकर नारियो के वश मे हो जाते है। वे स्त्रियो के इतने गुलाम हो जाते है कि स्वप्न मे बडबडाती हुई स्त्री भला या बुरा जो भी कार्य करने को उनसे कहती है, वे उसे करते है। ऐसे भुक्तभोगी परिपक्व साधक की भी जब इतनी विडम्बना हो जाती है, तब सामान्य कच्चे साधक की तो बात ही क्या ? इसी अवदशा को शास्त्रकार सू० गा० २६६ मे व्यक्त करते है -**'उसिया वि उवकसंति ।**

बारहवीं अवदशा— जो व्यक्ति (साधुवेषी) स्त्रियो से ससर्ग रखते है वे रगे हाथो पकडे जाएँ तो सामाजिक लोगो या राजपुरुषो द्वारा उनके हाथ-पैर काट डाले जाने की सम्भावना है, अथवा उसकी चमडी उधेडी जा सकती है, तथा माँस भी काटा जा सकता है। यह भी सम्भव है कि उस स्त्री के स्वजन वर्ग द्वारा उकसाए हुए राजपुरुष उक्त परस्त्रीलम्पट साधुवेषी को भट्टी पर चढाकर आग मे जला दे या उसका अग छीलकर उस पर नमक आदि खार पदार्थ छिडक दे। इसी अवदशा को व्यक्त करते हुए शास्त्रकार २६७वी सूत्रगाथा मे कहते है -**'अवि हत्थपादछेदाए तच्छिय खार-सिंचणाइं च ।'**

तेरहवीं अवदशा—ऐसे पाप-सतप्त (पापाग्नि से जलते हुए) साधुवेषी पुरुष अपने कृत पाप के फलस्वरूप इस लोक मे कान और नाक का छेदन या गले का छेदन तक सहन कर लेते है, तथा पर-लोक मे नरक आदि दुर्गतियो मे अनेक प्रकार की यातनाएँ भी सह लेते है, लेकिन यह निश्चय नही कर सकते कि अब भविष्य मे पापकर्म नही करेगे। अर्थात् —इहलोक एव परलोक के भयकर दु ख उन्हे मजूर है, लेकिन पापकर्म छोडना मजूर नही। शास्त्रकार इसी अवदशा को सू० गा० २६७ मे अभि-व्यक्त करते है--**'अदु कण्णणासियाच्छेज्जं पुणो न काहिति ।'**

चौदहवीं अवदशा—ससार मे फसाने वाली नारी मे आसक्त, उत्तम सदाचार से भ्रष्ट एव इहलोक परलोक के नाश मे नही डरने वाले कई उद्धत साधुवेषी पुरुष मैथुन सेवन आदि पाप कर्म करते हैं, किन्तु आचार्य, गुरु आदि के द्वारा पूछे जाने पर बिलकुल इन्कार करते हुए कहते है--मै ऐसे वैसे कुल मे उत्पन्न ऐरा गैरा साधु नही हूँ, जो पाप कर्म के कारणभूत अनुचित कर्म करूँ। यह तो मेरी पुत्री के समान है, यह बाल्यकाल मे मेरी गोदी मे सोती थी। अत उस पूर्वाभ्यास के कारण ही यह मेरे साथ ऐसा आचरण करती है। वस्तुत मैं ससार के स्वभाव को भलीभाँति जानता हूँ। प्राण चले जाएँ, मगर मै व्रत-नाश नही करूँगा।' इस प्रकार कपट करके पाप को छिपाने वाला साधु मोह कर्म से और अधिक लिप्त हो जाता है। कितनी भयकर अधोदशा है, स्त्रीमोहियो की ! इसे ही शास्त्रकार २७४वी सूत्रगाथा व्यक्त करते है —**'कुव्वंति पावग अकेसाइणी ममेस त्ति'**।

पन्द्रहवीं अवदशा— रागद्वेष से आकुलबुद्धि वाले अतत्त्वदर्शी मूढ साधक की यह दूसरी मूढता है कि एक तो वह लम्पटतापूर्वक अकार्य करके चतुर्थ महाव्रत का नाश करता है, दूसरे, वह किए हुए उक्त दुष्कृत्य का स्वीकार न करके मिथ्या भाषण करता हुआ कहता है—**मैंने यह दुष्कर्म हर्गिज**

नही किया है, भला मैं ऐसा कुलीन और समझदार व्यक्ति इस प्रकार का दुष्कृत्य कैसे कर सकता हूँ ? मेरी भी तो इज्जत है (इस प्रकार वह पापकर्म करके भी समाज मे सम्मान और शान के साथ जीना चाहता है।) ऐसा व्यक्ति सदाचारी, त्यागी तपस्वी एव सयमी न होते हुए भी वैसा कहलाने हेतु मायाचार करता है। वह अपने कृत पापकर्म मे छिपाकर बाहर से ऐसा डौल रचता है, ताकि उसकी ओर कोई अगुली न उठा सके। ऐसे साधक की अन्तरात्मा हरदम भयभीत, शकित और दबी हुई रहती है कि कही मेरी पोलपट्टी खुल न जाए। यह कितनी भयकर विडम्बना है, साधक जीवन की ! शास्त्रकार सूत्रगाथा २७५ मे इसी अवदशा को व्यक्त करते हुए कहते है—**'बालस्समंदय—पूयणकामेविसण्णेसी।'**

ये और इस प्रकार की कई अवदशाएँ स्त्रीजन्य उपसर्ग से पराजित साधक के जीवन मे चरितार्थ होती है। अगर साधक इस अध्ययन मे बताये हुए स्त्रीसगरूप उपसर्ग के विभिन्न रूपो से सावधान हो जाए और अप्रमत्त होकर शास्त्रकार द्वारा दी गई प्रेरणाओ के अनुसार सयमनिष्ठ रहे तो वह इन अवदशाओ का भागी नही होता, अन्यथा उसकी अवदशा होती ही है।

पाठान्तर और व्याख्या—विवित्तेसी—वृत्तिकार के अनुसार—विविक्त स्त्री-नपुसकादि रहित स्थान को अन्वेषण परायण, **विवित्तेसु** पाठान्तर का अर्थ है—विविक्त—स्त्री-पशु-नपुसक-वर्जित स्थानो मे विचरण करू गा चूर्णिकार ने 'विवित्तेमी' शब्द के तीन अर्थ किये है—'विविक्तान्येषतीति **विवित्तेसी**, विविक्ताना माधूना मार्गमेपतीति **विवित्तेसी** अथवा कर्मविवित्तो मोक्खो, तमेवैषतीति **विवित्तमेसी।**' अर्थात् -विविक्तैषी—एकान्त पवित्र स्थानो को ढूढने मे तत्पर, अथवा विविक्तैषी विविक्तो यानी साधुओ के मार्ग का अन्वेषण करने वाला या विविक्त—कर्म से विविक्त—रहित अवस्था—मोक्ष, उसे जो चाहता है, वह विविक्तैषी है।

परक्कम—वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किये है—"पराक्रम्य" यानी साधु के समीप आकर अथवा पराक्रम्य अर्थात्—शील से स्खलित, होने योग्य बनाकर उस (साधु) पर हावी होकर। पाठान्तर है -**'परिक्कम,'** जिसका अर्थ होता है—साधु को चारो ओर से घेरकर, अथवा उसके शील पर चारो ओर से आक्रमण करके **लिस्सति**—स्त्रीसग मे लिप्त हो जाते है, या फिसल जाते है। **उवायं पि ता ओ जाणिंसु**—वृत्तिकार के अनुसार—साधु को छलने का उपाय भी वे जान चुकी होती है। **'जाणिंसु'** के बदले **जाणति** पाठान्तर है, उसका अर्थ होता है—'जानती है।' यही पाठान्तर तथा अर्थ चूर्णिकार मान्य है। **पोसवत्थ**—वृत्तिकार के अनुसार—काम को पुष्ट—उत्तेजित करने वाले सुन्दर वस्त्र। चूर्णिकार के अनुसार **पोसवत्थ णाम णिवसणं** अर्थात् पोषवस्त्र का अर्थ है—कामागो को आच्छादित करने वाला वस्त्र। **बाहुमुद्धट्टु कक्खमणुवज्जे**—वृत्तिकार के अनुसार—बाहे उघाडकर या ऊची करके काख दिखाकर साधु के अनुकूल—अभिमुख (सामने से) होकर जाती है। चूर्णिकार समत्त पाठान्तर है—**बाहुद्धट्टु कक्खं परामुसे** अर्थात्—बाहे उठाकर काख को छूती या सहलाती है। काख पर हाथ फिराती है। **सयणाऽऽसणेण जोग्गेण—शयन**—पलग, शय्या, गद्दा या शयनगृह आदि, **आसन**—कुर्सी, आरामकुर्सी या चौकी, गलीचा आदि उपभोग योग्य वस्तुओ के उपभोग के लिए।

समभिजाणे—स्वीकार न करे, वचनबद्ध न हो। पाठान्तर है—**'समणुजाणे।'** अर्थ समान है।

५. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १०४ से १११ तक के अनुसार।

आवसा निमंतेंति—वृत्तिकार के अनुसार—अपने साथ सम्भोग के लिए आमन्त्रित करती हैं। चूर्णिकार **'आयसा'** का संस्कृत रूपान्तर **'आत्मसात्'** करते हैं, तदनुसार अर्थ होता है—अपने साथ घुल मिलाकर हार्दिक आत्मीयता बताकर समागम के लिए आमन्त्रित करती है। **उवगसित्ताणं**—वृत्तिकार के अनुसार—**'उपसंश्लिष्य-समीपमागत्य'** निकट आकर। चूर्णिकारसमत्त पाठान्तर है—**उपक्कमित्ता**, अर्थ किया गया है—**अल्लिइला**—पास में अडकर। **आणवयति**—वृत्तिकार के अनुसार आज्ञा करती है, प्रवृत्त करती है, साधु को अपने वश में जानकर नौकर की तरह उस पर आज्ञा (हुक्म) चलाती हैं। चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर है—**'आणमंति'**, अर्थ किया गया है—**'भुक्तभोगः कुमारगो वा तत्प्रयोजनात्यन्तपरोक्षः आनम्यते'**। अर्थात्—भुक्तभोगी या कुआरे साधु को अपने प्रयोजन से अत्यन्त परोक्ष यानी अंधेरे में रखकर अपने साथ सहवास के लिए झुका लेती है। **विवेगमायाए**—वृत्तिकार के अनुसार विवेक ग्रहण करके, चूर्णिकार सम्मत पाठ है—**विवागमाताते**—अपने कुकृत्य का विपाक-फल प्राप्त कर या जानकर। **सुतवस्सिए वि**—वृत्तिकार के अनुसार—**'विकृष्टतपोनिष्ट तप्तदेहोऽपि'** अर्थात् लम्बी-लम्बी उत्कट तपस्या के द्वारा जिसने अपने शरीर को अच्छी तरह तपा लिया है, ऐसा सुतपस्वी भी, चूर्णिकारसमस्त पाठान्तर है—**सुतमस्सितो वि** -श्रुतमाश्रितोऽपि, अर्थात्—जो सदैव शास्त्राश्रित—शास्त्रों के आधार पर चला है, ऐसा साधु भी।

'णो विहरे सह णमित्थीसु'—वृत्तिकार के अनुसार -समाधि की शत्रु स्त्रियों के साथ विहार न करे—न कहीं जाए, न बैठे-उठे। चूर्णिकारसमस्त पाठान्तर है—**णो विरहे सहणमित्थीसु**—**विरहो** नाम नक्त दिवा वा शून्यागारादि पइरिक्कजणे वा स्वगृहे, सहण ति देमीभासा, सहेत्यर्थ। **विरहे**—का अर्थ है—रात्रि या दिन में सूने मकान आदि निर्जन स्थान में या स्त्री के अपने जनशून्य घर में स्त्रियों के साथ (सहण देशीय शब्द है, उसका **'साथ'** अर्थ होता है) न रहे। **आए**—**'ओजः एकः असहायः सन्'** साधु ओज यानी अकेला (किसी साथी साधु के बिना) होकर। **'समणं पि दट्ठुदासीणं'** वृत्तिकार के अनुसार इसके तीन अर्थ है—(१) श्रमण को एकान्त स्थान में अकेली स्त्री के साथ आसीन (बैठे) देखकर, (२) श्रमण को भी अपने ज्ञान, ध्यान तथा दैनिक चर्या के प्रति उदासीन (लापरवाह) होकर केवल अमुक स्त्री के साथ बातचीत करते देखकर। (३) अथवा उदासीन—राग द्वेषरहित मध्यस्थ, श्रमण-तपस्वी (विषयसुखेच्छारहित) को भी एकान्त में स्त्री के साथ बातें करते देखकर। चूर्णिकार-सम्मत पाठान्तर है—**'समण मपि दट्ठुदासीणा'**—श्रमणम्प्रत्यपि दृष्टवा उदासीना **'उदासीणा णाम येषामप्यसौ भार्या न भवति'** -श्रमण के प्रति भी अमुक स्त्री को उदासीन (उनके प्रति भी भार्याभाव से रहित) देखकर।

'तम्हा समणा ण समेंति आतहिताय सण्णिसेज्जाओ'—वृत्तिकार के अनुसार चूँकि स्त्रियों के साथ संसर्ग अतिपरिचय (संस्तव) से समाधि योग का नाश होता है, इसलिए श्रमण (सुसाधुगण) सुखोत्पादक एवं मनोऽनुकूल होने से निषद्या (स्त्रियों की बैठक या निवासस्थली) के समान विषद्या या स्त्रियों के द्वारा बनाया हुआ विलास का अड्डा-माया हो, अथवा स्त्रियों की बस्ती (आवासस्थान) हो वहाँ आत्महित की दृष्टि से नहीं जाते। चूर्णिकार लगभग ऐसा ही पाठ मानकर अर्थ करते हैं—**तम्हा समणा ण समेंति**—ण समुपागच्छन्ति, **आतहियाओ**—आत्मने हितम् आत्मनि वा हितम्। **सण्णिसेज्जाओ—सण्णसेज्जा** नाम गिहिसेज्जा सथवसकथाओ य। इस (स्त्रीसंस्तव अनर्थकारी होने के) कारण श्रमण आत्मा के लिए अथवा आत्मा में हित के कारण सन्निषद्या या सन्निशय्याओं के पास नहीं फटकते—उनके आसपास चारों ओर नहीं जाते। सन्निषद्या का सीधा अर्थ है—गृहस्थ शय्या

तथा स्त्रियो के साथ संस्तव—सकथाएँ आदि जहाँ हो। कही पाठान्तर है—**'तम्हा समणा उ जहाहि आयहियाओ सन्निसेज्जाओ।'** स्त्री सम्बन्ध अनर्थकर होता है इसलिए हे श्रमण ! आत्महित (स्वकल्याण) दृष्टि से खास तौर से (सन्निषद्याओ) स्त्रियो की बस्तियो (आवास स्थानो) का, अथवा स्त्रियो के द्वारा की हुई सेवाभक्ति रूप माया (विलास स्थली) का त्याग कर दो। **मिस्सीभाव पत्थुता**—वृत्तिकार के अनुसार द्रव्य से साधुवेष होने से, किन्तु भाव से गृहस्थ के समान आचार होने से मिश्र-भाव—मिश्रमार्ग को प्रस्तुत—प्राप्त या मिश्रमार्ग प्रशसा करने वाले। पाठान्तर है—**मिस्सीभाव पण्णता'** (पणता) अर्थ होता है—मिश्रमार्ग की प्ररूपणा करने वाले, अथवा मिश्रमार्ग की ओर प्रणत—झुके हुए। चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर है—**'मिस्सीभावापण्हया'**—**पण्हता** नाम गौरिव प्रस्नुता। गाय के स्तन से दूध झरने की तरह (विचारधारा) झरने को प्रस्नुत (पण्हत) कहते हैं। जिनकी वाणी से मिश्रमार्ग की विचारधारा ही सतत झरती रहती है, वे। **धुवमग्गमेव**—ध्रुव के दो अर्थ हैं—मोक्ष या सयम, उसका मार्ग ही बताते-कहते है। **तहावेदा**—वृत्तिकार के अनुसार—उस मायावी साधु के तथारूप अनुष्ठान (काली करतूत) को जो जानते है, वे तथावेद-तद्विद कहलाते है। चूर्णिकार के अनुसार पाठान्तर है—**'तधावेता'**, अर्थ है—' तथा वेदयन्तीति तथावेदा कामतन्त्रविद इत्यर्थ। तथाकथित वेत्ता अर्थात्—कामतन्त्र (कामशास्त्र) के वेत्ता (ज्ञाता)। **इत्थिवेदखेदण्णा**—इसके दो अर्थ फलित होते हैं—(१) स्त्रीवेद के खेदज्ञ—निपुण, (२) स्त्रियो के वेद—वैशिक काम-के अनुसार स्त्रीसम्बन्ध जनित खेद (चिन्ताओ) को जानने वाले।

आइट्ठोवि—वृत्तिकार के अनुसार आदिष्ट या प्रेरित किया जाता हुआ, चूर्णिकारसम्मत पाठ है—**आउट्ठोवि,** अर्थ किया गया है—आक्रुष्टो नाम चोदित, अर्थात्—आक्रुष्ट—आचार्यादि के द्वारा झिडकने पर अथवा अपने पाप प्रकट करने के लिए प्रेरित किये जाने पर। **वद्धमंस उक्कंते**—वृत्तिकार के अनुसार चमडी और माँस भी उखाडे या काटे जा सकते है। चूर्णिकार के अनुसार—**'पृष्ठीवध्राणि उत्कृत्यन्ते'** अर्थात्—पीठ की चमडी उधेडी जाती है। **तच्छिय खारसिंचणाइ**—वृत्तिकार के अनुसार—वसूले आदि से उसके अगो को छीलकर उस पर खार जल का सिचन भी करते है। चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर है—**तच्छेत्तु (वासीए) खार सिंचणाइं च।** अर्थ समान है।

विरता चरिस्स हं लूहं—मैं ससार से (विरत) हो गई हूँ, रूक्ष—सयम का आचरण करूंगी। 'लूह' के बदले कही-कही पाठान्तर है—**'मोण'** अर्थ किया गया है—मुनेरय मौनः—सयम, अर्थात्—मुनि का धर्म—मौन—सयम। **'अहग साधम्मिणी य तुब्भ (समणाणं)'**—वृत्तिकार और चूर्णिकार दोनो द्वारा सम्मत पाठ 'तुब्भ' है। अर्थ किया गया है—मै श्राविका हूँ, इस नाते आप श्रमणो की साधर्मिणी हूँ। **'एवित्थियाहिं अणगारा संवासेण णासमुवयंति'** वृत्तिकार के अनुसार—इसी प्रकार स्त्रियो के साथ सवास—परिभोग से अनगार भी (शीघ्र ही) नष्ट (सयम शरीर से भ्रष्ट) हो जाते है। चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर है—**'एवित्थिगासु अणगारासवासेण णासमुवयंति'**—अर्थात् इसी प्रकार अपने, दूसरे के और दोनो के दोषो से अनगार स्त्रियो के साथ सवास से शीघ्र ही चारित्र से विनष्ट हो जाते है। **णिमंतणेणाऽऽहंसु**—निमन्त्रपूर्वक कहती है, या कह चुकती है। **णीवारमेव बुज्झेज्जा**—वृत्तिकार के अनुसार—स्त्रियो के द्वारा इस प्रकार के (वस्त्रादि आमन्त्रणरूप) प्रलोभन को साधु नीवार (चावल के दाने) डालकर सूअर आदि को वश में करने के समान समझे। चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर है—**'णीयारमंतं बुज्झेज्जा'** गाय को नीरा (निकिर—चारादाना) डालकर निमन्त्रित किये

जाने के समान साधु भी वस्त्रादि के प्रलोभन से निमन्त्रित किया जा रहा है, यह समझ ले। **णो इच्छे अगारमागंतु** —वृत्तिकार के अनुसार इसके दो अर्थ है—(१) साधु उस मायाविनी स्त्री के घर बार-बार जाने की इच्छा न करे, (२) साधु सयमभ्रष्ट होकर अपने घर जाने की इच्छा न करे। चूर्णिकार-सम्मत दो पाठान्तर हैं—(१) **'णो इच्छेज्ज अगारगतु'**, (२) **'णो इच्छेज्ज अगारमावत्तं'**। पहले पाठान्तर का अर्थ पूर्ववत् है। दूसरे पाठान्तर का अर्थ है—साधु ऐसी मायाविनी स्त्रियो के गृहरूपी भँवर मे पडने की इच्छा न करे।[६]

□

बिइओ उद्देसओ

स्त्रीसंग से भ्रष्ट साधको की विडम्बना

२७८ ओए सदा ण रज्जेज्जा, भोगकामी पुणो विरज्जेज्जा।
भोगे समणाण सुणेहा, जह भुंजति भिक्खुणो एगे ॥१॥

२७९ अह त तु भेदमावन्न, मुच्छित भिक्खु काममतिवट्ट।
पलिभिंदियाण तो पच्छा, पादुद्धट्टु मुद्धि पहणति ॥२॥

२८० जइ केसियाए मए भिक्खू, णो विहरे सह णमित्थीए।
केसाणि वि ह लुंचिस्सं, नऽन्नत्थ मए चरिज्जासि ॥३॥

२८१. अह ण से होति उवलद्धो, तो पेसति तहाभूतेहिं।
लाउच्छेद पेहाहि, वग्गुफलाइ आहराहि त्ति ॥४॥

२८२ दारूणि सागपागाए, पज्जोओ वा भविस्सती रातो।
पायाणि य मे रयावेहि, एहि य ता मे पट्ठि उम्मद्दे ॥५॥

२८३ वत्थाणि य मे पडिलेहेहि, अन्नपाणं च आहराहि त्ति।
गध च रओहरण च, कासवग च समणुजाणाहि ॥६॥

२८४. अदु अंजणि अलंकार, कुक्कुहय च मे पयच्छाहि।
लोद्ध च लोद्धकुसुम च, वेणुपलासियं च गुलिय च ॥७॥

---

६ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १०४ से ११३ तक के अनुसार
(ख) सूयगडग चूर्णि (मू० पा० टि० जम्बूविजयजी सम्पादित) पृ ४५ से ५० तक

२८५. कुट्ठं अगुरुं तगरुं च, संपिट्ठं सम उसीरेण ।
तेल्लं मुहं भिलिजाए, वेणुफलाइं सन्निधाणाए ॥८॥

२८६. नंदीचुण्णगाइं पहराहि, छत्तोवाहणं च जाणाहि ।
सत्थं च सूवच्छेयाए, आणीलं च वत्थयं रयावेहि ॥९॥

२८७. सुफणिं च सागपागाए, आमलगाइं दगाहरणं च ।
तिलगकरणिमंजणसलागं, घिंसु मे विधूणयं विजाणाहि ॥१०॥

२८८. संडासगं च फणिहं च, सीहलिपासगं च आणाहि ।
आयसगं पयच्छाहि, दंतपक्खालणं पवेसेहि ॥११॥

२८९ पूयफलं तंबोलं च, सूईसुत्तगं च जाणाहि ।
कोसं च मोयमेहाए, सुप्पुक्खलगं च खारगलणं च ॥१२॥

२९०. चंदालगं च करगं च, वच्चघरगं च आउसो ! खणाहि ।
सरपायगं च जाताए, गोरहगं च सामणेराए ॥१३॥

२९१. घडिगं च सडिंडिमयं च, चेलगोलं कुमारभूयाए ।
वासं समभियावन्नं, आवसहं च जाण भत्तं च ॥१४॥

२९२. आसंदियं च नवसुत्तं, पाउल्लाइं संकमट्ठाए ।
अदु पुत्तदोहलट्ठाए, आणप्पा हवंति दासा वा ॥१५॥

२९३. जाते फले समुप्पन्ने, गेण्हसु वा णं अहवा जहाहि ।
अह पुत्तपोसिणो एगे, भारवहा हवंति उट्टा वा ॥१६॥

२९४. राओ वि उट्ठिया संता, दारगं संठवेंति धाती वा ।
सुहिरीमणा वि ते संता, वत्थधुवा हवंति हंसा वा ॥१७॥

२९५. एवं बहुहिं कयपुव्वं, भोगत्थाए जेऽभियावन्ना ।
दासे मिए व पेस्से वा, पसुभूते वा से ण वा केइ ॥१८॥

२७८ रागद्वेषरहित (ओज) साधु भोगों में कदापि अनुरक्त न हो। (यदि चित्त में) भोग-कामना प्रादुर्भूत हो तो (ज्ञान—ज्ञानबल द्वारा) उससे विरक्त हो जाय। भोगों के सेवन से श्रमणों की जो हानि अथवा विडम्बना होती है, तथा कई साधु जिस प्रकार भोग भोगते हैं, उसे सुनो।

२७९ इसके पश्चात् चारित्र से भ्रष्ट, स्त्रियों में मूर्च्छित—आसक्त, कामभोगों में अतिप्रवृत्त

(दत्तचित्त) उस साधु को वे स्त्रियाँ बाद मे अपने वशीभूत जानकर अपना पैर उठाकर उसके सिर पर प्रहार करती हैं।

२८० (नारी कहती है—) हे भिक्षो! यदि मुझ केशो वाली स्त्री के साथ (लज्जावश) विहार (रमण) नही कर सकते तो मै यही (इसी जगह) केशो को नोच डालू गी; (फिर) मुझे छोड-कर अन्यत्र कही विचरण मत करना।

२८१ इसके पश्चात् (जब स्त्री यह जान लेती है कि) यह (साधुवेषी) मेरे साथ घुलमिल गया है, या मेरे वश मे हो गया है, तब वह उस (साधुवेषी) को (दास के समान) अपने उन उन कार्यों के लिए प्रेरित करती-भेजती है। (वह कहती है —) तुम्बा काटने के लिए छुरी (मिले तो) देखना, और अच्छे-अच्छे फल भी लेते आना।

२८२ (किसी समय स्त्री नौकर की तरह आदेश देती है—) 'सागभाजी पकाने के लिए इन्धन-लकडिया (ले आओ), रात्रि (के घोर अन्धकार) मे तेल आदि होगा, तो प्रकाश होगा। और जरा पात्रो (बर्तनो) को रग दो या मेरे पैरो को (महावर आदि से) रग दो। इधर आओ, जरा पीठ मल दो।'

२८३ अजी! मेरे वस्त्रो को तो देखो, (कितने जीर्ण-शीर्ण हो गए है? इसलिए दूसरे नये वस्त्र ले आओ), अथवा मेरे लिए (बाजार मे अच्छे-से) वस्त्र देखना अथवा देखो, ये मेरे वस्त्र, (कितने गदे हो गए हैं इन्हे धोबी को दे दो।) अथवा मेरे वस्त्रो की जरा देखभाल करना, कही सुरक्षित स्थान मे इन्हे रखो, ताकि चूहे, दीमक आदि न काट दे। मेरे लिए अन्न और जल (पेय पदार्थ) माँग लाओ। मेरे लिए कपूर, केशतेल, इत्र आदि सुगन्धित पदार्थ और रजोहरण (सफाई करने के लिए बुहारी या झाडन) लाकर दो। मै केश-लोच करने मे असमर्थ हूँ, इसलिए मुझे नाई (काश्यप) से बाल कटाने की अनुज्ञा दो।

२८४ हे साधो! अब मेरे लिए अजन का पात्र (सुरमादानी, ककण-बाजूबद आदि आभूषण और घु घरुदार वीणा लाकर दो, लोध्र का फल और फूल लाओ तथा चिकने बाँस से बनी हुई बशी या बाँसुरी लाकर दो, पौष्टिक औषध गुटिका (गोली) भी ला दो।

२८५ (फिर वह कहती है -प्रियतम!) कुष्ट (कमलकुष्ट) तागर और अगर (ये सुगन्धित पदार्थ) उशीर (खसखस) के साथ पीसे हुए (मुझे लाकर दो।) तथा मुख (चेहरे पर लगाने का मुखकान्ति वर्द्धक) तेल एव वस्त्र आदि रखने के लिए बाँस की बनी हुई सदूक लाओ।

२८६ (प्राणवल्लभ!) मुझे ओठ रगने के लिए नन्दीचूर्णक ला दीजिए, यह भी समझ लीजिए कि छाता और जूता भी लाना है। और हाँ, सागभाजी काटने के लिए शस्त्र (चाकू या छुरी) भी लेते आए। मेरे कपडे गहरे या हल्के नीले रग से रगवा दे।

२८७ (शीलभ्रष्ट पुरुष से स्त्री कहती है—प्रियवर!) सागभाजी आदि पकाने के लिए तपेली या बटलोई (सुफणि) लाओ। साथ ही आँवले, पानी लाने-रखने का घडा (बर्तन), तिलक और अजन लगाने की सलाई भी लेते आना। तथा ग्रीष्मकाल मे हवा करने के लिए एक पखा लाने का ध्यान रखना।

२८८. (देखो प्रिय!) नाक के बालो को निकालने के लिए एक चीपिया, केशो को सवारने के

लिए कघी और चोटी बाँधने के लिए ऊन की बनी हुई जाली (सिंहलीपासक) ला दीजिए। और एक दर्पण (चेहरा देखने का शीशा) ला दो, दाँत साफ करने के लिए दतौन या दाँतमंजन भी घर मे लाकर रखिये।

२८९ (प्राणवल्लभ!) सुपारी, पान, सूई-धागा, पेशाब करने के लिए पात्र (भाजन), सूप (छाजला), ऊखल एव खार गालने के लिए बर्तन लाने का ध्यान रखना।

२९०. आयुष्मन्! देवपूजन करने के लिए तांबे का पात्र (चन्दालक) और करवा (पानी रखने का टूटीदार बर्तन) अथवा मदिरापात्र ला दीजिए। एक शौचालय भी मेरे लिए खोदकर बना दीजिए। अपने पुत्र के खेलने के लिए एक शरपात (धनुष) तथा श्रामणेर (श्रमणपुत्र - आपके पुत्र) की बैलगाडी खीचने के लिए एक तीन वर्ष का बैल ला दो।

२९१ शीलभ्रष्ट साधु से उसकी प्रेमिका कहती है—प्रियवर! अपने राजकुमार-से पुत्र के खेलने के लिए मिट्टी की गुडिया, झुनझुना, बाजा, और कपडे की बनी हुई गोल गेद ला दो। देखो, वर्षाऋतु निकट आ गई है, अत वर्षा से बचने के लिए मकान (आवास) और भोजन (भक्त) का प्रबन्ध करना मत भूलना।

२९२ नये सूत से बनी हुई एक मँचिया या कुर्सी, और इधर-उधर घूमने-फिरने के लिए एक जोडी पादुका (खडाऊ) भी ला दे। और देखिये, मेरे गर्भस्थ-पुत्र-दोहद की पूर्ति के लिए अमुक वस्तुएँ भी लाना है। इस प्रकार शीलभ्रष्ट पुरुष स्त्री के आज्ञापालक दास हो जाते है, अथवा स्त्रियाँ दास की तरह शीलभ्रष्ट पुरुषो पर आज्ञा चलाती है।

२९३ पुत्र उत्पन्न होना गार्हस्थ्य का फल है। (पुत्रोत्पत्ति होने पर उसकी प्रेमिका रूठकर कहती है—) इस पुत्र को गोद मे लो, अथवा इसे छोड दो, (मैं नही जानती)। इसके पश्चात् कई शीलभ्रष्ट साधक तो सन्तान के पालन-पोषण मे इतने आसक्त हो जाते है कि फिर वे जिंदगी भर ऊंट की तरह गार्हस्थ्य-भार ढोते रहते है।

२९४ (वे पुत्रपोषणशील स्त्रीमोही पुरुष) रात को भी जागकर धाय की तरह बच्चे को गोद मे चिपकाए रहते है। वे पुरुष मन मे अत्यन्त लज्जाशील होते हुए भी (प्रेमिका का मन प्रसन्न रखने के लिए) धोबी की तरह स्त्री और बच्चे के वस्त्र तक धो डालते हैं।

२९५ इस प्रकार पूर्वकाल मे बहुत से (शील भ्रष्ट) लोगों ने किया है। जो पुरुष भोगो के लिए सावद्य (पापयुक्त) कार्य मे आसक्त है, वे पुरुष या तो दासो की तरह है, या वे मृग की तरह भोले-भोले नौकर है, अथवा वे पशु के समान है, या फिर वे कुछ भी नही (नगण्य अधम व्यक्ति) है।

विवेचन—स्त्री संग से भ्रष्ट साधको की विडम्बना—सूत्रगाथा २७८ से २९५ तक मे स्त्रियो के मोह मे फसकर काम-भोगो मे अत्यासक्त साधको की किस-किस प्रकार से इहलोक मे विडम्बना एव दुर्दशा होती है, और वे कितने नीचे उतर आते है, इसका विशद वर्णन शास्त्रकार ने किया है।

ये विडम्बनायें क्यों और कितने प्रकार की?—साधु तो निर्ग्रन्थ एव वीतरागता के पथ पर चलने वाला तपस्वी एव त्यागी होता है, उसके जीवन की सहसा विडम्बना होती नही, नि स्पृह एव निरपेक्ष जीवन की दुर्दशा होने का कोई कारण नही बशर्ते कि वह प्रतिक्षण जागरूक रहकर

रागभाव और उसके कारणो से दूर रहे। वीतरागता के पथिक द्रव्य और भाव से एकाकी साधक मे रागभाव आ जाता है या अन्य पदार्थों मे आसक्ति होती है, तब साधु जीवन की विडम्बना होती है, विशेषत. स्त्री सम्बन्धी राग, आसक्ति या मोह का बन्धन तो अत्यधिक विडम्बनाकारक है। इसीलिए शास्त्रकार सूत्रगाथा २७८ मे निर्देश करते है—**"ओए सदा ण रज्जेज्जा।"**[1]

इस चेतावनी के बावजूद साधु के चित्त मे पूर्व सस्कारवश या मोहकर्म के उदयवश काम-भोग वासना प्रादुर्भूत हो जाए, तो ज्ञान रूपी अकुश से मारकर तुरन्त उन काम-भोगो से विरक्त—विरत हो जाना चाहिए। जैसे मुनि रथनेमि को महासती राजीमती को देखकर कामवासना प्रादुर्भूत हो गई थी, लेकिन ज्यो ही महासती राजीमती का ज्ञान-परिपूर्ण वचन रूप अकुश लगा कि वे यथा-पूर्व स्थिति मे आगए थे, एकदम कामराग से विरत होगए थे। वैसे ही साधु का मन कदाचित् स्त्री सम्बन्धी भोग-वासना से ग्रस्त हो जाए तो फौरन वह ज्ञान बल द्वारा बलपूर्वक उसे रोके, उसमे बिल्कुल दिलचस्पी न ले, यथापूर्व स्थिति मे आ जाए तो वह शीलभ्रष्टता एव उसके कारण होने वाली विडम्बनाओ से बच सकता है।

स्त्री सम्बन्धी भोगवासना चित्त मे आते ही श्रमण इस प्रकार से चिन्तन करे कि "वह स्त्री मेरी नही है और न मै ही उसका हूँ। फिर मेरा उसके प्रति रागभाव क्यो? यह तो मेरा स्वभाव नही है, मेरा स्वभाव तो वीतरागभाव है। इस प्रकार वह आत्मत्राता श्रमण रागभाव को अपने हृदय से खदेड दे।"[2]

और फिर काम-भोग तो किम्पाकफल के समान भयकर हानिकारक है। किम्पाकफल तो एक ही बार, और वह भी शरीर को ही नष्ट करता है, लेकिन स्त्रीजन्य कामभोग बार-बार जन्म-जन्मातर मे शरीर और आत्मा दोनो को नष्ट करते है। इसीलिए शास्त्रकार कहते है—**'भोगकामी पुणो विरज्जेज्जा।'**

शास्त्रकार की इतनी चेतावनी के बावजूद जो साधु काम-भोगो की कामना को न रोककर उल्टे आसक्ति पूर्वक काम-भोगो के प्रवाह मे बह जाता है, लोग उसकी हसी उडाते है, कहते है—वाह रे साधु! कल तो हमे काम-भोगो को छोडने के लिए कह रहा था, आज स्वय ही काम-भोगो मे बुरी तरह लिपट गया! यह कैसा साधु है! इस प्रकार वह साधु जनता के लिए अविश्वसनीय, अश्रद्धेय, अनादरणीय और निन्दनीय बन जाता है। उसके साथ-साथ उससे सम्बन्धित गुरु, आचार्य तथा अन्य सम्बन्धित श्रमण भी लोक विडम्बना, लोकनिन्दा एव घोर आशातना के पात्र बन जाते हैं। इसी आशय को व्यक्त करने के लिए शास्त्रकार एकवचन युक्त श्रमण शब्द का प्रयोग न करके

---

१ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ११५ के अनुसार

२ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ११५ के अनुसार

(ख) "तीसे सो वयण सोच्चा, सजयाए सुभासिय।
अकुसेण जहा नागो, धम्मे सपडिवाइओ॥"—दशवै० अ० २ गा० १०, तथा उत्तरा अ० १२ गा० ४६

(ग) "न सा मह, नो वि अहपि तीसे
इच्चेव ताओ विणएज्ज राग।" —दशवै० अ० २ गा० ४

बहुवचनयुक्त श्रमण शब्द का प्रयोग करते हुए कहते है—**'भोगे समणाण ।'** जो साधु स्त्री सम्बन्धी कामभोग-सेवन से होने वाली घोर हानि एव हसी की उपेक्षा करके धृष्ट होकर भोग-सेवन मे प्रवृत्त हो जाते है, उनकी कैसी-कैसी दुर्दशा या विडम्बना होती है ? यह विस्तार से बताने के लिए शास्त्रकार कहते हैं—**' सुणेहा, जह भुंजंति भिक्खुणो एगे ।'** अर्थात्—शास्त्रकार स्त्री सम्बन्धी भोगो मे आसक्त शीलभ्रष्ट साधको का बुरा हाल अगली १७ गाथाओ मे स्पष्ट रूप से व्यक्त करते है ।[3]

चार प्रकार की मुख्य विडम्बनायें—चारित्रभ्रष्ट, स्त्रियो मे मूर्च्छित, काम-भोगो मे प्रवृत्त साधुवेषी साधक की जो भयकर विडम्बनाये होती है, उन्हे मुख्यतया चार प्रकारो मे बाँटा जा सकता है -(१) स्त्री वशीभून साधक के सिर पर स्त्री लात मारती है, (२) अपने साथ रहने के लिए विवश कर देती है, (३) घुल-मिल जाने पर नित नई चीजो की फरमाइश करती है, और (४) नौकर की तरह उस पर हुक्म (आज्ञा) चलाती है ।

पहली विडम्बना—जब मायाविनी नारियाँ शीलभ्रष्ट साधु को उसकी वृत्ति-प्रवृत्ति, रग-ढग, चाल-ढाल और मनोभावो पर से जान लेती है कि यह पूरी तरह हमारे वश मे हो गया है । अब हम जैसे इसे कहेगी, वैसे ही यह बिना तर्क किये मान लेगा, तब वे सर्वप्रथम उसे पक्का गुलाम बनाने की दृष्टि से उसके प्रति किये हुए उपकारो का बखान करती हुई तरह-तरह की बाते कहती है ।

वे नारियाँ जब रूठने का-सा स्वाँग करके नाराजी दिखलाती है, तब स्त्रियो का दास बना हुआ वह शीलभ्रष्ट साधु उन रुष्ट कामिनियो को मनाने और उन्हे प्रसन्न करने के लिए अनुनय-विनय करता है, उनके निहोरे करता है, दीन बनकर उनके चरणो मे गिरता है, उनकी झूठ-मूठ प्रशसा भी करता है ।

इतने पर भी रूठी हुई स्त्रियाँ उस कामासक्त साधु की वशवर्तिता और चारित्र दुर्बलता जानकर नही मानती और नाराज होकर उसके सिर पर लात दे मारती है, किन्तु स्त्री-मोहित मूढ साधक उन कुपित स्त्रियो की मार भी हसकर सह लेता है । यह कितनी भयकर विडम्बना है, कि वह श्रमण सिह होता हुआ भी स्त्री परवशता के कारण स्त्रियो के आगे दीन-हीन कायर और गुलाम बन जाता है । शास्त्रकार सूत्रगाथा २७९ मे भ्रष्ट साधक की इसी विडम्बना को व्यक्त करते है—**'अह तं तु पादुद्धट्टु मुद्धि पहणंति ।'**

दूसरी विडम्बना—कई कामुक नारियाँ एक बार शीलभ्रष्ट होने के बाद उस साधु को अपने केशो की लटे दिखलाती हुई कहती हैं—"अगर मेरे इन केशो के कारण तुम मेरे साथ रमण करने मे लज्जित होते हो तो लो, मै अभी इसी जगह इन केशो को नोच डालती हूँ ।" (केश-लुञ्चन तो उपलक्षण मात्र है, कामिनी साधु को वचनबद्ध करने के लिए कहती है—) मै ये केश भी उखाड डालूंगी, और इन आभूषणो को भी उतारने मे नही हिचकूंगी, और भी विदेशगमन, धनोपार्जन आदि कठोर से कठोर दुष्कर काम भी मैं तुम्हारे लिए कर लूंगी, सभी कष्टो को सह लूँगी, बशर्ते कि तुम मेरी एक प्रार्थना को स्वीकार करो, और मुझे वचन दो तुम मेरे सिवाय अन्य किसी भी स्त्री के साथ

---

३ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ११५ पर से

विहरण नही करोगे, मुझे छोडकर अन्यत्र कही नही जाओगे । मै तुम्हारा वियोग क्षणभर भी नही सहन कर सकूँगी । तुम मुझे जो भी आज्ञा दोगे, मै उसका पालन निसकोच करूँगी ।"

इस प्रकार कामुक नारी भद्र साधु को वचनबद्ध करके विडम्बित करती है, कामजाल मे फसा कर उसका जीवन दु खित कर देती है । इसी विडम्बना को द्योतित करने के लिए सूत्रगाथा २८० द्वारा शास्त्रकार कहते है—**'जइ केसियाए नऽन्नत्थ मए चरिज्जासि ।'**

तीसरी विडम्बना –स्त्रियाँ अपने प्रति मोहित शीलभ्रष्ट साधु को कोमल ललित वचनो से दुलार कर आश्वस्त-विश्वस्त करके वचनबद्ध कर लेती है, और जब वे भली-भाँति समझ लेती है कि अब यह साधु मेरे प्रति पक्का अनुरागी हो गया है, तब वह उस साधु को प्रतिदिन नई-नई चीजो की फरमाइश करती है, कभी गृहोपयोगी, कभी अपने साज-सज्जा शृङ्गार की ओर कभी अपनी सुख सुविधा की वस्तु की माँग करती रहती है । अपनी प्रेमिका की नित नई फरमाइशे सुन-सुनकर वह घबरा जाता है, तब उसे आटे-दाल का भाव मालूम होता है कि गृहस्थी बसाने मे या किसी स्त्री के साथ प्रणय सम्बन्ध जोडने पर कितनी हैरानी होती है, अर्थाभाव या आर्थिक सकट के समय कितनी परेशानी भोगनी पडती है ? प्रेमिका द्वारा की गई मागो को ठुकरा भी नही सकता, पूर्ति मे इन्कार भी नही कर सकता बरबस उन माँगो की पूर्ति करते-करते उसकी कमर टूट जाती है, थोडे-से विषय-सुख के बदले कई गुना दु.ख पल्ले पड जाता है । यह भयकर विडम्बना नही तो क्या है ?

कामिनियाँ यो एक पर एक फरमाइशे प्राय मोहमूढ एव स्त्रीवशवर्ती भ्रष्ट साधक से किया करती है । इन सब फरमाइशो के अन्त मे लाओ-लाओ का सकेत रहता है । अगर वह किसी माँग की पूर्ति नही करता है तो प्रेमिका कभी झिडकती है, कभी मीठा उलाहना देती है, कभी आँखे दिखाती है, तो कभी झूठी प्रशसा करके अपनी माँग पूरी कराती है । ललनासक्त पुरुष को नीचा मुँह किये सब कुछ सहना पडता है । यह कितनी बडी विडम्बना है । फिर तो रात-दिन वह तेली के बैल की तरह घर के कार्यो मे ही जुता रहता है, साधना ताक मे रख दी जाती है । इसी तथ्य को शास्त्रकार (सूत्रगाथा २८१ से २९२ तक) १२ गाथाओ द्वारा प्रकट करते है—**"अहण्ण से होती अदु पुत्तदोह-लट्ठाए ।"**[४]

चौथी विडम्बना—पूर्वोक्त तीनो विडम्बनाओ से यह विडम्बना भयकर है । इस विडम्बना से पीडित होने पर शीलभ्रष्ट साधक को छठी का दूध याद आ जाता है । प्रेमिका नारी जब जान लेती है कि यह भूतपूर्व साधु अब पूरा गृहस्थी बन गया है, मुझ पर पूर्ण आसक्त है, और अब यह घर छोडकर कही जा नही सकता, तब वह उस पुरुष को मौका देखकर विभिन्न प्रकार की आज्ञा देती है जैसे—(१) जरा मेरे पैरो को महावर आदि से रग दो, या मेरे पात्रो को रग दो, (२) इधर आओ, मेरी पीठ मे दर्द हो रहा है, जरा इसे मल दो, (३) मेरे वस्त्रो की अच्छी तरह देखभाल करो, इन्हे सुरक्षित स्थान मे रखो, ताकि चूहे, दीमक आदि नष्ट न करे, (४) मुझ से लोच की पीडा सही नही जाती, अत नाई से बाल कटवा देने होगे, (५) मै शौच के लिए बाहर नही जा सकती, अत. शौचादि के लिए एक शौचालय (वर्चोगृह) यही खोदकर या खुदवाकर बना दो, (६) पुत्र उत्पन्न होने पर उसे

---

४ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्रांक ११५ से ११८ तक

संभालने, रखने और खिलाने की क्रिया द्वारा कठोर आदेश—या तो अपने लाल को सम्भालो नही तो छोड दो, मैं नही सभाल सकती। (७) स्त्रीमोही पुरुष (प्रिया की आज्ञा से) रात-रात भर जागकर धाय की तरह बालक को छाती से चिपकाए रखता है। प्रिया का मन प्रसन्न करने के लिए निर्लज्ज होकर धोबी की तरह उसके और बच्चे के कपडे धोने पडते है।

निष्कर्ष यह है कि अपने पर गाढ अनुरक्त देखकर स्त्री कभी पुत्र के निमित्त से, कभी अन्यान्य प्रयोजनो से, कभी अपनी सुख-सुविधा के लिए पुरुष को एक नौकर समझकर जब-तब आदेश देती रहती है और स्त्रीमोही तथा पुत्रपोषक पुरुष महामोहकर्म के उदय से इहलोक और परलोक के नष्ट होने की परवाह न करके स्त्री का आज्ञा-पालक बनकर सभी आज्ञाओ का यथावत् पालन करता है। शास्त्रकार इसी तथ्य को स्पष्टत व्यक्त करते हैं—**'आणप्पा हवंति दाता व।'**

ऐसे विडम्बनापात्र पुरुष पांच प्रकार के—शास्त्रकार ने स्त्री वशीभूत पुरुषो की तुलना पाँच तरह से की है—(१) दास के समान, (२) मृग के समान, (३) प्रेष्य (नौकर) के समान, (४) पशु के समान और (५) सबसे अधम नगण्य।

दास के समान—इसलिए कहा गया है कि स्त्रियाँ नि शक होकर उन्हे गुलाम (दास) की तरह (पूर्व गाथाओ मे उक्त) निकृष्टकामो मे लगाती हैं। **मृग के समान**—इसलिए कहा गया कि जैसे जाल मे पडा हुआ मृग परवश हो जाता है वैसे ही कामजाल मे पडा हुआ स्त्री-वशीभूत पुरुष भी इतना परवश हो जाता है कि स्वेच्छा से वह भोजनादि कोई भी क्रिया नही कर पाता। **क्रीतदास या प्रेष्य के समान**—इसलिए कहा गया है कि उसे नौकर की तरह काम मे लगाया जाता है। **पशु के समान** इसलिए कहा गया है कि स्त्री-वशीभूत पुरुष भी पशु की तरह कर्तव्य-अकर्तव्य के विवेक से शून्य तथा हितप्राप्ति एव अहितत्याग से रहित होते है। जैसे पशु आहार, निद्रा, भय और मैथुन की प्रवृत्ति को ही जीवन का सर्वस्व समझते है, वैसे ही स्त्रीवशीभूत पुरुष भी अहर्निश भोग प्राप्ति, सुख-सुविधाओ की अन्वेषणा, काम-भोगो के लिए स्त्री की गुलामी, ऊँट की तरह रात-दिन तुच्छ सासारिक कार्यो मे जुटे रहने एव उत्तम निरवद्य अनुष्ठानो से दूर रहने के कारण पशु-सा ही है। अथवा **स्त्री-वशीभूत पुरुष** दास, मृग, प्रेष्य और पशु से भी गया बीता, **अधम और नगण्य है।** वह पुरुष इतना अधम है कि उसके समान कोई नीच नही है, जिससे उसकी उपमा दी जा सके। अथवा उभयभ्रष्ट होने के कारण वह पुरुष किसी भी कोटि मे नही है, कुछ भी नही है। अथवा इहलोक-परलोक का सम्पादन करनेवालो मे से वह किसी मे भी नही है। इसी बात को शास्त्रकार अभिव्यक्त करते है—**'दासे मिए व पेस्से वा पसुभूतेवासे ण वा कहे।'**[५]

कठिन शब्दों की व्याख्या—**ओए**—ओज, द्रव्य से परमाणुवत् अकेला और भाव से राग-द्वेष-रहित। **सदा**—सदा के लिए या कदापि। **भोगकामी पुणो विरज्जेज्जा**—वृत्तिकार के अनुसार यदि मोहोदयवश कदाचित् साधु भोगाभिलाषी हो जाए तब स्त्री सम्बन्धी भोगो से होने वाले ऐहिक एव पारलौकिक दु खो का विचार करके पुन उन स्त्रियो से विरक्त हो जाए, चूर्णिकार के अनुसार भोग-कामी पुन विशेष रूप से रक्तगृद्ध हो जाता है। **तो पेसंति तहाभूतेहिं**—मदन रूप कामो मे जिसकी मति (बुद्धि या मन) की वृत्ति-प्रवृत्ति है अथवा काम-भोगो मे जो अतिप्रवृत्त है, कामाभिलाषी है।

---

५. सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ११९

पलिभिंदिया—यह मेरी बात मान लेता है, अर्थात् मेरे वश मे हो गया है, इस प्रकार भलीभाँति जान कर अथवा अपने द्वारा उसके लिये किये हुए कार्यो को गिना कर, **उवलद्धो**—स्त्री जब पुरुष की आकृति, चेष्टा इशारे आदि से यह जान लेती है कि यह साधु मेरे वशीभूत हो गया है। **'तो पेसंति तहाभूएहिं'**—तब उसके अभिप्राय को जानने के पश्चात् नौकर के द्वारा करने योग्य एव छोटे से छोटे कार्य मे नियुक्त करती है अथवा तथाभूत कार्यों का अर्थ यह भी है साधुवेष मे रहने वाले पुरुष के योग्य कार्यों मे प्रवृत्त करती है। चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है **'ततो णं वेसेंति तहारुवेहिं'** अर्थ होता है वशीभूत हो जाने के बाद तथारूप कार्यों के लिए आदेश देती है। **पेहाहि**—देखना, प्राप्त करना। **वग्गूफलाइं आहराहिति**—वल्गु-अच्छे-अच्छे नारियल, केला आदि फलो को ले आना। अथवा **वग्ग-फलाइं** (पाठान्तर) का **'वाक्फलानि'** सस्कृत मे रूपान्तर करके अर्थ हो सकता है—धर्मकथारूप या ज्योतिष व्याकरणादि रूप वाणी (व्याख्यान) से प्राप्त होने वाले वस्त्रादि रूप फलो को ले आइए। **'दारूणि सागपागाए'**—सागभाजी पकाने के लिए लकडियाँ (ईधन), पाठान्तर है **अन्नपाकाय**— चावल आदि, अन्न पकाने के लिए चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है **'अण्णपायाय'** अर्थ उपर्युक्त ही है। **पाताणि मे रयावेहि**—मेरे पात्रो को रग दो, रग-रौगन कर दो, अथवा मेरे पैर महावर आदि से रग दो। **कासवग च मे समणुजाणाहि**—सिर मूँडने के लिए काश्यप, नाई को आज्ञा दो अथवा नाई से बाल कटाने की अनुज्ञा दो, (ताकि मै अपने लम्बे केशो को कटवा डालूँ।) **'कोसं च मोयमेहाए'**- मोके— पेशाब करने के लिए कोश—भाजन। **कुक्कुहय**—चूर्णिकार के अनुसार अर्थ है—तुम्बबीणा, वृत्तिकार के अनुसार अर्थ है—खुनखुना। **वेणुपलासिय**- बशी या बासुरी। **गुलियं**—औषध गुटिका—सिद्ध गुटिका, जिससे यौवन नष्ट न हो। **'तेल्लं मुहभिलिगजाए'**—मुख पर अभ्यगन करने—मलने के लिए ऐसा तेल लाएँ, जो मुख की कान्ति बढाए। **वेणुफलाइ सन्निधाणाए**—बास के फलक की बनी हुई पेटी ला दे, **सुफणि**—जिसमे सुखपूर्वक तक्रादि पदार्थ पकाएँ या गर्म किए जा सके ऐसा बर्तन तपेली या बटलोई। **घिंसु**—ग्रीष्म ऋतु मे। **चंदालग**—देवपूजन करने के लिए ताबे का छोटा लोटा, जिसे मथुरा मे **'चन्दालक'** (चण्डुल) कहते हैं। **करगं**—कदक-करवा पानी रखने का धातु का एक बर्तन अथवा मद्य का भाजन। **वच्चघर**—वर्चोग्रह—पाखाना, शौचालय। चूर्णिकार के अनुसार- **'वच्च-घरग ण्हाणिगा'**—वर्चोगृह का अर्थ स्नानिका-स्नानघर। **खणाहि**— बनाओ। **सरपादगं**—जिस पर रख कर बाण (शर) फेंके जाते है, धनुष। **गोरहगं**- तीन वर्ष का बैल, अथवा बैलो से खीचा जाने वाला छोटा रथ। **सामणेराए**—श्रामणेर—श्रमण पुत्र के लिए। **घडिग**—मिट्टी की छोटी कुलडीया, घडिया अथवा छोटी-सी गुडिया। **सडिंडिमयं**— ढोल आदि के सहित बाजा या झुनझुना। **चेलगोल**—कपडे की बनी हुई गोल गेद। **कुमारभूताय**—राजकुमार के समान अपने कुमार के लिए। **'आवसह च जाण भत्त च'**—वर्षाकाल मे निवास करने योग्य मकान (आवास) और चावल आदि भोजन का प्रबन्ध कर लो। चूर्णिकार के अनुसार पाठान्तर है—**'आवसथ जाणाहि भत्ता।'** अर्थात्—हे स्वामी (पतिदेव)! बर्षाकाल सुख से बिताने योग्य मकान के प्रबन्ध का ध्यान रखना। **'पाउल्लाइं संकमट्ठाए'**—वृत्तिकार के अनुसार—मूज की बनी हुई या काष्ठ की बनी हुई पादुका—खडाऊ, इधर-उधर घूमने के लिए लाओ, चूर्णिकार के अनुसार—**कट्ठपाउणाओ**—काष्ठ-पादुका। **'आणप्पा हवंति दासा वा'**—खरीदे हुए दास की तरह ऐसे पुरुषो पर स्त्रियो द्वारा आज्ञा की जाती है। **संठवेति धाती वा**—धाय की तरह बच्चे को गोद मे रखते है। चूर्णिकार के अनुसार पाठान्तर है—**सण्णवेंति धाव इवा**—अर्थ होता है—रोते हुए बच्चे को धाय की तरह अनेक प्रकार के मधुर आलापों से समझा-बुझाकर रखते

(चुप करते) हैं। **सुहिरामणा वि ते संता**—मन मे अत्यन्त लज्जित होते हुए भी वे, लज्जा को छोड़कर स्त्री के मन को प्रसन्न रखने हेतु स्त्री वचनानुसार सबसे नीच (हलका) काम भी कर लेते है। **हसा वा**—धोबियों की तरह। **'भोगत्थाए जेऽभियावन्ना'**—कामभोगो के लिए ऐहिक-पारलौकिक दु खो का विचार किये बिना भोगो के अभिमुख—अनुकूल सावद्य अनुष्ठानो मे प्रवृत। चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है—**'भोगत्थाए इत्थियाभि आवण्णा'** अर्थ होता है—कामभोगो की प्राप्ति के लिए स्त्रियो मे अत्यासक्त।[७]

उपसंहार

> २९६. **एयं खु तासु विण्णप्पं, सथव संवास च चएज्जा।**
> **तज्जातिया इमे कामा, वज्जकरा य एवमक्खाता ॥१९॥**
>
> २९७. **एव भय ण सेयाए, इति से अप्पगं निरु भित्ता।**
> **णो इत्थि णो पसु भिक्खू, णो सयपाणिणा णिलिज्जेज्जा ॥२०॥**
>
> २९८. **सुविसुद्धलेस्से मेधावी, परकिरियं च वज्जए णाणी।**
> **मणसा वयसा कायेणं, सव्वफाससहे अणगारे ॥२१॥**
>
> २९९. **इच्चेवमाहु से वीरे, धूतरए धूयमोहे से भिक्खू।**
> **तम्हा अज्झत्थविसुद्धे, सुविमुक्के आमोक्खाए परिव्वएज्जासि ॥२२॥**
>
> **—त्ति बेमि।**

॥ इत्थीपरिण्णा चउत्थमज्झयणं समत्त ॥

२९६ उनके (स्त्रियो के) विषय मे इस प्रकार की बाते बताई गई है, (इसलिए) साधु स्त्रियो के साथ सस्तव (ससर्ग--अतिपरिचय) एव सवास (सहवास) का त्याग करे। स्त्रीससर्ग से उत्पन्न होने वाले ये काम-भोग पापकारक या वज्रवत् पापकर्म से आत्मा को भारी करने वाले है, ऐसा तीर्थकरो ने कहा है।

२९७. स्त्री ससर्ग करने से जो (पूर्वोक्त) भय खतरे पैदा होते है, वे कल्याणकारी (श्रेयस्कर) नही होते। यह जानकर साधु स्त्रीससर्ग को रोककर स्त्री और पशु से युक्त स्थान मे निवास न करे, न ही इन्हे अपने हाथ से स्पर्श करे, अथवा अपने हाथ से अपने गुप्तेन्द्रिय का पीडन न करे।

२९८ विशुद्ध लेश्या (चित्त की परिणति) वाला मेधावी--मर्यादा मे स्थित ज्ञानी साधु मन, वचन और काया से परक्रिया (स्त्री आदि से सम्बन्धित विषयोपभोगादि पर-सम्बन्धी क्रिया, अथवा स्त्री आदि पर-व्यक्ति से अपने पैर दबवाना, धुलाना आदि क्रिया) का त्याग करे। (वास्तव मे,) जो समस्त (स्त्री, शीतोष्ण, दशमशक आदि परीषहो के) स्पर्शों को सहन करता है, वही अनगार है।

२९९ जिसने स्त्री आदि सगजनित रज यानी कर्मों को दूर कर दिया था, जिसने मोह (राग-द्वेष) को पराजित कर दिया था, उन वीर प्रभु ने ही यह (पूर्वोक्त स्त्रीपरिज्ञा सम्बन्धी तथ्य) कहा है।

---

७ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ११५ से ११९ तक

(ख) सूत्रकृताग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ ५० से ५३ तक

इसलिए विशुद्धात्मा (सुविशुद्धचेता) (स्त्रीससर्ग से) अच्छी तरह विमुक्त वह भिक्षु मोक्षपर्यन्त (सयमानुष्ठन मे) प्रवृत्त—उद्यत रहे। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—स्त्रीसंग से विमुक्त रहने का उपदेश—स्त्रीपरिज्ञा—अध्ययन का उपसहार करते हुए शास्त्रकार ने चार गाथाओ (सूत्रगाथा २९६ से २९९ तक) द्वारा ज्ञपरिज्ञा से पूर्वोक्त गाथाओ मे कथित स्त्रीसंग से होने वाले अनर्थो को जानकर प्रत्याख्यानपरिज्ञा से उसका सर्वथा त्याग करने का उपदेश दिया है।

स्त्रीसंग-त्याग क्यो, कैसे और कौन करे ?—प्रस्तुत चतु सूत्री मे स्त्रीसगत्याग के तीन पहलू है—(१) साधु स्त्रीसगत्याग क्यो करे ? (२) कैसे किस-किस तरीके से करे ? और (३) स्त्री-सगत्यागी किन विशेषताओ से युक्त हो ?

क्यो करें ? समाधान—साधु के लिए स्त्रीसग परित्याग का प्रथम समाधान यह है कि प्रथम उद्देशक एव द्वितीय उद्देशक की पूर्वगाथाओ मे स्त्रीसग से होने वाले अनर्थों, पापकर्म के गाढ बन्धनो, शीलभ्रष्ट साधक की अवदशाओ एव विभिन्न विडम्बनाओ को देखते हुए साधु को स्त्रीसग तथा स्त्री-सवास से दूर रहना अत्यावश्यक है। जैसा कि सूत्रगाथा २९६ के पूर्वार्द्ध मे कहा गया है **'एव खु तासु विण्णप्प संथव सवास च चएज्जा।'**

दूसरा समाधान—स्त्रीससर्ग इसलिए वर्जनीय है कि तीर्थकरो गणधरो आदि ने स्त्रीससर्ग से उत्पन्न होने वाले तज्जातीय जितने भी कामभोग है, उन्हे पापकर्म को पैदा करने वाले या वज्र के समान पाप-कर्मो से आत्मा को भारी करने वाले बताए है। उत्तराध्ययन सूत्र (अ० १४।१३) मे भगवान् महावीर ने कहा है—

> **"खणमित्त सुक्खा, बहुकाल दुक्खा पगामदुक्खा अणिगामसुक्खा।**
> **संसारमोक्खस्स विपक्खभूया खाणी अणत्थाण उ कामभोगा।"**

काम-भोग क्षणमात्र सुख देने वाले है चिरकाल तक दु ख। वे अत्यन्त दु खकारक और अल्प सुखदायी होते है, ससार से मुक्ति के विपक्षीभूत कामभोग अनर्थो की खान है।

तीसरा समाधान—पूर्वगाथाओ के अनुसार स्त्रियो द्वारा कामजाल मे फँसाने की प्रार्थना, अनुनय, मायाचार आदि विविध तरीके तथा उनके साथ किया जाने वाला विभिन्न प्रकार का ससर्ग-सवास भयकारक है—खतरनाक है, वह साधु के सयम को खतरे मे डाल देता है, इसलिए साधु के लिए वह कथमपि श्रेयस्कर-कल्याणकर नही है, इस कारण स्त्रीसग सर्वथा त्याज्य है। इसे ही शास्त्रकार सूत्रगाथा २९७ के प्रथम चरण मे कहते है—**'एयं भय ण सेयाए।'**

चौथा समाधान—वीर प्रभु ने स्त्रीससर्ग को महामोहकर्मबन्ध का तथा अन्य कर्मो का कारण माना और स्वय स्त्रीससर्गजनित कर्मरज से मुक्त बने, तथा राग-द्वेष-मोह-विजयी हुए। इसीलिए स्त्रीपरिज्ञा-अध्ययन मे जो बाते कही गई है, वे सब विश्वहितकर शासनेश श्रमण भगवान् महावीर ने विशेष रूप से साधको के लिए कही हैं। वे श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के सघ (तीर्थ) के सभी साधु-साध्वियो के लिए लागू होती है। अत भगवान् महावीर द्वारा स्त्रीसगत्याग ब्रह्मचर्यमहाव्रती साधु

के लिए समादिष्ट होने से तदनुसार चलना अनिवार्य है। सूत्रगाथा २९९ में शास्त्रकार कहते हैं—
"इच्चेवमाहु से वीरे धूतरए धूयमोहे तम्हा ।"[८]

कुछ प्रेरणाएँ—इसके पश्चात् स्त्रीसगत्याग का दूसरा पहलू है—साधु स्त्रीसंगत्याग कैसे या किस तरीके से करे ? वैसे तो इस अध्ययन के प्रथम उद्देशक मे, तथा द्वितीय उद्देशक की पूर्वगाथाओ मे यत्र-तत्र स्त्रीसगत्याग की प्रेरणा दी गई है, फिर भी परमहितैषी शास्त्रकार ने पुन इसके लिए कुछ प्रेरणाएँ अध्ययन के उपसहार मे दी है।

प्रथम प्रेरणा—उपसर्गपरिज्ञा अध्ययन मे स्त्री ससर्ग, स्त्रीपरिचय, स्त्रीमहवास तथा स्त्री-मोह से जो-जो अनर्थ परम्पराएँ बताई गई है, उन्हे ध्यान मे रखकर आत्महितैषी साधु स्त्रीसस्तव, (ससर्ग) स्त्रीसवास (सहनिवास) आदि का त्याग करे। सूत्रगाथा २९६ मे **'संथव संवासं च चएज्जा'** इस पक्ति द्वारा स्पष्टत स्त्रीसगत्याग की प्रेरणा दी गई हैं।

द्वितीय प्रेरणा—स्त्रीससर्गजनित अनेक खतरो मे से कोई भी खतरा पैदा होते ही साधु तुरन्त अपने आपको उससे रोके। बिजली का करेन्ट छू जाते ही जैसे मनुष्य सावधान होकर फौरन दूर हट जाता है, उसका पुन स्पर्श नही करता, वैसे ही स्त्रीसगजनित (प्रथम उद्देशक मे वर्णित) कोई भी उपद्रव-उपसर्ग पैदा होता दीखे कि साधक उसे खतरनाक (भयकारक) एव आत्मविनाशकारी समझ-कर तुरन्त सावधान हो जाए, उससे दूर हट जाए, अपने-आपको उसमे पडने से रोक ले और सयमपथ मे स्थापित करे। उसका स्पर्श बिलकुल न करे। शास्त्रकार ने इन शब्दो मे प्रेरणा दी है—**'इति से अप्पग निरु भित्ता ।"**

तृतीय प्रेरणा स्त्रीसगपरित्याग के सन्दर्भ मे तृतीय प्रेरणा सूत्र गाथा २९७ के उत्तरार्द्ध द्वारा दी गई है—**'णो इत्थि, णो पसु भिक्खू, णो सयपाणिणा णिलिज्जेज्जा ।'** इस पक्ति मे णिलिज्जेजा (निलीयेत) इस एक ही क्रिया के चार अर्थ फलित होने से स्त्रीसगत्याग के सन्दर्भ मे क्रमश चार प्रेरणाएँ निहित है—(१) भिक्षु स्त्री और पशु को अपने निवास स्थान मे आश्रय न दे, (२) स्त्री और पशु से युक्त सवास का आश्रय न ले, क्योकि साधु के लिए शास्त्र मे स्त्री-पशु-नपुसक-वर्जित शयनासन एव स्थान ही विहित है, (३) साधु स्त्री और पशु का स्पर्श या आश्लेष भी अपने हाथ से न करे, और (४) साधु स्त्री या पशु के साथ मैथुन सेवन की कल्पना करके अपने हाथ से स्वगुप्तेन्द्रिय का सम्बाधन (पीडन या मर्दन) न करे—हस्तमैथुन न करे।

चौथी प्रेरणा—स्त्रीससर्ग-त्याग के सिलसिले मे शास्त्रकार चौथी प्रेरणा सूत्रगाथा २९८ के द्वितीय चरण द्वारा देते हैं—**'परकिरियं च वज्जए णाणी ।'** अर्थात्—ज्ञानी साधु परक्रिया का त्याग करे। प्रस्तुत सन्दर्भ मे परक्रिया के लगभग चार अर्थ प्रतीत होते हैं—(१) आत्मभावों से अन्य परभावो-अनात्मभावो की क्रिया, अथवा आत्महित मे बाधक क्रिया, परक्रिया है, (२) स्त्री आदि आत्मगुण बाधक (पर) पदार्थ के लिए जो क्रिया की जाती है, अर्थात्—विषयोपभोग द्वारा (देकर) जो

---

८ (क) सूत्रकृतांग शीलाकवृत्ति पत्रांक ११९

परोपकार किया जाता है, वह भी परक्रिया है, (३) विषयभोग की सामग्री देकर दूसरे की सहायता करना भी परक्रिया है, और (४) दूसरे से—गृहस्थ नर-नारी से अपने पैर आदि दबवाना, पैर धुलाना आदि सेवा लेना भी परक्रिया है।

स्त्रीसगपरित्याग के सन्दर्भ मे उपर्युक्त चारो अर्थों की छाया मे काम-विकार-सेवन की दृष्टि से परक्रिया का मन-वचन-काया से सर्वथा त्याग करे, यही इस प्रेरणा का आशय है।

तात्पर्य यह है कि औदारिक एव दिव्य कामभोगरूप परक्रिया के लिए वस्तुतत्त्व ज्ञानी साधु मन से भी विचार न करे, दूसरे को भी मन से परक्रिया के लिए प्रेरित न करे, ऐसा (परक्रिया का) विचार करने को मन से भी अच्छा न समझे। इसी प्रकार वचन और काया से भी इस प्रकार की परक्रिया का त्याग तीन करण से समझ लेना चाहिए। इस प्रकार औदारिक कामभोगरूप परक्रिया त्याग के ९ भेद हुए, वैसे ही दिव्य (वैक्रिय) कामभोगरूप परक्रिया त्याग के भी ९ भेद होते हैं। यो १८ प्रकार की परक्रिया (अब्रह्मचर्य-मैथुनसेवनरूप) का साधु त्याग करे, और १८ प्रकार से ब्रह्मचर्यव्रत को सुरक्षित रखे।[९]

अथवा परक्रियात्याग का अर्थ दशविध ब्रह्मचर्य समाधि स्थान भग करने वाली स्त्री-सगरूप उपसर्ग की कारणभूत अब्रह्मचर्यवर्द्धक १० प्रकार की क्रियाओ का त्याग भी हो सकता है। वे दस अब्रह्मचर्यवर्द्धक परक्रियाएँ ये है—

(१) निर्ग्रन्थ ब्रह्मचारी स्त्री-पशु-नपुसक ससक्त शयनासन या स्थान का सेवन करे।

(२) स्त्रियो के शृगार, विलास आदि की कामवर्द्धक विकथा करे।

(३) स्त्रियो के साथ एक आसन या शय्या पर बैठे या स्त्रियाँ जिस आसन या स्थानादि पर बैठी हो, उस पर तुरन्त ही बैठे। स्त्रियो के साथ अतिससर्ग, अतिसभाषण करे।

(४) स्त्रियो की मनोहर, मनोरम इन्द्रियो या अगोपागो को कामविकार की दृष्टि से देखे, टकटकी लगाए निरीक्षण करे।

(५) दीवार, कपडे के पर्दे, या भीत के पीछे होने वाले स्त्रियो के नृत्य, गीत, क्रन्दन, विलाप, रुदन, हास्य, विलास आदि शब्दो को सुने।

(६) स्त्रियो के साथ पूर्वरत, पूर्वक्रीडित कामभोगो का स्मरण करे।

(७) सरस, स्निग्ध एव स्वादिष्ट कामवर्द्धक आहार करे।

(८) अतिमात्रा मे आहार-पानी करे।

(९) शरीर का शृगार करे, मडन-विभूषा करे।

---

९. (क) सूत्रकृताग शीलांकवृत्ति पत्राक ११९, १२०

(ख) देखिये आचा० श्रुत० १३ वाँ अध्ययन परक्रियासप्तक आचा० विवेचन पृ० ३४४ सू० ६९० से ७२९ तक।

(१०) मनोज्ञ शब्द रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का आसक्तिपूर्वक सेवन-उपभोग करे।[10]

निष्कर्ष यह है, इन दस प्रकार की ब्रह्मचर्यबाधक परक्रियाओं का सर्वथा परित्याग करने की प्ररणा भी शास्त्रकार का आशय हो सकता है।

पाठान्तर और कठिन शब्दों की व्याख्या—णिलिज्जेज्जा—वृत्तिकार के अनुसार—**निलीयेत**—लीन-आश्रित-ससक्त हो, आश्रय ले या आश्लेष करे, सम्बाधन (पीडन या मर्दन) करे, या स्त्री आदि का स्पर्श करे।[11] चूर्णिकार के अनुसार—**णिलेज्जं ति हत्थकम्मं न कुर्यात्। निलंजनं नाम स्पर्श करणं अथवा स्वेन पाणिना त प्रदेशमपि न लीयते।** अर्थात्—**णिलेज्ज** का अर्थ है—हस्तकर्म न करे अथवा निलजन कहते है—स्पर्श करने को। (स्त्री आदि का स्पर्श न करे) अथवा अपने हाथ से उस गुह्यप्रदेश का पीडन (मर्दन) न करे। **से भिक्खू**—भिक्षु, चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर है—**सभिक्खू**। अर्थ किया है—'**सोभणो भिक्ख सभिक्खू**' अर्थात्—अच्छाभ भिक्षु।[11]

।। द्वितीय उद्देशक समाप्त ।।

।। स्त्रीपरिज्ञा : चतुर्थ अध्ययन सम्पूर्ण ।।

---

१० आलओ थीजणाइण्णो, थीकहाय मणोरमा।
 सथवो चेव नारीण, तासिं इदियदरिसण ।।११।।
 कुइय रुइय गीय हासि य भुत्ताऽऽसियाणि य।
 पणीय भत्तपाण च अइमाय पाणभोयण ।।१२।।
 गत्तभूसणमिट्ठ च कामभोगा य दुज्जया।
 नरस्सत्तगवेसिस्स विस तालउड जहा ।।१३।। —उत्तर० अ० १६

११. सू० कृ० शीलांकवृत्ति पत्रांक १२०

नरक-विभक्ति : पंचम अध्ययन

प्राथमिक

☐ सूत्रकृतांग सूत्र (प्र० श्रु०) के पंचम अध्ययन का नाम **निरयविभक्ति** अथवा **नरकविभक्ति** है।[1]

☐ कर्म-सिद्धान्त के अनुसार जो जीव हिंसा, असत्य, चोरी, कुशीलसेवन, महापरिग्रह, महारम्भ, पंचेन्द्रियजीवहत्या, मांसाहार आदि पापकर्म करता रहा है, उससे भारी पापकर्मों का बन्ध होता है, तथा उस पापकर्मबन्ध का फल भोगने हेतु नरक (नरक-गति) में जन्म लेना पड़ता है। और यह सर्वज्ञ जिनेन्द्रो द्वारा प्ररूपित आगमों से सिद्ध है।[2]

☐ वैदिक, बौद्ध और जैन, तीनों परम्पराओं में नरक के महादुःखों का वर्णन है। योगदर्शन के व्यासभाष्य में ६ महानरकों का वर्णन है। भागवतपुराण में २७ नरक गिनाये गए हैं। बौद्ध-परम्परा के पिटकग्रन्थ सुत्तनिपात के कोकालियसुत्त में नरकों का वर्णन है। अभिधर्मकोष के तृतीयकोश स्थान के प्रारम्भ में ८ नरकों का उल्लेख है। इन सब स्थलों को देखने से प्रतीत होता है—नरक विषयक मान्यता सभी आस्तिक दर्शनों में अति प्राचीन काल से चली आ रही है, और भारतीय धर्मों की तीनों शाखाओं में नरक-वर्णन एक-दूसरे से काफी मिलता-जुलता है। उनकी शब्दावली भी बहुत कुछ समान है।[3]

☐ यों तो नरक एक क्षेत्रविशेष (गति) का नाम है, जहाँ जीव अपने दुष्कर्मों का फल भोगने के लिए जाता है, स्थिति पूर्ण होने तक रहता है। अथवा घोर वेदना के मारे जहाँ जीव चिल्लाता है, सहायता के लिए एक-दूसरे को सम्बोधित करके बुलाता है, वह नरक है। अथवा घोर पापकर्मी जीवों को जहाँ दुर्लंघ्य रूप से बुला लिया जाता है, वह नरक है।[4]

☐ नरक का पर्यायवाची 'निरय' शब्द है, जिसका अर्थ होता है—सातावेदनीयादि शुभ या इष्टफल जिसमें से निकल गए हैं, वह निरय है।[5]

☐ निर्युक्तिकार ने निक्षेप की दृष्टि से नरक के ६ अर्थ किये हैं—'नामनरक' और 'स्थापनानरक'

---

१ वृत्तिकार के अनुसार इस अध्ययन का नाम 'नरकविभक्ति' है।

२ सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ५७२

३ जैनसाहित्य का बृहद् इतिहास भा० १, पृ० १४६

४ सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ५७४ में देखिये नरक की परिभाषा

(अ) नरान् कायन्ति शब्दयन्ति, योग्यतायां अनतिक्रमेणाऽऽकारयन्ति जन्तून् स्व-स्व स्थाने इति नरकाः।

५ निर्गतमय शुभमस्मादिति निरयः, अथवा निर्गतमिष्टफलं सातावेदनीयादि रूपं येभ्यस्ते निरयाः।

सुगम है। द्रव्यनरक के मुख्य दो भेद—आगमत , नो आगमत । जो नरक को जानता है, किन्तु उसमे उपयोग नही रखता, वह आगमत द्रव्यनरक है। नो आगमत द्रव्यनरक (ज्ञशरीर-भव्य-शरीर-तद्व्यतिरिक्तरूप) वे जीव है जो इसी लोक मे मनुष्य या तिर्यञ्च के भव मे अशुभ कर्म करने के कारण अशुभ हैं, या बंदीगृहो, बन्धनो या अशुभ, अनिष्ट क्षेत्रो मे परिवारो मे नरक-सा कष्ट पाते है, अथवा द्रव्य और नोकर्मद्रव्य के भेद से द्रव्यनरक दो प्रकार का है। जिनके द्वारा नरक वेदनीय कर्म बधे जा चुके हैं, वे एकभविक, बद्धायुष्क और अभिमुखनामगोत्र (कर्म) की दृष्टि से द्रव्य नरक हैं, नोकर्मद्रव्य की दृष्टि से **'द्रव्यनरक'** इसी लोक मे अशुभ शब्द, रूप, रस, गन्ध, और स्पर्श हैं। नारको के रहने के ८४ लाख स्थान **'क्षेत्रनरक'** है। जिस नरक की जितनी स्थिति है, वह **'कालनरक'** है। नरकयोग्य कर्म का उदय या नरकायु का भोग **'भावनरक'** है। अथवा नरक मे स्थित जीव या नरकायु के उदय से उत्पन्न असातावेदनीयादि कर्मोदय वाले जीव भी **'भावनरक'** कहे जा सकते है।

☐ प्रस्तुत अध्ययन मे क्षेत्रनरक, कालनरक और भावनरक की दृष्टि से निरूपण किया गया है।[६]

☐ विभक्ति कहते है—विभाग यानी स्थान को। इस दृष्टि से **'नरक (निरय) विभक्ति'** का अर्थ हुआ वह अध्ययन, जिसमे नरक के विभिन्न विभागो-स्थानो के क्षेत्रीय दु:खो, पारस्परिक दु खो तथा परमाधार्मिक असुरकृत दु खो का वर्णन हो। तात्पर्य यह है कि हिसा आदि भयकर पापकर्म करने वाले जीवो का विभिन्न नरकवासो मे जन्म लेकर भयकर शब्द-रूप-रस-गन्ध-स्पर्शकृत क्षेत्रीय दु खो के अतिरिक्त पारस्परिक एव परमाधार्मिककृत कैसे-कैसे घोर दु ख सहने पडते हैं? इन अनिष्ट विषयो से नारको को कैसी वेदना का अनुभव होता है? उनके मन पर क्या-क्या प्रतिक्रियाएँ होती है, इन सबका सम्पूर्ण वर्णन 'नरकविभक्ति' अध्ययन के दोनो उद्देशको मे है। प्रथम उद्देशक मे २७ और द्वितीय उद्देशक मे २५ गाथाएँ है।[७]

☐ स्थानाग सूत्र मे नरकगति के चार और तत्त्वार्थ सूत्र मे नरकायु के दो मुख्य कारणो का उल्लेख है। तथा जो लोग पापी है—हिसक, असत्यभाषी, चोर, लुटेरे, महारम्भी-महापरिग्रही है, असदाचारी-व्यभिचारी है, उन्हे इन नरकावासो मे अवश्य जन्म लेना पड़ता है। अत धीर साधक नरकगति या नरकायुबन्धन के इन कारणो और उनके फलस्वरूप प्राप्त होने वाले दारुण दु खो को सुन-समझकर इनसे बचे, हिसादि पापो मे प्रवृत्त न हो, और स्व-पर कल्याणरूप सयमसाधना मे अहर्निश सलग्न रहे, यही इस अध्ययन का उद्देश्य है।[८]

☐ **'नरकविभक्ति'** का एक अर्थ यह भी है—नरक के प्रकार, भूमियाँ, उनकी लम्बाई-चौडाई-मोटाई

---

६ सूत्रकृताग निर्युक्ति गा० ६४-६५

७ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १२२
(ख) जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भा० १ पृ० १४६

८ (क) महारभेण महापरिग्गहेण पचेन्दियवहेण कुणिमाहारेण । —स्था० ४
(ख) 'बह्वारम्भ परिग्रहत्व च नारकस्यायुष ।' —तत्त्वार्थ अ० ३०

आदि विभिन्न नारको की स्थिति, लेश्या, नरको के विविध दु ख, दु'खप्रदाता नरकपाल आदि समस्त विषयो का विभाग रूप से जिस अध्ययन मे निरूपण हो।

☐ **नरक सात है**—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पकप्रभा, धूमप्रभा, तप प्रभा, महातम प्रभा। इनके सात रूढिगत नाम गोत्र है—घम्मा, वशा, शैला, अजना, अरिष्टा, मघा और माघवती। ये ही सात नरकभूमियाँ है, जो एक-दूसरी के नीचे असख्य योजनो के अन्तर पर घनोदधि, घनवात, तनुवात और आकाश के आधार पर स्थित है। वे नरकभूमियाँ क्रमश: ३० लाख, २५ लाख, १५ लाख, १० लाख, पाँच कम एक लाख और पाँच आवासो मे विभक्त हैं।

☐ **नरकवासियों की उत्कृष्ट स्थिति**—नरक मे क्रमश १, ३, ७, १०, १७, २२ और २३ सागरोपमकाल की स्थिति है।

☐ **नारकों की आकृति-प्रकृति**—नारक जीवो की लेश्या, परिणाम, आकृति अशुभतर होती है, उनकी वेदना असह्यतर होती है, उनमे विक्रियाशक्ति होती है जिससे शरीर के छोटे-बड़े विविध रूप बना सकते है।

☐ **नरक मे प्राप्त होने वाले विविध दु:ख**—मुख्यतया तीन प्रकार के है—(१) परस्परकृत। (२) क्षेत्रजन्य और (३) परमाधार्मिककृत।[९]

☐ **नारको को दु ख देने वाले परमाधार्मिक असुर**—नरकपाल १५ प्रकार के है—(१) अम्ब, (२) अम्बर्षि, (३) श्याम, (४) सबल, (५) रौद्र, (६) उपरुद्र, (७) काल, (८) महाकाल, (९) असिपत्र, (१०) धनुष, (११) कुम्भ, (१२) बालु, (१३) वैतरणी, (१४) खरस्वर और (१५) महाघोष। ये असुर स्वभाव से बडे क्रूर होते है। ये नारको को पूर्वकृत पापकर्म याद दिलाकर उन्हे विविध प्रकार से भयकर यातना देते है।

☐ सूत्रगाथा ३०० से प्रारम्भ होकर ३५१ सूत्रगाथा पर पचम अध्ययन समाप्त होता है।

☐☐

---

९ (क) सूत्रकृताग निर्युक्ति गा० ६८ से ८४ तक

(ख) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १२३ से १२५ तक

पंचमं अज्झयणं : 'णिरयविभत्ती'

पंचम अध्ययन : नरकविभक्ति

पढमो उद्देसओ : प्रथम उद्देशक

नरक जिज्ञासा और संक्षिप्त समाधान

३००. पुच्छिस्स हं केवलियं महेसिं, कहंऽभितावा णरगा पुरत्था ।
अजाणतो मे मुणि बूहि जाणं, कहं णु बाला णरगं उवेंति ।।१।।

३०१. एवं मए पुट्ठे महाणुभागे, इणमब्बवी कासवे आसुपण्णे ।
पवेदइस्सं दुहमट्ठदुग्गं, आदीणियं दुक्कडियं पुरत्था ।।२।।

३०२. जे केइ बाला इह जीवियट्ठी, पावाइं कम्माइं करेंति रुद्दा ।
ते घोररूवे तिमिसंधयारे, तिव्वाभितावे नरए पडंति ।।३।।

३०३. तिव्वं तसे पाणिणो थावरे य, जे हिंसती आयसुहं पडुच्चा ।
जे लूसए होति अदत्तहारी, ण सिक्खती सेयवियस्स किंचि ।।४।।

३०४. पागब्भि पाणे बहुणं तिवाती, अणिव्वुडे घातमुवेति बाले ।
णिहो णिसं गच्छति अंतकाले, अहो सिरं कट्टु उवेति दुग्गं ।।५।।

३०० (श्री सुधर्मा स्वामी कहते है--) मैने पहले केवलज्ञानी महर्षि महावीर स्वामी से पूछा था कि नरक किस प्रकार की पीडा (अभिताप) से युक्त है ? हे मुने ! आप इसे जानते है, (अत:) मुझ अज्ञात (न जानने वाले) को कहिये, (कि) मूढ अज्ञानी जीव किस कारण से नरक पाते है ?

३०१. इस प्रकार मेरे (श्री सुधर्मा स्वामी के) द्वारा पूछे जाने पर महानुभाव (महाप्रभावक) काश्यपगोत्रीय आशुप्रज्ञ (समस्त वस्तुओ मे सदा शीघ्र उपयोग रखने वाले) भगवान् महावीर ने कहा कि यह (नरक) दु खहेतुक या दु खरूप (दु:खदायक) एव दुर्ग (विषम, गहन अथवा असर्वज्ञो द्वारा दुर्विज्ञेय) है । वह अत्यन्त दीन जीवो का निवासस्थान है, वह दुष्कृतिक (दुष्कर्म—पाप करने वालों या पाप का फल भोगने वालो से भरा) है । यह आगे चलकर मैं बताऊँगा ।

३०२ इस लोक मे कई रौद्र, प्राणियो मे हिंसादि घोर कर्म से भय उत्पन्न करने वाले जो

अज्ञानी जीव अपने जीवन के लिए हिंसादि पापकर्म करते है, वे घोर रूप वाले, घोर अन्धकार से युक्त तीव्रतम ताप (गर्मी) वाले नरक मे गिरते हैं।

३०३-३०४ जो जीव अपने विषयसुख के निमित्त त्रस और स्थावर प्राणियो की तीव्र रूप से हिंसा करता है, जो (लूषक) अनेक उपायो से प्राणियो का उपमर्दन करता है, तथा अदत्तहारी (बिना दिये परवस्तु का हरण कर लेता) है, एव (आत्महितैषियो द्वारा) सेवनीय (या श्रेयस्कर) सयम का थोडा-सा भी अभ्यास (सेवन) नही करता, जो पुरुष पाप करने मे धृष्ट है, अनेक प्राणियो का घात करता है, जिसकी क्रोधादिकषायाग्नि कभी बुझती नही, वह अज्ञानी जीव अन्तकाल (मृत्यु के समय) में नीचे घोर (अन्धकारमय नरक) मे चला जाता है, (और वहाँ) सिर नीचा किये (करके) वह कठोर पीडा-स्थान को प्राप्त करता है।

विवेचन—नरक के सम्बन्ध मे स्वय उद्भावित जिज्ञासा—प्रस्तुत पाँच सूत्रगाथाओ (३०० से ३०४ तक) मे से प्रथम सूत्रगाथा मे श्री सुधर्मास्वामी द्वारा नरक सम्बन्धी स्वय उद्भूत जिज्ञासा है और अवशिष्ट चार गाथाओ मे द्वितीय जिज्ञासा का समाधान अकित किया गया है।

जिज्ञासा : नरक के सम्बन्ध मे—पचम गणधर श्री सुधर्मा स्वामी ने नरक के सम्बन्ध मे अपने अनुभव श्री जम्बूस्वामी आदि को बताते हुए कहा कि मैने केवलज्ञानी महर्षि भगवान् महावीर के समक्ष अपनी जिज्ञासा प्रस्तुत की थी— "भगवन् ! मै नरक और वहाँ होने वाले तीव्र सतापो और यातनाओ से अनभिज्ञ हूँ। आप सर्वज्ञ हैं। आपसे त्रिकाल-त्रिलोक की कोई भी बात छिपी नही है। आपको अनुकूल-प्रतिकूल अनेक उपसर्गों को सहन करने का अनुभव है। आप समस्त जीवो की गति-आगति, क्रियाप्रति-क्रिया, वृत्ति-प्रवृत्ति आदि को भलीभाँति जानते है। अत आप यह बताने की कृपा करे की (१) नरक कैसी-कैसी पीडाओ से भरे है ? और (२) कौन जीव किन कारणो से नरक को प्राप्त करते है ?

समाधान · द्वितीय जिज्ञासा का—श्री सुधर्मा स्वामी ने कहा- मेरे द्वारा इस प्रकार पूछे जाने पर महानुभाव, आशुप्रज्ञ एव काश्यपगोत्रीय भगवान् महावीर ने (द्वितीय) जिज्ञासा का समाधान दो विभागो मे किया —(१) नरकभूमि कैसी है ? (२) नरक मे कौन-से प्राणी जाते है ?

सर्वप्रथम चार विशेषणो द्वारा नरकभूमि का स्वरूप बताया है--'**दुहमट्ठदुग्ग आदीणिय दुक्कडियं**'- अर्थात् -(१) नरक दु खहेतुक (दु ख का कारण दु ख देने के लिए निमित्त रूप) है, या **दु खार्थ** (दु ख-प्रयोजनभूत—केवल दु ख देने के लिए ही बना हुआ) है। अथवा दु खरूप (बुरे कर्मों के फलो के कारण) है, अथवा नरक स्थान जीवो को दु ख देता है इसलिए वह दु खदायक है, या असातावेदनीय कर्म के उदय से मिलने के कारण नरकभूमि तीव्र-पीडारूप है, इसलिए यह दु खमय है। (२) नरक दुर्ग है--नरक भूमि को पार करना दुर्गम होने से, तथा विषम एव गहन होने से यह दुर्ग है। अथवा असर्वज्ञो द्वारा दुर्गम्य-दुर्विज्ञेय है, क्योकि नरक को सिद्ध करने वाला कोई इन्द्रिय प्रत्यक्ष प्रमाण नही है। (३) नरक आदीनिक– अत्यन्त दीन प्राणियो का निवास स्थान है। यानी चारो ओर दीन जीव निवास करते हैं। तथा (४) नरक दुष्कृतिक है, दुष्कृत-दुष्कर्म करने वाले जीव वहाँ रहते हैं, इसलिए दुष्कृतिक है, अथवा दुष्कृत (बुरा कर्म, पाप) या दुष्कृत (पाप) का फल विद्यमान रहता है, इसलिए वह दुष्कृतिक है। अथवा जिन पापीजनो ने पूर्व जन्म मे दुष्कृत किये है, उनका यहाँ निवास होने के कारण नरक दुष्कृतिक कहलाता है।

इसके पश्चात् यह बताया गया है कि नरक मे कौन-से प्राणी और किन कारणो से जाते हैं ?—तीन गाथाओ मे इसका समाधान दिया है, जो (१) बाल है (२) रौद्र है (३) जीवितार्थ पापकर्म करते हैं, (४) अपने सुख के लिए त्रस-स्थावर प्राणियो की तीव्रतम रूप से हिंसा करते है, (५) जो निर्दयतापूर्वक प्राणियो का उपमर्दन करते है, (६) जो चोरी-अपहरण, लूटमार या डकैती द्वारा बिना दी हुई परवस्तु का हरण करते हैं, (७) जो सेवनीय सयम का जरा भी अभ्यास (सेवन) नही करते, (८) जो धृष्ट होकर बहुत-से प्राणियो का वध करते है, (९) जिनकी कषायाग्नि कभी शान्त नही होती, (१०) जो मूढ हर समय घात मे लगा रहता है वह अन्तिम समय (जीवन के अन्तिम काल) मे नीचे घोर अन्धकार (अन्धकारमय नरक) में जाता है, जहाँ नीचा सिर किये कठोर पीडा स्थान को पाता है। वह घोररूप है, गाढ अन्धकारमय है, तीव्र ताप युक्त है, जहाँ वह गिरता है।[1]

नरकयात्री कौन और क्यो ?—नरक मे वे अभागे जीव जाते हैं, जो हित मे प्रवृत्ति और अहित से निवृत्ति के विवेक से रहित अज्ञानी है, रागद्वेष की उत्कटता के कारण जो आत्महित से अनजान तिर्यञ्च और मनुष्य है, अथवा जो सिद्धान्त से अनभिज्ञ होने के कारण महारम्भ, महापरिग्रह, पचेन्द्रिय जीवो के वध एव मासभक्षण आदि सावद्य अनुष्ठान मे प्रवृत्त है, वे **बाल** है। जो प्राणी स्वय रौद्र हैं, कर्म से भी वचन से भी, विचारो एव आकृति से भी **रौद्र** (भयकर) है, जिन्हे देखते ही भय पैदा होता है। जो सुख और ऐश मे जीवनयापन करने के लिए पापोपादानरूप घोर कर्म करते हैं, हिंसा, चोरी, डकैती, लूटपाट, विश्वासघात, आदि भयकर पापकर्म करते हैं। इसके अतिरिक्त जो जीव महामोहनीय कर्म के उदय से इन्द्रिय सुखो का लोलुप बनकर बेखटके त्रस और स्थावर जीवो की निर्दयतापूर्वक रौद्रपरिणामो से हत्या करता है, नाना उपायो से जीवो का उपमर्दन (वध, बन्ध, शोषण, अत्याचार आदि) करता है तथा अदत्ताहारी है—यानी चोरी, लूटपाट, डकैती, अन्याय, ठगी, धोखाधडी आदि उपायो से बिना दिया परद्रव्य हरण करता है, अपने श्रेय के लिए जो सेवन (अभ्यास) करने योग्य, या साधुजनो द्वारा सेव्य सयम है, उसका जरा भी सेवन (अभ्यास) नही करता है, अर्थात् -पापकर्म के उदय के कारण जो काकमास जैसी तुच्छ, त्याज्य, घृणित एव असेव्य वस्तु से भी विरत नही होता। इसी प्रकार जो प्राणिहिंसा आदि पाप करने मे बडा ढीठ है जिसे पापकर्म करने मे कोई लज्जा, सकोच या हिचक नही होती। जो बेखटके बहुत-से निरपराध और निर्दोष प्राणियों की निष्प्रयोजन हिंसा कर डालता है। जब देखो तब प्राणियो के प्राणो का अतिपात (घात) करने का जिसका स्वभाव ही बन गया है, अर्थात् जो लोग क्रूर-सिंह, और सर्प के समान बेखटके आदतन प्राणियो का वध करते है, अथवा अपने स्वार्थ या किसी मतलब से धर्मशास्त्र के वाक्यो का मनमाना अर्थ लगाकर या किसी कुशास्त्र का आश्रय लेकर हिंसा, असत्य, मद्यपान, मासाहार, शिकार, मैथुन-सेवन आदि की प्रवृत्ति को स्वाभाविक कहकर निर्दोष बताने की धृष्टता करते हैं।

अथवा कई हिंसापोषक मिथ्यावादी लोग कहते है—**'वेदविहिता हिंसा हिंसा न भवति'**—वेद विहित यज्ञादि मे होने वाली पशुवधरूप हिंसा आदि हिंसा नहीं होती। कई मनचले शिकार को क्षत्रियो या राजाओ का धर्म बताकर निर्दोष प्राणियो का वध करते हैं तथा जिनकी कषायाग्नि

---

१ सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १२६ के अनुसार

कभी शान्त नही होती, जो जानवरों का कत्ल एव मछलियो का वध करके अपनी जीविका चलाते है, जिनके परिणाम सदैव प्रणिवध करने के बने रहते हैं, जो कभी प्राणिवध आदि पापो से निवृत्त और शान्त नही होते, ऐसे पापकर्मी मूढ जीव अपने किये हुए पापकर्मों का फल भोगने के लिए नरक मे जाते है। इसी तथ्य को शास्त्रकार ने सक्षेप मे तीन गाथाओ मे व्यक्त किया है—**'जे केई बाला नरए पडंति' 'तिव्वंतसे····सेयवियस्स किंचि'**, और **'पागब्भिपाणे घातमुवेति बाले।'**[2]

वे पापी कैसे-कैसे नरक में जाते हैं?—नरक तो नरक ही है, दु.खागार है, फिर भी पापकर्म की तीव्रता-मन्दता के अनुसार तीव्र-मन्द पीडा वाली नरकभूमि उन नरकयोग्य जीवो को मिलती है। प्रस्तुत मे सूत्रगाथा ३०२ और ३०४ मे विशिष्ट पापकर्मियो के लिए विशिष्ट नरकप्राप्ति का वर्णन किया गया है—(१) **'ते घोररूवे तमिसंधयारे तिव्वाभितावे नरए पडंति'** तथा (२) **णिहो णिसं गच्छइ अंतकाले, अहोसिरं कट्टु उवेइ दुग्गं।'**—पहले प्रकार के पापकर्मी एव रौद्र बालजीव जिस प्रकार के नरक मे गिरते हैं, उसके तीन विशेषण शास्त्रकार ने प्रयुक्त किये हैं—(१) घोर रूप, (२) तमिस्रान्धकार (३) तीव्राभिताप। नरक मे इतने विकराल एव क्रूर आकृति वाले प्राणी एव परमाधार्मिक असुर हैं, तथा विकराल दृश्य हैं, इस कारण नरक को **घोररूप** कहते है। नरक मे अन्धकार इतना गाढ और घोर है कि वहाँ हाथ को हाथ नही सूझता, अपनी आँखो से अपना शरीर भी नही दिखाई देता। जैसे उल्लू दिन मे बहुत ही कम देखता है, वैसे ही नारकीय अवधि (या विभग) ज्ञान से भी दिन मे मन्द-मन्द देख सकता है। इस सबध मे आगम-प्रमाण भी मिलता है। इसके अतिरिक्त नरक मे इतना तीव्र दु सह ताप (गर्मी) है उसे शास्त्रकार खैर के धधकते लाल-लाल अगारो की महाराशि से भी अनन्तगुना अधिक ताप बताते है।

चौथी और पाचवी गाथा मे बताए अनुसार जो पापकर्म करते है, वे नरक-योग्य जीव अपने मृत्यु काल मे नीचे ऐसे नरक मे जाते है, जहाँ घोर निशा है, अर्थात्—जहाँ उन्हे द्रव्यप्रकाश भी नही मिलता और ज्ञानरूप भावप्रकाश भी नही। वे नारकीय जीव अपने किये हुए पापकर्मों के कारण नीचा सिर करके भयकर दुर्गम यातनास्थान मे जा पहुँचते है, अर्थात्—ऐसे घोर अन्धकारयुक्त नरक मे जा गिरते है, जहाँ गुफा मे घुसने की तरह सिर नीचा करके जीव जाता है।[3]

नारकों को भयंकर वेदनाएँ

३०५. हण छिंदह भिंदह णं दहह, सद्दे सुणेत्ता परधम्मियाण।
ते नारगा ऊ भयभिन्नसण्णा, कंखंति कं नाम दिसं वयामो ॥ ६ ॥

३०६. इंगालरासिं जलियं सजोतिं, ततोवमं भूमि अणोक्कमंता।
ते डज्झमाणा कलुणं थणंति, अरहस्सरा तत्थ चिरट्ठितीया ॥ ७ ॥

३०७. जइ ते सुता वेतरणीऽभिदुग्गा, निसितो जहा खुर इव तिक्खसोता।
तरंति ते वेयरणिं भिदुग्गं, उसुचोदिता सत्तिसु हम्ममाणा ॥ ८ ॥

---

२ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १२६-१२७

३ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १२६-१२७

३०८. कोलेहिं विज्झंति असाहुकम्मा, नाव उवेंते सतिविप्पहूणा ।
अन्ने त्थ सूलाहिं, तिसूलियाहिं, दीहाहिं विद्धूण अहे करेंति ॥९॥

३०९. केसिंच बंधित्तु गले सिलाओ, उदगंसि बोलेंति महालयंसि ।
कलंबुयावालुय मुम्मुरे य, लोलेंति पच्चंति या तत्थ अन्ने ॥१०॥

३१०. असूरियं नाम महब्भितावं, अधंतमं दुप्पतरं महंतं ।
उड्ढं अहे य तिरियं दिसासु, समाहितो जत्थऽगणी झियाति ॥११॥

३११. जंसि गुहाए जलणेऽतियट्टे, अजाणओ डज्झति लुत्तपण्णे ।
सया य कलुणं पुण घम्मठाणं, गाढोवणीयं अतिदुक्खधम्मं ॥१२॥

३१२. चत्तारि अगणीओ समारभित्ता, जहिं कूरकम्माऽभितवेंति बालं ।
ते तत्थ चिट्ठंतऽभितप्पमाणा, मच्छा व जीवंतुवजोतिपत्ता ॥१३॥

३१३ संतच्छणं नाम महब्भितावं, ते नारगा जत्थ असाहुकम्मा ।
हत्थेहिं पाएहिं य बंधिऊणं, फलगं व तच्छंति कुहाडहत्था ॥१४॥

३१४. रुहिरे पुणो वच्चसमूसियंगे, भिन्नुत्तमंगे परियत्तयंता ।
पयंति णं णेरइए फुरंते, सजीवमच्छे व अओकवल्ले ॥१५॥

३१५. णो चेव ते तत्थ मसीभवंति, ण मिज्जती तिव्वभिवेदणाए ।
तमाणुभागं अणुवेदयंता, दुक्खंति दुक्खी इह दुक्कडेणं ॥१६॥

३१६. तहिं च ते लोलणसंपगाढे, गाढं सुतत्तं अगणिं वयंति ।
न तत्थ सातं लभतीऽभिदुग्गे, अरहिताभितावा तह वी तवेंति ॥१७॥

३१७. से सुव्वती नगरवहे व सद्दे, दुहोवणीताण पदाण तत्थ ।
उदिण्णकम्माण उदिण्णकम्मा, पुणो पुणो ते सरहं दुहेंति ॥१८॥

३१८. पाणेहि णं पाव विओजयंति, तं भे पवक्खामि जहातहेणं ।
दंडेहिं तत्था सरयंति बाला, सव्वेहिं दंडेहिं पुराकएहिं ॥१९॥

३१९. ते हम्ममाणा णरए पडंति, पुण्णे दुरूवस्स महब्भितावे ।
ते तत्थ चिट्ठंति दुरूवभक्खी, तुट्टंति कम्मोवगता किमीहिं ॥२०॥

३२०. सदा कसिणं पुण धम्मठाणं, गाढोवणीयं अतिदुक्खधम्मं ।
अंदूसु पक्खिप्प विहत्तु देहं, वेहेण सीसं सेऽभितावयंति ॥२१॥

३२१. छिंदंति बालस्स खुरेण नक्कं, उट्ठे वि छिंदंति दुवे वि कण्णे ।
जिब्भं विणिक्कस्स विहत्थिमेत्तं, तिक्खाहिं सूलाहिं तिणातयंति ।।२२।।

३२२. ते तिप्पमाणा तलसंपुडं व्व, रातिंदियं जत्थ थणंति बाला ।
गलंति ते सोणितपूयमंसं, पज्जोविता खारपदिद्धितगा ।।२३।।

३२३. जइ ते सुता लोहितपूयपाइ, बालागणीतेयगुणा परेणं ।
कुम्भी महंताधियपोरुसीया, समूसिता लोहितपूयपुण्णा ।।२४।।

३२४ पक्खिप्प तासु पपयंति बाले, अट्टस्सर ते कलुणं रसंते ।
तण्हाइता ते तउ तंबतत्तं, पज्जिज्जमाणऽट्टतरं रसंति ।।२५।।

३०५ नरक मे उत्पन्न वे प्राणी (अन्तर्मुहूर्त मे शरीर धारण करते ही) मारो, काटो (छेदन करो) भेदन करो, 'जलाओ' इस प्रकार परमाधार्मिको के (कठोर) शब्द सुनकर भय से सज्ञाहीन हुए चाहते है कि हम किस दिशा मे भाग जाएँ ।

३०६ जलती हुई अगारो की राशि तथा ज्योति (प्रकाशित होती हुई ज्वाला) सहित तप्त भूमि के सदृश (अत्यन्त गर्म) नरक भूमि पर चलते हुए अतएव जलते हुए वे नरक के जीव करुण रुदन करते है। उनकी करुण ध्वनि स्पष्ट मालूम होती है। ऐसे घोर नरकस्थान मे (इसी स्थिति मे) वे चिरकाल तक निवास करते हैं।

३०७ तेज उस्तरे (क्षुर) की तरह तीक्ष्ण धारा वाली अतिदुर्गम वैतरणी नदी का नाम शायद तुमने सुना होगा, वे नारकीय जीव वैतरणी नदी को इस प्रकार पार करते है, मानो बाण मार कर प्रेरित किये हुए हो, या भाले से बीधकर चलाये हुए हो।

३०८ नौका (पर चढने के लिए उस) के पास आते ही नारकी जीवो के कण्ठ मे असाधुकर्म्मा (परमाधार्मिक) कील चुभोते है, (इससे) वे (नारकीय जीव) स्मृति विहीन (होकर किंकर्तव्य-विमूढ) हो जाते है, तब दूसरे नरकपाल उन्हे (नारको को) लम्बे-लम्बे शूलो और त्रिशूलो से बीधकर नीचे (जमीन पर) पटक देते है।

३०९ किन्ही नारको के गले मे शिलाएँ बाँधकर उन्हे अगाध जल मे डुबा देते है। वहाँ दूसरे परमाधार्मिक उन्हे अत्यन्त तपी हुई कलम्बुपुष्प के समान लाल सुर्ख रेत मे और मुर्मुराग्नि मे इधर-उधर फिराते है और पकाते (भूजते) हैं।

३१० जिसमे सूर्य नही है, ऐसा असूर्य नामक नरक महाताप से युक्त है तथा जो घोर अन्धकार से पूर्ण है, दुष्प्रतर (दुःख से पार करने योग्य) है, तथा बहुत बडा है, जिसमे ऊपर नीची एव तिरछी (सर्व) दिशाओ मे प्रज्वलित आग निरन्तर जलती रहती है।

३११ जिस नरक में गुफा (के आकार) में स्थापित अग्नि मे अतिवृत्त (धकेला हुआ) नारक अपने

पाप को नही जानता हुआ संज्ञाहीन होकर चलता रहता है। (वह नरक) सदैव करुणाप्राय है, सम्पूर्ण ताप का स्थान है, जो पापी जीवो को बलात् (अनिवार्य रूप से विवशता से) मिलता है, उसका स्वभाव ही अत्यन्त दु.ख देना है।

३१२ जिस नरकभूमि मे क्रूरकर्म करने वाले (परमाधार्मिक असुर) (चारो दिशाओ मे) चार अग्नियाँ जलाकर अज्ञानी नारक को तपाते है। वे नारकी जीव जीते-जी आग मे डाली हुई मछलियों की तरह ताप पाते-तडफडाते हुए उसी जगह पर पडे रहते है।

३१३ (वहाँ) सतक्षण नामक एक महान् ताप देने वाला नरक है, जहाँ बुरे कर्म करने वाले वे (नारक) नरकपाल हाथो मे कुल्हाडी लिये हुए उनके (नारको के) हाथो और पैरो को बाधकर लकडी के तख्ते की तरह छीलते है।

३१४ फिर रक्त से लिप्त जिनके शरीर के अग मल से सूज (फूल) गये है, तथा जिनका सिर चूर-चूर कर दिया गया है, और जो (पीडा के मारे) छटपटा रहे है, ऐसे नारकी जीवो को परमाधार्मिक असुर (ऊपर-नीचे) उलट-पलट करते हुए जीवित मछली की तरह लोहे की कडाही मे (डालकर) पकाते है।

३१५ वे नारकी जीव उस नरक (की आग) मे (जलकर) भस्म नही हो जाते और न वहाँ की तीव्र वेदना (पीडा) से मरते है, किन्तु नरक की उस वेदना को भोगते हुए वे वही रहते हैं और इस लोक मे किये हुए दुष्कृत—पाप के कारण वे दु खी होकर वहाँ दु ख पाते रहते है।

३१६ नारकी जीवो के सचार से अत्यन्त व्याप्त (भरे हुए) उस नरक मे तीव्ररूप से अच्छी तरह तपी हुई अग्नि के पास जब वे नारक जाते है, तब उस अतिदुर्गम अग्नि मे वे सुख नही पाते। (यद्यपि वे नारक) तीव्र ताप से रहित नही होते, तथापि नरकपाल उन्हे और अधिक तपाते है।

३१७ इसके पश्चात् उस नरक मे नगरवध (शहर मे कत्लेआम) के समय होने वाले कोलाहल के से शब्द तथा दु ख से भरे (करुणाजनक) शब्द भी (सुनाई पडते है।) जिनके मिथ्यात्वादि-जनित कर्म उदय मे आए है, वे (परमाधार्मिक नरकपाल) जिनके पापकर्म उदय (फल देने की) दशा मे आये हुए है, उन नारकी जीवो को बडे उत्साह के साथ बार-बार दु ख देते है।

३१८ पापी नरकपाल नारकी जीवो के प्राणो का पाच इन्द्रियो, मन-वचन-कायाबल आदि प्राणो-अवयवो को काट कर अलग-अलग कर देते है, इसका कारण मै तुम्हे यथातथ्य (यथार्थ) रूप से बताता हूँ। अज्ञानी नरकपाल नारकी जीवो को दण्ड देकर उन्हे उनके पूर्वकृत सभी पापो का स्मरण कराते हैं।

३१९ परमाधार्मिको द्वारा मारे जाते हुए वे नारकी जीव महासन्ताप देने वाले विष्ठा और मूत्र आदि बीभत्सरूपो से पूर्ण दूसरे नरक मे गिरते हैं। वे वहाँ विष्ठा, मूत्र आदि का भक्षण करते हुए चिरकाल (बहुत लम्बे आयुष्यकाल) तक कर्मों के वश होकर रहते हैं और कृमियो (कीडो) के द्वारा काटे जाते हैं।

३२०. नारकी जीवो के रहने का सारा का सारा स्थान सदा गर्म रहता है, और वह स्थान उन्हें गाढ बन्धन से बद्ध (निधत्त-निकाचित) कर्मों के कारण प्राप्त होता है। अत्यन्त दु ख देना ही उस स्थान का धर्म-स्वभाव है। नरकपाल नारकी जीवो के शरीर को बेडी आदि मे डाल कर, उनके शरीर को तोड-मरोड कर और उनके मस्तक मे छिद्र करके उन्हे सन्ताप देते है।

३२१ नरकपाल अविवेकी नारकी जीव की नासिका को उस्तरे से काट डालते है, तथा उनके ओठ और दोनो कान भी काट लेते हैं और उनकी जीभ को एक बित्ताभर बाहर खीचकर उसमे तीखे शूल भोककर उन्हे सन्ताप देते हैं।

३२२ उन (नारकी जीवो) के (कटे हुए नाक, ओठ, जीभ आदि) अगो से सतत खून टपकता रहता है, (इस भयकर पीडा के मारे) वे विवेकमूढ सूखे हुए ताल (ताड) के पत्तो के समान रातदिन वहाँ (नरक मे) रोते-चिल्लाते रहते है। तथा उन्हे आग मे जलाकर फिर उनके अगो पर खार (नमक आदि) लगा दिया जाता है, जिससे उनके अगो से मवाद, मास और रक्त चूते रहते है।

३२३-३२४ रक्त और मवाद को पकाने वाली, नवप्रज्वलित अग्नि के तेज से युक्त होने से अत्यन्त दु सहताप युक्त, पुरुष के प्रमाण से भी अधिक प्रमाणवाली, ऊँची, बडी भारी एव रक्त तथा मवाद से भरी हुई कुम्भी का नाम कदाचित् तुमने सुना होगा।

आर्तनाद करते हुए तथा करुण रुदन करते हुए उन अज्ञानी नारको को नरकपाल उन (रक्त एव मवाद से परिपूर्ण) कुम्भियो मे डालकर पकाते हैं। प्यास से व्याकुल उन नारकी जीवो को नरकपालो द्वारा गर्म (करके पिघाला हुआ) सीसा और ताम्बा पिलाये जाने पर वे आर्त्तस्वर से चिल्लाते है।

विवचन—नरक में नरकों को प्राप्त होने वाली भयंकर वेदनाएँ—सूत्रगाथा ३०५ से ३२४ तक बीस गाथाओ मे नरक मे नारकी जीवो को अपने पूर्वकृत पापकर्मानुसार दण्ड के रूप मे मिलने वाले विभिन्न दु खो और पीडाओ का करुण वर्णन है। नारको को मिलने वाले भयकर दु खो को दो विभागो मे बाटा जा सकता है—(१) क्षेत्रजन्य दु ख और (२) परमाधार्मिककृत दु ख।

क्षेत्रजन्य दुःख—क्षेत्रजन्य दु ख नरक मे यत्र-तत्र है। वहाँ के शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श सभी अमनोज्ञ, अनिष्ट, दु खद एव दु सह्य होते है। शास्त्रकार द्वारा इस उद्देशक मे वर्णित शब्दादि जन्य दु खो का क्रमश विवेचन इस प्रकार है—अमनोज्ञ भयकर दु सह शब्द—तिर्यञ्च और मनुष्य भव का त्याग कर नरकयोग्य प्राणियो की अण्डे से निकले हुए रोम पक्षविहीन पक्षी की तरह नरक मे अन्तमुहूर्त मे शरीरोत्पत्ति होती है, तत्पश्चात् ज्योही वे पर्याप्तियो से युक्त होते है, त्यो ही उनके कानो मे परमाधार्मिको के भयकर अनिष्ट शब्द पडते है—यह पापी महारम्भ-महापरिग्रह आदि पापकर्म करके आया है, इसलिए इसे मुद्गर आदि से मारो, तलवार आदि से काटो, इसके टुकडे-टुकडे कर दो, इसे शूल आदि से बीध दो, भाले मे पिरो दो, इसे आग मे झोक कर जला दो, ये और इस प्रकार के कर्णकटु मर्मवेधी भयकर शब्दो को सुनते ही उनका कलेजा काप उठता है, वे भय के मारे बेहोश हो जाते हैं। होश मे आते ही किंकर्त्तव्य विमूढ एवं भय-विह्वल होकर मन ही मन सोचते हैं कि अब कहाँ किस दिशा मे भागे, कहाँ हमारी रक्षा होगी ? कहाँ हमे शरण मिलेगी ? हम इस दारुणदु ख

से कैसे छुटकारा पायेंगे ? इस प्रकार का शब्दजन्य दु ख नरक मे है। जिसके लिए सूत्रगाथा ३०५ मे शास्त्रकार कहते हैं—**"हण छिंदह कं नाम दिसं वयामो ?"**

नरक में होने वाला नगरवध-सा भयंकर कोलाहल— नरक के जीवो पर जब शीत, उष्ण आदि के भयकर क्षेत्रीय दु ख, पारस्परिक दु ख और परमाधार्मिक कृत दु खो का पहाड टूट पडता है, तब वे करुण आर्तनाद करते है—हे मात ! हे तात ! बडा कष्ट है ! मै अनाथ और अशरण हूँ, कहाँ जाऊँ ? कैसे इस कष्ट से बचूँ ? मेरी रक्षा करो ! इस प्रकार के करुणाजनक शब्दो मे वे पुकार करते है। उस समय का चीत्कार नगर मे होने वाले सामूहिक हत्याकाण्ड की तरह इतना भयकर व डरावना होता है कि उसे सुनकर कान के पर्दे फट जाते है। वास्तव मे नरक का वह कोलाहल नगर-वध के समय होने वाले कोलाहल से भी कई गुना बढकर तेज, दु सह, मर्मभेदी, करुणोत्पादक एव अति दु खद होता है।

नरक में अनिष्ट कुरूपजन्य दुःख—यो तो नरक मे नारको को भोडे, भद्दे कुरूप शरीर मिलते है, उनकी एव परमाधार्मिको की डरावनी क्रूर आकृति से भी उन्हे वास्ता पडता है। इसके अतिरिक्त नरकभूमियो का दृश्य भी अत्यन्त भयावह होता है, वह भी नारको के मानस मे अत्यन्त दु ख उत्पन्न करता है। शास्त्रकार ने इस उद्देशक मे नरक के भयकर रूप सम्बन्धी चर्चा सूत्रगाथा ३१० मे की है।

(१) **सघन अन्धकार पूर्ण दुस्तर और विशाल नरक**—असूर्य नाम का एक नरक है, जहाँ सूर्य बिलकुल नही होता। यो तो सभी नरको को असूर्य कहते है। असूर्य होने के कारण नरक घोर अन्धकार पूर्ण होता है, तथापि वह प्रचण्ड तम से युक्त होना है। नरक इतना दुस्तर होता है कि उसका ओर-छोर नही दिखता। इतना विशाल और दीर्घ होने के कारण उसे पार करना कठिन होता है। ऐसे विशाल लम्बे, चौडे और गहरे नरक मे पापी प्राणी जाते है, रहते है, स्वकृत पापकर्मो का दु खद फल भोगते है। साथ ही वहाँ ऊँची, नीची एव तिरछी सभी दिशाओ मे व्यवस्थित रूप से लगाई गई आग निरन्तर जलती रहती है। उस आग की लपटे दूर-दूर तक ऊपर उठती है। बेचारे नारक जीव वहाँ के इस भयकर दृश्य को देख एक क्षण भी कैसे चैन से रह सकते है ? शास्त्रकार कहते है—**'असूरियं नाम अधंतमं दुप्पतरं महंतं जत्थऽगणी झियाति।**

रक्त और मवाद से परिपूर्ण कुम्भी : बीभत्स—सामान्य मनुष्य को यदि थोडी-सी देर के लिए भी खून और मवाद से भरी कोठरी या भूमि मे छोड दिया जाए तो वह उसकी दुर्गन्ध को सह नही सकेगा, उसकी नाक फट जाएगी, दुर्गन्ध के मारे। उसे वह दु ख असह्य प्रतीत होगा, किन्तु नरक मे तो कोसो तक भूमि, मूत्र, खून, मवाद एव विष्ठा की कीचड से लथपथ है। दूर-दूर तक उसकी बदबू उठती है। प्रस्तुत उद्देशक मे सूत्रगाथा ३२३ मे एक कुम्भी का वर्णन किया गया है, जो देखने मे भी अत्यन्त घृणास्पद और बीभत्स है, उसकी दुर्गन्ध भी असह्य होती है, क्योकि वह रक्त और मवाद से लबालब भरी होती है, वह पुरुष के प्रमाण से भी अधिक प्रमाण वाली ऊँट के आकार की बहुत ऊँची होती है। वह कुम्भी चारो ओर तीव्र आग से जलती रहती है। रोते-चिल्लाते नारको को उस कुम्भी मे जबरन डालकर पकाया जाता है। दुर्गन्ध का कितना दारुण दु सह दु ख होता होगा उन नारको को ? शास्त्रकार उस कुम्भी का वर्णन करते हुए कहते है—**"जइ ते सुता लोहितपूयपुण्णा।"**

नरक में मल-मूत्र आदि का भक्षण : कितना असह्य रसास्वाद ?—नरक मे नारकीय जीवों को रहने के लिए मल-मूत्र, मवाद आदि गदी वस्तुओ से भरे स्थान मिलते है। नरक की कालकोठरी जेल की कालकोठरी से अनन्त गुना अधिक भयकर होती है वहाँ नारको को खाने-पीने के लिए मल, मूत्र, मवाद, रक्त आदि घिनौनी कुरूप वस्तुएँ मिलती है। इसी प्रकार की घिनौनी चीजो का भक्षण करते हुए एव बीभत्स स्थान मे रहते हुए नारकी जीव रिबरिबकर अपनी लम्बी आयु (कम से कम १० हजार वर्ष की, अधिक से अधिक ३३ सागरोपम तक की दीर्घकालिक) पूरी करते हैं। मल, मूत्र, रक्त एव मवाद आदि मे भयानक कीडे उत्पन्न होते है, जो नारको को रात-दिन काटते रहते है। यह है—नरक मे रसादि जन्य तीव्र दु ख ! शास्त्रकार कहते है—**"ते हम्ममाणा दुरूवस्स दुक्खभक्खी तुट्टंति—किमीहि ।"**

दु:सह स्पर्शजन्य तीव्र वेदना—नरक मे स्पर्शजन्य दु ख तो पद-पद पर है। वह स्पर्श अत्यन्त दु सह और दारुण दु खद होता है। शास्त्रकार ने सू० गा० ३०६, ३०७, ३११, ३१६, ३२० एव ३२४ मे नारको को पापकर्मोदयवश प्राप्त होने वाले दु सह स्पर्शजन्य दु ख की झाँकी प्रस्तुत की है।

(१) नरक की तप्त भूमि का स्पर्श कैसा और कितना दु:खदायी ? नरक की भूमि को शास्त्रकार ने खैर के धधकते अगारो की राशि की, तथा जाज्वल्यमान अग्निसहित पृथ्वी की उपमा दी है। इन दोनो प्रकार की-सी तपतपाती नरकभूमि होती है, जिस पर चलते और जलते हुए नारकीय जीव जोर-जोर से करुण क्रन्दन करते है। यहा नरकभूमि की तुलना इस लोक की बादरअग्नि से की गई है। परन्तु वास्तव मे यह तुलना केवल समझाने के लिए है, नरक का ताप तो इस लोक के ताप से कई गुना अधिक है। अत महानगर के दाह से भी कई गुने अधिक ताप मे नारक रोते-बिलखते है। ऐसी स्थिति मे वे अपनी आयुपर्यन्त रहते है। यही बात शास्त्रकार सू० गा० ३०६ मे कहते है—**"इगालरासि तत्थ चिरट्ठितीया ।"**

नरक मे गुहाकार अग्नि मे सदा जलते हुए नारक—नरक मे गुफानुमा नरकभूमि मे आग ही आग चारो ओर रखी होती है। बेचारे नारक पापकर्मोदयवश उससे अनभिज्ञ होते है, वे बलात् इस अग्निमयी भूमि मे धकेल दिये जाते है, जहाँ वे उस पूर्णतापयुक्त करुणाजनक स्थान मे सज्ञाहीन होकर जलते रहते है। वह स्थान नारको को अपने पूर्वकृतपापकर्मवश अवश्य ही मिलता है, उष्णस्पर्शमय वह स्थान स्वभाव से ही अतिदु खद होता है। एक पलक मारने जितना समय भी यहाँ सुख मे नही बीतता। सदैव दु ख ही दु ख भोगते रहना पडता है।

अत्यन्त शीतस्पर्श से बचने का उपाय भी कितना दु:खद ? नारकी जीव नरक के भयकर दु सह शीत के दु ख से बचने के लिए अत्यन्त प्रदीप्त सुतप्त अग्नि के पास जाते है। परन्तु वह आग तो अत्यन्त दाहक होती है। बेचारे गये थे सुख की आशा से, किन्तु वहाँ पहले से भी अधिक दु ख मिलता है, वे नरक की उस प्रचण्ड (तीव्रताप युक्त) आग मे जलने लगते हैं, जरा भी सुख नही पाते। फिर ऊपर से नरकपाल उन तपे हुए नारको को और अधिक ताप तरह-तरह से देते रहते है। यही तथ्य शास्त्रकार ने ३१६ सू० गा० मे व्यक्त किया है—**"तहि च ते गाढ सुतत्तं अगणिं वयंति सह वी तवेंति ।"**

सदैव पूर्णतया उष्ण नरकस्थान दु:खों से परिपूर्ण—नारको के आवासस्थान का कोई भी कोना ऐसा नही होता, जो गर्म न हो। समूचा स्थान सदैव उष्ण रहता है। उसमे नरक के जीव सदा सिकते रहते हैं। उस स्थान का तापमान बहुत अधिक होता है। वहाँ का सारा वायुमण्डल तापयुक्त

एव दु खमय होता है। सुख उन्हे कही ढू ढे भी नहीं मिलता, क्योकि नरकभूमि का स्वभाव ही दु ख देना है। यह दु खद स्थान नारको को गाढबन्धन (निधत्त-निकाचितरूप बन्धन) से बद्ध कर्मों के वश मिलता है। यही बात सू० गा० ३२० के पूर्वार्द्ध मे स्पष्ट बताई है—**'सदा कसिणं पुण धम्मट्ठाण गाढोवणीयं अतिदुक्खधम्मं।'**

वैतरणी नदी की तीक्ष्ण जलधारा का स्पर्श कितना दु:खदायी?—वैतरणी नरक की मुख्य विशाल नदी है। उसमे रक्त के समान खारा और गर्म जल बहता रहता है। उसकी जलधारा उस्तरे के समान बडी तेज है। उस तीक्ष्ण धारा के लग जाने से नारको के अग कट जाते हैं। यह नदी बहुत ही गहन एव दुर्गम है। नारकी जीव अपनी गर्मी और प्यास को मिटाने हेतु इस नदी मे कूदते है, तो उन्हे भयकर दु खो का सामना करना पडता है। कई बार बैलो को आरा भौककर चलाये जाने या भाले से बीधकर चलाये जाने की तरह नारको को सताकर इस नदी मे कूदने और इसे पार करने को बाध्य कर दिया जाता है। कितना दारुण दु ख है—तीक्ष्ण स्पर्श का और विवशता का। इसी तथ्य को शास्त्रकार व्यक्त करते है—**'जइ ते सुया वेयरणी खुर इवतिक्खसोया सलिसु हम्ममाणा।'**

परमाधार्मिक कृत दु:ख और भी भयंकर—जब से कोई जीव नरक मे जाता है, तभी से परमाधार्मिक असुर उसके पीछे भूत की तरह लग जाते है, और तीसरे नरक तक वे आयु पूर्ण होने तक उसके पीछे लगे रहते है, वे तरह-तरह से उस नारक को यातनाएँ देते रहते है। वे परमाधार्मिक १५ प्रकार के है, जिनका परिचय अध्ययन के प्राथमिक मे दिया गया है। नरक मे नारकी जीव के उत्पन्न होते ही वे मारो, काटो, जला दो, तोड दो आदि शब्दो से नारक को भयभीत और सज्ञाशून्य कर देने है। शास्त्रकार ने इन नरकपालो द्वारा नारको को दिये जाने वाले दु ख की सक्षिप्त झाकी इस उद्देशक की सू० गा० ३०५, ३०७, ३०८, ३०९, ३१२, ३१३, ३१४, ३१६, ३१७, ३१८, ३२१, ३२२ तथा ३२४ मे दी है।[४]

सक्षेप मे इनका परिचय इस प्रकार है—(१) नरक मे उत्पन्न होते ही नारक को ये भयकर शब्दो से भयभीत कर देते है, (२) वैतरणी नदी मे बलात् कूदने और तैरने को बाध्य कर देते हैं। (३) नौका पर चढते समय नारको के गले मे कील भोककर स्मृति रहित कर देते है, (४) लम्बे शूलो और त्रिशूलो से बीधकर जमीन पर पटक देते है, (५) नारको के गले मे शिलाएँ बाँधकर अगाध जल मे डुबो देते हैं, (६) तपी हुई रेत, या भाड की तरह तपी हुई आग मे डालकर पकाते है, फेरते है, (७) चारो दिशाओ मे चार अग्नियाँ लगाकर नारको को तपाते हैं, (८) नारको के हाथ पैर बाधकर उन्हे कुल्हाडे से काटते है, (९) नारको का सिर चूर-चूरकर देते है, अग मल से फूल जाता है। (१०) पीडा से छटपटाते हुए नारको को उलट-पलट करके जीवित मछली की तरह लोहे की कडाही मे पकाते है, (११) नारकी जीवो को बार-बार तीव्र वेग से पीडित करते है। (१२) पापी परमाधार्मिक नारको के विविध प्राण—अगोपाग काटकर अलग-अलग कर देते है, (१३) पापात्मा परमाधार्मिक असुर पूर्वजन्म मे नारको द्वारा किये गए दण्डनीय पापकर्मों को याद दिलाकर उनके पापकर्मानुसार दण्ड देते है। (१४) नरकपालो की मार खाकर हैरान नारक मल-मूत्रादि बीभत्स रूपो से पूर्ण नरक मे गिरते हैं, (१५) नारको के शरीर को बेडी आदि बधनो मे जकड कर उनके अगोपाग को तोड़ते-मरोडते है, मस्तक मे छेद करके पीडा देते है, (१६) नारको के नाक, कान और ओठ को

४ सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १२८ से १३३ तक के आधार पर

उस्तरे से काट डालते है। (१७) जीभ एक बित्ताभर बाहर खीचकर उसमे तीखे शूल भौककर अत्यन्त दु ख देते है। (१८) जिन कटे हुए अगो से रक्त, मवाद और मास चूते रहते है, उन पर ये असुर खार छिड़कते रहते है, (१९) रक्त और मवाद से भरी कुम्भियो मे डालकर आर्तनाद करते हुए नारको को पकाते है, (२०) पिपासाकुल नारको को ये बलात् गर्म किया हुआ सीसा और ताबा पिलाते हैं।

ये और इस प्रकार की विविध यातनाएं परमाधार्मिक नरकपाल नारको को देते रहते है। उन्हे नारको को दु ख देने मे आनन्द आता है। वे नारको को उनके पूर्वजन्म कृत पापकर्मों का इस प्रकार स्मरण दिलाते है—'मूर्ख ! तू बडे हर्ष के साथ प्राणियो का मास निर्दयतापूर्वक काट-काटकर खाता था, उनका रक्त पीता था, तथा मदिरापान एव परस्त्री गमन आदि कुकर्म करता था। अपने किये हुए पापकर्मों को याद कर अब उन पापकर्मों का फल भोगते समय क्यो रोता-चिल्लाता है ?

न भस्मीभूत, न मृत, चिरकाल तक दुःखित—जब उन नारको को नरकपाल आग मे डालते हैं, उनके अग तोडफोड डालते है, उन्हे इतने जोर से मारते-पीटते, शूलो से बीधते काटते-छेदते है, तब वे भस्मीभूत या मृत हो जाते होगे ? इस शका के समाधानार्थ शास्त्रकार सू० गा० ३१५ मे कहते है—**"नो चेव ते तत्थ मसीभवंति दुक्खी इह दुक्कडेण।"** इसका आशय यह है कि इतनी वर्णनातीत अनुपमेय वेदना का अनुभव करते हुए भी जब तक अपने कर्मों का फल भोग शेष रहता है, या आयुष्य बाकी रहता है, तब तक वे न तो भस्म होते है और न ही वे मरते है। जिस नारक का जितना आयुष्य है उतने समय तक नरक के तीव्र से तीव्र दु ख उन्हे भोगने ही पडते है।[५]

पाठान्तर और व्याख्या—**'कोलेहिं विज्झंति'**– चूर्णिकार के अनुसार—**'कोलो नाम गलओ'** कोल मछली पकडने वाले काटे या किसी अस्त्र विशेष का नाम है। तदनुसार अर्थ होता है– मछली पकडने वाले काटो से या अस्त्र विशेष से बीध डालते है, वृत्तिकार के अनुसार पाठान्तर है—**कीलेहिं विज्झति**—अर्थ किया गया है—**'कीलेषु कण्ठेषु विध्यन्ति'**- कण्ठो मे (कीले) चुभो देते है। **'सजीव मच्छे व अओकवल्ले'**—जीती हुई मछली की तरह लोह की कडाही मे, चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है—**'सज्जोव्व मच्छे व अओकवल्ले'**। **'सज्जोमच्छे'**के चूर्णिकार ने दो अर्थ किये है—(१) जीता हुआ मत्स्य, और (२) सद्य तत्काल मरा हुआ मत्स्य। उसकी तरह लोह के कडाह मे तडफडाता हुआ। **तहिं च ते लोलण-संपगाढे**—वृत्तिकार के अनुसार—नारको की हलचल से भरे (व्याप्त) उस महा-यातना स्थान नरक मे वे (नारक), चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है—**'तहिं पि ते लोलुअसपगाढे'**—दु ख से चचल—लोलुप नामक उस नरक मे अत्यन्त गाढ—निरन्तर यानी उस लोलुय नरक मे भी ठसाठस भरे हुए वे नारक। **'सरहं दुहेंति'**—वृत्तिकार के अनुसार नारको को वे सोत्साह दु ख देते है। चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है—**'सहरिसं दुहंति'**—अर्थ होता है– सहर्ष दु ख देते है। **'अंदूसु'**—बेडियो मे। **तलसपुडव्व**—वृत्तिकार के अनुसार हवा से प्रेरित ताल (ताड) के पत्तो के ढेर की तरह। चूर्णिकार सम्मत पाठ है—**तलसंपुडच्च**—हथेली से बधी हुई या हाथो मे ली हुई अर्चा यानी देह (यहाँ शरीर को अर्चा कहा गया है) वाले। **पपयति** (पपयति)—जोर से गिराते है। वृत्तिकार सम्मत पाठान्तर है—**पययंति**—**प्रपचति**—अच्छी तरह से पकाते है।[६]

५　सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १२८ से १३३ तक का साराश

६　(क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १२८ से १३३ तक

　(ख) सूयगडग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ५५ से ५७

नरक में नारक क्या खोते क्या पाते ?

३२५. अप्पेण अप्पं इह वंचइत्ता, भवाहमे पुव्व सते सहस्से।
चिट्ठंति तत्था बहुकूरकम्मा, जहा कडे कम्मे तहा सि भारे ॥२६॥

३२६. समज्जिणित्ता कलुसं अणज्जा, इट्ठेहि कंतेहि य विप्पहूणा।
ते दुब्भिगंधे कसिणे य फासे, कम्मोवगा कुणिमे आवसंति ॥२७॥

३२५ इस मनुष्यभव मे स्वय ही स्वय की वचना करके तथा पूर्वकाल मे सैकडो और हजारो अधम (व्याध आदि नीच) भवो को प्राप्त करके अनेक क्रूरकर्मी जीव उस नरक मे रहते हैं। पूर्वजन्म मे जिसने जैसा कर्म किया है, उसके अनुसार ही उस नारक को वेदनाएँ (भार) प्राप्त होती हैं।

३२६ अनार्य पुरुष पाप (कलुष) उपार्जन करके इष्ट और कान्त (प्रिय) (रूपादि विषयो) से रहित (वचित) होकर कर्मों के वश हुए दुर्गन्धयुक्त, अशुभ स्पर्श वाले तथा मास (रुधिर आदि) से परिपूर्ण कृष्ण (काले रूप वाले) नरक मे आयुपूर्ण होने तक निवास करते है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—नरक मे नारक क्या खोते, क्या पाते ?—प्रस्तुत सूत्रगाथा द्वय मे इस उद्देशक का उपसहार करके शास्त्रकार ने नरक मे नारकीय जीवो के द्वारा खोने-पाने का सक्षेप मे वर्णन किया है।

दोनो सूत्रगाथाओ मे पूर्वकृत कर्मों के अनुसार नारको के लाभ-हानि के निम्नोक्त तथ्य प्रकट किए गये है -(१) मनुष्यजन्म मे जो लोग जरा-सी सुखप्राप्ति के लिए हिंसादि पापकर्म करके दूसरो को नही, अपने आपको ही वचित करते, (२) वे उसी के फलस्वरूप सैकडो हजारो वार शिकारी, कसाई, आदि नीच योनियो मे जन्म लेकर तदनन्तर यातना स्थान रूप नरक में निवास करते है, (३) जिसने जिस अध्यवसाय से जैसे जघन्य-जघन्यतर-जघन्यतम पापकर्म पूर्वजन्मो में किये हैं, तदनुसार ही उसे नरक मे वैसी ही वेदनाएँ मिलती है। (४) वे अनार्य पुरुष अपने थोडे-से सुखलाभ के लिए पाप-कर्मों का उपार्जन करते है।(५) उसके फलस्वरूप नरक मे इष्ट, कान्त, मनोज्ञ रूप, रस गन्ध स्पर्श आदि विषयो से वचित रहते है और अनिष्ट रूप, रस, गन्ध स्पर्श आदि प्राप्त करके अपनी पूरी आयु तक नरक मे दु ख भोगते रहते है।

जहा कड कम्म तहासि भारे—इस पक्ति का आशय यह है कि 'जैसा जिसका कर्म, वैसा ही फल' के सिद्धान्तानुसार नरक मे नारको को पीडा भोगनी पडती है। उदाहरणार्थ—जो लोग पूर्वजन्म मे मासाहारी थे, उन्हे नरक मे उनका अपना ही मास काटकर आग मे पकाकर खिलाया जाता है, जो लोग मास का रस पीते थे, उन्हे अपना ही मवाद एव रक्त पिलाया जाता है, अथवा सीसा गर्म करके पिलाया जाता है तथा जो मच्छीमार बहेलिये आदि थे, उन्हे उसी प्रकार से मारा काटा एव छेदा जाता है—जो असत्यवादी थे, उन्हे उनके पूर्वजन्म के दुष्कृत्यों को याद दिलाकर उनकी जिह्वा काटी जाती है, जो पूर्वजन्म मे परद्रव्यापहारक चोर, लुटेरे डाकू आदि थे, उनके अगोपांग काटे जाते हैं, जो

परस्त्रीगामी थे उनका अण्डकोष काटा जाता है, तथा शाल्मलिवृक्ष (अत्यन्त कठोर स्पर्श वाला) का आलिंगन कराया जाता है, जो लोग महापरिग्रही थे या तीव्र कषाय वाले थे, उन्हे अपने दुष्कर्मों का स्मरण कराकर वैसा ही दु ख दिया जाता है।

इट्ठे हि कंतेहि य विप्पहूणा—इस पक्ति के दो अर्थ वृत्तिकार करते हैं—(१) इष्ट एव कमनीय शब्दादि विषयो से रहित (वचित) होकर वे नरक मे रहते है, अथवा (२) जिनके लिए उन्होने पाप-कर्म किये थे, उन इष्ट माता-पिता, स्त्री-पुत्र आदि से तथा कान्त (कमनीय) विषयो से, रहित होकर वे एकाकी नरक मे आयुपर्यन्त रहते हैं।[७]

पाठान्तर और व्याख्या—**भवाहमे पुव्वसते सहस्से** वृत्तिकार के अनुसार—बहुत-से भवो मे जो अधम—मच्छीमार कसाई पारधि आदि नीच भव है, उन्हे पूर्वजन्मो मे सैकडो हजारो वार पाकर विषय सम्मुख एव सुकृत विमुख होकर या भागकर। चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है—**'भवाहमे पुव्वा सतसहस्से'** सैकडो-हजारो पूर्व तक यानी तैतीस सागरोपम तक भवो मे अधम-निकृष्ट भव पाकर या भोगकर।[८]

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

□□

बीओ उद्देसओ

द्वितीय उद्देशक

तीव्र वेदनाएँ और नारकों के मन पर प्रतिक्रिया

३२७. अहावरं सासयदुक्खधम्मं तं मे पवक्खामि जहातहेणं।
बाला जहा दुक्कडकम्मकारी, वेदेंति कम्माइं पुरेकडाइं ॥१॥

३२८. हत्थेहि पाएहि य बंधिऊणं, उदरं विकत्तंति खुरासिएहिं।
गेण्हेत्तु बालस्स विहत्त देहं, वद्धं थिरं पिट्ठतो उद्धरंति ॥२॥

३२९. बाहू पकत्तंति य मूलतो से, थूलं वियासं मुहे आडहंति।
रहंसि जुत्तं सरयंति बालं, आरुस्स विज्झंति तुदेण पट्ठे ॥३॥

३३०. अयं व तत्तं जलितं सजोतिं, ततोवमं भूमिमणोक्कमंता।
ते डज्झमाणा कलुणं थणंति, उसुचोदिता तत्तजुगेसु जुत्ता ॥४॥

---

७ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १३४

८ सूयगडग सुत्त (मूलपाठ टिप्पण) पृ० ५८
(ख) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १३४

३३१. बाला बला भूमिमणोक्कमंता, पविज्जलं लोहपहं व तत्तं ।
जंसीऽभिदुग्गंसि पवज्जमाणा, पेसे व दंडेहिं पुरा करेंति ।।५।।

३३२. ते संपगाढंसि पवज्जमाणा, सिलाहिं हम्मंतिऽभिपातिणीहिं ।
संतावणी नाम चिरट्ठितीया, संतप्पति जत्थ असाहुकम्मा ।।६।।

३३३. कंदूसु पक्खिप्प पयंति बालं, ततो विडड्ढा पुणउप्पतंति ।
ते उड्ढकाएहिं पखज्जमाणा, अवरेहिं खज्जंति सणप्फएहिं ।।७।।

३३४. समूसितं नाम विधूमठाणं, ज सोगतत्ता कलुणं थणंति ।
अहो सिरं कट्टु विगत्तिऊणं, अयं व सत्थेहिं समोसवेंति ।।८।।

३३५. समूसिया तत्थ विसूणियंगा, पक्खीहिं खज्जति अयोमुहेहिं ।
संजीवणी नाम चिरट्ठितीया, जंसि पया हम्मति पावचेता ।।९।।

३३६. तिक्खाहि सुलाहिं भितावयंति, वसोवगं सोअरिय व लद्धं ।
ते सूलविद्धा कलुणं थणति, एगतदुक्खं दुहओ गिलाणा ।।१०।।

३३७. सदा जल ठाण निह महंत, जंसी जलती अगणी अकट्ठा ।
चिट्ठंती तत्था बहुकूरकम्मा, अरहस्सरा केइ चिरट्ठितीया ।।११।।

३३८. चिता महंतीउ समारभित्ता, छुब्भंति ते त कलुण रसंतं ।
आवट्टति तत्थ असाहुकम्मा, सप्पि जहा पतित जोतिमज्झे ।।१२।।

३३९. सदा कसिण पुण घम्मठाणं, गाढोवणीयं अतिदुक्खधम्मं ।
हत्थेहिं पाएहि य बंधिऊण, सत्तु व दंडेहिं समारभंति ।।१३।।

३४०. भंजंति बालस्स वहेण पट्ठि, सीस पि भिंदति अयोघणेहिं ।
ते भिन्नदेहा व फलगावतट्ठा, तत्ताहिं आराहिं णियोजयंति ।।१४।।

३४१. अभिजुंजिया रुद्द असाहुकम्मा, उसुचोदिता हत्थिवहं वहंति ।
एग दुरुहित्तु दुए तयो वा, आरुस्स विज्झंति ककाणओ से ।।१५।।

३४२. बाला बला भूमि अणोक्कमता, पविज्जल कंटइलं महंतं ।
विबद्ध तप्पेहिं विवण्णचित्ते, समीरिया कोट्ट बलिं करेंति ।।१६।।

३४३. वेतालिए नाम महाभितावे, एगायते पव्वतमंतलिक्खे ।
हम्मंति तत्था बहुकूरकम्मा, परं सहस्साण मुहुत्तगाणं ।।१७।।

३४४. सबाहिया दुक्कडिणो थणंति, अहो य रातो परितप्पमाणा ।
एगंतकूडे नरए महंते, कूडेण तत्था विसमे हता उ ।।१८।।

३४५. भंजंति णं पुव्वमरी सरोसं, समुग्गरे ते मुसले गहेतु ।
ते भिन्नदेहा रुहिरं वमंता, ओमुद्धगा धरणितले पडंति ।।१९।।

३४६. अणासिता नाम महासियाला, पगब्भिणो तत्थ सयायकोवा ।
खज्जंति तत्था बहुकूरकम्मा, अदूरया संकलियाहि बद्धा ।।२०।।

३४७. सदाजला नाम नदी भिदुग्गा, पविज्जला लोहविलीणतत्ता ।
जंसी भिदुग्गंसि पवज्जमाणा, एगाइयाऽणुक्कमणं करेंति ।।२१।।

३२७. इसके पश्चात् शाश्वत (सतत) दु ख देने के स्वभाव वाले नरक के सम्बन्ध मे आपको मैं अन्य बाते यथार्थरूप से कहूँगा कि दुष्कृत (पाप) कर्म करने वाले अज्ञानी जीव किस (जिस) प्रकार पूर्व (जन्म मे) कृत स्वकर्मों का फल भोगते है ।

३२८ परमाधार्मिक असुर नारकीय जीवो के हाथ और पैर बाँधकर तेज उस्तरे और तलवार के द्वारा उनका पेट फाड डालते है। तथा उस अज्ञानी जीव की (लाठी आदि के प्रहार से) क्षत विक्षत देह को पकडकर उसकी पीठ की चमडी जोर से उधेड लेते है ।

३२९ वे नरकपाल नारकीय जीव की भुजा को मूल से काट लेते है तथा उनका मुख फाडकर उसमे लोहे के बडे-बडे तपे हुए गोले डालकर जलाते हैं । (फिर) एकान्त मे उनके जन्मान्तरकृत कर्म का स्मरण कराते है, तथा अकारण ही कोप करके चाबुक आदि से उनकी पीठ पर प्रहार करते है ।

३३० तपे हुए लोह के गोले समान, ज्योति-सहित जलती हुई तप्त भूमि की उपमायोग्य भूमि पर चलते हुए वे नारकी जीव जलते हुए करुण क्रन्दन करते है । लोहे का नोकदार आरा भोक-कर (चलने के लिए) प्रेरित किये हुए तथा गाडी के तप्त जुए मे जुते (जोते) हुए वे नारक (करुण विलाप करते है ।)

३३१ अज्ञानी नारक जलते हुए लोहमय मार्ग के समान तपी हुई तथा (रक्त और मवाद के कारण) थोडे पानी वाली (कीचड से भरी) भूमि पर परमाधार्मिको द्वारा बलात् चलाये जाने से (बुरी तरह रोते-चिल्लाते है ।) (नारकी जीव) जिस (कुम्भी या शाल्मलि आदि) दुर्गम स्थान पर (परमा-धार्मिको द्वारा) चलाये जाते है, (जब वे ठीक से नही चलते हैं, तब) (कुपित होकर) डडे आदि मार-कर बैल की तरह उन्हे आगे चलाते है ।

३३२ तीव्र (गाढ) वेदना से भरे नरक मे पडे हुए वे (नारकी जीव) सम्मुख गिरने वाली शिलाओ के (द्वारा) नीचे दबकर मर जाते है । सन्तापनी (सताप देने वाली) यानी कुम्भी (नामक नरक भूमि) चिरकालिक स्थिति वाली है, जहाँ दुष्कर्मी-पापकर्मी नारक (चिरकाल तक) सतप्त होता रहता है ।

३३३ (नरकपाल) अविवेकी नारक को गेंद के समान आकार वाली (नरक-कुम्भी) में डाल-कर पकाते हैं, जलते (चने की तरह भूने जाते) हुए वे नारकी जीव वहाँ से फिर ऊपर उछल जाते है, जहा वे द्रोणकाक नामक (विक्रिया-जात) कौओ द्वारा खाये जाते है, (वहाँ से दूसरी ओर भागने पर) दूसरे (सिंह, व्याघ्र आदि) नरक वाले हिंस्र पशुओ द्वारा खाये जाते है।

३३४. (नरक मे) ऊँची चिता के समान आकार वाला (समुच्छ्रित) धूम रहित अग्नि का एक स्थान है, जिस (स्थान) को (पाकर) शोक संतप्त नारकी जीव करुणस्वर मे विलाप करते है। (नरक-पाल) (नारक के) सिर को नीचा करके उसके शरीर को लोहे की तरह शस्त्रा से काटकर टुकडे-टुकडे कर डालते है।

३३५ उस नरक मे अधोमुख करके ऊपर लटकाए हुए तथा शरीर की चमडी उधेड ली गई है, ऐसे नारकी जीवो को लोहे की तीखी चोच वाले (काकगृध्र आदि) पक्षीगण खा जाते है। जहाँ यह पापात्मा नारकीय प्रजा मारी-पीटी जाती है, किन्तु सजीवनी (मरण-कष्ट पाकर भी आयु शेष रहने तक जलाए रखने वाली) नामक नरक भूमि होने से वह (नारकीय प्रजा) चिरस्थिति वाली होती है।

३३६ वशीभूत हुए श्वापद (जगली जानवर) के समान प्राप्त हुए नारकी जीव को परमा-धार्मिक तीखे शूलो से (बीधकर) मार गिराते है। शूल मे बीधे हुए, भीतर और बाहर दोनो ओर से ग्लान—उदास, एव एकान्त दु खी नारकीय जीव करुण क्रन्दन करते है।

३३७ (वहाँ) सदैव जलता हुआ एक महान् प्राणिघातक स्थान है, जिसमे बिना काष्ठ (लकडी) की आग जलती रहती है। जिन्होने पूर्वजन्म मे बहुत क्रूर (पाप) कर्म किये है, वे कतिपय नारकीय जीव वहाँ चिरकाल तक निवास करते है और जोर-जोर से गला फाडकर रोते रहते है।

३३८ परमाधार्मिक बडी भारी चिता रचकर उसमे करुण रुदन करते हुए नारकीय जीव को फेंक देते है। जैसे आग मे पडा हुआ घी पिघल जाता है, वैसे ही उस (चिता की अग्नि) मे पडा हुआ पापकर्म नारक भी द्रवीभूत हो जाता है।

३३९ फिर वहाँ सदैव सारा का सारा जलता रहने वाला एक गर्म स्थान है, जो नारक जीवो को निधत्त, निकाचित आदि रूप से बद्ध पाप कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त होता है जिसका स्वभाव अति-दु ख देना है। उस दु खपूर्ण नरक मे नारक के हाथ और पैर बाधकर शत्रु की तरह नरकपाल डडो से पीटते है।

३४० अज्ञानी नारक जीव की पीठ लाठी आदि से मार-मार तोड देते है और उसका सिर भी लोहे के घन से चूर-चूर कर देते हैं। शरीर के अग-अग चूर कर दिए गये वे नारक तपे हुए आरे से काष्ठफलक (लकडी के तख्ते) की तरह चीरकर पतले कर दिये जाते है, फिर वे गर्म सीसा पीने आदि कार्यों मे प्रवृत्त किये जाते हैं।

३४१ नरकपाल पापकर्मा नारकीय जीवो के पूर्वकृत जीव हिंसादि रौद्र पापकार्यों का स्मरण कराकर बाण मारकर प्रेरित करके हाथी के समान भार वहन कराते हैं। उनकी पीठ पर एक, दो या

तीन नारकियो को चढाकर उन्हे चलने के लिए प्रेरित करते है। (बीच-बीच मे) क्रुद्ध होकर तीखा नोकदार शस्त्र उनके मर्मस्थान मे चुभोते हैं।

३४२ बालक के समान पराधीन बेचारे नारकी जीव नरकपालो द्वारा बलात् कीचड से भरी और काँटो से परिपूर्ण विस्तृत भूमि पर चलाये जाते है। पापकर्म से प्रेरित नरकपाल अनेक प्रकार के बन्धनो से बाधे हुए विषण्ण—(या विवर्ण—उदास) चित्त या सज्ञाहीन (मूर्च्छित) नारक जीवो को खण्डश काट-काट कर नगरबलि के समान इधर-उधर फेंक देते हैं।

३४३ आकाश मे बडे भारी ताप से युक्त एक ही शिला से बनाया हुआ अतिविस्तृत वैतालिक—वैक्रिय पर्वत है। उस पर्वत पर रहने वाले अतिक्रूरकर्मा नारकी जीव हजारो मुहूर्तों से अधिक काल तक परमाधार्मिको के द्वारा मारे जाते है।

३४४ निरन्तर पीडित किये जाते हुए दुष्कर्म किए हुए पापात्मा नारक दिन-रात परिताप (दु ख) भोगते हुए (सतप्त हो) रोते रहते है। उस एकान्त कूट (दु खोत्पत्ति स्थान), विस्तृत और विषम (ऊबड-खाबड या कठिन) नरक मे पडे हुए प्राणी गले मे फाँसी डालकर मारे जाते समय केवल रोदन करते है।

३४५ मुद्गर और मूसल हाथ मे लेकर नरकपाल पहले के शत्रु के समान रोष के साथ नारकीय जीवो के अगो को तोड-फोड देते है। जिनकी देह टूट गई है, ऐसे नारकीय जीव रक्त वमन करते हुए अधोमुख होकर जमीन पर गिर पडते है।

३४६ उस नरक मे सदा क्रोधित और क्षुधातुर बडे ढीठ विशालकाय सियार रहते है। वे वहाँ रहने वाले जन्मान्तर मे बहुत पाप (क्रूर) कर्म किये हुए तथा जजीरो मे बधे हुए निकट मे स्थित नारको को खा जाते है।

३४७ (नरक मे) सदाजला नाम की अत्यन्त दुर्गम (गहन या विषम) नदी है, जिसका जल क्षार, मवाद और रक्त से मलिन रहता है, अथवा वह भारी कीचड से भरी है, तथा वह आग पिघले हुए तरल लोह के समान अत्यन्त उष्ण जल वाली है उस अत्यन्त दुर्गम नदी मे पहुँचे हुए नारक जीव (बेचारे) अकेले-असहाय और अरक्षित (होकर) तैरते है।

विवेचन— नरक मे मिलने वाली तीव्र वेदनाएँ और नारको के मन पर प्रतिक्रिया—प्रस्तुत २१ सूत्रगाथाओ (सू० गा० ३२७ से ३४७ तक) मे नारको को नरक मे दी जाने वाली एक से एक बढकर यातनाओ का वर्णन है, साथ ही नारको के मन पर होने वाली प्रतिक्रियाओ का भी निरूपण किया गया है। यद्यपि नारकीय जीवो को मिलने वाली ये सब यत्रणाएँ मुख्यतया शारीरिक होती है, किन्तु नारको के मन पर इन यन्त्रणाओ का गहरा प्रभाव पडता है, जो आँखो से आँसुओ के रूप मे और वाणी से रुदन विलाप और रक्षा के लिए पुकार के रूप मे प्रकट होता है। नारको को ये सब यातनाएँ और भयकर वेदनाएँ उनके पूर्वजन्म मे किए हुए पापकर्मों के फलस्वरूप प्राप्त होती है, इसलिए नरको को यातना स्थान कहना योग्य ही है। वास्तव मे पूर्वजन्मकृत पापकर्मों के फलभोग के ही ये स्थान है। इसीलिए शास्त्रकार ने नरक को **सासयदुक्खधम्म**— 'सतत दु ख देने के स्वभाव वाला' कहा है।[1]

१. सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति भाषानुवाद सहित भा० २ पृ० १३ का साराश

परमाधार्मिकों द्वारा दी जाने वाली यातनाएँ—नारको को नरकपालो द्वारा दी जाने वाली यत्रणाएँ मुख्यतया इस प्रकार है—(१) हाथ-पैर बाधकर तेज धार वाले उस्तरे व तलवार से पेट काटते हैं, (२) घायल शरीर को पकड कर उसकी पीठ की चमडी उधेडते है, (३) भुजाएँ जड से काटते हैं, (४) मुँह फाडकर उसमे तपा हुआ लोह गोलक डालकर जला डालते है, (५) पूर्वजन्म कृत पापकर्मों का एकान्त मे स्मरण कराकर गुस्से मे आकर उनकी पीठ पर चाबुक फटकारते है, (६) लोहे के गोले के समान तपी हुई भूमि पर चलाते है, (७) गाडी के तपे हुए जुए मे जोतकर तथा आरा भोककर चलाते हैं, (८) जलते हुए लोहपथ के समान तप्त एव रक्त-मवाद के कारण कीचड वाली भूमि पर जबरन चलाते हैं, जहाँ रुका कि नरकपाल डडे आदि से मारकर आगे चलाते हैं, (९) सम्मुख गिरती हुई शिलाओ के नीचे दबकर मर जाते है, (१०) सतापनी नामक नरक-कुम्भी मे रखकर चिरकाल तक सताप भोगते हैं, (११) गेद के आकार वाली कन्दुकुम्भी मे डालकर नारक को पकाते है। (१२) वहाँ से ऊपर उछलते ही द्रोणकाक उन्हे नोचकर खा जाते है, शेष बचे हुए नारको को सिह-व्याघ्र आदि जगली जानवर खा जाते है। (१३) चिता के समान ऊँची अग्नि मे अत्यन्त पीड़ा पाते है, जहाँ क्रूर नरकपाल उनका सिर नीचा करके उनके शरीर को लोह की तरह शस्त्र से काट कर टुकडे-टुकडे कर डालते है, (१४) शरीर की चमडी उधेड कर औधे लटकाए हुए नारको को लोहे की तीखी चोच वाले पक्षी नोच-नोचकर खाते है, (१५) हिंस्र पशु की तरह नारकीय जीव के मिलते ही वे तीखे शूलो से बाधकर उन्हें मार गिराते है, (१६) सदैव बिना लकडी के जलता हुआ एक प्राणिघातक स्थान है, जहाँ नारक चिरकाल तक रहकर पीडा पाते है।। (१७) बहुत बडी चिता रच कर करुण विलाप करते हुए नारक को उसमे भौक देते है। (१८) सदैव पूरे के पूरे गर्म रहने वाले अतिदु खमय नरक स्थान मे हाथ-पैर बाधकर शत्रु की तरह मारते-पीटते है। (१९) लाठी आदि से मार-मारकर पीठ तोड देते है, लोहे के भारी घन से सिर फोड देते है, उनके शरीर चूर-चूर कर देते है, फिर लकडी के तख्ते को चीरने की तरह गर्म आरो से चीर देते है, तब खौलता हुआ सीसा आदि पीने को बाध्य करते हैं, (२०) नारक के पूर्वकृत रौद्र पापकर्मों का स्मरण करा कर उससे हाथी की तरह भारवहन कराया जाता है, एक दो या तीन नारको को उसकी पीठ पर चढाकर चलाया जाता है, न चलने पर उसके मर्मस्थान मे तीखा नोकदार आरा आदि चुभोया जाता है। (२१) परवश नारको को कीचड से भरी एव कटीली विस्तीर्ण भूमि पर बलात् चलाया जाता है, (२२) विविध बधनो से बाधे हुए सज्ञाहीन नारको के टुकडे-टुकडे करके उन्हे नगरबलि की तरह इधर-उधर फेंक देते है। (२३) वैतालिक (वैक्रियक) नामक एक-शिलानिर्मित आकाशस्थ महाकाय पर्वत बडा गर्म रहता है, वहाँ नारको को चिरकाल तक मारा-पीटा जाता है। (२४) उनके गले मे फासी का फदा डालकर दम घोटा जाता है, (२५) मुद्गरो और मूसलो से रोषपूर्वक पूर्वशत्रुवत् नारको के अग-भग करते हैं, शरीर टूट जाने पर वे औधे मुँह रक्तवमन करते हुए गिर जाते हैं। (२६) नरक मे सदा खू खार, भूखे, ढीठ तथा महाकाय गीदड रहते हैं, जो जजीरो से बधे हुए निकटस्थ नारको को खाते रहते हैं। (२७) सदाजला नामक विषम या गहन दुर्गम नदी है, जिसका पानी रक्त, मवाद, एव खार के कारण मैला व पकिल है, उसके पिघले हुए तरल लोह के समान अत्यन्त उष्ण जल मे नारक अकेले अरक्षित होकर तैरते हैं।

इन और प्रथम उद्देशक मे कथित, यातनाओ के अतिरिक्त अन्य सैकडो प्रकार की यातनाएँ

नरकगत जीव पाते है और उन्हे रो-रोकर सहन करते है, क्योकि उन्हे सहे बिना और कोई चारा नही है।[२]

निष्कर्ष यह है कि दिन-रात नाना दु खो और चिन्ताओ से सन्तप्त पापकर्मा नारको के पास उन दु खो से बचने का कोई उपाय नही होता, अज्ञान के कारण न वे समभाव पूर्वक उन दु खो को सहन कर सकते है, और न ही उन दु ख का अन्त करने के लिए वे आत्महत्या करके मर सकते हैं, क्योकि नारकीय जीवो का आयुष्य निरूपक्रमी होता है, उनकी अकाल मृत्यु नही होती। वे पूरा आयुष्य भोग कर ही मरते है, बीच मे नही। यही कारण है कि वे इतने-इतने भयकर दारुण दु खो और यातनाओ के समय, या यो कहे कि इतनी-इतनी बार मारे, काटे, पीटे और अग-भग किये जाने पर मरना चाहते हुए भी नही मर सकते। सिवाय रोने-धोने, करुण-क्रन्दन, विलाप, चीत्कार या पुकार करने के उनके पास कोई चारा नही। परन्तु उनकी करुण पुकार, प्रार्थना, विलाप या रोदन सुनकर कोई भी उनकी सहायता या रक्षा करने नही आता, न ही कोई सहानुभूति के दो शब्द कहता है, किसी को उनकी दयनीय दशा देखकर दया नही आती, प्रत्युत परमाधार्मिक असुर उन्हे रोने पीटने पर और अधिक क्रूर बनकर अधिकाधिक यातनाएँ देते है। उनके पूर्व जन्मकृत पापकर्मो की याद दिलाकर उन्हे लगातार एक पर एक यातनाएं देते रहते है, जो उन्हे विवश होकर भोगनी पडती है।[३]

एक प्रश्न उठता है कि नरक मे नारकी जीव का शरीर चूर-चूर कर दिया जाता है, उनकी चमडी उधेड दी जाती है, मृत शरीर की तरह उन्हे औंधे मु ह लटका दिया जाता है, वे अत्यन्त पीसे, काटे, और छीले जाते है, फिर भी मरते क्यो नही ? इसका समाधान सू० गा० ३३५ के उत्तरार्द्ध द्वारा करते है—'**सजीवणो नाम चिरट्ठितिया।**' अर्थात्—नरक की भूमि का नाम सजीवनी भी है। वह सजीवनी औषधि के समान जीवन देने वाली है, जिसका रहस्य यह है कि मृत्यु-सा दु ख पाने पर भी आयुष्यबल शेष होने के कारण वहाँ नारक चूर-चूर कर दिये जाने या पानी की तरह शरीर को पिघाल दिये जाने पर भी मरते नही, अपितु पारे के समान बिखर कर पुन मिल जाते है।[४] नारकी की उत्कृष्ट आयु ३३ सागरोपम काल की है। इसीलिए शास्त्रकार नरकभूमि को '**चिरस्थितिका**' (अत्यन्त दीर्घकालिक स्थिति वाली) कहते है।

इसलिए नारकी जीव के मन पर उन भयकर दु खो की तीव्र प्रतिक्रिया होने पर भी वे कुछ कर नही सकते, विवश होकर मन ममोसकर पीडाएं भोगते जाते है।

पाठान्तर और व्याख्या—उदर विकत्तति खुरासिएहि—वृत्तिकार के अनुसार—उस्तरा, तलवार आदि के अनेक प्रकार के तीखे शस्त्रो से उनका पेट फाड देते है। चूर्णिकार के अनुसार—'**असिता**

---

२ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १३५ से १३९ तक का सक्षिप्त सार

३ (क) सूत्रकृताग मूलपाठ टिप्पण (जम्बूविजयजी) पृ ५८ से ६२ तक

(ख) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १३७ का साराश

(ग) 'औपपातिक चरमदेहोत्तमपुरुषाऽसख्येय वर्षाऽऽयुषोऽनपवर्त्यायुष'—तत्वार्थ सूत्र अ० २ सू० ५३

४ (क) 'सजीवणा-सजीवन्तीति सजीविन सर्व एव नरका सजीवणा।—सूत्रकृ० चूर्णि (मू० पा० टि०) पृ० ५९

(ख) 'सजीवनी-जीवनदात्री नरकभूमि'—सूत्रकृ० शीलाकवृत्ति पत्राक १३७

णिसिता तिण्हा अथवा ण सिता मुण्डा इत्यर्थः'—असित यानि तेज, तीक्ष्ण अथवा मु ड—नगे, यानी बद नही, खुले, शस्त्रो से उनका पेट फाड देते है। चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर भी है—**'उदराइ फोडेंति खुरेहिं तेसिं'**—छुरी से उनके उदर फोड (फाड) देते है। **विहन्नदेह**—वृत्तिकार के अनुसार—**विविध हत पीडित देहम्**—विविध रूप से हत-पीडित—क्षतविक्षत देह को। चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है—**विहण्ण देह**—अर्थ किया गया है—**विहण्णेति विहणित्ता देह**—देह को विशेष रूप से क्षतविक्षत (घायल) करके। **वद्धं**—"वर्ध्र चर्मशकलम्"—वर्ध कहते है चमडी के टुकडे को। **थूल**—बडे भारी लोह के गोले आदि को। **जुत्त सरयति**—युक्तियुक्त—नारको के अपने-अपने दण्ड रूप दु ख के अनुरूप (उपयुक्त) पूर्वकृत पाप का स्मरण कराते है। जैसे कि—गर्म किया हुआ सीसा पिलाते समय वे याद दिलाते है कि 'तू खूब मद्य पीता था न ?' **'आरुस्स विज्झति'**—वृत्तिकार के अनुसार—अकारण ही भयकर कोप करके पीठ मे चाबुक आदि के द्वारा ताडना करते है। चूर्णिकार समस्त पाठान्तर है—**आरुब्भ विंधति**—अर्थात् उसकी पीठ पर चढकर आरा आदि नोकदार शस्त्र बींध (भोक) देते है। **'पविज्जल'** वृत्तिकार के अनुसार—**'रुधिरपूयादिना पिच्छिला'**—रक्त और मवाद आदि होने के कारण पिच्छिल-कीचड वाली भूमि पर। चूर्णिकार के अनुसार—**विविधेण प्रज्वल नाम पिच्छिलेण पूयसोणिएण अणुलित्ततला, विगत ज्वल विज्जल, विज्जला।** अर्थात्—विविध प्रकार से प्रज्वल यानी पिच्छिल, मवाद और रक्त से जिसका तल अनुलिप्त हो, ऐसी अथवा जलरहित होने से वि-जल। जल के नाम पर उसमे मवाद और खून होते है, इसलिए पकिल भूमि।

वृत्तिकारसम्मत—**'निपातिणीहिं'** के बदले **'अभिपातिणीहिं'** पाठ अधिक सगत प्रतीत होता है, अर्थ होता है—सम्मुख गिरने वाली शिलाओ से। **'निपातिणीहिं'** का अर्थ भी वही किया गया है। **'ततो विडड्ढा पुणरुप्पतंति'**—वृत्तिकार के अनुसार—उस पाकस्थान से जलते हुए वे इस तरह ऊपर उछलते है, जिस तरह भाड मे भू जे जाते हुए चने उछलत है। चूर्णिकार के अनुसार पाठान्तर और अर्थ इस प्रकार है—वे अज्ञानी नारक भय से भुजियो (पकौडो) की तरह जलते (पकते) हुए कूद जाते है। **जं सोगतत्ता**—वृत्तिकार—जिस पर पहुँचकर वे शोकसतप्त नारक। चूर्णिकारसम्मत दो पाठान्तर है—**'जसि विउक्कता'** और **'जसो वियता'**—प्रथम का अर्थ है—जिस पर विविध प्रकार से ऊपर चलते हुए वे नारक, द्वितीय का अर्थ है—**'यत्र उवियता—छुभमाना इत्यर्थः** जहाँ क्षुब्ध होते हुए या छूते हुए नारक। **'सो अरिय व लद्ध'**—सूअर आदि को पाकर जैसे मारते है, वैसे ही नारकी जीव को पाकर। चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर है "(१) सोवरिया व" और (२) सावरिया व" प्रथम पाठान्तर का अर्थ है—(१) **शौवरिका इव वशोपग महिषं वधयति**—जैसे कसाई वशीभूत भैंसे का वध कर डालते है, द्वितीय पाठान्तर का अर्थ है—**'शाबरिया—शाबराः—म्लेच्छजातय', ते यथा विंधति तथा।** शबर (म्लेच्छजातीय) लोग जैसे वन्य पशु को पाते ही तीर आदि से बींध डालते है, वृत्तिकार-सम्मत पाठान्तर है—**सावयय व लद्धं**—वश मे हुए श्वापद—वन्य कालपृष्ठ सूअर आदि को स्वतन्त्र रूप से पाकर सताते है, तद्वत्। **निह**—प्राणिघातस्थान। **'चिट्ठती तत्था बहुकूरकम्मा'**—अति-क्रूर कर्मा पापी नारक वहाँ स्वकृत-पापफल भोगने के लिए रहते है। वृत्तिकारसम्मत पाठान्तर है—**चिट्ठंती बद्धा बहुकूरकम्मा**—अतिक्रूर कर्मा बधे हुए रहते हैं।

फलगावतट्ठा—काष्ठ फलक (पाटिये) की तरह दोनो ओर से करवत आदि से छीले हुए या कृश (पतले) किये हुए। आचाराग सूत्र मे **फलगावतट्ठो** पाठ कई जगह आता है,[५] परन्तु वहाँ

५ 'फलगावतट्ठी'—आचा० प्र० श्रु० विवेचन सू० १९८, २२४, २२८-पृ० २३१, २७८, २८७ मे देखें।

निष्कम्प दशा सुस्थिरता आदि सन्दर्भ मे होने से उपर्युक्त अर्थ ही ठीक है। **अभिजुजिया रुद्द असाहुकम्मा**—वृत्तिकार के अनुसार इसके दो अर्थ हैं—(१) रौद्रकर्मणि अभियुज्ज—व्यापार्य, यदि वा रौद्रं सत्त्वोपघातकार्यं, अभियुज्य—स्मारयित्वा। अर्थात् जिन्होने पूर्वजन्म मे दुष्कर्म किये हैं, उन्हे रौद्र-हिंसादि भयकर कार्य मे प्रेरित करके या नियुक्त करके अथवा रौद्र—(पूर्वजन्मकृत) प्राणिघात वगैरह कर्म का स्मरण कराकर। चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है—**रोद्ध असाधु कम्मा (म्मी)**—अर्थ किये हैं—**'रौद्रादीनि कर्माणि असाधूनि येषा ते'**—अर्थात् जिन्होने पूर्वजन्म मे रौद्र-भयकर खराब कर्म (पाप) किये है उन्हे। **हत्थिवह वहति**—वृत्तिकार के अनुसार जैसे हाथी पर चढकर उससे भार-वहन कराते है, वैसे ही नारको से भी सवारी ढोने का काम लेते है। अथवा जैसे हाथी भारी भार वहन कराता है, वैसे ही नारक से भी भारी भारवहन कराते है। चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है—**हत्थितुल्लं वहंति** नारक हाथी की तरह भार ढोते है, अथवा नारको को हस्तिरूप (वैक्रिय शक्ति से) बनाकर उनसे भारवहन कराते है। **'आरुस्स विज्झति ककाणओ से'**—अत्यन्त कोप करके उनके मर्मस्थान को नोकदार शस्त्र से बीध देते है। या चाबुक आदि के प्रहार से उन्हे सताते हैं। चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर है -**'आरुब्भ विधंति किकाणतो से'**—अर्थ किया गया है—नारक पर चढकर, क्यो नही ढोता ? यो रोषपूर्वक कहकर उसकी कृकाटिका—गर्दन नोकदार शस्त्र से बीध देते है। **कोट्ट बलि करेंति**—वृत्तिकार के अनुसार—कूटकर टुकडे-टुकडे करके बलि कर देते है, या नगरबलि की तरह इधर-उधर फेक देते है। अथवा कोट्टबलि यानी नगरबलि कर देते हैं। लगभग यही अर्थ चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर **'कुट्ट (कोट्ट) बलि करेंति'** के अनुसार है। **परं सहस्साण मुहुत्तगाण**—सहस्रसख्यक मुहूर्त्त से पर—प्रकृष्ट (अधिक) काल तक। चूर्णिकार—पर सहस्राणामिति पर सहस्रेभ्योऽनेकानि सहस्राणीत्यर्थः। अर्थात्—हजारो पर से यानी अनेक सहस्र मुहूर्तो तक—लम्बे समय तक। **सयायकोवा**—वृत्तिकार के अनुसार—सदावकोपा - नित्यकुपित। चूर्णिकार के अनुसार—भक्षण करके सदा अतृप्त रहते है, अथवा सदा अकोप्य-अनिवार्य या अप्रतिषेध्य अर्थात् सदैव निवारण नही किये जा सकते।[६]

नरक में सतत दुःख प्राप्त और उससे बचने के उपाय

३४८ एयाइं फासाइं फुसंति बालं, निरंतरं तत्थ चिरट्ठितीयं।
ण हम्ममाणस्स तु होति ताण, एगो सय पच्चणुहोति दुक्खं ॥२२॥

३४९. ज जारिसं पुव्वमकासि कम्म, तहेव आगच्छति संपराए।
एगंतदुक्खं भवमज्जिणित्ता, वेदेंति दुक्खी तमणतदुक्खं ॥२३॥

३५०. एताणि सोच्चा णरगाणि धीरे, न हिंसते कचण सव्वलोए।
एगतदिट्ठी अपरिग्गहे उ, बुज्झिज्ज लोगस्स वसं न गच्छे ॥२४॥

---

६ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १३५ से १३९ तक के अनुसार
(ख) सूत्रकृताग चूर्णि (मू० पा० टि०) पृ० ५८ से ६२ तक

**३५१. एवं तिरिक्खे मणुयामरेसुं, चतुरंतऽणंत तदणुव्विवागं।
स सव्वमेयं इति वेदयित्ता, कंखेज्ज कालं धुवमाचरंतो ॥२५॥ त्ति बेमि।**

॥ णिरयविभत्ती पंचमं अज्झयणं सम्मत्तं ॥

३४८ वहाँ (नरक मे) चिरकाल तक की स्थिति (आयुष्य) वाले अज्ञानी नारक को ये (पूर्वगाथाओ मे कहे गए) स्पर्श (दु ख) निरन्तर पीडित (स्पर्श) करते रहते है। पूर्वोक्त दु खो से आहत होते (मारे जाते) हुए नारकी जीव का (वहाँ) कोई भी रक्षक (त्राण) नही होता। वह स्वय अकेला ही उन दु खो को भोगता है।

३४९ (जिस जीव ने) जो व जैसा कर्म पूर्वजन्म (पूर्व) मे किया है, वही ·ससार— दूसरे भव मे आता है। जिन्होने एकान्तदु ख रूप नरकभव का कर्म उपार्जन किया (बाधा) है, वे (एकान्त) दु खी जीव अनन्तदु ख रूप उस नरक (रूप फल) को भोगते है।

३५० बुद्धिशील धीर व्यक्ति इन नरको (के वर्णन) को सुनकर समस्त लोक मे किसी (भी प्राणी) की हिसा न करे, किन्तु) एकान्त (एकमात्र) (जीवादि तत्त्वो, आत्मतत्त्व या सिद्धान्त पर) दृष्टि (विश्वास रखता हुआ), परिग्रहरहित होकर लोक (अशुभ कर्म करने और उसका फल भोगने वाले जीवलोक) को समझे (अथवा कषायलोक का स्वरूप जाने) किन्तु कदापि उनके वश मे (अधीन) न हो, अर्थात् उनके प्रवाह मे न बहे।

३५१ (पापकर्मी पुरुष की पूर्वगाथाओ मे जैसी गति बताई है) इसी तरह तिर्यञ्चो, मनुष्यो और देवो मे भी जाननी चाहिए। चार गति रूप अनन्त ससार है, उन चारो गतियो मे कृतकर्मों के अनुरूप विपाक (कर्मफल) होता है, इस प्रकार जानकर बुद्धिमान पुरुष मरणकाल की प्रतीक्षा या समीक्षा करता हुआ ध्रुव (मोक्षमार्ग, सयम या धर्मपथ) का सम्यक् आचरण करे।

—ऐसा मै कहता हूँ।

विवेचन—नरक मे प्राप्त होने वाले दुःख तथा उनसे बचने के लिए उपाय—प्रस्तुत चार गाथाओ मे से प्रस्तुत उद्देशक तथा अध्ययन का उपसहार करते हुए शास्त्रकार ने प्रारम्भ की दो सूत्र-गाथाओ (३४८, ३४९) मे नारकीय जीव को कैसे-कैसे, कितने-कितने दु ख कब तक और मिलते है ? उन दु खो से उस समय कोई छुटकारा हो सकता है या नही ? उन दु खो मे कोई हिस्सेदार हो सकता है या नही ? उन दु खो से कोई भगवान् देवी या देव शक्ति उसे बचा सकती है या नही ?, इन रहस्यो का उद्‌घाटन इस प्रकार किया है—

नरक में पूर्वोक्त तीनो प्रकार के दुःख प्राप्त होते हैं—इस अध्ययन के प्रथम और द्वितीय उद्देशक मे पूर्वगाथाओ मे उक्त सभी प्रकार के दु ख नारको को नरक मे मिलते है, उन दु खो मे से कई दु ख परमाधार्मिककृत होते हैं, कई क्षेत्रजन्य होते है और कई दु ख नारको द्वारा परस्पर-उदीरित होते हैं। इन दु खो मे लेशमात्र भी कमी नही होती।

अपनी-अपनी भवस्थिति तक सतत दुःखों का तांता—समस्त ससारी जीवो मे नारको की स्थिति (सर्वार्थ सिद्ध विमान को छोडकर) सर्वाधिक लम्बी होती है। शास्त्रानुसार सातो नरको की उत्कृष्ट स्थिति क्रमश १, ३, ७, १०, १७, २२ और ३३ सागरोपम काल की है। इसलिए जिस

नारक की जितनी उत्कृष्ट स्थिति का आयुष्यबन्ध है, उतनी स्थिति तक उसे दु खागाररूप नरक मे रहना पडता है। उसमे कोई परिवर्तन नही हो सकता। अत नारको को दु ख भी उत्कृष्ट प्राप्त होते है, और वे दु ख भी निरन्तर प्राप्त होते रहते है। कोई भी पल ऐसा नही रहता, जिसमे उन्हे दु ख न मिलता हो। इसीलिए शास्त्रकार सू० गा० ३४८ के पूर्वार्द्ध मे कहते है—**'एआइं फासाइं' 'निरंतरं तत्थ चिरट्ठितीय।'**

जिस समय नारको पर दु ख पर दु ख बरसते रहते है, उस समय उनका कोई त्राता, शरण-दाता रक्षक या सहायक नही होता, कोई भी प्राणी, यहाँ तक कि उन नारको के निकटवर्ती परमाधार्मिक असुर भी उन्हे शरण, सहायता देना या बचाना तो दूर रहा, जरा-सी सान्त्वना भी नही देते प्रत्युत वे उसकी पुकार पर और रुष्ट होकर उस पर बरस पडते है। उस दु खपीडित दयनीय अवस्था मे कोई भी उनके आसू पोछने वाला नही होता।

एक बात और है—प्राय नारको की तामसी बुद्धि पर अज्ञान, मोह एव मिथ्यात्व का आवरण इतना जबर्दस्त रहता है कि उन्हे उक्त दारुण दु ख को समभाव से सहने, या भोगने का विचार ही नही आता, किन्तु कोई क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव वहाँ हो, तो वह उन दु खो को समभाव से सह या भोग सकता है, इस कारण ऐसे नारको को दु ख का वेदन कम होता है, परन्तु दु ख तो उतना का उतना मिलता है या दिया जाना है, जितना उसके पूर्वकृत पापकर्मानुसार बधा हुआ (निश्चित) है। निष्कर्ष यह कि प्रत्येक नारक के निकाचित रूप से पाप कर्म बधा होने से बीच मे दु ख को घटाने या मिटाने का कोई उपाय सवर-निर्जरा या समभाव के माध्यम से कामयाब नही होता। उतना (निर्धारित) दु ख भोगे बिना कोई छुटकारा नही। यह आशय भी इस पक्ति से ध्वनित होता है।

दुःख भोगने मे कोई सहायक या हिस्सेदार नहीं—जिन नारको ने पूर्वजन्म मे अपने परिवार या प्रियजनो के लिए अतिभयकर दुष्कर्म किये, अब नरक मे उनका दुष्कर्मों का फल भोगते समय उन नारको का कोई हिस्सेदार नही रहता जो उनके दु ख को बाट ले, न ही कोई सहायक होना है, जो उनके बदले स्वय उन दु ख को भोग ले बल्कि स्वय अकेला वह उन दारुण दु खो को विवश होकर भोगते समय पूर्वजन्मकृत दुष्कर्मों का स्मरण करके इस प्रकार पश्चात्ताप करता है--

'मया परिजनस्यार्थं कृत कर्म सुदारुणम्।
एकाकी तेन दह्योऽहं, गतास्ते फलभोगिनः।'

—"हाय! मैने अपने परिवार के लिए अत्यन्त भयकर दुष्कर्म किये, किन्तु फल भोगते समय मैं अकेला यहाँ दु ख से सनप्त हो रहा हूं इस समय सुखरूप फल भोगने वाले वे सब पारिवारिक जन मुझे अकेला छोडकर चले गए।" इसी रहस्य का उद्घाटन शास्त्रकार करते है—**'एगो सय पच्चणुहोति दुक्ख।'** अर्थात्—जीव सदैव स्वय अकेला ही दु ख का अनुभव करता (भोगता) है।[१७]

नरक मे एकान्तदुःखरूप फल चिरकाल तक क्यों?—प्रश्न होता है—क्या किसी ईश्वर देव-देवी या शक्ति द्वारा नारको को एकान्तदु खरूप नरक मिलता है या और कोई कारण है? जैनदर्शन के कर्मसिद्धान्त की दृष्टि से शास्त्रकार इसका समाधान करते हैं—**'जं जारिसं पुव्व आगच्छति सपराए'**—आशय यह है कि जिस प्राणी ने पूर्वजन्म मे जैसे तीव्र, मन्द, मध्यम अनुभाग (रस) वाले,

---

१७ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १४०-१४१ का सार

तथा जघन्य मध्यम उत्कृष्टस्थिति वाले कर्म किये है, उसे अपने अगले भव या जन्म मे उसी तरह का फल मिलता है। अर्थात्—तीव्र, मन्द या मध्यम जैसे अध्यवसायो (परिणामो) से जो कर्म बाधे गए है, तदनुसार उनकी स्थिति बधकर तीव्र, मन्द या मध्यम विपाक (फल) उत्पन्न करते हुए वे उदय मे आते हैं। इस प्रकार यह कर्म सिद्धान्त इतना अकाट्य है कि इसमे किसी भी ईश्वर, देवी या देव शक्ति के हस्तक्षेप की, या किसी के पक्षपात की, अथवा किसी को कुछ कहने की गु जाइश ही नही रहती।

नरक दुःखो से बचने के लिए उपाय—पिछली दो सूत्रगाथाओ (३५०-३५१) में नरक गति तथा अन्य गतियो मे मिलने वाले भयकर दु खो से बचने के लिए क्या करे और क्या न करे, इसका स्पष्ट मार्गदर्शन शास्त्रकार ने दिया है। इन दोनो सूत्रगाथाओ द्वारा नौ प्रेरणासूत्र फलित होते है—(१) पूर्वगाथाओ मे उक्त नरक दु खो का वर्णन सुनकर धीर पुरुष नरक गमन के कारणो से बचने का उपाय सोचे, (२) समग्र लोक मे किसी भी जीव की हिंसा न करे, (३) परिग्रह रहित हो, ('उ' शब्द से परिग्रह के अतिरिक्त मृषावाद, अदत्तादान एव मैथुनसेवन से विरत होने की प्रेरणा भी परिलक्षित होती है), (४) एकमात्र आत्मतत्त्व या जीवादि तत्त्वो पर दृष्टि या श्रद्धा रखे, (५) अशुभ कर्म करने तथा उसका फल भोगने वाले जीवलोक को स्वरूपत जाने, (६) किन्तु उस लोक के अधीन न हो, प्रवाहवश न बने। (७) चातुर्गतिरूप अनन्त ससार और चारो गतियो मे कृतकर्मों के अनुरूप फल आदि का वस्तुस्वरूप जाने, (८) मोक्ष दृष्टि रखकर सयम या धर्म का आचरण करे, (९) मरण (पण्डितमरण) के काल (अवसर) की आकाक्षा (मनोरथ) करे।[६]

ईश्वरादि कोई भी शक्ति घोर पापी को नरक से बचा नहीं सकती—इस लोक मे घोर पापकर्म करने वाले कुछ व्यक्ति यह सोचते है कि हम चाहे जितना पापकर्म कर ले, खुदा गॉड, ईश्वर या पैगम्बर या किसी शक्ति आदि से अन्तिम समय मे प्रार्थना, मिन्नत, प्रशसा, स्तुति, निवेदन, पाप-स्वीकृति (confess) या खुशामद आदि करने मात्र से हमारे सब पाप माफ हो जाएँगे, और हमे पाप से मुक्ति मिल जाने से नरक (दोजख) मे नही जाना पडेगा। इस प्रकार पापकर्मों को करते हुए भी तथा उनका त्याग या आलोचना-प्रायश्चित्तादि से उनकी शुद्धि किये बिना ही हम पूर्वोक्त उपाय से नरक-गमन से या नरकादि के दु खो से बच जाएगे। परन्तु यह निरी भ्रान्ति है, इसी भ्रान्ति का निराकरण करने हेतु शास्त्रकार सू० गा० ३५० द्वारा स्पष्ट कहते है—**'एताणि सोच्चा नरगाणि वसं न गच्छे।'** अगर नरकगति के कारणभूत दुष्कर्मों या हिंसादि पापकर्मों का त्याग नही किया जाएगा तो कोई भी शक्ति घोरपापी को नरक-गमन से या नरकदु खो से नही बचा सकेगी।[७]

तिर्यञ्चादि गतियों मे भी नारकीयदुःखमय वातावरण—कई लोग यह सोचते हैं कि इतने घोर दु:ख तो नरकगति मे ही मिलते है, दूसरी गतियो मे नही। यह भी एक भ्रान्ति है, जो कई धर्म-सम्प्रदायो मे चलती है। पूर्वकृत अशुभ कर्म जब उदय मे आते है तो नरक के अतिरिक्त तिर्यंचादि गतियो में भी तीव्र-दु ख मिलते है। तिर्यचगति मे परवश होकर भयकर दु ख उठाना पडता है, मनुष्यगति मे इष्ट-वियोग, अनिष्टसयोग, रोग, शोक, पीडा, मनोवेदना, अपमान, निर्धनता, क्लेश,

---

६ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १४० के आधार पर

७ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १४०-१४१ का साराश

राजदण्ड, चिन्ता आदि नाना दु खो से वास्ता पडता है और देवगति मे भी ईर्ष्या, कलह, ममत्वजनित दु ख, वियोगदु ख, नीचजातीय देवो में उत्पत्ति आदि अनेको दु ख है। मतलब यह है कि नरकगति की तरह तिर्यञ्च, मनुष्य या देवगति मे भी दु खमय वातावरण प्रत्यक्ष देखा जाता है। इसी आशय से शास्त्रकार कहते है—**"एवं तिरिक्खे मणुयामरेसु इति वेदयित्ता ।"** इसका आशय यह है कि चारो गतियो मे भावनरक की प्राप्ति या नारकीय दु खमय वातावरण सम्भव है, इसलिए चतुर्गति-पर्यन्त अनन्त ससार को दु खमय समझो। इन चारो गतियो के कारणो[८] तथा चारो गतियो मे कृत-कर्मों के अनुरूप विपाक (कर्मफल) को समझे। तथा मृत्युपर्यन्त इस प्रकार की ससार दृष्टि के चक्कर मे न आकर एकमात्र ध्रुव यानी मोक्ष दृष्टि रखकर सयमाचरण करे तथा पण्डितमरण के अवसर की प्रतीक्षा करे।

पाठान्तर और व्याख्या—धुवमाचरंतो—ध्रुव अर्थात् मोक्ष या सयम, उसका अनुष्ठान करता हुआ। चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर है—**धुतमाचरति**—"धूयतेऽनेन कर्म इति धुत चारित्र-मित्युक्तम्। आचार इति क्रियायोगे, आचरन्, आचरतो वा चरणमिति।" अर्थात्—जिससे कर्म धुना—नष्ट किया जाय, उसे धुनचारित्र कहते है। उसका आचरण करता हुआ अर्थात् क्रियान्वित करता हुआ।[९] **कखेज्ज काल**—काल की आकाक्षा करे। इसका रहस्य आचाराग सूत्र की वृत्ति के अनुसार है—पण्डितमरण के काल (अवसर) की प्रतीक्षा करे।[१०]

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

॥ निरय (नरक) विभक्ति : पंचम अध्ययन सम्पूर्ण ॥

---

८ (क) "चउहिं ठाणेहिं जीवा तिरिक्खजोणिय (आउय) त्ताए कम्म पगरेंति, तजहा—
१ माइल्लताए, २ नियडिल्लताए, ३ अलियवयणेण, ४ कुडतुल्ल-कूडमाणेण।"
(ख) "चउहिं ठाणेहिं जीवा मणुस्साउयत्ताए कम्म पगरेंति, तजहा—
१ पगति भद्दत्ताए, २ पगति विणीययाए, ३ साणुक्कोसयाए, ४ अमच्छरिताए।"
(ग) "चउहिं ठाणेहिं जीवा देवाउयत्ताए कम्म पगरेंति तजहा—
१ सरागसजमेण, २ सजमासजमेणं, ३ बालतवोकम्मेण, ४ अकामणिज्जराए।"
—ठाण, स्था० ४, उ० ४, सू० ६२९, ६३०, ६३१

९ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १४१
(ख) सूयगडग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ६२

१० देखिये आचाराग मूल विवेचन प्र० श्रु० सू० ११६, अ० ३, उ० २, पृ० १०० मे 'कालकखी' शब्द का विवेचन

महावीरस्तव (वीरस्तुति)–छठा अध्ययन

प्राथमिक

☐ सूत्रकृतागसूत्र (प्र० श्रु०) के छठे अध्ययन का नाम 'महावीरस्तव' (वीरस्तुति) है[१]।

☐ पूर्णता का आदर्श सम्मुख रहे बिना अपूर्ण साधक का आगे बढना कठिन होता है, इसलिए इस अध्ययन की रचना की गई है ताकि अपूर्ण साधक पूर्णता के आदर्श के सहारे कर्मबन्धन के मिथ्यात्वादि कारणो से दूर रहकर शुद्ध सयम तथा ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप मोक्षमार्ग पर शीघ्रगति से बढकर पूर्ण (ध्रुव या मोक्ष) को प्राप्त कर सके।

☐ पहले से लेकर पाचवे अध्ययन तक कही मिथ्यात्व से, कही अविरति (हिंसा, असत्य, परिग्रह, अब्रह्मचर्य) आदि से, कही प्रमाद—(उपसर्गों के सहन करने या जीतने मे होने वाली असावधानी) से, कही कषाय (द्वेष, लोभ, ईर्ष्या, क्रोध, अभिमान, माया आदि) से होने वाले कर्मबन्धन और उनसे छूटने का निरूपण है, कही घोर पापकर्मबन्ध से प्राप्त नरक और उसके दु खो का व उनसे बचने के उपाय सहित वर्णन है। अत इस छठे अध्ययन मे कर्मबन्धनो और उनके कारणो से विरत, उपसर्गों और परीषहो के समय पर्वतसम अडोल रहने वाले स्थिरप्रज्ञ, भव्यजीवो को प्रतिबोध देनेवाले, स्वय मोक्षमार्ग मे पराक्रम करके प्रबल कर्मबन्धनो को काटने वाले श्रमण शिरोमणि तीर्थंकर महावीर की स्तुति के माध्यम से मुमुक्षु साधक के समक्ष उनका आदर्श प्रस्तुत करना इस अध्ययन का उद्देश्य है। ताकि स्तुति के माध्यम से भगवान् महावीर के आदर्श जीवन का स्मरण करके साधक आत्मबल प्राप्त कर सके तथा उन्होने जिस प्रकार ससार पर विजय पाई थी, उसी प्रकार विजय पाने का प्रयत्न करे।[२]

☐ श्रमण भगवान् महावीर का मूल नाम तो, 'वर्धमान' था, लेकिन अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्गों और परीषहों से अपराजित, कष्टसहिष्णु तथा ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप, त्याग मे अद्भुत पराक्रम एवं आध्यात्मिक वीरता के कारण उनकी ख्याति 'वीर' अथवा 'महावीर' के रूप मे हुई है।[२]

---

१ इसका प्रचलित नाम वृत्तिकार सम्मत 'वीरस्तुति' है। —सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति अनुवाद भाग २, पृ० २४७

२ (क) वीरस्तुति (उपाध्याय अमरमुनि) के आधार पर, पृ० २

(ख) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गा० ८५ उत्तरार्द्ध

☐ 'वीर' शब्द के निक्षेप दृष्टि से ६ अर्थ निर्युक्तिकार ने बताए है --(१) नामवीर, (२) स्थापनावीर, (३) द्रव्यवीर, (४) क्षेत्रवीर, (५) कालवीर और (६) भाववीर। नाम-स्थापना वीर सुगम है। 'द्रव्यवीर' वह है जो द्रव्य के लिए युद्धादि मे वीरता दिखाता है, अथवा जो द्रव्यवीर्यवान हो। तीर्थंकर अनन्त बल-वीर्य युक्त होते है, चक्रवर्ती भी सामान्य मनुष्यो या राजाओ आदि से बढकर बल-वीर्यवान होते है। इसलिए ये द्रव्यवीर कहे जा सकते है। अपने क्षेत्र मे अद्भुत पराक्रम दिखाने वाला 'क्षेत्रवीर' है। जो अपने युग या काल मे अद्भुत पराक्रमी होता है अथवा काल (मृत्यु) पर विजय पा लेता है, वह कालवीर है। भाववीर वह है, जिसकी आत्मा राग-द्वेष, क्रोधादि कषाय, पचेन्द्रिय-विषय, काम, मोह, मान तथा उपसर्ग, परीषह आदि पर परम विजय प्राप्त कर लेती है।[४]

☐ यहाँ 'वीर' शब्द से मुख्यतया 'भाववीर' ही विवक्षित है। महती भाववीरता के गुणो के कारण यहाँ 'महावीर' शब्द व्यक्तिवाचक होते हुए भी गुणवाचक है।

☐ आभूषण, चन्दन, पुष्पमाला आदि सचित्त-अचित्त द्रव्यो द्वारा अथवा शरीर के विविध अगो के नमन, सकोच तथा वाचा-स्फुरण आदि द्रव्यो से जो स्तुति की जाती है, वह द्रव्यस्तुति है, और विद्यमान गुणो का उत्कीर्तन, गुणानुवाद आदि हृदय से किया जाता है, वहाँ भावस्तुति है। प्रस्तुत मे तीर्थंकर महावीर की भावस्तुति ही विवक्षित है। यही **'महावीरस्तव'** का भावार्थ है।

☐ प्रस्तुत अध्ययन में भगवान् महावीर स्वामी के ज्ञानादि गुणो के सम्बन्ध मे श्री जम्बूस्वामी द्वारा उठाए हुए प्रश्न का गणधर श्री सुधर्मास्वामी द्वारा स्तुति सूचक शब्दो मे प्रतिपादित गरिमा-महिमा-मण्डित सागोपांग समाधान है।[५]

☐ उद्देशक रहित प्रस्तुत अध्ययन मे २९ सूत्रगाथाओ द्वारा भगवान् महावीर के अनुपम धर्म, ज्ञान, दर्शन, अहिंसा, अपरिग्रह, विहारचर्या, निश्चलता, क्षमा, दया, श्रुत, तप, चारित्र, कापाय-विजय, ममत्व एव वासना पर विजय, पापमुक्तता, अद्भुत त्याग आदि उत्तमोत्तम गुणो का भावपूर्वक प्रतिपादन किया गया है। साथ ही अष्टविध कर्मक्षय के लिए उनके द्वारा किये गये पुरुषार्थ,

---

३ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भा० १ पृ० १४६

४ (क) सूत्र कृ० निर्युक्ति गा० ८३, ८४

(ख) सूत्र कृ० शी० वृत्ति पत्राक १४२

(ग) जो सहस्स सहस्साण सगामे दुज्जए जिणे।
एग जिणेज्ज अप्पाण एस से परमो जओ।
पचेदियाणि कोहृ, माण मायं, तेहव लोहृ च।
दुज्जय चेव अप्पाण, सव्वमप्पे जिए जिय ॥

—उत्तरा० अ० ९, गा० ३४, ३६

५. (क) सूत्र कृ० निर्युक्ति गा० ८५ पूर्वार्द्ध

प्राणियो की गति-आगति, स्वभाव, शरीर, कर्म आदि के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान, अनन्त-ज्ञानादि सम्पन्नता आदि का भी वर्णन है ।

☐ महावीर को श्रेष्ठता के लिए ससार के श्रेष्ठ माने जाने वाले सुमेरु, चन्द्र, सूर्य, स्वयम्भूरमण समुद्र, देवेन्द्र, शख आदि पदार्थों से उपमा दी गई है । तथा निर्वाणवादियो, साधुओ, मुनियो, तपस्वियो, सुज्ञानियो, शुक्लध्यानियो, धर्मोपदशको, अध्यात्मा विद्या के पारगामियो, चारित्रवानो एव प्रभावको मे सर्वश्रेष्ठ एव अग्रणी नेता माना गया है ।

☐ प्रस्तुत अध्ययन सूत्रगाथा ३५२ से प्रारम्भ होकर ३८० पर समाप्त होता है ।[६]

☐☐

६ सूयगडंग सुत्त मूलपाठ-टिप्पण-सहित पृ० ६३ से ६७ तक का सारांश

महावीरत्थवो (वीरत्थुइ) : छट्ठं अज्झयणं

महावीरस्तव (वीरस्तुति) : छठा अध्ययन

भगवान् महावीर के सम्बन्ध में जिज्ञासा

३५२ पुच्छिसु णं समणा माहणा य, अगारिणो य परतित्थिया य ।
से के इणेगंतहियं धम्ममाहु, अणेलिसं साधुसमिक्खयाए ॥१॥

३५३. कहं च णाणं कहं दंसणं से, सील कहं नातसुतस्स आसी ।
जाणासि णं भिक्खु जहातहेणं, अहासुतं बूहि जहा णिसंतं ॥२॥

३५२. श्रमण और ब्राह्मण (माहन), क्षत्रिय आदि सद्गृहस्थ (अगारी) और अन्यतीर्थिक (शाक्य आदि) ने पूछा कि वह कौन है, जिसने एकान्त हितरूप अनुपम धर्म, अच्छी तरह सोच-विचार कर कहा है ?

३५३ उन ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर का ज्ञान कैसा था ? उनका दर्शन कैसा था ? तथा उनका शील (यम-नियम का आचरण) किस प्रकार का था ? हे मुनिपुङ्गव ! आप इसे यथार्थ रूप से जानते हैं, (इसलिए) जैसा आपने सुना है, जैसा निश्चय किया है, (वैसा) हमे कहिए ।

विवेचन—भगवान् महावीर के उत्तम गुणो के सम्बन्ध में जिज्ञासा— प्रस्तुत सूत्रगाथाद्वय (३५२-३५३) मे श्री जम्बूस्वामी द्वारा अपने गुरुदेव श्री सुधर्मास्वामी से भगवान् महावीर स्वामी के उत्तमोत्तम गुणो एव आदर्शों के सम्बन्ध मे सविनय पूछे गए प्रश्न अकित है । मुख्यतया चार प्रश्न उठाए गए है—(१) एकान्तहितकर अनुपम धर्म के सम्प्ररूपक कौन है ? (२) ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर का ज्ञान कैसा था ? (३) उनका दर्शन कैसा था ? और (४) उनका शील कैसा था ?

जिज्ञासाओं के स्रोत—श्री जम्बूस्वामी स्वय तो भगवान् महावीर स्वामी के आदर्श जीवन के सम्बन्ध मे जानते ही थे, फिर उनके द्वारा ऐसी जिज्ञासाएँ प्रस्तुत करने का क्या अर्थ है ? इसी के समाधानार्थ शास्त्रकार यहाँ स्पष्ट करते हैं—**'पुच्छिसु णं समणा माहणा य, अगारिणो या परतित्थिआ य ।'** आशय यह है कि जम्बूस्वामी से श्रमण भगवान् महावीर की वाणी सुनी होगी, उस पर से कुछ मुमुक्षु श्रमणो आदि ने जम्बूस्वामी से ऐसे प्रश्न किये होगे, तभी उन्होने श्री सुधर्मास्वामी के समक्ष ये जिज्ञासाएँ प्रस्तुत की हैं । इसलिए इन जिज्ञासाओ के स्रोत श्रमण, ब्राह्मण आदि थे ।[1]

---

१ सूत्रकृताग शीलांकवृत्ति पत्राक १४२ के आधार पर

पाठान्तर एवं कठिन शब्दों की व्याख्या—साधुसमिक्खयाए—वृत्तिकार के अनुसार—(साधु) सुन्दररूप से समीक्षा—पदार्थ के यथार्थ तत्व (स्वरूप) का निश्चय करके अथवा समत्वदृष्टिपूर्वक। चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है—**साधुसमिक्खदाए,** अर्थ किया है—केवलज्ञान के प्रकाश मे सम्यक् रूप से देखकर। **'कहं च णाणं'**—वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किये हैं—(१) भगवान् ने इतना विशुद्धज्ञान कहाँ से या कैसे प्राप्त किया था ? (२) भगवान् महावीर का ज्ञान—विशेष अर्थ को प्रकाशित करने वाला बोध—कैसा था ? **'कहं दंसणं से ?'** वृत्तिकार ने इसके भी दो अर्थ किये है—(१) विश्व के समस्त चराचर या सजीव-निर्जीव पदार्थों को देखने या उनकी यथार्थ वस्तु स्थिति पर विचार करने की उनकी दृष्टि (दर्शन) कैसी थी ? (२) उनका दर्शन—सामान्य रूप से अर्थ को प्रकाशित करने वाला बोध—कैसा था ? **सील**—यम-(महाव्रत), नियम—(समिति-गुप्ति आदि के पोषक नियम, त्याग, तप आदि) रूप शील—आचार। **नातसुतस्स**—ज्ञातृवशीय[2] क्षत्रियो के पुत्र का।[3] **अगारिणो**—वृत्तिकार के अनुसार—क्षत्रिय आदि गृहस्थ। चूर्णिकार के अनुसार—**'अकारिणस्तु क्षत्रिय-विट्-शूद्रा'** अकारी का अर्थ है—क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। **माहणा**—वृत्तिकार के अनुसार ब्राह्मण—ब्रह्मचर्यादि अनुष्ठान मे रत। चूर्णिकार के अनुसार—**'माहणाः—श्रावका ब्राह्मणजातीया वा'** अर्थात्—माहन का अर्थ है—श्रावक या ब्राह्मणजातीय।[4]

अनेक गुणों से विभूषित भगवान् महावीर की महिमा

३५४. खेयण्णए से कुसले आसुपन्ने[5], अणंतणाणी य अणंतदंसी।
जसंसियो चक्खुपहे ठियस्स, जाणाहि धम्मं च धिइं च पेहा ॥३॥

३५५. उड्ढं अहे य तिरियं दिसासु, तसा य जे थावर जे य पाणा।
से णिच्चणिच्चेहि समिक्ख पण्णे, दीवे व धम्मं समियं उदाहु ॥४॥

३५६. से सव्वदंसी अभिभूय णाणी, निरामगंधे धिइम ठितप्पा।
अणुत्तरे सव्वजगंसि विज्ज, गंथा अतीते अभए अणाऊ ॥५॥

३५७ से भूतिपण्णे अणिएयचारी, ओहंतरे धीरे अणंतचक्खू।
अणुत्तर तप्पइ सूरिए वा, वइरोयणिंदे व तमं पगासे ॥६॥

३५८. अणुत्तरं धम्ममिणं, जिणाणं णेया मुणी कासवे आसुपण्णे।
इंदे व देवाण महाणुभावे, सहस्सनेता दिवि णं विसिट्ठे ॥७॥

---

२ वैशाली (बसाढ जि मुजफ्फरपुर) के जैथरिया भूमिहार 'ज्ञातृ' ही है। आज भी उस प्रदेश के लाखो जैथरिया-काश्यप गोत्री हैं। ज्ञातृवशीय क्षत्रिय लिच्छवी गणतन्त्रियो की शाखा थे।

—अर्थागम (हिन्दी) प्रथम खण्ड पृ १९३

३ (क) सूत्रकृताग शीलांकवृत्ति पत्राक १४२-१४३
(ख) सूयगडगसुत्त चूर्णि (मूलपाठ-टिप्पण) पृ ६३

४. सूयगडगसुत्त कतिपय विशिष्ट टिप्पण (जम्बूविजयजी सम्पादित) पृ. ३६५

५. शीलांक टीका मे—"खेयण्णए से कुसले महेसी" पाठान्तर है।

३५९. से पण्णया अक्खये सागरे वा, महोवधी वा वि अणंतपारे ।
अणाइले वा अकसायि मुक्के, सक्के व देवाहिपती जुतीमं ।।८।।

३६०. से वीरिएणं पडिपुण्णवीरिए, सुदंसणे वा णगसव्वसेट्ठे ।
सुरालए वा वि मुदागरे से, विरायतेऽणेगगुणोववेते ।।९।।

३५४ भगवान् महावीर खेदज्ञ (ससार के प्राणियो के दु:ख के ज्ञाता) थे, कर्मों के उच्छेदन मे कुशल थे, आशुप्रज्ञ (सदा सर्वत्र उपयोगवान्) थे, अनन्तज्ञानी (सर्वज्ञ) और अनन्तदर्शी (सर्वदर्शी) थे। वे उत्कृष्ट यशस्वी (सुर, असुर और मानवो के यश से बढकर यश वाले) थे, जगत् के नयनपथ में स्थित थे, उनके धर्म (स्वभाव या श्रुत-चारित्ररूप धर्म) को तुम जानो (समझो) और (धर्मपालन मे) उनकी धीरता को देखो।

३५५ ऊर्ध्व, अधो और तिर्यक् दिशाओ मे, जो त्रस और स्थावर प्राणी (रहते) हैं, उन्हें नित्य (जीवद्रव्य की दृष्टि से) और अनित्य (पर्याय-परिवर्तन की दृष्टि से) दोनो प्रकार का जानकर उन (केवलज्ञानी भगवान्) ने दीपक या द्वीप के तुल्य सद्धर्म का सम्यक् कथन किया था।

३५६ वे (वीरप्रभु) सर्वदर्शी थे, चार ज्ञानो को पराजित करके केवलज्ञान सम्पन्न बने थे, निरामगन्धी (मूल-उत्तरगुणो से विशुद्ध चारित्र पालक) थे, (परीषहोपसर्गो के समय निष्कम्प रहने के कारण) धृतिमान थे, स्थितात्मा थे (आत्मस्वरूप मे उनकी आत्मा स्थित थी), समस्त जगत् मे वे (सकल पदार्थों के वेत्ता होने से) सर्वोत्तम विद्वान् थे (सचित्तादि रूप बाह्य और कर्मरूप आभ्यन्तर) ग्रन्थ से अतीत (रहित) थे, अभय (सात प्रकार के भयो से रहित) थे तथा अनायु (चारो गतियो के आयुष्यबन्ध से रहित) थे।

३५७ वे भूतिप्रज्ञ (अतिशय प्रवृद्ध या सर्वमगलमयी अथवा विश्व-रक्षामयी प्रज्ञा से सम्पन्न), अनियताचारी (अप्रतिबद्धविहारी), ओघ (ससार-सागर) को पार करने वाले, धीर (विशालबुद्धि से सुशोभित) तथा अनन्तचक्षु (अनन्तज्ञेय पदार्थों को केवलज्ञान रूप नेत्र से जानते) थे। जैसे सूर्य सबसे अधिक तपता है, वैसे ही भगवान् सबसे अधिक उत्कृष्ट तप करते थे, अथवा ज्ञानभानु से सर्वाधिक देदीप्यमान थे। वैरोचनेन्द्र (प्रज्वलित अग्नि) जैसे अन्धकार मिटाकर प्रकाश करता है, वैसे ही भगवान् अज्ञानान्धकार मिटाकर पदार्थों का यथार्थ स्वरूप प्रकाशित करते थे।

३५८ आशुप्रज्ञ काश्यप गोत्रीय, मुनिश्री वर्धमान स्वामी ऋषभदेव आदि जिनवरो के इस अनुत्तर (सबसे प्रधान) धर्म के नेता है। जैसे स्वर्ग (देव) लोक मे इन्द्र हजारो देवो मे महाप्रभावशाली, नेता एव (रूप, बल, वर्ण आदि मे सबसे) विशिष्ट (प्रधान) है, इसी तरह भगवान् भी सबसे अधिक प्रभावशाली, सबके नेता और सबसे विशिष्ट है।

३५९ वह (भगवान्) समुद्र के समान प्रज्ञा से अक्षय है, अथवा वह स्वयम्भूरमण महासागर के समान प्रज्ञा से अनन्तपार (अपरम्पार) है, जैसे समुद्रजल निर्मल (कलुषतारहित) है, वैसे ही भगवान् का ज्ञान भी (ज्ञानावरणीय कर्ममल से सर्वथा रहित होने से) निर्मल है, तथा वह कषायो से सर्वथा

रहित, एव घाति कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्त है, (इसी तरह) भगवान् इन्द्र के समान देवाधिपति हैं तथा द्युतिमान (तेजस्वी) है।

३६० वह (भगवान् महावीर) वीर्य से परिपूर्णवीर्य है, पर्वतो मे सर्वश्रेष्ठ सुदर्शन (सुमेरु) पर्वत के समान, वीर्य से तथा अन्य गुणो से सर्वश्रेष्ठ है। जैसे देवालय (स्वर्ग) वहाँ के निवासियो को अनेक (प्रशस्त रूप-रस-गन्धस्पर्श प्रभावादि) गुणो से युक्त होने से मोदजनक है, वैसे ही अनेक गुणो से युक्त भगवान् भी (पास मे आने वाले के लिए) प्रमोदजनक होकर विराजमान है।

विवेचन—अनेक गुणों से विभूषित भगवान् महावीर की महिमा—प्रस्तुत ७ सूत्रगाथाओ (३५४ से ३६० तक) मे श्री सुधर्मास्वामी द्वारा पूर्वजिज्ञासा के समाधान के रूप मे भगवान् महावीर के सर्वोत्तम विशिष्ट गुणो का उत्कीर्त्तन किया गया है। वे विशिष्ट गुण क्रमश. इस प्रकार प्रतिपादित है—(१) खेदज्ञ या क्षेत्रज्ञ, (२) कुशल, (३) आशुप्रज्ञ, (४) अनन्तज्ञानी, (५) अनन्तदर्शी, (६) उत्कृष्ट यशस्वी, (७) विश्वनयनपथ मे स्थित, (९) प्रशसनीय धर्म तथा धैर्यवान, (१०) उन्होंने द्वीप या दीप के तुल्य धर्म का कथन लोक के समस्त त्रस-स्थावर जीवो को नित्य-अनित्य जानकर किया, (११) सर्वदर्शी, (१२) केवलज्ञानसम्पन्न, (१३) निर्दोष चारित्रपालक (निरामगन्धी), (१४) धृतिमान, (१५) स्थितात्मा, (१६) जगत् के सर्वोत्तम विद्वान्, (१७) बाह्याभ्यन्तर ग्रन्थो से अतीत, (१८) अभय, (१९) अनायु (आयुष्यबन्ध रहित), (२०) भूतिप्रज्ञ, (२१) अप्रतिबद्ध विचरणशील, (२२) ससार सागर पारगत, (२३) धीर, (२४) अनन्तचक्षु, (२५) सूर्यवत् सर्वाधिक तपनशील, (२६) प्रज्ज्वलित अग्निवत् अज्ञान तिमिर-निवारक, एव पदार्थ स्वरूप प्रकाशक, (२७) आशुप्रज्ञमुनि, (२८) पूर्वजन प्ररूपित अनुत्तरधर्म के नेता, (२९) स्वर्ग मे हजारो देवो मे महाप्रभावशाली, नेता एव विशिष्ट इन्द्र के समान सर्वाधिक प्रभावशाली, नेता एव विशिष्ट, (३०) समुद्रवत् प्रज्ञा से अक्षय, (३१) स्वयम्भूरमण-महोदधि के समान गम्भीरज्ञानीय प्रज्ञा से अनन्तपार, (३२) समुद्र के निर्मल जलवत् सर्वथा निर्मल ज्ञान-सम्पन्न, (३३) अकषायी, (३४) घाति कर्मबन्धनो से मुक्त (३५) इन्द्र के समान देवाधिपति, (३६) तेजस्वी, (३७) परिपूर्णवीर्य, (३८) पर्वतो मे सर्वश्रेष्ठ सुमेरुवत् गुणो मे सर्वश्रेष्ठ, (३९) अनेक प्रशस्त गुणो से युक्त होने से स्वर्गवत् प्रमोदजनक।[५]

कठिन शब्दो की व्याख्या—खेयण्णए—इसके तीन अर्थ है—(**१**) **खेदज्ञ**—संसारी प्राणियो के कर्मविपाकज दु खो के ज्ञाता, (२) यथार्थ आत्मस्वरूप परिज्ञान होने से **आत्मज्ञ—(क्षेत्रज्ञ)**[६] तथा (३) क्षेत्र—आकाश (लोकालोक रूप) के स्वरूप परिज्ञाता। **'जाणाहि धम्मं च धिइ च पेहा'**—(१) भगवान् के अनुत्तर धर्म को जानो और धर्मपालन मे धृति को देखो, (२) भगवान् का जैसा धर्म, जैसी धृति या प्रेक्षा है, उसे तुम यथार्थरूप मे जान लो। (३) अथवा यदि तुम उनके धर्म, और धृति को जानते हो तो हमे बतलाओ। **दीवेब धम्मं**—(१) प्राणियो को पदार्थ का स्वरूप प्रकाशित (प्रकट) करने से दीप के समान, (२) अथवा ससार समुद्र मे पडे हुए प्राणियो को सदुपदेश देने से उनके लिए आश्वासनदायक या आश्रयदाता द्वीप के समान धर्म का।[७]

---

५ सूत्रकृताग (मूलपाठ टिप्पणयुक्त) पृ० ६३-६४ का सारांश

६ तुलना करें—भगवद्गीता के क्षेत्र-क्षेत्रज्ञविभागयोग नामक १३वें अध्याय मे प्रतिपादित 'क्षेत्रज्ञ' के वर्णन से।

७ (क) सूत्रकृताग शीलांकवृत्ति पत्राक १४३ से १४६ तक

(ख) सूयगडग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ६३-६४

पर्वतश्रेष्ठ सुमेरु के समान गुणों में सर्वश्रेष्ठ महावीर

३६१. सयं सहस्साण उ जोयणाण, तिगंडे से पडगवेजयंते।
से जोयणे णवणवते सहस्से, उद्धुस्सिते हेट्ठ सहस्समेगं ॥ १० ॥

३६२. पुट्ठे णभे चिट्ठति भूमिए ठिते, जं सूरिया अणुपरियट्टयंति।
से हेमवण्णे बहुणंदणे य, जंसी रतिं वेदयती महिंदा ॥ ११ ॥

३६३. से पव्वते सद्दमहप्पगासे, विरायती कंचणमट्ठवण्णे।
अणुत्तरे गिरिसु य पव्वदुग्गे, गिरीवरे से जलिते व भोमे ॥ १२ ॥

३६४. महीइ मज्झम्मि ठिते णगिंदे, पण्णायते सूरिय सुद्धलेस्से।
एवं सिरीए उ स भूरिवण्णे, मणोरमे जोयति अच्चिमाली ॥ १३ ॥

३६५. सुदंसणस्सेस जसो गिरिस्स, पवुच्चती महतो पव्वतस्स।
एतोवमे समणे नायपुत्ते, जाती-जसो-दंसण-णाणसीले ॥ १४ ॥

३६१ वह सुमेरुपर्वत सौ हजार (एक लाख) योजन ऊँचा है। उसके तीन कण्ड (विभाग) हैं। उस पर सर्वोच्च पण्डकवन पताका की तरह सुशोभित है। वह निन्यानवे हजार योजन ऊँचा उठा है, और एक हजार योजन नीचे (भूमि मे) गडा है।

३६२ वह सुमेरुपर्वत आकाश को छूता हुआ पृथ्वी पर स्थित है। जिसकी सूर्यगण परिक्रमा करते है। वह सुनहरे रग का है, और अनेक नन्दनवनो से युक्त (या बहुत आनन्ददायक) है। उस पर महेन्द्रगण आनन्द अनुभव करते है।

३६३ वह पर्वत (सुमेरु, मन्दर, मेरु, सुदर्शन, सुरगिरि आदि) अनेक नामो से महाप्रसिद्ध है, तथा सोने की तरह चिकने शुद्ध वर्ण से सुशोभित है। वह मेखला आदि या उपपर्वतो के कारण सभी पर्वतो मे दुर्गम है। वह गिरिवर मणियो और औषधियो से प्रकाशित भूप्रदेश की तरह प्रकाशित रहता है।

३६४ वह पर्वतराज पृथ्वी के मध्य मे स्थित है तथा सूर्य के समान शुद्ध तेज वाला प्रतीत होता है। इसी तरह वह अपनी शोभा से अनेक वर्ण वाला और मनोरम हे, तथा सूर्य की तरह (अपने तेज से दसो दिशाओ को) प्रकाशित करता है।

३६५ महान् पर्वत सुदर्शनगिरि का यश (पूर्वोक्त प्रकार से) बताया जाता है, ज्ञातपुत्र श्रमण भगवान् महावीर को भी इसी पर्वत से उपमा दी जाती है। (जैसे सुमेरुपर्वत अपने गुणो के कारण समस्त पर्वतो मे श्रेष्ठ है, इसी तरह) भगवान् भी जाति, यश, दर्शन, ज्ञान और शील मे सर्वश्रेष्ठ है।

विवेचन—पर्वतश्रेष्ठ सुमेरु के समान गुणो में सर्वश्रेष्ठ महावीर—प्रस्तुत पाच सूत्रो मे भगवान् को पर्वतराज सुमेरु से उपमा दी गई है। सुमेरुपर्वत की उपमा भगवान् के साथ इस प्रकार

घटित होती है—जैसे सुमेरुपर्वत ऊर्ध्व, अध और मध्य तीनो लोको से स्पृष्ट है, वैसे ही भगवान् का प्रभाव भी त्रिलोक मे व्याप्त था। जैसे सुमेरु तीन विभाग से सुशोभित है—भूमिमय, स्वर्णमय, वैडूर्य-मय, वैसे ही भगवान् भी सम्यग्ज्ञानादि रत्नत्रय से सुशोभित थे। सुमेरुशिखर पर पताकावत् पण्डकवन सुशोभित है, वैसे वीर प्रभु भी तीर्थंकर नामक शीर्षस्थ पद से सुशोभित थे। सूर्यगण आदि सदैव सुमेरु के चारो ओर परिक्रमा देते है, वैसे भगवान् के भी चारो ओर देव तथा चक्रवर्ती आदि सम्राट् भी प्रदक्षिणा देते थे, उनका उपदेश सुनने के लिए उत्सुक रहते थे। सुमेरु स्वर्णवर्ण का है, भगवान् भी स्वर्ण-सम कान्ति वाले थे। सुमेरु ऊर्ध्वमुखी है, वैसे ही भगवान् के अहिंसादि सिद्धान्त भी सदैव ऊर्ध्व-मुखी थे। सुमेरु के नन्दनवन मे स्वर्ग से देव और इन्द्रादि आकर आनन्दानुभव करते है, भगवान् के समवसरण मे सुर-असुर, मानव, तिर्यञ्च आदि सभी प्राणी आकर आनन्द और शान्ति का अनुभव करते थे। सुमेरुपर्वत अनेक नामो से सुप्रसिद्ध है, वैसे ही भगवान् भी वीर, महावीर, वर्धमान, सन्मति, वैशालिक, ज्ञातपुत्र, त्रिशलानन्दन आदि नामो से सुप्रसिद्ध थे। सुमेरु की कन्दरा से उठने वाली देवो की कोमल ध्वनि दूर-दूर गूजती रहती है, वैसे वीरप्रभु की अतीव ओजस्वी, सार-गर्भित, दिव्यध्वनि भी दूर-दूर श्रोताओ को सुनाई देती थी, सुमेरुपर्वत अपनी ऊँची-ऊँची मेखलाओ एव उपपर्वतो के कारण दुर्गम है, वैसे भगवान् भी प्रमाण, नय, निक्षेप अनेकान्त (स्याद्वाद) की गहन भगावलियो के कारण तथा गौतम आदि अनेक दिग्गज विद्वान् अन्तेवासियो के कारण वादियो के लिए दुर्गम एव अजेय थे। जैसे सुमेरुगिरि अनेक तेजोमय तरु समूह से देदीप्यमान है, वैसे ही भगवान् भी अनन्तगुणो से देदीप्यमान थे। जैसे सुमेरु, पर्वतो का राजा है, वैसे भगवान् महावीर भी त्यागी, तपस्वी साधु-श्रावकगण के राजा थे, यानी सघनायक थे। सुमेरुपर्वत से चारो ओर प्रकाश की उज्ज्वल किरणे निकलकर सर्वदिशाओ को आलोकित करती रहती है, वैसे ही भगवान् के ज्ञानालोक की किरणे भी सर्वत्र फैलकर लोक-अलोक सबको आलोकित करती थी, कोई भी ऐसा पदार्थ नही, जो उनके अनन्त ज्ञानालोक से उद्भासित न होता हो। जैसे सुमेरुपर्वत ठीक भूमण्डल के मध्य मे है, वैसे ही भगवान् भी धर्म-साधको की भक्ति-भावनाओ के मध्यबिन्दु थे। पर्वतराज सुमेरु जैसे लोक यशस्वी कहलाता है, वैसे ही जिनराज भगवान् तीनो लोको मे महायशस्वी थे। जिस प्रकार मेरुगिरि अपने गुणो के कारण पर्वतो मे श्रेष्ठ है, वैसे ही भगवान् भी अपनी जाति, यश, दर्शन, ज्ञान और शील आदि सद्गुणो मे सर्वश्रेष्ठ थे। इसी आशय से शास्त्रकार कहते है—'**एतोवमे समणे नायपुत्ते जाति-जसो-दसण-णाण-सीले।**'[८]

विविध उपमाओं से भगवान् की श्रेष्ठता

> ३६६. **गिरीवरे वा निसहाऽऽयताणं, रुयगे व सेट्ठे वलयायताणं।**
> **ततोवमे से जगभूतिपण्णे, मुणीण मज्झे तमुदाहु पण्णे ॥१५॥**

> ३६७. **अणुत्तरं धम्ममुईरइत्ता, अणुत्तरं झाणवरं झियाई।**
> **सुसुक्कसुक्कं अपगंडसुक्कं, संखेंदु वेगंतवदातसुक्कं ॥१६॥**

---

८ सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्र १४७-४८ का सार

३६८. अणुत्तरग्गं परमं महेसी, असेसकम्मं स विसोहइत्ता ।
सिद्धिं गतिं साइमणंत पत्ते, नाणेण सीलेण य दंसणेण ।।१७।।

३६९. रुक्खेसु णाते जह सामली वा, जंसी रतिं वेदयंती सुवण्णा ।
वणेसु या नदणमाहु सेट्ठे, णाणेण सीलेण य भूतिपन्ने ।।१८।।

३७० थणियं व सद्दाण अणुत्तरे तु, चंदो व ताराण महाणुभागे ।
गंधेसु या चंदणमाहु सेट्ठे, सेट्ठे मुणीणं अपडिण्णमाहु ।।१९।।

३७१. जहा सयंभू उदहीण सेट्ठे, णागेसु या धरणिंदमाहु सेट्ठे ।
खोतोदए वा रसवेजयंते, तवोवहाणे मुणिवेजयते ।।२०।।

३७२. हत्थीसु एरावणमाहु णाए, सीहे मियाणं सलिलाण गगा ।
पक्खीस या गरुले वेणु देवे, णिव्वाणवादीणिह, णायपुत्ते ।।२१।।

३७३. जोहेसु णाए जह वीससेणे, पुप्फेसु वा जह अरविंदमाहु ।
खत्तीण सेट्ठे जह दंतवक्के, इसीण सेट्ठे तह वद्धमाणे ।।२२।।

३७४. दाणाण सेट्ठं अभयप्पदाणं, सच्चेसु या अणवज्ज वदति ।
तवेसु या उत्तमबंभचेरं, लोगुत्तमे समणे नायपुत्ते ।।२३।।

३७५. ठिईण सेट्ठा लवसत्तमा वा, सभा सुधम्मा व सभाण सेट्ठा ।
निव्वाणसेट्ठा जह सव्वधम्मा, ण णायपुत्ता परमत्थि णाणी ।।२४।।

३६६ जैसे लम्बे पर्वतो मे निषधपर्वत श्रेष्ठ है तथा वलयाकार (चूडी के आकार के) पर्वतो मे रुचक पर्वत श्रेष्ठ है, वही उपमा जगत् मे सबसे अधिक प्रज्ञावान् भगवान् महावीर की है । प्राज्ञ-पुरुषो ने मुनियो (के मध्य) मे श्रमण महावीर को श्रेष्ठ कहा है ।

३६७ भगवान् महावीर ने अनुत्तर (ससारतारक सर्वोत्तम) धर्म का उपदेश देकर सर्वोत्तम श्रेष्ठ ध्यान—शुक्लध्यान की साधना की (भगवान् का) वह ध्यान अत्यन्त शुक्ल वस्तुओ के समान शुक्ल था, दोषरहित शुक्ल था, शख और चन्द्रमा (आदि शुद्ध श्वेत पदार्थो) के समान एकान्त शुद्ध श्वेत (शुक्ल) था ।

३६८ महर्षि महावीर ने (विशिष्ट क्षायिक) ज्ञान, शील (चारित्र) और दर्शन (के बल) से समस्त (ज्ञानावरणीय आदि) कर्मो का विशोधन (सर्वथा क्षय) करके सर्वोत्तम (अनुत्तर लोकाग्रभाग मे स्थित) सादि अनन्त परम सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त की ।

३६९. जैसे वृक्षो मे (देवकुरुक्षेत्र स्थित) शाल्मली (सेमर) वृक्ष ज्ञात (जगत्-प्रसिद्ध) है, जहाँ

(भवनपतिजाति के) सुपर्ण (कुमार) देव आनन्द का अनुभव करते है, अथवा जैसे वनो मे नन्दनवन (देवो के क्रीडास्थान) को श्रेष्ठ कहते हैं, इसी तरह ज्ञान और चारित्र मे प्रभूतज्ञानी (अनन्तज्ञानी) भगवान् महावीर को सबसे प्रधान (सर्वश्रेष्ठ) कहते हैं।

३७० शब्दो में जैसे मेघ गर्जन प्रधान है, तारो मे जैसे महाप्रभावशाली चन्द्रमा श्रेष्ठ है, तथा सुगन्धो मे जैसे चन्दन (सुगन्ध) को श्रेष्ठ कहा है, इसी प्रकार मुनियो मे कामनारहित (इहलोक-परलोक के सुख की आकाक्षा सन्बन्धी प्रतिज्ञा से रहित) भगवान् महावीर को श्रेष्ठ कहा है।

३७१ जैसे समुद्रो मे स्वयम्भूरमण समुद्र श्रेष्ठ है, नागो (नागकुमार देवो) मे धरणेन्द्र को श्रेष्ठ कहा है, एव इक्षुरसोदक समुद्र जैसे रसवाले समस्त समुद्रो की पताका के समान प्रधान है, इसी तरह विशिष्ट (प्रधान) तपोविशेष (या उपधानतप) के कारण (विश्व की त्रिकालावस्था के ज्ञाता) मुनिवर भगवान् महावीर समग्रलोक की पताका के समान मुनियो में सर्वोपरि है।

३७२ हाथियो मे (इन्द्रवाहन) ऐरावत हाथी को प्रधान कहते है, मृगो मे मृगेन्द्र (सिंह) प्रधान है, जलो-नदियो मे गगानदी प्रधान है, पक्षियो मे वेणुदेव 'गरुडपक्षी' मुख्य है, इसी प्रकार निर्वाणवादियो मे—मोक्षमार्ग नेताओ मे ज्ञातृपुत्र भगवान् महावीर प्रमुख थे।

३७३ जैसे योद्धाओ मे प्रसिद्ध विश्वसेन (चक्रवर्ती) या विष्वक्सेन (वासुदेव श्री कृष्ण) श्रेष्ठ है, फूलो मे जैसे अरविन्द कमल को श्रेष्ठ कहते हैं और क्षत्रियो मे जैसे दान्तवाक्य (चक्रवर्ती) या दन्तवक्त्र (दन्तवक्र राजा) श्रेष्ठ है, वैसे ही ऋषियो मे वर्धमान महावीर श्रेष्ठ है।

३७४ (जैसे) दानो मे अभयदान श्रेष्ठ है, सत्य वचनो मे निष्पाप (जो परपीडा-उत्पादक न हो) सत्य (वचन) को श्रेष्ठ कहते है, तपो मे ब्रह्मचर्य उत्तम तप है, इसी प्रकार लोक मे उत्तम श्रमण ज्ञातृपुत्र महावीर-स्वामी है।

३७५ जैसे समस्त स्थिति (आयु) वालो मे सात लव की स्थिति वाले पच अनुत्तर विमानवासी देव श्रेष्ठ है, जैसे सुधर्मासभा समस्त सभाओ मे श्रेष्ठ है, तथा सब धर्मों मे जैसे निर्वाण (मोक्ष) श्रेष्ठ धर्म है, इसी तरह (ज्ञानियो मे) ज्ञातृपुत्र महावीर से बढकर (श्रेष्ठ) कोई ज्ञानी नही है।

विवेचन—विविध उपमाओं से भगवान् की श्रेष्ठता—प्रस्तुत १० सूत्रगाथाओ (सू० गा० ३६६ से ३७५ तक) मे विविध पदार्थों से उपमित करके भगवान् महावीर की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है। ससार के सर्वश्रेष्ठ माने जाने वाले पदार्थों से उपमा देकर भगवान् की विभिन्न विशेषताओ, महत्ताओ और श्रेष्ठताओ का निम्नोक्त प्रकार से निरूपण है।[९]

(१) सर्वाधिक प्राज्ञ भगवान् महावीर मुनियो मे श्रेष्ठ हैं, जैसे दीर्घाकार पर्वतो मे निषध और वलयाकार पर्वतो मे रुचक है। (२) भगवान् का सर्वोत्तम ध्यान शुक्लध्यान है, जो शख, चन्द्र आदि अत्यन्त शुक्ल वस्तुओ के समान विशुद्ध और सर्वथा निर्मल था। (३) भगवान् ने क्षायिक ज्ञानादि के

---

९. सूयगडगसुत्त मूलपाठ (टिप्पणयुक्त) पृ० ६५-६६ का साराश

बल से सर्वकर्मों का क्षय करके परमसिद्धि—आत्मा की परम विशुद्ध अवस्था—प्राप्त की। (४) भगवान् ज्ञान और चारित्र मे सर्वश्रेष्ठ है, जैसे वृक्षो मे देवकुरु क्षेत्र का शाल्मलीवृक्ष तथा वनो मे नन्दनवन श्रेष्ठ माना जाता है। (५) मुनियो मे लौकिक सुखाकाक्षा की प्रतिज्ञा (सकल्प-निदान) से रहित भगवान् महावीर श्रेष्ठ है, जैसे कि ध्वनियो मे मेघध्वनि, तारो मे चन्द्रमा और सुगन्धित पदार्थों मे चन्दन श्रेष्ठ कहा जाता है, (६) तप साधना के क्षेत्र मे सर्वोपरि मुनिवर महावीर है, जैसे समुद्रो मे स्वयम्भूरमण, नागदेवो मे धरणेन्द्र एव रसवाले समुद्रो मे इक्षुरसोदक समुद्र श्रेष्ठ माना जाता है, (७) निर्वाणवादियो मे भगवान् महावीर प्रमुख है, जैसे हाथियो मे ऐरावत, मृगो मे सिह, नदियो मे गगानदी तथा पक्षियो मे गरुडपक्षी प्रधान माना जाता है। (८) ऋषियो मे वर्धमान महावीर श्रेष्ठ है, जैसे योद्धाओ मे विश्वसेन या विष्वक्सेन,[१०] फूलो मे अरविन्द, क्षत्रियो दान्तवाक्य या दन्तवक्र[११] श्रेष्ठ माना जाता है, (९) तीनो लोको मे उत्तम ज्ञातपुत्र श्रमण महावीर है, जैसे कि दानो मे अभयदान सत्यो मे निरवद्य सत्य और तपो मे ब्रह्मचर्य उत्तम माना जाता है। (१०) समस्त ज्ञानियो मे ज्ञातपुत्र महावीर सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी है, जैसे कि स्थिति वालो मे लवसप्तम अर्थात् अनुत्तर विमानवासी देव, सभाओ मे सुधर्मासभा एव धर्मो मे निर्वाण श्रेष्ठ धर्म है। यो त्रिविध उपमाओ से भगवान् महावीर की श्रेष्ठता सिद्ध की गई है।

भगवान् महावीर की विशिष्ट उपलब्धियाँ

३७६. पुढोवमे धुणइ विगयगेही, न सण्णिहिं कुव्वति आसुपण्णे।
तरिउं समुद्द व महाभवोघ, अभयंकरे वीरे अणंतचक्खू ॥२५॥

३७७. कोह च माण च तहेव माय, लोभं चउत्थं अज्झत्थदोसा।
एयाणि वंता अरहा महेसी, ण कुव्वति पावं ण कारवेती ॥२६॥

३७८. किरियाकिरिय वेणइयाणुवाय, अण्णाणियाणं पडियच्च ठाण।
से सव्ववायं इइ वेयइत्ता, उवट्ठिते सजम दीहराय ॥२७॥

३७९. से वारिया इत्थि सराइभत्त, उवहाणव दुक्खखयट्ठयाए।
लोग विदित्ता आरं पर च, सव्वं पभू वारिय सव्ववार ॥२८॥

---

१० 'वीससेणे' इसके सस्कृत मे दो रूप होते हैं—"विश्वसेन, विष्वक्सेन।" वृत्तिकार ने प्रथम रूप मानकर विश्वसेन का अर्थ चक्रवर्ती किया है, जबकि चूर्णिकार ने दोनो रूप मानकर प्रथम का अर्थ—चक्रवर्ती और द्वितीय का वासुदेव किया है। देखिए अमरकोश प्रथम काण्ड मे—

विष्णुर्नारायणो कृष्णो वैकुण्ठो विष्टरश्रवा।
पीताम्बरोऽच्युत शार्ङ्गी विष्वक्सेनो जनार्दन।

११ दनवक्के—चूर्णि और वृत्ति मे 'दान्तवाक्य' का अर्थ चक्रवर्ती किया गया है। भागवत् पुराण (दशमस्कन्ध के ७८वे अध्याय) मे श्रीकृष्ण की फूफी के पुत्र गदाधारी 'दन्तवक्त्र' का उल्लेख मिलता है। महाभारत के आदिपर्व (१/६१/५७) मे 'दन्तवक्त्र' तथा सभापर्व (२/२८/३) मे 'दन्तवक्र' राजा का उल्लेख है।

३७६ भगवान् महावीर पृथ्वी के समान (समस्त प्राणियो के लिए आधारभूत) है। वे (आठ प्रकार के) कर्ममलो को दूर करने वाले हैं। वे (बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थों मे) गृद्धि (आसक्ति) से रहित हैं। वे आशुप्रज्ञ (धन-धान्य आदि पदार्थों का) सग्रह (सन्निधि) नही करते हैं। अथवा वे (क्रोधादि विकारो की) सन्निधि (निकटता-लगाव) नही करते। (चातुर्गतिक) महान् ससार समुद्र को समुद्र के समान पार करके (भगवान् निर्वाण के निकट पहुँचे है।) वे अभयकर (दूसरो को भय न देने वाले, न ही स्वय भय पाने वाले) है, वीर (कर्म-विदारण करने के कारण) हैं और अनन्त चक्षु (ज्ञानी) है।

३७७ महर्षि महावीर क्रोध, मान और माया तथा चौथा लोभ (आदि) इन (समस्त) अध्यात्म (अन्तर) दोषो का वमन (परित्याग) करके अर्हन्त (पूज्य, विश्ववन्द्य, तीर्थकर) बने है। वे न स्वय पापाचरण करते है और न दूसरो से कराते है।

३७८ भगवान् महावीर क्रियावाद, अक्रियावाद, (विनय) वैनयिको के वाद और (अज्ञानिको के अज्ञान) वाद के पक्ष को सम्यक् रूप से जानकर तथा समस्त वादो (के मन्तव्य) को समझ कर आजीवन (दीर्घरात्र तक) सयम मे उत्थित (उद्यत) रहे।

३७९ वे वीरप्रभु रात्रि-भोजन सहित स्त्रीससर्ग का त्यागकर दु खो के (कारणभूत कर्मो के) क्षय के लिए (सदा) विशिष्ट तप मे उद्यत रहते थे। उन्होने इहलोक और परलोक को जानकर सब प्रकार के पापो का सर्वथा त्याग कर दिया था।

विवेचन—भगवान् महावीर की विशिष्ट उपलब्धियाँ—प्रस्तुत चार सूत्रगाथाओ (३७६ से ३७९ तक) मे भगवान् महावीर के जीवन की विशिष्ट उपलब्धियो का निरूपण शास्त्रकार ने किया है। वे विशिष्ट उपलब्धियाँ ये है—(१) पृथ्वी के समान वे प्राणियो के आधारभूत हो गए, (२) अष्ट-विध कर्मों का क्षय करने वाले हुए, (३) बाह्याभ्यन्तर पदार्थो मे गृद्धि-रहित हो गए, (४) वे धन-धान्यादि पदार्थों का सग्रह या क्रोधादि विकारो का सान्निध्य नही करते थे, (५) ससारसमुद्र को पार करके निर्वाण के निकट पहुच गए, अभयकर, (७) वीर तथा (८) अनन्तचक्षु हो गए। (९) क्रोध, मान, माया, लोभ आदि आन्तरिक (आध्यात्मिक) विकारो का त्याग करके महर्षि एव अर्हन्त हो गए, (१०) अब हिसादि पापो का आचरण न तो वे स्वय करते है, न कराते है। (११) क्रियावाद आदि समस्त वादो को[१२] स्वय जानकर दूसरो को समझाते। (१२) जीवनपर्यन्त शुद्ध सयम मे उद्यत रहे, (१३) अपने जीवन और शासन मे उन्होने रात्रि-भोजन और स्त्रीससर्ग (अब्रह्मचर्य) वर्जित किया, (१४) दु ख के कारणभूत कर्मो के क्षय के लिए वे सदैव विशिष्ट तप साधना करते रहे, (१५) इहलोक-परलोक (चातुर्गतिक ससार) के स्वरूप और कारणो को जानकर उन्होने सब प्रकार के पापो का सर्वथा निवारण कर दिया।[१३]

पाठान्तर और व्याख्या—उवट्ठिते सजम दीहराय—दीर्घरात्र तक यावज्जीवन सयम मे उत्थित रहे, चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर है—'**उवट्ठिते सम्म स दीहरायं**'—वे जीवनपर्यन्त मोक्ष के लिए

---

१२ क्रियावादी, अक्रियावादी विनयवादी और अज्ञानवादी के ३६३ भेदो तथा उनके स्वरूप का विश्लेषण समवसरण (१२वें) अध्ययन में यथास्थान किया जाएगा। —सम्पादक

१३ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १५१ का साराश

सम्यक्रूप से उपस्थित-उद्यत रहे। **'आरं पर (पारं) च'**—आर—इहलोक अथवा मनुष्यलोक, पार (पर)—परलोक या नारकादिलोक। चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर है—**'अपरं परं च'** अर्थ प्रायः समान है।[१४]

फलश्रुति

३८० सोच्चा य धम्मं अरहंतभासियं, समाहितं अट्ठपओवसुद्धं।
तं सद्दहंता य जणा अणाऊ, इंदा व देवाहिव आगमिस्संति ॥२९॥
—त्ति बेमि।

॥ महावीरत्थवो छट्ठं अज्झयणं सम्मत्तं ॥

३८० श्री अरिहन्तदेव द्वारा भाषित, सम्यक् रूप से उक्त युक्तियो और हेतुओ से अथवा अर्थो और पदो से शुद्ध (निर्दोष) धर्म को सुनकर उस पर श्रद्धा (श्रद्धापूर्वक सम्यक् आचरण) करने वाले व्यक्ति आयुष्य (कर्म) से रहित—मुक्त हो जाएँगे, अथवा इन्द्रो की तरह देवो का आधिपत्य प्राप्त करेगे। —यह मै कहता हूँ।

विवेचन—फलश्रुति—प्रस्तुत अध्ययन का उपसहार करते हुए शास्त्रकार इस अन्तिम गाथा मे भ० महावीर द्वारा प्ररूपित श्रुत-चारित्ररूप धर्म का श्रवण, श्रद्धान एव आचरण करने वाले साधकों को उसकी फलश्रुति बताते है—**सोच्चा य धम्मं आगमिस्संति।**

॥ महावीरस्तव षष्ठ अध्ययन समाप्त ॥

---

१४. (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १५१
(ख) सूयगडग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ६७

कुशील परिभाषित (कुशील परिभाषा)
सप्तम अध्ययन

प्राथमिक

☐ सूत्रकृताग सूत्र (प्र० श्रु०) के सप्तम अध्ययन का नाम कुशील-परिभाषित या कुशील परिभाषा'[1] है।

☐ 'शील' शब्द स्वभाव, उपशमप्रधान चारित्र, सदाचार, ब्रह्मचर्य आचार-विचार आदि अर्थों मे प्रयुक्त होना है। चेतन अथवा अचेतन, जिस द्रव्य का जो स्वभाव है, या वस्त्र-भोजनादि के विषय मे जिसका जो स्वभाव (प्रकृति) बन गया है, उसे द्रव्य शील कहते है।

☐ भाव शील दो प्रकार का है—ओघ शील और आभीक्ष्ण्य शील। सामान्यतया जो शील—आचार-विचार (अच्छा या बुरा) पालन किया जाता है, उसे ओघ भावशील कहते है, परन्तु वही शील निरन्तर क्रियान्वित किया जाता है, तब वह आभीक्ष्ण्य भाव शील कहलाता है।

☐ क्रोधादि कषाय, चोरी, परनिन्दा, कलह अथवा अधर्म मे प्रवृत्ति अप्रशस्त भावशील है, और अहिसादि धर्म के विषय मे, सम्यग्ज्ञान, विशिष्ट तप, सम्यग्दर्शन आदि के विषय मे प्रवृत्ति प्रशस्त भावशील है।

☐ प्रस्तुत अध्ययन मे आचार-विचार के अर्थ मे भावशील को लेकर सुशील और कुशील शब्द विवक्षित है। जिसका शील प्रशसनीय है, शुद्ध है, धर्म और अहिसादि से अविरुद्ध है लोकनिन्द्य नही है, वह सुशील है, और इसके विपरीत कुशील है।

☐ वैसे तो कुशील के अगणित प्रकार सम्भव है, परन्तु यहाँ उन सबकी विवक्षा नही है।[2]

☐ प्रस्तुत अध्ययन मे तो मुख्यतया साधुओ की सुशीलता और कुशीलता को लेकर ही विचार किया गया है। वृत्तिकार के अनुसार ध्यान, स्वाध्याय आदि तथा धर्मपालन के आधार रूप शरीर रक्षणार्थ मुख्यतया आहार प्रवृत्ति को छोडकर साधुओ की और कोई प्रवृत्ति नही। अप्रासुक एव उद्गमादि दोषयुक्त आहार सेवन करना अहिंसा और साधुधर्म की दृष्टि से विरुद्ध है। अत जो सचित्त जल, अग्नि, वनस्पति आदि का सेवन करते हैं, इतना ही नही, अपने धर्मविरुद्ध आचार को स्वर्ग-मोक्षादि का कारण बताते है, वे कुशील हैं।

---

१ वृत्तिकार के अनुसार अध्ययन का नाम 'कुशीलपरिभाषा' है। —सू० कृ० मूलपाठ टिप्पण पृ० ६७

२ (क) सूत्रकृतागनिर्युक्ति गा० ८६-८७, ८८

(ख) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १५३-१५४

☐ जो प्रासुक एव अचित्तसेवी है, अप्रासुक एव दोषयुक्त आहार सेवन नही करते, वे सुशील है ।

☐ निर्युक्तिकार ने कुछ कुशीलो के नाम गिनाये है । वे कुशील परतीर्थिक भी हैं, स्वयूथिक भी । स्वयूथिक भी जो पार्श्वस्थ, अवसन्न, स्वछन्द आदि है, वे कुशील है ।[3]

☐ अत ऐसे कुशीलो के सम्बन्ध मे सभी पहलुओ से किया गया भाषण या निरूपण, साथ ही कुशील के अनुष्ठान के दुर्गतिगमनादि परिणामो का प्रतिपादन कुशील परिभाषा या कुशील परिभाषित अध्ययन का विषय है ।

☐ उद्देशकरहित प्रस्तुत अध्ययन मे ३० गाथाओ तथा ऐसे स्वतीर्थिक-परतीर्थिक कुशीलो का वर्णन किया गया है, जिनका शील (आचार विचार) अहिंसा, सत्य, सयम, अपरिग्रहवृत्ति या ब्रह्मचर्य के अनुकूल नही है, जो सरलभाव से अपने दोषो को स्वीकार एव भूलो का परिमार्जन करके अपने पूर्वग्रह पर दृढ रहते है, शिथिल या कुत्सित एव साधुधर्म विरुद्ध आचार-विचार को सुशील बताते है । साथ ही इसमे बीच-बीच मे सुशील का भी वर्णन किया गया है ।[4]

☐ साधक को सुशील और कुशील का अन्तर समझाकर कुशीलता से बचाना और सुशीलता के लिए प्रोत्साहित करना इस अध्ययन का उद्देश्य है ।

☐ यह अध्ययन सूत्र गाथा ३८१ से प्रारम्भ होकर ४१० पर पूर्ण होता है ।

☐☐

---

३ (क) अफासुयपडिसेविय णाम भुज्जो य सीलवादी य ।
फासु वयति सील अफासुया मो अभु जता ॥८९॥
जह णाम गोयमा चडीदेवगा, वारिभद्दगा चेव ।
जे अग्गिहोत्तवादी जलसोय जेय इच्छति ॥९०॥ —सूत्र० निर्युक्ति

—गौतम (मसग जातीय पाषडी या गोव्रतिक) चण्डीदेवक, वारिभद्रक, अग्निहोत्रवादी, जलशौचवादी (भागवत) आदि कुशील के उदाहरण हैं ।

(ख) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १५४

४ सूत्रकृतांग चूर्णि पृ० १५१, पत्र ४

सत्तमं अज्झयणं : 'कुसीलपरिभासियं'

कुशीलपरिभाषित (कुशीलपरिभाषा) : सातवाँ अध्ययन

कुशीलकृत जीवहिंसा और उसके दुष्परिणाम

३८१. पुढवी य आऊ अगणी य वाऊ, तण-रुक्ख-बीया य तसा य पाणा ।
जे अंडया जे य जराउ पाणा, संसेयया जे रसयाभिधाणा ।। १ ।।

३८२. एताइं कयाइं पवेवियाइं, एतेसु जाण पडिलेह सायं[1] ।
एतेहिं कायेहि य आयदंडे, एतेसु या विप्परियासुविंति[2] ।। २ ।।

३८३. जातीवहं अणुपरियट्टमाणे, तस-थावरेहिं विणिघायमेति ।
से जाति-जातो बहूकूरकम्मे, जं कुव्वती मिज्जति तेण बाले ।। ३ ।।

३८४. अस्सिं च लोगे अदुवा परत्था, सतग्गसो वा तह अन्नहा वा ।
संसारमावन्न पर परं ते, बंधंति वेयंति य दुण्णियाइं ।। ४ ।।

३८१-३८२ पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु, तृण, वृक्ष, बीज और त्रस प्राणी तथा जो अण्डज है, जो जरायुज प्राणी है, जो स्वेदज (पसीने से पैदा होने वाले) और रसज (दूध, दही आदि रसो की विकृति से पैदा होने वाले) प्राणी है । इन (पूर्वोक्त) सबको सर्वज्ञ वीतरागो ने जीवनिकाय (जीवों के काय शरीर) बताए है । इन (पूर्वोक्त पृथ्वीकायादि प्राणियो) मे सुख की इच्छा रहती है, इसे समझ लो और इस पर कुशाग्र बुद्धि से विचार करो ।

जो इन जीवनिकायो का उपमर्दन-पीडन करके (मोक्षाकाक्षा रखते है, वे) अपनी आत्मा को दण्डित करते है, वे इन्ही (पृथ्वीकायादि जीवो) मे विविध रूप मे शीघ्र या बार-बार जाते (या उत्पन्न होते) हैं ।

३८३. प्राणि-पीडक वह जीव एकेन्द्रिय आदि जातियो मे बार-बार परिभ्रमण (जन्म, जरा, मरण आदि का अनुभव करता हुआ) करता हुआ त्रस और स्थावर जीवो में उत्पन्न होकर कायदण्ड

---

१ तुलना कीजिए—'भूतेहिं जाण पडिलेह सात' —आचारांग विवेचन प्र० श्रु० अ०-२, उ-२, सू० ११२, पृ० ९४

२ तुलना कीजिए—'विप्परियासमुवेति' —आचा०-विवेचन प्र० श्रु० अ० २, उ० ३, सू० ७७, ७९, ८२, पृ० ५१

विपाकज कर्म के कारण विघात (नाश) को प्राप्त होता है। वह अतिक्रूरकर्मा अज्ञानी जीव बार-बार जन्म लेकर जो कर्म करता है, उसी से मरण-शरण हो जाता है।

३८४ इस लोक मे अथवा परलोक मे, एक जन्म मे अथवा सैकडो जन्मो मे वे कर्म कर्त्ता को अपना फल देते है, अथवा जिस प्रकार वे कर्म किये हुए है, उसी प्रकार या दूसरे प्रकार से भी अपना फल देते है। ससार मे परिभ्रमण करते हुए वे कुशील जीव उत्कट से उत्कट (बडे से बडा) दु ख भोगते है और आर्त्तध्यान करके फिर कर्म बांधते है, और अपनी दुर्नीति (पाप) युक्त कर्मो का फल भोगते रहते है।

विवेचन—कुशील कृत जीवहिंसा और उसके दुष्परिणाम—प्रस्तुत चार सूत्रगाथाओ मे शास्त्रकार ने कुशील के सन्दर्भ मे निम्नलिखित तथ्यो का उद्‌घाटन किया है--(१) ससारी जीवो के मुख्य दो प्रकार है—स्थावर और त्रस। स्थावर के ५ भेद—पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय। तृण, वृक्ष आदि वनस्पति के अन्तर्गत है। ये सब एकेन्द्रिय और तद्रूप शरीर वाले होते है। ये त्रसजीव है। अण्डज, जरायुज स्वेदज, और रसज। त्रसजीव द्वीन्द्रिय से पचेन्द्रिय तक होते है। इन सब को आत्मवत् जानो। (२) कुशील व्यक्ति विविध रूपो मे स्थावर और त्रसजीवो का उत्पीडन करके अपनी आत्मा को ही दण्डित करता है, (३) वह इन्ही जीवो मे बार-बार उत्पन्न होता है, और जन्म, जरा, मृत्यु आदि दु खो का अनुभव करता हुआ विनष्ट होता है। (४) कर्म कर्त्ता को इस जन्म मे या अगले जन्मो मे, इस लोक या परलोक मे, उसी रूप मे या दूसरे रूप मे अपना फल दिये बिना नही रहते। (५) कुशील जीव कर्मानुसार ससार मे परिभ्रमण करते हुए उत्कट से उत्कट दु ख भोगते है, (६) कर्मफल भोगते समय वे आर्त्तध्यान करके फिर कर्म बाध लेते है, फिर उन दुष्कर्मो का फल भोगते है।

निष्कर्ष यह है कि कुशील जीवो को पीडित करके अपनी आत्मा को ही पीडित (दण्डित) करता है।[1]

कठिन शब्दो की व्याख्या—आयदंडे—आत्मदण्ड—आत्मा दण्डित की जाती है। आयतदण्ड-रूप मानने पर अर्थ होता है—दीर्घकाल तक दण्डित होते है। **विप्परियासुविंति**—(इन्ही पृथ्वीकायादि जीवो मे) विविध—अनेक प्रकार से, चारो ओर से शीघ्र ही जाते है, बार-बार उत्पन्न होते है, (२) अथवा विपर्यास यानी विपरीतता या अदला-बदली को प्राप्त होते है, सुखार्थीजन सुख के लिए जीवसमारम्भ करते है, परन्तु उन्हे उस आरम्भ से दु ख ही प्राप्त होता है, अथवा कुतीर्थिकजन मोक्ष के लिए जीवो के द्वारा जो आरम्भादि क्रिया करते है, उन्हे उससे ससार ही मिलता है, मोक्ष नही। **जाइवह**—इसके दो रूप होते है—जातिपथ और जातिवध। जातिपथ का अर्थ--एकेन्द्रियादि जातियो का पथ। जातिवध का अर्थ—जाति-उत्पत्ति, वध—मरण, अर्थात् जन्म और मरण। **अणुपरियट्टमाणे**—दो अर्थ--प्रथम अर्थ के अनुसार पर्यटन-परिभ्रमण करता हुआ, दूसरे के अनुसार—जन्ममरण का बार-बार अनुभव करता हुआ।[2]

---

१ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १५४-१५५ का साराश

२ (क) सूयगडग चूर्णि (मू० पा०) पृ० ६८

(ख) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १५४-१५५

कुशीलों द्वारा स्थावर जीवों की हिंसा के विविध रूप

३८५. जे मायरं च पियरं च हेच्चा, समणव्वदे अगणि समारभेज्जा।
अहाहु से लोगे कुसीलधम्मे, भूताइं जे हिंसति आतसाते ॥५॥

३८६. उज्जालओ पाण तिवातएज्जा, निव्वावओ अगणि तिवातइज्जा।
तम्हा उ मेहावि समिक्ख धम्मं, ण पंडिते अगणि समारभेज्जा ॥६॥

३८७. पुढवी वि जीवा आउ वि जीवा, पाणा य संपातिम संपयंति।
संसेदया कट्ठसमस्सिता य, एते दहे अगणि समारभंते ॥७॥

३८८. हरिताणि भूताणि विलंबगाणि, आहारदेहाइ पुढो सिताइं।
जे छिंदती आतसुह पडुच्चा, पागब्भि पाणे बहुण तिवाती ॥८॥

३८९. जाइं च वुड्ढिं च विणासयंते, बीयादि अस्संजय आयदंडे।
अहाहु से लोए अणज्जधम्मे, बीयादि जे हिंसति आयसाते ॥९॥

३८५ जो अपने माता और पिता को छोडकर श्रमणव्रत को धारण करके अग्निकाय का समारम्भ करता है, तथा जो अपने सुख के लिए प्राणियो की हिंसा करता है, वह लोक मे कुशील धर्म वाला है, ऐसा (सर्वज्ञ पुरुषो ने) कहा है।

३८६ आग जलाने वाला व्यक्ति प्राणियो का घात करता है और आग बुझाने वाला व्यक्ति भी अग्निकाय के जीवो का घात करता है। इसलिए मेधावी (मर्यादाशील) पण्डित (पाप से निवृत्त साधक) (अपने) (श्रुतचारित्ररूप श्रमण) धर्म का विचार करके अग्निकाय का समारम्भ न करे।

३८७ पृथ्वी भी जीव है, जल भी जीव है तथा सम्पातिम (उडने वाले पतगे आदि) भी जीव है जो आग मे पड (कर मर) जाते है। और भी पसीने से उत्पन्न होने वाले जीव एव काठ (लकडी आदि इन्धन) के आश्रित रहने वाले जीव होते है। जो अग्निकाय का समारम्भ करता है, वह इन (स्थावर-त्रस) प्राणियो को जला देता है।

३८८ हरी दूब अकुर आदि भी (वनस्पतिकायिक) जीव है, वे भी जीव का आकार धारण करते है। वे (मूल, स्कन्ध, शाखा, पत्ते, फल, फूल आदि अवयवो के रूप मे) पृथक्-पृथक् रहते है। जो व्यक्ति अपने सुख की अपेक्षा से तथा अपने आहार (या आधार-आवास) एव शरीर-पोषण के लिए इनका छेदन-भेदन करता है, वह धृष्ट पुरुष बहुत-से प्राणियो का विनाश करता है।

३८९ जो असयमी (गृहस्थ या प्रव्रजित) पुरुष अपने सुख के लिए बीजादि (विभिन्न प्रकार के बीज वाले अन्न एव फलादि) का नाश करता है, वह (बीज के द्वारा) जाति (अकुर की उत्पत्ति) और (फल के रूप मे) वृद्धि का विनाश करता है। (वास्तव मे) वह व्यक्ति (हिंसा के उक्त पाप द्वारा)

अपनी ही आत्मा को दण्डित करता है। ससार मे तीर्थकरो या प्रत्यक्षदर्शियो ने उसे अनार्यधर्मी (अनाडी या अधर्मससक्त) कहा है।

विवेचन—कुशीलो द्वारा स्थावर जीवो की हिंसा के विविध रूप—प्रस्तुत ५ सूत्रगाथाओ (३८५ से ३८९ तक) द्वारा शास्त्रकार ने कुशीलधर्मा कौन है ? वह किसलिए और किस-किस रूप मे अग्निकायिक, पृथ्वीकायिक, अप्कायिक एव वनस्पतिकायिक जीवो का घात करता है ? इसका विशद निरूपण किया है।

भूताइं जे हिंसति आतसाते—इस पक्ति का आशय यह है कि जो अपनी सुख-सुविधा के लिए, परलोक मे सुख मिलेगा, या स्वर्ग अथवा मोक्ष का सुख मिलेगा, इस हेतु से, अथवा धर्मसम्प्रदाय परम्परा या रीतिरिवाज के पालन से यहा सभी प्रकार का सुख मिलेगा, इस लिहाज से अग्नि, जल, वनस्पति, पृथ्वी आदि के जीवो की हिसा करते है। अथवा स्वर्गप्राप्ति की कामना से विविध अग्नि-होम या पचाग्निसेवनतप आदि क्रियाएँ करते है, फल, फूल आदि वनस्पतिकाय का छेदन-भेदन करते है, वे सब कुशीलधर्मा है।[3]

अग्नि जलाने और बुझाने मे अनेक स्थावर-त्रस जीवो की हिंसा—जो व्यक्ति इह लौकिक या पारलौकिक किसी भी प्रयोजन से अग्नि जलाता है, वह अग्निकायिक जीवो की हिसा करता ही है, अग्नि जहाँ जलाई जाती है, वहा की पृथ्वी के जीव भी आग की तेज आँच से नष्ट हो जाते है, अग्नि बुझाने से अग्निकाय के जीवो का घात तो होता ही है, साथ ही बुझाने के लिए सचित्त पानी का प्रयोग किया जाता है, तब या भोजन पकाने मे जलकायिक जीव नष्ट हो जाते है, कडे लकडी आदि मे कई त्रस जीव बैठे रहते है, वे भी आग से मर जाते है, पतगे आदि कई उडने वाले जीव भी आग मे भस्म हो जाते है। इस प्रकार आग जलाने और बुझाने मे अनेक जीवो की हिसा होती है, इसी बात को शास्त्रकार ने ३८६-३८७ इन दो सूत्रगाथाओ द्वारा व्यक्त किया है —"**उज्जालओ अगणि समारभेज्जा। पुढवी पि जीवा अगणि समारभंते।**"[4]

वृत्तिकार ने भगवती सूत्र का प्रमाण प्रस्तुत करके सिद्ध किया है कि भले ही व्यक्ति आग जलाने मे महाकर्म युक्त और बुझाने मे अल्पकर्मयुक्त होता है, परन्तु दोनो ही क्रियाओ मे षट्कायिक आरम्भ होता है।[5] **विलंबगाणि** —जो जीव का आकार धारण कर लेते है।

कुशील द्वारा हिंसाचरण का कटु विपाक

३९०. गब्भाइ मिज्जंति बुयाऽबुयाणा, णरा परे पंचसिहा कुमारा।
जुवाणगा मज्झिम थेरगा य, चयंति ते आउखए पलीणा ॥१०॥

३९१ संबुज्झहा जंतवो माणुसत्तं, दट्ठुं भयं बालिसेणं अलंभो।
एगंतदुक्खे जरिते व लोए, सकम्मुणा विप्परियासुवेति ॥११॥

---

३ सूत्रकृताग शीलांकवृत्ति पत्रांक १५६ के आधार पर

४ वही, पत्राक १५६-५७ के आधार पर

५ भगवतीसूत्र शतक ७, सूत्र २२७-२२८ (अगसुत्तणि भाग २)

३९०. (देवी-देवो की अर्चा या धर्म के नाम पर अथवा सुख-वृद्धि आदि किसी कारण से हरित वनस्पति का छेदन-भेदन करने वाले) मनुष्य गर्भ में ही मर जाते हैं, तथा कई तो स्पष्ट बोलने तक की वय मे और कई अस्पष्ट बोलने तक की उम्र मे ही मर जाते हैं। दूसरे पचशिखा वाले मनुष्य कुमार-अवस्था मे ही मृत्यु के गाल मे चले जाते हैं, कई युवक होकर तो कई मध्यम (प्रौढ) उम्र के होकर अथवा बूढे होकर चल बसते है। इस प्रकार बीज आदि का नाश करने वाले प्राणी (इन अवस्थाओ मे से किसी भी अवस्था मे) आयुष्य क्षय होते ही शरीर छोड देते है।

३९१. हे जीवो ! मनुष्यत्व या मनुष्यजन्म की दुर्लभता को समझो। (नरक एव तिर्यंच योनि के भय को देखकर एव विवेकहीन पुरुष को उत्तम विवेक का अलाभ (प्राप्ति का अभाव) जानकर बोध प्राप्त करो। यह लोक ज्वरपीडित व्यक्ति की तरह एकान्त दु खरूप[6] है अपने (हिसादि पाप) कर्म से सुख चाहने वाला जीव सुख के विपरीत (दु ख) ही पाता है।

विवेचन—कुशील द्वारा हिंसाचरण का कटु विपाक—प्रस्तुत गाथाद्वय मे दो विभिन्न पहलुओ से कुशीलाचरण का दुष्परिणाम बताया गया है। सूत्रगाथा ३९० मे कहा गया है कि जो वनस्पति-कायिक आदि प्राणियो का आरम्भ अपने किसी भी प्रकार के सुखादि की वाछा से प्रेरित होकर करता है, वह उसके फलस्वरूप गर्भ से लेकर वृद्धावस्था तक मे कभी भी मृत्यु के मुख मे चला जाता है। सूत्रगाथा ३९१ मे सामान्य रूप से कुशीलाचरण का फल सुखाशा के विपरीत दु ख प्राप्ति बतलाया गया है तथा ससार को एकान्तदु खरूप समझकर नरक-तिर्यंचगति मे बोधि-अप्राप्ति के भय का विचार करके बोधि प्राप्त करने का निर्देश दिया गया है।[7]

पाठान्तर और व्याख्या--'**जरिते व लोए**'—वृत्तिकार के अनुसार—लोक को ज्वरग्रस्त की तरह समझो। चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर है—'**जरिए हु लोगे**' लोक को (विविध दु खो की भट्टी मे) ज्वलित की तरह या ज्वरग्रस्त की तरह ज्वलित समझो।[8] '**मज्झिम थेरगाए**' के बदले '**मज्झिम पोरुसा य**' पाठान्तर है। अर्थ है—पुरुषो की चरमावस्था को प्राप्त।

मोक्षवादी कुशीलों के मत और उनका खण्डन

> ३९२. **इहेगे मूढा पवदंति मोक्खं, आहारसंपज्जणवज्जणेणं।**
> **एगे य सीतोवगसेवणेण, हुतेण एगे पवदंति मोक्खं ॥१२॥**
>
> ३९३. **पाओसिणाणादिसु णत्थि मोक्खो, खारस्स लोणस्स अणासएण।**
> **ते मज्ज मंसं लसुणं च भोच्चा, अन्नत्थ वासं परिकप्पयंति ॥१३॥**

---

६ देखिये—जम्म दुक्ख जरा दुक्ख रोगा य मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु ससारो जत्थ कीसति पाणिणो॥ —उत्तरा० अ० १९/१५

७ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १५८ का साराश

८. जरितेति 'आलित्तेण भते ! लोए, पलित्तेण भते लोए' अथवा ज्वरित इव ज्वलित.। —सूत्र कृ० चूर्णि (मू० पा० टि०) पृ० ७०

३९४. उदगेण जे सिद्धिमुदाहरंति, सायं च पातं उदगं फुसंता ।
उदगस्स फासेण सिया य सिद्धी, सिज्झिंसु पाणा बहवे दगंसि ।।१४।।

३९५. मच्छा य कुम्मा य सिरीसिवा, मग्गू य उट्टा दगरक्खसा य ।
अट्ठाणमेयं कुसला वदंति, उदगेण जे सिद्धिमुदाहरंति ।।१५।।

३९६. उदगं जती कम्ममलं हरेज्जा, एवं सुहं इच्छामेत्तता वा ।
अंधव्व णेयारमणुस्सरित्ता, पाणाणि चेव विणिहंति मंदा ।।१६।।

३९७. पावाइं कम्माइं पकुव्वतो हि, सिओदगं तु जइ तं हरेज्जा ।
सिज्झिंसु एगे दगसत्तघाती, मुसं वयंते जलसिद्धिमाहु ।।१७।।

३९८. हुतेण जे सिद्धिमुदाहरंति, सायं च पातं अगणिं फुसंता ।
एवं सिया सिद्धि हवेज्ज तम्हा, अगणिं फुसंताण कुकम्मिणं पि ।।१८।।

३९९. अपरिक्ख दिट्ठं ण हु एव सिद्धी, एहिंति ते घातमबुज्झमाणा ।
भूतेहिं जाण पडिलेह सातं, विज्जं गहाय तस-थावरेहिं ।।१९।।

४००. थणंति लुप्पंति तसंति कम्मी, पुढो जगा परिसंखाय भिक्खू ।
तम्हा विदू विरते आयगुत्ते, दट्ठुं तसे य पडिसाहरेज्जा ।।२०।।

३९२ इस जगत् मे अथवा मोक्षप्राप्ति के विषय मे कई मूढ इस प्रवाद का प्रतिपादन करते है कि आहार का रस-पोषक-नमक खाना छोड देने से मोक्ष प्राप्त होता है, और कई शीतल (कच्चे) जल के सेवन से तथा कई (अग्नि मे घृतादि द्रव्यो का) हवन करने से मोक्ष (की प्राप्ति) बतलाते है ।

३९३ प्रात काल मे स्नानादि से मोक्ष नही होता, न ही क्षार (खार) या नमक खाने से मोक्ष होता है । वे (अन्यतीर्थी मोक्षवादी) मद्य, मॉस और लहसुन खाकर (मोक्ष से) अन्यत्र (ससार मे) अपना निवास बना लेते है ।

३९४ सायकाल और प्रात काल जल का स्पर्श (स्नानादि क्रिया के द्वारा) करते हुए जो जल-स्नान से सिद्धि (मोक्ष प्राप्ति) बतलाते है, (वे मिथ्यावादी है) । यदि जल के (बार-बार) स्पर्श से मुक्ति (सिद्धि) मिलती तो जल मे रहने वाले बहुत-से जलचर प्राणी मोक्ष प्राप्त कर लेते ।

३९५ (यदि जलस्पर्श से मोक्ष प्राप्ति होती तो) मत्स्य, कच्छप, सरीसृप (जलचर सर्प), मद्गू तथा उष्ट्र नामक जलचर और जलराक्षस (मानवाकृति जलचर) (आदि जलजन्तु सबसे पहले मुक्ति प्राप्त कर लेते, परन्तु ऐसा नही होता ।) अत जो जलस्पर्श से मोक्षप्राप्ति (सिद्धि) बताते है, मोक्षतत्त्व-पारगत (कुशल) पुरुष उनके इस कथन को अयुक्त कहते है ।

३९६ जल यदि कर्म-मल का हरण-नाश कर लेता है, तो वह इसी तरह शुभ-पुण्य का भी हरण

कर लेगा। (अतः जल कर्ममल हरण कर लेता है, यह कथन) इच्छा (कल्पना) मात्र है। मन्दबुद्धि-लोग अज्ञानान्ध नेता का अनुसरण करके इस प्रकार (जलस्नान आदि क्रियाओ) से प्राणियो का घात करते है।

३९७. यदि पापकर्म करने वाले व्यक्ति के उस पाप को शीतल (सचित्त) जल (जलस्नानादि) हरण कर ले, तब तो कई जलजन्तुओ का घात करने वाले (मछुए आदि) भी मुक्ति प्राप्त कर लेगे। इसलिए जो जल (स्नान आदि) से सिद्धि (मोक्ष प्राप्ति) बतलाते है, वे मिथ्यावादि हैं।

३९८ सायकाल और प्रात काल अग्नि का स्पर्श करते हुए जो लोग (अग्निहोत्रादि कर्म-काण्डी) अग्नि मे होम करने से सिद्धि (मोक्षप्राप्ति या सुगतिगमनरूप स्वर्गप्राप्ति) बतलाते है, वे भी मिथ्यावादी है। यदि इस प्रकार (अग्निस्पर्श से या अग्निकार्य करने) से सिद्धि मिलती हो, तब तो अग्नि का स्पर्श करने वाले (हलवाई, रसोइया, कुम्भकार, लुहार, स्वर्णकार आदि) कुकर्मियो (आरम्भ करने वालो, आग जलाने वालो) को भी सिद्धि प्राप्त हो जानी चाहिए।

३९९ जलस्नान और अग्निहोत्र आदि क्रियाओ से सिद्धि मानने वाले लोगो ने परीक्षा किये बिना ही इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया है। इस प्रकार सिद्धि नही मिलती। वस्तुतत्त्व के बोध मे रहित वे लोग घात (ससार भ्रमणरूप अपना विनाश) प्राप्त करेगे। अध्यात्मविद्यावान् (सम्यग्ज्ञानी) यथार्थ वस्तुस्वरूप का ग्रहण (स्वीकार) करके यह विचार करे कि त्रस और स्थावर प्राणियो के घात से उन्हे सुख कैसे होगा ? यह (भलीभाँति) समझ ले।

४०० पापकर्म करने वाले प्राणी पृथक्-पृथक् रुदन करते हैं, (तलवार आदि के द्वारा) छेदन किये जाते है, त्रास पाते है। यह जानकर विद्वान् भिक्षु पाप से विरत होकर आत्मा का रक्षक (गोप्ता या मन-वचन-काय-गुप्ति से युक्त) बने। वह त्रस और स्थावर प्राणियो को भलीभाँति जानकर उनके घात की क्रिया से निवृत्त हो जाए।

विवेचन—मोक्षवादी कुशीलो के मत और उनका खण्डन—प्रस्तुत ९ सूत्रगाथाओ मे विविध मोक्षवादी कुशीलो के मत का निरूपण और उनका खण्डन किया है। साथ ही यह भी बताया है कि सुशील एव विद्वान् साधु को प्राणहिसाजनित क्रियाओ से मोक्ष-सुख-प्राप्ति की आशा छोडकर इन क्रियाओ से दूर रहना चाहिए।

आहार-रसपोषक लवणत्याग से मोक्ष कैसे नहीं ?—रस पर विजय पाने से सब पर विजय पा ली, इस दृष्टि से सर्वरसो के राजा लवणपञ्चक (सैन्धव, सौवर्चल, विड्, रोम और सामुद्र इन पाच रसो) को छोड देने से रसमात्र का त्याग हो जाता है। अत लवण (रस) परित्याग से मोक्ष निश्चित है। किसी प्रति मे **'आहारसपज्जण वज्जणेणं'** के बदले **'आहारओ पंचकवज्जणेण'** पाठ भी मिलता है, तदनुसार अर्थ किया गया है—आहार मे से इन पाच (लहसुन, प्याज, ऊँटनी का दूध, गौमास और मद्य) वस्तुओ के त्याग से मोक्ष मिलता है। यह लवणरसत्याग से मोक्षवादियो का कथन है।

शास्त्रकार सूत्रगाथा ३९२ मे इसका निराकरण करते हुए कहते है—**'णत्थि मोक्खो, खारस्स लोणस्स अणासएणं'**। इस पक्ति का आशय यह है कि केवल नमक न खाने से ही मोक्षप्राप्ति नही होती, ऐसा सम्भव होता तो जिस देश मे लवण नही होता, वहाँ के निवासियों को मोक्ष मिल

जाना चाहिए, क्योकि वे द्रव्यत लवणत्यागी है, परन्तु ऐसा होता नही। भावत. लवणत्याग कर देने मात्र से भी मोक्ष नही होना, क्योकि लवणत्याग के पीछे रसपरित्याग का आशय हो, तब तो दुग्ध, दधि, घृत, शर्करा (या मिष्ठान्न) आदि वस्तुएँ भी रसोत्पादक है, उनका भी भाव से त्याग होना चाहिए, लेकिन बहुत-से लवण-त्यागी स्वादलोलुपतावश मद्य, मास लहसुन आदि तामसिक पदार्थों का निस्सकोच सेवन करते है, तब उन्हे मोक्ष कैसे होगा ? बल्कि जीवहिसाजन्य पदार्थों के सेवन से ससार मे ही निवास होगा। वास्तव मे देखा जाए तो मोक्ष तो ज्ञान-दर्शन-चारित्र की भावपूर्वक साधना से होता है।

सचित जल-शौच से मोक्ष कैसे नहीं ?—वारिभद्रक आदि भागवत जलशौचवादियो का कथन है कि जल मे जैसे वस्त्र, शरीर, अगोपाग आदि के बाह्यमल की शुद्धि करने की शक्ति है, वैसे आन्तरिक मल को दूर करने की भी शक्ति है। इसलिए शीतल जल का स्पर्श (स्नानादि) मोक्ष का कारण है।

इसका निराकरण शास्त्रकार ने चार गाथाओ (सू० गा० ३९४ से ३९७ तक) द्वारा पाच अकाट्य युक्तियो से किया है—(१) केवल सचित्त जलस्पर्श कर्मक्षयरूप मोक्ष का कारण नही है बल्कि सचित्त जलसेवन से जलकायिक एव तदाश्रित त्रस जीवो का उपमर्दन होता है, अत जीवहिसा से मोक्ष कदापि सम्भव नही है, (२) जल मे बाह्यमल को भी पूर्णत साफ करने की शक्ति नही है, आन्तरिक कर्ममल को साफ करने की शक्ति तो उसमे हो ही कैसे सकती है ? आन्तरिक पापमल का नाश तो भावो की शुद्धि से ही हो सकता है। भावो की शुद्धि से रहित व्यक्ति चाहे जितना जलस्नान करे उससे उसके पापमल का नाश नही हो सकता। यदि शीतल जलस्नान ही पाप को मिटा देता है, तब तो जलचर प्राणियो का सदैव घात करने वाले एव जल मे ही अवगाहन करने वाले पापी मछुए या पापकर्म करने वाले अन्य प्राणी जलस्नान करके शीघ्र मोक्ष पा लेगे, उनके सभी पापकर्म धुल जायेगे। फिर तो नरकलोक आदि ससार मे कोई भी पापी नही रहेगा। परन्तु ऐसा होना असम्भव है। (३) यदि जलस्नान से ही मोक्ष प्राप्त हो जाता है, तब तो मनुष्य दूर रहे, मत्स्य आदि समस्त जलचर प्राणियो को शीघ्र मोक्ष प्राप्त हो जाएगा, क्योकि वे तो चौबीसो घटे जल मे ही रहते है। अतएव यह मान्यता मिथ्या और अयुक्त है। (४) जल जैसे पाप (अशुभ कर्ममल) का हरण करता है, वैसे पुण्य (शुभ कर्ममल) का भी हरण कर डालेगा। तब तो जल से पाप की तरह पुण्य भी धुलकर साफ हो जाएगा और एक दिन मोक्ष के लिए किये जाने वाले अनुष्ठानो को भी वह धोकर साफ कर देगा। ऐसी स्थिति मे जलस्पर्श मोक्षसाधक होने के बदले मोक्षबाधक सिद्ध होगा। (५) जितना अधिक जलस्पर्श होगा, उतना ही अधिक जलकायिक तथा तदाश्रित अनेक त्रसप्राणियो का घात होगा।

अग्निहोत्र क्रिया से मोक्ष क्यो नहीं ?—अग्निहोत्री मीमासक आदि का कथन है कि अग्नि जैसे बाह्य द्रव्यो को जला डालती है, वैसे ही उसमे घी आदि होमने से वह आन्तरिक पापकर्मो को भी जला देती है। जैसा कि श्रुतिवाक्य है—स्वर्ग की कामना करने वाला अग्निहोत्र करे। स्वर्गप्राप्ति के अतिरिक्त वैदिक लोग निष्काम भाव से किये जाने वाले अग्निहोत्र आदि कर्म को मोक्ष का भी प्रयोजक मानते है। इस युक्तिविरुद्ध मन्तव्य का खण्डन करते हुए शास्त्रकार कहते है—**'एवं सिया सिद्धि कुकम्मिण पि।'** इसका आशय यह है कि यदि अग्नि मे द्रव्यो के डालने से या अग्निस्पर्श से मोक्ष मिलता हो, तब तो आग जलाकर कोयला बनाने वाले, कुम्भकार, लुहार, सुनार, हलवाई आदि सभी अग्निकाय का आरम्भ करनेवालो को मोक्ष मिल जाएगा। परन्तु न तो इन अग्निकायारम्भजीवियो को

मोक्ष मिल सकता है, और न ही अग्निस्पर्शवादियो को, क्योकि दोनो ही अग्निकायिक जीवो का घात करते है। जीवघातको का ससार मे ही वास या भ्रमण हो सकता है, मोक्ष मे नही। कर्मों को जलाने की शक्ति अग्नि मे नही है, सम्यग्दर्शन ज्ञानपूर्वक किये जाने वाले तप मे है। उसी की साधना से मोक्षप्राप्ति हो सकती है।[8]

इस कुशील आचार एव विचार से, सुशील आत्मरक्षक विद्वान् साधु को बचना चाहिए, क्योकि जीवहिंसाजनक इन कर्मकाण्डो से नरकादि गतियो मे नाना दुख उठाने पडते है। इस प्रकार गाथाद्वय (३९९-४००) द्वारा शास्त्रकार ने सावधान किया है। **अपरिक्ख दिट्ठं**—बिना ही परीक्षा किये इस दर्शन (जलस्पर्श-अग्निहोत्रादि से मोक्षवाद) का स्वीकार किया है।[9]

कुशील साधक की आचारभ्रष्टता

४०१. जे धम्मलद्धं वि णिहाय भुंजे, वियडेण साहट्टु य जो सिणाति।
जो धावति लूसयती व वत्थं, अहाहु से णागणियस्स दूरे ॥२१॥

४०२. कम्मं परिण्णाय दगंसि धीरे, वियडेण जीवेज्ज य आदिमोक्खं।
से बीय-कंदाति अभुंजमाणे, विरते सिणाणादिसु इत्थियासु ॥२२॥

४०३. जे मायरं पियरं च हेच्चा, गारं तहा पुत्त पसुं धणं च।
कुलाइं जे धावति साउगाइं, अहाऽऽहु से सामणियस्स दूरे ॥२३॥

४०४. कुलाइं जे धावति सादुगाइं, आघाति धम्मं उदराणुगिद्धे।
अहाहु से आयरियाण सतंसे, जे लावइज्जा असणस्स हेउं ॥२४॥

४०५. निक्खम्म दीणे परभोयणम्मि, मुहमंगलिओदरियाणुगिद्धे।
नीवारगिद्धे व महावराहे, अदूर एवेहति घातमेव ॥२५॥

४०६ अन्नस्स पाणस्सिहलोइयस्स, अणुप्पियं भासति सेवमाणे।
पासत्थयं चेव कुसीलयं च, निस्सारिए होति जहा पुलाए ॥२६॥

४०१. जो (स्वयूथिक साधुनामधारी) धर्म (श्रमण की औद्देशिक आदि दोषरहित धर्ममर्यादा) से प्राप्त आहार को भी सचय (अनेक दिनो तक रख) करके खाता है, तथा अचित्त जल से (अचित्त स्थान में भी) अगों का सकोच करके जो स्नान करता है और जो अपने वस्त्र को (विभूषा के लिए) धोता है तथा (शृगार के लिए) छोटे वस्त्र को बडा और बडे को (फाडकर) छोटा करता है, वह निर्ग्रन्थ भाव (सयमशीलता) से दूर है, ऐसा (तीर्थकरो और गणधरो ने) कहा है।

---

८ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १५८ से १६१

९ सूत्रकृताग चूर्णि (मूलपाठ टिप्पण) पृ० ७१

४०२ (अत) धीर साधक जलस्नान मे कर्मबन्ध जानकर आदि (ससार) से मोक्षपर्यन्त प्रासुक (अचित्त) जल से प्राण धारण करे, तथा वह बीज, कन्द आदि (अपरिणत-अप्रासुक आहार) का उपभोग न करे एव स्नान आदि (शृ गार-विभूषा कर्म) से तथा स्त्री आदि (समस्त मैथुनकर्म) से विरत रहे।

४०३ जो साधक माता और पिता को तथा घर, पुत्र, पशु और धन (आदि सब) को छोडकर (प्रव्रजित होकर स्वादलोलुपतावश) स्वादिष्ट भोजन वाले घरो मे दौडता है, वह श्रमणभाव से दूर है, यह तीर्थकरो ने कहा है।

४०४ उदर भरने मे आसक्त जो साधक स्वादिष्ट भोजन (मिलने) वाले घरो मे जाता है, तथा (वहाँ जाकर) धर्मकथा (धर्मोपदेश) करता है, तथा जो साधु भोजन के लोभ से अपने गुणो का बखान करता है, वह भी आचार्य या आर्य के गुणो के शताश के समान है, ऐसा तीर्थकरो ने कहा है।

४०५ जो व्यक्ति (घरबार, धन-धान्य आदि छोडकर) साधुदीक्षा के लिए घर से निकलकर दूसरे (गृहस्थ) के भोजन (स्वादिष्ट आहार) के लिए दीन बन कर भाट की तरह मुखमागलिक (चापलूस) हो जाता है, वह चावल के दानो मे आसक्त बडे सूअर की तरह उदरभरण मे आसक्त हो कर शीघ्र ही विनाश को प्राप्त होता है।

४०६ अन्न और पान अथवा वस्त्र आदि इहलौकिक पदार्थ के लिए सेवक की तरह आहारादि दाता के अनुकूल प्रिय भाषण करता है (ठकुरसुहाती बात करता है) वह धीरे-धीरे पार्श्वस्थभाव (आचारशैथिल्य) और कुशीलता (दूषितसयमित्व) को प्राप्त हो जाता है। (और एक दिन) वह भूमि के समान नि सार-नि सत्त्व (सयमप्राण से रहित—थोथा) हो जाता है।

विवेचन—कुशील साधक की आचारभ्रष्टता—प्रस्तुत छह सूत्रगाथाओ (४०१ से ४०६ तक) द्वारा कुशील साधु की आचारभ्रष्टता का परिचय एव सुशील धीर साधक को इससे बचने का कुछ स्पष्ट निर्देश दिया गया है।

आचारभ्रष्टता के विविध रूप—प्रस्तुत ६ गाथाओ मे से पाच गाथाओ मे कुशील साधक की आचारभ्रष्टता के दस रूप बताये गए है—(१) धर्मप्राप्त आहार का सचय करके उपभोग करना, (२) विभूषा की दृष्टि से प्रासुक जल से भी अग सकोच करके स्नान करना, (३) विभूषा के लिए वस्त्र धोकर उजला बनाना, (४) शृ गार के लिए छोटे वस्त्र को बडा और बडे को फाडकर छोटा बनाना, (५) सयम ग्रहण करने के बाद मनोबलहीन एव रसलोलुप बनकर स्वादिष्ट भोजन मिलने वाले घरो मे बार-बार जाना, (६) उदरभरण मे आसक्त होकर स्वादिष्ट भोजन प्राप्त होने वाले घरो मे जाकर धर्मकथा करना, (७) स्वादिष्ट भोजन के लोभवश अपनी ओर आकर्षित करने हेतु अपने गुणो का अत्युक्तिपूर्वक बखान करना, (८) गृहस्थ से स्वादुभोजन लेने हेतु दीनता दिखलाना, (९) उदरपोषणासक्त बनकर मुखमागलिकता करना, (१०) अन्न, पान और अन्य वस्त्रादि आवश्यकताओ के लिए सेवक की तरह दाता के अनुरूप प्रिय-मधुर बोलना।

आचारभ्रष्ट के विशेषण—ऐसे आचारभ्रष्ट साधक को प्रस्तुत गाथाओ मे निर्ग्रन्थत्व (नग्नत्व) से दूर, श्रमणत्व से दूर, आचार्य या आर्य गुणो का शताश, पाशस्थ या पार्श्वस्थ, कुशील एव नि.सार कहा गया है।

सुशील धीर साधक के लिए ५ निर्देश—(१) जलस्नान मे कर्मबन्ध जानकर उसका परित्याग करे, (२) प्रासुक (विकट) जल से ससार से विमुक्तिपर्यन्त जीवन निर्वाह करे, (३) बीज, कद आदि अशस्त्रपरिणत सचित्त वनस्पति का उपभोग न करे, (४) स्नान, अभ्यगन, उद्वर्तन आदि शरीर-विभूषाक्रियाओ से विरत हो, (५) स्त्रीससर्ग आदि से भी दूर रहे।[10]

कठिन शब्दो की व्याख्या—धम्मलद्धं वि णिहाय भुंजे—दो अर्थ फलित होते है—(१) भिक्षा-दोषरहित धर्मप्राप्त आहार का सग्रह करके खाता है, (२) धर्मलब्ध आहार को छोडकर अन्य स्वादिष्ट (अशुद्ध) आहार-सेवन करता है। **लूसयतीव वत्थं**—विभूषार्थ वस्त्र को छोटा या बडा (विकृत) करता है। **आदिमोक्ख**—दो अर्थ—(१) आदि—ससार, उससे मोक्ष तक, (२) धर्मकारणो का आदिभूत-शरीर, उसकी विमुक्ति (छूटने) तक।[11]

सुशील साधक के लिए आचार विचार के विवेकसूत्र

४०७ **अण्णातपिंडेणऽधियासएज्जा, नो पूयणं तवसा आवहेज्जा।**
सद्देहि रूवेहि असज्जमाणे, सव्वेहि कामेहि विणीय गेहिं ॥२७॥

४०८ **सव्वाइं संगाइ अइच्च धीरे, सव्वाइ दुक्खाइं तितिक्खमाणे।**
अखिले अगिद्धे अणिएयचारी, अभयकरे भिक्खू अणाविलप्पा ॥२८॥

४०९. **भारस्स जाता मुणि भुंजएज्जा, कंखेज्ज पावस्स विवेग भिक्खू।**
दुक्खेण पुट्ठे धुयमातिएज्जा, सगामसीसे व पर दमेज्जा ॥२९॥

४१०. **अवि हम्ममाणे फलगावतट्ठी, समागम कखति अतगस्स।**[12]
णिद्धूय कम्म ण पवचुवेति, अक्खक्खए वा सगड ति बेमि ॥३०॥

॥ कुसोलपरिभासियं-सत्तमं अज्झयणं सम्मत्तं ॥

४०७ सुशील साधु अज्ञातपिण्ड (अपरिचित घरो से लाये हुए भिक्षान्न) से अपना निर्वाह करे, तपस्या के द्वारा अपनी पूजा-प्रतिष्ठा की इच्छा न करे, शब्दो और रूपो मे अनासक्त रहता हुआ तथा समस्त काम-भोगो से आसक्ति हटाकर (शुद्ध सयम का पालन करे।)

४०८ धीर साधक सर्वसगो (सभी आसक्तिपूर्ण सम्बन्धो) से अतीत (परे) होकर सभी परीष-होपसर्गजनित शारीरिक मानसिक दु खो को (समभावपूर्वक) सहन करता हुआ (विशुद्ध सयम का तभी पालन कर पाता है जब वह) अखिल (ज्ञान-दर्शन-चारित्र से पूर्ण) हो, अगृद्ध (विषयभोगो मे अनासक्त)

---

१०. सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १६१ से १६३ तक का साराश

११ (क)) सूयगडग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ७२-७३

(ख) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १६१-१६२

१२. तुलना—"अवि हम्ममाणे फलगावतट्ठी कालोवणीते कखेज्ज काल" —आचारागसूत्र १०८, पृ० २३२

हो, अनियतचारी (अप्रतिबद्धविहारी) और अभयकर (जो न स्वय भयभीत हो और न दूसरो को भयभीत करे) तथा जिसकी आत्मा विषय-कषायो से अनाविल (अनाकुल) हो।

४०९ मुनि पचमहाव्रतरूप सयम भार की यात्रा (निर्वाह) के लिए आहार करे। भिक्षु अपने (पूर्वकृत) पाप का त्याग करने की आकाक्षा करे। परीषहोपसर्गजनित दु ख (पीडा) का स्पर्श होने पर धुत सयम या मोक्ष का ग्रहण (स्मरण अथवा ध्यान) करे। जैसे योद्धा सग्राम के शीर्ष (मोर्चे) पर डटा रहकर शत्रु-योद्धा का दमन करता है, वैसे ही साधु भी कर्मशत्रुओ के साथ युद्ध मे डटा रहकर उनका दमन करे।

४१० साधु परीषहो और उपसर्गों से प्रताडित (पीडित) होता हुआ भी (उन्हें सहन करे।), जैसे लकडी का तख्ता दोनो ओर से छिल जाने पर राग-द्वेष नही करता, वैसे ही बाह्य और आभ्यन्तर तप से कष्ट पाता हुआ भी साधक राग-द्वेष न करे। वह अन्तक (मृत्यु) के (समाधि-पूर्वक) समागम की प्रतीक्षा (काक्षा) करे। जैसे अक्ष (गाडी की धुरी) टूट जाने पर गाडी आगे नही चलती, वैसे ही कर्मक्षय कर देने पर जन्म, मरण, राग, शोक आदि प्रपच की गाडी भी आगे नही चलती।

—ऐसा मै कहता हूँ।

विवेचन—सुशील साधक के लिए आचार-विचार के विवेकसूत्र—प्रस्तुत चार सूत्रगाथाओ (४०७ से ४१० तक) मे सुशील साधक के लिए आचार-विचार सम्बन्धी १९ विवेकसूत्र प्रस्तुत किये गए है—(१) अज्ञातपिण्ड द्वारा निर्वाह करे, (२) तपस्या के साथ पूजा-प्रतिष्ठा की कामना न करे, (३) मनोज्ञ-अमनोज्ञ शब्दो एव रूपो पर रागद्वेष से ससक्त न हो, (४) इच्छा-मदनरूप समस्त कामो (कामविकारो-मनोज्ञ-अमनोज्ञ विषयो) के प्रति आसक्ति हटाकर रागद्वेष न करे। (५) सर्वसगो से दूर रहे, (६) परीषहोपसर्गजनित समस्त दु खो को समभाव से सहन करे, (७) ज्ञान-दर्शन-चारित्र से परिपूर्ण हो, (८) विषयभोगो मे अनासक्त रहे, (९) अप्रतिबद्धविहारी हो, (१०) अभयकर हो, (११) विषय-कषायो से अनाकुल रहे, (१२) सयमयात्रा निराबाध चलाने के लिए ही आहार करे, (१३) पूर्वकृत पापो का त्याग करने की इच्छा करे, (१४) परीषहोपसर्गजनित दु ख का स्पर्श होने पर सयम या मोक्ष (धुत) मे ध्यान (स्मरण) रखे (१५) सग्राम के मोर्चे पर सुभट की तरह कर्मशत्रु का दमन करे, (१६) परीषहोपसर्गों से प्रताडित साधक उन्हे सहन करे, (१७) जैसे लकडी के तख्ते को दोनो ओर से छीलने पर वह राग-द्वेष नही करता, वैसे ही बाह्य और आभ्यन्तर तप से दोनो ओर से कष्ट पाता हुआ भी साधक राग-द्वेष न करे, (१८) सहज भाव से समाधिपूर्वक समागम की आकाक्षा (प्रतीक्षा) करे, (१९) धुरी टूट जाने पर गाडी आगे नही चलती, वैसे ही कर्मों के सर्वथा क्षय हो जाने पर जन्म, जरा, मृत्यु, रोग, शोक आदि प्रपच की गाडी आगे नही चलती।

निष्कर्ष—पूर्वोक्त आचार-विचार युक्त सुशील सर्वथा कर्मक्षय करके मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

पाठान्तर और व्याख्या—**'सद्देहि रूवेहि विणीय गेहिं'** के बदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—**'अण्णे य पाणे य अणाणुगिद्धो, सव्वेसु कामेसु णियत्तएज्जा'** अर्थ होता है—अन्न और पान मे अनासक्त रहे, समस्त कामभोगो पर नियन्त्रण करे। **'अणिए अ चारी'** के बदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—**'ण सिलोगकामी'** अर्थात्—प्रशसाकाक्षी न हो।

॥ कुशील परिभाषित सप्तम अध्ययन समाप्त ॥

वीर्य–अष्टम अध्ययन

प्राथमिक

☐ सूत्रकृताग सूत्र (प्र० श्रु०) के अष्टम अध्ययन का नाम 'वीर्य' है।

☐ वीर्य शब्द शक्ति, सामर्थ्य, पराक्रम, तेज, दीप्ति, अन्तरग शक्ति, आत्मबल, शरीरस्थित एक धातु—शुक्र आदि अर्थों मे प्रयुक्त होता है।[1]

☐ निर्युक्तिकार ने शक्ति अर्थ मे द्रव्य वीर्य के मुख्य दो प्रकार बताए है—सचित्त द्रव्य वीर्य और अचित्तद्रव्य वीर्य। इसी तरह क्षेत्रवीर्य, कालवीर्य और भाववीर्य भी बताए है।

☐ प्रस्तुत अध्ययन मे भाववीर्य का निरूपण है। वीर्य शक्तियुक्त जीव की विविध वीर्य सम्बन्धी लब्धियाँ भाववीर्य है। वह मुख्यतया ५ प्रकार का है—मनोवीर्य, वाग्वीर्य, कायवीर्य, इन्द्रियवीर्य और आध्यात्मिकवीर्य। जीव अपनी योगशक्ति द्वारा मनोयोग्य पुद्गलो को मन के रूप से, भाषायोग्य पुद्गलो को भाषा के रूप मे, काययोग्य पुद्गलो को काया के रूप मे और श्वासोच्छ्वास के योग्य पुद्गलो को श्वासोच्छ्वास के रूप मे परिणत करता है तब वह मनोवीर्य, वाग्वीर्य, कायवीर्य तथा इन्द्रियवीर्य कहलाता है। ये चारो ही वीर्य सम्भववीर्य और सम्भाव्यवीर्य के रूप मे दो-दो प्रकार के होते हैं।

☐ आध्यात्मिक वीर्य आत्मा की आन्तरिक शक्ति से उत्पन्न सात्त्विकबल है। आध्यात्मिक वीर्य अनेक प्रकार का होता है। 'वीर्य प्रवाद' नामक पूर्व मे उसके अगणित प्रकार बताए गए है। निर्युक्तिकार ने आध्यात्मिक वीर्य मे मुख्यतया दस प्रकार बताए है—

☐ (१) उद्यम (ज्ञानोपार्जन तपश्चरण आदि मे आन्तरिक उत्साह), (२) धृति (सयम और चित्त मे स्थैर्य), (३) धीरत्व (परीषहो और उपसर्गों के समय अविचलता), (४) शौण्डीर्य (त्याग की उत्साहपूर्ण उच्चकोटि की भावना), (५) क्षमाबल, (६) गाम्भीर्य (अद्भुत साहसिक या चामत्कारिक कार्य करके भी अहकार न आना, या परीषहोपसर्गों से न दबना), (७) उपयोगबल (निराकार उपयोग (दर्शन), एव साकार उपयोग (ज्ञान) रखकर द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव रूप स्वविषयक निश्चय करना, (८) योगबल (मन, वचन और काया से व्यापार करना) (९) तपोबल (बारह प्रकार के तप मे पराक्रम करना, खेदरहित तथा उत्साहपूर्वक तप करना) और, (१०) सयम मे पराक्रम (१७ प्रकार के सयम के पालन मे तथा अपने सयम को निर्दोष रखने मे पराक्रम करना)।

१ पाइअ-सद्द-महण्णवो पृ० ८१४

☐ भाववीर्य के अन्तर्गत आने वाले उपर्युक्त सभी वीर्य तीन कोटि के होते है—पण्डितवीर्य, बालपण्डितवीर्य और बालवीर्य। पण्डितवीर्य सयम मे पराक्रमी निर्मल साधुतासम्पन्न सर्वविदित साधुओ का होता है, बालपण्डितवीर्य व्रतधारी सयमासयमी देशविरतिश्रावक का होता है और बालवीर्य असयमपरायण हिसा आदि से अविरत या व्रतभग करने वाले का होता है।[२]

☐ शास्त्रकार ने अकर्मवीर्य और सकर्मवीर्य इन दो कोटियो मे समग्र भाववीर्य को समाविष्ट किया है। अकर्मवीर्य को कर्मक्षयजनित पण्डितवीर्य और सकर्मवीर्य को कर्मोदयनिष्पन्न बालवीर्य कहा गया है। अकर्मवीर्य का 'अकर्म' शब्द अप्रमाद एव सयम का तथा सकर्मवीर्य का 'कर्म' शब्द प्रमाद एव असयम का सूचक है।

☐ प्रस्तुत अध्ययन मे सकर्मवीर्य का परिचय देते हुए कहा गया है कि जो लोग प्राणघातक शास्त्रास्त्रविद्या, शास्त्र या मत्र सीखते है, मायावी है, कामभोगासक्त एव असयमी है, वे ससारपरिभ्रमण करते हैं, दु खी होते है, इसी प्रकार 'अकर्मवीर्य' का विवेचन करते हुए कहा गया है कि पण्डित अपने वीर्य का सदुपयोग करते है, सयम मे लगाते है। आध्यात्म बल (धर्मध्यान आदि) से समस्त पापप्रवृत्तियो, मन और इन्द्रिय को, दुष्ट अध्यवसायो तथा भाषा के दोषो को रोक (सॅवरकर) लेते है। सयमप्रधान पण्डितवीर्य ज्यो-ज्यो बढता है, त्यो-त्यो सयम बढता है, पूर्णसयमी बनने पर उससे निर्वाणरूप शाश्वत सुख मिलता है। अध्ययन के अन्त मे पण्डितवीर्य सम्पन्न साधक की तपस्या, भाषा, ध्यान एव चर्या आदि का निर्देश किया गया है।[३]

☐ प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य साधक को **'सकर्मवीर्य'** से हटाकर **'अकर्मवीर्य'** की ओर मोडना है।

☐ उद्देशक रहित इस अध्ययन मे २६ (चूर्णि के अनुसार २७) गाथाएँ है।

☐ यह अध्ययन सूत्रगाथा ४११ से प्रारम्भ होकर ४३६ पर समाप्त होता है।

☐☐

२ (क) सूत्रकृताग निर्युक्ति गा० ९१ से ९७ तक
(ख) सूत्रकृ० शी० वृत्ति पत्राक १६५ से १६७ तक का साराश

३ (क) सूयगडगसुत्त (मूलपाठ-टिप्पण युक्त) पृ० ७४ से ७८ तक का साराश
(ख) जैन साहित्य का बृहद इतिहास भा० १ पृ० १४९

वीरियं : अट्ठमं अज्झयणं

वीर्य : अष्टम अध्ययन

वीर्य का स्वरूप और प्रकार

४११. दुहा चेयं सुयक्खायं, वीरियं ति पवुच्चति ।
किं नु वीरस्स वीरत्त, केण वीरो त्ति वुच्चति ।।१।।

४१२. कम्ममेगे पवेदेंति, अकम्मं वा वि सुव्वता ।
एतेहिं दोहिं ठाणेहिं, जेहिं दिस्संति मच्चिया ।।२।।

४१३. पमायं कम्ममाहंसु, अप्पमायं तहाऽवरं ।
तब्भावादेसतो वा वि, बालं पंडितमेव वा ।।३।।

४११ यह जो वीर्य कहलाता है, वह (तीर्थंकर आदि ने) श्रुत (शास्त्र) मे दो प्रकार का कहा है। (प्रश्न होता है—) वीर पुरुष का वीरत्व क्या है ? और वह किस कारण से वीर कहलाता है ?

४१२. (श्री सुधर्मा स्वामी जम्बूस्वामी आदि से कहते हैं—) हे सुव्रतो ! कई लोग कर्म को वीर्य कहते है अथवा कई अकर्म को वीर्य कहते हैं। मर्त्यलोक के प्राणी इन्ही दो भेदो (स्थानो) मे देखे जाते है।

४१३ (तीर्थंकर आदि ने) प्रमाद को कर्म कहा है, तथा इसके विपरीत अप्रमाद को अकर्म (कहा है)। इन दोनो (कर्म अथवा प्रमाद तथा अकर्म) की सत्ता (अस्तित्व) की अपेक्षा से बालवीर्य अथवा पण्डितवीर्य (का व्यवहार) होता है।

विवेचन—तीर्थंकरोक्त वीर्य : स्वरूप और प्रकार—प्रस्तुत तीन सूत्रगाथाओ मे से प्रथम गाथा मे श्री सुधर्मा स्वामी से प्रश्न किया गया है—भगवान् महावीर द्वारा उक्त दो प्रकार के वीर्य का स्वरूप (वीर पुरुष का वीरत्व) क्या है, वह किन कारणो (किन-किन वीर्यों) से वीर कहलाता है ? द्वितीय गाथा मे कहा गया है—एकान्त कर्म प्रयत्न से निष्पादित और अकर्म को वीर्य बताने वाले अन्य लोगो का मत प्रदर्शित करके, इन्ही दो (कर्म और अकर्म) मे से तीर्थंकरोक्त दृष्टि से कारण मे कार्य का उपचार करके औदयिक भावनिष्पन्न अष्टविध कर्मजन्य को सकर्मवीर्य तथा जो कर्मोदय निष्पन्न न होकर जीव का वीर्यान्तरायजनित सहज वीर्य हो, उसे अकर्मवीर्य बताया है। सारे ससार के जीवो का वीर्य इन्ही दो भेदो मे विभक्त है। इसके पश्चात् तृतीय गाथा में तीर्थंकरोक्त द्विविध वीर्य को विशेष

स्पष्ट करने की दृष्टि से दोनो की शास्त्रीय सज्ञा बता दी है। कारण मे कार्य का उपचार करके प्रमाद को कर्म और अप्रमाद को अकर्म कहा गया है, अर्थात् प्रमादजनित कर्मों से युक्त जीव का कार्य बाल-वीर्य और अप्रमाद जनित अकर्मयुक्त जीव का कार्य पण्डितवीर्य है।[1]

पाठान्तर और व्याख्या—'**कम्ममेगे पवेदेंति अकम्म वावि सुव्वता**' के बदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—'**कम्ममेव पभासति अकम्मं वावि सुव्वता।**' अर्थात्—इस प्रकार सुव्रत—तीर्थंकर कर्म को वीर्य कहते है और अकर्म को भी।[2]

दोनो वीर्यों का आधार : प्रमाद और अप्रमाद जिसके कारण प्राणिवर्ग अपना आत्मभान भूलकर उत्तम अनुष्ठान से रहित हो जाता है, उसे 'प्रमाद' कहते है। वह पाच प्रकार का है—मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा। तीर्थंकरो ने प्रमाद को कर्मबन्धन का एक विशिष्ट कारण बताया है। प्रमाद के कारण जीव आत्मभाव रहित होकर कर्म बाँधता है, वह अपनी सारी शक्ति (वीर्य) धर्म-विपरीत, अधर्म या पापयुक्त कार्यों मे लगाकर कर्मबन्धन करता रहता है। इसलिए प्रमादयुक्त सकर्मा जीव का जो भी क्रियानुष्ठान होता है, उसे बालवीर्य कहा है। इसके विपरीत प्रमादरहित पुरुष के कार्य के पीछे सतत आत्मभान, जागृति एव विवेक होने के कारण उसके कार्य मे कर्मबन्धन नही होता, वह अपनी सारी शक्ति अप्रमत्त होकर कर्मक्षय करने, हिसादि आस्रवो तथा कर्मबन्ध के कारणो से दूर रहने एव स्व-भावरमण मे लगाता है। इसलिए ऐसे अप्रमत्त एव अकर्मा साधक के पराक्रम को पण्डितवीर्य कहा है। निष्कर्ष यह है कि बालवीर्य और पण्डितवीर्य का मुख्य आधार क्रमश प्रमाद और अप्रमाद है।[3]

बालजनों का सकर्मवीर्य : परिचय और परिणाम

४१४. सत्थमेगे सुसिक्खति, अतिवायाय पाणिण।
एगे मते अहिज्जति, पाणभूयविहेडिणो ॥४॥

४१५. माइणो कट्टु मायाओ, कामभोगे समारभे।
हता छेत्ता पकत्तित्ता, आयसायाणुगामिणो ॥५॥

४१६. मणसा वयसा चेव, कायसा चेव अंतसो।
आरतो परतो यावि, दुहा वि य असजता ॥६॥

४१७. वेराइ कुव्वती वेरी, ततो वेरेहिं रज्जती।
पावोवगा य आरंभा, दुक्खफासा य अंतसो ॥७॥

४१८. संपराग णियच्छति, अत्तदुक्कडकारिणो।
रोग-दोसस्सिया बाला, पाव कुव्वति ते बहु ॥८॥

---

१ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १६७-१६८ का साराश

२ सूयगडग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ७४

३ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १६८ का साराश

४१९. एतं सकम्मविरियं, बालाणं तु पवेदितं ।
एत्तो अकम्मविरियं पंडियाणं सुणेह मे ॥९॥

४१४ कई लोग प्राणियो का वध करने के लिए तलवार आदि शस्त्र (चलाना) अथवा धनुर्वेद आदि शास्त्र सीखते हैं । कई अज्ञजीव प्राणियो और भूतो के घातक (कष्टदायक) मन्त्रो को पढते है ।

४१५ माया करने वाले व्यक्ति माया (छल-कपट) करके कामभोगो मे प्रवृत्त होते है । अपने सुख के पीछे अन्धी दौड लगाने वाले वे लोग प्राणियो को मारते, काटते और चीरते हैं ।

४१६ असयमी व्यक्ति मन से, वचन से और काया से अशक्त होने पर भी (लौकिक शास्त्रो की उक्ति मानकर) इस लोक और परलोक दोनो के लिए दोनो तरह से (स्वय प्राणिवध करके और दूसरो से कराके) जीवहिसा करते है ।

४१७ प्राणिघातक, वैरी (शत्रु) बनकर अनेक जन्मो के लिए (जीवो से) वैर बाँध लेता (करता) है, फिर वह नये वैर मे सलग्न हो जाता है । (वास्तव मे) जीवहिसा (आरम्भ) पाप की परम्परा चलाती है । (क्योकि हिसादिजनित) पापकर्म अन्त (विपाक-फलभोगकाल) मे अनेक दु खो का स्पर्श कराते हैं ।

४१८ स्वय दुष्कृत (पाप) करने वाले जीव साम्परायिक कर्म बाँधते है, तथा वे अज्ञानी जीव राग और द्वेष का आश्रय लेकर बहुत पाप करते है ।

४१९ (पूर्वार्द्ध) यह अज्ञानी जनो का सकर्मवीर्य (बालवीर्य) कहा गया है ।

विवेचन—बालजनो का सकर्मवीर्य : परिचय और परिणाम— इन षट्सूत्रगाथाओ मे सकर्मवीर्य का प्रयोग प्रमादी-अज्ञजनो द्वारा कैसे-कैसे और किन-किन प्रयोजनो से किया जाता है ? इसका परिचय और इसका दुष्परिणाम प्रस्तुत किया गया है ।

ये सकर्मवीर्य कैसे ?—पूर्वोक्त गाथाओ मे बताए हुए जितने भी पराक्रम है, वे सभी सकर्मवीर्य या बालवीर्य इसलिए है, कि ये प्राणिघातक है, प्राणिपीडादायक है, कषायवर्द्धक है, वैरपरम्परावर्द्धक है, रागद्वेषवर्द्धक है, पापकर्मजनक हैं ।[५]

'सत्थं' शब्द के विभिन्न आशय—वृत्तिकार ने 'सत्थ' शब्द के दो सस्कृत रूपान्तर किये है— शस्त्र और शास्त्र । तलवार आदि शस्त्र तो प्राणिघातक है ही, निम्नोक्त शास्त्र भी प्राणिविघातक है –(१) धनुर्वेद (जिसमे जीव मारने का लक्ष्यवेध किया जाता है), (२) आयुर्वेद –जिसमे कतिपय रोगो का निवारण प्राणियो के रक्त, चर्बी, हड्डी, मास एव रस आदि से किया जाता है, (३) दण्ड— नीतिशास्त्र (जिसमे अपराधी को शूली या फासी पर चढाने की विधि होती है), (४) अर्थशास्त्र (कौटिल्य)—जिसमे धन लेने के लिए दूसरो को ठगने का उपाय बताया गया हो, (५) कामशास्त्र (जिसमे मैथुन प्रवृत्ति सम्बन्धी अशुभ विचार है) । इन सभी शास्त्रो का आश्रय लेकर अज्ञजन विविध पापकर्मों मे प्रवृत्त होकर पापकर्म का बन्ध करते हैं ।

---

५ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १६८-१६९ का साराश

प्राणिविघातक मंत्र—जो अथर्ववेदीय मंत्र अश्वमेध, नरमेध, सर्वमेध आदि जीववधप्रेरक यज्ञों के निमित्त पढ़े जाते हैं, अथवा जो प्राणियों के मारण, मोहन, उच्चाटन आदि के लिए पढ़े जाते हैं, वे सब मंत्र प्राणिविघातक हैं।[५]

पाठान्तर एवं व्याख्यान्तर—'**कामभोगे समारंभे**' के बदले पाठान्तर है—**आरंभाय तिउट्टइ**—अर्थात्—बहुत-से भोगार्थी जीव तीनों (मन, वचन और काया) से आरम्भ में या आरम्भार्थ प्रवृत्त होते हैं। '**संपरायं णियच्छति**' वृत्तिकारसम्मत इस पाठ और व्याख्या के बदले चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर और व्याख्यान्तर—**संपरागं णिय(ग)च्छति**—सम्पराग यानी संसार को प्राप्त करते हैं। '**असदुक्कडकारिणो**'—वृत्तिकारसम्मत इस पाठ और व्याख्या के बदले चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर एवं व्याख्यान्तर—'**अत्ता दुक्कडकारिणो**'—आर्त्त अर्थात् विषय-कषाय से आर्त्त (पीड़ित) होकर दुष्कृत (पाप) कर्म करने वाले।[६]

पण्डित (अकर्म) वीर्य-साधना के प्रेरणासूत्र

४२०. **दविए बंधणुम्मुक्के, सव्वतो छिण्णबंधणे।**
पणोल्ल पावगं कम्मं, सल्लं कंतति अंतसो ॥१०॥

४२१. **णेयाउयं सुयक्खातं, उवादाय समीहते।**
भुज्जो भुज्जो दुहावासं, असुभत्तं तहा तहा ॥११॥

४२२. **ठाणी विविहठाणाणि, चइस्सति न संसओ।**
अणितिए अयं वासे, णायएहि य सुहीहि य ॥१२॥

४२३. **एवमायाय मेहावी, अप्पणो गिद्धिमुद्धरे।**
आरियं उवसंपज्जे सव्वधम्ममकोवियं ॥१३॥

४२४. **सहसम्मुइए णच्चा, धम्मसारं सुणेत्तु वा।**
समुवट्ठिते अणगारे, पच्चक्खायपावए ॥१४॥

---

५ सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति में उद्धृत अन्य ग्रन्थों के प्रमाण—
(क) मुष्टिनाऽऽच्छादेयल्लक्ष्यं मुष्टौ दृष्टिं निवेशयेत्।
हतं लक्ष्यं विजानीयाद्यदि मूर्धा न कम्पते॥
(ख) षट्शतानि नियुज्यन्ते पशूनां मध्यमेऽहनि।
अश्वमेधस्यवचनान्न्यूनानि पशुभिस्त्रिभिः॥ —सूत्र० शी० वृत्ति पत्रांक १६८

६ (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १६९
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ. ७५

४२५. जं किंचुवक्कमं जाणे, आउक्खेमस्स अप्पणो ।
तस्सेव अंतरा खिप्पं, सिक्खं सिक्खेज्ज पंडिते ।।१५।।

४२६. जहा कुम्मे सअंगाइं, सए देहे समाहरे ।
एवं पावाइं मेधावी, अज्झप्पेण समाहरे ।।१६।।

४२७. साहरे हत्थ-पावे य, मणं सव्वेंदियाणि य ।
पावगं च परीणामं, भासादोसं च तारिसं ।।१७।।

४२८. अणु माणं च मायं च, तं परिण्णाय पंडिए ।
सातागारवणिहुते, उवसतेऽणिहे चरे ।।१८।।

४२९. पाणे य णाइवातेज्जा, अदिण्णं पि य णादिए ।
सादियं ण मुसं बूया, एस धम्मे वुसीमतो ।।१९।।

४३०. अतिक्कमं ति वायाए, मणसा वि ण पत्थए ।
सव्वतो सवुडे दंते, आयाणं सुसमाहरे ।।२०।।

४३१. कडं च कज्जमाणं च, आगमेस्सं च पावगं ।
सव्वं तं णाणुजाणंति, आयगुत्ता जिइंदिया ।।२१।।

४१९ (उत्तरार्द्ध) अब यहाँ से पण्डितो (उत्तम विज्ञ साधुओ) के अकर्मवीर्य के सम्बन्ध मे मुझसे सुनो ।

४२० पण्डित (अकर्म) वीर्य पुरुष द्रव्य (भव्य-मुक्तिगमन योग्य अथवा द्रव्यभूत-अकषायी) होता है, कषायात्मक बन्धनो से उन्मुक्त होता है । जो सब प्रकार से कषायात्मक बन्धन काट चुका है, तथा वह पापकर्मो (पापकर्म के कारणभूत आश्रवो) को हटाकर अपने शल्य-तुल्य शेष कर्मो को भी सर्वथा काट देता है ।

४२१ (पण्डितवीर्य) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्ष के प्रति ले जाने वाला है, ऐसा तीर्थंकरो ने कहा है । (पण्डितवीर्य सम्पन्न साधक) इसे ग्रहण करके मोक्ष (ध्यान, स्वाध्याय आदि मोक्ष साधक अनुष्ठानो) के लिए सम्यक् उद्यम करता है । (पण्डित साधक धर्मध्यानारोहण के लिए यो अनुप्रेक्षा करे—) (बालवीर्य अतीत और भविष्य के अनन्त भावो तक) बार-बार दु ख का आवास है । बालवीर्यवान् ज्यो-ज्यो नरकादि दु खस्थानो मे भटकता है, त्यो-त्यो उसका अध्यवसाय अशुद्ध होते जाने से अशुभ कर्म ही बढता है ।

४२२ " नि सन्देह उच्च स्थानो (देवलोक मे इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश आदि तथा मनुष्यलोक मे चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि पदो) पर स्थित सभी जीव एक दिन (आयुष्य क्षय

होते ही) अपने-अपने (विविध) स्थानो को छोड देंगे। ज्ञातिजनो और सुहृद्जनो के साथ जो सवास है, वह भी अनियत-अनित्य है।"[७]

४२३ इस (पूर्वोक्त) प्रकार से विचार करके मेधावी साधक इन सबके प्रति अपनी गृद्धि (आसक्ति) हटा दे तथा समस्त (अन्य) धर्मों से अदूषित (अकोपित) आर्यों (तीर्थंकरो) के इस सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रात्मक मोक्षमार्ग को स्वीकार (आश्रय) करे।

४२४ सन्मति (निर्मल बुद्धि) से धर्म के सार (परमार्थतत्त्व) को जानकर अथवा सुनकर धर्म के सारभूत चारित्र के या आत्मा के ज्ञानादि निज गुणो के उपार्जन मे उद्यत अनगार (पण्डितवीर्य-सम्पन्न व कर्मक्षय के लिए कटिबद्ध साधक) पाप(-युक्त अनुष्ठान) का त्याग कर देता है।

४२५ पण्डित (वीर्य सम्पन्न) साधु यदि किसी प्रकार अपनी आयु का उपक्रम (क्षय-कारण) जाने तो उस उपक्रमकाल के अन्दर (पहले से) ही शीघ्र सलेखना रूप या भक्तपरिज्ञा एव इगितमरण आदि रूप पण्डितमरण की शिक्षा का प्रशिक्षण ले—ग्रहण करे।

४२६ जैसे कछुआ अपने अगो को अपने शरीर मे छिपा लेता है, इसी प्रकार से मेधावी (मर्यादावान् पण्डित) पापो (पापरूप कार्यों) को अध्यात्म (सम्यग् धर्मध्यानादि की) भावना से समेट ले (सकुचित कर दे)।

४२७ पादपोपगमन, इगितमरण या भक्त परिज्ञादि रूप अनशन काल या अन्तकाल मे पण्डित साधक कछुए की तरह अपने हाथ-पैरो को समेट ले (समस्त व्यापारो से रोक ले), मन को अकुशल (बुरे) सकल्पो से रोके, इन्द्रियो को (अनुकूल-प्रतिकूल विषयो मे रागद्वेष छोडकर) सकुचित कर ले। (इहलोक-परलोक मे सुख प्राप्ति की कामना रूप) पापमय परिणाम का तथा वैसे (पापरूप) भाषा-दोष का त्याग करे।

४२८ पण्डित साधक थोडा-सा भी अभिमान और माया न करे। मान और माया का अनिष्ट फल जानकर सद्-असद् विवेकी साधक साता (सुख सुविधाप्राप्ति के) गौरव (अहकार) मे उद्यत न हो तथा उपशान्त एव नि स्पृह अथवा माया रहित (अनिह) होकर विचरण करे।

४२९ वह प्राणियो का घात न करे तथा अदत्त (बिना दिया हुआ पदार्थ) भी ग्रहण न करे एव माया-मृषावाद न करे, यही जितेन्द्रिय (वश्य) साधक का धर्म है।

४३० प्राणियो के प्राणो का अतिक्रम (पीडन) (काया से करना तो दूर रहा) वाणी से भी न करे, तथा मन से भी न चाहे तथा बाहर और भीतर सब ओर से सवृत (गुप्त) होकर रहे, एव इन्द्रियो का दमन करता हुआ साधु आदान (मोक्षदायक सम्यग्दर्शनादि रूप सयम) की तत्परता के साथ समाराधना करे।

---

७ सूत्रगाथा ४२१ के उत्तरार्द्ध एव ४२२ मे धर्मध्यानारोहण मे अवलम्बन के लिए क्रमश ससार (ससारदु खस्वरूप की) अनुप्रेक्षा, और अनित्यानुप्रेक्षा विहित है। ४२२वी गाथा मे पठित दो 'य' कार से अशरण आदि शेष अनुप्रेक्षाओ का आलम्बन सूचित किया गया है। —सूत्र० कृ० शी० वृत्ति पत्राक १७०-१७१

४३१ (पाप से) आत्मा के गोप्ता (रक्षक) जितेन्द्रिय साधक किसी के द्वारा (अतीत मे) किया हुआ, (वर्तमान मे) किया जाता हुआ और भविष्य में किया जाने वाला जो पाप है, उस सबका (मन-वचन-काया से) अनुमोदन-समर्थन नही करते ।

विवेचन—पण्डित (अकर्म) वीर्य साधना के प्रेरणा सूत्र—प्रस्तुत १३ सूत्रगाथाओ (सू० गा० ४१९ से ४३१ तक) मे पण्डितवीर्य की साधना के लिए २८ प्रेरणासूत्र फलित होते है—(१) वह भव्य (मोक्षगमन योग्य) हो, (२) अल्पकषायी हो, (३) कषायात्मक बन्धनो से उन्मुक्त हो, (४) पापकर्म के कारणभूत आश्रवो को हटाकर और कषायात्मक बन्धनो को काटकर शल्यवत् शेष कर्मो को काटने के लिए उद्यत रहे । (५) मोक्ष की ओर ले जाने वाले (नेता) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के लिए पुरुषार्थ करे, (६) ध्यान, स्वाध्याय आदि मोक्षसाधक अनुष्ठानो में सम्यक् उद्यम करे, (७) धर्मध्यानारोहण के लिए बालवीर्य की दु ख-प्रदता एव अशुभ कर्मबन्धकारणता का तथा सुगतियो मे भी उच्च स्थानो एव परिजनो के साथ सवास की अनित्यता का अनुप्रेक्षण करे, (८) इस प्रकार के चिन्तनपूर्वक इन सबके प्रति अपनी आसक्ति या ममत्वबुद्धि हटा दे, (९) सर्वधर्ममान्य इस आर्य (रत्नत्रयात्मक मोक्ष) मार्ग को स्वीकार करे, (१०) पवित्र बुद्धि से धर्म के सार को जान-सुनकर आत्मा के ज्ञानादि गुणो के उपार्जन मे उद्यम करे, (११) पापयुक्त अनुष्ठान का त्याग करे, (१२) अपनी आयु का उपक्रम किसी प्रकार से जान जाए तो यथाशीघ्र सलेखना रूप या पण्डित मरणरूप शिक्षा ग्रहण करे, (१३) कछुआ जैसे अगो का सकोच कर लेता है, वैसे ही पण्डितसाधक पापरूप कार्यों को सम्यक् धर्मध्यानादि की भावना से सकुचित कर ले, (१४) अनशनकाल मे समस्त व्यापारो से अपने हाथ-पैरो को, अकुशल सकल्पो से मन को रोक ले तथा इन्द्रियो को अनुकूल-प्रतिकूल विषयो में राग-द्वेष छोडकर सकुचित कर ले, (१५) पापरूप परिणाम वाली दुष्कामनाओं का तथा पापरूप भाषादोष का त्याग करे, (१६) लेशमात्र भी अभिमान और माया न करे, (१७) इनके अनिष्ट फल को जानकर सुखप्राप्ति के गौरव मे उद्यत न हो, (१८) उपशान्त तथा नि स्पृह या मायारहित होकर विचरण करे, (१९) वह प्राणिहिंसा न करे, (२०) अदत्त ग्रहण न करे, (२१) मायासहित असत्य न बोले, (२२) प्राणियो के प्राणो का उत्पीडन काया से ही नही, वचन और मन से भी न करे, (२३) बाहर और अन्दर से सवृत (गुप्त) होकर रहे, (२४) इन्द्रिय-दमन करे, (२५) मोक्षदायक सम्यग्दर्शनादिरूप सयम की आराधना करे, (२६) पाप से आत्मा को बचाए, (२७) जितेन्द्रिय रहे और (२८) किसी के द्वारा अतीत मे किये हुए, वर्तमान मे किया जाते हुए और भविष्य मे किये जाने वाले पाप का मन-वचन-काया से अनुमोदन भी न करे ।[८]

कठिन शब्दो की व्याख्या—दविए—वृत्तिकार ने इसके तीन अर्थ किये हैं—**(१) द्रव्य**—भव्य (मुक्तिगमनयोग्य), (२) **द्रव्यभूत**—अकषायी, और (३) वीतरागवत् अल्पकषायी वीतराग । यद्यपि छठे सातवे गुणस्थान (सरागधर्म) मे स्थित साधक सर्वथा कषायरहित नही होता, तथापि अनन्तानुबधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय न होने से तथा सज्वलन कषाय का भी तीव्र उदय न होने से वह अकषायी वीतराग के समान ही होता है । **नेयाउय**—वृत्तिकार ने दो अर्थ किये है—नेता—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग अथवा श्रुतचारित्ररूप

---

८ सूत्रकृताग शीलांकवृत्ति पत्राक १७० से १७३ तक का साराश

धर्म, जो मोक्ष की ओर ले जाने वाला है। **सव्वधम्ममकोविय**—इसके दो अर्थ वृत्तिकार ने किये हैं—(१) सभी कुतीर्थिक धर्मों द्वारा अकोपित-अदूषित (२) सभी धर्मों-अनुष्ठानरूप स्वभावो से जो अगोपित—प्रकट है। **सिक्खं सिक्खेज्ज**--शिक्षा से यथावत् मरणविधि जानकर आसेवनशिक्षा से उसका अभ्यास करे।[९]

पाठान्तर और व्याख्या—'**अणुमाण पडिए**' (गा० ४२८) के बदले पाठान्तर है—'**अइमाणं च···परिण्णाय पण्डिए**', अर्थ होता है—अतिमान और अतिमाया, ये दोनो दु खावह होते है, यह जानकर पण्डित-साधक इनका परित्याग करे। आशय यह है—सरागावस्था मे कदाचित् मान या माया का उदय हो जाए, तो भी उस उदयप्राप्त मान या माया का विफलीकरण कर दे। इसी पक्ति के स्थान मे दो पाठान्तर मिलते है—(१) '**सुय मे इहमेगेसि एयं वीरस्स वीरियं**' तथा (२) '**आयतट्ठं सुआदाय एयं वीरस्स वीरियं**।[१०] **प्रथम पाठान्तर का भावार्थ**—जिस बल से सग्राम मे शत्रुसेना पर विजय प्राप्त की जाती है, वह परमार्थ रूप से वीर्य नही है, अपितु जिस बल मे काम-क्रोधादि आन्तरिक रिपुओ पर विजय प्राप्त की जाती है, वही वास्तव मे वीर-महापुरुष का वीर्य है, यह वचन मैने इस मनुष्यजन्म मे या ससार मे तीर्थकरो से सुना है। **द्वितीय पाठान्तर का भावार्थ**—आयत यानी मोक्ष। आयतार्थ—मोक्षरूप अर्थ या मोक्ष रूप प्रयोजन साधक सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मार्ग। उसको सम्यक् प्रकार से ग्रहण करके जो धृतिबल से काम-क्रोधादि पर विजय पाने के लिए पराक्रम करता है, यही वीर का वीर्य है।[११]

अशुद्ध और शुद्ध पराक्रम ही बालवीर्य और पण्डितवीर्य

४३२. **जे याऽबुद्धा महाभागा वीरा असम्मत्तदसिणो।**
असुद्धं तेसि परक्कत, सफल होइ सव्वसो ॥२२॥

४३३. **जे य बुद्धा महाभागा, वीरा सम्मत्तदसिणो।**
सुद्ध तेसि परक्कत, अफल होति सव्वसो ॥२३॥

४३४. **तेसि पि तवोऽसुद्धो, निक्खता जे महाकुला।**
ज नेवऽन्ने वियाणति, न सिलोग पवेदए ॥२४॥

---

९ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १७०-१७१
(ख) सिद्धान्त सूत्र—"कि सक्का बोत्तु जे सरागधम्ममि कोइ अकसायी।
सते वि जो कसाए निगिण्हइ, सोऽवि ततुल्लो ॥" —सू० कृ० वृत्ति प० १७० मे उदधृत

१० (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १७२
(ख) सूयगडग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० १७६

११ गाथा सख्या १८ से आगे १९वी गाथा चूर्णि मे अधिक है, वह इस प्रकार है
"उड्ढमधे तिरियं दिसासु जे पाणा तस-थावरा।
सव्वत्थ विरतिं कुज्जा, सतिनिव्वाणमाहित ॥"
यह गाथा इसी सूत्र के तृतीय अध्ययन (सू० २४४) मे तथा ११वें अध्ययन (सू० ५०७) मे मिलती है।

४३२. जो व्यक्ति अबुद्ध (धर्म के वास्तविक तत्त्व से अनभिज्ञ) है, किन्तु जगत् मे महाभाग महापूज्य या लोकविश्रुत) (माने जाते) है, एव शत्रुसेना (या प्रतिवादी) को जीतने मे वीर (वाग्वीर) हैं, तथा असम्यक्त्वदर्शी (मिथ्यादृष्टि) है, उन (सम्यक्तत्त्व परिज्ञानरहित) लोगो का तप, दान, अध्ययन, यमनियम आदि मे किया गया पराक्रम (वीर्य) अशुद्ध है, उनका सबका सब पराक्रम कर्म-बन्धरूप फलयुक्त होता है ।

४३३ जो व्यक्ति पदार्थ के सच्चे स्वरूप के ज्ञाता (बुद्ध) हैं, महाभाग (महापूज्य) है, कर्म-विदारण करने मे सहिष्णु या ज्ञानादि गुणो से विराजित (वीर) है तथा सम्यक्त्वदर्शी (सम्यग्दृष्टि-परमार्थतत्त्वज्ञ) हैं, उनका तप, अध्ययन, यम, नियम आदि मे समस्त पराक्रम शुद्ध और सर्वथा कर्म-बन्धरूप फल से रहित (निरनुबन्ध) (सिर्फ कर्मक्षय के लिए) होता है ।

४३४ जो महाकुलोत्पन्न व्यक्ति प्रव्रजित होकर पूजा-सत्कार के लिए तप करते हैं, उनका तप (रूप पराक्रम) भी शुद्ध नही है । जिस तप को अन्य (दानादि मे श्रद्धा रखने या श्राद्ध-श्रावक आदि) व्यक्ति न जाने, (इस प्रकार से गुप्त तप आत्मार्थी को करना चाहिए ।) और न ही (अपने मुख से) अपनी प्रशसा करनी चाहिए ।[१२]

विवेचन—अशुद्ध और शुद्ध पराक्रम ही बालवीर्य और पण्डितवीर्य—प्रस्तुत तीन सूत्रगाथाओं मे शास्त्रकार अशुद्ध और शुद्ध पराक्रम के आधार पर बालवीर्य और पण्डितवीर्य का अन्तर समझाते है । तीनो गाथाओ पर से भगवान् महावीर की त्रिविध शुद्धि की स्पष्ट दृष्टि परिलक्षित होती है—(१) साधन भी शुद्ध हो, (२) साध्य भी शुद्ध हो, (३) साधक भी शुद्ध हो । साधक चाहे जितना प्रसिद्ध हो, लोक-पूजनीय हो, परन्तु यदि उसकी दृष्टि सम्यक् नही है, वह परमार्थ तत्त्व से अनभिज्ञ है तो वह अशुद्ध है । उसके द्वारा तप, दान, अध्ययन, यम, नियम आदि शुद्ध कहलाने वाले साधनो के लिए किया जाने वाला पराक्रम, भले ही वह मोक्ष रूप शुद्ध साध्य को लक्ष्य मे रखकर किया गया हो, अशुद्ध ही है, वह कर्मबन्धन से मोक्ष दिलाने वाला न होकर कर्मबन्ध रूप (ससार) फल का दायक होगा । इसके विपरीत जो व्यक्ति परमार्थ तत्त्व का ज्ञाता (प्रबुद्ध) है, लोकप्रसिद्ध पूजनीय भी है, सम्यग्दृष्टि है, वह शुद्ध है, उसके द्वारा मोक्षरूप शुद्ध साध्य को लक्ष्य मे रखकर कर्मक्षयहेतु से तप, अध्ययन, यम नियमादि शुद्ध साधनो के विषय मे किया जाने वाला पराक्रम शुद्ध है, वह कर्मबन्धरूप फल (ससार) का नाशक एव मोक्षदायक होगा । अशुद्ध पराक्रम बालवीर्य का और शुद्ध पराक्रम पण्डितवीर्य का द्योतक है । तीसरी गाथा (सू० गा० ४३४) मे भी अशुद्ध साध्य को लक्ष्य मे रखकर महाकुलीन प्रव्रजित साधक द्वारा तपस्यारूप शुद्ध साधन के लिए किया जाने वाला पराक्रम अशुद्ध बताया गया है, क्योकि जो तपस्या मोक्षरूप साध्य की उपेक्षा करके केवल इहलौकिक-पारलौकिक सुखाकाक्षा, स्वार्थसिद्धि, प्रशसा, प्रसिद्धि या पूजा आदि को लक्ष्य मे रखकर की जाति है, उस तपस्वी का वह पराक्रम अशुद्ध, कर्मबन्धकारक, ससार-फलदायक होता है, वह कर्मनिर्जरा (कर्मक्षय) रूप मोक्ष नही दिलाता ।[१३] दशवैकालिक सूत्र मे इहलौकिक-पारलौकिक कामना, एव कीर्ति आदि की लालसा

---

१२ चूर्णि मे इसके आगे एक गाथा अधिक मिलती है—

"तेसिं तु तवो सुद्धो निक्खता जे महाकुला ।
अवमाणिते परेण तु ण सिलोग वयति ते ।।"—अर्थ स्पष्ट है ।

१३ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्रांक १७४ पर से

से तपश्चरण का निषेध है, सिर्फ निर्जरार्थ (कर्मक्षयार्थ) तप का विधान है।[१४]

अबुद्धा—इसकी दो व्याख्याएँ वृत्तिकार ने की है—(१) जो व्यक्ति अबुद्ध है अर्थात्—धर्म के परमार्थ से अनभिज्ञ है, वे व्याकरणशास्त्र, शुष्कतर्क आदि के ज्ञान से बडे अहकारी बनकर अपने आपको पण्डित मानते हैं, किन्तु उन्हे यथार्थ वस्तुतत्त्व का बोध न होने के कारण अबुद्ध है। (२) अथवा बालवीर्यवान् व्यक्तियो को अबुद्ध कहते है।[१५]

बालजनो का पराक्रम—अनेक शास्त्रो के पण्डित एव त्यागादि गुणो के कारण लोकपूज्य एव वाणीवीर होते हुए सम्यक्तत्त्वज्ञान से रहित मिथ्यादृष्टि बालजन ही है। उनके द्वारा तप, दान अध्ययन आदि मे किया गया कोई भी पराक्रम आत्मशुद्धिकारक नही होता, प्रत्युत कर्मबन्धकारक होने से आत्मा को अशुद्ध बना देता है। जैसे कुवैद्य की चिकित्सा से रोगनाश न होकर उलटे रोग मे वृद्धि होती है, वैसे ही उन अज्ञानी मिथ्यादृष्टिजनो की तप आदि समस्त क्रियाएँ भव-भ्रमणरोग के नाश के बदले भवभ्रमण मे वृद्धि करती है।[१६]

पण्डितवीर्य-साधना का आदर्श

४३५. अप्पपिंडासि पाणासि, अप्प भासेज्जा सुव्वते।
खंतेऽभिनिव्वुडे दते, वीतगेही सदा जते ॥२५॥

४३६. झाणजोगं समाहट्टु, कायं विउसेज्ज सव्वसो।
तितिक्खं परमं णच्चा, आमोक्खाए परिव्वएज्जासि ॥२६॥—त्ति बेमि

॥ वीरियं : अट्ठम अज्झयणं सम्मत्तं ॥

४३५ सुव्रत (महाव्रती) साधु उदरनिर्वाह के लिए थोडा-सा आहार करे, तदनुसार थोडा जल पीए, इसी प्रकार थोडा बोले। वह सदा क्षमाशील, (या कष्टसहिष्णु), लोभादि से रहित, शान्त, दान्त, (जितेन्द्रिय) एव विषय भोगो मे अनासक्त रहकर सदैव सर्व प्रवृत्तियो मे यतना करे अथवा सयम पालन मे प्रयत्न (पुरुषार्थ) करे।

---

१४ तुलना कीजिए—'नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नो कित्ति-वन्न-सद्द-सिलो गट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा। —दशवैकालिक सूत्र अ० ९ उ० ४ सू० ४

१५ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १७४
(ख) शास्त्रावगाह-परिघट्टन तत्परोऽपि।
नैवाऽबुध समभिगच्छति वस्तुतत्त्वम्॥

१६ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १७४
(ख) सम्यग्दृष्टि का समस्त अनुष्ठान सयम-तप प्रधान होता है, उनका सयम अनाश्रव (सवर) रूप और तप निर्जरा फलदायक होता है। कहा भी है—'सजमे अणण्हयफले तवे वोदाणफले।'

४३६ साधु ध्यानयोग को सम्यक् प्रकार से ग्रहण करके पूर्ण रूप से काया का व्युत्सर्ग करे (अनिष्ट प्रवृत्तियो से शरीर को रोके)। परीषहोपसर्ग सहनरूप तितिक्षा को प्रधान (सर्वोत्कृष्ट) साधना समझकर मोक्ष पर्यन्त सयम-पालन मे पराक्रम करे। —यह मै कहता हूँ।

विवेचन—पण्डितवीर्य-साधना का आदर्श—अध्ययन का उपसहार करते हुए शास्त्रकार ने सूत्रगाथाद्वय द्वारा पण्डितवीर्य की साधना का आदर्श प्रस्तुत किया है।

साधक के पास मन, वचन और काया, ये तीन बडे साधन है, इन तीनो मे बहुत बडी शक्ति है। परन्तु अगर वह मन की शक्ति को विषयोपभोगो की प्राप्ति के चिन्तन, कषाय या राग-द्वेष-मोह आदि मे या दु सकल्प, दुर्ध्यान आदि करने मे लगा देता है तो वह आत्मा के उत्थान की ओर गति करने के बजाय पतन की ओर गति करता है। इसी प्रकार वचन की शक्ति को कर्कश, कठोर, हिंसा-जनक, पीडाकारी, सावद्य, निरर्थक, असत्य या कपटमय वाणी बोलने मे लगाता है, वाणी का समीचीन उपयोग नही करता है तो भी वह अपनी शक्ति बालवीर्य साधना मे लगाता है, काया को भी केवल खाने-पीने, पुष्ट बनाने, सजाने सवारने, या आहार-पानी, वस्त्र, मकान आदि पदार्थो के अधिकाधिक उपभोग मे लगाता है, तो भी वह अपनी शक्ति का अपव्यय करता है। इसलिए शास्त्रकार पण्डितवीर्य साधक के समक्ष उसके त्याग-तप-प्रधान जीवन के अनुरूप एक आदर्श की झाकी प्रस्तुत करते है। एक आचार्य भी इसी आदर्श का समर्थन करते है—"जो साधक थोडा आहार करता है, थोडा बोलता है, थोडी निद्रा लेता है, अपने सयम के उपकरण और साधन बहुत ही कम रखता है, उसे देवता भी प्रणाम करते है।"[१७] एक ओर साधक को धर्मपालन के लिए शरीर को स्वस्थ एव सक्षम रखना है, दूसरी ओर सयम, तप और त्याग का भी अधिकाधिक अभ्यास करना है, इस दृष्टि से निम्नोक्त तथ्य गाथाद्वय मे से प्रतिफलित होते है—

(१) साधक अल्पतम आहार, अल्प पानी, अल्प निद्रा, अल्प भाषण, अल्प उपकरण एव साधन से जीवननिर्वाह करे, वह द्रव्य-भाव से उनोदरी तप का अभ्यास करे।

(२) शरीर से चलने फिरने, उठने-बैठने, सोने-जागने, खाने-पीने आदि की जो भी प्रवृति करनी है, वह भी निरर्थक न की जाए जो भी प्रवृत्ति की जाए, वह दशवैकालिक सूत्र के निर्देशानुसार सदैव यतनापूर्वक ही की जाए।[१८]

---

१७ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १७४-१७५ के आधार पर

(ख) 'थोवाहारो थोवभणिओ अ जो होइ थोवनिद्दे य।
थोवोवहि-उवकरणो तस्स हु देवा वि पणमति ॥' —सू० कृ० शी० वृत्ति मे उद्धृत पत्राक १७५

१८ सदा जते (जए)—तुलना करें—

(क) जय चरे जय चिट्ठे जयमासे जय सए।
जय भुजतो भासतो, पावकम्म न बधइ ॥ —दशवैका० अ० ४/८

(ख) यतं चरे यत तिट्ठे, यत अच्छे यत सये।
यतं समिञ्जए भिक्खु यतमेन पसारए ॥ —सुत्तपिटक खुद्दकनिकाय इतिवुत्तक पृ० २६२

(ग) सूयगडग चूर्णि मू० पा० टिप्पण पृ० ३६६

(३) पॉचो इन्द्रियो का उपयोग भी अनासक्तिपूर्वक अत्यन्त अल्प किया जाए, इन्द्रियो के मनोज्ञअमनोज्ञ विषयो पर रागद्वेष न किया जाए, इन्द्रियो का दमन किया जाए।

(४) काया से ममत्व का व्युत्सर्ग किया जाए, उसे सभी प्रकार से बुरी प्रवृत्तियो से रोका जाए। केवल सयमाचरण मे लगाया जाए।

(५) काया इतनी कष्टसहिष्णु बना ली जाए कि प्रत्येक परीषह और उपसर्ग समभाव पूर्वक सह सके। तितिक्षा को ही इस साधना मे प्रधान समझे।

(६) मन को क्षमाशील, कषायादि रहित, विषय-भोगो मे अनासक्त, इहलौकिक-पारलौकिक निदानो (सुखाकाक्षाओ), यश, प्रसिद्धि, प्रशसा आदि की लालसा से दूर रखना है।

(७) मन-वचन-काया को समस्त व्यापारो से रोककर मन को पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत इन चारो प्रकार के ध्यानो मे से किसी एक के द्वारा धर्मध्यान या शुक्लध्यान के अभ्यास मे लगाना है।

(८) सारी शक्तिया जीवनपर्यन्त आत्मरमणता या मोक्ष-साधना मे लगानी है।

पण्डितवीर्य की साधना मे शरीर गौण होता है, आत्मा मुख्य। अत शरीर की भक्ति छोडकर ऐसे साधक को आत्म-भक्ति पर ही मुख्यतया ध्यान देना चाहिए। तभी उसकी शक्ति सफल हो सकेगी, उसका समग्र जीवन भी पण्डितवीर्य की साधना मे लगेगा और उसकी मृत्यु भी इसी साधना (पण्डित-मरण की साधना) मे होगी।[१९]

वीतगेही—इसके दो अर्थ किये गए है—(१) विषयो की आकाक्षारहित (२) चूर्णिकार के अनुसार—निदानादि मे गृद्धि से विमुक्त, जो परिपूर्ण होने पर न तो राग (मोह) करता है और न ही किसी पदार्थ को पाने की आकाक्षा करता है।[२०]

।। वीर्य : अष्टम अध्ययन समाप्त ।।

---

१९. सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १७५

२० (क) सूयगडग चूर्णि मू० पा० टिप्पण ७८

(ख) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १७५

धर्म : नवम अध्ययन

प्राथमिक

- सूत्रकृताग सूत्र (प्र० श्रु०) के नवम अध्ययन का नाम 'धर्म' है।

- धर्म शब्द शुभकर्म, कर्तव्य, कुशल अनुष्ठान, सुकृत, पुण्य, सदाचार, स्वभाव, गुण, पर्याय, धर्मास्तिकाय, द्रव्य, मर्यादा, रीति, व्यवहार आदि अर्थों मे प्रयुक्त होता है।[1]

- निर्युक्तिकार ने नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव की दृष्टि से धर्म के चार निक्षेप किये है। नाम और स्थापना धर्म तो सुगम है। द्रव्यधर्म सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्य के स्वभाव अर्थ मे है। अथवा षड्द्रव्यो मे जो जिसका स्वभाव है, वह उसका द्रव्य धर्म है। इसके अतिरिक्त कुल, ग्राम, नगर, राष्ट्र आदि से सम्बधित जो गृहस्थो के नियमोपनियम, मर्यादाएँ, कर्त्तव्य अथवा दायित्व के रूप मे कुलधर्म, ग्रामधर्म आदि है उन्हे तथा अन्नपुण्य आदि नौ प्रकार के पुण्य है, उन्हे भी द्रव्यधर्म समझना चाहिए।

- भावधर्म के दो प्रकार है—लौकिक और लोकोत्तर। लौकिक धर्म दो प्रकार के है—गृहस्थो का और पाषण्डियो का। लोकोत्तर धर्म सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र के भेद से तीन प्रकार का है। निर्युक्तिकार के अनुसार प्रस्तुत अध्ययन मे भावधर्म का ही अधिकार है, क्योकि वही वस्तुत धर्म है।[2]

- प्रस्तुत अध्ययन मे ज्ञान-दर्शन-चारित्रसम्पन्न साधु के लिए वीतरागप्ररूपित लोकोत्तर धर्म (आचार-विचार) का निरूपण किया गया है। विशेषत षड्जीवनिकाय के आरम्भ, परिग्रह आदि मे ग्रस्त व्यक्ति इह-परलोक मे दु खमुक्त नही हो सकते, इसलिए साधु को परमार्थ (मोक्षमार्ग) का विचार करके निर्ममत्व, निरारम्भ, निरहकार, निरपेक्ष एव निष्परिग्रह होकर सयम धर्म मे उद्यम करने का निर्देश किया गया है, तथा मृषावाद, मैथुन, परिग्रह, अदत्तादान, माया, लोभ, क्रोध, मान आदि को तथा शोभा के लिए प्रक्षालन, रजन, वस्तीकर्म, विरेचन,

---

१. पाइअ-सद्द-महण्णवो पृ० ४८५

२. (क) सूत्रकृताग निर्युक्ति गा० ९९ से १०१,
   (ख) सूत्रकृतांग शीलाकवृत्ति पत्राक १७५-१७६

वमन, अजन, गन्ध, माल्य, स्नान, दन्त-प्रक्षालन, वस्तु-परिग्रह (सग्रह), हस्तकर्म, औद्देशिक आदि दोषयुक्त आहारसेवन, रसायन-सेवन, मर्दन, ज्योतिषप्रश्न, सासारिक बाते, शय्यातरपिण्ड ग्रहण, द्यूतक्रीडा, कर्मविरुद्ध कथन, जूता, छाता, पखे से हवा करना, गृहस्थ पात्र-वस्त्र-सेवन, कुर्सी-पलग का उपयोग, गृहस्थ के घर मे बैठना, उनका कुशल पूछना, पूर्वक्रीड़ितस्मरण, यश-कीर्ति, प्रशसा, वन्दन-पूजन, असयमोत्पादक अशन-पान तथा भाषादोष साधु के संयम धर्म को दूषित करने वाले आचार-व्यवहार के त्याग का उपदेश है।[३]

☐ उद्देशकरहित इस अध्ययन की कुल ३६ (चूर्णि के अनुसार १७) गाथाएँ हैं।

☐ यह अध्ययन सूत्रगाथा ४३७ से प्रारम्भ होकर ४७२ पर समाप्त होता है।

☐☐

३. (क) सूयगडग सुत्तं (मूलपाठ टिप्पण) पृ० ७९ से ८४ तक का सारांश
(ख) जैनसाहित्य का बृहद् इतिहास भाग १, पृ० १४९-१५०

धम्मे—नवमं अज्झयणं

धर्म : नवम अध्ययन

जिनोक्त श्रमणधर्माचरण—क्यों और कैसे ?

४३७. कतरे धम्मे अक्खाते माहणेण मतीमता।
अंजुं धम्मं अहातच्चं जिणाणं तं सुणेह मे ॥१॥

४३८. माहणा खत्तिया वेस्सा, चंडाला अदु बोक्कसा[1]।
एसिया वेसिया सुद्दा, जे य आरंभणिस्सिता ॥२॥

४३९. परिग्गहे निविट्ठाणं, वेरं तेसिं पवड्ढई।
आरंभसंभिया कामा, न ते दुक्खविमोयगा ॥३॥

४४०. आघातकिच्चमाधातुं नायओ विसएसिणो।
अन्ने हरंति तं वित्तं, कम्मी कम्मेहिं कच्चति ॥४॥

४४१. माता पिता ण्हुसा भाया, भज्जा पुत्ता य ओरसा।
णालं ते तव ताणाए, लुप्पंतस्स सकम्मुणा[2] ॥५॥

४४२. एयमट्ठं सपेहाए, परमट्ठाणुगामियं।
निम्ममो निरहंकारो, चरे भिक्खू जिणाहितं ॥६॥

---

१ तुलना करें—"खत्तिया माहणा वेस्सा सुद्दा चण्डालपुक्कसा ॥
—सुत्तपिटक खुद्दकनिकाय जातकपालि भा०-१, पृ० ११९

२ तुलना—(क) उत्तराध्ययन सूत्र अ० ६/३ मे यह गाथा प्रायश. मिलती है।
(ख) 'नाल ते तव ताणाए वा सरणाए वा'—आचा० प्र० श्रु० सू० ६४, ६६, ६७, ८१
—आचाराग विवेचनयुक्त प्र० श्रु० अ० २, उ० १, ४, पृ० ४१, ४३, ४४, ४५

**४४३. चेच्चा वित्तं च पुत्ते य, णायओ य परिग्गहं ।
चेच्चाण अंतगं सोय निरवेक्खो परिव्वए ।।७।।**

४३७ केवलज्ञानसम्पन्न, महामाहन (अहिंसा के परम उपदेष्टा) भगवान् महावीर स्वामी ने **कौनसा** धर्म बताया है ? जिनवरो के (द्वारा उपदिष्ट) उस सरल धर्म को यथार्थ रूप से मुझसे सुनो ।

४३८-४३९ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, चाण्डाल अथवा वोक्कस (अवान्तर जातीय वर्णसकर), एषिक (शिकारी, हस्तितापस अथवा कन्दमूलादि भोजी पाषण्डी), वैशिक (माया-प्रधानकलाजीवी-जादूगर) तथा शूद्र और जो भी आरम्भ मे आसक्त जीव है, एव जो विविध परिग्रह मे मूर्च्छित है, उनका दूसरे प्राणियो के साथ वैर बढता है । वे काम-भोग मे प्रवृत्त (विषयलोलुप) जीव आरम्भ से परिपूर्ण (आरम्भमग्न) है । वे दु खो से या दु खरूप कर्मों से मुक्त नही हो सकते ।

४४० विषय (सासारिक) सुख के अभिलाषी ज्ञातिजन या अन्य लोग दाहसस्कार आदि मरणोत्तर (—आघात) कृत्य करके मृतक व्यक्ति के उस धन को हरण कर (ले) लेते है, परन्तु नाना पापकर्म करके धन सचित करने वाला वह मृत व्यक्ति अकेला अपने पापकर्मों के फलस्वरूप दु ख भोगता है ।

४४१ अपने पापकर्म से ससार से पीडित होते हुए तुम्हारी रक्षा करने मे माता, पिता, पुत्रवधू, पत्नी, भाई और औरस (सगे) पुत्र (आदि) कोई भी समर्थ नही होते ।

४४२ स्वकृत पाप से दु ख भोगते हुए प्राणी की रक्षा कोई नही कर सकता, इस बात को तथा परमार्थ रूप मोक्ष या सयम के अनुगामी (कारण) सम्यग्दर्शनादि है, इसे सम्यक् जान-देख कर ममत्वरहित एव निरहकार (सर्वमदरहित) होकर भिक्षु जिनोक्त धर्म का आचरण करे ।

४४३ धन और पुत्रो को तथा ज्ञातिजनो और परिग्रह का त्याग करके अन्तर के शोक-सताप को छोडकर साधक निरपेक्ष (निस्पृह) होकर सयमपालन मे प्रगति करे ।

विवेचन—जिनोक्त श्रमण धर्माचरण : क्यो और कैसे करें ?—प्रस्तुत सात सूत्रगाथाओ मे विभिन्न पहलुओ से यह बताया गया है कि जिनोक्त श्रमण धर्म का पालन क्यो और कैसे करना चाहिए ?

चार मुख्य कारणो से श्रमण धर्म का स्वीकार एव पालन श्रेयस्कर—(१) जो मानव चाहे वह ब्राह्मण, क्षत्रिय या चाडाल आदि कोई भी हो, आरम्भ-परिग्रहासक्त है, उनका प्राणियो के साथ दीर्घकाल तक वैर बढता जाता है, (२) विषय-सुख-लोलुप आरम्भमग्न जीव दु खो से मुक्त नही हो सकता । (३) ज्ञातिजन व्यक्ति की मरणोत्तर क्रिया करके पापकर्म द्वारा सचित उसका धन ले लेते है, किन्तु उन कृतपापो का फल उसे अकेले ही भोगना पडता है, (४) पापकर्म के फलस्वरूप पीडित होते हुए व्यक्ति को उसके स्वजन बचा नही सकते ।

इन सब बातो पर दीर्घ दृष्टि से विचार कर पूर्वोक्त चारो अनिष्टो से बचने के लिए व्यक्ति को सासारिक गार्हस्थ्य प्रपचो मे न फसकर जिनोक्त मोक्षमार्ग रूप (सयम) धर्म मे प्रव्रजित होना तथा उसी का पालन करना श्रेयस्कर है ।

श्रमण धर्म का पालन कैसे करें ?—इसके लिए साधक (१) ममत्वरहित हो, (२) अहकार शून्य हो, (३) धन, धाम, परिग्रह, स्त्री-पुत्रादि आदि तथा ज्ञातिजनो के प्रति ममत्व का त्याग करे,

(४) सासारिक भोगो से निरपेक्ष-नि:स्पृह रहे, (५) अपने द्वारा त्यक्त सजीव निर्जीव पदार्थों के सम्बन्ध मे अन्तर मे शोक (चिन्ता) न करे।[1]

पाठान्तर और व्याख्याएं—'चेच्चाण अंतगं सोयं'—वृत्तिकार ने इसके तीन अर्थ किये हैं—(१) अन्तर में ममत्वरूप दुष्परित्याज्य शोक को छोडकर, (२) सयमी जीवन का अन्त—विनाश करने वाला मिथ्यात्वादि पचाश्रवस्रोत अथवा शोक (चिन्ता) छोडकर, (३) आत्मा मे व्याप्त होने वाले-आन्तरिक शोक-सताप को छोडकर। इसके बदले पाठान्तर है—**'चिच्चा णणंतगं सोयं'** इसके भी दो अर्थ वृत्तिकार ने किये है—(१) जिसका अन्त कदापि नही होता, ऐसे अनन्तक उस कर्माश्रवस्रोत या (२) स्वदेहादि के प्रति होने वाले शोक को छोडकर। चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर है—**'चेच्च ण अत्तगं सोतं'**—अर्थात्—आत्मा में होने वाले श्रोत कर्माश्रवद्वारभूत स्रोत को छोडकर अथवा अज्ञान, अविरति और मिथ्यात्व के अनन्त पर्यायो को छोडकर। **निरवेक्खो**—'निरपेक्ष' का आशय यह है कि साधु जिन सजीव निर्जीव वस्तुओ पर से ममत्व छोड चुका है, उनसे या उनकी कोई भी या किसी भी प्रकार की अपेक्षा-आशा न रखे।[2] एक आचार्य ने कहा है—जिन साधको ने परपदार्थों या परिग्रह की अपेक्षा रखी वे ठगा गए, जो उनसे निरपेक्ष रहे, वे निर्विघ्नता से ससार सागर को पार कर गए। जो साधक भोगो की अपेक्षा रखते हैं, वे घोर ससारसमुद्र मे डूब जाते है, जो भोगो से निरपेक्ष रहते है, वे सुखपूर्वक ससाररूपी अटवी को पार कर लेते हैं।[3]

मूलगुणगत-दोष त्याग का उपदेश

४४४. पुढवाऽऽऊ अगणि वाऊ तण रुक्ख सबीयगा।
अंडया पोय-जराऊ-रस-संसेय-उब्भिया ॥८॥

४४५. एतेहिं छहिं काएहिं, तं विज्जं परिजाणिया।
मणसा कायवक्केणं, णारंभी ण परिग्गही ॥९॥

---

१ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १७७-१७८ के आधार पर

२ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १७८
(ख) सूयगडग चूर्णि (मू० पा० टि०) पृ० ८०

३ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १७८
(ख) छलिया अवयक्खता, निरावयक्खा गया अविग्घेण।
तम्हा पवयणसारे निरावयक्खेण होयव्व ॥१॥
भोगे अवयक्खता पडति ससारसायरे घोरे।
भोगेहिं निरवयक्खा, तरति ससारकतार ॥२॥
—सूत्रकृ० शीलांकवृत्ति पत्राक १७८ मे उद्धृत

४४६. मुसावाय बहिद्धं च, उग्गहं च अजाइयं ।
सत्थादाणाइ लोगंसि, तं विज्जं परिजाणिया ।।१०।।

४४४-४४५ पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा हरित तृण, वृक्ष और बीज आदि वनस्पति एव अण्डज, पोतज, जरायुज, रसज, सस्वेदज तथा उद्भिज्ज आदि त्रसकाय, ये सब षट्कायिक जीव है। विद्वान् साधक इन छह कायो से इन्हे (ज्ञपरिज्ञा से) जीव जानकर, (प्रत्याख्यान परिज्ञा से) मन, वचन और काया से न इनका आरम्भ (वध) करे और न ही इनका परिग्रह करे ।

४४६ मृषावाद, मैथुनसेवन, परिग्रह (अवग्रह या उद्ग्रह), अदत्तादान, ये सब लोक मे शस्त्र के समान है और कर्मबन्ध के कारण है। अत विद्वान् मुनि इन्हे जानकर त्याग दे ।

विवेचन—श्रमण धर्म में मूल गुण-गत दोष-वर्जन—प्रस्तुत तीन सूत्रगाथाओ (४४४ से ४४६ तक) मे साधु के अहिसादि पचमहाव्रतरूप मूलगुणो के दोषो—हिसा, असत्य आदि के त्याग करने का उपदेश है।[४]

षड्जीवनिकाय का वर्णन—दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचाराग आदि आगमो मे विस्तृत रूप से किया गया है। पृथ्वीकाय आदि प्रत्येक के भी सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त, अपर्याप्त आदि कई भेद तथा प्रकार है। प्रस्तुत शास्त्र मे भी पहले इसी से मिलता-जुलता पाठ आ चुका है।

षट्कायिक जीवो का भेद-प्रभेद सहित निरूपण करने के पीछे शास्त्रकार का यही आशय है कि जीवो को भेद-प्रभेदसहित जाने बिना उनकी रक्षा नही की जा सकती।[५]

कठिन शब्दों की व्याख्या- **बहिद्ध**—मैथुनसेवन, **उग्गह**—परिग्रह, **अजाइया**—अदत्तादान। अथवा '**बहिद्ध**' का अर्थ मैथुन और परिग्रह है तथा '**उग्गह अजाइया**' का अर्थ अदत्तादान है। '**पोयया**' —पोतरूप से पैदा होने वाले जीव, जैसे—हाथी, शरभ आदि। '**उब्भिया**' —उद्भिज्ज जीव, जैसे—मेढक, टिड्डी, खजरीट आदि।[६]

उत्तरगुण-गत-दोष त्याग का उपदेश

४४७. पलिउचण भयण च, थडिल्लुस्सयणाणि य ।
धूणाऽऽदाणाइं लोगंसि, त विज्ज परिजाणिया ।।११।।

---

४ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १७८-१७९ का साराश

५ देखिये—(अ) दशवैकालिक सूत्र का 'छज्जीवणिया' नामक चतुर्थ अध्ययन
(आ) उत्तराध्ययन सूत्र का 'जीवाजीवविभत्ति' नामक ३६वा अध्ययन
(इ) आचाराग सूत्र प्र० श्रु० का 'शस्त्रपरिज्ञा' नामक प्रथम अध्ययन
(ई) सूत्रकृताग प्र० श्रु० का 'कुशील-परिभाषा' नामक ७वें अध्ययन की प्रथम गाथा

६. सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १७९

४४८. धोयणं रयणं चेव, वत्थीकम्म विरेयणं।
वमणंजण पलिमंथं, तं विज्ज परिजाणिया ॥१२॥

४४९. गध मल्ल सिणाणं च, दतपक्खालण तहा।
परिग्गहित्थि कम्म च, त विज्जं परिजाणिया ॥१३॥

४५०. उद्देसियं कीयगडं, पामिच्च चेव आहडं।
पूति अणेसणिज्ज च, तं विज्जं परिजाणिया ॥१४॥

४५१. आसूणिमक्खिरागं च, गिद्धु वघायकम्मगं।
उच्छोलणं च कक्कं च, तं विज्जं परिजाणिया ॥१५॥

४५२. संपसारी कयकिरिओ, पसिणायतणाणि य।
सागारियपिंडं च, त विज्जं परिजाणिया ॥१६॥

४५३. अट्ठापदं ण सिक्खेज्जा, वेधावीयं च णो वदे।
हत्थकम्मं विवावं च, तं विज्ज परिजाणिया ॥१७॥

४५४. पाणहाओ य छत्त च, णालियं वालवीयण।
परकिरियं अन्नमन्नं च, तं विज्ज परिजाणिया ॥१८॥

४५५ उच्चार पासवणं हरितेसु ण करे मुणी।
वियडेण वा वि साहट्टु, णायमेज्ज कयाइ वि ॥१९॥

४५६. परमत्ते अन्नपाणं च, ण भुंजेज्जा कयाइ वि।
परवत्थमचेलो वि, तं विज्ज परिजाणिया ॥२०॥

४५७. आसंदी पलियंके य, णिसिज्ज च गिहतरे।
संपुच्छणं च सरणं च, त विज्जं परिजाणिया ॥२१॥

४५८. जसं किर्त्ति सिलोग च, जा य वदणपूयणा।
सव्वलोयसि जे कामा, तं विज्जं परिजाणिया ॥२२॥

४५९. जेणेहं णिव्वहे भिक्खू, अन्न-पाण तहाविहं।
अणुप्पदाणमन्नेसि, तं विज्ज परिजाणिया ॥२३॥

४६०. एवं उदाहु निग्गंथे, महावीरे महामुणी।
अणंतणाणदंसी से, धम्मं देसितवं सुतं ॥२४॥

४४७ माया (परिकुञ्चन-वक्रताकारिणी क्रिया) और लोभ (भजन) तथा क्रोध और मान को नष्ट कर डालो (धुन दो), क्याकि ये सब (कषाय) लोक मे कर्मबन्ध के कारण हैं, अत. विद्वान् साधक ज्ञपरिज्ञा से जानकर, प्रत्याख्यानपरिज्ञा से इनका त्याग करे।

४४८ (विभूषा की दृष्टि से) हाथ, पैर और वस्त्र आदि धोना तथा उन्हे रगना, बस्तिकर्म करना (एनिमा वगैरह लेना), विरेचन (जुलाब) लेना, दवा लेकर वमन (कै) करना, आखो मे अजन (काजल आदि) लगाना, ये (और ऐसे अन्य) शरीरसज्जादि सयमविघातक (पलिमथकारी) हैं, इनके (स्वरूप और दुष्परिणाम) को जानकर विद्वान् साधु इनका त्याग करे।

४४९ शरीर मे सुगन्धित पदार्थ लगाना, पुष्पमाला धारण करना, स्नान करना, दातो को धोना—साफ करना, परिग्रह (सचित्त परिग्रह—द्विपद, चतुष्पद या धान्य आदि, अचित्त परिग्रह—सोने-चाँदी आदि के सिक्के, नोट, सोना-चादी, रत्न, मोती आदि या इनके आभूषणादि पदार्थ रखना स्त्रीकर्म (देव, मनुष्य या तिर्यञ्च स्त्री के साथ मैथुन-सेवन) करना, इन अनाचारो को विद्वान् मुनि (कर्मबन्ध एव ससार का कारण) जानकर परित्याग करे।

४५० औद्देशिक (साधु के उद्देश्य से गृहस्थ द्वारा तैयार किया गया दोषयुक्त क्रीतकृत—खरीदकर लाया या लाकर बनाया हुआ), पामित्य (दूसरे से उधार लिया हुआ), आहृत (साधु के स्थान पर सामने लाया हुआ), पूतिकर्म (आधाकर्मी आहारमिश्रित दूषित) और अनैषणीय (एषणा दोषो से दूषित) आहार को अशुद्ध और ससार का कारण जानकर विद्वान् मुनि त्याग करे।

४५१ घृतादि या शक्तिवर्द्धक रसायन आदि का सेवन करना आँखो मे (शोभा के लिए) अजन लगाना, रसो या शब्दादि विषयो मे गृद्ध (आसक्त) होना, प्राणिउपघातक कर्म करना, (या दूसरो के कार्य बिगाडना), हाथ-पैर आदि धोना, शरीर मे कल्क (उबटन पीठी या क्रीम स्नो जैसा सुगन्धित पदार्थ लगाना, इन सबको विद्वान् साधु ससार-भ्रमण एव कर्मबन्धन के कारण जानकर इनका परित्याग करे।

४५२. असयमियो के साथ सासारिक वार्तालाप (या सासारिक बातो का प्रचार-प्रसार) करना, घर को सुशोभित करने आदि असयम कार्यो की प्रशसा करना, ज्योतिष सम्बन्धी प्रश्नो का उत्तर देना और शय्यातर (सागारिक) का पिण्ड (आहार) ग्रहण करना विद्वान् साधु इन सब को ससार का कारण जानकर त्याग दे।

४५३ साधु अष्टापद (जुआ, शतरज आदि खेलना) न सीखे, धर्म की मर्यादा (लक्ष्यवेध-) से विरुद्ध वचन न बोले तथा हस्तकर्म अथवा कलह करके हाथापाई न करे और न ही शुष्क निरर्थक विवाद (वाक्कलह) करे इन सबको ससार-भ्रमण का कारण जानकर इनका त्याग करे।

४५४. जूता पहनना, छाता लगाना, जूआ खेलना, मोरपिच्छ, ताड आदि के पखे से हवा करना, परक्रिया (गृहस्थ आदि से पैर दबवाना) अन्योन्यक्रिया (साधुओ का परस्पर मे ही काम करना); इन सबको विद्वान् साधक कर्मबन्धजनक जानकर इनका परित्याग करे।

४५५ मुनि हरी वनस्पति (हरियाली) वाले स्थान मे मल-मूत्र-विसर्जन न करे, तथा बीज

आदि सचित्त वनस्पति को हटाकर अचित्त जल से भी कदापि आचमन (मुख या शरीर शुद्धि या मलद्वारशुद्धि) न करे।

४५६ गृहस्थ के बर्तन (परपात्र) मे कदापि आहार-पानी का सेवन न करे, साधु अचेल (वस्त्ररहित या जीर्ण वस्त्र वाला) होने पर भी परवस्त्र (गृहस्थ का वस्त्र) धारण न करे। विद्वान् मुनि ऐसा करना कर्मबन्धजनक जानकर उसका परित्याग करे।

४५७ साधु खाट पर और पलग पर न बैठे, न ही सोए। गृहस्थ के घर के भीतर या दो घरो के बीच (छोटी सकरी गली) मे न बैठे, गृहस्थ के घर के समाचार, कुशल-क्षेम आदि न पूछे अथवा अपने अगो को (शोभा की दृष्टि से) न पोछे तथा अपनी पूर्वकामक्रीडा का स्मरण न करे। विद्वान् साधु इन्हे श्रमणधर्मभगकारक समझकर इनका परित्याग करे।

४५८ यश, कीर्ति, श्लोक (प्रशसा) तथा जो वन्दना और पूजा-प्रतिष्ठा है, तथा समग्रलोक मे जो काम-भोग है, इन्हे विद्वान् मुनि सयम के अपकारी समझकर इनका त्याग करे।

४५९ इस जगत् मे जिस (अन्न, जल आदि पदार्थ) से साधु के सयम का निर्वाह हो सके वैसा ही आहार-पानी ग्रहण करे। वह आहार-पानी असयमी को न देना अनर्थकर (असयमवर्द्धक) जानकर तत्त्वज्ञ मुनि नही देवे। (सयम दूषित या नष्ट हो जाए) उस प्रकार का अन्न जल अन्य साधको को न दे। उसे सयम-विघातक जानकर साधु उसका त्याग करे।

४६० अनन्तज्ञानी, अनन्तदर्शी, निर्ग्रन्थ महामुनि श्रमण भगवान् महावीर ने इस प्रकार चारित्रधर्म और श्रुतधर्म का उपदेश दिया है।

विवेचन—उत्तरगुणगत-दोषत्याग का उपदेश—सूत्रगाथा ४४७ से लेकर ४६० तक श्रमण भगवान् महावीर द्वारा प्रदत्त श्रमणो के चारित्र धर्म को दूषित करने वाले उत्तरगुणगत-दोषो के त्याग का उपदेश है। इन सभी गाथाओ के अन्तिम चरण मे **'तं विज्जं परिजाणिया'** कहकर शास्त्रकार ने उनके त्याग का उपदेश दिया है। उसका आशय व्यक्त करते हुए वृत्तिकार कहते हैं—उस अनाचरणीय सयमदूषक कृत्य को ज्ञपरिज्ञा से कर्मबन्ध का एव ससार-परिभ्रमण का कारण जानकर विद्वान् साधक प्रत्याख्यान परिज्ञा से उसका त्याग करे। इनमे से साधु के लिए अधिकाश अनाचारो (अनाचीर्णो) का वर्णन है जिनका दशवैकालिक एव आचाराग आदि शास्त्रो मे यत्र तत्र उल्लेख हुआ है।[७]

---

७ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १७९ से १८२ तक का साराश

(ख) तुलना—(अ) दशवैकालिक अ० ३, गाथा १, २, ३, ४, ५

(आ) दशवै० अ० ६, गा० ४९ से ६७ तक

(ग) णो धोएज्जा, णो रएज्जा, णो धोतरत्ताइ वत्थाइ धारेज्जा ।

—आचारांग प्र० श्रु० विवेचन अ० ८, उ० ४, सू० २१४, पृ० २६१

(घ) णो दतपक्खालणेण दते पक्खालेज्जा, णो अजण णो वमणं ।

—सू० कृ० द्वितीय श्रुत० सूत्र ६८१

(ङ) तुलना करिए—'सेय्यथिद-अट्टपद सेय्यथिद-आसदि पल्लक ' मालागधविलेपन चित्रुपाहन अञ्जन वाल-विजनि मडनविभूसनट्ठानानुयोगा पटिविरतो ।

—सुत्तपिटक दीर्घनिकाय ब्रह्मजालसुत्त पृ० ८।९

कठिन शब्दो की व्याख्या धूणाऽऽदाणाइ—कर्मों को ग्रहण करने के कारण अथवा कर्मों को जन्म देने वाले। **आसूणि**—वृत्ति और चूर्णि मे इसकी दो व्याख्याएँ मिलती है—(१) जिस घृतपान आदि पौष्टिक या शक्ति वर्द्धक आहारविशेष से या भस्म पारा आदि रसायन विशेष के सेवन से शरीर हृष्टपुष्ट होता हो, (२) श्वान-सी तुच्छ प्रकृति का साधक जरा-सी आत्म-श्लाघा या प्रशसा से फूल (सूज) जाता हो, गर्वस्फीत हो जाता हो। **कयकिरिओ**—(आरम्भजनित) गृहनिर्माणादि बहुत सुन्दर किया है अथवा असयतो के साथ विवाह-सगाई कामभोग आदि वासना एव मोह मे वृद्धि करने वाली बाते करना या इस प्रकार के असयम कार्य की प्रशसा करना। **पसिणायतणाणि**—दो व्याख्याएँ—(१) ज्योतिषसम्बन्धी प्रश्नादि के उत्तर, आयतन—प्रकट करना-बताना। (२) ससारी लोगो के परस्पर व्यवहार, मिथ्याशास्त्र अथवा प्रश्न के सम्बन्ध मे यथार्थ बाते बताकर निर्णय देना। **सागारियपिंड**—तीन अर्थ—(१) सागारिक—शय्यातर का पिण्ड (आहार) अथवा (२) सागारिक पिण्ड यानी मृतकगृहपिण्ड या (३) निन्द्य—जुगुप्सित दुराचारी का पिण्ड। **अट्ठापद न सिक्खेज्जा**—तीन व्याख्याएँ (१) जिस पद-शास्त्र से धन, धान्य, सोना आदि प्राप्त किया जा सके, ऐसे शास्त्र का अध्ययन न करे, (२) द्यूतक्रीडा विशेष न सीखे, (३) अर्थ यानी धर्म या मोक्ष मे आपद्कर—प्राणि-हिंसा की शिक्षा देने वाला शास्त्र न सीखे, न ही दूसरो को सिखाए और न पूर्वशिक्षित ऐसे शास्त्र की आवृत्ति या अभ्यास करे। **वेधादीय**—तीन अर्थ—(१) वेध का अर्थ है सद्धर्म के अनुकूलत्व और अतीत का अर्थ है—उससे रहित यानी सद्धर्मविरुद्ध, (२) अधर्मप्रधान, (३) वेध का अर्थ वस्त्रवेध—जुए, सट्टे, अक आदि जैसे किसी द्यूत विशेष से सम्बन्धित बाते न बताए। **वियडेण वा वि साहट्टु**—विकट विगतजीव—प्रासुक जल से, बीज या हरियाली (हरी वनस्पति) को हटाकर।

'परमत्ते अन्न पाण च'—पर [गृहस्थ] के पात्र मे अन्नपानी का सेवन न करे। स्थविरकल्पी साधु के लिए गृहस्थ का पात्र परपात्र है, उसमे आहार करने या पेय पदार्थ पीने से पहले या पीछे गृहस्थ द्वारा उसे सचित्त जल से धोये जाने कदाचित् चुराये जाने या गिरकर टूट जाने की आशका रहती है। इसलिए यह साध्वाचार-विरुद्ध है। स्थविरकल्पी साधु के लिए हाथ की अजलि मे खाना-पीना भी परपात्र मे खाना-पीना है, वह भी निषिद्ध है, क्योंकि स्थविरकल्पी साधु-साध्वियो की अजलि छिद्रयुक्त होती है, उसमे आहार-पानी आदि नीचे गिर जाने से अयत्ना होने की सम्भावना है। जिनकल्पी के लिए हाथ की अजलि-स्वपात्र है, लकडी आदि के पात्र या गृहस्थ के पात्र मे खाना-पीना परपात्र भोजन करना है। इसी तरह **'परवत्थमचेलो वि'**—स्थविरकल्पी साधु के लिए गृहस्थ के वस्त्र परवस्त्र है—और जिनकल्पी के लिए दिशाएँ ही वस्त्र है, इसलिए सूत आदि से बने सभी वस्त्र परवस्त्र है। परवस्त्र का उपयोग करने मे वे ही पूर्वोक्त खतरे हैं। **आसदी पलियके य**—आसदी—वर्तमान युग मे आरामकुर्सी या स्प्रिंगदार कुर्सी अथवा लचीली छोटी खाट तथा नीवार वाला स्प्रिंगदार लचीला पलग। इन पर सोने बैठने या लेटने से कामोत्तेजना होने की तथा छिद्रो मे बैठे हुए जीवो की विराधना होने की आशका है, इसलिए इनका उपयोग वर्जित किया गया है। **निसिज्जं च गिहंतरे**—गृहान्तराल मे बैठना ब्रह्मचर्य-विराधना की आशका या लोकशका अथवा अशोभा की दृष्टि से निषिद्ध किया है। **सपुच्छण**—दो अर्थ मूलार्थ मे दिये जा चुके है। इसी तरह के सासारिक पूछ-ताछ से अपना स्वाध्याय, ध्यान-साधना का अमूल्य समय व्यर्थ मे नष्ट होता है।

जे णेहं निव्वहे—तीन अर्थ—(१) द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से जिस शुद्ध अन्न-जल से, अथवा दुर्भिक्ष, रोग, आतक आदि कारणो से किंचित् अशुद्ध अन्न-जल से इस लोक मे इस संयमयात्रादि का निर्वाह हो, अथवा (२) वैसा ही अन्न-जल सयम का निर्वाह करने के लिए दूसरो को दे। (३) जिस कार्य के करने से अर्थात् असयमी गृहस्थ आदि को आहार देने से साधु का सयम दूषित हो, वैसा कार्य साधु न करे।[८]

साधुधर्म के भाषाविवेकसूत्र

४६१. भासमाणो न भासेज्जा, णेय वंफेज्ज मम्मयं।
मातिट्ठाणं विवज्जेज्जा, अणुवियि वियागरे ॥२५॥

४६२. तत्थिमा तइया भासा, ज वइत्ताऽणुतप्पई।
जं छन्नं तं न वत्तव्वं, एसा आणा नियंठिया ॥२६॥

४६३. होलावायं सहीवायं, गोयावायं च नो वदे।
तुमं तुमं ति अमणुण्ण, सव्वसो तं ण वत्तए ॥२७॥

४६१ किमी बोलते हुए के बीच मे न बोले। (अथवा भाषा समिति से युक्त) साधु (धर्मोपदेश या धर्म सम्बन्धी) भाषण करता हुआ भी भाषण न करने वाले (मौनी) के समान है। साधु मर्मस्पर्शी भाषा न बोले, वह मातृस्थान-माया (कपट) प्रधान वचन का त्याग करे। (जो कुछ भी बोले, पहले उस सम्बन्ध मे) सोच-विचार कर बोले।

४६२ चार प्रकार की भाषाओ मे जो तृतीत भाषा (सत्या-मृषा) है, उसे साधु न बोले, तथा जिसे बोलने के बाद पश्चात्ताप करना पडे, ऐसी भाषा भी न बोले। जिस बात को सब लोग छिपाते (गुप्त रखते) है अथवा जो क्षण (हिसा) प्रधान भाषा हो वह भी नही बोलनी चाहिए। यह निर्ग्रन्थ (भगवान् महावीर) की आज्ञा है।

४६३ साधु निष्ठुर या नीच सम्बोधन से किसी को पुकारकर (होलावाद) न करे। सखी मित्र आदि कह कर सम्बोधित करके (सखिवाद) न करे तथा गोत्र का नाम लेकर (चाटुकारिता की दृष्टि से) किसी को पुकार कर (गोत्रवाद) न बोले। रे, तू, इत्यादि तुच्छ शब्दो से किसी को सम्बोधित न करे, तथा जो अप्रिय-अमनोज्ञ वचन हो, उन्हे साधु सर्वथा (बिलकुल) न कहे अथवा वैसा दुर्व्यवहार (वर्त्तन) साधु सर्वथा न करे।

विवेचन—भाषा विवेक सूत्र—प्रस्तुत तीन सूत्रगाथाओ (सूत्र० गा० ४६१ से ४६३) मे यह विवेक बताया गया है कि साधु को कैसी भाषा बोलनी चाहिए, कैसी नही? **भासमाणो न भासेज्जा**—वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ प्रस्तुत किये है—(१) दीक्षा ज्येष्ठ (रत्नाधिक) साधु किसी से बात कर रहा हो, उस समय अपना पाण्डित्य प्रदर्शन करने या बडे की लघुता प्रकट करने की दृष्टि से बीच मे

---

८ (क) सूत्रकृताग शीलांकवृत्ति पत्राक १७९ से १८१ तक (ख) सूयगडग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ८०,८१,८२

न बोले, क्योंकि ऐसा करने से बडो की आशातना और अपने अभिमान की अभिव्यक्ति होती है। अथवा (२) जो साधु वचन-विभाग को जानने मे निपुण है, जो वाणी के बहुत से प्रकारो को जानता है, वह दिनभर बोलता हुआ न बोलने वाले (वचनगुप्ति युक्त-मौनी) के समान है, क्योकि वह भाषा-समिति का ध्यान रखकर बोलता है, वह धर्मोपदेश, धर्म-पथ प्रेरणा, धर्म मे स्थिरता के लिए मार्ग-दर्शन देते समय पूर्ण सतर्क होकर वाणीप्रयोग करता है।[९]

णेव वंफेज्ज मम्मय—दो अर्थ—(१) बोला हुआ वचन चाहे सत्य हो या असत्य, किन्तु यदि वह किसी के मन मे चुभने या पीडा पहुँचाने वाला हो तो उसे न बोले, अथवा (२) 'यह मेरा है' ऐसा सोचकर किसी के प्रति पक्षपात युक्त (मामक) वचन न कहे।

मातिट्ठाणं विवज्जेज्जा—दो अर्थ—(१) कपट प्रधान (सदिग्ध, छलयुक्त, द्वयर्थक) वचन का त्याग करे, अथवा (२) दूसरो को ठगने या धोखा देने के लिए साधु मायाचार या दम्भ न करे।[१०]

निर्ग्रन्थ-आज्ञा से सम्मत एवं असम्मत भाषा—दशवैकालिक, आचाराग आदि शास्त्रो में चार प्रकार की भाषा बताई है—(१) सत्या, (२) असत्या, (३) सत्या-मृषा और (४) असत्या-मृषा। इन चारो मे से असत्य भाषा तो वर्जनीय है ही, तीसरी भाषा—सत्यामृषा (कुछ झूठी, कुछ सच्ची भाषा) भी वर्जित है। जैसे किसी साधक ने अनुमान से ही निश्चित रूप से कह दिया—'इस गाँव मे बीस बच्चो का जन्म या मरण हुआ है।' ऐसा कहने मे सख्या मे न्यूनाधिक होने से यह वचन सत्य और मिथ्या दोनो से मिश्रित है। असत्यामृषा (व्यवहार) भाषा भी भाषासमिति युक्त बोलने का विधान है। इन तीनो भाषाओ के अतिरिक्त प्रथम भाषा सर्वथा सत्य होते हुए भी निम्नोक्त कारणो से साधु के लिए निषिद्ध बताई गई है—

(१) जिस वचन को कहने से किसी को दुख, पीडा, उद्वेग, भय, चिन्ता, आघात, मर्मान्तक वेदना, अपमानदश, मानसिक क्लेश पैदा हो।

(२) जो कर्कश, कठोर, वध-प्रेरक, छेदन-भेदन कारक, अमनोज्ञ एव ताडन-तर्जनकारक हो, अर्थात् हिंसा-प्रधान हो।

(३) जो भाषा मोह-ममत्वजनक हो, जिस भाषा मे स्वत्व मोह के कारण पक्षपात हो।

(४) जो भाषा बाहर से सत्य प्रतीत हो, परन्तु भीतर से दम्भ या छल-कपट से भरी हो।

(५) जो भाषा हिंसादि किसी पाप मे श्रोता को प्रेरित करती (सावद्य) हो, जैसे—"इसे मारो-पीटो," "चोरी करो", आदि वचन।

---

९ 'वयणविहत्तीकुसलोवगय बहु विह वियाणतो।
दिवस पि भासमाणो साहू वयगुत्तय पत्तो॥'

१० (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १८२-१८३
(ख) तुलना करें—(अ) दशवैकालिक अ० ७ गा० ६ से २० तक
(आ) आचाराग विवेचन द्वि० श्रु०, सू० ५२४ से ५२८ तक, पृ० २१७

(६) जो भाषा सत्य होते हुए भी किसी को अपमानित, तिरस्कृत या बदनाम करने अथवा नीचा दिखाने, उपहास करने या अपना अहंकार प्रदर्शित करने की दृष्टि से बोली जाए। या जो ऐ नीच, रे दुष्ट, तू चोर है, काना है, पापी है! आदि तुच्छ वचन रूप हो।

(७) जिस भाषा की तह मे चाटुकारिता, दीनता या स्व-हीनता भरी हो।

(८) जो भाषा सत्य होते हुए भी मन मे सन्देहास्पद हो, द्वयर्थक हो, निश्चयकारी हो, या जो भाषा सहसा अविचारपूर्वक बोली गई हो।

(९) जिस भाषा के बोलने से बाद मे पश्चाताप हो अथवा बोलने के पश्चात् उसके फलस्वरूप जन्म-जन्मान्तर तक सताप (पीडा) पाना पडे।

(१०) जिस बात को सभ्य लोग प्रयत्नपूर्वक छिपाते हैं, उसे प्रकट करने वाली, या किसी की गुप्त बात प्रकट करने वाली हो, इस प्रकार की सब भाषा निषिद्ध है।[11]

लोकोत्तर धर्म के कतिपय आचारसूत्र

४६४. अकुसीले सया भिक्खू, णो य ससग्गियं भए।
सुहरूवा तत्थुवस्सग्गा पडिबुज्झेज्ज ते विदू ॥२८॥

४६५. णण्णत्थ अंतराएणं, परगेहे ण णिसीयए।
गामकुमारियं किड्डं, नातिवेलं हसे मुणी ॥२९॥

४६६. अणुस्सुओ उरालेसु, जयमाणो परिव्वए।
चरियाए अप्पमत्तो, पुट्ठो तत्थऽहियासते ॥३०॥

४६७. हम्ममाणो न कुप्पेज्जा, वुच्चमाणो न संजले।
सुमणो अहियासेज्जा, ण य कोलाहलं करे ॥३१॥

४६८. लद्धे कामे ण पत्थेज्जा, विवेगे एसमाहिए।
आरियाइं सिक्खेज्जा, बुद्धाणं अंतिए सया ॥३२॥

---

११ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १८२-१८३ का तात्पर्य
(ख) चार प्रकार की भाषा के लिए देखे—दशवैकालिक अ० ७ गा० १ से ४ तक
तथा आचाराग द्वि० श्रु० विवेचन सू० ५२४ पृ० २१७
(ग) पुव्व बुद्धीए पेहित्ता पच्छा वक्कमुदाहरे।
अचक्खुओ व नेतार बुद्धिमन्नेइ ते गिरा॥ —दशवै० निर्युक्ति गा० २९३

४६९. सुस्सूसमाणो उवासेज्जा, सुप्पण्णं सुतवस्सियं ।
वीरा जे अत्तपण्णेसी, धितिमता जितिंदिया ॥३३॥

४७०. गिहे दीवमपस्सता, पुरिसादाणिया नरा ।
ते वीरा बंधणुम्मुक्का, नावकखंति जीवितं ॥३४॥

४७१. अगिद्धे सद्द-फासेसु, आरंभेसु अणिस्सिते ।
सव्वेतं समायातीतं, जमेत लवितं बहुं ॥३५॥

४७२. अतिमाणं च मायं च, तं परिण्णाय पंडिते ।
गारवाणि य सव्वाणि, निव्वाणं संधए मुणि ॥३६॥ त्ति बेमि ।

॥ धम्मो नवमं अज्झयणं सम्मत्तं ॥

४६४ साधु सदैव अकुशील बनकर रहे, तथा कुशीलजनो या दुराचारियो के साथ ससर्ग न रखे, क्योकि उसमे (कुशीलो की सगति मे) भी सुखरूप (अनुकूल) उपसर्ग रहते है, अत विद्वान् साधक इस तथ्य को भलीभाँति जाने तथा उनसे सावधान (प्रतिबुद्ध-जागृत) रहे ।

४६५ किसी (रोग, अशक्ति, आतक आदि) अन्तराय के बिना साधु गृहस्थ के घर मे न बैठे । ग्राम-कुमारिका क्रीडा (ग्राम के लडके-लडकियो का खेल) न खेले, एव मर्यादा का उल्लघन करके न हसे ।

४६६ मनोहर (उदार) शब्दादि विषयो मे साधु अनुत्सुक रहे (किसी प्रकार की उत्कण्ठा न रखे । यदि शब्दादि विषय अनायास ही सामने आ जाएँ तो यतनापूर्वक आगे बढ जाए या सयम मे यत्नपूर्वक गमन करे, भिक्षाटन आदि साधुचर्या मे प्रमाद न करे, तथा परीषहो और उपसर्गो से पीडित (स्पृष्ट) होने पर उन्हे (समभावपूर्वक) सहन करे ।

४६७ लाठी, डडे आदि से मारा-पीटा जाने पर साधु (मारने वाले पर) कुपित न हो, किसी के द्वारा गाली आदि अपशब्द कहे जाने पर क्रोध न करे, जले-कुढे नही, किन्तु प्रसन्न मन से उन्हे (चुपचाप) सहन करे, किसी प्रकार का कोलाहल न करे ।

४६८ साधु (अनायास) प्राप्त होने वाले काम-भोगो की अभिलाषा न करे, ऐसा करने पर (ही उसे निर्मल) विवेक उत्पन्न हो गया, यो कहा जाता है । (इसके लिए) साधु आचार्यों या ज्ञानियो (बुद्धजनो) के सदा निकट (अन्तेवासी) रहकर आर्यो के धर्म या कर्त्तव्य अथवा मुमुक्षुओ द्वारा आचर्य (आचरणीय) ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप धर्म सदा सीखे, (उसका अभ्यास करे) ।

४६९ स्व परसमय (स्व-पर धर्म सिद्धान्तों) के ज्ञाता एव उत्तम तपस्वी गुरु की सेवा-शुश्रूषा करता हुआ साधु उनकी उपासना करे । जो साधु कर्मों को विदारण करने में समर्थ वीर हैं, आप्त (वीतराग) पुरुष की केवलज्ञानरूप प्रज्ञा या आत्मप्रज्ञा का अन्वेषण करते है, धृतिमान् है और जितेन्द्रिय हैं, वे ही ऐसा आचरण करते हैं ।

४७० गृहवास मे श्रुतज्ञानरूपी दीप का या सर्वज्ञोक्त चारित्ररूपी द्वीप का लाभ न देख जो मनुष्य प्रव्रज्या धारण करके मुमुक्षुपुरुषो द्वारा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप मोक्ष के योग्य (पुरुषदानीय) बन जाते हैं, वे वीर कर्मबन्धनो से विमुक्त हो जाते हैं, फिर वे असयमी जीवन की आकाक्षा नही करते ।

४७१. साधु मनोज्ञ शब्द (रूप, रस, गन्ध) एव स्पर्श मे आसक्त (गृद्ध) न हो, सावद्य आरम्भ-जनित कार्यों से अनिश्रित (असम्बद्ध) रहे । इस अध्ययन के प्रारम्भ से लेकर यहाँ तक जो बहुत सी बाते निषिद्ध रूप से कही गई हैं, वे सब जिनागम (सिद्धान्त) से विरुद्ध (समयातीत) है, अथवा जो बाते विधान रूप से कही गई हैं, वे सब कुतीर्थिको के सिद्धान्तो से विरुद्ध, लोकोत्तर उत्तम धर्मरूप है ।

४७२. पण्डित मुनि अतिमान और माया, तथा ऋद्धि-रस-सातारूप सभी गौरवो को (ससार-कारण) जानकर उनका परित्याग करे और स्वय को (समस्त कर्मक्षय रूप) निर्वाह की साधना से जोडे या निर्वाण को ही पाने की अभिलाषा रखे ।

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

विवेचन—लोकोत्तर (श्रमण) धर्म के कतिपय आचारसूत्र—सूत्रगाथा ४६४ से ४७२ तक नौ गाथाओ द्वारा मुनिधर्म के कुछ विशिष्ट आचारसूत्रो का उल्लेख किया है—(१) साधु न तो स्वय कुशील बने और न ही कुशीलजनो से सम्पर्क रखे, (२) कुशीलजनससर्ग से होने वाले अनुकूल उपसर्गों से सावधान रहे, (३) अकारण गृहस्थ के घर मे न बैठे, (४) बच्चो के खेल मे भाग न ले, (५) मर्यादा का अतिक्रमण करके न हसे, (६) मनोज्ञ शब्दादि विषयो मे कोई उत्कण्ठा न रखे, अनायास प्राप्त हो तो भी यतनापूर्वक आगे बढ जाए, उन पर सयम रखे, (७) साधुचर्या मे अप्रमत्त रहे (८) परीषहोपसर्गों से पीडित होने पर उन्हे समभाव से सहे, (९) प्रहार करने वाले पर क्रुद्ध न हो, न ही उसे अपशब्द कहे, न ही मन मे कुढे, बल्कि प्रसन्न मन से चुपचाप सहन करे, (१०) उपलब्ध हो सकने वाले काम-भोगो की लालसा न करे, (११) आचार्यादि के चरणो मे रहकर सदा आर्य धर्म सीखे, विवेकसम्पन्न बने, (१२) स्व-परसिद्धान्तो के सुज्ञाता उत्तम तपस्वी गुरुजनो की सेवा-शुश्रूषा एव उपासना करे, (१३) कर्मक्षय करने मे वीर बने, (१४) आप्त पुरुषो की केवलज्ञानरूप प्रज्ञा का या आत्मप्रज्ञा का अन्वेषक बने, (१५) धृतिमान् हो, (१६) जितेन्द्रिय हो, (१७) गृहवास मे उत्कृष्ट ज्ञान-दर्शन-चारित्र का लाभ न देखकर मुनि धर्म मे दीक्षित साधु असयमी जीवन की आकाक्षा न करे बल्कि वीरतापूर्वक कर्मबन्धनो से मुक्त बने, (१८) मनोज्ञ शब्दादि मे आसक्त न हो, (१९) सावद्य आरम्भजनित कार्यों से असम्बद्ध रहे (२०) सिद्धान्तविरुद्ध सब आचरणो से दूर रहे, (२१) मान, माया, एव सर्व प्रकार के गौरव को ससार का कारण जानकर परित्याग करे, और (२२) निर्वाण रूप लक्ष्य का सन्धान करे ।

ये ही वे मौलिक आचार सूत्र है, जिन पर चलकर मुनि अपने श्रमण धर्म को उज्ज्वल एव परिष्कृत बनाता है ।[१२]

---

१२. सूत्रकृताग शीलांकवृत्ति पत्राक १८३ व १८४ का साराश

कुशीलों की संगति से सुखभोगेच्छारूप उपसर्ग—कुशील व्यक्ति अपनी सगति मे आने वाले सुविहित साधक को बहकाते हैं—"अजी ! आप शरीर को साफ और सशक्त रखिये। शरीर सुदृढ होगा तभी आप धर्मपालन कर सकेंगे। शरीर साफ रखने से मन भी साफ रहेगा। शरीर को बलवान् बनाने हेतु आधाकर्मी, औद्देशिक पौष्टिक आहार मिलता हो तो लेने मे क्या आपत्ति है ? पैरो की रक्षा के लिए जूते पहन लेने या वर्षा गर्मी से सुरक्षा के लिए छाता लगा लेने मे कौन-सा पाप है ? शरीररक्षा करना तो पहला धर्म है। अत निरर्थक कष्टो से बचाकर धर्माधाररूप शरीर की रक्षा करनी चाहिए।"

कभी-कभी वे आकर्षक युक्तियो से सुसाधक को प्रभावित कर देते है—"आजकल तो पचम काल है, हीनसहनन है, इतनी कठोर क्रिया करने और इतने कठोर परीषहो और उपसर्गों को सहने की शक्ति कहाँ है ? अत समयानुसार अपनी आचारसहिता बना लेनी चाहिए, आदि आदि।"

अल्प पराक्रमी साधक कुशीलो के आकर्षक वचनो से प्रभावित हो, धीरे-धीरे उनके समान ही सुकुमार सुखशील बन जाते है। इसीलिए इन उपसर्गो को सुखरूप कहा है। ये उपसर्ग पहले तो बहुत सुखद, सुहावने और मोहक लगते है, परन्तु बाद मे ये सयम की जडो को खोखली कर देते है। साधु को ये उपसर्ग पराश्रित, इन्द्रियविषयो का दास और असयमनिष्ठ बना देते है।[13]

अकारण गृहस्थ के घर मे बैठने से हानि—अकारण गृहस्थ के घर पर बैठने से किसी को साधु के चारित्र मे शका हो सकती है, किसी अन्य सम्प्रदाय का साधुद्वेषी व्यक्ति साधु पर मिथ्या दोषारोपण भी कर सकता है। दशवैकालिक सूत्र मे तीन कारणो से गृहस्थ के घर पर बैठना कल्पनीय बताया है—(१) वृद्धावस्था के कारण अशक्त हो, (२) कोई रोग ग्रस्त हो या अचानक कोई चक्कर आदि रोग खड़ा हो जाए (३) या दीर्घतपस्वी हो।[14]

मर्यादातिक्रान्त हास्य : कर्मबन्ध का कारण—कभी-कभी हसी-मजाक या हसना कलह का कारण बन जाता है। इसीलिए आगम मे हास्य और कुतूहल को कर्मों के बन्ध का कारण बताया है। उत्तराध्ययन एव भगवती सूत्र मे भी हास्य और क्रीडा को साधु के लिए वर्जित कर्म बन्धकारक बताया है।[15]

"लद्धे कामे ण पत्थेज्जा"—इस पक्ति के दो अर्थ फलित होते है—(१) दीर्घकालीन साधना के फलस्वरूप उपलब्ध काम-भोगो-सुख-साधनो का प्रयोग या उपयोग करने की अभिलाषा न करे, (२)

---

१३ सूत्रकृताग शी० वृत्ति प० १८३

१४ (क) सूत्रकृताग शी० वृत्ति पत्राक १८३
(ख) दशवैकालिक उ० ६ गा० ५७ से ६० तक

१५ (क) सूत्रकृताग शी० वृत्ति पत्राक १८३
(ख) 'हास कीड च वज्जए'—उत्तरा अ० १, गा० ९
(ग) 'जीवेण भते ! हसमाणे वा उस्सूयमाणे वा कइ कम्मपगडीयो बधइ ?'
'गोयमा ! सत्तविहबधए वा अट्ठविहबधए वा।' —भगवती शतक ५, सूत्र ७१ (अगसुत्ताणि)

अनायास प्राप्त लब्धियो का सिद्धियो से भी लाभ उठाने की मन मे इच्छा न करे। प्राप्त शक्तियो या उपलब्धियो को वज्रस्वामीवत् विवेकपूर्वक पचाए।[16]

गुरु की शुश्रूषा और उपासना में अन्तर—यह है कि शुश्रूषा—गुरु के आदेश-निर्देशो को सुनने की इच्छा है, उसका फलितार्थ है— गुरु की सेवा-वैयावृत्य करके उनके मन को प्रसन्न करना, उनके आदेशो का पालन करना, जबकि उपासना गुरुचरणो मे बैठकर ज्ञान-दर्शन-चरित्र की आराधना करना है, गुरु के शरीर की नही, गुणो की उपासना करना ही वास्तविक उपासना है। जैसे कि कहा है—"गुरु की उपासना करने से साधक ज्ञान का भाजन बनता है, ज्ञान-दर्शन-चारित्र मे स्थिरतर हो जाता है। वे धन्य है जो जीवनपर्यन्त गुरुकुलवास नही छोडते।"[17]

॥ धर्म नवम अध्ययन समाप्त ॥

---

१६ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १८४

१७ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति० १८४

(ख) "नाणस्स होइ भागी, थिरयरओ दसणे चरित्ते य।
धन्ना आवकहाए गुरकुलवास न मुञ्चति। —सू० कृ० शी० वृत्ति पत्रांक १८५ मे उद्धृत

समाधि-दशम अध्ययन

प्राथमिक

☐ सूत्रकृताग सूत्र (प्र० श्रु०) के दसवे अध्ययन का गुणनिष्पन्न नाम 'समाधि' है।

☐ समाधि शब्द चित्त की स्वस्थता, सात्त्विक सुखशान्ति, सन्तुष्टि, मनोदु ख का अभाव, आनन्द, प्रमोद, शुभध्यान, चित्त की एकाग्रतारूप ध्यानावस्था, समता, रागादि से निवृत्ति, आत्म-प्रसन्नता आदि अर्थों मे प्रयुक्त होता है।

☐ निर्युक्तिकार ने नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप से ६ प्रकार से समाधि का निक्षेप किया है। नाम समाधि और स्थापना समाधि सुगम है। द्रव्यसमाधि मुख्यतया चार प्रकार से होती है—(१) जिस द्रव्य के खाने-पीने से शान्ति प्राप्त हो, (२) मनोज्ञ शब्दादि विषयो की प्राप्ति होने पर श्रोत्रादि इन्द्रियो की तुष्टि हो, (३) परस्पर विरोधी दो या अनेक द्रव्यो के मिलाने से स्वाद की वृद्धि (पुष्टि) होती हो अथवा (४) तराजू पर जिस वस्तु को चढाने से दोनो पलडे समान हो। क्षेत्रसमाधि वह है—जिस क्षेत्र मे रहने से शान्ति-समाधि प्राप्त हो, काल-समाधि का अर्थ—जिस ऋतु, मास या काल मे शान्ति प्राप्त हो। भावसमाधि का अर्थ है—चित्त की स्वस्थता, शान्ति, एकाग्रता, समता, सतुष्टि, प्रसन्नता आदि या जिन ज्ञानादि गुणो द्वारा समाधि लाभ हो।[2]

☐ प्रस्तुत अध्ययन मे भावसमाधि (आत्मप्रसन्नता) के सम्बन्ध मे प्रकाश डाला गया है, भावसमाधि ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप रूप है। दशवैकालिक सूत्र में विनयसमाधि, श्रुतसमाधि, तप समाधि और आचारसमाधि का (प्रत्येक के चार-चार भेद सहित) उल्लेख है, ये भी भावसमाधि के अन्तर्गत है। दशाश्रुतस्कन्ध के अनुसार उक्त बीस असमाधि स्थानो से दूर रहना भी भाव-समाधि है। सम्यक्चारित्र मे स्थित साधक चारो भावसमाधियो मे आत्मा को स्थापित कर लेता है।[3]

---

१. पाइअ-सद्द-महण्णवो पृ० ८७०

२ (क) सूत्रकृताग निर्युक्ति गा० १०३ से १०६ तक

(ख) सूत्र कृ० शी० वृत्ति पत्राक १८६-१८७

३. (क) दशवैकालिक सूत्र अ० ९, उद्देशक चार मे ४ प्रकार की समाधियो का वर्णन।

(ख) दशाश्रुतस्कन्ध प्रथम दशा मे २० प्रकार के समाधि स्थान। —आयारदशा पृ० १

(ग) दशाश्रुतस्कन्ध मे चित्त समाधि प्राप्त होने के १० स्थान (कारण) —आयारदशा पृ० ३४

☐ प्रस्तुत अध्ययन में शास्त्रकार ने श्रमण को चारित्रसमाधि के लिए किसी प्रकार का सचय न करना, समस्त प्राणियो के साथ आत्मवत् व्यवहार करना, आरम्भादि प्रवृत्तियो मे हाथ-पैर आदि को सयत रखना, निदान न करना, हिंसा, चौर्य अब्रह्मचर्य आदि पापो से दूर रहना, अप्रतिबद्ध विचरण, आत्मवत् प्रेक्षण, एकत्वभावना, क्रोधादि से विरति, सत्यरति, कामना रहित तपश्चरण, तितिक्षा, वाग्गुप्ति, शुद्धलेश्या, स्त्री संसर्गनिवृत्ति, धर्मरक्षा के विचारपूर्वक पापविरति निरपेक्षता, कायव्युत्सर्ग, जीवन-मरणाकांक्षा रहित होना आदि समाधि प्राप्ति के उपायो का तथा समाधि भग करने वाला स्त्रीसंसर्ग, परिग्रह-ममत्व, भोगाकाक्षा आदि प्रवृत्तियो से दूर रहने का निर्देश किया है। तथा ज्ञान-समाधि एव दर्शनसमाधि के लिए शका, काक्षा आदि से तथा एकान्त क्रियावाद एव एकान्त अक्रियावाद से भी दूर रहना आवश्यक बताया है।[४]

☐ इस अध्ययन का उद्देश्य साधक को सभी प्रकार की असमाधियो तथा असमाधि उत्पन्न करने वाले कारणो से दूर रखकर चारो प्रकार की भाव समाधि मे प्रवृत्त करना है।

☐ चारो प्रकार की भावसमाधि की फलश्रुति वृत्तिकार के शब्दो मे—(१) दर्शन-समाधि मे स्थित साधक का अन्त:करण जिन-प्रवचन मे रंगा होने से वह कुबुद्धि या कुदर्शन-रूपी अन्धड से विचलित नही होता, (२) ज्ञान-समाधि द्वारा साधक ज्यो-ज्यो नवीन-नवीन शास्त्रो का अध्ययन करता है, त्यो-त्यो अतीव रसप्राप्ति, मोक्ष प्राप्ति की श्रद्धा मे वृद्धि एव आत्म-प्रसन्नता होती है। (३) चारित्रसमाधि मे स्थित मुनि विषयसुख नि स्पृह, निष्किंचन एव निरपेक्ष होने से परम शान्ति पाता है। (४) तप समाधि मे स्थित मुनि उत्कट तप करता हुआ भी घबराता नही, न ही क्षुधा-तृणा आदि परीषहो से उद्विग्न होता है, तथा ध्यानादि आभ्यन्तर तप मे लीन साधक मुक्ति का-सा आनन्द (आतमसुख) प्राप्त कर लेता है, फिर वह सुख-दु खादि द्वन्द्वो से पीडित नही होता।[५]

☐ प्रस्तुत अध्ययन उद्देशक रहित है और इसमे कुल २४ गाथाएँ है।

☐ यह अध्ययन सूत्रगाथा ४७३ से प्रारम्भ होकर ४९६ मे पूर्ण होता है।

☐☐

---

४ (क) सूयगडग सुत्त (मूलपाठ टिप्पण) पृ० ८५ से ८९ तक का साराश
(ख) जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भा० १ पृ० १५०

५ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्रांक १८७

समाही : दसम अज्झयणं

समाधि : दशम अध्ययन

समाधिप्राप्त साधु की साधना के मूलमन्त्र

४७३. आघं मइमं अणुवीति धम्मं, अंजू समाहिं तमिणं सुणेह ।
अपडिण्णे भिक्खू तु समाहिपत्ते, अणियाणभूते सुपरिव्वएज्जा ॥१॥

४७४ उड्ढं अहे य तिरियं दिसासु, तसा य जे थावर जे य पाणा ।
हत्थेहि पाएहि य संजमेत्ता, अदिण्णमन्नेसु य नो गहेज्जा ॥२॥

४७५. सुअक्खातधम्मे वितिगिच्छतिण्णे, लाढे चरे आयतुले पयासु ।
आयं न कुज्जा इह जीवियट्ठी, चयं न कुज्जा सुतवस्सि भिक्खू ॥३॥

४७६. सव्विदियऽभिनिव्वुडे पयासु, चरे मुणी सव्वतो विप्पमुक्के ।
पासाहि पाणे य पुढो वि सत्ते, दुक्खेण अट्टे परिपच्चमाणे ॥४॥

४७७. एतेसु बाले य पकुव्वमाणे, आवट्टती कम्मसु पावएसु ।
अतिवाततो कीरति पावकम्मं, निउंजमाणे उ करेति कम्मं ॥५॥

४७८. आदीणभोई वि करेति पावं, मंता तु एगंतसमाहिमाहु ।
बुद्धे समाहीय रते विवेगे, पाणातिपाता विरते ठितप्पा ॥६॥

४७९. सव्वं जगं तू समयाणुपेही, पियमप्पियं कस्सइ नो करेज्जा ।
उट्ठाय दीणे तु पुणो विसण्णे, संपूयणं चेव सिलोयकामी ॥७॥

४८०. आहाकडं चेव निकाममीणे, निकामसारी य विसण्णमेसी ।
इत्थीसु सत्ते य पुढो य बाले, परिग्गहं चेव पकुव्वमाणे ॥८॥

४८१. वेराणुगिद्धे णिचयं करेति, इतो चुते से दुहमट्ठदुग्गं ।
तम्हा तु मेधावि समिक्ख धम्मं, चरे मुणी सव्वतो विप्पमुक्के ॥९॥

४८२. आयं न कुज्जा इह जीवितट्ठी, असज्जमाणो य परिव्वएज्जा ।
णिसम्मभासी य विणीय गिद्धि, हिंसण्णितं वा ण कहं करेज्जा ।।१०।।

४८३. आहाकडं वा ण णिकामएज्जा, णिकामयंते य ण संथवेज्जा ।
धुणे उरालं अणुवेहमाणे, चेच्चाण सोयं अणपेक्खमाणे ।।११।।

४८४. एगत्तमेव अभिपत्थएज्जा, एवं पमोक्खो ण मुसं ति पास ।
एसप्पमोक्खो अमुसे वरे वी, अकोहणे सच्चरते तवस्सी ।।१२।।

४८५. इत्थीसु या आरत मेहुणा उ, परिग्गहं चेव अकुव्वमाणे ।
उच्चावएसु विसएसु ताई, णिस्संसयं भिक्खू समाहिपत्ते ।।१३।।

४८६. अरतिं रतिं च अभिभूय भिक्खू, तणाइफासं तह सीतफासं ।
उण्हं च दसं च हियासएज्जा, सुब्भिं च दुब्भिं च तितिक्खएज्जा ।।१४।।

४८७. गुत्तो वईए य समाहिपत्ते, लेसं समाहट्टु परिव्वएज्जा ।
गिहं न छाए ण वि छावएज्जा, सम्मिस्सभावं पजहे पयासु ।।१५।।

४७३ मतिमान् (केवलज्ञानी) भगवान् महावीर ने (केवलज्ञान से) जानकर सरल समाधि (मोक्ष-दायक) धर्म कहा है (हे शिष्यो !) उस धर्म को तुम मुझ से सुनो। भिक्षु अप्रतिज्ञ (तप की ऐहिक-पारलौकिक फलाकाक्षा से रहित) है, अनिदानभूत (विषयसुख प्राप्तिरूप निदान अथवा कर्मबन्ध के आदिकारणो (आश्रवो) या दु खकारणरूप हिसादि निदान या ससार के कारणरूप निदान से रहित है, अथवा अनिदान ससारकारणाभावरूप सम्यग्ज्ञानादि युक्त है, वही समाधिप्राप्त है। ऐसा मुनि शुद्ध सयम मे पराक्रम करे।

४७४ ऊँची-नीची और तिरछी दिशाओ मे जो त्रस और स्थावर प्राणी हैं, अपने हाथो और पैरो को सयम मे रखकर (अथवा उनके हाथ-पैरो को बाधकर) किसी भी प्रकार से पीडा नही देनी चाहिए, (या हिंसा नही करनी चाहिए), तथा दूसरो के द्वारा न दिये हुए पदार्थ को ग्रहण नही करना चाहिए।

४७५ श्रुत और चारित्र-धर्म का अच्छी तरह प्रतिपादन करने वाला तथा वीतरागप्ररूपित धर्म मे विचिकित्सा-शका से ऊपर उठा हुआ- पारगत, प्रासुक आहार-पानी तथा एषणीय अन्य उपकरणादि से अपना जीवन-यापन करने वाला, उत्तम तपस्वी एव भिक्षाजीवी साधु पृथ्वीकाय आदि प्राणियो के प्रति आत्मतुल्य (होकर) विचरण (-विचार) करे, या व्यवहार करे। इस लोक मे चिरकाल तक (सयमी जीवन) जीने की इच्छा से आय (धन की आमदनी-कमाई या आश्रवो की आय-वृद्धि) न करे, तथा भविष्य के लिए (धन-धान्य आदि का) सचय न करे।

४७६ मुनि स्त्रियों से सम्बन्धित पचेन्द्रिय विषयो से अपनी समस्त इन्द्रियो को रोककर जितेन्द्रिय बने। तथा बाह्य और आभ्यन्तर सभी संगो (आसक्ति-बन्धनो) से विशेष रूप से मुक्त

होकर साधु (सयम पथ पर) विचरण करे। एव यह देखे कि प्राणी इस ससार में दु:ख (आसाता-वेदनीयोदयरूप अथवा स्वकृत अष्टविधकर्मरूप दु ख) से आर्त्त (पीड़ित) और सब प्रकार से सतप्त हो (अथवा आर्त्तध्यान करके मन-वचन-काया से सतापानुभव कर) रहे है।

४७७ अज्ञानी जीव इन (पूर्वोक्त पृथ्वीकाय आदि) प्राणियो को छेदन-भेदन-उत्पीडन आदि के रूप मे कष्ट देकर अत्यन्त पापकर्म करता हुआ (उनके फलस्वरूप) इन्ही पृथ्वीकायादि योनियो मे बार-बार जन्म लेता है, और उसी रूप मे पीडित होता है। प्राणातिपात स्वय करने से प्राणी ज्ञानावरणीय आदि कर्मो का उपार्जन करता है, तथा दूसरो को प्राणातिपातादि पापकर्मों मे प्रेरित करके भी पाप (कर्मो का बन्ध) करता है।

४७८ जो साधक दीनवृत्ति (कगाल भिखारी की तरह या पिण्डोलक की तरह) से भोजन प्राप्त करता है, वह भी पाप करता है। यह जानकर तीर्थकरो ने एकान्त (भावरूप ज्ञानादि) समाधि का उपदेश दिया है। इसलिए प्रबुद्ध (विचारशील तत्त्वज्ञ) स्थितात्मा (स्थिर बुद्धि) साधक भाव-समाधि और विवेक मे रत होकर प्राणातिपात से विरत रहे।

४७९ साधु समस्त जगत् (प्राणिसमूह) को समभाव से देखे। वह किसी का भी प्रिय (रागभाव प्रेरित व्यवहार) या अप्रिय (द्वेषभावप्रेरित व्यवहार) न करे। कोई व्यक्ति प्रव्रजित होकर (परीषहो एव उपसर्गो की बाधा आने पर) दीन और विषण्ण हो जाता है अथवा विषयार्थी होकर पतित हो जाता है, कोई अपनी प्रशसा का अभिलाषी होकर वस्त्रादि से सत्कार (पूजा) चाहता है।

४८० जो (व्यक्ति प्रव्रजित होकर) आधाकर्म आदि दोषदूषित आहार की अत्यन्त लालसा करता है, तथा जो वैसे आहार के लिये निमन्त्रण आदिपूर्वक इधर-उधर खूब भटकता है, वह (पार्श्वस्थ आदि कुशीलो के) विषण्ण भाव को प्राप्त करना चाहता है। तथा जो स्त्रियो मे आसक्त होकर उनके अलग-अलग हास्य, विलास, भाषण आदि मे अज्ञानी (सद्-असद्-विवेक रहित) की तरह मोहित हो जाता है, वह (स्त्रियो की प्राप्ति के लिए) परिग्रह (धनादि का सग्रह) करता हुआ पापकर्म का सचय करता है।

४८१ जो व्यक्ति (हिसादि करके) प्राणियो के साथ जन्म-जन्मान्तर तक वैर बाधता है, वह पापकर्म का निचय (वृद्धि) करता है। वह यहाँ (इस लोक) से च्युत हो (मर) कर परमार्थत दुर्गम नरकादि दु ख स्थानो मे जन्म लेता है। इसलिए मेधावी (मर्यादावान् विवेकी) मुनि (सम्पूर्णसमाधि-गुणमूलक-श्रुत-चारित्ररूप) धर्म का सम्यक् विचार या स्वीकार करके बाह्याभ्यन्तरसगो (बन्धनो) से समग्र रूप में विमुक्त होकर मोक्ष (सयम) पथ मे विचरण करे।

४८२ साधु इस लोक मे चिरकाल तक जीने की इच्छा से आय (द्रव्योपार्जन या कर्मोपार्जन) न करे तथा स्त्री-पुत्र आदि मे अनासक्त रहकर सयम मे पराक्रम करे। साधु पूर्वापर विचार करके कोई बात कहे। (शब्दादि विषयो से) आसक्ति हटा ले तथा हिंसायुक्त कथा (उपदेश) न कहे।

४८३ (समाधिकामी) साधु आधाकर्मी आहार की कामना न करे, और न ही आधाकर्मी आहार की कामना करने वाले के साथ परिचय (ससर्ग) करे। (उत्कट तप से कर्मनिर्जरा होती है, इस प्रकार की) अनुप्रेक्षा करता हुआ साधु औदारिक शरीर को कृश करे (धुने)। शरीर (को पुष्ट

या सशक्त बनाने) की अपेक्षा न रखता हुआ साधु (तपस्या से कृश हुए) शरीर का शोक (चिन्ता) छोडकर सयम मे पराक्रम करे।

४८४ साधु एकत्व भावना का अध्यवसाय करे। ऐसा करने से वह सग से मुक्त होता है, फिर उसे कर्मपाश (या संसार बन्धन) नही छूते। यह (एकत्वभावनारूप) सगत-मुक्ति मिथ्या नही, सत्य है, और श्रेष्ठ भी है। जो साधु क्रोध रहित, सत्य मे रत एव तपस्वी है, (वही समाधिभाव को प्राप्त है।)

४८५ जो साधक स्त्री विषयक मैथुन से निवृत्त है, जो परिग्रह नही करता, एव नाना प्रकार के विषयो मे राग-द्वेषरहित होकर आत्मरक्षा या प्राणिरक्षा करता है, नि सन्देह वह भिक्षु समाधि प्राप्त है।

४८६ (समाधिकामी) साधु सयम मे अरति (खेद) और असयम मे रति (रुचि) को जीतकर तृणादि स्पर्श, शीतस्पर्श, उष्णस्पर्श और दश-मशक-स्पर्श (परीषह) को (अक्षुब्ध होकर समभाव से) सहन करे, तथा सुगन्ध-दुर्गन्ध (एव आक्रोश, वध आदि परीषहो को भी (समभाव से राग-द्वेष रहित होकर) सहन करे।

४८७ जो साधु वचन से गुप्त (मौनव्रती या धर्मयुक्त भाषी) रहता है, वह भाव समाधि को प्राप्त है (ऐसा समाधिस्थ) सा (अशुद्ध कृष्णादि लेश्याओ को छोडकर) शुद्ध तैजस आदि लेश्याओ को ग्रहण करके सयम पालन मे पराक्रम करे तथा स्वय घर को न छाए, न ही दूसरो से छवाए, (न ही गृहादि को सस्कारित करे।) एव प्रव्रजित साधु पचन-पाचन आदि गृह कार्यो को लेकर गृहस्थो से, विशेषत स्त्रियो से मेलजोल (सम्पर्क या मिश्रभाव) न करे।

विवेचन---समाधि प्राप्त साधु की साधना के मूल मन्त्र—मोक्षदायक समाधि प्राप्त करने की साधना के लिए प्रस्तुत १५ सूत्र गाथाओ मे से निम्नलिखित मूल मन्त्र फलित होते है—(१) समाधि प्राप्ति के लिए साधु अप्रतिज्ञ (इह-परलोक सम्बन्धी फलाकाक्षा से रहित) तथा अनिदान (विषय-सुख प्राप्ति रूप निदान से रहित) होकर शुद्ध सयम मे पराक्रम करे, (२) सर्वत्र सर्वदा त्रस-स्थावर प्राणियो पर सयम रखे, उन्हे पीडा न पहुचाए, (३) अदत्तादान से दूर रहे, (४) वीतराग प्ररूपित श्रुत-चारित्र रूप धर्म मे सशयरहित हो। (५) प्रासुक आहार-पानी एव एषणीय उपकरणादि से अपना जीवन निर्वाह करे, (६) समस्त प्राणियो के प्रति आत्मवत् व्यवहार करे, (७) चिरकाल तक जोने की आकाक्षा से न तो आय करे, न ही पदार्थों का सचय करे, (८) स्त्रियो से सम्बद्ध पचेन्द्रिय विषयो मे प्रवृत्त होने से अपनी इन्द्रियो को रोके, जितेन्द्रिय बने, (९) बाह्य-आभ्यन्तर सभी सम्बन्धो से मुक्त होकर सयम मे विचार करे, (१०) पृथ्वीकायिकादि प्राणियो को दु ख से आर्त्त और आर्त्तध्यान से सतप्त देखे, (११) पृथ्वीकायादि प्राणियो को छेदन-भेदन एव उत्पीडन आदि से कष्ट पहुचाने वाले जीवो को उनके पापकर्म के फलस्वरूप उन्ही योनियो मे बार-बार जन्म लेकर पीडित होना पडता है, प्राणातिपात से ज्ञानावरणीयादि पापकर्मो का बन्ध होता है। अत. समाधिकामी साधु इनसे दूर रहे। (१२) तीर्थंकरो ने भाव समाधि का उपदेश इसी उद्देश्य से किया है कि साधक न तो दीनवृत्ति से भोजन प्राप्त करे न ही असन्तुष्ट होकर, क्योकि दोनो ही अवस्थाओ मे अशुभ (पाप) कर्म बँधता है। (१३) भावसमाधि के लिए साधक तत्त्वज्ञ, स्थिरबुद्धि विवेकरत एव प्राणातिपात आदि से विरत हो, (१४) समाधि प्राप्ति के लिए साधु समस्त जगत् को समभाव से देखे, रागभाव अथवा द्वेषभाव से प्रेरित होकर न तो किसी का प्रिय बने, न ही किसी का अप्रिय, किसी की भलाई-बुराई के प्रपच मे

न पडे, (१५) प्रव्रजित साधु दीन, विषण्ण, पतित और प्रशसा एव आदर-सत्कार का अभिलाषी न बने, (१६) आधाकर्मादि दोष दूषित आहार की लालसा न करे, न ही वैसे आहार के लिए घूमे, अन्यथा वह विषण्ण भाव को प्राप्त हो जाएगा। (१७) स्त्रियो से सम्बन्धित विविध विषयो मे आसक्त होकर स्त्री प्राप्ति के लिए धनादि सग्रह करता है, वह पाप कर्म का सचय करके असमाधि पाता है। (१८) जो प्राणियो के साथ वैर बाधता है, वह उस पापकर्म के फलस्वरूप यहाँ से मरकर नरकादि दु ख स्थानो मे जन्म लेता है, इसलिए मेधावी मुनि को समाधि-धर्म का सम्यक् विचार करके इन पापो या ग्रन्थो से मुक्त होकर सयमाचरण करना चाहिए। (१९) चिरकाल तक जीने की इच्छा से धन या कर्म की आय न करे, अपितु धन, धाम, स्त्री-पुत्र आदि मे अनासक्त रह कर सयम मे पराक्रम करे। (२०) कोई बात कहे तो सोच-विचार कर कहे, (२१) शब्दादि विषयो से आसक्ति हटा ले, (२२) हिसात्मक उपदेश न करे, (२३) आधाकर्मी आदि दोषयुक्त आहार की न तो कामना करे और न ही ऐसे दोषयुक्त आहार से ससर्ग रखे, (२४) कर्मक्षय के लिए शरीर को कृश करे, शरीर स्वभाव की अनुप्रेक्षा करता हुआ शरीर के प्रति निरपेक्ष एव निश्चिन्त हो जाए। (२५) एकत्व भावना ही सगमोक्ष का कारण है, यही भाव समाधि का प्रधान कारण है, (२६) भाव समाधि के लिए साधु क्रोध से विरत, सत्य मे रत एव तपश्चर्या परायण रहे। (२७) जो साधु स्त्री सम्बन्धी मैथुन से विरत रहता है, परिग्रह नही करता और विविधि विषयो से स्व-पर की रक्षा करता है, नि सदेह वह समाधि प्राप्त है। (२८) जो साधु अरति और रति पर विजयी बनकर तृण स्पर्श, शीतोष्ण स्पर्श, दशमशक स्पर्श, सुगन्ध-दुर्गन्ध प्राप्ति आदि परीषहो को समभाव से सहन कर लेता है, वह भी समाधि प्राप्त है। (२९) जो साधु वचनगुप्ति से युक्त हो, शुद्ध लेश्या से युक्त होकर सयम मे पराक्रम करता है, न तो घर बनाता है, न बनवाता है और गृहस्थी के विशेषत स्त्री सम्बन्धी गृहकार्यो से सम्पर्क नही रखता, वह भी समाधि प्राप्त है।[1] नि सदेह समाधिकामी साधु के लिए ये मूल मन्त्र बडे उपयोगी है।

पाठान्तर और व्याख्या—**'परिपच्चमाणे'** के बदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—**'परितप्पमाणे'**—व्याख्या है - परितप्त होते हुए प्राणियो को। **'ठितप्पा'** के बदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—**'ठितच्चा'**—व्याख्या है—स्थिर अर्चा-लेश्या-मनोवृत्ति वाला। **'णिकाममीणे'** के बदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—**'णियायमीणे'**—व्याख्या है—**'णियायणा'**—अर्थ है—निमन्त्रण ग्रहण करता है, वह 'णियायमीणे'। **'निकामसारो'** के बदले पाठान्तर है—**'निकामचारी'**—व्याख्या है—आधाकर्मादि दोषयुक्त आहार का निकाम-अत्यधिक सेवन करता है या स्मरण करता है। **'जीवितट्ठी'**—दो व्याख्याएं—(१) इस लोक मे जीवित यानी काम-भोग, यशकीर्ति इत्यादि चाहने वाला, (२) इस ससार मे असयमी जीवन जीने का अभिलाषी। **चेच्चाण सोय**—(१) शोक—चिन्ता छोडकर अथवा (२) श्रोत-गृह-स्त्री-पुत्र-धनादि रूप प्रवाह को छोडकर। **'इत्थीसु'**—देव, मनुष्य और तिर्यञ्च सम्बन्धी तीनो प्रकार की स्त्रियो मे। **'निस्ससय'**—(१) नि सशय-नि सन्देह अथवा (२) नि सश्रय—विषयो का सश्रय-ससर्ग न करने वाला साधु।[2]

---

१ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १८७ से १९२ तक का साराश

२ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १८७ से १९२

(ख) सूयगडग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ८५ से ८७

भावसमाधि से दूर लोगों के विविध चित्र

४८८. जे केइ लोगंसि उ अकिरियाया, अण्णेण पुट्ठा धुतमाविसंति ।
आरंभसत्ता गढिता य लोए, धम्मं न याणंति विमोक्खहेउं ॥१६॥

४८९. पुढो य छंदा इह माणवा उ, किरियाकिरीणं च पुढो य वायं ।
जायस्स बालस्स पकुव्व देहं[1] पवड्ढती वेरमसंजतस्स ॥१७॥

४९०. आउक्खयं चेव अबुज्झमाणे, ममाति से साहसकारि मंदे ।
अहो य रातो परितप्पमाणे, अट्टे सुमूढे अजरामर व्व ॥१८॥

४९१ जहाहि वित्तं पसवो य सव्वे, जे बांधवा जे य पिता य मित्ता ।
लालप्पती सो वि य एइ मोहं, अन्ने जणा त सि हरंति वित्तं ॥१९॥

४८८ इस लोक मे जो (साख्य) लोग आत्मा को अक्रिय (अकर्ता, कूटस्थनित्य) मानते है, और दूसरे के द्वारा पूछे जाने पर मोक्ष (धूत—आत्मा के मोक्ष मे अस्तित्व) का प्रतिपादन करते हैं, वे सावद्य आरम्भ मे आसक्त और विषय-भोगो मे गृद्ध लोग मोक्ष के कारणभूत धर्म को नही जानते ।

४८९ इस लोक मे मनुष्यो की रुचि भिन्न-भिन्न होती है, इसलिए कोई क्रियावाद को मानते है और कोई अक्रियावाद को। कोई जन्मे हुए बालक के शरीर को खण्डश काटकर अपना सुख मानते है। वस्तुत असयमी व्यक्ति का प्राणियो के साथ वैर बढता है ।

४९० आरम्भ मे आसक्त पुरुष आयुष्य-क्षय को नही समझता, किन्तु वह मूढ (मन्द) सासारिक पदार्थो पर ममत्व रखता हुआ पापकर्म करने का साहस करता है। वह दिन-रात चिन्ता से सतप्त रहता है। वह मूढ स्वय को अजर-अमर के समान मानता हुआ अर्थों (धन आदि पदार्थो) मे मोहित-आसक्त रहता है ।

४९१ समाधिकामी व्यक्ति धन और पशु आदि सब पदार्थो का (ममत्व) त्याग करे। जो बान्धव और प्रिय मित्र है, वे वस्तुत कुछ भी उपकार नही करते, तथापि मनुष्य इनके लिए शोकाकुल होकर विलाप करता है और मोह को प्राप्त होता है। (उसके मर जाने पर) उनके (द्वारा अत्यन्त क्लेश से उपार्जित) धन का दूसरे लोग ही हरण कर लेते है ।

विवेचन—भावसमाधि से दूर लोगों के विविध चित्र—प्रस्तुत चार सूत्रगाथाओ मे उन लोगो का चित्र शास्त्रकार ने प्रस्तुत किया है, जो वस्तुत भाव समाधि से दूर हैं, किन्तु भ्रमवश स्वय को समाधि प्राप्त (सुखमग्न) मानते हैं। वे क्रमश चार प्रकार के है—(१) **दर्शन समाधि से दूर**—आत्मा को निष्क्रिय (अकर्ता) मानकर भी उसके द्वारा घटित न हो सकने वाले शाश्वत समाधि रूप मोक्ष का कथन करते हैं, (२) **ज्ञान-समाधि से दूर**—मोक्ष के कारणभूत सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र रूप धर्म को नही जानते, अपितु आरम्भासक्ति एव विषयभोग गृद्धि रूप अधर्म को ही मोक्ष का कारणभूत धर्म जान कर उसी मे रचे-पचे रहते है, (३) **दर्शन-समाधि से दूर**—क्रियावादी और अक्रियावादी ।

---

१ पाठान्तर—जायाए बालस्स पगब्भणाए ।

एकान्तक्रियावादी स्त्री, भोगोपभोग्य पदार्थो एव विषयभोग आदि की उपभोग क्रिया को समाधि (सुख) कारक मानते हैं, उक्त पदार्थो के ज्ञान को नही। एकान्त अक्रियावादी आत्मा को अकर्ता मानकर तत्काल जन्मे हुए बालक के शरीर के टुकडे-टुकडे करके उसमे आनन्द (समाधि) मानते है। किन्तु वस्तुत: दूसरो को पीडा देने वाली पापक्रिया आत्मा को अक्रिय मानने-कहने मात्र से टल नही जाती, प्राणियो के साथ वैरवर्द्धक उस पाप का फल भोगना ही पडता है। (४) **चारित्र-समाधि से दूर**—अपने आपको आयुष्य क्षयरहित अमर मानकर रात-दिन धन, सासारिक पदार्थ, स्त्री-पुत्र आदि पर ममत्व करके उन्ही की प्राप्ति, रक्षा, वृद्धि आदि की चिन्ता मे मग्न रहते है, ऐसे लोग समाधि (सुख-शान्ति) के मूलभूत कारण (त्याग, वैराग्य, सयम, तप, नियम आदि रूप चारित्र) से दूर रहते है। मरने पर उनके द्वारा पाप से उपार्जित धनादि पदार्थों को दूसरे ही लोग हडप जाते है, न तो इहलोक मे उन्हे समाधि प्राप्त होती है, न ही परलोक मे वे समाधि पाते है।[3]

पाठान्तर और व्याख्या—**'धुतमादिसति'**—के बदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—**'धुतमादियति'** व्याख्या है—'धुत' अर्थात् वैराग्य की प्रशसा करते है। **'जायस्स बालस्स पकुव्व देह'** के बदले यहाँ युक्ति एव प्रसग से सगत पाठान्तर है—**'जायाए बालस्स पगब्भणाए'** व्याख्या की गई है—हिंसादि पापकर्मों मे प्रवृत्त अनुकम्पारहित अज्ञ (बाल) व्यक्ति की जो (हिंसावाद मे) प्रगल्भता—धृष्टता उत्पन्न हुई, उससे उसका प्राणियो के साथ वैर ही बढता है। **'साहसकारी'** के बदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—**'सहस्सकारी'**, व्याख्या दो प्रकार से की गई है—(१) स-हर्ष हिंसादि पाप करता है, (२) सहस्रो (हजारो) पापो को करता है। **'जहाहि वित्तं'** के बदले पाठान्तर है—**'जधा हि (य)'**, व्याख्या दो प्रकार से है—(१) 'वित्त' आदि पदार्थों का त्याग करके, (२) जैसे कि धन आदि पदार्थ।[4]

समाधि प्राप्ति के लिए प्रेरणासूत्र

४९२. **सीह जहा खुद्दमिगा चरंता, दूरे चरती परिसंकमाणा।**
एव तु मेधावि समिक्ख धम्मं, दूरेण पावं परिवज्जएज्जा ॥२०॥

४९३. **संबुज्झमाणे तु णरे मतीमं, पावातो अप्पाण निवट्टएज्जा।**
हिंसप्पसूताइं दुहाइं मंता, वेराणुबंधीणि महब्भयाणि ॥२१॥

४९४. **मुसं न बूया मुणि अत्तगामी, णिव्वाणमेयं कसिणं समाहि।**
सयं न कुज्जा न वि कारवेज्जा, करेंतमन्नं पि य नाणुजाणे ॥२२॥

---

३ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्र १९३ का सार

४ (क) सूयगडग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ८७-८८
(ख) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १९३

४९५. सुद्धे सिया जाए न दूसएज्जा, अमुच्छिते ण य अज्झोववण्णे ।
धितिमं विमुक्के ण य पूयणट्ठी, न सिलोयकामी य परिव्वएज्जा ।।२३।।

४९६. निक्खम्म गेहाउ निरावकंखी, कायं विओसज्ज नियाणछिण्णे ।
नो जीवितं नो मरणाभिकंखी, चरेज्ज भिक्खू वलया विमुक्के ।।२४।।
—त्ति बेमि ।

।। समाही : दसमं अज्झयणं सम्मत्त ।।

४९२ जैसे वन मे विचरण करते हुए मृग आदि छोटे-छोटे जगली पशु सिंह (के द्वारा मारे जाने) की शका करते हुए दूर से ही (बचकर) चलते है, इसीप्रकार मेधावी साधक (समाधि रूप) धर्म का विचार करके (असमाधि प्राप्त होने की शका से) पाप को दूर से ही छोडकर विचरण करे ।

४९३ भाव-समाधि से या सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप धर्म को समझने वाला (विहिता-नुष्ठान मे प्रवृत्ति करता हुआ) सुमतिमान् पुरुष (हिसा-असत्यादि रूप) पापकर्म से स्वय को निवृत्त करे । हिसा से उत्पन्न अशुभ कर्म नरकादि यातना स्थानो मे अत्यन्त दु खोत्पादक है, लाखो जन्मो तक प्राणियो के साथ वैर परम्परा बाँधने वाले है, इसीलिए ये महान् भयजनक है ।

४९४ आप्तगामी (आप्त-सर्वज्ञो के द्वारा प्ररूपित मोक्ष मार्ग पर चलने वाला), अथवा आत्महित गामी (आत्म-नि श्रेयसकामी) मुनि असत्य न बोले । इसी तरह वह मृषावाद-विरमण तथा दूसरे महाव्रतो के स्वय अतिचार (दोष) न करे (लगाए), दूसरे के द्वारा अतिचार-सेवन न कराए तथा अतिचारसेवी का (मन, वचन, काया और कर्म से) अनुमोदन न करे (उसे अच्छा न जाने) । यही निर्वाण (परम शान्ति रूप मोक्ष) तथा सम्पूर्ण भाव-समाधि (कहा गया) है ।

४९५ उद्गम, उत्पाद और एषणादि दोषो से रहित शुद्ध आहार प्राप्त होने पर साधु उस पर राग-द्वेष करके चारित्र को दूषित न करे । मनोज्ञ सरस आहार मे भी मूर्च्छित न हो, न ही बार-बार उस आहार को पाने की लालसा करे । भाव-समाधिकामी साधु धृतिमान् एव बाह्याभ्यन्तर परिग्रह से विमुक्त बने । वह अपनी पूजा-प्रतिष्ठा एव कीर्ति का अभिलाषी न होकर शुद्ध सयम मे पराक्रम करे ।

४९६ समाधिकामी साधु अपने घर से निकल कर (दीक्षा लेकर) अपने जीवन के प्रति निरपेक्ष (निराकाक्षी) हो जाए, तथा शरीर-सस्कार-चिकित्सा आदि न करता हुआ शरीर का व्युत्सर्ग करे एव अपने तप के फल की कामना रूप निदान का मूलोच्छेद कर दे । साधु न तो जीवन की आकाक्षा करे और न ही मरण की । वह ससार-वलय (जन्म-मरण के चक्र अथवा कर्मबन्धन या सासारिक झझटो के चक्कर) से विमुक्त होकर सयम या मोक्ष रूप समाधि पथ पर विचरण करे ।
—ऐसा मै कहता हूँ ।

विवेचन—विविध समाधि प्राप्ति के लिए प्रेरणा सूत्र—प्रस्तुत पाच सूत्रगाथाओ द्वारा शास्त्रकार ने इस अध्ययन का उपसहार करते हुए विविध समाधियो की प्राप्ति के लिए कुछ प्रेरणा सूत्र प्रस्तुत किये हैं, जिनके अनुसार चलना भाव ममाधिकामियो के लिए अनिवार्य है । इस पचसूत्री मे

मुख्यतया आचार समाधि एव तप समाधि की प्राप्ति के लिए प्रेरणा सूत्र है। समाधि प्राप्ति के ये प्रेरणा सूत्र इस प्रकार है—**मूल-गुण रूप आचार समाधि प्राप्ति के लिए**—(१) समाधि धर्म की रक्षा के लिए हिसादि पापो का सर्वथा त्याग करे, (२) समाधि-मर्मज्ञ साधु हिसादि पापकर्मों से निवृत्त हो जाए, क्योकि हिसा से उत्पन्न पापकर्म नरकादि दु खो के उत्पादक, वैरानुबन्धी और महाभयजनक है। (३) आप्तगामी साधु मन-वचन-काया से कृत-कारित-अनुमोदित रूप से असत्य आदि पापो का आचरण न करे।

उत्तरगुण रूप आचार समाधि के लिए—(१) निर्दोष आहार प्राप्त होने पर भी मनोज्ञ के प्रति राग और अमनोज्ञ के प्रति द्वेष करके चारित्र को दूषित न करे, (२) उस आहार मे भी न तो मूर्च्छित हो, न ही उसे बार-बार पाने की लालसा रखे, (३) धृतिमान हो, (४) पदार्थों के ममत्व या सग्रह से मुक्त हो, (५) पूजा-प्रतिष्ठा और कीर्ति की कामना न करे, (६) सहजभाव से शुद्ध सयम-पालन मे समुद्यत रहे।

तप समाधि प्राप्ति के लिए—(१) दीक्षा ग्रहण करके साधु अपने जीवन के प्रति निरपेक्ष होकर रहे (असयमी जीवन जीने की आकाक्षा न रखे), (२) शरीर को सस्कारित एव पुष्ट न करता हुआ काय व्युत्सर्ग करे, (३) तपश्चर्यादि के फल की आकाक्षा (निदान) को मन से निकाल दे, (४) न जीने की इच्छा करे, न ही मरने की, (५) ससार चक्र (कर्मबन्ध) के कारणो से या माया से विमुक्त रहकर सयम मे पराक्रम करे।[५]

पाठान्तर और व्याख्या—**'वेराणुबंधीणि महब्भयाणि'** के बदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—**'णेव्वाणभूते व परिव्वएज्जा'**, व्याख्या इस प्रकार है—"जैसे युद्ध आदि से निर्वृत—लौटा हुआ पुरुष व्यापार-रहित होने से किसी की हिसा करने मे प्रवृत्त नही होता, वैसे ही सावद्य कार्य से रहित पुरुष भी किसी की हिसा न करता हुआ सयम मे पुरुषार्थ करे।"[६]

।। समाधि : दशम अध्ययन समाप्त ।।

---

५ सूत्रकृताग शीलांकवृत्ति पत्राक १९३ से १९५ तक का साराश

६ (क) सूयगडग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ८८

(ख) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १९४

मार्ग-एकादश अध्ययन

प्राथमिक

☐ प्रस्तुत सूत्रकृताग (प्र० श्रु०) के ग्यारहवे अध्ययन का नाम 'मार्ग' है ।

☐ निर्युक्तिकार ने 'मार्ग' के नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से छह निक्षेप किये हैं । नाम-स्थापना मार्ग सुगम है । द्रव्यमार्ग विभिन्न प्रकार के होते हैं, जैसे—फलकमार्ग, लतामार्ग, आन्दोलकमार्ग, वेत्रमार्ग, रज्जुमार्ग, दवन (वाहन) मार्ग, कीलमार्ग (ठुकी हुई कील के सकेत से पार किया जाने वाला) पाशमार्ग, बिल (गुफा) मार्ग, अजादिमार्ग, पक्षिमार्ग, छत्रमार्ग, जलमार्ग आकाशमार्ग आदि । इसी तरह क्षेत्रमार्ग (जो मार्ग ग्राम, नगर, खेत, आदि जिस क्षेत्र मे जाता है, वह) तथा कालमार्ग (जिस काल मे मार्ग बना, वह) है, भावमार्ग वह है, जिससे आत्मा को समाधि या शान्ति प्राप्त हो ।

☐ प्रस्तुत अध्ययन में 'भावमार्ग' का निरूपण है । वह दो प्रकार का है—प्रशस्त और अप्रशस्त । सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग प्रशस्त भावमार्ग है । सक्षेप मे इसे सयममार्ग या श्रमणाचारमार्ग कहा जा सकता है । अप्रशस्त भावमार्ग मिथ्यात्व, अविरति और अज्ञान आदि पूर्वक की जाने वाली प्रवृत्ति है ।[1] प्रशस्त भावमार्ग को ही तीर्थंकर-गणधरादि द्वारा प्रतिपादित तथा यथार्थ वस्तुस्वरूपप्रतिपादक होने से सम्यग्मार्ग या सत्यमार्ग कहा गया है । इसके विपरीत अन्यतीर्थिको या कुमार्गग्रस्त पार्श्वस्थ, स्वच्छन्द, कुशील आदि स्वयूथिको द्वारा सेवित मार्ग अप्रशस्त है, मिथ्यामार्ग है । प्रशस्त मार्ग तप, सयम आदि प्रधान समस्त प्राणिवर्ग के लिए हितकर, सर्वप्राणिरक्षक, नवतत्त्वस्वरूपप्रतिपादक, एव अष्टादश, सहस्रशीलगुणपालक साधुत्व के आचार-विचार से ओत-प्रोत है ।

☐ निर्युक्तिकार ने इसी सत्य (मोक्ष) मार्ग के १३ पर्यायवाचक शब्द बताए है—(१) पथ, (२) मार्ग (आत्मपरिमार्जक), (३) न्याय (विशिष्ट स्थानप्रापक), (४) विधि (सम्यग्दर्शन एव ज्ञान का युगपत् प्राप्ति-कारक), (५) धृति (सम्यग्दर्शनादि से युक्त चारित्र मे स्थिर रखने वाला, (६) सुगति (सुगतिदायक), (७) हित (आत्मशुद्धि के लिए हितकर), (८) सुख (आत्मसुख का कारण), (९) पथ्य (मोक्षमार्ग के लिए अनुकूल), (१०) श्रेय (११वे गुणस्थान के चरम समय मे

---

१ (क) सूत्रकृताग निर्युक्ति गा० १०७ से ११० तक
(ख) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्रांक १९६

मोहादि उपशान्त होने से श्रेयस्कर), (११) निवृत्ति (ससार से निवृत्ति का कारण), (१२) निर्वाण (चार घातिकर्मक्षय होकर केवलज्ञान प्राप्त होने से), और (१३) शिव (शैलेशी अवस्था प्राप्तिरूप १४वें गुणस्थान के अन्त मे मोक्षपदप्रापक) ।[2]

☐ निर्युक्तिकार ने भावमार्ग की मार्ग के साथ तुलना करते हुए ४ भग (विकल्प) बताए हैं। क्षेम, अक्षेम, क्षेमरूप और अक्षेमरूप। जिस मार्ग मे चोर, सिंह व्याघ्र आदि का उपद्रव न हो, वह क्षेम तथा जो मार्ग काँटे, ककड, गड्ढे, पहाड, उबडखाबड पगडडी आदि से रहित, सम तथा, वृक्ष फल, फूल, जलाशय आदि से युक्त हो वह क्षेमरूप होता है। इससे विपरीत क्रमश अक्षेम और अक्षेमरूप होता है।[3] इसकी चतुर्भंगी इस प्रकार है—१. कोई मार्ग क्षेम और क्षेमरूप, २ कोई मार्ग क्षेम है, क्षेमरूप नही, ३ कोई मार्ग क्षेम नही, किन्तु क्षेमरूप है, ४ कोई मार्ग न तो क्षेम होता है, न क्षेमरूप होना है। इसी प्रकार प्रशस्त-अप्रशस्त भावमार्ग पर चलने वाले पथिक की दृष्टि से भी क्षेम, क्षेमरूप आदि ४ विकल्प (भग) होते है—(१) जो सयमपथिक सम्यग्ज्ञानादि मार्ग से युक्त (क्षेम) तथा द्रव्यलिंग (साधुवेष) से भी युक्त (क्षेमरूप) है, (२) जो ज्ञानादि मार्ग से तो युक्त (क्षेम) है, किन्तु द्रव्यलिंगयुक्त (क्षेमरूप) नही, (३) तृतीय भग मे निह्नव है, जो अक्षेम किन्तु क्षेमरूप और (४) चतुर्थ भग मे अन्यतीर्थिक एव गृहस्थ है, जो अक्षेम और अक्षेमरूप है।[3] साधु को क्षेम और क्षेमरूम मार्ग का ही अनुयायी होना चाहिए।

☐ प्रस्तुत अध्ययन मे आहारशुद्धि, सदाचार, सयम, प्राणातिपात-विरमण आदि का प्रशस्त भावमार्ग के रूप मे विवेचन है तथा दुर्गतिदायक अप्रशस्तमार्ग के प्ररूपक प्रवादको (क्रियावादी, अक्रियावादी, विनयवादी एव अज्ञानवादी कुल ३६३) से बचकर रहने तथा प्राणप्रण से मोक्षमार्ग पर दृढ रहने का निर्देश है। दानादि कुछ प्रवृत्तियो के विषय मे प्रत्यक्ष पूछे जाने पर श्रमण को न तो उनका समर्थन (प्रशसा) करना चाहिए और न ही निषेध। दसवे अध्ययन मे निरूपित भावसमाधि का वर्णन इस अध्ययन मे वर्णित भावमार्ग से मिलता-जुलता है।[4]

☐ दुर्गति-फलदायक अप्रशस्त भावमार्ग से बचाना और सुगति फलदायक प्रशस्त भावमार्ग की ओर साधक को मोडना इस अध्ययन का उद्देश्य है।[5]

☐ उद्देशकरहित इस अध्ययन की गाथा सख्या ३८ है।

☐ प्रस्तुत अध्ययन सूत्रगाथा सख्या ४९७ से प्रारम्भ होकर सू० गा० ५३४ पर पूर्ण होता है।

☐☐

---

२ (क) सूत्र कृ० निर्युक्ति गा० ११२ से ११५ तक (ख) सूत्र कृ० शी० वृत्ति पत्राक १९७

३ (क) सूत्र कृ० निर्युक्ति गा० १११ (ख) सूत्र कृ० शी० वृत्ति पत्राक १९६

४ (क) सूयगडगमुत्त (मूलपाठ टिप्पण) पृ० ९० से ९५ तक का साराश

(ख) जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भा० १, पृ० १५१

५. सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १९६

मग्गो : एगारसमं अज्झयणं

मार्ग : ग्यारहवाँ अध्ययन

मार्गसम्बन्धी जिज्ञासा, महत्त्व और समाधान

४९७. कयरे मग्गे अक्खाते, माहणेण मतीमता ।
जं मग्गं उज्जु पावित्ता, ओहं तरति दुत्तरं ।।१।।

४९८. तं मग्गं अणुत्तरं सुद्धं, सव्वदुक्खविमोक्खणं ।
जाणासि णं जहा भिक्खू, तं णे बूहि महामुणी ।।२।।

४९९. जइ णे केइ पुच्छिज्जा, देवा अदुव माणुसा ।
तेसिं तु कतरं मग्गं, आइक्खेज्ज कहाहि णे ।।३।।

५००. जइ वो केइ पुच्छिज्जा, देवा अदुव माणुसा ।
तेसिमं पडिसाहेज्जा, मग्गसारं सुणेह मे ।।४।।

५०१. अणुपुव्वेण महाघोरं, कासवेण पवेदियं ।
जमादाय इओ पुव्वं, समुद्दं व ववहारिणो ।।५।।

५०२. अतरिंसु तरंतेगे, तरिस्संति अणागता ।
तं सोच्चा पडिवक्खामि, जतवो तं सुणेह मे ।।६।।

४९७ अहिंसा के परम उपदेष्टा (महामाहन) केवलज्ञानी (विशुद्ध मतिमान्) भगवान् महावीर ने कौन-सा मोक्षमार्ग बताया है ? जिस सरल मार्ग को पाकर दुस्तर ससार (ओघ) को मनुष्य पार करता है ?

४९८ हे महामुने ! सब दु खो से मुक्त करने वाले शुद्ध और अनुत्तर (सर्वश्रेष्ठ) उस मार्ग को आप जैसे जानते है, (कृपया) वह हमे बताइए ।

४९९. यदि कोई देव अथवा मनुष्य हमसे पूछे तो हम उनको कौन-सा मार्ग बताएँ ? (कृपया) यह हमे बताइए ।

५०० यदि कोई देव या मनुष्य तुमसे पूछे तो उन्हे यह (आगे कहा जाने वाला) मार्ग बतलाना चाहिए। वह साररूप मार्ग तुम मुझसे सुनो।

५०१-५०२ काश्यपगोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित उस अतिकठिन मार्ग को मैं क्रमश: बताता हूँ। जैसे समुद्र मार्ग से विदेश मे व्यापार करने वाले व्यापारी समुद्र को पार कर लेते हैं, वैसे ही इस मार्ग का आश्रय लेकर इससे पूर्व बहुत-से जीवो ने ससार-सागर को पार किया है, वर्तमान मे कई भव्यजीव पार करते है, एव भविष्य मे भी बहुत-से जीव इसे पार करेगे। उस भाव-मार्ग को मैने तीर्थंकर महावीर से सुनकर (जैसा समझा है) उस रूप मे मैं आप (जिज्ञासुओ) को कहूँगा। हे जिज्ञासुजीवो! उस मार्ग (सम्बन्धी वर्णन) को आप मुझसे सुने।

विवेचन—मार्ग सम्बन्धी जिज्ञासा, महत्त्व और समाधान की तत्परता—प्रस्तुत छह सूत्रगाथाओ मे से तीन सूत्रगाथाओ मे श्री जम्बूस्वामी आदि द्वारा गणधर श्री सुधर्मास्वामी से ससार-सागरतारक, सर्वदु ख-विमोचक, अनुत्तर, शुद्ध, सरल तीर्थंकर-महावीरोक्त भावमार्ग से सम्बन्धित प्रश्न पूछा गया है, साथ ही यह भी बताने का अनुरोध किया गया है, कोई सुलभबोधि ससारोद्विग्न देव या मानव उस सम्यग्मार्ग के विषय मे हमसे पूछे तो हम क्या उत्तर दे? इसके बाद की तीन सूत्रगाथाओ मे उक्त मार्ग का माहात्म्य बताकर उस सारभूत मार्ग के सम्बन्ध मे जिज्ञासा का समाधान करने की तैयारी श्री सुधर्मास्वामी ने बताई है।

कठिन शब्दो की व्याख्या—**'पडिसाहिज्जा'**—प्रत्युत्तर देना चाहिए। **'मग्गसारं'**—मार्ग का परमार्थ।[1]

अहिंसामार्ग

५०३. पुढवीजीवा पुढो सत्ता, आउजीवा तहाऽगणी।
वाउजीवा पुढो सत्ता, तण रुक्ख सबीयगा ॥७॥

५०४. अहावरा तसा पाणा, एव छक्काय आहिया।
इत्ताव ताव जीवकाए, नावरे विज्जती काए ॥८॥

५०५. सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं, मतिमं पडिलेहिया।
सव्वे अकतदुक्खा य, अतो सव्वे न हिंसया ॥९॥

५०६. एयं खु णाणिणो सारं, जं न हिंसति कंचणं।
अहिंसा समयं चेव, एतावंतं विजाणिया ॥१०॥

५०७. उड्ढं अहे तिरियं च, जे केइ तस-थावरा।
सव्वत्थ विरतिं कुज्जा, संति निव्वाणमाहियं ॥११॥

---

१. सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक १९८-१९९ पर से।

५०८. पभू दोसे निराकिच्चा, ण विरुज्झेज्ज केणइ।
मणसा वयसा चेव, कायसा चेव अंतसो ॥ १२ ॥

५०३ पृथ्वी जीव है, पृथ्वी के आश्रित भी पृथक्-पृथक् जीव हैं, जल एवं अग्नि भी जीव है, वायुकाय के जीव भी पृथक्-पृथक् हैं तथा हरित तृण, वृक्ष और बीज (के रूप मे वनस्पतियाँ) भी जीव है।

५०४ इन (पूर्वोक्त पाँच स्थावर जीव निकाय) के अतिरिक्त (छठे) त्रसकाय वाले जीव होते हैं। इस प्रकार तीर्थंकरो ने जीव के छह निकाय (भेद) बताए है। इतने ही (ससारी) जीव के भेद है। इसके अतिरिक्त ससार मे और कोई जीव (का मुख्य प्रकार) नही होता।

५०५ बुद्धिमान पुरुष सभी अनुकूल (सगत) युक्तियो से (इन जीवो मे जीवत्व) सिद्ध करके भलीभाँति जाने-देखे कि सभी प्राणियो को दु ख अप्रिय है (सभी सुखलिप्सु हैं), अत किसी भी प्राणी की हिंसा न करे।

५०६ ज्ञानी पुरुष के ज्ञान का यही सार—निष्कर्ष है कि वह किसी भी जीव की हिसा नही करता। अहिंसा प्रधान शास्त्र का भी इतना ही सिद्धान्त या उपदेश जानना चाहिए।

५०७ ऊपर, नीचे और तिरछे (लोक मे) जो कोई त्रस और स्थावर जीव हैं, सर्वत्र उन सबकी हिंसा से विरति (निवृत्ति) करना चाहिए। (इस प्रकार) जीव को शान्तिमय निर्वाण-मोक्ष (की प्राप्ति कही गई) है।

५०८ इन्द्रियविजेता साधक दोषो का निवारण करके किसी भी प्राणी के साथ जीवनपर्यन्त मन से, वचन से या काया से वैर विरोध न करे।

विवेचन—अहिंसा का मार्ग—इन छह सूत्रगाथाओ मे मोक्षमार्ग के सर्वप्रथम सोपान—अहिसा के विधिमार्ग का निम्नोक्त सात पहलुओ से प्रतिपादन किया गया है—(१) त्रस-स्थावररूप षट्काय मे जीव (चेतना) का अस्तित्व है, (२) किसी भी जीव को दु ख प्रिय नही है, (३) हिसा से जीव को दु ख होता है, अत किसी प्राणी की हिसा नही करनी चाहिए। (४) ज्ञानी पुरुष के ज्ञान का सार अहिंसा है। (५) अहिंसाशास्त्र का भी इतना ही सिद्धान्तसर्वस्व है कि लोक मे जो कोई त्रस या स्थावर जीव है, साधक उनकी हिंसा से सदा सर्वत्र विरत हो जाए। (६) अहिंसा ही शान्तिमय निर्वाण की कुँजी है, (७) अत मोक्ष-मार्गपालनसमर्थ व्यक्ति को अहिसा के सन्दर्भ मे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय एव योगरूप दोषो को दूरकर किसी भी प्राणी के साथ मन-वचन-काया से जीवन भर वैर-विरोध नही करना चाहिए।[2]

एषणासमिति मार्ग-विवेक

५०९. संवुडे से महापण्णे, धीरे दत्तेसणं चरे।
एसणासमिए णिच्चं, वज्जयंते अणेसणं ॥ १३ ॥

२ सूत्रकृताग शीलांकवृत्ति पत्रांक २०० का साराश

५१०. भूयाइं समारंभ, समुद्दिस्स य जं कडं ।
तारिसं तु ण गेण्हेज्जा, अन्नं पाणं सुसंजते ।। १४ ।।

५११. पूतिकम्मं ण सेवेज्जा, एस धम्मे वुसीमतो ।
जं किंचि अभिकंखेज्जा, सव्वसो तं ण कप्पते ।। १५ ।।

५०९ वह साधु महान् प्राज्ञ, अत्यन्त धीर और अत्यन्त सवृत (आश्रवद्वारो का या इन्द्रिय-विषयो का निरोध किया हुआ) है, जो दूसरे (गृहस्थ) के द्वारा दिया हुआ एषणीय आहारादि पदार्थ ग्रहण करता है, तथा जो अनेषणीय आहारादि को वर्जित करता हुआ सदा (गवेषणा, ग्रहणैषणा एव ग्रासैषणारूप त्रिविध) एषणाओ से सम्यक् प्रकार से युक्त रहता है ।

५१० जो आहार-पानी प्राणियो (भूतो) का समारम्भ (उपमर्दन) करके साधुओ को देने के उद्देश्य से बनाया गया है, वैसे (दोषयुक्त) आहार और पानी को सुसयमी साधु ग्रहण न करे ।

५११ पूतिकर्मयुक्त (शुद्ध आहार मे आधाकर्म आदि दोषयुक्त आहार के एक कण से भी मिश्रित) आहार का सेवन साधु न करे । तथा शुद्ध आहार मे भी यदि अशुद्धि की शका हो जाए तो वह आहार भी साधु के लिए सर्वथा ग्रहण करने योग्य (कल्पनीय) नही है । शुद्ध सयमी साधु का यही धर्म है ।

विवेचन—एषणासमिति-मार्ग-विवेक—प्रस्तुत तीन सूत्रगाथाओ मे विशुद्ध आहारादि ग्रहण करने का मार्ग बताया गया है ।

एषणासमिति से शुद्ध आहार क्यो और कैसे ?—साधु की आवश्यकताएँ बहुत सीमित होती है, थोडा-सा आहार-पानी और कुछ वस्त्र-पात्रादि उपकरण । भगवान् महावीर कहते है कि इस थोडी-सी आवश्यकता की पूर्ति वह अपने अहिसादि महाव्रतो को सुरक्षित रखते हुए एषणासमिति का पालन करते हुए, निर्दोष भिक्षावृत्ति से करे । यदि एषणासमिति की उपेक्षा करके प्राणि-समारम्भ करके साधु के उद्देश्य से निर्मित या अन्य आधाकर्म आदि त्रिविध एषणा दोषो से युक्त, अकल्पनीय-अनेषणीय आहार-पानी साधु ग्रहण करेगा तो उसका अहिसाव्रत दूषित हो जाएगा, बार-बार गृहस्थ वर्ग भक्तिवश वैसा आहार-पानी देने लगेगा, इससे आरम्भजनित हिसा का दोष लगेगा, गलत परम्परा भी पडेगी । यदि छल-प्रपच करके आहारादि पदार्थ प्राप्त करेगा तो सत्यव्रत को क्षति पहुँचेगी, यदि किसी से जबर्दस्ती या दबाव से छीनकर या बिना दिये ही कोई आहारादि पदार्थ ले लिया तो अचौर्य-महाव्रत भग हो जाएगा, और स्वाद-लोलुपतावश लालसापूर्वक अतिमात्रा मे आहारपानी सग्रह कर लिया तो ब्रह्मचर्य एव अपरिग्रह महाव्रत को भी क्षति पहुँचेगी । इसीलिए शास्त्रकार एषणासमिति से शुद्ध आहार ग्रहण करने पर जोर देते है ।[3]

छान्दोग्य उपनिषद् मे भी कहा गया है—"आहार शुद्ध होने पर अन्त करण (मन, बुद्धि, हृदय) शुद्ध होगे, अन्त करण शुद्धि होने पर स्मृति निश्चल और प्रखर रहेगी, आत्मस्मृति की स्थिरता

३ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक २०१ का साराश

उपलब्ध हो जाने पर समस्त ग्रन्थियो से मुक्ति (छुटकारा) हो जाती है।"[४] इसका फलितार्थ यह है कि जब साधु एषणादि दोषयुक्त दुष्पाच्य, गरिष्ठ अशुद्ध आहार ग्रहण एव सेवन करेगा, तब उसकी बुद्धि एव आत्मस्मृति कुण्ठित, सुस्त हो जाएगी, सात्त्विक विचार करने की स्फूर्ति नही रहेगी। फलत अनेक अन्य दोषो के उत्पन्न होने की सम्भावना है। इसी दृष्टि से शास्त्रकार ने शुद्ध आहार मे एक कण भी अशुद्ध आहार का मिला हो, या अशुद्ध आहार की शका हो तो उसे ग्रहण या सेवन करने का निषेध किया है, क्योकि अशुद्ध आहार सयम-विघातक कर्मग्रन्थियो के भेदन मे रुकावट डालने वाला एव मोक्षमार्ग मे विघ्नकारक हो जाता है।

इसी दृष्टि से शास्त्रकार ने एषणासमिति को मार्ग बताकर उसे साधुधर्म बताया है।[५]

भाषा-समिति-मार्ग-विवेक

५१२. ठाणाइं सति सड्ढीणं, गामेसु णगरेसु वा।
अत्थि वा णत्थि वा धम्मो ? अत्थि धम्मो त्ति णो वदे ॥१६॥

५१३. अत्थि वा णत्थि वा पुण्णं ?, अत्थि पुण्णं ति णो वदे।
अहवा णत्थि पुण्ण ति, एवमेयं महब्भयं ॥१७॥

५१४ दाणट्ठयाए जे पाणा, हम्मंति तस-थावरा।
तेसिं सारक्खणट्ठाए, तम्हा अत्थि त्ति णो वए ॥१८॥

५१५. जेसिं तं उवकप्पेंति, अण्ण-पाण तहाविह।
तेसिं लाभंतराय ति, तम्हा णत्थि त्ति णो वए ॥१९॥

५१६. जे य दाणं पसंसति, वहमिच्छंति पाणिणं।
जे य णं पडिसेहति, वित्तिच्छेयं करेंति ते ॥२०॥

५१७. दुहओ वि ते ण भासंति, अत्थि वा नत्थि वा पुणो।
आयं रयस्स हेच्चाणं, णिव्वाणं पाउणंति ते ॥२१॥

५१२-५१३ ग्रामो या नगरो मे धर्म श्रद्धालु श्रावको के स्वामित्व के स्थान साधुओ को ठहरने के लिए प्राप्त होते हैं। वहा कोई धर्मश्रद्धालु हिसामय कार्य करे तो आत्मगुप्त (अपने को पापप्रवृत्ति से बचाने वाला) जितेन्द्रिय साधु उस हिसा का अनुमोदन न करे।

---

४ "आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धि सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृति, स्मृति लम्भे सर्वग्रन्थीना विप्रमोक्ष।"
—छान्दोग्योपनिषद् खण्ड १६ अ० ७ सू० २

५. (क) सूत्रकृताग शिलाकवृत्ति पत्रांक २०१
(ख) 'एस धम्मे वुसीमतो'—सूत्र कृ० मू० पा० टिप्पण पृ० ९२

यदि कोई साधु से पूछे कि इस (पूर्वोक्त प्रकार के आरम्भजन्य) कार्य मे पुण्य है या नही ? तब साधु पुण्य है, यह न कहे अथवा पुण्य नही होता, यह कहना भी महाभयकारक है ।

५१४-५१५ अन्न या पानी आदि के दान के लिए जो त्रस और स्थावर अनेक प्राणी मारे जाते हैं, उनकी रक्षा करने के हेतु से साधु उक्त कार्य मे पुण्य होता है, यह न कहे । किन्तु जिन जीवों को दान देने के लिये तथाविध (आरम्भपूर्वक) अन्नपान बनाया जाता है, उनको (उन वस्तुओ के) लाभ होने मे अन्तराय होगा, इस दृष्टि से साधु उस कार्य मे पुण्य नही होता ऐसा भी न कहे ।

५१६ जो दान (सचित्त पदार्थों के आरम्भ से जनित वस्तुओ के दान) की (आरम्भक्रिया करते समय) प्रशसा करते है, वे (प्रकारान्तर से) प्राणियो के वध की इच्छा (अनुमोदना) करते हैं, जो दान का निषेध करते है, वे वृत्ति-छेदन (प्राणियो की जीविका का नाश) करते है ।

५१७ अतः (हिसा रूप आरम्भ से जन्य वस्तुओ के) दान मे 'पुण्य होता है' या 'पुण्य नही होता' ये दोनो बाते साधु नही कहते । ऐसे (विषय मे मौन या तटस्थ रहकर या निरवद्य भाषण के द्वारा) कर्मों की आय (आश्रव) को त्यागकर निर्वाण (मोक्ष) को प्राप्त करते है ।

विवेचन—भाषा-समिति-मार्ग-विवेक—प्रस्तुत सूत्रगाथाओ मे अहिसा महाव्रती साधु को अहिसा व्रत की सुरक्षा के लिए भाषा-समिति का विवेक बताया गया है ।

भाषा-विवेक सम्बन्धी गाथाओ का हार्द– साधु पूर्ण अहिसाव्रती है, वह मन-वचन-काया से न स्वय हिंसा कर या करा सकता है, न ही हिसा का अनुमोदन कर सकता है और यह भी स्वाभाविक है कि धर्म का उत्कृष्ट पालक एव मार्गदर्शक होने के नाते ग्रामो या नगरो मे धर्म श्रद्धालु लोगो द्वारा बनवाए हुए धर्मशाला, पथिकशाला, जलशाला, अन्नशाला आदि किसी स्थान मे वे लोग साधु को ठहराएँ । वहाँ कोई व्यक्ति दान-धर्मार्थ किसी चीज को आरम्भपूर्वक तैयार करना चाहे या कर रहे हो, उस सम्बन्ध मे साधु से पूछे कि हमारे इस कार्य मे पुण्य है या नही ?

साधु के समक्ष इस प्रकार का धर्म सकट उपस्थित होने पर वह क्या उत्तर दे ? शास्त्रकार ने इस सम्बन्ध मे भाषा-समिति से अनुप्राणित धर्म मार्ग का विवेक बताया है, कि साधु यह देखे कि उस दानार्थ तैयार की जाने वाली वस्तु मे त्रस-स्थावर प्राणियो की हिसा अनिवार्य है, या हिंसा हुई है, ऐसी स्थिति मे यदि वह उस कार्य को पुण्य है, ऐसा कहता है या उसकी प्रशसा करता है तो उन प्राणियो की हिसा के अनुमोदन का दोष उसे लगता है, इसलिए उक्त आरम्भजनित कार्य मे 'पुण्य है', ऐसा न कहे । साथ ही वह ऐसा भी न कहे कि 'पुण्य नही होता है' क्योकि श्रद्धालु व्यक्ति साधु के मुह से 'पुण्य नही होता है', ऐसे उद्‌गार सुनकर उनको उक्त वस्तुओ का दान देने से रुक जाएगा । फलत जिन लोगो को उन वस्तुओ का लाभ मिलना था, वह नही मिल पाएगा, उनके जीविका मे बहुत बडा अन्तराय आ जाएगा । सम्भव है, वे लोग उन वस्तुओ के न मिलने से भूखे-प्यासे मर जाएँ । इसीलिए शास्त्रकार स्पष्ट मार्ग-दर्शन देते है—**'दुहओ वि तेण भासंति, अत्थि वा नत्थि वा पुणो ।'** अर्थात्—साधु ऐसे समय मे पुण्य होता है, या नही होता, इस प्रकार दोनो तरफ की बात न कहे, तटस्थ रहे । इस कारण भी शास्त्रकार ५१६ वी सूत्रगाथा मे स्पष्ट कर देते है । साधु के द्वारा आरम्भजनित उक्त दान की प्रशसा करना या पुण्य कहना आरम्भक्रियाजनित प्राणिवध को अपने पर ओढ लेना है, अथवा

अनुकम्पा बुद्धि से दिये जाने वाले उक्त दान करने से लाभ मिलने वाले प्राणियो का वृत्तिच्छेद—आजीविका-भग है। वृत्तिच्छेद करना भी एक प्रकार की हिंसा है।

प्रश्न होता है—एक ओर शास्त्रकार उन दानादि शुभकार्यों की प्रशसा करने या उनमे पुण्य बताने का निषेध करते हैं, दूसरी ओर वे उन्ही शुभकार्यों का निषेध करने या पुण्य न बताने का भी निषेध करते हैं, ऐसा क्यो ? क्या इस सम्बध मे साधु को 'हाँ' या 'ना' कुछ भी नही कहना चाहिए ?

वृत्तिकार इस विषय मे स्पष्टीकरण करते हैं कि इस सम्बन्ध मे किसी के पूछने पर मौन धारण कर लेना चाहिए, यदि कोई अधिक आग्रह करे तो साधु को कहना चाहिए कि हम लोगो के लिए ४२ दोष वर्जित आहार लेना कल्पनीय है, अत ऐसे विषय मे कुछ कहने का मुमुक्षु साधुओ का अधिकार नही है।

किन्तु शास्त्रकार ने सूत्रगाथा ५१७ के उत्तरार्द्ध मे स्वय एक विवेक सूत्र प्रस्तुत किया है—**'आय रयस्स हेच्चा पाउणंति।'** इसका रहस्यार्थ यह है कि जिस शुभकार्य मे हिसा होती हो या होने वाली हो, उसकी प्रशसा करने या उसे पुण्य कहने से हिसा का अनुमोदन होता है, तथा हिसा-जनित होते हुए भी जिस शुभकार्य का लाभ दूसरो को मिलता हो, उसका निषेध करने या उसमे पाप बताने से वृत्तिच्छेद रूप लाभान्तराय कर्म का बन्ध होता है। इस प्रकार दोनो ओर से होने वाले कर्मबन्धन को मौन से या निरवद्य भाषण से टालना चाहिए।[६]

इससे यह फलितार्थ निकलता है कि जिस दानादि शुभकार्य के पीछे कोई हिंसा नही होने वाली है, अथवा नही हो रही है, ऐसी अचित्त प्रासुक आरम्भरहित वस्तु का कोई दान करना चाहे अथवा कर रहा हो, और साधु से उस सम्बन्ध मे कोई पूछे तो उसमे उसके शुभपरिणामो (भावो) की दृष्टि से साधु 'पुण्य' कह सकता है और अनुकम्पा बुद्धि से दिये जाने वाले दान का निषेध तो उसे कदापि नही करना है, क्योकि शास्त्र मे अनुकम्पा दान का निषेध नही है। भगवती सूत्र की टीका मे भी स्पष्ट कहा है कि "जिनेश्वरो ने अनुकम्पा दान का तो कदापि निषेध नही किया है।" ऐसे निरवद्य भाषण द्वारा साधु कर्मागमन को भी रोक सकता है और उचित मार्ग-दर्शन भी कर सकता है। यही भाषा-विवेक सम्बन्धी इन गाथाओ का रहस्य है।[७]

पाठान्तर और व्याख्या—'अत्थि वा णत्थि वा धम्मो अत्थि धम्मो त्ति णो वदे' के स्थान पर वृत्तिकार सम्मत पाठान्तर है—**"हणंतं णाणुजाणेज्जा आयगुत्ते जिइंदिए'** इसकी व्याख्या वृत्तिकार करते है—कोई धर्मश्रद्धालु धर्मबुद्धि से कुआ खुदाने, जलशाला या अन्नसत्र बनाने की परोपकारिणी,

---

६. (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक २०१ से २०३ तक का साराश

(ख) " पृष्टै सद्भिर्मौन समाश्रयणीयम् निर्बन्धे त्वस्माक द्विचत्वारिंशद्दोषवर्जित आहार कल्पते, एवविधे विषये मुमुक्षुणामधिकार एव नास्तीति ॥" —सूत्र कृ० शी० वृत्ति पत्राक २०२

(ग) " तमाय रजसो मौनेनाऽनवद्यभाषणेन वा हित्वा-त्यक्त्वा ते अनवद्यभाषिणो निर्वाण प्राप्नुवन्ति।" —सूत्र कृ० शी० वृत्ति पत्राक २०३

७ (क) सद्धर्ममण्डनम् (द्वितीय सस्करण) पृ० ९३ से ९८ तक का निष्कर्ष

(ख) 'अणुकपादाण पुण जिणेहिं न कयाइ पडिसिद्ध।' —भगवती सूत्र श० ८ उ० ६, सू० ३३१ की टीका

किन्तु प्राणियो की उपमर्दन-कारिणी क्रियाए करने के सम्बन्ध मे साधु से पूछे कि इस कार्य में धर्म है या नही ? अथवा न पूछे तो भी उसके लिहाज या भय से आत्म-गुप्त (आत्मा की पाप से रक्षा करने वाला) जितेन्द्रिय साधु उस व्यक्ति के प्राणिहिंसा युक्त (सावद्य) कार्य का अनुमोदन न करे, न ही उस कार्य मे अनुमति दे। **'अत्थि वा णत्थि वा पुण्ण ?'** के बदले पाठान्तर है— **तहा गिरं समारब्भ**। इन दोनो का भावार्थ समान है।[८]

निर्वाणमार्ग : माहात्म्य एवं उपदेष्टा

> **५१८. णेव्वाणपरमा बुद्धा, णक्खत्ताणं व चंदिमा।**
> **तम्हा सया जते दंते, निव्वाणं संधते मुणी ॥२२॥**

धर्म द्वीप

> **५१९. वुज्झमाणाण पाणाण, किच्चंताण सकम्मुणा।**
> **आघाति साहु त दीव, पतिट्ठेसा पवुच्चती ॥२३॥**

> **५२० आयगुत्ते सया दंते, छिण्णसोए अणासवे।**
> **जे धम्मं सुद्धमक्खाति, पडिपुण्णमणेलिसं ॥२४॥**

५१८ जैसे (अश्विनी आदि २७) नक्षत्रो मे चन्द्रमा (सौन्दर्य, सौम्यता परिमाण एव प्रकाश-रूप गुणो के कारण) प्रधान है, वैसे ही निर्वाण को ही प्रधान (परम) मानने वाले (परलोकार्थी) तत्त्वज्ञ साधको के लिए (स्वर्ग, चक्रवर्तित्व, धन आदि को छोडकर) निर्वाण ही सर्वश्रेष्ठ (परम पद) है। इसलिए मुनि सदा दान्त (मन और इन्द्रियो का विजेता) और यत्नशील (यतनाचारी) होकर निर्वाण के साथ ही सन्धान करे, (मोक्ष को लक्ष्यगत रखकर ही सभी प्रवृत्ति करे।)

५१९ (मिथ्यात्व, कषाय एव प्रमाद आदि ससार-सागर के स्रोतो के प्रवाह (तीव्रधारा) मे बहाकर ले जाते हुए तथा अपने (कृत) कर्मो (के उदय) से दु ख पाते हुए प्राणियो के लिए तीर्थंकर उसे (निर्वाणमार्ग को) उत्तम (विश्रामभूत एव आश्वासनदायक) द्वीप परहितरत बताते है। (तत्त्वज्ञ पुरुष) कहते है कि यही (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्वाणमार्ग ही) मोक्ष का प्रतिष्ठान (ससार-भ्रमण से विश्रान्ति रूप स्थान या मोक्षप्राप्ति का आधार) है।

५२० मन-वचन-काया द्वारा आत्मा की पाप से रक्षा करने वाला (आत्मगुप्त), सदा दान्त, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय आदि ससार के स्रोतो का अवरोधक (छेदक), एव आश्रवरहित जो साधक है, वही इम परिपूर्ण, अनुपम एव शुद्ध (निर्वाण मार्गरूप) धर्म का उपदेश करता है।

विवेचन—निर्वाणमार्ग : माहात्म्य एवं उपदेष्टा—प्रस्तुत सूत्रगाथात्रयी द्वारा शास्त्रकार ने निर्वाणमार्ग के सम्बन्ध मे चार तथ्य प्रस्तुत किये हैं—(१) तत्त्वज्ञ साधक नक्षत्रो मे चन्द्रमा की तरह

८ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक २०१
(ख) सूयगडग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ९२

सभी स्थानो या पदो मे निर्वाणपथ को ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं, (२) मुनि को सदैव दान्त एव यत्नशील रहकर निर्वाण को केन्द्र मे रखकर सभी प्रवृत्तियाँ करनी चाहिए, (३) निर्वाण-मार्ग ही मिथ्यात्व कषायादि ससारस्रोतो के तीव्र प्रवाह मे बहते एव स्वकृतकर्म से कष्ट पाते हुए प्राणियो के लिए आश्वासन—आश्रयदायक श्रेष्ठ द्वीप है, यही मोक्षप्राप्ति का आधार है। (४) आत्मगुप्त, दान्त, छिन्नस्रोत और आस्रवनिरोधक साधक ही इन परिपूर्ण अद्वितीय निर्वाणमार्गरूप शुद्ध धर्म का व्याख्यान करता है।

पाठान्तर—'**णेव्वाणपरमा**' के बदले वृत्तिकार सम्मत पाठान्तर है—'**निव्वाणं परमं**'—व्याख्या समान है।[१]

अन्यतीर्थिक समाधि रूप शुद्ध भावमार्ग से दूर

५२१. तमेव अविजाणंता, अबुद्धा बुद्धमाणिणो।
बुद्धा मो त्ति य मण्णंता, अंतए ते समाहिए ॥२५॥

५२२. ते य बीओदगं चेव, तमुद्दिस्सा य जं कडं।
भोच्चा झाणं झियायंति, अखेतण्णा असमाहिता ॥२६॥

५२३. जहा ढंका य कंका य, कुलला मग्गुका सिही।
मच्छेसणं झियायंति, झाणं ते कलुसाधमं ॥२७॥

५२४. एवं तु समणा एगे, मिच्छद्दिट्ठि अणारिया।
विसएसणं झियायंति, कंका वा कलुसाहमा ॥२८॥

५२५. सुद्धं मग्गं विराहित्ता, इहमेगे उ दुम्मती।
उम्मग्गगता दुक्खं, घतमेसंति ते तधा ॥२९॥

५२६. जहा आसाविणिं नावं, जातिअंधे दुरूहिया।
इच्छती पारमागंतु, अंतरा य विसीयती ॥३०॥

५२७. एवं तु समणा एगे, मिच्छद्दिट्ठि अणारिया।
सोयं कसिणमावण्णा, आगंतारो महब्भयं ॥३१॥

---

१ (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २०१
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टि०) पृ० ९१

५२१ उसी (प्रतिपूर्ण अनुपम निर्वाणमार्गरूप धर्म) को नही जानते हुए अविवेकी (अबुद्ध) होकर भी स्वय को पण्डित मानने वाले अन्यतीर्थिक हम ही धर्मतत्त्व का प्रतिबोध पाए हुए है, यो मानते हुए सम्यग्दर्शनादिरूप भाव समाधि से दूर है।

५२२ वे (अन्यतीर्थिक) बीज और सचित्त जल का तथा उनके उद्देश्य (निमित्त) से जो आहार बना है, उसका उपभोग करके (आर्त्त) ध्यान करते हैं, क्योकि वे अखेदज्ञ (उन प्राणियो के खेद—पीडा से अनभिज्ञ या धर्मज्ञान मे अनिपुण) और असमाधियुक्त है।

५२३-५२४ जैसे ढक, कक, कुरर, जलमुर्गा और शिखी नामक जलचर पक्षी मछली को पकडकर निगल जाने का बुरा विचार (कुध्यान) करते है, उनका वह ध्यान पापरूप एव अधम होता है।

इसी प्रकार कई तथाकथित मिथ्यादृष्टि एव अनार्य श्रमण विषयो की प्राप्ति (अन्वेषणा) का ही ध्यान करते है, अत वे भी ढक, कक आदि प्राणियो की तरह पाप भावो से युक्त एव अधम है।

५२५ इस जगत् मे कई दुर्बुद्धि व्यक्ति तो शुद्ध (निर्वाण रूप) भावमार्ग की विराधना करके उन्मार्ग मे प्रवृत्त होते है। वे अपने लिए दु ख (अष्टविध कर्मरूप या असातावेदनीयोदय रूप दु ख) तथा अनेक बार घात (विनाश—मरण) चाहते है या ढू ढते है।

५२६-५२७ जैसे कोई जमान्ध पुरुष छिद्र वाली नौका पर चढकर नदी पार जाना चाहता है, परन्तु वह बीच (मझधार) मे ही डूब जाता है।

इसी तरह कई मिथ्यादृष्टि अनार्य श्रमण कर्मो के आश्रव रूप पूर्ण भाव स्रोत मे डूबे हुए होते है। उन्हे अन्त मे नरकादि दु ख रूप महाभय पाना पडेगा।

विवेचन—समाधि रूप शुद्ध भाव (निर्वाण) मार्ग से दूर— प्रस्तुत सात सूत्रगाथाओ मे अन्य-तीर्थिको को कतिपय कारण बताते हुए शुद्ध भाव (निर्वाण) मार्ग से दूर सिद्ध किया है। वे कारण ये है—(१) निर्वाणमार्ग के कारण है—सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र। परन्तु वे धर्म और मोक्ष के वास्तविक बोध से दूर है, फिर भी अपने आपको वे तत्त्वज्ञ मानते है, (२) अगर उन्हे जीव-अजीव का सम्यग्ज्ञान होता तो वे सचित्त बीज, कच्चे पानी या औद्देशिक दोषयुक्त आहार का सेवन न करते, जिनमे कि जीवहिसा होती है। इसलिए वे जीवो की पीडा से अनभिज्ञ अथवा धर्मज्ञान मे अनिपुण हैं। (३) अपने सघ के लिए आहार बनवाने तथा उसे प्राप्त करने के लिए अहर्निश चिन्तित आर्त्तध्यानयुक्त रहते हैं। जो लोग ऐहिक सुख की कामना करते है, धन, धान्य आदि परिग्रह रखते हैं तथा मनोज्ञ आहार, शय्या, आसन आदि रागवर्द्धक वस्तुओ का उपभोग करते है, उनसे त्यागवर्द्धक शुभ ध्यान कैसे होगा ?[10] अत धर्मध्यान रूप समाधि मार्ग से वे दूर है। (४) जलचर मासाहारी पक्षियो के दुर्ध्यान की तरह वे

---

१० (क) सूत्रकृतागसूत्र शीलाकवृत्ति पत्राक २०२-२०३

(ख) कहा भी है—ग्राम-क्षेत्र-गृहादीनां गवा प्रेष्यजनस्य च।
यस्मिन् परिग्रहो दृष्टो, ध्यान तत कुत शुभम्॥
—सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक २०४ मे उद्धृत

हिंसादि हेय बातो से दूर न होने से अनार्य है। वे सम्यग्दर्शन रहित होने के कारण विषय प्राप्ति का ही दुर्ध्यान करते है, (५) सम्यग्दर्शनादि धर्म रूप जो निर्दोष मोक्ष मार्ग है, उससे भिन्न कुमार्ग की प्ररूपणा करने तथा सासारिक राग के कारण बुद्धि कलुषित और मोह-दूषित होने से सन्मार्ग की विराधना करके कुमार्गाचरण करने के कारण वे शुद्ध भाव मार्ग से दूर है, (६) छिद्र वाली नौका मे बैठा हुआ जन्मान्ध व्यक्ति नदी पार न होकर मझधार मे डूब जाता है, इसी प्रकार आश्रव रूपी छिद्रो से युक्त कुदर्शनादि युक्त कुधर्म नौका मे बैठे होने के कारण वे भी ससार सागर के पार न होकर बीच में ही डूब जाते है।

भावमार्ग की साधना

५२८. इम च धम्ममादाय, कासवेण पवेवितं।
तरे सोय महाघोर, अत्तत्ताए परिव्वए ॥ ३२ ॥

५२९. विरते गामधम्मेहिं, जे केइ जगती जगा।
तेसिं अत्तुवमायाए, थाम कुव्व परिव्वए ॥ ३३ ॥

५३०. अतिमाणं च मायं च, तं परिण्णाय पंडिते।
सव्वमेयं निराकिच्चा, निव्वाण संधए मुणी ॥ ३४ ॥

५३१ संधते साहुधम्मं च, पावं धम्मं णिराकरे।
उवधाणवीरिए भिक्खू, कोहं माणं न पत्थए ॥ ३५ ॥

५३२. जे य बुद्धा अतिक्कता, जे य बुद्धा अणागता।
संति तेसिं पतिट्ठाणं, भूयाणं जगती जहा ॥ ३६ ॥

५३३. अह ण वतमावण्ण, फासा उच्चावया फुसे।
ण तेसु विणिहण्णेज्जा, वातेणेव महागिरी ॥ ३७ ॥

५३४. संवुडे से महापण्णे, धीरे दत्तेसण चरे।
निव्वुडे कालमाकंखी, एवं केवलिणो मय ॥ ३८ ॥ —त्ति बेमि।

॥ मग्गो : एगारसम अज्झयणं सम्मत्तं ॥

५२८ काश्यपगोत्रीय भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित इस (दुर्गति निवारक मोक्षप्रापक सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र रूप) धर्म को ग्रहण (स्वीकार) करके शुद्ध मार्ग साधक साधु महाघोर (जन्म-मरणादि दीर्घकालिक दु खपूर्ण) ससार सागर को पार करे तथा आत्मरक्षा के लिए सयम मे पराक्रम करे।

५२९ साधु ग्राम धर्मों (शब्दादि विषयो) से निवृत्त (विरत) होकर जगत् में जो कोई (जीवितार्थी) प्राणी है, उन सुखप्रिय प्राणियो को आत्मवत् समझ कर उन्हे दु.ख न पहुँचाए, उनकी रक्षा के लिए पराक्रम करता हुआ सयम-पालन मे प्रगति करे।

५३० पण्डित मुनि अति-(चारित्र विघातक) मान और माया (तथा अति लोभ और क्रोध) को (ससारवृद्धि का कारण) जानकर इस समस्त कषाय समूह का निवारण करके निर्वाण (मोक्ष) के साथ आत्मा का सन्धान करे (अथवा मोक्ष का अन्वेषण करे)।

५३१ (मोक्ष मार्ग परायण) साधु क्षमा आदि दशविध श्रमण धर्म अथवा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप उत्तम धर्म के साथ मन-वचन-काया को जोडे अथवा उत्तर धर्म मे वृद्धि करे। तथा जो पाप धर्म (हिसादि पाप का उपादान कारण अथवा पापयुक्त स्वभाव) है उसका निवारण करे। भिक्षु तपश्चरण (उपधान) मे पूरी शक्ति लगाए तथा क्रोध और अभिमान को जरा भी सफल न होने दे।

५३२ जो बुद्ध (केवलज्ञानी) अतीत मे हो चुके हैं, और जो बुद्ध भविष्य मे होगे, उन सबका आधार (प्रतिष्ठान) शान्ति ही (कषाय-मुक्ति या मोक्ष रूप भाव मार्ग) है, जैसे कि प्राणियो का जगती (पृथ्वी) आधार है।

५३३ अनगार धर्म स्वीकार करने के पश्चात् साधु को नाना प्रकार के अनुकूल-प्रतिकूल परीषह और उपसर्ग स्पर्श करे तो साधु उनसे जरा भी विचलित न हो, जैसे कि महावात से महा-गिरिवर मेरु कभी विचलित नही होता।

५३४ आश्रवद्वारो का निरोध (सवर) किया हुआ वह महाप्राज्ञ धीर साधु दूसरे (गृहस्थ) के द्वारा दिया हुआ एषणीय-कल्पनीय आहार को ही ग्रहण (सेवन) करे। तथा शान्त (उपशान्त कषाय-निर्वृत्त) रहकर (अगर काल का अवसर आए तो) काल (पण्डितमरण या समाधिमरण) की आकाक्षा (प्रतीक्षा) करे, यही केवली भगवान् का मत है। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—मोक्ष-साधन साधु-धर्म रूप भाव मार्ग की साधना—प्रस्तुत ७ सूत्रगाथाओ मे साधु धर्म रूप भाव मार्ग की साधना के सन्दर्भ मे कुछ सूत्र प्रस्तुत किये गए है—(१) भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित साधु धर्म को स्वीकार करके महाघोर ससार-सागर को पार करे, (२) आत्मा को पाप से बचाने के लिए सयम मे पराक्रम करे, (३) साधु धर्म पर दृढ रहने के लिए इन्द्रिय-विषयो से विरत हो जाए, (४) जगत् के समस्त प्राणियो को आत्मतुल्य समझ कर उनकी रक्षा करता हुआ सयम मे प्रगति करे, (५) चारित्र विनाशक, अभिमान आदि कषायो को ससार वर्द्धक जानकर उनका निवारण करे, (६) एकमात्र निर्वाण के साथ अपने मन-वचन-काया को जोड दे (७) साधु धर्म को ही केन्द्र मे रखकर प्रवृत्ति करे, (८) तपश्चर्या मे अपनी शक्ति लगाए, (९) क्रोध और मान को न बढाए, अथवा सार्थक न होने दे, (१०) भूत और भविष्य मे जो भी बुद्ध (सर्वज्ञ) हुए है या होगे, उन सबके जीवन और उपदेश का मूलाधार शान्ति (कषाय-मुक्ति) रही है, रहेगी। (११) भावमार्ग रूप व्रत को स्वीकार करने के बाद परीषह या उपसर्ग आने पर साधु सुमेरु पर्वत की तरह सयम मे अविचल रहे, (१२) साधक गृहस्थ द्वारा प्रदत्त एषणीय आहार सेवन करे तथा शान्त रह कर अन्तिम समय मे समाधिमरण की प्रतीक्षा करे।

यह साधु धर्म रूप भाव मार्ग प्रारम्भ से लेकर अन्तिम समय तक की साधना है।[11]

॥ मार्ग : ग्यारहवाँ अध्ययन समाप्त ॥

---

११ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक २०५-२०६

समवसरण : द्वादश अध्ययन

प्राथमिक

☐ सूत्रकृताग सूत्र (प्र० श्रु०) के बारहवे अध्ययन का नाम 'समवसरण' है।

☐ समवसरण शब्द के—एकत्रमिलन, मेला, समुदाय, साधु समुदाय, विशिष्ट अवसरो पर अनेक साधुओ के एकत्रित होने का स्थान, तीर्थकर देव की परिषद् (धर्मसभा), धर्म-विचार, आगम-विचार, आगम आदि अर्थ होते हैं।[1]

☐ निर्युक्तिकार ने निक्षेप दृष्टि से समवसरण के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए इसके नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, ये ६ निक्षेप किये है। नाम और स्थापना तो सुगम है। सचित्त, अचित्त या मिश्र द्रव्यो का समवसरण—एकत्रीकरण या मिलन द्रव्य समवसरण है। जिस क्षेत्र या जिस काल मे समवसरण होता है, उसे क्रमश क्षेत्र समवसरण और काल समवसरण कहते है। भाव समवसरण है—औदयिक, औपशमिक, क्षायिक आदि भावो का सयोग।

☐ प्रस्तुत अध्ययन में देवकृत तीर्थकर देव-समवसरण विवक्षित नही है, अपितु विविध प्रकार के वादो (मतो) और मतप्रवर्त्तको का सम्मेलन अर्थ ही समवसरण पर से अभीष्ट है। निर्युक्तिकार ने इसे भावसमवसरण मे परिगणित किया है। अर्थात्—क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादी या भेद सहित इन चारो वादो (मतो) की (एकान्तदृष्टि) के कारण भूल बताकर जिस सुमार्ग मे इन्हे स्थापित किया जाता है, वह भावसमवसरण है। प्रस्तुत अध्ययन मे इन चार मतो (वादो) का उल्लेख है।

☐ जो जीवादि पदार्थों का अस्तित्व मानते है, वे क्रियावादी है, इसके विपरीत जो जीवादि पदार्थ का अस्तित्व नही मानते, वे अक्रियावादी है।[2] जो ज्ञान को नही मानते, वे अज्ञानवादी और जो विनय से ही मोक्ष मानते हैं, वे विनयवादी है। निर्युक्तिकार ने क्रियावादी के १८०, अक्रियावादी

---

१ पाइअ-सद्द-महण्णवो पृ० ८७६

२ (क) सूत्रकृताग निर्युक्ति गा० ११६ से ११८

(ख) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्रांक २०८ से २१०

के ८४, अज्ञानवादी के ६७ और विनयवादी के ३२, यो कुल ३६३ भेदो की सख्या बताई है। वृत्तिकार ने इन चारो वादो के ३६३ भेदो को नामोल्लेखपूर्वक पृथक्-पृथक् बताया है। ये चारो वाद एकान्तवादी स्वाग्रही होने से मिथ्या हैं, सापेक्ष दृष्टि से मानने पर सम्यक् हो सकते है।

- पूर्वोक्त चारो स्वेच्छानुसार कल्पित एकान्त मतो (वादो) मे जो परमार्थ है, उसका निश्चय करके समन्वयपूर्वक सम्मेलन (समवसरण) करना ही इस अध्ययन का उद्देश्य है।

- प्रस्तुत अध्ययन मे कुल २३ गाथाएँ है।

  यह अध्ययन सूत्रगाथा ५३५ से प्रारम्भ होकर ५५६ पर पूर्ण होता है।

समोसरणं : बारसमं अज्झयणं

समवसरण : बारहवाँ अध्ययन

चार समवसरण : परतीर्थिक मान्य चार धर्मवाद

५३५. चत्तारि समोसरणाणिमाणि, पावादुया जाइं पुढो वयंति ।
किरियं अकिरियं विणयं ति तइयं, अण्णाणमाहंसु चउत्थमेव ।।१।।

५३५ परतीर्थिक मतवादी (प्रावादुक) जिन्हे पृथक्-पृथक् बतलाते हैं, वे चार समवसरण—वाद या सिद्धान्त ये है—क्रियावाद, अक्रियावाद, तीसरा विनयवाद और चौथा अज्ञानवाद ।

विवेचन—चार समवसरण : परतीर्थिक-मान्य चार धर्मवाद—शास्त्रकार ने अध्ययन के प्रारम्भ मे प्रतिपाद्य विषय सूचित कर दिया है । विश्व मे प्रधानत चार प्रकार के सिद्धान्त उस युग मे प्रचलित थे, जिनमे सभी एकान्तवादो का समावेश हो जाता है । अन्य दार्शनिक (मतवादी) एकान्त रूप से एक-एक को पृथक्-पृथक् मानते थे ।

इन सबका स्वरूप शास्त्रकार स्वय यथास्थान बताएँगे ।

एकान्त अज्ञानवाद-समीक्षा

५३६. अण्णाणिया ता कुसला वि संता, असंथुया णो वितिगिंछतिण्णा ।
अकोविया आहु अकोवियाए, अणाणुवीयीति मुसं वदंति ।।२।।

५३६ वे अज्ञानवादी अपने आपको (वाद मे) कुशल मानते हुए भी सशय से रहित (विचिकित्सा को पार किये हुए) नही है । अत वे असस्तुत (असम्बद्ध भाषी या मिथ्यावादी होने से अप्रशंसा पात्र) हैं । वे स्वय अकोविद (धर्मोपदेश मे अनिपुण) है और अपने अकोविद (अनिपुण—अज्ञानी) शिष्यो को उपदेश देते हैं । वे (अज्ञान पक्ष का आश्रय लेकर) वस्तुतत्व का विचार किये बिना ही मिथ्याभाषण करते हैं ।

विवेचन—एकान्त अज्ञानवाद समीक्षा—प्रस्तुत सूत्रगाथा में एकान्त अज्ञानवाद की संक्षिप्त समीक्षा की गई है ।

अज्ञानवाद स्वरूप और प्रकार—शास्त्रकार ने अज्ञानवाद की सर्वप्रथम समीक्षा इसलिए की है कि उसमे ज्ञान के अस्तित्व से इन्कार करके समस्त पदार्थों का अपलाप किया जाता है, अत यह अत्यन्त विपरीतभाषी है। अज्ञानवादी वे है, जो अज्ञान को ही कल्याणकारी मानते है।

अज्ञानवादियो के ६७ भेद इस प्रकार है—जीवादि ९ तत्त्वो को क्रमश लिखकर उनके नीचे ये ७ भग रखने चाहिए—(१) सत्, (२) असत्, (३) सदसत्, (४) अवक्तव्य, (५) सदवक्तव्य, (६) असत्वक्तव्य, और (७) सद्-असद्-अवक्तव्य। जैसे—जीव सत् है, यह कौन जानता है? और यह जानने से भी क्या प्रयोजन है? इसी प्रकार क्रमश असत् आदि शेष छहो भग समझ लेने चाहिए। जीवादि ९ तत्त्वो मे प्रत्येक के साथ सात भग होने से कुल ६३ भग हुए। फिर ४ भग ये और मिलाने से ६३+४=६७ भेद हुए। चार भग ये है—(१) सत् (विद्यमान) पदार्थ की उत्पत्ति होती है, यह कौन जानता है, और यह जानने से भी क्या लाभ? इसी प्रकार असत् (अविद्यमान), सदसती (कुछ विद्यमान और कुछ अविद्यमान), और अवक्तव्यभाव के साथ भी इसी तरह का वाक्य जोडने से ४ विकल्प होते है।

अज्ञानवादी कुशल या अकुशल—अज्ञानवादी अपने आपको कुशल (चतुर) मानते है। वे कहते है कि हम सब तरह से कुशल-मगल हैं, क्योकि हम व्यर्थ ही किसी से न तो बोलते है, न ज्ञान बघारते है, चुपचाप अपने आप मे मस्त रहते है। ज्ञानवादी अपने-अपने अहकार मे डूबे है, परस्पर लडते है, एक-दूसरे पर आक्षेप करते है, वे वाक्कलह से असतुष्ट और क्षेम कुशल रहित रहते हैं।

इसका निराकरण करते हुए शास्त्रकार कहते है—"**अण्णाणिया ता कुसला वि सता**" इसका आशय यह है कि अज्ञानवादी अपने आपको कुशल मानते है, किन्तु अज्ञान के कारण कोई जीव कुशल-मगल नही होता। अज्ञान के कारण ही तो जीव नाना दु खो से पीडित है, बुरे कर्म करके वह दुर्गति और नीच योनि मे जाता है। नरक मे कौन-से ज्ञानी है? अज्ञानी ही तो है। फिर वे परस्पर लडते-झगडते क्यो है? क्यो इतना दु ख पाते है? उन्हे कुशल क्षेम क्यो नही है? और तिर्यंचयोनि के जीव भी तो अज्ञानी है। वे अज्ञानवश ही तो पराधीन है। परवशता एव अज्ञान के कारण ही उन्हे भूख-प्यास सर्दी-गर्मी आदि के दु ख उठाने पडते है। अज्ञान मे डूबे है, तभी तो वे किसी क्षेत्र मे प्रगति नही कर सकते। अज्ञानी मानव बहुत ही पिछडे, अन्धविश्वासी, तथा सामाजिक, धार्मिक या अध्यात्मिक क्षेत्र मे अप्रगतिशील रहते हैं, अनेक प्रकार के दु ख उठाते है। इसलिए अज्ञानवादियो के जीवन मे कुशल-क्षेम नही है, पशु से भी गया बीता जीवन होता है अज्ञानी का।

अज्ञानवादी असम्बद्धभाषी एवं संशयग्रस्त—अज्ञानवादी अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन ज्ञान से करते है लेकिन ज्ञान को कोसते हैं। ज्ञान के बिना पदार्थों का यथार्थ स्वरूप कैसे समझा जा सकता है? इसलिए वे महाभ्रान्ति के शिकार एव असम्बद्धभाषी है।

अज्ञान का पर्युदास नञ् समास के अनुसार अर्थ किया जाए तो होता है एक ज्ञान से भिन्न, ज्ञान के सदृश दूसरा ज्ञान। इससे तो दूसरे ज्ञान को ही कल्याण साधन मानलिया, अज्ञानवाद कहाँ सिद्ध हुआ? प्रसज्य नञ् समास के अनुसार अज्ञान का अर्थ होता है—ज्ञान का निषेध या अभाव। यह प्रत्यक्ष से विरुद्ध है, क्योकि सम्यग्ज्ञान द्वारा पदार्थ का स्वरूप जान कर प्रवृत्ति करने वाला कार्यार्थी पुरुष अपने कार्य को सिद्ध करता हुआ प्रत्यक्ष देखा जाता है। इसलिए ज्ञान का अभाव

कितना असत्य है। फिर ज्ञानाभाव (अज्ञान) अभाव रूप होने से तुच्छ रूपरहित एव शक्ति रहित हुआ, वह कैसे कल्याणकर होगा ? अत ज्ञान कल्याण साधन है, अज्ञान नही।

परस्पर विरुद्धभाषी अज्ञानवादी या ज्ञानवादी—अज्ञानवादियो का कथन है कि सभी ज्ञानवादी पदार्थ का स्वरूप परस्पर विरुद्ध बताते है इसलिए वे यथार्थवादी नही है। जैसे—कोई आत्मा को सर्वव्यापी, कोई असर्वव्यापी, कोई हृदयस्थित, कोई उसे ललाटस्थित और कोई उसे अगूठे के पर्व के तुल्य मानता है कोई आत्मा को नित्य और अमूर्त तथा कोई अनित्य और मूर्त मानता है। परस्पर एकमत नही किसका कथन प्रमाणभूत माना जाए, किसका नही ? जगत् मे कोई अतिशयज्ञानी (सर्वज्ञ) भी नही, जिसका कथन प्रमाणभूत माना जाए। सर्वज्ञ हो तो भी असर्वज्ञ (अल्पज्ञ) उसे जान नही सकता, और सर्वज्ञ को जानने का उपाय भी सर्वज्ञ बने बिना नही जान सकता। यही कारण है कि सर्वज्ञ के अभाव मे असर्वज्ञो (ज्ञानवादियो) को वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान न होने से वे पदार्थों का स्वरूप परस्पर विरुद्ध बताते है।

इन सब आक्षेपो का उत्तर यह है कि अज्ञानवादी स्वय मिथ्यादृष्टि हैं। सम्यग्ज्ञान से रहित है, वे सशय और भ्रम से ग्रस्त है। वास्तव मे परस्पर या पूर्वापर विरुद्ध अर्थ बताने वाले लोग असर्वज्ञ के आगमो को मानते है परन्तु इससे समस्त सिद्धान्तो को आँच नही आती। सर्वज्ञप्रणीत आगमो को मानने वाले वादियो के वचनो मे परस्पर या पूर्वापर विरोध नही आता। क्योकि जहाँ पूर्वापर या परस्पर विरुद्ध कथन होगा, वहाँ सर्वज्ञता ही नही होती। सर्वज्ञता के लिए ज्ञान पर आया हुआ आवरण सर्वथा दूर हो जाना तथा असत्य या परस्पर असम्बद्ध या विरुद्ध भाषण के कारणभूत जो राग, द्वेष, मोह आदि है, उनका सर्वथा नष्ट हो जाना अवश्यम्भावी है। सर्वज्ञ मे इन दोषो का सर्वथा अभाव होने से उसके वचन सत्य हैं, परस्पर विरुद्ध नही है।

प्रत्यक्ष प्रमाण से सर्वज्ञ सिद्ध न होने पर भी उसके अस्तित्व से इन्कार नही किया जा सकता। 'सम्भव' और 'अनुमान' प्रमाण से सर्वज्ञ की सिद्धि होती है, क्योकि सर्वज्ञ असम्भव है, ऐसा कोई सर्वज्ञता बाधक प्रमाण नही है, और न ही प्रत्यक्ष प्रमाण मे सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध होता है, न ही सर्वज्ञाभाव के साथ कोई अव्यभिचारी हेतु है। सर्वज्ञाभाव के साथ किसी का सादृश्य न होने से उपमान प्रमाण से भी सर्वथाभाव सिद्ध नही होता। प्रत्यक्षादि प्रमाणो से सर्वथाभाव सिद्ध न होने से अर्थापत्ति प्रमाण से भी सर्वथाभाव सिद्ध नही होता। आगम प्रमाण से भी सर्वथाभाव सिद्ध नही होता क्योकि सर्वज्ञ का अस्तित्व बताने वाला आगम विद्यमान है। स्थूलदर्शी पुरुष का ज्ञान सर्वज्ञ तक नही पहुचाता, इस कारण भी सर्वज्ञ का अभाव नही कहा जा सकता। सर्वज्ञ के अस्तित्व का बाधक कोई प्रमाण नही मिलता, बल्कि सर्वज्ञसाधक प्रमाण ही मिलते है, इसलिए सर्वज्ञ न मानना अज्ञानवादियो का मिथ्या कथन है।

फिर सर्वज्ञ प्रणीत आगमो को मानने वाले सभी एकमत से आत्मा को सर्व शरीर व्यापी मानते हैं, क्योकि आत्मा का गुण चैतन्य समस्त शरीर, किन्तु स्वशरीर पर्यन्त ही देखा जाता है। अत. सर्वज्ञ प्रणीत आगम ज्ञानवादी परस्पर विरुद्धभाषी नही है।

अज्ञानवादी धर्मोपदेश मे सर्वथा अनिपुण—शास्त्रकार कहते हैं—अज्ञानवादी अज्ञानवाद का आश्रय लेकर बिना विचारे असम्बद्ध भाषण करते है, इसलिए उनमे यथार्थ ज्ञान नही है। जो यथार्थ ज्ञानी होता है—वह विचारपूर्वक बोलता है, इसीलिए तो अज्ञानवादियो मे मिथ्याभाषण की प्रवृत्ति है। वे धर्म का उपदेश अपने अनिपुण शिष्यो को देते है, तो ज्ञान के द्वारा ही देते हैं, फिर भी वे कहते हैं—अज्ञान से ही कल्याण होता है। परन्तु अज्ञान से कल्याण होना तो दूर रहा, उलटे नाना कर्मबन्धन होने से जीव नाना दु खो से पीडित होता है। इसलिए अज्ञानवाद अपने आप मे एक मिथ्यावाद है।[1]

एकान्त-विनयवाद की समीक्षा

५३७. सच्चं असच्चं इति चिंतयंता, असाहु साहु त्ति उदाहरंता।
जेमे जणा वेणइया अणेगे, पुट्ठा वि भाव विणइंसु नाम ॥३॥

५३८. अणोवसंखा इति ते उदाहु, अट्ठे स ओभासति अम्ह एवं।

५३७ जो सत्य है, उसे असत्य मानते हुए तथा जो असाधु (अच्छा नही) है, उसे साधु (अच्छा) बताते हुए ये जो बहुत-से विनयवादी लोग हैं, वे पूछने पर भी (या न पूछने पर) अपने भाव (अभिप्राय या परमार्थ) के अनुसार विनय से ही स्वर्ग-मोक्ष प्राप्ति (या सर्वसिद्धि) बताते हैं।

५३८ (पूर्वार्द्ध) वस्तु के यथार्थ स्वरूप का परिज्ञान न होने से व्यामूढमति वे विनयवादी ऐसा कहते है। वे कहते है—हमे अपने प्रयोजन (स्व-अर्थ) की सिद्धि इसी प्रकार से (विनय से) ही दीखती है।

विवेचन—एकान्त विनयवाद की समीक्षा—प्रस्तुत गाथाओ मे एकान्त विनयवाद की सक्षिप्त झाकी दी गई है।

विनयवाद का स्वरूप और प्रकार—विनयवादी वे है जो विनय को ही सिद्धि का मार्ग मानते है। वे कहते है—विनय से ही स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होती है। वे गधे से लेकर गाय तक, चाण्डाल से लेकर ब्राह्मण तक एव जलचर, खेचर, स्थलचर, उरपरिसर्प एव भुजपरिसर्प आदि सभी प्राणियो को विनयपूर्वक नमस्कार करते है।

निर्युक्तिकार ने विनयवाद के ३२ भेद बताए है। वे इस प्रकार है—(१) देवता, (२) राजा, (३) यति, (४) ज्ञाति, (५) वृद्ध, (६) अधम, (७) माता और (८) पिता। इन आठो का मन से, वचन से, काया से और दान से विनय करना चाहिए। इस प्रकार ८ × ४ = ३२ भेद विनयवाद के हुए।[2]

विनयवादी : सत्यासत्य विवेकरहित—इसके तीन कारण है—(१) जो प्राणियो के लिए हितकर है, सत्य है, वह मोक्ष या सयम है, किन्तु विनयवादी इसे असत्य बताते है, (२) सम्यग्ज्ञान-दर्शन-

---

१ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक २११ से २४१ का साराश (ख) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गा० ११९

२ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक २०८ (ख) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गा० ११९

चरित्र मोक्ष का वास्तविक मार्ग है, परन्तु विनयवादी उसे असत्य कहते है, (३) केवल विनय से मोक्ष नही होता, तथापि विनयवादी केवल विनय से ही मोक्ष मानकर असत्य को सत्य मानते हैं।

विनयवादियो मे सत् और असत् का विवेक नही होता। वे अपनी सद्-असद्विवेकशालिनी बुद्धि का प्रयोग न करके विनय करने की धुन मे अच्छे-बुरे, सज्जन-दुर्जन, धर्मात्मा-पापी, सुबुद्धि-दुर्बुद्धि, सुज्ञानी-अज्ञानी, आदि सभी को एक सरीखा मानकर सबको वन्दन-नमन, मान-सम्मान, दान आदि देते हैं। देखा जाए तो यथार्थ मे वह विनय नही है, विवेकहीन प्रवृत्ति है।

जो साधक विशिष्ट धर्माचरण अर्थात्—साधुत्व की क्रिया नही करता, उस असाधु को विनयवादी केवल वन्दन-नमन आदि औपचारिक विनय क्रिया करने मात्र से साधु मान लेते हैं, धर्म के परीक्षक नही। वे औपचारिक विनय से ही धर्मोत्पत्ति मान लेते हैं, धर्म की परीक्षा नही करते।

विनयवाद के गुण-दोष की मीमांसा—विनयवादी सम्यक् प्रकार से वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जाने बिना ही मिथ्याग्रह एवं मत-व्यामोह से प्रेरित होकर कहते है—"हमे अपने सभी प्रयोजनो की सिद्धि विनय से होती प्रतीत है, विनय से ही स्वर्ग व मोक्ष की प्राप्ति होती है।" यद्यपि विनय चारित्र का अग है, परन्तु सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के बिना, विवेक-विकल विनय चारित्ररूप मोक्ष मार्ग का अगभूत विनय नही है। अगर विनयवादी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप विनय की विवेकपूर्वक आराधना-साधना करे, साथ ही आध्यात्मिक मार्ग मे आगे बढे हुए जो अरिहन्त या सिद्ध परमात्मा है, अथवा पच महाव्रत धारी निर्ग्रन्थ चारित्रात्मा है, उनकी विनय-भक्ति करे तो उक्त मोक्ष मार्ग के अगभूत-विनय से उन्हे स्वर्ग या मोक्ष प्राप्त हो सकते है, परन्तु इसे ठुकरा कर अध्यात्मविहीन, अविवेकयुक्त एवं मताग्रहगृहीत एकान्त औपचारिक विनय से स्वर्ग या मोक्ष बतलाना उनका एकान्तर दुराग्रह है, मिथ्यावाद है।[3]

विविध एकान्त अक्रियावादियों की समीक्षा

लवावसंकी य अणागतेहिं, णो किरियमाहसु अकिरियआया ॥४॥

५३९. **सम्मिस्सभावं सगिरा गिहीते, से मुम्मुई होति अणाणुवादी।**
इम दुपक्खं इममेगपक्खं, आहंसु छलायतणं च कम्मं ॥५॥

५४० **ते एवमक्खंति अबुज्झमाणा, विरूवरूवाणि अकिरियाता।**
जमादिवित्ता बहवो मणूसा, भमंति संसारमणोवतग्गं ॥६॥

५४१. **णाइच्चो उदेति ण अत्थमेति, ण चंदिमा वड्ढती हायती वा।**
सलिला ण संदंति ण वंति वाया, वंझे णियते कसिणे हु लोए ॥७॥

---

३ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक २१३-२१४ का तात्पर्य

५४२. जहा य अंधे सह जोतिणा वि, रूवाइं णो पस्सति हीणणेत्ते ।
सतं पि ते एवमकिरियआता, किरियं ण पस्संति निरुद्धपण्णा ।।८।।

५४३. संवच्छरं सुविणं लक्खणं च, निमित्तं देहं उप्पाइयं च ।
अटठंगमेतं बहवे अहित्ता, लोगंसि जाणंति अणागताइं ।।९।।

५४४. केई निमित्ता तहिया भवंति, केसिंचि त विप्पडिएति णाण ।
ते विज्जभाव अणहिज्जमाणा, आहंसु विज्जापलिमोक्खमेव ।।१०।।

५३८ (उत्तरार्द्ध) तथा लव यानी कर्मबन्ध की शका करने वाले अक्रियावादी भविष्य और भूतकाल के क्षणो के साथ वर्तमानकाल का कोई सम्बन्ध (सगति) न होने से क्रिया (और तज्जनित कर्मबन्ध) का निषेध करते है ।

५३९ वे (पूर्वोक्त अक्रियावादी) अपनी वाणी से स्वीकार किये हुए पदार्थ का निषेध करते हुए मिश्रपक्ष को (पदार्थ के अस्तित्व और नास्तित्व दोनो से मिश्रित विरुद्धपक्ष को) स्वीकार करते है । वे स्याद्वादियो के कथन का अनुवाद करने (दोहराने) मे भी असमर्थ होकर अति मूक हो जाते है । वे इस पर-मत को द्विपक्ष-प्रतिपक्ष युक्त तथा स्वमत को प्रतिपक्षरहित बताते है । एव स्याद्वादियो के हेतु वचनो का खण्डन करने के लिए वे छलयुक्त वचन एव कर्म (व्यवहार) का प्रयोग करते है ।

५४० वस्तुतत्त्व को न समझने वाले वे अक्रियावादी नाना प्रकार के शास्त्रो का कथन (शास्त्रवचन प्रस्तुत) करते है । जिन शास्त्रो का आश्रय लेकर बहुत-से मनुष्य अनन्तकाल तक ससार मे परिभ्रमण करते है ।

५४१ सर्वशून्यतावादी (अक्रियवादी) कहते है कि न तो सूर्य उदय होता है, और न ही अस्त होता है तथा चन्द्रमा (भी) न तो बढता है और न घटता है, एव नदी आदि के जल बहते नही और न हवाएँ चलती है । यह सारा लोक अर्थशून्य (बन्ध्य या मिथ्या) एव नियत (निश्चित-अभाव) रूप है ।

५४२ जैसे अन्धा मनुष्य किसी ज्योति (दीपक आदि के प्रकाश) के साथ रहने पर भी नेत्रहीन होने से रूप को नही देख पाता, इसी तरह जिनकी प्रज्ञा ज्ञानावरण के कारण रुकी हुई है, वे बुद्धिहीन अक्रियावादी सम्मुख विद्यमान क्रिया को भी नही देखते ।

५४३ जगत् मे बहुत-से लोग ज्योतिषशास्त्र (सवत्सर) स्वप्नशास्त्र, लक्षणशास्त्र, निमित्त-शास्त्र, शरीर पर प्रादुर्भूत—तिल-मष आदि चिह्नो का फल बताने वाला शास्त्र, तथा उल्कापात दिग्दाह, आदि का फल बताने वाला शास्त्र, इन अष्टाग (आठ अगों वाले) निमित्त शास्त्रो को पढ कर भविष्य की बातो को जान लेते है ।

५४४ कई निमित्त तो सत्य (तथ्य) होते हैं और किन्ही-किन्ही निमित्तवादियो का वह ज्ञान विपरीत (अयथार्थ) होता है । यह देखकर विद्या का अध्ययन न करते हुए अक्रियावादी विद्या से परिमुक्त होने—त्याग देने को ही कल्याणकारक कहते है ।

विवेचन—अक्रियावादी की समीक्षा—प्रस्तुत सात सूत्रगाथाओ द्वारा शास्त्रकार ने एकान्त अक्रियावादियो द्वारा मान्य अक्रियावाद के स्वरूप का प्रतिपादन किया है ।

अक्रियावाद : स्वरूप और भेद—एकान्तरूप से जीव आदि पदार्थों का जिस वाद मे निषेध किया जाता है, तथा उसकी क्रिया, आत्मा कर्मबन्ध, कर्मफल आदि जहाँ बिल्कुल नही माने जाते, उसे अक्रियावाद कहते है ।

अक्रियावाद के ८४ भेद होते हैं, वे इस प्रकार हैं—जीव आदि ७ पदार्थों को क्रमश लिखकर उसके नीचे (१) स्वत और (२) परत ये दो भेद स्थापित करने चाहिए । फिर उन ७ × २ = १४ ही पदों के नीचे (१) काल (२) यदृच्छा, (३) नियति, (४) स्वभाव, (५) ईश्वर और (६) आत्मा इन ६ पदो को रखना चाहिए । जैसे—जीव स्वत यदृच्छा से नही है, जीव परत काल से नही है, जीव स्वत यदृच्छा से नही है, जीव परत यदृच्छा से नही है, इसी तरह नियति, स्वभाव, ईश्वर और आत्मा के साथ भी प्रत्येक के दो-दो भेद होते है । यो जीवादि सातो पदार्थों के सात, स्वत परत के प्रत्येक के दो और काल आदि के ६ भेद मिलाकर कुल ७ × २ = १४ × ६ = ८४ भेद हुए ।[४]

एकान्त अक्रियावाद के गुण-दोष की मीमांसा—एकान्त अक्रियावादी मुख्यतया तीन है—लोकायतिक, बौद्ध और साख्य । **अक्रियावादी लोकायतिक** के मत मे आत्मा ही नही है, तो उसकी क्रिया कहाँ से होगी और उस क्रिया से उत्पन्न कर्मबन्ध भी कहाँ से होगा ? फिर भी लोक व्यवहार मे जैसे मुट्ठी का बाधना और खोलना उपचार मात्र से माना जाता है, वैसे ही लोकायतिक मत मे उपचार मात्र से आत्मा मे बद्ध और मुक्त का व्यवहार माना जाता है ।

अक्रियावादी बौद्ध—ये सभी पदार्थो को क्षणिक मानते है, क्षणिक पदार्थों मे क्रिया का होना सम्भव नही है, अत वे भी अक्रियावादी है । वे जो पाच स्कन्ध मानते हैं, वह भी आरोपमात्र से, परमार्थरूप से नही । उनका मन्तव्य यह है कि जब सभी पदार्थ क्षणिक है, क्षणभर मे नष्ट हो जाते हैं, तब न तो अवयवी का पता लगता है, और न ही अवयव का । इसलिए क्षणिकवाद के अनुसार भूत और भविष्य के साथ वर्तमान क्षण का कोई सम्बन्ध नही होता, सम्बन्ध न होने से क्रिया नही होती और क्रिया न होने से क्रियाजनित कर्मबन्ध भी नही होता । इस प्रकार बौद्ध अक्रियावादी है । तात्पर्य यह है कि बौद्ध कर्मबन्ध की आशका से आत्मादि पदार्थों का और उनकी क्रिया का निषेध करते है ।

अक्रियावादी सांख्य—आत्मा को सर्वव्यापक होने के कारण अक्रिय मानते है । इस कारण वे भी वस्तुत अक्रियावादी है ।

लोकायतिक पदार्थ का निषेध करके भी पक्ष को सिद्ध करने के लिए पदार्थ का अस्तित्व प्रकारान्तर से मान लेते है । अर्थात् पदार्थ का निषेध करते हुए भी वे उसके अस्तित्व का प्रतिपादन कर बैठते है । जैसे—वे जीवादि पदार्थों का अभाव बताने वाले शास्त्रो का अपने शिष्यो को उपदेश देते हुए शास्त्र के कर्ता आत्मा को, तथा उपदेश के साधनरूप शास्त्र को एव जिसे उपदेश दिया जाता

---

४ (क) सूत्रकृतांग शीलाकवृत्ति पत्राक २०८
(ख) सूत्रकृताग निर्युक्ति गा० ११९

है, उस शिष्य को तो अवश्य स्वीकार करते हैं, क्योकि इनको माने बिना उपदेश आदि नही हो सकता। परन्तु सर्वशून्यतावाद मे ये तीनो पदार्थ नही आते। इसलिए लोकायतिक परस्पर विरुद्ध मिश्रपक्ष का आश्रय लेते हैं। वे पदार्थ नही है, यह भी कहते हैं, दूसरी ओर उसका अस्तित्व भी स्वीकार करते है।

बौद्ध मत के सर्वशून्यतावाद के अनुसार कोई (परलोक मे) जाने वाला सम्भव नही, कोई क्रिया, गतियाँ और कर्मबन्ध भी सम्भव नही है, फिर भी बौद्धशासन मे ६ गतियाँ मानी गई हैं। जब गमन करने वाला कोई आत्मा ही नही है, तब गमन क्रिया, फलित गतियाँ कैसी ? फिर बौद्ध मान्य ज्ञान से अभिन्न ज्ञान सन्तान भी क्षणविध्वसी होने के कारण स्थिर नही हैं। क्रिया न होने के कारण अनेक गतियो का होना सम्भव नही, बौद्ध आगमो मे सभी कर्मों को अबन्धन माना है, फिर भी तथागत बुद्ध का ५०० बार जन्मग्रहण करना बताते हैं। जब कर्मबन्धन नही तो जन्म ग्रहण कैसे होगा ? बौद्ध ग्रन्थगत एक श्लोक मे बताया है—"माता-पिता को मारकर एव बुद्ध के शरीर से रक्त निकालकर अर्हद्‌वध करके तथा धर्मस्तूप को नष्ट करने से मनुष्य अवीचिनरक मे जाता है,"[५] यह भी कर्मबन्धन के बिना कैसे सम्भव है ? यदि सर्वशून्य है तो ऐसे शास्त्रो की रचना कैसे युक्तिसगत हो सकती है ? यदि कर्मबन्धन कारण नही है, तो प्राणियो मे जन्म-मरण, रोग, शोक उत्तम-मध्यम-अधम आदि विभिन्नताएँ किस कारण से दृष्टिगोचर होती है ? यह कर्म का फल प्रतीत होता है। इन सब पर से जीव का अस्तित्व, उसका कर्तृत्व, भोक्तृत्व एव उसका कर्म से युक्त होना सिद्ध होता है, फिर भी बौद्ध सर्वशून्यतावाद को मानते है। यह स्पष्ट ही बौद्धो द्वारा मिश्रपक्ष का स्वीकार करना है। अर्थात् एक ओर वे कर्मो का पृथक्-पृथक् फल मानते है, दूसरी ओर वे सर्वशून्यतावाद के अनुसार सभी पदार्थों का नास्तित्व बताते हैं।

साख्य अक्रियावादी आत्मा को सर्वव्यापी मानकर भी प्रकृति के वियोग से उसका मोक्ष मानते है। जब मोक्ष मानते हैं तो बन्धन अवश्य मानना पडेगा। जब आत्मा का बन्धमोक्ष होता है तो उनके ही वचनानुसार आत्मा का क्रियावान् होना भी स्वीकृत हो जाता है, क्योकि क्रिया के बिना बन्ध और मोक्ष कदापि सम्भव नही होते। अत साख्य भी मिश्रपक्षाश्रयी है, वे आत्मा को निष्क्रिय सिद्ध करते हुए अपने ही वचन से उसे क्रियावान् कह बैठते है।

अक्रियावादियो के सर्वशून्यतावाद का निराकरण—अक्रियावादियो के द्वारा सूर्य के उदय-अस्त का चन्द्र के वृद्धि-ह्रास, जल एव वायु की गति का किया गया निषेध प्रत्यक्ष प्रमाण से विरुद्ध है। ज्योतिष आदि अष्टागनिमित्त आदि शास्त्रो के पढने से भूत या भविष्य की जानकारी मनुष्यो को होती है, वह किसी न किसी पदार्थ की सूचक होती है, सर्वशून्यतावाद को मानने पर यह घटित नही हो सकता। इस पर से शून्यतावादी कहते है कि ये विद्याएँ सत्य नही है, हम तो विद्याओ के पढे बिना ही लोकालोक के पदार्थो को जान लेते है, यह कथन भी मिथ्या एव पूर्वापरविरुद्ध है।

प्रत्यक्ष दृश्यमान वस्तु को भी स्वप्न, इन्द्रजाल या मृगमरीचिका-सम बताकर उसका अत्यन्ताभाव घोषित करना भी युक्ति-प्रमाणविरुद्ध है।

---

५ "मता-पितरौ हत्वा, बुद्धशरीरे च रुधिरमुत्पात्य।
अर्हद्‌वध च कृत्वा, स्तूप भित्वा, आवीचिनरक यान्ति॥"—सू० शी०वृत्ति पत्राक २१५ मे उद्धृत बौद्ध ग्रन्थोक्ति

छलायतणं च कम्मं—इसकी दूसरी व्याख्या वृत्तिकार ने इस प्रकार की है—अथवा जिसके षट् आयतन—उपादानकारण आश्रवद्वाररूप हैं, अथवा श्रोत्रादि इन्द्रिय नोइन्द्रिय (मन) रूप हैं, वह कर्म षडायतनरूप है, इस प्रकार बौद्ध कहते हैं। बौद्धग्रन्थ सुत्तपिटक, सयुक्त निकाय मे षडायतन (सलायतन) का उल्लेख है।[६]

पाठान्तर और व्याख्या—वंझो णियते के बदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—**'वंझे य णितिए'** वन्ध्य का अर्थ है—शून्य, **'णितिए'** का अर्थ है—नित्यकाल। लोक नित्य एव सर्वशून्य है।[७]

एकान्त क्रियावाद और सम्यक् क्रियावाद एवं उसके प्ररूपक

५४५. ते एवमक्खंति समेच्च लोगं, तहा तहा समणा माहणा य।
सयंकडं णण्णकडं च दुक्खं, आहंसु विज्जाचरणं पमोक्खं ॥ ११ ॥

५४६. ते चक्खु लोगंसिह णायगा तु, मग्गाऽणुसासंति हितं पयाणं।
तहा तहा सासयमाहु लोए, जंसी पया माणव! संपगाढा ॥ १२ ॥

५४७. जे रक्खसावा जमलोइया वा, जे वा सुरा गंधव्वा य काया।
आगासगामी य पुढोसिया य, पुणो पुणो विप्परियासुवेंति ॥ १३ ॥

५४८. जमाहु ओहं सलिलं अपारगं, जाणाहि ण भवगहणं दुमोक्खं।
जंसी विसन्ना विसयंगणाहिं, दुहतो वि लोयं अणुसंचरंति ॥ १४ ॥

५४५ वे श्रमण (शाक्यभिक्षु) और माहन (ब्राह्मण) अपने-अपने अभिप्राय के अनुसार लोक को जानकर उस-उस क्रिया के अनुसार फल प्राप्त होना बताते हैं। तथा (वे यह भी कहते है कि) दुःख स्वयकृत (अपना ही किया हुआ) होता है, अन्यकृत नही। परन्तु तीर्थंकरो ने विद्या (ज्ञान) और चरण (चारित्र-क्रिया) से मोक्ष कहा है।

५४६ इस लोक में तीर्थंकर आदि नेत्र के समान है, तथा वे (शासन) नायक (धर्म नेता या प्रधान) है। वे प्रजाओ के लिए हितकर ज्ञानादि रूप मोक्षमार्ग की शिक्षा देते है। इस चतुर्दश-

---

६ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक २१४ से २१८ तक का साराश

(ख) 'बद्धा मुक्ताश्च कथ्यन्ते, मुष्टि-ग्रन्थि-कपोतका।
न चान्ये द्रव्यत सन्ति, मुष्टि-ग्रन्थि-कपोतका ॥'

—सूत्रकृताग शीलांकवृत्ति मे उद्धृत

७ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक २१६

(ख) तुलना—'अविज्जपच्चया नामरूपपच्चया **सलायतन** पटिच्च समुप्पादो। कतम च, भिक्खवे, **सलायतनं**? चक्खायतन, सोतायतन, घाणायतन, जिह्वायतन, कायायतन मनायतन। इद वुच्चति, भिक्खवे, **सलायतनं**।

—सुत्तपिटक सयुत्त निकाय पालि (भा० २) पृ० ३-५

रज्ज्वात्मक या पचास्तिकायरूप लोक मे जो-जो वस्तु जिस-जिस प्रकार से द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से शाश्वत है उसे उसी प्रकार से उन्होने कही है। अथवा यह जीवनिकायरूप लोक (ससार) जिन-जिन मिथ्यात्व आदि कारणो से जैसे-जैसे शाश्वत (सुदृढ या सुदीर्घ) होता है, वैसे-वैसे उन्होंने बताया है, अथवा जैसे-जैसे राग-द्वेष आदि या कर्म की मात्रा मे अभिवृद्धि होती है, वैसे-वैसे ससाराभिवृद्धि होती है, यह उन्होने कहा है, जिस ससार मे (नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव के रूप मे) प्राणिगण निवास करते है।

५४७ जो राक्षस है, अथवा यमलोकवासी (नारक) है, तथा जो चारो निकाय के देव है, या जो देव गन्धर्व है, और पृथ्वीकाय आदि षड्जीवनिकाय के है तथा जो आकाशगामी हैं एव जो पृथ्वी पर रहते है, वे सब (अपने किये हुए कर्मों के फलस्वरूप) बार-बार विविध रूपो मे (विभिन्न गतियो मे) परिभ्रमण करते रहते हैं।

५४८ तीर्थंकरो गणधरो आदि ने जिस ससार सागर को स्वयम्भूरमण समुद्र के जल की तरह अपार (दुस्तर) कहा है, उस गहन ससार को दुर्मोक्ष (दु ख से छुटकारा पाया जा सके, ऐसा) जानो, जिस ससार मे विषयो और अगनाओ मे आसक्त जीव दोनों ही प्रकार से (स्थावर और जगम-रूप अथवा आकाशाश्रित एवं पृथ्वी-आश्रित रूप से अथवा वेषमात्र से प्रव्रज्याधारी होने और अविरति के कारण, एक लोक से दूसरे लोक मे भ्रमण करते रहते हैं।

विवेचन—एकान्त क्रियावाद और सम्यक् क्रियावाद एवं उसके प्ररूपक—प्रस्तुत चार सूत्रो मे क्रियावाद की गूढ समीक्षा की गई है।

एकान्त क्रियावाद : स्वरूप और भेद—एकान्त क्रियावादी वे है, जो एकान्तरूप से जीव आदि पदार्थों का अस्तित्व मानते है, तथा ज्ञानरहित केवल दीक्षा आदि क्रिया से ही मोक्षप्राप्ति मानते है। वे कहते है कि माता-पिता आदि सब है, शुभकर्म का फल भी मिलता है, पर मिलता है केवल क्रिया से ही। जीव जैसी-जैसी क्रियाएँ करता है, तदनुसार उसे नरक-स्वर्ग आदि के रूप मे कर्मफल मिलता है। ससार मे सुख-दु खादि जो कुछ भी होता है, सब अपना किया हुआ होता है, काल, ईश्वर आदि दूसरो का किया हुआ नही होता।[८]

निर्युक्तिकार ने क्रियावाद के १८० भेद बताए है। वे इस प्रकार से है—सर्वप्रथम जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष, इन नौ पदार्थों को क्रमश स्थापित करके उसके नीचे 'स्वत' और 'परत' ये दो भेद रखने चाहिए। इसी तरह उनके नीचे 'नित्य' और 'अनित्य' इन दो भेदो की स्थापना करनी चाहिए। उसके नीचे क्रमश काल, स्वभाव, नियति, ईश्वर और आत्मा इन ५ भेदो की स्थापना करनी चाहिए। जैसे—(१) जीव स्वत विद्यमान है, (२) जीव परत (दूसरे से) उत्पन्न होता है, (३) जीव नित्य है, (४) जीव अनित्य है, इन चारो भेदो को क्रमश काल आदि पाचो के साथ लेने से बीस भेद (४×५=२०) होते है, इसी प्रकार अजीवादि शेष ८ के प्रत्येक के बीस-बीस भेद समझने चाहिए। यो नौ ही पदार्थों के २०×९=१८० भेद क्रियावादियो के होते है।[९]

---

८ सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २१८

९ (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गा० ११९　　(ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २१८

एकान्त क्रियावाद की गुण-दोष समीक्षा—एकान्त क्रियावादियो के मन्तव्य के सम्बन्ध मे शास्त्रकार कहते हैं कि क्रियावादियो का यह कथन किसी अश तक ठीक है कि क्रिया से मोक्ष होता है, तथा आत्मा (जीव) और सुख आदि का अस्तित्व है, परन्तु उनकी एकान्त प्ररूपणा यथार्थ नही है। यदि एकान्तरूप से पदार्थों का अस्तित्व माना जाएगा तो वे कथञ्चित् (परद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से) नही हैं, यह कथन घटित नही हो सकेगा, जो कि सत्य है। वस्तु मे एकान्त अस्तित्व मानने पर सर्ववस्तुएँ सर्ववस्तुरूप हो जाएगी। इस प्रकार जगत् के समस्त व्यवहारो का उच्छेद हो जाएगा अत प्रत्येक वस्तु कथञ्चित् अपने-अपने स्वरूप से है, परस्वरूप से नही है, ऐसा मानना चाहिए।

एकान्त क्रिया से मोक्ष नही होता, उसके साथ ज्ञान सम्यग्ज्ञान होना चाहिए। ज्ञान रहित क्रिया मात्र से कोई कार्य सिद्ध नही होता। सभी क्रियाएँ ज्ञान के साथ फल देती है। दशवैकालिक सूत्र मे **'पढमं नाणं तओ दया'** की उक्ति इसी तथ्य का सकेत है। अत ज्ञान निरपेक्ष क्रिया से या क्रिया निरपेक्ष ज्ञान से मोक्ष नही होता, इसीलिये शास्त्रकार स्पष्ट कहते है—तीर्थंकरो ने ज्ञान और क्रिया दोनो से मोक्ष कहा है।

सम्यक् क्रियावाद और उसके मार्गदर्शक—सूत्रगाथा ५४६ से ५४८ तक मे सम्यक् क्रियावाद और उसके मार्गदर्शक का निरूपण किया है, इनसे चार तथ्य फलित होते है—(१) लोक शाश्वत भी है, और अशाश्वत भी है, (२) चारो गतियो के जीव अपने-अपने कर्मों के अनुसार सुख दु ख पाते है तथा स्वत ससार मे परिभ्रमण करते है, काल, ईश्वर आदि से प्रेरित होकर नही। (३) ससार-सागर स्वयम्भूरमण समुद्र के समान दुस्तर है, (४) तीर्थंकर लोकचक्षु है, वे धर्मनायक है, सम्यक् क्रियावाद के मार्गदर्शक है, उन्होने ससार और मोक्ष का यथार्थ स्वरूप बताकर सम्यक् क्रियावाद की प्ररूपणा की है, अथवा जीव-अजीव आदि नौ तत्त्वो के अस्तित्व-नास्तित्व की काल आदि पाच कारणो के समवसरण (समन्वय) की सापेक्ष प्ररूपणा की है। इसलिए वे इस भाव—समवसरण के प्ररूपक है।[10]

सम्यक् क्रियावाद और क्रियावादियों के नेता

५४९. ण कम्मुणा कम्म खवेंति बाला, अकम्मुणा उ कम्म खवेंति धीरा।
मेधाविणो लोभमयावतीता, संतोसिणो णो पकरेंति पाव ॥१५॥

५५०. ते तीत-उप्पण्ण-मणागताइं, लोगस्स जाणंति तहागताइं।
णेतारो अण्णेसि अणण्णणेया, बुद्धा हु ते अतकडा भवंति ॥१६॥

५५१. ते णेव कुव्वंति ण कारवेंति, भूताभिसंकाए दुगुंछमाणा।
सया जता विप्पणमंति धीरा, विण्णत्तिवीरा य भवंति एगे ॥१७॥

---

१० सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक २१८ से २२० तक का साराश

५४९ अज्ञानी जीव (बाल) सावद्य (पापयुक्त) कर्म करके अपने कर्मों का क्षय नही कर सकते । अकर्म के द्वारा (आश्रवो--कर्म के आगमन को रोक कर, अन्तत शैलेशी अवस्था मे) धीर (महासत्त्व) साधक कर्म का क्षय करते है । मेधावी साधक लोभमय (परिग्रह) कार्यों से अतीत (दूर) होते है, वे सन्तोषी होकर पाप कर्म नही करते ।

५५० वे वीतराग पुरुष प्राणिलोक (पचास्तिकायात्मक या प्राणिसमूह रूप लोक) के भूत, वर्तमान एव भविष्य (के सुख-दु खादि वृत्तान्तो) को यथार्थ रूप मे जानते है । वे दूसरे जीवो के नेता है, परन्तु उनका कोई नेता नही है । वे ज्ञानी पुरुष (स्वयबुद्ध, तीर्थंकर, गणधर आदि) ससार (जन्म-मरण) का अन्त कर देते है ।

५५१ वे (प्रत्यक्षज्ञानी या परोक्षज्ञानी तत्त्वज्ञ पुरुष) प्राणियो के घात की आशका (डर) से पापकर्म से घृणा (अरुचि) करते हुए स्वय हिंसादि पापकर्म नही करते, न ही दूसरो से पाप (हिंसादि) कर्म कराते हैं । वे धीर पुरुष सदैव संयत (पापकर्म से निवृत्त) रहते हुए सयमानुष्ठान की ओर झुके रहते है । परन्तु कई अन्यदर्शनी ज्ञान (विज्ञप्ति) मात्र से वीर बनते है, क्रिया से नही ।

विवेचन—सम्यक् क्रियावाद और क्रियावादियों के नेता—प्रस्तुत तीन सूत्रगाथाओ मे सम्यक् क्रियावाद के सम्बन्ध मे पाच रहस्य प्रस्तुत किये गए है—(१) क्रियावाद के नाम पर पापकर्म (दुष्कृत्य) करने वाले कर्म क्षय करके मोक्ष नही प्राप्त कर सकते, (२) कर्मों का सर्वथा क्षय करने हेतु महाप्राज्ञ साधक सावद्य-निरवद्य सभी कर्मों के आगमन को रोक कर अन्त मे सर्वथा अक्रिय (योग-रहित) अवस्था मे पहुँच जाते है । अर्थात् कथञ्चित् सम्यक् अक्रियावाद को भी अपनाते है । (३) ऐसे मेधावी साधक लोभमयी क्रियाओ से सर्वथा दूर रहकर यथालाभ सन्तुष्ट होकर पाप युक्त क्रिया नही करते । (४) ऐसे सम्यक् क्रियावादियो के नेता या तो स्वयबुद्ध होते है, या सर्वज्ञ होते है, उनका कोई नेता नही होता । वे लोक के अतीत, अनागत एव वर्तमान वृत्तान्तो को यथावस्थित रूप से जानते है, और ससार के कारणभूत कर्मों का अन्त कर देते है । (५) ऐसे महापुरुष पाप कर्मों से घृणा करते हुए प्राणिवध की आशका से (क्रियावाद के नाम पर) न तो स्वय पापकर्म करते हैं, न दूसरो से करवाते है । वे सदैव पापकर्म से निवृत्त रहते हुए सयमानुष्ठान मे प्रवृत्त रहते है, यही उनका ज्ञानयुक्त सम्यक् क्रियावाद है, जबकि अन्यदर्शनी ज्ञान मात्र से ही वीर बनते है, सम्यक् क्रिया से दूर रहते हैं ।[११]

सम्यक् क्रियावाद का प्रतिपादक और अनुगामी

५५२. डहरे य पाणे बुड्ढे य पाणे, ते आततो पासति सव्वलोए ।
उवेहती लोगमिण महंतं, बुद्धऽप्पमत्तेसु परिव्वएज्जा ॥१८॥

५५३. जे आततो परतो यावि णच्चा, अलमप्पणो होति अल परेसिं ।
त जोतिभूतं च सताऽऽवसेज्जा, जे पाउकुज्जा अणुवीयि धम्मं ॥१९॥

---

११ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक २२० से २२१ का निष्कर्ष

५५४. अत्ताण जो जाणति जो य लोगं, आगइं च जो जाणइऽणागइं च ।
जो सासय जाणइ असासयं च, जाती मरणं च जणोववातं ।।२०।।

५५५ अहो वि सत्ताण विउट्टणं च, जो आसवं जाणति संवरं च ।
दुक्खं च जो जाणति निज्जरं च, सो भासितुमरिहति किरियवादं ।।२१।।

५५६ सद्देसु रूवेसु असज्जमाणे, गंधेसु रसेसु अदुस्समाणे ।
णो जीवियं णो मरणाभिकंखी, आदाणगुत्ते वलयाविमुक्के ।।२२।।
—त्ति बेमि ।

।। समोसरणं : बारसमं अज्झयण सम्मत्त ।।

५५२ इस समस्त लोक मे छोटे-छोटे (कुन्थु आदि) प्राणी भी हैं और बडे-बडे (स्थूल शरीर वाले हाथी आदि) प्राणी भी हैं । सम्यक्वादी सुसाधु उन्हे अपनी आत्मा के समान देखता-जानता है । 'यह प्रत्यक्ष दृश्यमान विशाल (महान्) प्राणिलोक कर्मवश दु ख रूप है', इस प्रकार की उत्प्रेक्षा (अनुप्रेक्षा—विचारणा) करता हुआ वह तत्त्वदर्शी पुरुष अप्रमत्त साधुओ से दीक्षा ग्रहण करे—प्रव्रजित हो ।

५५३ जो सम्यक् क्रियावादी साधक स्वय अथवा दूसरे (तीर्थंकर, गणधर आदि) से जीवादि पदार्थों को जानकर अन्य जिज्ञासुओ या मुमुक्षुओ को उपदेश देता है, जो अपना या दूसरो का उद्धार या रक्षण करने मे समर्थ है, जो जीवो की कर्म परिणति का अथवा सद्धर्म (श्रुत चारित्र रूप धर्म या क्षमादि-दशविध श्रमण धर्म एव श्रावक धर्म) का विचार करके (तदनुरूप) धर्म को प्रकट करता है, उस ज्योति स्वरूप (तेजस्वी) मुनि के सान्निध्य मे सदा निवास करना चाहिए ।

५५४-५५५ जो आत्मा को जानता है, जो लोक को तथा जीवो की गति और अनागति (सिद्धि) को जानता है, इसी तरह शाश्वत (मोक्ष) और अशाश्वत (ससार) को तथा जन्म-मरण एव प्राणियो के नाना गतियो मे गमन को जानता है, तथा अधोलोक (नरक आदि) मे भी जीवो को नाना प्रकार की पीडा होती है, यह जो जानता है, एव जो आश्रव (कर्मो के आगमन) और सवर (कर्मों के निरोध) को जानता है तथा जो दु ख (बन्ध) और निर्जरा को जानता है, वही सम्यक् क्रियावादी साधक क्रियावाद को सम्यक् प्रकार से बता सकता है ।

५५६ सम्यग्वादी साधु मनोज्ञ शब्दो और रूपो मे आसक्त न हो, न ही अमनोज्ञ गन्ध और रस के प्रति द्वेष करे । तथा वह (असयमी जीवन) जीवन जीने की आकाक्षा न करे, और न ही (परीषहो और उपसर्गो से पीडित होने पर) मृत्यु की इच्छा करे । किन्तु सयम (आदान) से सुरक्षित (गुप्त) और माया से विमुक्त होकर रहे । —ऐसा मैं कहता हूँ ।

विवेचन—सम्यक् क्रियावाद का प्रतिपादक और अनुगामी—प्रस्तुत पाच सूत्रगाथाओ मे सम्यक् क्रियावाद के प्ररूपक एव अनुगामी की अर्हताएँ बताई गई है । मुख्य अर्हताएँ ये है—(१) जो

लोक मे स्थित समस्त छोटे-बडे प्राणियो को आत्मवत् जानता-देखता है, (२) जो आत्म जागरण के समय विशाल लोक की अनुप्रेक्षा करता है कि 'यह द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से विशाल अन्तरहित लोक कर्मवश जन्म-मरण-जरा-रोग-शोक आदि नाना दु.ख रूप है।' (३) जो तत्त्वदर्शी पुरुष अप्रमत्त साधुओ से दीक्षा ग्रहण करता है, (४) जीवादि नौ पदार्थों को प्रत्यक्षदर्शी या परोक्षदर्शी से जानकर दूसरो को उपदेश देता है, (५) जो स्व-पर-उद्धार या रक्षण करने मे समर्थ है, (६) जो जिज्ञासु के समक्ष अनुरूप सद्धर्म का विचार करके प्रकट करता है, (७) सम्यक् क्रियावाद के अनुगामी को उसी तेजस्वी मुनि के उसी तेजस्वी मुनि के सान्निध्य मे रहना चाहिए, (८) जो आत्मा जीवो की गति-आगति, मुक्ति तथा मोक्ष का (शाश्वतता) और ससार (अशाश्वतता) का रहस्य जानता है जो अधोलोक के जीवो के दु.खो को जानता है, आश्रव, सवर, पुण्य-पाप बन्ध एव निर्जरा को जानता है, वही क्रियावाद का सम्यक् निरूपण कर सकता है। (९) ऐसे सम्यक् क्रियावादी साधु को पचेन्द्रिय विषयो मे आसक्ति एव द्वेष नही रखना चाहिए, उसे जीवन-मरण की भी आकाक्षा नही रखनी चाहिए, उसे आदान (मिथ्यात्वादि द्वारा गृहीत कर्म या विषय कषायो के ग्रहण) से आत्मा को बचाना और माया से मुक्त रहना चाहिए।

सक्षेप मे, जो साधक आत्मवाद, लोकवाद एव कर्मवाद को जानता है या नौ तत्वो का सर्वकर्म-विमुक्ति रूप मोक्ष के सन्दर्भ मे स्वीकार करता है, वही वस्तुत क्रियावाद का ज्ञाता एव उपदेष्टा है।[१२]

।। समवसरण : बारहवां अध्ययन सम्पूर्ण ।।

---

१२ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक २२२ से २२३ तक का सारांश

याथातथ्य—त्रयोदश अध्ययन

प्राथमिक

- सूत्रकृताग (प्र० श्रु०) के तेरहवे अध्ययन का नाम याथातथ्य या यथातथ्य है ।

- यथातथ्य का अर्थ है—यथार्थ, वास्तविक, परमार्थ अथवा जैसा हो, वैसा ।

- निर्युक्तिकार ने 'तथ्य' शब्द के मुख्यतया चार निक्षेप किये है—नाम तथ्य और स्थापना तथ्य सुगम है । सचित्तादि पदार्थों मे से जिस पदार्थ का जैसा स्वभाव या स्वरूप हो, उसे द्रव्य की प्रधानता को लेकर द्रव्य तथ्य कहते है, जैसे पृथ्वी का लक्षण कठिनता, जल का द्रवत्व । तथा मनुष्यो आदि का जैसा मार्दव आदि स्वभाव है, तथा गोशीर्ष चन्दनादि द्रव्यो का जैसा स्वभाव है, उसे द्रव्यतथ्य कहते है । भाव तथ्य औदयिक आदि ६ भावो की यथार्थता को भाव तथ्य जानना चाहिए अथवा आत्मा मे रहने वाला 'भावतथ्य' चार प्रकार का है—१. 'ज्ञानतथ्य' (पाच ज्ञानो द्वारा वस्तु का यथार्थ स्वरूप जानना), २ 'दर्शन तथ्य' (जीवादि तत्त्वो पर यथार्थ श्रद्धा करना), ३ 'चारित्रतथ्य' (१७ प्रकार के सयम और १२ प्रकार के तप का शास्त्रोक्तरीति से पालन करना) और ४ विनयतथ्य (ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और उपचार रूप से ४२ प्रकार से विनय की यथायोग्य आराधना करना) ।

- अथवा प्रशस्त और अप्रशस्त भावतथ्य मे से प्रस्तुत अध्ययन मे प्रशस्त भावतथ्य का अधिकार है । निर्युक्तिकार की दृष्टि मे प्रशस्त भावतथ्य का तात्पर्य है—सुधर्मास्वामी आदि आचार्यों की परम्परा से जिस सूत्र का सर्वज्ञोक्त जो अर्थ या व्याख्यान है, सरलता, जिज्ञासा बुद्धि एव निरभिमानता के साथ उसी प्रकार से अर्थ और व्याख्या करना, तदनुसार वैसा ही आचरण-अनुष्ठान करना यथातथ्य है, किन्तु परम्परागत सूत्रार्थ और व्याख्यान के विपरीत कपोलकल्पित कुतर्क-मद से विकृत अर्थ और व्याख्यान करना अयथातथ्य है ।

- प्रस्तुत अध्ययन मे पूर्वोक्त भाव तथ्य की दृष्टि से साधुओ का प्रशस्त ज्ञानादि तथ्यरूप शील का तथा असाधुओ के इससे विपरीत शील (स्वभाव एव स्वरूप) का वर्णन किया गया है । यथातथ्य वर्णन होने के कारण इस अध्ययन को 'याथातथ्य' कहा गया है ।

☐ अथवा इस अध्ययन की प्रथम गाथा मे 'आहत्तहिय' (यथातथ्य) शब्द का प्रयोग हुआ है, इस आदिपद को लेकर इस अध्ययन का नाम 'याथातथ्य' दिया गया है।[1]

☐ प्रस्तुत अध्ययन मे २३ गाथाओ द्वारा साधुओ के गुण-दोषो की वास्तविक स्थिति पर प्रकाश डाला गया है।

☐ यथातथ्य व्याख्यान और तदनुसार आचरण से साधक को ससार सागर पार करने योग्य बनाना इस अध्ययन का उद्देश्य है।

☐ प्रस्तुत अध्ययन सूत्रगाथा ५५७ से प्रारम्भ होकर ५७६ पर समाप्त होता है।

☐☐

---

१ (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गा० १२२ से १२६ तक
(ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २३०-२३१
(ग) जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भा० १ पृ० १५३

आहत्तहियं : तेरसमं अज्झयणं

याथातथ्य : तेरहवाँ अध्ययन

समस्त यथातथ्य-निरूपण का अभिवचन

५५७. आहत्तहियं तु पवेयइस्सं, नाणप्पकार पुरिसस्स जात ।
सतो य धम्मं असतो असीलं, संति असंति करिस्सामि पाउं ॥१॥

५५७ मै (सुधर्मास्वामी) याथातथ्य—यथार्थ तत्त्व को बताऊगा, तथा ज्ञान के प्रकार (सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र के रहस्य) को प्रकट करूँगा, एव पुरुषो (प्राणियो) के अच्छे बुरे गुणो को कहूँगा। तथा उत्तम साधुओ के शील और असाधुओ के कुशील का एव शान्ति (मोक्ष) और अशान्ति (ससार) का स्वरूप भी प्रकट करूँगा।

विवेचन—याथातथ्य के निरूपण का अभिवचन—अध्ययन की इस प्रारम्भिक गाथा मे, समग्र अध्ययन मे प्रतिपाद्य विषयो के यथातथ्य निरूपण का श्रीसुधर्मास्वामी का अभिवचन अकित किया किया गया है। प्रस्तुत गाथा मे चार विषयो के यथार्थ निरूपण का अभिवचन है—

(१) ज्ञानादि (सम्यग्ज्ञान, दर्शन, और चारित्र) का रहस्य।

(२) सत्पुरुष और असत्पुरुष के प्रशस्त-अप्रशस्त गुण, धर्म, स्वभाव आदि का निरूपण।

(३) सुसाधुओं के शील, सदाचार, सदनुष्ठान और कुसाधुओ के कुशील, अनाचार और असदनुष्ठान का स्वरूप,

(४) सुसाधुओ को समस्तकर्मक्षयरूप शान्ति (मुक्ति) की प्राप्ति और कुसाधुओ को जन्म-मरणरूप अशान्ति (ससार) की प्राप्ति का रहस्य व कारण।

पाठान्तर—**'पुरिसस्स जातं'** के बदले पाठान्तर है—**'पुरिसस्स भावं'**। अर्थ के अनुसार यह पाठ सगत है।[1]

---

१ सूत्रकृताग शीलांकवृत्ति पत्राक २३२ का साराश

कुसाधु के कुशील एवं सुसाधु के शील का यथातथ्य-निरूपण

५५८. अहो य रातो य समुट्ठितेहिं, तहागतेहिं पडिलब्भ धम्मं ।
समाहिमाघातमझोसयता, सत्थारमेव फरुसं वयंति ॥२॥

५५९. विसोहिय ते अणुकाहयंते, जे आतभावेण वियागरेज्जा ।
अट्ठाणिए होंति बहूगुणाणं, जे णाणसंकाए मुसं वदेज्जा ॥३॥

५६०. जे यावि पुट्ठा पलिउंचयंति, आदाणमट्ठं खलु वंचयंति ।
असाहुणो ते इह साधुमाणी, मायण्णि एसिंति अणंतघंत ॥४॥

५६१. जे कोहणे होति जगट्ठभासी, विओसियं जे उ उदीरएज्जा ।
अंधे व से दंडपहं गहाय, अविओसिए धासति पावकम्मी ॥५॥

५६२. जे विग्गहीए अन्नायभासी, न से समे होति अझंझपत्ते ।
ओवायकारी य हिरीमणे य, एगंतदिट्ठी य अमाइरूवे ॥६॥

५६३. से पेसले सुहुमे पुरिसजाते, जच्चण्णिए चेव सुउज्जुयारे ।
बहुं पि अणुसासिते जे तहच्चा, समे हु से होति अझंझपत्ते ॥७॥

५६४. जे आवि अप्पं वसुमं ति मंता, संखाय वादं अपरिच्छ कुज्जा ।
तवेण वा हं सहिते त्ति मंता, अण्णं जणं पस्सति बिंबभूतं ॥८॥

५६५. एगंतकूडेण तु से पलेति, ण विज्जती मोणपदंसि गोते ।
जं माणणट्ठेण विउक्कसेज्जा, वसुमण्णतरेण अबुज्झमाणे ॥९॥

५६६. जे माहणे जातिए खत्तिए वा, तह उग्गपुत्ते तह लेच्छती वा ।
जे पव्वइते परदत्तभोई, गोत्ते ण जे थब्भति माणबद्धे ॥१०॥

५६७. ण तस्स जाती व कुलं व ताणं, णण्णत्थ विज्जा-चरणं सुचिण्णं ।
णिक्खम्म जे सेवतिऽगारिकम्मं, ण से पारए होति विमोयणाए ॥११॥

५५८ दिन-रात सम्यक् रूप से सदनुष्ठान करने मे उद्यत श्रुतधरो तथा तथागतो (तीर्थंकरो से श्रुत-चारित्र) धर्म को पाकर तीर्थंकरो आदि द्वारा कथित समाधि (सम्यग्दर्शनादि मोक्षपद्धति) का सेवन न करने वाले कुसाधु (जामालि, बोटिक आदि निह्नव) अपने प्रशास्ता धर्मोपदेशक (आचार्य या तीर्थंकरादि) को कठोर शब्द (कुवाक्य) कहते है ।

५५९ वे स्वमताग्रहग्रस्त कुसाध (जामालि गोष्ठामाहिल आदि निह्नववत्) विविध प्रकार से शोधित (कुमार्ग-प्ररूपणा से निवारित) इस सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप मोक्षमार्ग (जिनमार्ग) की आचार्य परम्परागत व्याख्या से विपरीत प्ररूपणा करते है। जो व्यक्ति अहकार वश आत्मभाव से (अपनी रुचि या कल्पना से) आचार्य परम्परा के विपरीत सूत्रो का अर्थ करते है, वे बहुत-से ज्ञानादि सद्गुणो के स्थान (भाजन) नही होते। वे (अल्पज्ञान गर्वित होकर) वीतराग के ज्ञान मे शका करके मिथ्याभाषण करते है।

५६० जो कुसाधु पूछने पर अपने आचार्य या गुरु आदि का नाम छिपाते है, वे आदान रूप अर्थ (ज्ञानादि अथवा मोक्षरूप पदार्थ) से अपने आपको वञ्चित करते है। वे वस्तुत इस जगत् मे या धार्मिक जगत् मे असाधु होते हुए भी स्वय को साधु मानते है, अत मायायुक्त वे व्यक्ति अनन्त (बहुत) बार विनाश (या ससारचक्र) को प्राप्त करेगे।

५६१ जो कषाय-फल से अनभिज्ञ कुसाधु, प्रकृति से क्रोधी है, अविचारपूर्वक बोलता (परदोषभाषी) है, जो उपशान्त हुए कलह को फिर उभारता (जगाता) रहता है, वह पापकर्मी एव सदैव कलह ग्रस्त व्यक्ति (चातुर्गतिक ससार मे यातनास्थान पाकर) बार-बार उसी तरह पीडित होता है, जिस तरह छोटी सकडी पगडडी पकड कर चलने वाला (सुमार्ग से अनभिज्ञ) अधा (काटो, हिंस्र पशुओ आदि से) पीडित होता है।

५६२ जो साधक कलहकारी है, अन्याययुक्त (न्याय-विरुद्ध) बोलता है, वह (रागद्वेषयुक्त होने के कारण) सम —मध्यस्थ नही हो सकता, वह कलहरहित भी नही होता (अथवा वह अकलह प्राप्त सम्यग्दृष्टि के समान नही हो सकता)। परन्तु सुसाधु उपपातकारी (गुरुसान्निध्य मे रहकर उनके निर्देशानुसार चलने वाला) या उपायकारी (सूत्रोपदेशानुसार उपाय—प्रवृत्ति करने वाला) होता है, वह अनाचार सेवन करते गुरु आदि से लज्जित होता है, जीवादि तत्वो मे उसकी दृष्टि (श्रद्धा) स्पष्ट या निश्चित होती है, तथा वह माया-रहित व्यवहार करता है।

५६३ भूल होने पर आचार्य आदि के द्वारा अनेक बार अनुशासित होकर (शिक्षा पाकर) भी जो अपनी लेश्या (अर्चा-चित्तवृत्ति) शुद्ध रखता है, वह सुसाधक मृदुभाषी या विनयादिगुणयुक्त है। वही सूक्ष्मार्थदर्शी है, वही वास्तव मे सयम मे पुरुषार्थी है, तथा वही उत्तम जाति से समन्वित और साध्वाचार मे ही सहज-सरल-भाव से प्रवृत्त रहता है। वही सम (निन्दा-प्रशसा मे रोष-तोष रहित मध्यस्थ) है, और अकषाय-प्राप्त (अक्रोधी या अमायी) है (अथवा वही सुसाधक वीतराग पुरुषो के समान अझझा प्राप्त है)।

५६४-५६५ जो अपने आपको सयम एव ज्ञान का धनी मानकर अपनी परीक्षा किये बिना ही किसी के साथ वाद छेड देता है, अथवा अपनी प्रशसा करता है, तथा मैं महान् तपस्वी हूँ, इस प्रकार के मद से मत्त होकर दूसरे व्यक्ति को जल मे पडे हुए चन्द्रमा के प्रतिविम्ब की तरह निरर्थक तुच्छ देखता—समझता है।

वह मदलिप्त साधु एकान्तरूप से मोहरूपी कूटपाश मे फँस कर ससार मे परिभ्रमण करता है, तथा जो सम्मान प्राप्ति के लिए सयम, तपस्या, ज्ञान आदि विविध प्रकार का मद करता है, वह समस्त

आगम-वाणी के ज्ञाता आधारभूत (गोत्र) मौनीन्द्र (सर्वज्ञ वीतराग) के पद-मार्ग में अथवा मौनपद (सयमपथ) मे स्थित नही है। वास्तव मे सयम लेकर जो ज्ञानादि का मद करता है, वह परमार्थत सर्वज्ञ-मार्ग को नही जानता—वह मूढ है।

५६६ जो ब्राह्मण है अथवा क्षत्रिय जातीय है, तथा उग्र (वशीय क्षत्रिय-) पुत्र है, अथवा लिच्छवी (गण का क्षत्रिय) है, जो प्रव्रजित होकर परदत्तभोजी (दूसरे-गृहस्थ के द्वारा दिया हुआ आहार सेवन करने वाला) है, जो अभिमान योग्य स्थानो से पूर्व सम्बन्धित होकर भी अपने (उच्च) गोत्र का मद नही करता, वही सर्वज्ञोक्त याथातथ्य चारित्र में प्रवृत्त साधु है।

५६७ भलीभाति आचरित (सेवित) ज्ञान (विद्या) और चारित्र (चरण) के सिवाय (अन्य) साधक की जाति अथवा कुल (दुर्गति से) उसकी रक्षा नही कर सकते। जो प्रव्रज्या लेकर फिर गृहस्थ कर्म (सावद्य कर्म, आरम्भ) का सेवन करता है वह कर्मो से विमुक्त होने मे समर्थ नही होता।

विवेचन—कुसाधु के कुशील और सुसाधु के सुशील का यथातथ्य निरूपण—प्रस्तुत १० सूत्र-गाथाओ मे कुसाधुओ और सुसाधुओ के कुशील एव सुशील का यथार्थ निरूपण किया गया है।

कुसाधुओं के कुशील का यथातथ्य इस प्रकार है—(१) अहर्निश सदनुष्ठान मे उद्यत श्रुतधरो या तीर्थंकरो से श्रुतचारित्र धर्म को पाकर उनके द्वारा कथित समाधि का सेवन नही करते (२) अपने उपकारी प्रशास्ता की निन्दा करते हैं, (३) वे इस विशुद्ध सम्यग्दर्शनादि युक्त जिन मार्ग की परम्परागत व्याख्या से विपरीत प्ररूपणा करते है, (४) अपनी स्वच्छन्दकल्पना से सूत्रो का विपरीत अर्थ करते है, (५) वीतराग सर्वज्ञ के ज्ञान मे कुशका करके मिथ्याभाषण करते हैं, (६) वे पूछने पर आचार्य या गुरु का नाम छिपाते है, अत. मोक्षरूप फल से स्वय को वचित करते है, (७) वे धार्मिक जगत् मे वस्तुत असाधु होते हुए भी स्वय को मायापूर्वक सुसाधु मानते है, (८) वे प्रकृति से क्रोधी होते हैं, (९) बिना सोचे विचारे बोलते हैं, या परदोषभाषी है, (१०) वे उपशान्त कलह को पुन उभारते है, (११) वे सदैव कलहकारी व पापकर्मी होते हैं, (१२) न्याय विरुद्ध बोलते हैं, (१३) ऐसे कुसाधु सम (रागद्वेष रहित या मध्यस्थ अथवा सम्यग्दृष्टि के समान नही) हो पाते। (१४) अपने आपको महाज्ञानी अथवा सुसयमी मान कर बिना ही परीक्षा किये अपनी प्रशसा करते है, (१५) मैं बहुत बडा तपस्वी हूँ, यह मानकर दूसरो को तुच्छ मानते हैं, (१६) वह अहकारी साधु एकान्तरूप से मोहरूपी कुपाश मे फँसकर ससार परिभ्रमण करता है, वह सर्वज्ञ प्रभु के मार्ग या पद मे स्थित नही है, (१७) जो सयमी होकर सम्मान-सत्कार पाने के लिए ज्ञान, तप, लाभ आदि का मद करता है, वह मूढ है, परमार्थ से अनभिज्ञ है। (१८) जिनमे ज्ञान और चारित्र नही है, जाति, कुल आदि उनकी रक्षा नही कर सकते, अत प्रव्रज्या ग्रहण कर जो जाति, कुल आदि का मद करता है, एव गृहस्थ के कर्मों (सावद्यकर्मो) का सेवन करता है, वह असाधु अपने कर्मो का क्षय करने मे समर्थ नही होता।[२]

---

२ (क) सूत्रकृताक शीलाकवृत्ति पत्राक २३२ से २३५

(ख) सूत्र० गाथा ५५८ से ५६२, ५६४ से ५६७ तक

सुसाधुओं के सुशील का याथातथ्य—इस प्रकार है—(१) सुसाधु गुरु के सान्निध्य मे रहकर उनके निर्देशानुसार प्रवृत्ति करता है, और सूत्रोपदेशानुसार प्रवृत्ति करता है, (२) वह अनाचार सेवन करने मे गुरु आदि से लज्जित होता है, (३) जीवादि तत्त्वो पर उसकी श्रद्धा दृढ़ होती है, (४) वह मायारहित व्यवहार करता है, (५) भूल होने पर आचार्यादि द्वारा अनुशासित होने पर भी अपनी चित्तवृत्ति शुद्ध रखता है, (६) वह मृदुभाषी या विनयादि गुणो से युक्त होता है, (७) वह सूक्ष्मार्थदर्शी एव पुरुषार्थी होता है (८) वह साध्वाचार मे सहजभाव से प्रवृत्त रहता है, (९) वह निन्दा-प्रशसा मे सम रहता है, (१०) अकषायी होता है अथवा वीतराग पुरुष के समान अझझाप्राप्त है, (११) जो ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि उच्च जाति का पूर्वाश्रमी होकर भी उच्च गोत्र का मद नही करता, वही याथातथ्य चारित्र मे प्रवृत्त सुसाधु है, (१२) जो प्रव्रजित होकर परदत्तभोजी होकर किसी प्रकार का जातिमद नही करता ।[3]

साधु की ज्ञानादि साधना में तथ्य-अतथ्य विवेक

५६८. णिक्किचणे भिक्खू सुलूहजीवी, जे गारव होति सिलोयगामी ।
आजीवमेयं तु अबुज्झमाणे, पुणो पुणो विप्परियासुवेति ।।१२।।

५६९. जे भासवं भिक्खु सुसाधुवादी, पडिहाणवं होति विसारए य ।
आगाढपण्णे सुविभावितप्पा, अण्णं जणं पण्णसा परिभवेज्जा ।।१३।।

५७० एवं ण से होति समाहिपत्ते, जे पण्णसा भिक्खु विउक्कसेज्जा ।
अहवा वि जे लाभमयावलित्ते, अण्णं जणं खिसति बालपण्णे ।।१४।।

५७१ पण्णामय चेव तवोमयं च, णिण्णामए गोयमयं च भिक्खू ।
आजीवगं चेव चउत्थमाहु, से पंडिते उत्तमपोग्गले से ।।१५।।

५७२. एताइं मदाइं विगिच धीरे, ण ताणि सेवंति सुधीरधम्मा ।
ते सव्वगोत्तावगता महेसी, उच्चं अगोत्तं च गतिं वयंति ।।१६।।

५७३. भिक्खू मुयच्चा तह दिट्ठधम्मे, गामं च णगरं च अणुप्पविस्सा ।
से एसणं जाणमणेसणं च, अण्णस्स पाणस्स अणाणुगिद्धे ।।१७।।

५६८ जो भिक्षाजीवी साधु अकिंचन-अपरिग्रही है, भिक्षान्न से उदर पोषण करता है, रूखा-सूखा अन्त-प्रान्त आहार करता है । फिर भी यदि वह अपनी ऋद्धि, रस और साता (सुख सामग्री) का गर्व (गौरव) करता है, तथा अपनी प्रशसा एव स्तुति की आकाक्षा रखता है, तो उसके ये सब

---

३ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक २३४-२३५
(ख) सूत्र० गा० ५६२, ५६३, ५६६

(अकिंचनता, रूक्षजीविता और भिक्षाजीविता आदि) गुण केवल उसकी आजीविका के साधक है। परमार्थ को न जानने वाला वह अज्ञानी पुन-पुन विपर्यास—जन्म, जरा, मृत्यु, रोग, शोक आदि उपद्रवो को प्राप्त होता है।

५६९-५७० जो भिक्षु भाषाविज्ञ है—भाषा के गुण-दोष का विचार करके बोलता है, तथा हित-मित-प्रिय भाषण करता है, औत्पत्तिकी आदि बुद्धियो से सम्पन्न है, और शास्त्रपाठो की सुन्दर व्याख्या एव अनेक अर्थ करने मे विशारद (निपुण) है, सत्य-तत्त्व निष्ठा मे जिसकी प्रज्ञा आगाढ (गड़ी हुई) है, धर्म-भावना से जिसका हृदय अच्छी तरह भावित (रगा हुआ) है, वही सच्चा साधु है, परन्तु इन गुणो से युक्त होने पर भी जो इन गुणो के मद से ग्रस्त होकर दूसरो का अपनी बुद्धि से तिरस्कार करता है, (वह उक्त गुणो पर पानी फेर देता है)।

जो भिक्षु प्रज्ञावान् होकर अपनी जाति, बुद्धि आदि का गर्व करता है, अथवा जो लाभ के मद से अवलिप्त (मत्त) होकर दूसरो की निन्दा करता है, या उन्हे झिडकता है, वह बालबुद्धि मूर्ख समाधि प्राप्त नही कर पाता।

५७१-५७२ भिक्षु प्रज्ञा का मद, तपोमद, गोत्र का मद और चौथा आजीविका का मद मन से निकाल दे—हटा दे। जो ऐसा करता है, वही पण्डित और उत्तम आत्मा है।

धीर पुरुष इन (पूर्वोक्त सभी) मदो (मद स्थानो) को ससार के कारण समझकर आत्मा से पृथक् कर दे। सुधीरता (बुद्धि से सुशोभित) के धर्म-स्वभाव वाले साधु इन जाति आदि मदो का सेवन नही करते। वे सब प्रकार के गोत्रो से रहित महर्षिगण, नाम-गोत्रादि से रहित सर्वोच्च मोक्ष गति को प्राप्त होते है।

५७३ मृतार्च (शरीर के स्नान-विलेपनादि सस्कारो से रहित अथवा प्रशस्त-मुदित लेश्या वाला) तथा धर्म को जाना-देखा हुआ भिक्षु ग्राम और नगर मे (भिक्षा के लिए) प्रवेश करके (सर्वप्रथम) एषणा और अनेषणा को अच्छी तरह जानता हुआ अन्न-पान मे आसक्त न होकर (शुद्ध भिक्षा ग्रहण करे)।

विवेचन—साधु की ज्ञानादि साधना मे तथ्य-अतथ्य-विवेक—प्रस्तुत ६ सूत्रगाथाओ मे ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि की यथातथ्य साधना से सम्पन्न साधु मे कहाँ और कितना अतथ्य और तथ्य प्रविष्ट हो सकता है? परिणाम सहित ये दोनो चित्र बहुत ही सुन्दर ढग से शास्त्रकार द्वारा प्रस्तुत किये गए है।

उच्च साधु · परन्तु अतथ्य का प्रवेश—(१) एक साधु सर्वथा अकिञ्चन है, भिक्षान्न से निर्वाह करता है, भिक्षा मे भी रूखा-सूखा आहार प्राप्त करके प्राण धारण करता है, इतना उच्चाचारी होते हुए भी यदि वह अपनी ऋद्धि (लब्धि या भक्तो के जमघट का ठाटबाट), रस और साता (सुख-सुविधा) का गर्व करता है, अपनी प्रशसा और प्रसिद्धि की आकाक्षा करता है तो उपर्युक्त गुण अतथ्य हो जाते है। (२) एक साधु बहुभाषाविद् है, सुन्दर उपदेश देता है, प्रतिभा सम्पन्न है, शास्त्र विशारद है, सत्यग्राही प्रज्ञा से सम्पन्न है, धर्म-भावना से अन्त करण रगा हुआ है, इतने गुणो से युक्त होने पर भी

गुणों के मद से ग्रस्त एव जाति, बुद्धि और लाभ आदि के मद से लिप्त होकर दूसरो का तिरस्कार करता है, दूसरो की निन्दा करता है, उन्हे झिडकता है, तो उसके ये गुण अतथ्य हो जाते है, वह साधक समाधिभ्रष्ट हो जाता है।[४]

सामान्य साधु : तथ्य का प्रवेश—(१) जो भिक्षु प्रज्ञा, तप, गोत्र एव आजीविका का मद मन से निकाल देता है, वही उच्च कोटि का महात्मा और पण्डित है, (२) जो धीर पुरुष सभी मदो को ससार का कारण समझकर उन्हे आत्मा से पृथक् कर देते है, जरा भी मद का सेवन नही करते, वे सब प्रकार के गोत्रो से रहित उच्चकोटि के महर्षि हैं, वे गोत्रादिरहित सर्वोच्च मोक्ष गति को प्राप्त होते है, (३) जो भिक्षु ग्राम या नगर मे भिक्षार्थ प्रवेश करते ही सर्वप्रथम एषणा-अनेषणा का भली-भाँति विचार करता है, तदनन्तर आहार-पानी मे आसक्त न होकर शुद्ध भिक्षा ग्रहण करता है, वह प्रशस्त लेश्या सम्पन्न एव धर्मविज्ञ साधु है। ये तीनो सामान्य साधु भी याथातथ्य प्रवेश होने के कारण उच्चकोटि के बन जाते हैं।[५]

सुसाधु द्वारा यथातथ्य धर्मोपदेश के प्रेरणासूत्र

५७४. अरतिं रतिं च अभिभूय भिक्खू, बहूजणे वा तह एगचारी।
एगंतमोणेण वियागरेज्जा, एगस्स जंतो गतिरागती य ॥१८॥

५७५. सयं समेच्चा अदुवा वि सोच्चा, भासेज्ज धम्मं हितदं पयाणं।
जे गरहिया सणियाणप्पओगा, ण ताणि सेवंति सुधीरधम्मा ॥१९॥

५७६. केसिंचि तक्काइ अबुज्झभावं खुड्डं पि गच्छेज्ज असद्दहाणे।
आयुस्स कालातियारं बघातं, लद्धाणुमाणे य परेसु अट्ठे ॥२०॥

५७७. कम्मं च छंदं च विगिंच धीरे, विणएज्ज उ सव्वतो आयभावं।
रूवेहिं लुप्पंति भयावहेहिं, विज्जं गहाय तसथावरेहिं ॥२१॥

५७८. न पूयणं चेव सिलोयकामी, पियमप्पियं कस्सवि णो कहेज्जा।
सव्वे अणट्ठे परिवज्जयंते, अणाउले या अकसाइ भिक्खू ॥२२॥

५७४ साधु सयम मे अरति (अरुचि) और असयम मे रति (रुचि) को त्याग कर बहुत से साधु-जनो के साथ रहता हो या अकेला रहता हो, जो बात मौन (मुनि धर्म या सयम) से सर्वथा

---

४ (क) सूत्रकृताग शीलांकवृत्ति पत्राक २३५, २३६
(ख) सूयगडग (मू० पा० टिप्पण) सू० गा० ५६८ से ५७० तक पृ० १०३

५ (क) सूत्रकृतांग शीलाकवृत्ति पत्राक २३७, २३८
(ख) सूयगडग चूर्णि (मू० पा० टि०) सू० गा० ५७१ से ५७३ तक पृ० १०३-१०४

अविरुद्ध-सगत हो, वही कहे। (यह ध्यान रखे कि) प्राणी अकेला ही परलोक जाता है, और अकेला ही आता (परलोक से आगति करता) है।

५७५. स्वय जिनोक्त धर्म सिद्धान्त (चतुर्गतिक ससार उसके मिथ्यात्वादि कारण तथा समस्त कर्मक्षय रूप मोक्ष, एव उसके सम्यग्दर्शनादि धर्म रूप कारण आदि) को भलीभाँति जानकर अथवा दूसरे से सुनकर प्रजाओ (जनता) के लिए हितकारक धर्म का उपदेश दे। जो कार्य निन्द्य (गर्हित) है, अथवा जो कार्य निदान (सासारिक फलाकाक्षा) सहित किये जाते है, सुधीर वीतराग धर्मानुयायी साधक उनका सेवन नही करते।

५७६ किन्ही लोगो के भावो (अभिप्रायो) को अपनी तर्कबुद्धि से न समझा जाए तो वे उस उपदेश पर श्रद्धा न करके क्षुद्रता (क्रोध-आक्रोश-प्रहारादि) पर भी उतर सकते है तथा वे (उपदेश देने वाले की दीर्घकालिक) आयु को भी (आघात पहुँचा कर) घटा सकते है (उसे मार भी सकते है)। इसलिए साधु (पहले) अनुमान से दूसरो का अभिप्राय (भाव) जानकर फिर धर्म का उपदेश दे।

५७७ धीर साधक श्रोताओ के कर्म (जीविका, व्यवसाय या आचरण) एव अभिप्राय को सम्यक् प्रकार से जानकर (विवेक करके) धर्मोपदेश दे। (उपदेश द्वारा) (श्रोताओ के जीवन मे प्रविष्ट) आय भाव को (मिथ्यात्वादि दुष्कर्मों की आय-वृद्धि को अथवा अनादिकालाभ्यस्त मिथ्यात्वादि आत्मभाव को) सर्वथा या सब ओर से दूर करे। तथा उन्हे यह समझाए कि स्त्रियो के (बाहर से सुन्दर दिखाई देने वाले) रूप से (उसमे आसक्त जीव) विनष्ट हो जाते है। इस प्रकार विद्वान् (धर्मोपदेशाभिज्ञ) साधक श्रोताओ (दूसरो) का अभिप्राय जानकर त्रस-स्थावरो के लिए हितकर धर्म का उपदेश करे।

५७८. साधु (धर्मोपदेश के द्वारा) अपनी पूजा (आदर-सत्कार) और श्लाघा (कीर्ति-प्रसिद्धि या प्रशसा) की कामना न करे, तथा उपदेश सुनने न सुनने या सुनकर आचरण करने न करने वाले पर प्रसन्न या अप्रसन्न होकर किसी का प्रिय (भला) या अप्रिय (बुरा) न करे (अथवा किसी पर राग या द्वेष न करे)। (पूर्वोक्त) सभी अनर्थों (अहितकर बातो) को छोडता हुआ साधु आकुलता-रहित एव कषाय-रहित धर्मोपदेश दे।

विवेचन—सुसाधु द्वारा यथातथ्य धर्मोपदेश के प्रेरणासूत्र—प्रस्तुत पाच सूत्रगाथाओ मे सुसाधुओ द्वारा मुनिधर्म की मर्यादा मे अबाधक यथातथ्य धर्मोपदेश करने या धर्मयुक्त मार्ग दर्शन देने के कतिपय प्रेरणासूत्र अकित किये है। वे क्रमश इस प्रकार हैं—

(१) सयम मे अरति और असयम मे रति पर विजय पाकर साधु एकान्तत वही बात कहे, जो मुनिधर्म या सयम से अविरुद्ध या सगत हो, भले ही वह बहुत से साथी साधुओ के साथ रहता हो या अकेला हो।

(२) वह धर्म का महत्त्व बताने हेतु प्रेरणा करे कि जीव अकेला ही कर्म करता है, अकेला ही उसका फल भोगता है, अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही मरकर परलोक मे जाता है, धर्म के सिवाय उसका कोई सहायक नही है।

(३) चतुर्गतिक संसार, उसमे परिभ्रमण के मिथ्यात्वादि हेतु कर्मबन्ध, समस्त कर्मक्षयरूप मोक्ष, उसके सम्यग्दर्शनादि कारण आदि सबको सम्यक् जानकर तथा आचार्यादि से सुनकर साधु जनहित-कारक धर्म का उपदेश करे।

(४) जो कार्य निन्द्य एव निदान युक्त किये जाते है, वीतराग-धर्मानुगामी सुधीर साधक न तो उनका स्वय आचरण करे, और न ही दूसरो को ऐसे अकरणीय कार्यों की प्रेरणा दे।

(५) साधु उपदेश देने से पहले श्रोता या परिषद् के अभिप्रायो को अपनी तर्कबुद्धि एव अनुमान से भली-भाँति जान ले, तत्पश्चात् ही उपदेश दे अन्यथा उपदेशक पर अश्रद्धा करके वे क्षुद्रता पर उतर सकते हैं, उस पर पालक द्वारा स्कन्दक मुनिवत् मरणान्तक प्रहारादि भी कर सकते है।

(६) धीर साधक श्रोताओ के कर्म (आचरण या व्यवसाय) एव अभिप्राय का समीचीन विचार करके त्रस-स्थावर जीवो के लिए हितकर धर्म का उपदेश दे।

(७) वह इस प्रकार का उपदेश दे, जिससे श्रोताओ के मिथ्यात्वादि-जनित कर्म दूर हो, जैसे—बाहर से सुन्दर दिखाई देने वाले नारीरूप मे आसक्त जीव विनष्ट हो जाते है, इत्यादि बाते श्रोताओ के दिमाग मे युक्तिपूर्वक ठसाने से उनकी विषयो के प्रति आसक्ति दूर हो सकती है।

(८) साधु अपनी पूजा, सत्कार प्रशसा, कीर्ति या प्रसिद्धि आदि प्राप्त करने की दृष्टि से धर्मोपदेश न दे।

(९) उपदेश सुनने न सुनने अथवा उपदेश के अनुसार आचरण करने न करने वाले पर प्रसन्न या अप्रसन्न होकर या राग या द्वेष से प्रेरित होकर साधु किसी का इष्ट (प्रिय) या अनिष्ट न करे, अथवा श्रोता को प्रिय लगने वाली स्त्रीविकथा, राजविकथा, भोजनविकथा, देशविकथा अथवा सावद्यप्रवृत्ति प्रेरक कथा न करे, न ही किसी समूह को अप्रिय लगने वाली, उस समूह के देव, गुरु की कटु शब्दो मे आलोचना, निन्दा, मिथ्या आक्षेप आदि से युक्त कथा करे।

(१०) पूर्वोक्त सभी अनर्थों का परित्याग करके साधु शान्त, अनाकुल, एव कषाय-रहित होकर धर्मोपदेश दे।[६]

साधु धर्म का यथातथ्यरूप में प्राणप्रण से पालन करे

५७९. आहत्तहियं समुपेहमाणे सव्वेहि पाणेहि निहाय दडं।
नो जीवियं नो मरणाभिकंखी, परिव्वएज्जा वलयाविमुक्के ।।२३।।

।। आहत्तहियं : तेरसमं अज्झयणं सम्मत्त ।।

---

६ सूत्रकृताग शीलांकवृत्ति पत्राक २३८-२३९

५७९ साधु यथातथ्य धर्म को (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म को स्व-पर सिद्धान्त को यथातथ्यरूप में) भली-भाँति जानता-देखता हुआ समस्त प्राणियो को दण्ड देना (प्राण-हनन करना) छोडकर अपने जीवन एव मरण की आकाक्षा न करे, तथा माया से विमुक्त होकर सयमाचरण मे उद्यत रहे।

विवेचन—साधुधर्म का यथातथ्य रूप में प्राणप्रण से पालन करे—प्रस्तुत सूत्र अध्ययन का उपसहार करते हुए शास्त्रकार किसी भी मूल्य पर यथातथ्यरूप मे सम्यग्दर्शनादि रूप धर्म का पालन करने, उसी का चिन्तन-मनन करने और जीवन-मरण की आकाक्षा न करते हुए निश्छल भाव से उसी का अनुसरण करने का निर्देश करते हैं। वृत्तिकार इस सम्बन्ध मे स्पष्टीकरण करते हुए कहते है कि धर्म, मार्ग, समवसरण आदि पिछले अध्ययनो मे कथित सम्यक्त्व, चारित्र एव ज्ञान के तत्त्वो पर सूत्रानुसार यथातथ्य चिन्तन, मनन, एव आचरण करे। प्राण जाने का अवसर आए तो भी यथातथ्य धर्म का अतिक्रमण न करे। असयम के साथ या प्राणिवध करके चिरकाल तक जीने की आकाक्षा न करे तथैव परीषह उपसर्ग आदि से पीडित होने पर शीघ्र मृत्यु की आकाक्षा न करे।[७]

।। यथातथ्य : तेरहवाँ अध्ययन समाप्त ।।

□□

---

७ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक २४० का सार

ग्रन्थ : चतुर्दश अध्ययन

प्राथमिक

- सूत्रकृताग सूत्र (प्र० श्रु०) के चौदहवे अध्ययन का नाम 'ग्रन्थ' है।

- ग्रन्थ शब्द गाँठ, पुस्तक एव बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह के अर्थ मे प्रयुक्त होता है।

- निर्युक्तिकार के अनुसार ग्रन्थ शब्द का अर्थ बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह है। बाह्यग्रन्थ के मुख्य १० प्रकार है—(१) क्षेत्र, (२) वस्तु, (३) धन-धान्य, (४) ज्ञातिजन, मित्र तथा द्विपद—चतुष्पद जीव, (५) वाहन, (६) शयन, (७) आसन, (८) दासी-दास, (९) स्वर्ण-रजत, और (१०) विविध साधन-सामग्री। इन बाह्य पदार्थों मे मूर्च्छा रखना ही वास्तव मे ग्रन्थ है। आभ्यन्तर ग्रन्थ के मुख्य १४ प्रकार है—(१) क्रोध, (२) मान, (३) माया, (४) लोभ, (५) राग (मोह), (६) द्वेष, (७) मिथ्यात्व, (८) काम (वेद), (९) रति (असयम मे रुचि) (१०) अरति (सयम मे अरुचि), (११) हास्य, (१२) शोक, (१३) भय और (१४) जुगुप्सा।

- उत्तराध्ययन सूत्र के क्षुल्लकनिर्ग्रन्थीय अध्ययन के अनुसार जो इन दोनो प्रकार के ग्रन्थो का त्याग कर देता है, जिसे इन द्विविध ग्रन्थो से लगाव, आसक्ति या रुचि नही है, तथा निर्ग्रन्थ मार्ग की प्ररूपणा करने वाले आचाराग आदि ग्रन्थो का जो अध्ययन, प्रशिक्षण करते है, वे निर्ग्रन्थ-शिष्य कहलाते है।

- निर्ग्रन्थ-शिष्य को गुरु के पास रहकर ज्ञपरिज्ञा से बाह्य आभ्यन्तर ग्रन्थो को जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्यागना चाहिए। इत्यादि ग्रन्थविषयक प्रेरणा मुख्य होने से इस अध्ययन का नाम 'ग्रन्थ' रखा गया है। अथवा इस अध्ययन के प्रारम्भ मे गथ (ग्रन्थ) शब्द का प्रयोग होने से इसका नाम 'ग्रन्थ' है।[1]

- शिष्य दो प्रकार के होते है—दीक्षाशिष्य और शिक्षाशिष्य। जो दीक्षा देकर शिष्य बनाया जाता है, वह दीक्षाशिष्य कहलाता है, तथा जो शैक्ष आचार्य आदि से पहले आचरण या (इच्छा,

---

१ (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा १२७ से १३१ तक
(ख) सूत्र कृ० शी० वृत्ति पत्रांक २४१

मिच्छा, तहक्कार आदि) की शिक्षा लेता है, वह शिक्षाशिष्य कहलाता है। शिष्य की तरह आचार्य या गुरु भी दो प्रकार के होते हैं—दीक्षागुरु और शिक्षागुरु। अत इस अध्ययन मे मुख्यतया यह बताया गया है कि ग्रन्थ-त्यागी शिक्षा शिष्य (शैक्षिक) और शिक्षागुरु कैसे होने चाहिए ? उन्हे कैसी प्रवृत्ति करनी चाहिए ? उनके दायित्व-और कर्तव्य क्या-क्या है ? इन सब तथ्यो का २७ गाथाओ द्वारा इस अध्ययन मे निरूपण किया गया है।[२]

☐ यह अध्ययन ५८० सूत्रगाथा से प्रारम्भ होकर सूत्रगाथा ६०६ पर समाप्त होता है।

☐☐

---

२ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक २४१
(ख) जैन साहित्य का वृहद इतिहास भा० १ पृ० १५४

गंथो : चउद्दसमं अज्झयणं

ग्रन्थ : चतुर्दश अध्ययन

ग्रन्थ त्यागी के लिए गुरुकुलवास का महत्त्व और लाभ

५८०. गंथं विहाय इह सिक्खमाणो, उट्ठाय सुबंभचेरं वसेज्जा ।
ओवायकारी विणयं सुसिक्खे, जे छेए विप्पमायं न कुज्जा ।।१।।

५८१. जहा दियापोतमपत्तजातं, सावासगा पविउं मण्णमाणं ।
तमचाइयं तरुणमपत्तजातं, ढंकादि अव्वत्तगमं हरेज्जा ।।२।।

५८२. एवं तु सेहं पि अपुट्ठधम्मं, निस्सारियं वुसिमं मण्णमाणा ।
दियस्स छावं व अपत्तजातं, हरिंसु णं पावधम्मा अणेगे ।।३।।

५८३. ओसाणमिच्छे मणुए समाहिं, अणोसिते णंतकरे ति णच्चा ।
ओभासमाणो दवियस्स वित्तं, ण णिक्कसे बहिया आसुपण्णे ।।४।।

५८४ जे ठाणओ या सयणासणे या, परक्कमे यावि सुसाधुजुत्ते ।
समितीसु गुत्तीसु य आयपण्णे, वियागरते य पुढो वदेज्जा ।।५।।

५८० इस लोक मे बाह्य-आभ्यन्तर ग्रन्थ—परिग्रह का त्याग करके प्रव्रजित होकर मोक्षमार्ग-प्रतिपादक शास्त्रो के ग्रहण, (अध्ययन), और आसेवन-(आचरण) रूप मे गुरु से सीखता हुआ साधक सम्यक्रूप से ब्रह्मचर्य (नवगुप्ति सहित ब्रह्मचर्य या सयम मे) स्थित रहे अथवा गुरुकुल मे वास करे। आचार्य या गुरु के सान्निध्य मे अथवा उनकी आज्ञा मे रहता हुआ शिष्य विनय का प्रशिक्षण ले। (सयम या गुरु-आज्ञा के पालन मे) निष्णात साधक (कदापि) प्रमाद न करे।

५८१-५८२. जैसे कोई पक्षी का बच्चा पूरे पख आये बिना अपने आवासस्थान (घोसले) से उडकर अन्यत्र जाना चाहता है, वह तरुण-(बाल) पक्षी उडने में असमर्थ होता है। थोडा-थोडा पंख फड़फडाते देखकर ढक आदि मास-लोलुप पक्षी उसका हरण कर लेते हैं और मार डालते हैं।

इसी प्रकार जो साधक अभी श्रुत-चारित्र धर्म मे पुष्ट—परिपक्व नही है, ऐसे शैक्ष (नवदीक्षित शिष्य) को अपने गच्छ (संघ) से निकला या निकाला हुआ तथा वश मे आने योग्य जानकर अनेक पाषण्डी परतीर्थिक पख न आये हुए पक्षी के बच्चे की तरह उसका हरण कर लेते (धर्म भ्रष्ट कर देते) हैं।

५८३ गुरुकुल मे निवास नही किया हुआ साधकपुरुष अपने कर्मों का अन्त नही कर पाता, यह जानकर गुरु के सान्निध्य मे निवास और समाधि की इच्छा करे। मुक्तिगमनयोग्य (द्रव्यभूत-निष्कलक चारित्रसम्पन्न) पुरुष के आचरण (वृत्त) को अपने सदनुष्ठान से प्रकाशित करे। अत आशुप्रज्ञ साधक गच्छ से या गुरुकुलवास से बाहर न निकले।

५८४ गुरुकुलवास से साधक स्थान—(कायोत्सर्ग), शयन (शय्या-सस्तारक, उपाश्रय-शयन आदि) तथा आसन, (आसन आदि पर उपवेशन-विवेक, गमन-आगमन, तपश्चर्या आदि) एव सयम मे पराक्रम के (अभ्यास) द्वारा सुसाधु के समान आचरण करता है। तथा समितियो और गुप्तियो के विषय मे (अभ्यस्त होने से) अत्यन्त प्रज्ञावान् (अनुभवी) हो जाता है, वह समिति-गुप्ति आदि का यथार्थस्वरूप दूसरो को भी बताता है।

विवेचन—ग्रन्थत्यागी नव प्रव्रजित के लिए गुरुकुलवास का महत्त्व और लाभ— प्रस्तुत पाचसूत्रो मे साधु के लिए गुरुकुलवास का महत्त्व और लाभ निम्नोक्त पहलुओ से बताया गया है—(१) नवदीक्षित साधु को ग्रहणशिक्षा और आसेवन शिक्षा से निपुण होने के लिए गुरुकुल मे रहना आवश्यक है, (२) गुरु या आचार्य के सान्निध्य मे रह कर आज्ञा पालन विनय, सेवा-शुश्रुषा आदि का सम्यक् प्रशिक्षण ले। (३) आचार्य के आदेश-निर्देश या सयम के पालन मे प्रमाद न करे। (४) पख आए बिना ही उडने के लिए मचलने वाले पक्षी के बच्चे को मास-लोलुप ढकादि पक्षी धर दबाते है, वैसे ही गुरु के सान्निध्य मे शिक्षा पाए बिना ही गच्छनिर्गत अपरिपक्व साधक को अकेला विचरण करते देख अन्यतीर्थिक लोग बहकाकर मार्गभ्रष्ट कर सकते है। (५) गुरुकुलवास न करने वाला स्वच्छन्दाचारी साधक कर्मों का अन्त नही कर पाता, (६) अत साधक अनेक गुण वर्द्धक गुरुकुलवास मे रहकर समाधि प्राप्त करे। (७) पवित्र पुरुष के आचरण को अपने सदनुष्ठान से प्रकाशित करे, (८) गुरुकुलवास से साधक कायोत्सर्ग, शयन, आसन, गमनागमन, तपश्चरण, जप, सयम-नियम, त्याग आदि साध्वाचार मे सुसाधु (परिपक्व साधु) के उपयुक्त बन जाता है। वह समिति गुप्ति आदि के अभ्यास मे दीर्घदर्शी, अनुभवी और यथार्थ उपदेष्टा बन जाता है।[1]

दो प्रकार की शिक्षा—गुरु या आचार्य के सान्निध्य मे रह कर दो प्रकार की शिक्षा प्राप्त की जाती है—(१) ग्रहण शिक्षा और (२) आसेवन शिक्षा। ग्रहण शिक्षा मे शास्त्रो और सिद्धान्तो के अध्ययन और रहस्य का ग्रहण किया जाता है आसेवन शिक्षा मे महाव्रत, समिति, गुप्ति, ध्यान, कायोत्सर्ग, जप, तप, त्याग, नियम आदि चारित्र का अभ्यास किया जाता है। वास्तव मे इन दोनो प्रकार की शिक्षाओ से साधु का सर्वांगीण विकास हो जाता है।[2]

---

१. सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्रांक २४२-२४३ का साराश

२. सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक २४१

'सुबंभचेरं वसेज्जा'—आचाराग सूत्र के अनुसार ब्रह्मचर्य मे निवास करने के चार अर्थ फलित होते हैं—(१) ब्रह्म (आत्मा या परमात्मा) मे विचरण करना, (२) मैथुनविरति—सर्वेन्द्रिय-सयम, (३) सदाचार और (४) गुरुकुल मे वास।

'ठाणओ'—मे ठाण, (स्थान) शब्द भी पारिभाषिक है। स्थान शब्द भी आचाराग के अनुसार यहा कायोत्सर्ग अर्थ मे है।[3]

गुरुकुलवासी साधु द्वारा शिक्षा-ग्रहण-विधि

**५८५. सद्दाणि सोच्चा अदु भेरवाणि, अणासवे तेसु परिव्वएज्जा।
निद्दं च भिक्खू न पमाय कुज्जा, कहकहं पी वितिगिच्छतिण्णे ॥६॥**

**५८६. डहरेण वुड्ढेणऽणुसासिते ऊ, रातिणिएणावि समव्वएणं।
सम्मं तगं थिरतो णाभिगच्छे, णिज्जतए वा वि अपारए से ॥७॥**

**५८७. विउट्ठितेण समयाणुसिट्ठे डहरेण वुड्ढेण व चोइतेतु।
अब्भुट्ठिताए घडदासिए वा, अगारिण वा समयाणुसिट्ठे ॥८॥**

**५८८. ण तेसु कुज्झे ण य पव्वहेज्जा, ण यावि किंचि फरुस वदेज्जा।
तहा करिस्सं ति पडिस्सुणेज्जा, सेयं खु मेयं ण पमाद कुज्जा ॥९॥**

**५८९. वणसि मूढस्स जहा अमूढा, मग्गाणुसासति हितं पयाण।
तेणावि मज्झं इणमेव सेय, ज मे बुहा सम्मऽणुसासयंति ॥१०॥**

**५९०. अह तेण मूढेण अमूढगस्स, कायव्व पूया सविसेसजुत्ता।
एतोवम तत्थ उदाहु वीरे, अणुगम्म अत्थ उवणेति सम्मं ॥११॥**

**५९१. णेया जहा अंधकारसि राओ, मग्गं ण जाणाइ अपस्समाणं।
से सूरियस्स अब्भुग्गमेणं, मग्गं विजाणाति पगासियसि ॥१२॥**

**५९२. एवं तु सेहे वि अपुट्ठधम्मे, धम्मं न जाणाति अबुज्झमाणे।
से कोविए जिणवयणेण पच्छा, सूरोदए पासति चक्खुणेव ॥१३॥**

**५९३. उड्ढं अहे य तिरियं दिसासु, तसा य जे थावर जे य पाणा।
सया जते तेसु परिव्वएज्जा, मणप्पदोसं अविकंपमाणे ॥१४॥**

---

३ देखिए आचा० द्वि० श्रु० अ० २ उ० १ सू० ४१२ मे **'ठाणे वा सेज्जं वा '** का विवेचन तथा प्र० श्रु० के सूत्र १४३ मे **'वसित्ता बंभचेरं'** पद का विवेचन।

५९४. कालेण पुच्छे समियं पयासु, आइक्खमाणो दवियस्स वित्तं ।
तं सोयकारी य पुढो पवेसे, संखा इमं केवलियं समाहिं ।।१५।।

५९५. अस्सि सुठिच्चा तिविहेण तायी, एतेसु या संति निरोहमाहु ।
ते एवमक्खंति तिलोगदंसी, ण भुज्जमेतं ति पमायसंगं ।।१६।।

५९६. णिसम्म से भिक्खु समीहमट्ठं, पडिभाणवं होति विसारते या ।
आयाणमट्ठी वोदाण मोणं, उवेच्च सुद्धेण उवेति मोक्खं ।।१७।।

५८५ ईर्यासमिति आदि से युक्त साधु मधुर या भयकर शब्दो को सुनकर उनमे मध्यस्थ—रागद्वेष रहित होकर सयम मे प्रगति करे, तथा निद्रा-प्रमाद एव विकथा—कषायादि प्रमाद न करे। (गुरुकुल निवासी अप्रमत्त) साधु को कही किसी विषय मे विचिकित्सा—शका हो जाए तो वह (गुरु से समाधान प्राप्त करके) उससे पार (निश्शक) हो जाए।

५८६ गुरु सान्निध्य मे निवास करते हुए साधु से किसी विषय मे प्रमादवश भूल हो जाए तो अवस्था और दीक्षा में छोटे या बडे साधु द्वारा अनुशासित (शिक्षित या निवारित) किये जाने पर अथवा भूल सुधारने के लिए प्रेरित किये जाने पर जो साधक उसे सम्यक्तया स्थिरतापूर्वक स्वीकार नही करता, वह ससार-समुद्र को पार नही कर पाता।

५८७-५८८ साध्वाचार के पालन मे कही भूल होने पर परतीर्थिक, अथवा गृहस्थ द्वारा आर्हत् आगम विहित आचार की शिक्षा दिये जाने पर या अवस्था मे छोटे या वृद्ध के द्वारा प्रेरित किये जाने पर, यहाँ तक कि अत्यन्त तुच्छ कार्य करने वाली घटदासी (घडा भरकर लाने वाली नौकरानी) द्वारा अकार्य के लिए निवारित किये जाने पर अथवा किसी के द्वारा यह कहे जाने पर कि "यह कार्य तो गृहस्थाचार के योग्य भी नही है, साधु की तो बात ही क्या है ?"

इन (पूर्वोक्त विभिन्न रूप से) शिक्षा देने वालो पर साधु क्रोध न करे, (परमार्थ का विचार करके) न ही उन्हे दण्ड आदि से पीडित करे, और न ही उन्हे पीडाकारी कठोर शब्द कहे, अपितु 'मै भविष्य मे ऐसा (पूर्वऋषियो द्वारा आचरित) ही करूँगा' इस प्रकार (मध्यस्थवृत्ति से) प्रतिज्ञा करे, (अथवा अपने अनुचित आचरण के लिए 'मिच्छामि दुक्कड' के उच्चारणपूर्वक आत्म-निन्दा के द्वारा उससे निवृत हो) साधु सही समझे कि इसमे (प्रसन्नतापूर्वक) अपनी भूल स्वीकार करके उससे निवृत्त होने मे) मेरा ही कल्याण है। ऐसा समझकर वह (फिर कभी वैसा) प्रमाद न करे।

५८९ जैसे यथार्थ और अयथार्थ मार्ग को भली-भाँति जानने वाले व्यक्ति घोर वन मे मार्ग भूले हुए दिशामूढ व्यक्ति को कुमार्ग से हटा कर जनता के लिए हितकर मार्ग बता देते (शिक्षा देते) है, इसी तरह मेरे लिए भी यही कल्याणकारक उपदेश है, जो ये वृद्ध, बडे या तत्त्वज्ञ पुरुष (बुधजन) मुझे सम्यक् अच्छी शिक्षा देते है।

५९० उस मूढ (प्रमादवश मार्गभ्रष्ट) पुरुष को उस अमूढ (मार्गदर्शन करने या जाग्रत करने वाले पुरुष) का उसी तरह विशेष रूप से (उसका परम उपकार मानकर) आदर-सत्कार (पूजा) करना

चाहिए, जिस तरह मार्गभ्रष्ट पुरुष सही मार्ग पर चढाने और बताने वाले व्यक्ति की विशेष सेवा-पूजा आदर सत्कार करता है। इस विषय मे वीर प्रभु ने यही उपमा (तुलना) बताई है। अत पदार्थ (परमार्थ) को समझकर प्रेरक के उपकार (उपदेश) को हृदय मे सम्यक्रूप से स्थापित करे।

५९१-५९२ जैसे अटवी आदि प्रदेशो से भलीभाँति परिचित मार्गदर्शक (नेता) भी अधेरी रात्रि मे कुछ भी न देख पाने के कारण मार्ग को भली-भाँति नही जान पाता, परन्तु वही पुरुष (मार्गदर्शक) सूर्य के उदय होने से चारो ओर प्रकाश फैलने पर मार्ग को भलीभाँति जान लेता है।

इसी तरह धर्म मे अनिपुण—अपरिपक्व शिष्य भी सूत्र और अर्थ को नही समझता हुआ धर्म (श्रमणधर्म तत्त्व) को नही जान पाता, किन्तु वही अबोध शिष्य एक दिन जिनवचनो के अध्ययन-अनुशीलन से विद्वान् हो जाता है। फिर वह धर्म को इस प्रकार स्पष्ट जान लेता है जिस प्रकार सूर्योदय होने पर आँख के द्वारा व्यक्ति घट-पट आदि पदार्थो को स्पष्ट जान-देख लेता है।

५९३ गुरुकुलवासी एव जिनवचनो का सम्यक् ज्ञाता साधु ऊँची, नीची और तिरछी दिशाओ मे जो भी त्रस और स्थावर प्राणी रहते है, उनकी हिसा जिस प्रकार से न हो, उस प्रकार की यतना (यत्न) करे तथा सयम मे पुरुषार्थ करे एव उन प्राणियो पर लेशमात्र भी द्वेष न करता हुआ सयम मे निश्चल रहे।

५९४ गुरुकुलवासी साधु (प्रश्न करने योग्य) अवसर देख कर सम्यग्ज्ञान सम्पन्न आचार्य से प्राणियो के सम्बन्ध मे प्रश्न पूछे। तथा मोक्षगमन योग्य (द्रव्य) सर्वज्ञ वीतराग प्रभु के आगम (ज्ञान-धन) को बताने वाले आचार्य की पूजा-भक्ति करे। आचार्य का आज्ञाकारी शिष्य उनके द्वारा उपदिष्ट केवलिप्ररूपित सम्यग्ज्ञानादिरूप समाधि को भलीभाँति जानकर उसे हृदय मे स्थापित करे।

५९५ इसमे (गुरुकुलवास काल मे) गुरु से जो उपदेश सुना और हृदय मे भलीभाँति अवधारित किया, उस समाधिभूत मोक्षमार्ग मे अच्छी तरह स्थित होकर मन-वचन-काया से कृत, कारित और अनुमोदित रूप से स्व-पर-त्राता (अपनी आत्मा का और अन्य प्राणियो का रक्षक) बना रहे। इन समिति-गुप्ति आदि रूप समाधिमार्गों मे स्थिर हो जाने पर सर्वज्ञो ने शान्तिलाभ और कर्म-निरोध (समस्त कर्मक्षय) बताया है। वे त्रिलोकदर्शी महापुरुष कहते है कि साधु को फिर कभी प्रमाद का सग नही करना चाहिए।

५९६ गुरुकुलवासी वह साधु उत्तम साधु के आचार को सुनकर अथवा स्वय अभीष्ट अर्थ—मोक्ष रूप अर्थ को जानकर गुरुकुलवास से प्रतिभावान् एव सिद्धान्त विशारद (स्वसिद्धान्त का सम्यग्ज्ञाता होने से श्रोताओ को यथार्थ-वस्तु-तत्त्व के प्रतिपादन मे निपुण) हो जाता है। फिर सम्यग्ज्ञान आदि से अथवा मोक्ष से प्रयोजन रखने वाला (आदानार्थी) वह साधु तप (व्यवदान) और मौन (सयम) को (ग्रहण रूप एव आसेवन रूप शिक्षा द्वारा) उपलब्ध करके शुद्ध (निरुपाधिक उद्ग-मादि दोष रहित) आहार से निर्वाह करता हुआ समस्त कर्मक्षयरूप मोक्ष को प्राप्त करता है।

विवेचन—गुरुकुलवासी साधु द्वारा शिक्षा-ग्रहण विधि—प्रस्तुत १२ सूत्रगाथाओ द्वारा शास्त्र-कार ने विभिन्न पहलुओ से गुरुकुलवासी साधु द्वारा ली जाने वाली शिक्षा की विधि बताई है। शिक्षा

ग्रहण विधि के निम्नलिखित प्रेरणा सूत्र इन गाथाओ से फलित होते हैं—(१) गुरुकुलवासी साधु विषय, निद्रा, विकथा, कषाय आदि प्रमादो को पास मे न फटकने दे, (२) गृहीत महाव्रतो के पालन आदि किसी विषय मे शका या भ्रान्ति हो तो गुरुकृपा से साधक उससे पार हो जाए, (३) प्रमादवश साधुचर्या मे कही भूल हो जाए और उसे कोई दीक्षा ज्येष्ठ, वयोवृद्ध या लघु साधक अथवा समवयस्क साधक सुधारने के लिए प्रेरित करे या शिक्षा दे तो गुरुकुलवासी साधु उसे सम्यक् प्रकार से स्थिरता के साथ स्वीकार कर ले, किन्तु प्रतिवाद न करे, अन्यथा वह ससार के प्रवाह मे बह जाएगा, उसे पार नही कर सकेगा, (४) साध्वाचारपालन मे कही त्रुटि हो जाने पर गृहस्थ या मिथ्यादृष्टि जैनागम-विहित आचार की दृष्टि से शिक्षा दे, अथवा कोई लघुवयस्क या वृद्ध कुत्सिताचार मे प्रवृत्त होने पर सावधान करे, यही नही, तुच्छ कार्य करने वाली घटदासी भी किसी अकार्य से रोके, अथवा कोई यह कहे कि यह कार्य गृहस्थ योग्य भी नही है, ऐसी स्थिति मे गुरुकुलवासी साधु उन पर क्रोध, प्रहार, आक्रोश या पीडाजनक शब्द-प्रयोग न करे, अपितु प्रसन्नतापूर्वक अपनी भूल स्वीकार करे, (५) उन बुधजनो या हितैषियो की शिक्षा को अपने लिए श्रेयस्कर समझे, (६) उनको उपकारी मानकर उनका आदर-सत्कार करे, (७) गुरुकुलवास मे विधिवत् शिक्षा ग्रहण न करने से धर्म मे अनिपुण शिष्य सूत्र, अर्थ एव श्रमणधर्म के तत्त्व को नही जानता, जबकि गुरु शिक्षा-प्राप्त वही साधक जिन-वचनो के अध्ययन से विद्वान् होकर सभी पदार्थों का यथार्थ स्वरूप स्पष्टत जान लेता है, (८) गुरुकुलवासी साधक किसी भी प्राणी की हिंसा न हो, इस प्रकार से यतना करे, प्राणियो पर जरा भी द्वेष न करता हुआ सयम (पच महाव्रतादि रूप) मे निश्चल रहे, (९) योग्य अवसर देखकर वह आचार्य से प्राणियो के सम्बन्ध मे पूछे, (१०) आगम ज्ञानोपदेष्टा आचार्य की सेवा-भक्ति करे, उनके द्वारा उपदिष्ट सम्यग्दर्शनादि रूप समाधि को हृदयगम करे, (११) गुरुकुलवास काल मे गुरु से जो कुछ सुना, सीखा, हृदयगम किया, उस समाधिभूत मोक्ष-मार्ग मे स्थित होकर त्रिकरण त्रियोग से स्व-पर-त्राता बने। (१२) समिति-गुप्ति आदि रूप समाधिमार्गो मे स्थिर हो जाने से गुरुकुलवासी साधक को शान्तिलाभ और समस्त कर्मक्षय का लाभ होता है, यदि वह कदापि प्रमादासक्त न हो, (१३) गुरुकुलवासी साधक उत्तम साध्वाचार या मोक्षरूप अर्थ को जान-सुनकर प्रतिभावान् एव सिद्धान्त विशारद बन जाता है, (१४) फिर वह मोक्षार्थी साधक तप एव सयम को उपलब्ध करके शुद्ध आहार से निर्वाह करता हुआ मोक्ष प्राप्त कर लेता है।[५]

निष्कर्ष—गुरुकुलवास करने वाले साधक का सर्वांगीण जीवन-निर्माण एव विकास तभी हो सकता है, जब वह गुरुकुलवास मे अपनी प्रत्येक प्रवृत्ति एव चर्या को गुरु के अनुशासन मे करे, अप्रमत्त होकर अपनी भूल सुधारता हुआ बाह्य-आभ्यन्तर तप, सयम तथा क्षमा, मार्दव आदि श्रमणधर्म का अभ्यास करे। गुरुकुलवासकालीन शिक्षा मे अनुशासन, प्रशिक्षण, उपदेश, मार्गदर्शन, अध्ययन, अनुशीलन आदि प्रक्रियाओ का समावेश है।

पाठान्तर और व्याख्या—**'तेणावि'** के बदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—**'तेणेव मे'**; व्याख्या की गयी है—उस असत कार्य करने वाले द्वारा प्रेरित किये जाने पर भी कुपित नही होना चाहिए। **'दवियस्स'** के बदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—**'दिविअस्स'**; व्याख्या की गई है—**दिविअ**—(द्वि-वीत)

---

५ सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २४४ से २४७ तक का सारांश

का अर्थ है—दोनो से राग और द्वेष से रहित । **'समीहमट्ठं'** के बदले वृत्तिकारसम्मत पाठान्तर है—**'समीहियट्ठं;** अर्थात्—सम्+ईहित+अभीष्ट=मोक्ष रूप अर्थ को । **'सुद्धेण उवेतिमोक्ख'** के बदले पाठान्तर है—**'सुद्धे न उवेतिमारं'**—तप, सयम आदि से आत्मा शुद्ध होने पर या शुद्ध मार्ग का आश्रय लेने पर साधक मार अर्थात् ससार को अथवा मृत्यु को नही प्राप्त करता ।[६]

गुरुकुलवासी साधु द्वारा भाषा-प्रयोग के विधि-निषेध सूत्र

५९७. संखाय धम्मं च वियागरेंति, बुद्धा हु ते अतकरा भवति ।
ते पारगा दोण्ह वि मोयणाए, संसोधित पण्हमुदाहरति ।।१८।।

५९८. नो छादते नो वि य लूसएज्जा, माण ण सेवेज्ज पगासणं च ।
ण यावि पण्णे परिहास कुज्जा, ण याऽऽसिसावाद वियागरेज्जा ।।१९।।

५९९ भूताभिसंकाए दुगुंछमाणो, ण णिव्वहे मतपदेण गोत्त ।
ण किंचि मिच्छे मणुओ पयासु, असाहुधम्माणि ण सवदेज्जा ।।२०।।

६००. हासं पि णो सधये पावधम्मं, ओए तहिय फरुस वियाणे ।
नो तुच्छए नो व विकंथतिज्जा, अणाइले या अकसाइ भिक्खू ।।२१।।

६०१. सकेज्ज याऽसकितभाव भिक्खू, विभज्जवाद च वियागरेज्जा ।
भासादुगं धम्म समुट्ठितेहि, वियागरेज्जा समया सुपण्णे ।।२२।।

६०२ अणुगच्छमाणे वितह भिजाणे, तहा तहा साहु अकक्कसेण ।
ण कत्थती भास विहिंसएज्जा, निरुद्धग वा वि न दीहएज्जा ।।२३।।

६०३. समालवेज्जा पडिपुण्णभासी, निसामिया समिया अट्ठदसी ।
आणाए सुद्ध वयण भिउजे, भिसधए पावविवेग भिक्खू ।।२४।।

६०४ अहाबुइयाइ सुसिक्खएज्जा, जएज्ज य णातिवेल वदेज्जा ।
से दिट्ठिम दिट्ठि ण लूसएज्जा, से जाणति भासिउ तं समाहि ।।२५।।

६०५. अलूसए णो पच्छण्णभासी, णो सुत्तमत्थ च करेज्ज ताई ।
सत्थारभत्ती अणुवीति वाय, सुय च सम्म पडिवातएज्जा ।।२६।।

---

६ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक २४५ से २४७ तक
(ख) सूयगडग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० १०७-१०८

६०६. से सुद्धसुत्ते उवहाणवं च, धम्मं च जे विंदति तत्थ तत्थ ।
आदेज्जवक्के कुसले वियत्ते, से अरिहति भासिउं तं समाहिं ।।२७।।
त्ति बेमि ।

।। गथो : चउद्दसम अज्झयण सम्मत्त ।।

५९७ (गुरुकुलवासी होने से धर्म मे सुस्थित, बहुश्रुत, प्रतिभावान् एव सिद्धान्त विशारद) साधु सद्बुद्धि से (स्व-पर-शक्ति को, पर्षदा को या प्रतिपाद्य विषय को सम्यक्तया जान कर) दूसरे को श्रुतचारित्र-रूप धर्म का उपदेश देते है (धर्म की व्याख्या करते हैं) । वे बुद्ध-त्रिकालवेत्ता होकर जन्म-जन्मान्तर-सचित कर्मों का अन्त करने वाले होते है, वे स्वय और दूसरो को कर्मपाश से अथवा ममत्वरूपी बेडी से मुक्त (छुडा) करके ससार-पारगामी हो जाते है । वे सम्यक्तया सोच-विचार कर (प्रश्नकर्ता कौन है ? यह किस पदार्थ को समझ सकता है, मै किस विषय का प्रतिपादन करने मे समर्थ हूँ ? इन बातो की भली-भाँति परीक्षा करके) प्रश्न का सशोधित (पूर्वापर अविरुद्ध) उत्तर देते है ।

५९८ साधु प्रश्नो का उत्तर देते समय शास्त्र के यथार्थ अर्थ को न छिपाए (अथवा वह अपने गुरु या आचार्य का नाम या अपना गुणोत्कर्ष बताने के अभिप्राय से दूसरो के गुण न छिपाए), अप-सिद्धान्त का आश्रय लेकर शास्त्रपाठ की तोड-मरोडकर व्याख्या न करे, (अथवा दूसरो के गुणो को दूषित न करे), तथा वह मै ही सर्वशास्त्रो का ज्ञाता और महान् व्याख्याता हूँ, इस प्रकार मान—गर्व न करे, न ही स्वय को बहुश्रुत एव महातपस्वी रूप से प्रकाशित करे अथवा अपने तप, ज्ञान, गुण आदि को प्रसिद्ध न करे । प्राज्ञ (श्रुतधर) साधक श्रोता (मन्द बुद्धि व्यक्ति) का परिहास भी न करे, और न ही (तुम पुत्रवान्, धनवान् या दीर्घायु हो इत्यादि इस प्रकार का) आशीर्वादसूचक वाक्य कहे ।

५९९ प्राणियो के विनाश की आशका से तथा पाप से घृणा करता हुआ साधु किसी को आशीर्वाद न दे, तथा मत्र आदि के पदो का प्रयोग करके गोत्र (वचनगुप्ति या वाक्सयम अथवा मौन) को नि सार न करे, (अथवा साधु राजा आदि के साथ गुप्त मत्रणा करके या राजादि को कोई मत्र देकर गोत्र -प्राणियो के जीवन का नाश न कराए) साधु पुरुष धर्मकथा या शास्त्रव्याख्यान करता हुआ जनता (प्रजा) से द्रव्य या किसी पदार्थ के लाभ, सत्कार या भेंट, पूजा आदि की अभिलाषा न करे, असाधुओ के धर्म (वस्तुदान, तर्पण आदि) का उपदेश न करे (अथवा असाधुओ के धर्म का उपदेश करने वाले को सम्यक् न कहे, अथवा धर्मकथा करता हुआ साधु असाधु-धर्मो - अपनी प्रशसा, कीर्ति, प्रसिद्धि आदि की इच्छा न करे) ।

६०० जिससे हँसी उत्पन्न हो, ऐसा कोई शब्द या मन-वचन-काया का व्यापार न करे, अथवा साधु किसी के दोषो को प्रकट करने वाली, पापबन्ध के स्वभाववाली बाते हँसी मे न कहे । वीतरागता मे ओतप्रोत (रागद्वेष रहित) साधु दूसरो के चित्त को दु खित करने वाले कठोर सत्य को भी पापकर्मबन्धकारक जानकर न कहे । साधु किसी विशिष्ट लब्धि, सिद्धि या उपलब्धि अथवा पूजा-प्रतिष्ठा को पाकर मद न करे, न ही अपनी प्रशसा करे अथवा दूसरे को भलीभाँति जाने-परखे बिना उसकी अतिप्रशसा न करे । साधु व्याख्यान या धर्मकथा के अवसर पर लाभादि निरपेक्ष (निर्लोभ) एव सदा कषायरहित होकर रहे ।

६०१. सूत्र और अर्थ के सम्बन्ध मे शकारहित होने पर भी, 'मै ही इसका अर्थ जानता हूँ, दूसरा नही,' इस प्रकार का गर्व न करे, अथवा अशकित होने पर भी शास्त्र के गूढ शब्दो की व्याख्या करते समय शका (अन्य अर्थ की सम्भावना) के साथ कहे, अथवा स्पष्ट (शका रहित) अर्थ को भी इस प्रकार न कहे, जिससे श्रोता को शका उत्पन्न हो तथा पदार्थों की व्याख्या विभज्यवाद से सापेक्ष दृष्टि से अनेकान्त रूप से करे। धर्माचरण करने मे समुद्यत साधुओ के साथ विचरण करता हुआ साधु दो भाषाएँ (सत्या और असत्यामृषा) बोले। सुप्रज्ञ (स्थिरबुद्धि सम्पन्न) साधु धनिक और दरिद्र दोनो को समभाव से धर्म कहे।

६०२ पूर्वोक्त दो भाषाओ का आश्रय लेकर शास्त्र या धर्म की व्याख्या करते हुए साधु के कथन को कोई व्यक्ति यथार्थ समझ लेता है, और कोई मन्दमति व्यक्ति उसे अयथार्थ रूप मे (विपरीत) समझता है, (ऐसी स्थिति मे) साधु उस विपरीत समझने वाले व्यक्ति को जैसे-जैसे समीचीन हेतु, युक्ति उदाहरण एव तर्क आदि से वह समझ सके, वैसे-वैसे हेतु आदि से अकर्कश (कटुतारहित—कोमल) शब्दो मे समझाने का प्रयत्न करे। किन्तु जो ठीक नही समझता है, उसे तू मूर्ख है, दुर्बुद्धि है, जडमति है, इत्यादि तिरस्कारसूचक वचन कहकर उसके मन को दु खित न करे, तथा प्रश्नकर्ता की भाषा को असम्बद्ध बता कर उसकी विडम्बना न करे, छोटी-सी (थोडे शब्दो मे कही जा सकने वाली बात को व्यर्थ का शब्दाडम्बर करके विस्तृत न करे।

६०३ जो बात सक्षेप मे न समझाई जा सके उसे साधु विस्तृत (परिपूर्ण) शब्दो मे कह कर समझाए। गुरु से सुनकर पदार्थ को भलीभाँति जानने वाला (अर्थदर्शी) साधु आज्ञा से शुद्ध वचनो का प्रयोग करे। साधु पाप का विवेक रखकर निर्दोष वचन बोले।

६०४ तीर्थकर और गणधर आदि ने जिस रूप मे आगमो का प्रतिपादन किया है, गुरु से उनकी अच्छी तरह शिक्षा ले, (अर्थात्—ग्रहण शिक्षा द्वारा सर्वज्ञोक्त आगम का अच्छी तरह ग्रहण करे और आसेवना शिक्षा द्वारा उद्युक्त विहारी होकर तदनुसार आचरण करे) (अथवा दूसरो को भी सर्वज्ञोक्त आगम अच्छी तरह सिखाए)। वह सदैव उसी मे प्रयत्न करे। मर्यादा का उल्लघन करके अधिक न बोले। सम्यक्दृष्टिसम्पन्न साधक सम्यक्दृष्टि को दूषित न करे (अथवा धर्मोपदेश देता हुआ साधु किसी सम्यक्दृष्टि की दृष्टि को (शका पैदा करके) बिगाडे नही। वही साधक उस (तीर्थकरोक्त सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तपश्चरणरूप) भाव समाधि को कहना जानता है।

६०५ साधु आगम के अर्थ को दूषित न करे, तथा वह सिद्धान्त को छिपा कर न बोले। स्व-पर-त्राता साधु सूत्र और अर्थ को अन्यथा न करे। साधु शिक्षा देने वाले (प्रशास्ता-गुरु) की भक्ति का ध्यान रखता हुआ सोच-विचार कर कोई बात कहे, तथा साधु ने गुरु से जैसा सुना है, वैसा ही दूसरे के समक्ष सिद्धान्त या शास्त्रवचन का प्रतिपादन करे।

६०६ जिस साधु का सूत्रोच्चारण, सूत्रानुसार प्ररूपण एव सूत्राध्ययन शुद्ध है, जो शास्त्रोक्त तप (उपधान तप) का अनुष्ठान करता है, जो श्रुत-चारित्ररूप धर्म को सम्यक्रूप से जानता या प्राप्त करता है अथवा जो उत्सर्ग के स्थान पर उत्सर्ग-मार्ग की और अपवाद-मार्ग के स्थान

पर अपवाद की प्ररूपणा करता है, या हेतुग्राह्य अर्थ की हेतु से और आगमग्राह्य अर्थ की आगम से अथवा स्व-समय की स्व-समय रूप मे एव पर-समय की पर-समय रूप मे प्ररूपणा करता है, वही पुरुष ग्राह्यवाक्य है (उसी की बात मानने योग्य है) तथा वही शास्त्र का अर्थ तदनुसार आचरण करने मे कुशल होता है। वह अविचारपूर्वक कार्य नही करता। वही ग्रन्थमुक्त साधक सर्वज्ञोक्त समाधि की व्याख्या कर सकता है।

—ऐसा मै कहता हूँ।

विवेचन—गुरुकुलवासी साधु द्वारा भाषा-प्रयोग के विधि-निषेध सूत्र—प्रस्तुत अध्ययन का उपसहार करते हुए शास्त्रकार ने दस सूत्रगाथाओ मे गुरुकुलवासी साधु द्वारा किये जाने वाले भाषा प्रयोग के कतिपय विधि-निषेध-सूत्र प्रस्तुत किये है। वे इस प्रकार फलित होते है—(१) साधु स्वशक्ति, परिषद या व्यक्ति तथा प्रतिपाद्य विषय को सम्यक्तया जानकर धर्म का उपदेश दे, (२) वह ऐसा धर्मोपदेश दे जिससे स्व-पर को कर्मपाश से मुक्त कर सके, (३) प्रश्न से सम्बन्धित बातो का भलीभाति पर्यालोचन करके उसका पूर्वापर-अविरुद्ध, सगत उत्तर दे, (४) प्रश्नो का उत्तर देते समय शास्त्र के यथार्थ अर्थ को या गुरु के नाम को अथवा गुणी के गुण को न छिपाए (५) शास्त्र की सिद्धान्तविरुद्ध व्याख्या न करे, (६) न तो वह सर्वशास्त्रज्ञता का गर्व करे, न स्वय को बहुश्रुत या महातपस्वी के रूप मे प्रसिद्ध करे, (७) वह मदबुद्धि श्रोता का परिहास न करे, (८) किसी प्रकार का आशीर्वाद न दे, क्योकि उसके पीछे प्राणियो के विनाश या पापवृद्धि की सम्भावना है, (९) विविध हिसाजनक मत्र-प्रयोग करके अपने वाक् सयम को दूषित न करे, (१०) धर्मकथा करके जनता से किसी पदार्थ के लाभ, सत्कार या पूजा-प्रतिष्ठा आदि की आकाक्षा न करे (११) असाधु-धर्मो का उपदेश न करे, न ही वैसा उपदेश देने वाले की प्रशसा करे, (१२) हास्यजनक कोई भी चेष्टा न करे, क्योकि हँसी प्राय दूसरो को दु खित करती है, जो पाप बन्ध का कारण है, (१३) तथ्यभूत बात होते हुए भी वह किसी के चित्त को दु खित करने वाली हो तो न कहे। किसी विशिष्ट उपलब्धि को पाकर साधु अपनी प्रशसा न करे, (१४) व्याख्यान के समय किसी लाभ आदि से निरपेक्ष (नि स्पृह) एव कषायरहित होकर रहे, (१५) सूत्रार्थ के सम्बन्ध मे नि शकित होने पर भी गर्व प्रकट न करे, अथवा शास्त्र के गूढ शब्दो की व्याख्या करते समय अशकित होते हुए भी अन्य अर्थों की सम्भावना व्यक्त करे, (१६) पदार्थों की व्याख्या विभज्यवाद (नय, निक्षेप, स्याद्वाद, प्रमाण आदि के) द्वारा पृथक्-पृथक् विश्लेषण-पूर्वक करे, (१७) साधु दो ही भाषाओ का प्रयोग करे सत्या और असत्यामृषा, (१८) राग-द्वेषरहित होकर सधन-निर्धन को समभाव से धर्म-कथन करे, (१९) विधिपूर्वक शास्त्र या धर्म की व्याख्या करते हुए भी कोई व्यक्ति उसे विपरीत समझता है तो साधु उसे मूढ, जडबुद्धि या मूर्ख कहकर झिडके नही, न ही अपमानित, विडम्बित या दु खित करे, (२०) अल्प शब्दो मे कही जा सकने वाली बात को व्यर्थ वा शब्दाडम्बर करके विस्तृत न करे, (२१) किन्तु सक्षेप मे कहने से समझ मे आ सके ऐसी बात को विस्तृत रूप से कहे, (२२) गुरु से सुनकर पदार्थों को भलीभाँति जानकर साधु आज्ञा-शुद्ध वचनो का प्रयोग करे (२३) पाप का विवेक रखकर निर्दोष वचन बोले, (२४) तीर्थंकरोक्त आगमो की व्याख्या पहले गुरु से भली-भाँति जाने और अभ्यस्त करके दूसरो को उसी विधि से समझाए, (२५) अधिकाश समय शास्त्र-स्वाध्याय मे रत रहे, (२६) मर्यादातिक्रमण करके अधिक न बोले, (२७) साधु धर्मोपदेश देता हुआ किसी की सम्यग्दृष्टि को अपसिद्धान्त प्ररूपणा करके दूषित या

विचलित न करे, (२८) आगम के अर्थ को दूषित न करे, (२९) सिद्धान्त को छिपाकर न बोले, (३०) आत्मत्राता साधु सूत्र एव अर्थ या प्रश्न को अन्यथा (उलट-पुलट) न करे, (३१) शिक्षादाता प्रशास्ता की सेवा भक्ति का ध्यान रखे, (३२) सम्यक्तया सोच-विचार कर कोई बात कहे, (३३) गुरु से जैसा सुना है, दूसरे के समक्ष वैसे ही सिद्धान्त या शास्त्र-वचन की प्ररूपणा करे (३४) सूत्र का उच्चारण, अध्ययन, एव प्ररूपणा शुद्ध करे, (३५) शास्त्र-विहित तपश्चर्या की प्रेरणा करे, (३६) उत्सर्ग-अपवाद, हेतुग्राह्य-आज्ञाग्राह्य या स्वसमय-परसमय आदि धर्म का या शास्त्र वाक्य को यथायोग्य स्थापित-प्रतिपादित करता है, वही ग्राह्यवाक्य, शास्त्र का अर्थ करने मे कुशल एव सुविचारपूर्वक भाषण करने वाला है, वही सर्वज्ञोक्त समाधि की व्याख्या कर सकता है।[7]

गुरुकुलवासी साधक उभयशिक्षा प्राप्त करके भाषा के प्रयोग मे अत्यन्त निपुण हो जाता है।

पाठान्तर और व्याख्या—**'सकेज्ज याऽसकितभाव भिक्खू'** के बदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—**'सकेज्ज वा सकितभाव भिक्खू'**, व्याख्या यो है- यदि किसी विषय मे वह शकित है, किसी शास्त्रवाक्य के अर्थ मे शका है तो वह शकात्मक रूप से इस प्रकार प्रतिपादन करे कि मेरी समझ मे इसका यह अर्थ है, इससे आगे जिन भगवान् जाने, **'तत्त्व केवलिगम्यम्'**। **'अणाइलो'** के बदले पाठान्तर है—**'अणाउलो'**, व्याख्या यो है- साधु व्याख्यान या धर्मकथा के समय आकुल-व्याकुल न हो।[8]

विभज्जवाद च वियागरेज्जा—व्याख्याएँ—(१) विभाज्यवाद का अर्थ है—भजनीयवाद। किसी विषय मे शका होने पर भजनीयवाद द्वारा यो कहना चाहिए—मै तो ऐसे मानता हूँ, परन्तु इस विषय मे अन्यत्र भी पूछ लेना। (२) विभज्यवाद का अर्थ है- स्याद्वाद-अनेकान्तवाद-सापेक्षवाद। (३) विभज्यवाद का अर्थ है—पृथक अर्थ निर्णयवाद। (४) सम्यक् प्रकार से अर्थों का नय, निक्षेप आदि से विभाग-विश्लेषण करके पृथक् करके कहे, जैसे- द्रव्यार्थिकनय से नित्यवाद को, तथा पर्यायार्थिकनय से अनित्यवाद को कहे।

सुत्तपिटक अगुत्तरनिकाय मे भी 'विभज्जवाद' का उल्लेख आता है।[9]

॥ ग्रन्थ चौदहवाँ अध्ययन समाप्त ॥

□□

---

७ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक २४७ से २५१ का साराश

८ (क) सूयगडग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० १०९

(ख) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक २४९

९ (क) सूत्रकृताग मूलपाठ टिप्पण, तृतीय परिशिष्ट पृ० ३६८।

(ख) तुलना—न खो, भते, भगवा सब्ब तप गरहित भगवा गरहतो पससितब्ब, पससन्तो 'विभज्जवादो' भगवा। न सो भगवा एत्थ एकसवादोदित। —सुत्तपिटक अगुत्तरनिकाय पृ० २५३

जमतीत (यमकीय)-पंचदश अध्ययन

प्राथमिक

☐ सूत्रकृतांग सूत्र (प्र० श्रु०) के पन्द्रहवें अध्ययन का नाम 'जमतीत' (यमकीय) है।

☐ इस अध्ययन के दो नाम और मिलते हैं—आदान अथवा आदानीय, एवं शृंखला अथवा संकलिका।

☐ 'जमतीत' नाम इसलिए पड़ा है कि इस अध्ययन का आदि शब्द 'जमतीत' (ज+अतीत) है। अथवा इस अध्ययन में 'यमक' अलंकार का प्रयोग हुआ है, इसलिए इस अध्ययन का नाम 'यमकीय' है, जिसका आर्ष प्राकृत रूप 'जमईय' या 'जमतीत' होता है।

☐ वृत्तिकार के अनुसार इस अध्ययन को 'संकलिका' अथवा शृंखला' कहना चाहिए। इस अध्ययन में अन्तिम और आदि पद का संकलन हुआ है, इसलिये इसका नाम 'संकलिका' है। अथवा प्रथम पद्य का अन्तिम शब्द एवं द्वितीय पद्य का आदि शब्द शृंखला की कड़ी की भाँति जुड़े हुए हैं। अर्थात् उन दोनों की कड़ियाँ एक समान हैं।[1]

☐ आदान या आदानीय नाम रखने के पीछे निर्युक्तिकार का मन्तव्य यह है कि इस अध्ययन में जो पद प्रथम गाथा के अन्त में है, वही पद अगली गाथा के प्रारम्भ में आदान (ग्रहण) किया गया है। यही लक्षण आदानीय का है।

☐ कार्यार्थी पुरुष जिस वस्तु को ग्रहण करता है, उसे आदान कहते हैं। धन का या धन के द्वारा द्विपद—चतुष्पद आदि का ग्रहण करना द्रव्य-आदान है। भाव-आदान दो प्रकार का है-–प्रशस्त और अप्रशस्त। क्रोधादि का उदय या मिथ्यात्व, अविरति आदि कर्मबन्ध के आदान रूप होने से अप्रशस्त भावादान है, तथा मोक्षार्थी द्वारा उत्तरोत्तर गुणश्रेणी के योग्य विशुद्ध अध्यवसाय को ग्रहण करना या समस्त कर्म क्षय करने हेतु विशिष्ट सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को ग्रहण करना प्रशस्त भाव-आदान है।

---

१ सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २५८

- इस अध्ययन मे इसी प्रशस्त भाव—आदान के सन्दर्भ मे विवेक की दुर्लभता, सयम के सुपरिणाम, भगवान् महावीर या वीतराग पुरुष का स्वभाव, सयमी पुरुष की जीवन पद्धति, विशाल चरित्र सम्पन्नता आदि का निरूपण है।[२]

- इस अध्ययन मे कुल पच्चीस गाथाएँ है, जो यमकालकार युक्त एव श्रृ खलावत् हैं।

- प्रस्तुत अध्ययन सूत्रगाथा ६०७ मे प्रारम्भ होकर ६३१ सूत्रगाथा पर पूर्ण होता है।

---

२ (क) सूत्रकृतागनिर्युक्ति गा० १३२ से १३६ तक
(ख) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक २५२-२५३
(ग) जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भा० १, पृ० १५५

जमतीतं : पण्णरसमं अज्झयणं

यमकीय (जमतीत)—पन्द्रहवाँ अध्ययन

अनुत्तरज्ञानी और तत्कथित भावनायोगसाधना

६०७. जमतीतं पडुप्पण्णं, आगमिस्सं च णायगो ।
सव्वं मण्णति तं ताती, दंसणावरणंतए ।।१।।

६०८. अंतए वितिगिंछाए, से जाणति अणेलिसं ।
अणेलिसस्स अक्खाया, ण से होति तहिं तहिं ।।२।।

६०९ तहिं तहिं सुयक्खायं, से य सच्चे सुयाहिए ।
सदा सच्चेण संपण्णे, मेत्तिं भूतेहिं कप्पते ।।३।।

६१०. भूतेहिं न विरुज्झेज्जा, एस धम्मे वुसीमओ ।
वुसीमं जगं परिण्णाय, अस्सिं जीवितभावणा ।।४।।

६११ भावणाजोगसुद्धप्पा, जले णावा व आहिया ।
नावा व तीरसंपत्ता, सव्वदुक्खा तिउट्टति ।।५।।

६०७ जो पदार्थ (अतीत मे) हो चुके है, जो पदार्थ वर्तमान मे विद्यमान है और जो पदार्थ भविष्य मे होने वाले है, उन सबको दर्शनावरणीय कर्म का सर्वथा अन्त करने वाले जीवो के त्राता-रक्षक, धर्मनायक तीर्थंकर जानते-देखते है ।

६०८ जिसने विचिकित्सा (सशय) का सर्वथा अन्त (नाश) कर दिया है, वह (घातिचतुष्टय का क्षय करने के कारण) अतुल (अप्रतिम) ज्ञानवान् है । जो पुरुष सबसे बढकर वस्तुतत्त्व का प्रतिपादन करने वाला है, वह उन-उन (बौद्धादि दर्शनो) मे नही होता ।

६०९ (श्री तीर्थंकरदेव ने) उन-उन (आगमादि स्थानो) मे जो (जीवादि पदार्थों का) अच्छी तरह से कथन किया है, वही सत्य है और वही सुभाषित (स्वाख्यात) है । अत सदा सत्य से सम्पन्न होकर प्राणियो के साथ मैत्री भावना रखनी चाहिए ।

६१०. प्राणियो के साथ वैर-विरोध न करे, यही तीर्थंकर का या सुसंयमी का धर्म है। सुसयमी साधु (त्रस-स्थावर रूप) जगत् का स्वरूप सम्यक्रूप से जानकर इस वीतराग-प्रतिपादित धर्म मे जीवित भावना (जीव-समाधानकारिणी पच्चीस या बारह प्रकार की भावना) करे।

६११ भावनाओ के योग (सम्यक्प्रणिधान रूप योग) से जिसका अन्तरात्मा शुद्ध हो गया है, उसकी स्थिति जल मे नौका के समान (ससार समुद्र को पार करने मे समर्थ) कही गई है। किनारे पर पहुँची हुई नौका विश्राम करती है, वैसे ही भावनायोग-साधक भी ससार समुद्र के तट पर पहुँचकर समस्त दु खो से मुक्त हो जाता है।

विवेचन—अनुत्तरज्ञानी और तत्कथित भावनायोग-साधना—प्रस्तुत पाँच सूत्रगाथाओ मे शास्त्रकार ने मुख्यतया दो तथ्यो को अभिव्यक्त किया है—(१) अनुपम ज्ञानवान् तीर्थंकर का माहात्म्य और (२) उनके द्वारा कथित भावनायोग की साधना।

अनुपम ज्ञानी तीर्थंकर के और अन्यदर्शनी के ज्ञान मे अन्तर—तीर्थंकर ज्ञानदरणीयादि घातिकर्म चतुष्टय का क्षय करने के कारण त्रिकालज्ञ है, द्रव्य-पर्याय सहित सर्व पदार्थ के ज्ञाता है, उन्होने सशय-विपर्यय—अनध्यवसायरूप मिथ्या ज्ञान का अन्त कर दिया है, इसलिए उनके सदृश पूर्णज्ञान किसी तथागत बुद्ध आदि अन्य दार्शनिक का नही है, क्योकि अन्य दार्शनिको के घातिकर्म-चतुष्टय का सर्वथा क्षय न होने से वे त्रिकालज्ञ नही होते, और न ही द्रव्य-पर्याय सहित सर्व पदार्थज्ञ होते है। यदि वे (अन्यतीर्थिक) त्रिकालज्ञ होते तो वे कर्मबन्ध एव कर्म से सर्वथा मोक्ष के उपायो को जानते, हिंसादि कर्मबन्ध कारणो से दूर रहते, उनके द्वारा मान्य या रचित आगमो मे एक जगह प्राणि-हिसा का निषेध होने पर भी जगह-जगह आरम्भादि जनित हिसा का विधान किया गया है। ऐसा पूर्वापर विरोध न होता। इसके अतिरिक्त कई दार्शनिक द्रव्य को ही मानते हैं, कई (बौद्ध आदि) पर्याय को ही मानते है, तब वे 'तीर्थंकर सदृश सर्वपदार्थज्ञाता' कैसे कहे जा सकते है? कई दार्शनिक कहते है—'कीडो की सख्या का ज्ञान कर लेने से क्या लाभ? अभीष्ट वस्तु का ज्ञान ही उपयोगी है।' उन लोगो का ज्ञान भी पूर्णतया अनावृत नही है, तथा जैसे उन्हे कीट-सख्या का परिज्ञान नही है, वैसे दूसरे पदार्थों का ज्ञान न होना भी सम्भव है। अत उनका ज्ञान तीर्थंकर की तरह अबाधित नही है। ज्ञानबाधित और असम्भव होने से सर्वज्ञता एव सत्यवादिता दूषित होती है।[1]

सर्वज्ञ वीतराग ही सत्य के प्रतिपादक—अन्य दर्शनी पूर्वोक्त कारणो से सर्वज्ञ न होने से वे सत्य (**यथार्थ**) वक्ता नही हो सकते, क्योकि उनके कथन मे अल्पज्ञता के कारण राग, द्वेष, पक्षपात, मोह आदि **अवश्यम्भावी** है, फलत उनमे पूर्ण सत्यावदिता एव प्राणिहितैषिता नही होती, जबकि सर्वज्ञ तीर्थंकर राग-द्वेष-मोहादि विकाररहित होने से वे सत्यवादी है, जीवादि पदार्थों का यथार्थ

---

१ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक २५४
(ख) सर्वं पश्यतु वा मा वा, तत्त्वमिष्ट तु पश्यतु।
कीटसख्या परिज्ञान, तस्य न क्वोपयुज्यते॥

(पूर्ण सत्य) प्रतिपादन करते है, क्योकि मिथ्या भाषण के कारण है—रागादि, वे तीर्थंकर देव मे बिलकुल नही है। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि उन्होने आगमो मे यत्र-तत्र जो भी प्रतिपादन किया है, वह सब सत्य (प्राणियो के लिए हितकर) है, सुभाषित है।[2]

सर्वज्ञोक्त उपदेश भी हितैषिता से परिपूर्ण—सर्वज्ञ तीर्थंकर सर्वहितैषी होते हैं, उनका वचन भी सर्वहितैषिता से पूर्ण होता है। उनका कोई भी कथन प्राणिहित के विरुद्ध नही होता। इसके प्रमाण के रूप मे उनके द्वारा कथित सर्वभूत मैत्री भावना तथा अन्य (बारह या पच्चीस) जीवित भावना और उनकी ससार-सागरतारिणी महिमा तथा उनसे मोक्ष-प्राप्ति आदि है। मैत्री आदि भावनाओ की साधना के लिए प्राणियो के साथ वैर-विरोध न करना, समग्र प्राणिजगत् का स्वरूप (सुखाभिलाषिता, जीवितप्रियता आदि) जानकर मोक्षकारिणी या जीवनसमाधिकारिणी भावना आदि के सम्बन्ध मे दिया गया उपदेश प्रस्तुत है।[3]

विमुक्त, मोक्षाभिमुख और संसारान्तकर साधक कौन ?

६१२. तिउट्टति तु मेधावी, जाण लोग सि पावग।
तिउट्टति पावकम्माणि, नव कम्ममकुव्वओ ॥६॥

६१३. अकुव्वतो णव नत्थि, कम्म नाम विजाणइ।
विन्नाय से महावीरे, जेण जाति ण मिज्जती ॥७॥

६१४. न मिज्जति महावीरे, जस्स नत्थि पुरेकडं।
वाऊ व जालमच्चेति, पिया लोगसि इत्थिओ ॥८॥

६१५. इत्थिओ जे ण सेवंति, आदिमोक्खा हु ते जणा।
ते जणा बधणुम्मुक्का, नावकखति जीवित ॥९॥

६१६. जीवितं पिट्ठतो किच्चा, अत पावति कम्मुणा।
कम्मुणा समुहीभूया, जे मग्गणुसासति ॥१०॥

---

२ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक २५४
(ख) वीतरागा हि सर्वज्ञा, मिथ्या न ब्रुवते वच।
यस्मात्तस्माद् वचस्तेषा तथ्य भूतार्थ दर्शनम् ॥

३ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक २५५-२५६
(ख) द्वादशानुप्रेक्षा (भावना) इस प्रकार है—अनित्याशरण-ससारैकत्वाशुचित्वास्रव-सवर-निर्जरा-लोक-बोधिदुर्लभ-धर्मस्वाख्यात-स्वतत्त्वचिन्तनमनुप्रेक्षा।—तत्त्वार्थसूत्र, अ० ९, सूत्र ७
(ग) पाँच महाव्रतो की २५ भावनाएँ है, जिनका विवरण पहले प्रस्तुत किया जा चुका है।

६१७. अणुसासणं पुढो पाणे, वसुमं पूयणासते ।
अणासते जते दते, दढे आरयमेहुणे ॥११॥

६१८. णीवारे य न लीएज्जा, छिन्नसोते अणाइले ।
अणाइले सया दंते, संधि पत्ते अणेलिस ॥१२॥

६१९. अणेलिसस्स खेतण्णे, ण विरुज्झेज्ज केणइ ।
मणसा वयसा चेव, कायसा चेव चक्खुम ॥१३॥

६२० से हु चक्खू मणुस्साण, जे कंखाए तु अंतए ।
अंतेण खुरो वहती, चक्कं अंतेण लोट्टति ॥१४॥

६२१. अंताणि धीरा सेवंति, तेण अंतकरा इह ।
इह माणुस्सए ठाणे, धम्मारहिउ णरा ॥१५॥

६१२ लोक मे पापकर्म (के स्वरूप) को जानने वाला मेधावी (साधुमर्यादा मे स्थित या सद्-असद् विवेकी साधु) (सभी बन्धनो से) छूट जाता है, क्योकि नया कर्म (बन्धन) न करने वाले पुरुष के सभी पापकर्म (बन्धन) टूट जाते है।

६१३ जो पुरुष कर्म (मन-वचन-काया से व्यापारक्रिया) नही करता, उसके नवीन (ज्ञानावरणीयादि) कर्मबन्ध नही होता। वह (कर्म मुमुक्षु साधक) अष्टविध कर्मों को विशेषरूप से जान लेता है, फिर वह (कर्म विदारण करने मे) महावीर पुरुष (भगवत्प्रतिपादित समग्र कर्मविज्ञान को) जानकर, ऐसा पुरुषार्थ करता है, जिससे न तो वह (ससार मे कभी) जन्म लेता है और न ही मरता है।

६१४ जिसके पूर्वकृत कर्म नही है, वह महावीर साधक जन्मता-मरता नही है। जैसे हवा अग्नि की ज्वाला का उल्लघन कर जाती है, वैसे ही इस लोक मे महान् अध्यात्मवीर साधक मनोज्ञ (प्रिय) स्त्रियो (स्त्रीसम्बन्धी काम-भोगो) को उल्लघन कर जाता है, अर्थात् वह स्त्रियो के वश मे नही होता।

६१५ जो साधकजन स्त्रियो का सेवन नही करते, वे सर्वप्रथम मोक्षगामी (आदिमोक्ष) होते है। समस्त (कर्म) बन्धनो से मुक्त वे साधुजन (असयमी) जीवन जीने की आकाक्षा नही करते।

६१६ ऐसे वीर साधक जीवन को पीठ देकर (पीछे करके) कर्मो का अन्त (क्षय) प्राप्त करते है। जो साधक (सयमानुष्ठान द्वारा) मोक्ष मार्ग पर आधिपत्य (शासन) कर लेते है, अथवा मुमुक्षुओ को मोक्षमार्ग मे अनुशासित (शिक्षित) करते है, वे विशिष्ट कर्म (धर्म के आचरण) से मोक्ष के सम्मुख हो जाते है।

६१७ उन (मोक्षाभिमुख साधकों का) अनुशासन (धर्मोपदेश) भिन्न-भिन्न प्राणियो के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। वसुमान् (सयम का धनी), पूजा-प्रतिष्ठा मे अरुचि रखनेवाला, आशय (वासना) से रहित, सयम मे प्रयत्नशील, दान्त (जितेन्द्रिय) स्वकृत प्रतिज्ञा पर दृढ एव मैथुन से सर्वथा विरत साधक ही मोक्षाभिमुख होता है।

६१८ सूअर आदि प्राणियो को प्रलोभन देकर फँसाने और मृत्यु के मुख मे पहुँचाने वाले चावल के दाने के समान स्त्री-प्रसग या क्षणिक विषय लोभ में साधक लीन (ग्रस्त) नही होता। जिसने विषय भोगरूप आश्रव-द्वारो को बन्द (नष्ट) कर दिया है, जो रागद्वेष मल से रहित—स्वच्छ है, सदा दान्त है, विषय-भोगो मे प्रवृत्त या आसक्त न होने से अनाकुल (स्थिरचित्त) है, वही व्यक्ति अनुपम भावसन्धि—मोक्षभिमुखता को प्राप्त है।

६१९ अनीदृश (जिसके सदृश दूसरा कोई उत्तम पदार्थ नही है उस) सयम या तीर्थंकरोक्त धर्म का जो मर्मज्ञ (खेदज्ञ) है, वह किसी भी प्राणी के साथ मन, वचन और काया से वैर-विरोध न करे (अर्थात् सबके साथ त्रिकरण-त्रियोग से मैत्रीभाव रखे), वही परमार्थत चक्षुष्मान् (दिव्य तत्त्व-दर्शी) है।

६२० जो साधक भोगाकाक्षा (विषय-तृष्णा) का अन्त करने वाला या अन्त (पर्यन्त) वर्ती है, वही मनुष्यो का चक्षु (भव्य जीवो का नेत्र) सदृश(मार्गदर्शक या नेता) है। जैसे उस्तरा (या छुरा) अन्तिम भाग (सिरे) से कार्य करता है, रथ का चक्र भी अन्तिम भाग (किनारे) से चलता है, (इसी प्रकार विषय-कषायात्मक मोहनीय कर्म का अन्त ही ससार का अन्त करता है)।

६२१ विषय-सुखाकाक्षा रहित बुद्धि से सुशोभित (धीर) साधक अन्त-प्रान्त आहार का सेवन करते हैं। इसी कारण वे ससार का अन्त कर देते है। इस मनुष्यलोक मे या यहाँ (आर्य क्षेत्र में) मनुष्य भव मे दूसरे धर्म की आराधना करके ससार का अन्त करते है।

विवेचन—कर्मबन्धनविमुक्त, मोक्षाभिमुख एव ससारान्तकर साधक कौन और कैसे?—प्रस्तुत दस सूत्रगाथाओ मे शास्त्रकार ने मुख्यतया चार तथ्य प्रस्तुत किये है—

(१) कर्मबन्धन से विमुक्त कौन होता है?
(२) मोक्षाभिमुख साधक कौन होता है?
(३) ससार का अन्तकर्ता साधक कौन होता है?
(४) ये तीनो किस-किस प्रकार की साधना से उस योग्य बनते हैं।

वस्तुत ये तीनो परस्पर सम्बद्ध है। जो कर्मबन्धन से मुक्त होता है, वही मोक्षाभिमुख होता है, जो मोक्षाभिमुख होता है, वह ससार का अन्त अवश्य करता है।

कर्मबन्धन से मुक्त एव मोक्षाभिमुखी होने के लिए अनिवार्य शर्तें—मोक्षाभिमुखता के लिए साधक—(१) अपने जीवन के प्रति निरपेक्ष होकर ही अष्टविधकर्मों का क्षय करने मे उद्यत होता है। (२) विशिष्ट तप, सयम आदि के आचरण से मोक्ष के अभिमुख हो जाता है, (३) मोक्षमार्ग पर अधिकार कर लेता है, (४) वह सयमनिष्ठ हो जाता है, (५) पूजा, सत्कार, प्रतिष्ठा आदि मे रुचि नही रखता, (६) विषयवासना से दूर रहता है, (७) सयम मे पुरुषार्थ करता है, (८) इन्द्रिय और मन को वश मे कर लेता है, (९) महाव्रत आदि की कृतप्रतिज्ञा पर दृढ रहता है, (१०) मैथुन-सेवन से विरत रहता है। (११) विषयभोगो के प्रलोभन मे नही फँसता, (१२) कर्मों के आश्रवद्वार बन्द कर देता है, (१३) वह राग-द्वेषादि मल से रहित—स्वच्छ होता है, (१४) विषय-भोगो से विरक्त होकर अनाकुल स्थिरचित्त होता है, (१५) अनुपम सयम या अनुत्तर वीतराग-धर्म का मर्मज्ञ होने से वह मन-वचन-काया से किसी भी प्राणी के साथ वैर-विरोध नही करता। (१६) ससार का अन्त

करने वाला साधक परमार्थदर्शी (दिव्यनेत्रवान्) होता है, (१७) वह समस्त काक्षाओ का अन्त कर देता है, (१८) मोहनीय आदि घाती कर्मों का अन्त करके ही वह ससार के अन्त (किनारे) तक या मोक्ष के अन्त (सिरे) तक पहुँच जाता है। (१९) वह परीषहो और उपसर्गों को सहने मे धीर होता है, (२०) वह अन्त-प्रान्त आहारादि का सेवन करता है, (२१) वह मनुष्य जन्म मे दृढतापूर्वक धर्माराधना करता है।[४]

पाठान्तर और व्याख्या—**जण जाति ण मिज्जती** के बदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—**'जेण आजाइ ण मज्जते'**, अर्थ होता है—सर्वकर्मक्षय होने पर न तो पुन ससार मे आता है, और न ससार सागर मे डूबता है। **'न मिज्जती'** के बदले वृत्तिकार ने **'ण भिज्जति'** पाठ भी माना है। दोनो का मूलार्थ मे उक्त अर्थ से भिन्न अर्थ भी वृत्तिकार ने किया है—(१) जाति से यह नारक है, यह तिर्यञ्च है, इस प्रकार का परिगणन नही होता, (२) जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक आदि से परिपूर्ण नही होता। चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—**'ण मज्जते'**—अर्थात्—ससारसागर मे नही डूबता।[५]

मोक्ष-प्राप्ति किसको सुलभ, किसको दुर्लभ ?

६२२. निट्ठितट्ठा व देवा वा उत्तरीए इम सुत।
सुतं च मेतमेगेसि, अमणुस्सेसु णो तहा ॥१६॥

६२३ अंत करेंति दुक्खाणं, इहमेगेसि आहितं।
आघायं पुण एगेसि, दुल्लभेऽयं समुस्सए ॥१७॥

६२४. इतो विद्धंसमाणस्स, पुणो संबोहि दुल्लभा।
दुल्लभा उ तहच्चा णं, जे धम्मट्ठ वियागरे ॥१८॥

६२२ मैने (सुधर्मास्वामी ने) लोकोत्तर प्रवचन (तीर्थंकर भगवान् की धर्मदेशना) मे यह (आगे कही जाने वाली) बात सुनी है कि मनुष्य ही सम्यग्दर्शनादि की आराधना से कर्मक्षय करके निष्ठितार्थ -कृतकृत्य होते है, (मोक्ष प्राप्त करते है) अथवा (कर्म शेष रहने पर) सौधर्म आदि देव बनते है। यह (मोक्ष-प्राप्ति—कृतकृत्यता) भी किन्ही विरले मनुष्यो को ही होती है, मनुष्ययोनि या गति से भिन्न योनि या गतिवाले जीवो को मनुष्यो की तरह कृतकृत्यता या सिद्धि प्राप्त नही होती, ऐसा मैने तीर्थंकर भगवान् से साक्षात् सुना है।

६२३ कई अन्यतीर्थिको का कथन है कि देव ही समस्त दु खो का अन्त करते है, मनुष्य नही, (परन्तु ऐसा सम्भव नही, क्योकि) इस आर्हत्-प्रवचन मे तीर्थंकर, गणधर आदि का कथन है कि यह समुन्नत मानव-शरीर या मानव-जन्म (समुच्छ्रय) मिलना अथवा मनुष्य के बिना यह समुच्छ्रय-धर्म-श्रवणादि रूप अभ्युदय दुर्लभ है, फिर मोक्ष पाना तो दूर की बात है।

---

४ सूत्रकृतांग शीलाकवृत्ति पत्राक २५६ का साराश

५ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक २५६

(ख) सूयगडग चूर्णि (मू० पा० टि०) पृ० ११२

६२४. जो जीव इस मनुष्यभव (या शरीर) से भ्रष्ट हो जाता है, उसे पुन जन्मान्तर मे सम्बोधि (सम्यग्दृष्टि) की प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ है। जो साधक धर्मरूप पदार्थ की व्याख्या करते हैं, अथवा धर्मप्राप्ति के योग्य है, उनकी तथाभूत अर्चा (सम्यग्दर्शनादि प्राप्ति के योग्य शुभ लेश्या—अन्त.करण-परिणति, अथवा सम्यग्दर्शन-प्राप्तियोग्य तेजस्वी मनुष्यदेह) (जिन्होने पूर्वजन्म मे धर्म-बीज नही बोया है, उन्हे) प्राप्त होनी अतिदुर्लभ है।

विवेचन—मोक्षप्राप्ति किसको सुलभ, किसको दुर्लभ ?—प्रस्तुत तीन सूत्रगाथाओ मे से प्रारम्भ की दो गाथाओ मे यह बताया गया है कि समस्त कर्मों का क्षय, सर्वदु खो का अन्त मनुष्य ही कर सकते है, वे ही सिद्धगति प्राप्त करके कृतकृत्य होते है। अन्य देवादि गति वालो को मोक्ष-प्राप्ति सुलभ नही। क्योकि उनमे सच्चारित्र परिणाम नही होता। तीसरी गाथा मे यह बताया गया है कि मोक्षप्राप्ति के लिए अनिवार्य सम्बोधि तथा सम्बोधि-प्राप्ति की अन्तर् मे परिणति (लेश्या) का प्राप्त होना उन लोगो के लिए दुर्लभ है, जो मनुष्यजन्म पाकर उसे निरर्थक गँवा देते है, जो मानव-जीवन मे धर्मबीज नही बो सके। निष्कर्ष यह है कि मोक्षप्राप्ति की समग्र सामग्री उन्ही जीवो के लिए सुलभ है, जो मनुष्यजन्म पाकर सम्यग्दृष्टि सम्पन्न होकर धर्माचरण करते है।[६]

कठिन शब्दों की व्याख्या—उत्तरीए—वृत्तिकार के अनुसार अर्थ किया जा चुका है। चूर्णिकार के अनुसार अर्थ है—उत्तरीक स्थानो मे—अनुत्तरौपपातिक देवो मे उत्पन्न होते है। **'धम्मट्ठ वियागरे'** के बदले चूर्णिसम्मत पाठ है—**'धम्मट्ठी विदितपरापरा'**—अर्थ किया गया है- धर्मार्थीजन पर यानी श्रेष्ठ जैसे कि मोक्ष या मोक्षसाधन, तथा अपर—यानी निकृष्ट, जैसे मिथ्यादर्शन, अविरति आदि, इन दोनो पर-अपर को ज्ञात (विदित) कर चुके है।[७]

मोक्ष प्राप्त पुरुषोत्तम और उसका शाश्वत स्थान

६२५. जे धम्मं सुद्धमक्खंति, पडिपुण्णमणेलिस।
अणेलिसस्स जं ठाणं, तस्स जम्मकहा कुतो ॥१९॥

६२६. कुतो कयाइ मेधावी, उप्पज्जंति तहागता।
तहागता य अपडिण्णा चक्खु लोगस्सऽणुत्तरा ॥२०॥

६२५ जो महापुरुष प्रतिपूर्ण, अनुपम शुद्ध धर्म की व्याख्या करते है, वे सर्वोत्तम (अनुपम) पुरुष के (समस्त द्वन्द्वो से उपरमरूप) स्थान को प्राप्त करते हैं, फिर उनके लिए जन्म लेने की तो बात ही कहाँ ?

---

६ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक २५८-२५९

७ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति, पत्राक २५८
(ख) सूत्रकृताग चूर्णि (मू० पा० टि०) पृ० ११३-११४

६२६. इस जगत् में फिर नही आने के लिये मोक्ष मे गए हुए (तथागत) मेधावी (ज्ञानी) पुरुष क्या कभी फिर उत्पन्न हो सकते हैं ? (कदापि नही)। अप्रतिज्ञ (निदान-रहित) तथागत—तीर्थंकर, गणधर आदि लोक (प्राणिजगत्) के अनुत्तर (सर्वोत्कृष्ट) नेत्र (पथप्रदर्शक) हैं।

विवेचन—मोक्षप्राप्त पुरुषोत्तम और उनका शाश्वत स्थान—प्रस्तुत सूत्रगाथाद्वय मे मोक्षप्राप्त पुरुषोत्तम का स्वरूप बताकर ससार में उनके पुनरागमन का निराकरण किया गया है।

धर्म के विशेषणों की व्याख्या—**शुद्ध**—समस्त उपाधियो से रहित होने से विशुद्ध है, **प्रतिपूर्ण**—जिसमे विशाल (आयत) चारित्र होने से अथवा जो यथाख्यात चारित्र रूप होने से परिपूर्ण है। **अनीदृश**—अनुपम—अनुत्तर। **धम्मं अक्खंति**—धर्म का प्रतिपादन करते हैं, स्वय आचरण भी करते हैं।[८]

संसार-पारंगत साधक की साधना के विविध पहलू

६२७. अणुत्तरे य ठाणे से, कासवेण पवेदिते।
जं किच्चा णिव्वुडा एगे, निट्ठं पावंति पंडिया ॥२१॥

६२८. पंडिए वीरियं लद्धुं, निग्घाया य पवत्तगं।
धुणे पुव्वकडं कम्मं, नवं वावि न कुव्वति ॥२२॥

६२९. न कुव्वती महावीरे, अणुपुव्वकडं रयं।
रयसा संमुहीभूता कम्मं हेच्चाण जं मतं ॥२३॥

६३०. जं मतं सव्वसाहूणं, तं मयं सल्लकत्तणं।
साहइत्ताण तं तिण्णा, देवा वा अभविंसु ते ॥२४॥

६३१ अभविंसु पुरा वीरा, आगमिस्सा वि सुव्वता।
दुण्णिबोहस्स मग्गस्स, अंतं पाउकरा तिण्णे ॥२५॥ —त्ति बेमि ॥

॥ जमतीत : पण्णरसमं अज्झयणं सम्मत्तं ॥

६२७ काश्यपगोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर ने बताया है कि वह अनुत्तर (सबसे प्रधान) स्थान सयम है, जिस (सयम) का पालन करके कई महासत्त्व साधक निर्वाण को प्राप्त होते हैं। वे पण्डित (पाप से निवृत्त) साधक निष्ठा (ससार चक्र का अन्त, या सिद्धि की पराकाष्ठा) प्राप्त कर लेते हैं।

६२८. पण्डित (सद्-असद्-विवेकज्ञ) साधक समस्त कर्मों के निघात (निर्जरा) के लिए प्रवर्तक (अनेकभवदुर्लभ) पण्डितवीर्य (या सुसयमवीर्य अथवा तपोवीर्य) को प्राप्त करके पहले के अनेक भवो में किये हुए कर्मों का क्षय कर डाले और नवीन कर्मबन्ध न करे।

८ सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २५९

६२९ दूसरे प्राणी जैसे मिथ्यात्वादि क्रम से पाप करते हैं, वैसे कर्मविदारण करने में महावीर साधक नही करता, क्योकि पाप कर्म पूर्वकृत पाप के प्रभाव से ही किये जाते हैं परन्तु उक्त महावीर पुरुष सुसयम के आश्रय से पूर्वकृत कर्मों को रोकता है, और अष्टविधकर्मों का त्याग करके मोक्ष के सम्मुख होता है ।

६३० जो समस्त साधुओ को मान्य है, उस पापरूप शल्य या पापरूप शल्य से उत्पन्न कर्म को काटने वाले सयम की साधना करके अनेक जीव (ससार सागर से) तिरे हैं, अथवा जिनके समस्त कर्म क्षय नही हुए है, वे वैमानिक देव हुए हैं ।

६३१ पूर्वकाल मे अनेक वीर (कर्मविदारण-समर्थ) हुए है, भविष्य मे भी अनेक सुव्रती पुरुष होगे—वे दुर्निबोध—दु ख से प्राप्त होने वाले (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप) मार्ग के अन्त (चरमसीमा) तक पहुँच कर, दूसरो के समक्ष भी उसी मार्ग को प्रकाशित (प्रदर्शित) करके तथा स्वय उस सन्मार्ग पर चलते हुए ससार सागर को पार हुए हैं, होगे और हो रहे है । —ऐसा मै कहता हूँ ।

विवेचन—संसारपारंगत साधना की साधना के विविध पहलू—प्रस्तुत पाच सूत्रगाथाओ से ससार-सागर पारगत साधक की साधना के विविध पहलू फलित होते है । वे इस प्रकार है—(१) जिनोपदिष्ट अनुत्तर सयम का पालन करके कई निर्वाण प्राप्त कर लेते हैं, ससार चक्र का अन्त कर देते है, (२) समस्त कर्मक्षय के लिए पण्डित वीर्य को प्राप्त करके अनेक नव सचित कर्मों को नष्ट कर दे और नवीन कर्मों को उपार्जित न करे, (३) कर्मविदारण-समर्थ साधक नवीन पापकर्म नही करता, बल्कि पूर्वकृत कर्मो को तप, सयम के बल से काट देता है, (४) पाप-कर्म को काटने के लिए साधक सयम की साधना करके ससार सागर से पार हो जाता है, या वैमानिक देव बन जाता है, (५) तीनो काल मे ऐसे महापुरुष होते है, जो रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग की साधना करके उसकी पराकाष्ठा पर पहुच कर दूसरो के समक्ष भी वही मार्ग प्रदर्शित करके ससार सागर को पार कर लेते है ।[९]

पाठान्तर और व्याख्या—**'णिव्वुडा'** के बदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—**'णिव्वुता'**; अर्थ होता है—पापकर्मो से निवृत्त । **'समुहीभूता'**—चूर्णिकार के अनुसार अर्थ है—सम्मुख हुए । **'वीरा'** के बदले कही-कही **'धीरा'** पाठ है, जिसका अर्थ होता है—परीषहोपसर्ग सहकर कर्म काटने मे सहिष्णु धृतिमान ।[१०]

।। जमतीत (यमकीय) : पन्द्रहवाँ अध्ययन समाप्त ।।

---

९ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्रांक २६० का सारांश

१० (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक २३०

(ख) सूयगडग चूर्णि (मू० पा० टि०) पृ० ११४ से ११५

गाथा : षोडश अध्ययन

प्राथमिक

☐ सूत्रकृताग सूत्र (प्र० श्रु०) के सोलहवे अध्ययन का नाम 'गाथा' है।

☐ गाथा-शब्द गृह, अध्ययन, ग्रन्थ-प्रकरण, छन्द विशेष, आर्या गीति, प्रशसा, प्रतिष्ठा, निश्चय आदि अर्थों मे प्रयुक्त होता है।[1]

☐ निर्युक्तिकार के अनुसार नाम, स्थापना के अतिरिक्त द्रव्यगाथा और भावगाथा, यो चार निक्षेप होते हैं। पुस्तको मे या पन्नो पर लिखी हुई गाथा (प्राकृत भाषा मे पद्य) द्रव्यगाथा है। 'गाथा' के प्रति क्षायोपशमिक भाव से निष्पन्न साकारोपयोग—भावगाथा है। क्योकि समग्र श्रुत (शास्त्र) क्षयोपशमभाव मे और साकारोपयोग-युक्त माना जाता है, श्रुत मे निराकारोपयोग सम्भव नही है।

☐ प्रस्तुत अध्ययन द्रव्यगाथा से सम्बन्धित है। निर्युक्तिकार और वृत्तिकार ने प्रस्तुत अध्ययन को द्रव्यगाथा की दृष्टि से गाथा कहने के पीछे निम्नोक्त विश्लेषण प्रस्तुत किया है—(१) जिसका उच्चारण मधुर, कर्णप्रिय एव सुन्दर हो, वह मधुरा (मधुर शब्द निर्मिता) गाथा है, (२) जो मधुर अक्षरो मे प्रवृत्त करके गाई या पढी जाए, वह भी गाथा है, (३) जो गाथा (सामुद्र) छन्द मे रचित मधुर प्राकृत शब्दावली से युक्त हो, वह गाथा है, (४) जो छन्दोबद्ध न होकर भी गद्यात्मक गेय पाठ हो, इस कारण इसका नाम भी गाथा है, (५) जिसमे बहुत-सा अर्थ-समूह एकत्र करके समाविष्ट किया गया हो अर्थात्—पूर्वोक्त १५ अध्ययनो मे कथित अर्थों (तथ्यो) को पिण्डित—एकत्रित करके प्रस्तुत अध्ययन मे समाविष्ट किये जाने से इस अध्ययन का नाम 'गाथा' रखा गया है, अथवा (६) पूर्वोक्त १५ अध्ययनो मे साधुओ के जो क्षमा आदि गुण विधि-निषेधरूप मे बताए गए हैं, वे इस सोलहवे अध्ययन मे एकत्र करके प्रशसात्मक रूप मे कहे जाने के कारण इस अध्ययन को 'गाथा' एव **'गाथा षोडशक'** भी कहते है।

☐ प्रस्तुत अध्ययन मे श्रमण, माहन, भिक्षु और निर्ग्रन्थ का स्वरूप पृथक्-पृथक् गुणनिष्पन्न-निर्वचन करके प्रशसात्मकरूप से बताया गया है।[2]

यह अध्ययन समस्त अध्ययनो का सार है, गद्यात्मक है तथा सूत्र सख्या ६३२ से प्रारम्भ होकर ६३७ पर समाप्त होता है। ☐☐

---

१ पाइअ-सद्द-महण्णवो, पृष्ठ २९३

२ (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गा० १३७ से १४१ तक (ख) सूत्रकृतांग शीलाकवृत्ति पत्राक २६१-२६२

गाथा : सोलसमं अज्झयणं

गाथा : षोडश अध्ययन

माहण-श्रमण—परिभाषा-स्वरूप

६३२. अहाह भगवं—एव से दंते दविए वोसट्ठकाए ति वच्चे माहणे ति वा १ समणे ति वा २, भिक्खू ति वा ३, णिग्गंथे ति वा ४।

६३३. पडिआह—भंते ! कहं दंते दविए वोसट्ठकाए ति वच्चे माहणे ति वा समणे ति वा भिक्खू ति वा णिग्गंथे ति वा ? तं नो बूहि महामुणी !

६३२ पूर्वोक्त पन्द्रह अध्ययन कहने के बाद भगवान् ने कहा—इस प्रकार (पन्द्रह अध्ययनो मे उक्त) अर्थों-गुणो से युक्त जो साधक दान्त (इन्द्रियो और मन को वश मे कर चुका) है, द्रव्य (भव्य—मोक्षगमनयोग्य) है, जिसने शरीर के प्रति ममत्व त्याग दिया है, उसे माहन, श्रमण, भिक्षु या निर्ग्रन्थ कहना चाहिए।

६३३ शिष्य ने प्रतिप्रश्न किया—भते ! पूर्वोक्त पन्द्रह अध्ययनो मे कथित अर्थों-गुणो से युक्त जो साधक दान्त है, भव्य है, शरीर के प्रति जिसने ममत्व का व्युत्सर्ग कर दिया है, उसे क्यो माहण, श्रमण भिक्षु या निर्ग्रन्थ कहना चाहिए ? हे महामुने ! कृपया यह हमे बताइए।

विवेचन—माहन, श्रमण, भिक्षु और निर्ग्रन्थ : स्वरूप और प्रतिप्रश्न—प्रस्तुत सूत्र मे सुधर्मास्वामी ने अपने शिष्यो के समक्ष पूर्वोक्त १५ अध्ययनो मे कथित साधुगुणो से युक्त साधक को भगवान् द्वारा माहन, श्रमण, भिक्षु और निर्ग्रन्थ कहे जाने का उल्लेख किया तो शिष्यो ने जिज्ञासावश प्रतिप्रश्न किया कि क्यो और किस अपेक्षा से उन्हे माहन आदि कहा जाए ?

इस प्रश्न के सामाधानार्थ अगले सूत्रो मे इन चारो का क्रमश लक्षण बताया गया है।

दान्त—जो साधक इन्द्रियो और मन का दमन करता है, उन्हे पापाचरण या सावद्यकार्य मे प्रवृत्त होने से रोकता है, यहाँ तक कि अपनी इन्द्रियो और मन को इतना अभ्यस्त कर लेता है कि वे कुमार्ग मे जाते ही नही।

व्युत्सृष्टकाय—जो शरीर को सजाने-सवारने, पुष्ट करने, श्रृ गारित करने आदि सब प्रकार के शरीर-सस्कारो और शरीर के प्रति ममत्व का त्याग कर चुका हो ।[1]

माहन स्वरूप

६३४. इति विरतसव्वपावकम्मे पेज्ज-दोस-कलह-अब्भक्खाण-पेसुन्न-परपरिवाय-अरतिरति-मायामोस-मिच्छादंसणसल्ले विरए समिते सहिते सदा जते णो कुज्झे णो माणी माहणे ति वच्चे ।

६३४. पूर्वोक्त पन्द्रह अध्ययनो मे जो उपदेश दिया है, उसके अनुसार आचरण करने वाला जो साधक समस्त पापकर्मों से विरत है, जो किसी पर राग या द्वेष नही करता, जो कलह से दूर रहता है, किसी पर मिथ्या दोषारोपण नही करता, किसी की चुगली नही करता, दूसरो की निन्दा नही करता, जिसकी सयम मे अरुचि (अरति) और असयम मे रुचि (रति) नही है, कपट-युक्त असत्य नही बोलता (दम्भ नही करता), अर्थात् अठारह ही पापस्थानो से विरत होता है, पाँच समितियो से युक्त और ज्ञान-दर्शन-चारित्र से सम्पन्न है, सदैव षड्जीवनिकाय की यतना—रक्षा करने मे तत्पर रहता है अथवा सदा इन्द्रियजयी होता है, किसी पर क्रोध नही करता, न अभिमान करता है, इन गुणो से सम्पन्न अनगार 'माहन' कहे जाने योग्य है ।

विवेचन—'माहन' का स्वरूप—किन गुणो से युक्त व्यक्ति को 'माहन' कहा जाना चाहिए ? इसका निरूपण प्रस्तुत सूत्र मे किया गया है ।

'माहन' का अर्थ और उक्त लक्षण—'माहन' पद मा+हन इन दो शब्दो से बनता है, अर्थ होता है—'किसी भी प्राणी का हनन मत करो', इस प्रकार का उपदेश जो दूसरों को देता है, अथवा जो स्वय त्रस-स्थावर, सूक्ष्म-बादर, किसी भी प्राणी की किसी प्रकार से हिंसा (हनन) नही करता । हिसा दो प्रकार की होती है—द्रव्यहिसा और भावहिसा । राग, द्वेष, कषाय, या असत्य, चोरी, मैथुन, परिग्रहवृत्ति आदि सब भावहिंसा के अन्तर्गत है । भावहिसा द्रव्यहिसा से बढकर भयकर है । 'माहन' दोनो प्रकार की हिंसा से विरत होता है । माहन को यहाँ भगवान् ने अठारह पापस्थानो से विरत बताया है, इसका अर्थ है, वह भावहिसा के इन मूल कारणो से विरत रहता है । फिर माहन को पच समिति एव त्रिगुप्ति से युक्त बताया है, इसका तात्पर्य है, वह असत्य, चोरी आदि भावहिंसाओ से रक्षा करने वाली समिति-गुप्ति से युक्त है । फिर सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयसम्पन्न माहन हिंसा निवारण के अमोघ उपायभूत मार्ग से सुशोभित है । हिसा से सर्वथा निवृत्त माहन षड्जीवनिकाय की रक्षा के लिए सदैव यत्नवान होता ही है । क्रोध और अभिमान—ये दो भावहिंसा के प्रधान जनक हैं । माहन क्रोधादि भावहिंसाजनक कषायो से दूर रहता है । ये सब गुण 'माहन' के अर्थ के साथ सुसगत हैं, इसलिए उक्त गुणो से सम्पन्न साधक को माहन कहना युक्तियुक्त है ।

---

१. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २६२

श्रमण स्वरूप

६३५. एत्थ वि समण अणिस्सिते अणिदाणे आदाणं च अतिवायं च मुसावायं च बहिद्धं च कोहं च माणं च मायं च लोभं च पेज्जं च दोसं च इच्चेवं जतो आदाणातो अप्पणो पदोसहेतुं ततो तओ आदाणातो पुव्वं पडिविरते > विरते पाणाइवायाओ < दंते दविए वोसट्ठकाए समणे त्ति वच्चे ।

६३५ जो साधु पूर्वोक्त विरति आदि गुणो से सम्पन्न है, उसे यहाँ (इस सूत्र में) कहे जाने वाले गुणो से भी सम्पन्न होना चाहिए । जो साधक अनिश्रित (शरीर आदि किसी भी पर-पदार्थ मे आसक्त या आश्रित नही) है, अनिदान (अपने तप-सयम के फल के रूप मे किसी भी प्रकार के इह-पारलौकिक सुख-भोगाकाक्षा से रहित) है, तथा कर्मबन्ध के कारणभूत प्राणातिपात, मृषावाद, मैथुन और परिग्रह (उपलक्षण से अदत्तादान) से रहित है, तथा क्रोध मान, माया, लोभ, राग और द्वेष नही करता । इस प्रकार जिन-जिन कर्मबन्ध के आदानो--कारणो से इहलोक-परलोक मे आत्मा की हानि होती है, तथा जो-जो आत्मा के लिए द्वेष के कारण हो, उन-उन कर्मबन्ध के कारणो से पहले से ही निवृत्त है, एव जो दान्त, भव्य (द्रव्य) तथा शरीर के प्रति ममत्व से रहित है, उसे श्रमण कहना चाहिए ।

विवेचन—श्रमण का स्वरूप—प्रस्तुत सूत्रगाथा मे यह बताया गया है कि 'किन विशिष्ट गुणो से सम्पन्न होने पर साधक को श्रमण कहा जा सकता है ।'

'श्रमण' का निर्वचन और लक्षण—प्राकृतभाषा के 'समण' शब्द के सस्कृत मे तीन रूपान्तर होते है—श्रमण, शमन और समन । श्रमण का अर्थ है—जो मोक्ष (कर्ममोक्ष) के लिए स्वय श्रम करता है, तपस्या करता है । शमन का अर्थ है—जो कषायो का उपशमन करता है, और समन का अर्थ है—जो प्राणिमात्र पर समभाव रखता है, अथवा शत्रु-मित्र पर जिसका मन सम—राग-द्वेषरहित—है । इन अर्थों के प्रकाश मे जब हम प्रस्तुत सूत्रोक्त श्रमण के लक्षण को कसते है तो वह पूर्णत खरा उतरता है । श्रमण का पहला लक्षण 'अनिश्रित' बताया है, वह इसलिए कि श्रमण किसी देव आदि का आश्रित बनकर नही जीता, वह तप-सयम मे स्वश्रम (पुरुषार्थ) के बल पर आगे बढता है । श्रमण जो भी तप करता है, वह कर्मक्षय के उद्देश्य से ही करता है । निदान करने से कर्मक्षय नही होता, इसलिए श्रमण का लक्षण 'अनिदान' बताया गया है । श्रमण सयम और तप मे जितना पराक्रम करता है, वह कर्मक्षय के लिए करता है, अत प्राणातिपात आदि जिन-जिन से कर्मबन्ध होता है, उनका वह शमन (विरति) करता है, उनसे दूर रहता है । क्रोधादि कषायो एव रागद्वेष आदि का शमन करता है । राग, द्वेष, मोह आदि के कारणो से दूर रहकर 'समन' समत्व मे स्थित रहता है ।

निष्कर्ष यह है **'अणिस्सिए'** से लेकर **'वोसट्ठकाए'** तक श्रमण के जितने गुण या लक्षण बताये हैं, वे सब 'समण' शब्द के तीनो रूपो मे आ जाते हैं । इसलिए उक्त गुणविशिष्ट साधक को 'श्रमण' कहा जाता है ।

भिक्षु-स्वरूप

६३६. एत्थ वि भिक्खू अणुन्नए नावणए णामए दंते दविए वोसट्ठकाए संविधुणीय विरूवरूवे परीसहोवसग्गे अज्झप्पजोगसुद्धादाणे उवट्ठिते ठितप्पा संखाए परदत्तभोई भिक्खु त्ति वच्चे ।

६३६ 'माहन' और 'श्रमण' की योग्यता के लिए जितने गुण पूर्वसूत्रो मे वर्णित है, वे सभी यहाँ वर्णित भिक्षु मे होने आवश्यक है। इसके अतिरिक्त ये विशिष्ट गुण भी भिक्षु मे होने चाहिए— वह अनुन्नत (निरभिमान) हो, (गुरु आदि के प्रति) विनीत हो, (अथवा ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि के प्रति विनयशील हो), किन्तु भाव से अवनत (दीन मन वाला) न हो, नामक (विनय से अष्ट प्रकार से अपनी आत्मा को नमाने वाला, अथवा सबके प्रति नम्र व्यवहार वाला) हो, दान्त हो, भव्य हो, कायममत्वरहित हो, नाना प्रकार के परीषहो और उपसर्गों का समभावपूर्वक सामना करके सहने वाला हो, अध्यात्मयोग (धर्मध्यान) से जिसका चारित्र (आदान) शुद्ध हो, जो सच्चारित्र-पालन मे उद्यत-उपस्थित हो, जो स्थितात्मा (स्थितप्रज्ञ, अथवा जिसकी आत्मा अपने शुद्ध भाव मे स्थित है, या मोक्षमार्ग मे स्थिरचित्त) हो तथा ससार की असारता जानकर जो परदत्तभोजी (गृहस्थ द्वारा प्रदत्त आहार से निर्वाह करने वाला) है, उस साधु को 'भिक्षु' कहना चाहिए।

विवेचन—भिक्षु का स्वरूप—प्रस्तुत सूत्र मे भिक्षु के विशिष्ट गुणो का निरूपण करते हुए उसका स्वरूप बताया गया है।

भिक्षु का अर्थ और सूत्रोक्त लक्षण—भिक्षु का सामान्य अर्थ होता है—भिक्षाजीवी। परन्तु त्यागी भिक्षु न तो भीख माँगने वाला होता है, न ही पेशेवर भिखारी, और न ही भिक्षा से पेट पालकर अपने शरीर को हृष्ट-पुष्ट बनाकर, आलसी एव निकम्मा बनकर पडे रहना उसका उद्देश्य होता है। आचार्य हरिभद्रसूरि के अनुसार उसकी भिक्षा न तो पौरुषघ्नी होती है और न ही आजीविका, वह सर्वसम्पत्करी होती है। अर्थात्—भिक्षु अहर्निश तप-सयम मे, स्वपर-कल्याण मे अथवा रत्नत्रय-रूप मोक्षमार्ग की साधना मे पुरुषार्थ के लिए भिक्षा ग्रहण करता है।

इस विशिष्ट अर्थ के प्रकाश मे जब हम प्रस्तुत सूत्रोक्त भिक्षु के विशिष्ट गुणात्मक स्वरूप की समीक्षा करते है तो भिक्षु के लिए बताए हुए सभी विशिष्ट गुण यथार्थ सिद्ध होते है। निर्ग्रन्थ भिक्षु का एक विशिष्ट गुण है—**'परदत्तभोजी'**। इस गुण का रहस्य यह है कि भिक्षु अहिंसा की दृष्टि से न तो स्वय भोजन पकाता या पकवाता है, न ही अपरिग्रह की दृष्टि से भोजन का सग्रह करता है, न भोजन खरीदता या खरीदवाता है, न खरीदा हुआ लेता है। इसी प्रकार अचौर्य की दृष्टि से गृहस्थ के यहाँ बने हुए भोजन को बिना पूछे उठाकर न लाता या ले लेता है, न छीनकर, चुराकर या लूटकर लेता है। वह निरामिषभोजी गृहस्थवर्ग के यहाँ उसके स्वय के लिए बनाये हुए आहार मे से भिक्षा के नियमानुसार गृहस्थ द्वारा प्रसन्नतापूर्वक दिया गया थोडा सा एषणीय, कल्पनीय और अचित्त पदार्थ लेता है।

भिक्षु के अन्य चार विशिष्ट गुण यहाँ बताये गये है—(१) **अनुन्नत, (२) नावनत, (३) विनीत या नामक और (४) दान्त।** अनुन्नत आदि चारो गुण इसलिए आवश्यक है कि कोई साधक जब भिक्षा को अपना अधिकार या आजीविका का साधन बना लेता है, तब उसमे अभिमान आ जाता है, वह उद्धत होकर गृहस्थो (अनुयायियो) पर धौंस जमाने लगता है, भिक्षा न देने पर श्राप या अनिष्ट कर देने का भय दिखाता है, या भिक्षा देने के लिए दबाव डालता है अथवा दीनता-हीनता या करुणता दिखाकर भोजन लेता है, अथवा भिक्षा न मिलने पर अपनी नम्रता छोडकर गाँव, नगर या उस गृहस्थ को कोसने या अपशब्दो से धिक्कारने लगता है, अथवा अपनी जिह्वा आदि पर सयम न रखकर सरस, स्वादिष्ट, पौष्टिक वस्तु की लालसावश सम्पन्न घरो मे ताक-ताक कर जाता है, अगारादि दोषो का सेवन कर अपनी जितेन्द्रियता को खो बैठता है। अत भिक्षु का अनुन्नत, नावनत (अदीन), नामक (विनीत या नम्र) और दान्त होना परम आवश्यक है।

ये चार गुण भिक्षा-विधि मे तो लक्षित होते ही हैं, इसके अतिरिक्त साधक के जीवन मे प्रत्येक क्षेत्र मे इन गुणो की प्रतिच्छाया आनी चाहिए। क्योकि जीवन मे सर्वत्र सर्वदा ही ये गुण आवश्यक हैं।

इसी दृष्टि से आगे **'व्युत्सृष्टकाय', 'संख्यात' 'स्थितात्मा'** और **'उपस्थित'** ये चार विशिष्ट भिक्षु के गुण बताये हैं। इन गुणो का क्रमश रहस्य यह है कि (१) भिक्षु अपने शरीर पर ममत्व रखकर उसी को हृष्ट-पुष्ट एव बलिष्ठ बनाने मे न लग जाए, किन्तु शरीर पर ममत्व न रखकर कल्पनीय, एषणीय, सात्त्विक यथाप्राप्त आहार से निर्वाह करे। (२) साधु अपने शरीर के स्वभाव का चिन्तन करे कि इसे जितना भी भरा जाता है, वह मल के रूप मे निकल जाता है, अत दोषयुक्त, पौष्टिक, स्वादिष्ट एव अत्यधिक आहार से पेट भरने की अपेक्षा एषणीय, कल्पनीय, सात्त्विक, अल्पतम आहार से भरकर काम क्यो न चला लू ? मै शरीर को लेकर पराधीन, परवश न बनूँ। (३) स्थितात्मा होकर भिक्षु अपने आत्मभावो मे, या मोक्षमार्ग मे स्थिर रहे, आत्मगुण-चिन्तन मे लीन रहे, खाने-पीने आदि पदार्थों को पाने और सेवन करने का चिन्तन न करे। (४) भिक्षु अपने सच्चारित्र पालन मे उद्यत रहे, उसी का ध्यान रखे, चिन्तन करे, अपने शरीर और शरीर से सम्बन्धित वस्तुओ के चिन्तन मे मन को प्रवृत्त न करे।

अन्तिम दो विशेषण भिक्षु की विशेषता सूचित करते है—(१) अध्यात्म-शुद्धादान और (२) नाना परीषहोपसर्गसहिष्णु। कई भिक्षु भिक्षा न मिलने या मनोऽनुकल न मिलने पर आर्त्तध्यान या रौद्रध्यान करने लगते हैं, यह भिक्षु का पतन है, उसे धर्मध्यानादिरूप अध्यात्मयोग से अपने चारित्र को शुद्ध रखने, रत्नत्रयाराधना-प्रधान चिन्तन करने का प्रयत्न करना चाहिए। साथ ही भिक्षाटन के या भिक्षु के विचरण के दौरान कोई परीषह या उपसर्ग आ पडे तो उस समय मन मे दैन्य या सयम से पलायन का विचार न लाकर उस परीषह या उपसर्ग को समभाव से सहन करना ही भिक्षु का गुण है।

वास्तव मे, ये गुण भिक्षु मे होगे, तभी वह सच्चे अर्थ मे भिक्षु कहलाएगा।

निर्ग्रन्थ-स्वरूप

६३७. एत्थ वि णिग्गंथे एगे एगविऊ बुद्धे संछिण्णसोते सुसंजते सुसमिते सुसामाइए आयवायपत्ते य विदू दुहतो वि सोयपलिच्छिण्णे णो पूया-सक्कार-लाभट्ठी धम्मट्ठी धम्मविदू णियागपडिवण्णे समियं चरे दंते दविए वोसट्ठकाए निग्गंथे त्ति वच्चे ।
से एवमेव जाणह जमहं भयतारो त्ति बेमि ।

।। गाहा : सोलसमं अज्झयणं सम्मत्तं ।।

।। पढमो सुयक्खंधो सम्मत्तो ।।

६३७ पूर्वसूत्र मे बताये गये भिक्षुगुणो के अतिरिक्त निर्ग्रन्थ मे यहाँ वर्णित कुछ विशिष्ट गुण होने आवश्यक है—जो साधक एक (द्रव्य से सहायकरहित अकेला और भाव से रागद्वेषरहित एकाकी आत्मा) हो, जो एकवेत्ता (यह आत्मा परलोक मे एकाकी जाता है, इसे भली-भाँति जानता हो या एकमात्र मोक्ष या सयम को ही जानता) हो, जो बुद्ध (वस्तुतत्त्वज्ञ) हो, जो सच्छिन्न स्रोत (जिसने आस्रवो के स्रोत—द्वार बन्द कर दिये) हो, जो सुसयत (निष्प्रयोजन शरीर क्रिया पर नियन्त्रण रखता हो, अथवा इन्द्रिय और मन पर सयम रखता) हो, जो सुसमित (पाच समितियो से युक्त) हो, जो सुसामायिक युक्त (शत्रु-मित्र आदि पर समभाव रखता) हो, जो आत्मवाद-प्राप्त (आत्मा के नित्यानित्य आदि समग्र स्वरूप का यथार्थ रूप से ज्ञाता) हो, जो समस्त पदार्थों के स्वभाव को जानता हो, जिसने द्रव्य और भाव दोनो तरह से ससारागमन स्रोत (मार्ग) को बन्द कर दिया हो, जो पूजा, सत्कार एव द्रव्यादि के लाभ का अभिलाषी नही हो, जो एकमात्र धर्मार्थी और धर्मवेत्ता हो, जिसने नियाग (मोक्षमार्ग या सत्सयम) को सब प्रकार से स्वीकार (प्राप्त) कर लिया हो, जो समत्व मे विचरण करता हो। इस प्रकार का जो साधु दान्त, भव्य हो और काया से आसक्ति हटा चुका हो, उसे निर्ग्रन्थ कहना चाहिए।

अत आप लोग इसी तरह समझे, जैसा मैंने कहा है, क्योकि भय से जीवो के त्राता सर्वज्ञ तीर्थंकर आप्त पुरुष अन्यथा नही कहते।

—ऐसा मै कहता हूँ।

विवेचन—निर्ग्रन्थ का स्वरूप—प्रस्तुत सूत्र मे विभिन्न पहलुओ से निर्ग्रन्थ का स्वरूप बताया गया है।

निर्ग्रन्थ का अर्थ और विशिष्ट गुणों की संगति—निर्ग्रन्थ वह कहलाता है, जो बाह्य और आभ्यन्तर ग्रन्थो से रहित हो। सहायकता या रागद्वेषयुक्तता, सासारिक सजीव-निर्जीव पर-पदार्थों को अपने मान कर उनसे सुख-प्राप्ति या स्वार्थ-पूर्ति की आशा रखना, वस्तुतत्त्व की अनभिज्ञता, आस्रव द्वारो को न रोकना, मन और इन्द्रियो पर असयम—परवशता, शत्रु-मित्र आदि पर राग-द्वेषादि विषम-भाव, आत्मा के सच्चे स्वरूप को न जानकर शरीरादि को ही आत्मा समझना, द्रव्य-भाव से ससार-स्रोत को खुला रखना, पूजा, सत्कार, या द्रव्य आदि के लाभ की आकाक्षा करना आदि वे ग्रन्थियाँ हैं, जिनसे निर्ग्रन्थता समाप्त हो जाती है। बाह्य-आभ्यन्तर गाँठे निर्ग्रन्थ जीवन को खोखला बना देती

है । इसीलिए शास्त्रकार ने निर्ग्रन्थ के लिए एक, एकवित्, बुद्ध, सच्छिन्नस्रोत, सुसयत, सुसमित, सुसामायित, आत्मवाद-प्राप्त, स्रोतपरिच्छिन्न, अपूजा-सत्कार-लाभार्थी, आदि विशिष्ट गुण अनिवार्य बताये है । क्योकि एक आदि गुणो के तत्त्वो का परिज्ञान होने पर ही सग, सयोग, सम्बन्ध, सहायक सुख-दु ख-प्रदाता आदि की ग्रन्थि टूटती है । साथ ही विधेयात्मक गुणो के रूप मे धर्मार्थी, धर्मवेत्ता, नियाग-प्रतिपन्न, समत्वचारी, दान्त, भव्य एव व्युत्सृष्टकाय आदि विशिष्ट गुणो का विधान भी किया है जो राग-द्वेष, वैर, मोह, हिंसादि पापो की ग्रन्थि से बचाएगा । अत वास्तव मे निर्ग्रन्थत्व के इन गुणो से सुशोभित साधु ही निर्ग्रन्थ कहलाने का अधिकारी है ।

इस प्रकार माहन, श्रमण, भिक्षु और निर्ग्रन्थ के उत्तरोत्तर विशिष्ट गुणात्मक स्वरूप भगवान् महावीर ने बताये है । ये सब भिन्न-भिन्न शब्द और विभिन्न प्रवृत्ति निमित्तक होते हुए भी कथचित् एकार्थक है, परस्पर अविनाभावी है ।

आप्त पुरुष के इस कथन की सत्यता मे सदेह नहीं—प्रस्तुत अध्ययन एव श्रुतस्कन्ध का उपसहार करते हुए श्री सुधर्मास्वामी श्री जम्बूस्वामी आदि शिष्यवर्ग से अपने द्वारा उक्त कथन की सत्यता को प्रमाणित करते हुए कहते है कि मेरे पूर्वोक्त कथन की सत्यता मे किसी प्रकार की शका न करे, क्योकि मैने वीतराग, आप्त, सर्वजीवहितैषी, भयत्राता, तीर्थकर द्वारा उपदिष्ट बाते ही कही है । वे अन्यथा उपदेश नही करते ।[२]

।। गाहा (गाथा) : षोडश अध्ययन समाप्त ।।

।। सूत्रकृताग प्रथम श्रुतस्कन्ध सम्पूर्ण ।।

□□

२ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक २६५ पर से

सूत्रकृतांगसूत्र : द्वितीय श्रुतस्कन्ध

□

परिचय

□ सूत्रकृताग सूत्र के इस द्वितीय श्रुतस्कन्ध को निर्युक्तिकार और वृत्तिकार ने 'महाध्ययन' भी कहा है, जिसके दो कारण बताए है- (१) इस श्रुतस्कन्ध के अध्ययन बहुत बडे-बडे है (२) प्रथम श्रुतस्कन्ध मे उक्त सक्षिप्त विषय इन अध्ययनो मे दृष्टात देकर विस्तारपूर्वक वर्णित है ।[१]

□ द्वितीय श्रुतस्कन्ध के सात अध्ययन हैं। इन के नाम इस प्रकार है- (१) पुण्डरीक, (२) क्रियास्थान, (३) आहारपरिज्ञा (४) प्रत्याख्यानक्रिया (५) आचारश्रुत या आगारश्रुत (६) आर्द्रकीय, और (७) नालन्दीय ।

□ इन सात अध्ययनो मे से 'आचारश्रुत' और 'आर्द्रकीय' ये दो अध्ययन पद्यरूप है, शेष पाच अध्ययन गद्यरूप है। आहारपरिज्ञा मे केवल चार पद्य है, शेष समग्र अध्ययन गद्यमय है। निर्युक्तिकार इन सात अध्ययनो को क्रमश १७वे अध्ययन से २३वे अध्ययन तक मानते है ।[२]

□□

---

१ (क) सूत्रकृताग निर्युक्ति गा० १४२-१४३

(ख) सूत्रकृतांग शीलाकवृत्ति पत्रांक २६७

२ सूत्रकृतांग निर्युक्तिगाथा २२

पौण्डरीक : प्रथम अध्ययन

प्राथमिक

☐ सूत्रकृतागसूत्र (द्वि० श्रु०) के प्रथम अध्ययन का नाम 'पौण्डरीक' है।

☐ पुण्डरीक शब्द श्वेत शतपत्र (सौ पखुडियो वाले उत्तम श्वेत कमल), तथा पुण्डरीक नामक एक राजा (जो उत्तम संयमनिष्ठ साधु बना) के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

☐ निर्युक्तिकार ने पुण्डरीक के नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, गणन, सस्थान और भाव, ये आठ निक्षेप किये हैं, नामपुण्डरीक तथा स्थापनापुण्डरीक सुगम हैं। द्रव्यपुण्डरीक सचित्त-अचित्त, मिश्र तीन प्रकार के होते हैं।

☐ द्रव्यपुण्डरीक का अर्थ है—सचित्तादि द्रव्यो मे जो श्रेष्ठ, उत्तम, प्रधान, प्रवर, एव ऋद्धिमान् हो। इस दृष्टि से नरकगति को छोड कर शेष तीनो गतियो मे जो-जो सुन्दर या श्रेष्ठ पदार्थ हो, उसे पुण्डरीक और निकृष्ट को कण्डरीक समझना चाहिए। जलचर, स्थलचर, खेचर, उरपरिसर्प एव भुजपरिसर्प मे स्वभाव से या लोकानुश्रुति से जो प्रवर व प्रधान हैं, वे द्रव्यपुण्डरीक हैं। मनुष्यो मे अरिहन्त, चक्रवर्ती, चारणश्रमण, विद्याधर, हरिवशादि उच्चकुलोत्पन्न तथा ऋद्धिसम्पन्न आदि द्रव्यपौण्डरीक है। चारो निकायो के देवो मे इन्द्र, सामानिक आदि प्रधान होने से पौण्डरीक है। इसी प्रकार अचित्त एवं मिश्र द्रव्य पौण्डरीक समझ लेने चाहिए।

☐ देवकुरु आदि शुभ प्रभाव, एव भाव वाले क्षेत्र क्षेत्रपौण्डरीक हैं।

☐ भवस्थिति की दृष्टि से अनुत्तरौपपातिक देव तथा कायस्थिति की दृष्टि से एक, दो, तीन या सात-आठ भवो के अनन्तर मोक्ष पाने वाले शुभ एव शुद्धाचार से युक्त मनुष्य कालपौण्डरीक है।

☐ परिकर्म, रज्जु आदि से लेकर वर्ग तक दस प्रकार के गणित मे रज्जुगणित प्रधान होने से वह गणनपौण्डरीक है।

☐ छह सस्थानो मे समचतुरस्र सस्थान श्रेष्ठ होने से सस्थानपौण्डरीक है।

☐ औदयिक से लेकर सान्निपातिक तक छह भावो में से जिस-जिस भाव में जो प्रधान या प्रवर हो, वे भावपौण्डरीक हैं, शेष भावकण्डरीक हैं। जैसे कि औदयिक भाव मे तीर्थंकर, अनुत्तरौपपातिक देव, तथा श्वेत शतपत्रवाला कमल हैं, इसी तरह अन्य भावो मे भी जो श्रेष्ठ है, वे भावपौण्डरीक है। अथवा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मे, ज्ञानादिविनय मे तथा धर्मध्यानादि अध्यात्म मे जो श्रेष्ठ मुनि है, वे भावत पौण्डरीक हैं, शेष कण्डरीक है।

☐ प्रस्तुत अध्ययन मे सचित्त तिर्यञ्चयोनिक एकेन्द्रिय वनस्पतिकायिक श्वेतकमलरूप द्रव्य-पौण्डरीक का अथवा औदयिक भाववर्ती वनस्पतिकायिक श्वेतशतपत्र रूप भावपौण्डरीक का, तथा सम्यग्दर्शन, चारित्र, विनय-अध्यात्मवर्ती सुसाधु-श्रमण रूप भावपौण्डरीक का वर्णन है।[1]

---

१ (क) सूत्रकृताग निर्युक्ति गा० १४४-१५७ तक

(ख) सूत्रकृतांग शीलाकवृत्ति पत्रांक २६८-२६९ का सा श

- पुण्डरीक नामक श्वेतकमल से उपमा देकर वर्णन किया गया है, अथवा आदि में पौण्डरीक नाम ग्रहण किया गया है, इस कारण इस अध्ययन का 'पौण्डरीक' नाम रखा गया है।[1]

- एक विशाल पुष्करिणी मे मध्य मे एक पुण्डरीक कमल खिला है, उसे प्राप्त करने के लिए पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशा से क्रमश चार व्यक्ति आए। चारो ही पुष्करिणी के गाढ कीचड मे फस गए, पुण्डरीक को पाने मे असफल रहे। अन्त मे एक नि स्पृह सयमी श्रमण आया। उसने पुष्करिणी के तट पर ही खडे रह कर पुण्डरीक को पुकारा और वह उसके हाथ मे आ गया।

  प्रस्तुत रूपक का सार यह है—ससार पुष्करिणी के समान है, उसमे कर्मरूपी पानी और विषयभोगरूपी कीचड भरा है। अनेक जनपद चारो ओर खिले कमलो के सदृश है। मध्य मे विकसित श्वेत पुण्डरीक कमल राजा के सदृश है। पुष्करिणी मे प्रवेश करने वाले चारो पुरुष क्रमश तज्जीव-तच्छरीरवादी, पचभूतवादी, ईश्वरकारणवादी और नियतिवादी है। ये चारो ही विषयभोगरूप पक मे निमग्न हो कर पुण्डरीक को पाने मे असफल रहे। अन्त मे जिनप्रणीत-धर्मकुशल श्रमण आया। तट धर्मतीर्थ रूप है। श्रमण द्वारा कथित शब्द धर्मकथा सदृश है और पुण्डरीक कमल का उठना निर्वाण के समान है। जो अनासक्त, नि स्पृह और सत्य-अहिंसादि महाव्रतो के निष्ठापूर्वक पालक है, वे ही निर्वाण को प्राप्त कर सकते है, जो विपरीत सावद्य आचार-विचारवाले है, वे निर्वाण प्राप्त नही कर सकते। यही प्रथम अध्ययन के उपमायुक्त वर्णन का सार है।[2]

- प्रस्तुत अध्ययन मे पुष्करिणी मे पुण्डरीक कमल-प्राप्ति की उपमा देकर यह भी सकेत किया गया है कि जो लोग प्रव्रज्याधारी हो कर भी विषयपक मे निमग्न है, वे स्वय ससारसागर को पार नही कर सकते, तब दूसरो को कैसे पार पहुचा सकेंगे ?

- गद्यमय इस अध्ययन का मूल उद्देश्य विषयभोग से या विपरीत आचार-विचार से निवृत्त करके मुमुक्षु जीवो को मोक्षमार्ग मे प्रवृत्त करना है।

- इस अध्ययन के कुछ शब्द और वाक्य आचाराग के शब्दो एव वाक्यो से मिलते-जुलते है।

- यह महाऽध्ययन सूत्र ६३८ से प्रारम्भ होकर सूत्र ६९३ पर समाप्त होता है।

□□

---

१ (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २७१
  (ख) सूयगडग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० १२१

२ (क) जैनागमसाहित्य मनन और मीमासा पृ० ८६, ८७
  (ख) जैनसाहित्य का बृहद् इतिहास, भा० १, पृ० १५७-१५८

पोंडरीयं : पढमं अज्झयणं

पौण्डरीक : प्रथम अध्ययन

पुष्करिणी और उसके मध्य में विकसित पुण्डरीक का वर्णन

६३८. सुयं मे आउसंतेण भगवता एवमक्खाय—इह खलु पोंडरीए णाम अज्झयणे, तस्स ण अयमट्ठे पण्णत्ते— से जहाणामए पोक्खरणी सिया बहुउदगा बहुसेया बहुपुक्खला लद्धट्ठा पुंडरीगिणी पासादिया दरिसणीया अभिरूवा पडिरूवा।

तीसे ण पुक्खरणीए तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं बहवे पउमवरपोंडरिया बुइया अणुपुव्वट्ठिया ऊसिया रुइला वण्णमंता गंधमंता रसमंता फासमंता पासादीया दरिसणीया अभिरूवा पडिरूवा।

तीसे ण पुक्खरणीए बहुमज्झदेसभाए एगे महं पउमवरपोंडरीए बुइए अणुपुव्वट्ठिए ऊसिते रुइले वण्णमंते गंधमंते रसमंते फासमंते पासादीए दरिसणिए अभिरूवे पडिरूवे।

सव्वावंति च ण तीसे पुक्खरणीए तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं बहवे पउमवरपुंडरीया बुइया अणुपुव्वट्ठिता जाव पडिरूवा। सव्वावंति च ण तीसे पुक्खरणीए बहुमज्झदेसभागे एगे महं पउमवर-पोंडरीए बुइते अणुपुव्वट्ठिते जाव पडिरूवे।

६३८ (श्रीसुधर्मास्वामी श्रीजम्बूस्वामी से कहते है) हे आयुष्मन्! मैने सुना है—'उन भगवान् ने ऐसा कहा था'— इस आर्हत प्रवचन में पौण्डरीक नामक एक अध्ययन है, उसका यह अर्थ—भाव उन्होने बताया—कल्पना करो कि जैसे—कोई पुष्करिणी (कमलो वाली बावडी) है, जो अगाध जल से परिपूर्ण है, बहुत कीचडवाली है, (अथवा बहुत से श्वेत पद्म होने तथा स्वच्छ जल होने से अत्यन्त श्वेत है), बहुत पानी होने से अत्यन्त गहरी है अथवा बहुत-से कमलो से युक्त है। वह पुष्करिणी (कमलो वाली इस) नाम को सार्थक करनेवाली या यथार्थ नाम वाली, अथवा जगत् मे लब्धप्रतिष्ठ है। वह प्रचुर पुण्डरीको—श्वेतकमलो से सम्पन्न है। वह पुष्करिणी देखने मात्र से चित्त को प्रसन्न करनेवाली, दर्शनीय, प्रशस्तरूपसम्पन्न, अद्वितीयरूपवाली (अत्यन्त मनोहर) है।

उस पुष्करिणी के देश-देश (प्रत्येक देश) मे, तथा उन-उन प्रदेशो मे—यत्र-तत्र बहुत-से उत्तमोत्तम पौण्डरीक (श्वेतकमल) कहे गए हैं, जो क्रमश ऊँचे उठे (उभरे) हुए है। वे पानी और कीचड से ऊपर उठे हुए है। अत्यन्त दीप्तिमान् हैं, रग-रूप मे अतीव सुन्दर है, सुगन्धित है, रसो से युक्त हैं, कोमल स्पर्शवाले है, चित्त को प्रसन्न करनेवाले, दर्शनीय, अद्वितीय रूपसम्पन्न एव सुन्दर है।

उस पुष्करिणी के ठीक बीचोबीच (मध्य भाग मे) एक बहुत बडा तथा कमलो मे श्रेष्ठ

पौण्डरीक (श्वेत) कमल स्थित बताया गया है। वह भी उत्तमोत्तम क्रम से विलक्षण रचना से युक्त है, तथा कीचड और जल से ऊपर उठा हुआ है, अथवा बहुत ऊँचा है। वह अत्यन्त रुचिकर या दीप्तिमान् है, मनोज्ञ है, उत्तम सुगन्ध से युक्त है, विलक्षण रसो से सम्पन्न है, कोमलस्पर्श युक्त है, अत्यन्त आह्लादक दर्शनीय, मनोहर और अतिसुन्दर है।

(निष्कर्ष यह है) उस सारी पुष्करिणी में जहाँ-तहाँ, इधर-उधर सभी देश-प्रदेशों मे बहुत से उत्तमोत्तम पुण्डरीक (श्वेत कमल) भरे पड़े (बताए गए) हैं। वे क्रमशः उतार-चढ़ाव से सुन्दर रचना से युक्त हैं, जल और पक से ऊपर उठे हुए, काफी ऊँचे, विलक्षण दीप्तिमान् उत्तम वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श से युक्त तथा पूर्वोक्त गुणो से सम्पन्न अत्यन्त रूपवान् एव अद्वितीय सुन्दर हैं।

उस समग्र पुष्करिणी के ठीक बीच मे एक महान् उत्तमपुण्डरीक (श्वेतकमल) बताया गया है, जो क्रमश उभरा हुआ यावत् (पूर्वोक्त) सभी गुणो से सुशोभित बहुत मनोरम है।

विवेचन—पुष्करिणी और उसके मध्य मे विकसित पुण्डरीक का वर्णन—प्रस्तुत सूत्र में शास्त्रकार ने ससार का मोहक स्वरूप सरलता से समझाने और उसके आकर्षण से ऊपर उठकर साधक को मोक्ष के अभिमुख करने के लिए पुष्करिणी और पुण्डरीक के रूपक का अवलम्बन लिया है।

पुष्करिणी के विस्तृत वर्णन के पीछे दो मुख्य रहस्य प्रतीत होते हैं—

(१) पुष्करिणी की विशालता एव व्यापकता से ससार की भी व्यापकता (चतुर्गतिपर्यन्त तथा अनन्तकालपर्यन्त) और विशालता (चतुर्दशरज्जुपरिमित) को साधक समझले।

(२) जैसे इसमें विविध कमल, उनकी स्वाभाविक सजावट, उनकी वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श की उत्तमता आदि चित्ताकर्षक एव मनोहारी होने से व्यक्ति उन्हें पाने के लिए ललचाता है, वैसे ही जगत् के विविध विषयो और चित्ताकर्षक भोगोपभोगयोग्य पदार्थों की बाह्य सुन्दरता, मोहकता आदि देख कर अपरिपक्व साधक सहसा ललचा जाता है। इसी प्रकार पुण्डरीक कमल के छटादार वर्णन के पीछे दो प्रेरणाएँ प्रतीत होती है—(१) पुण्डरीक के समान ससार के विषयभोगरूपी पक एव कर्म-जल से ऊपर उठकर सयमरूप श्वेतकमल को ग्रहण करे, और (२) मोक्ष-प्राप्ति के लिए ससार की मोहमाया से ऊपर उठकर साधक श्रेष्ठ पुण्डरीकसम सम्यग्दर्शनादि रूप धर्म को अपनाए।[१]

'सव्वावंति' पद से पुष्करिणी और पौण्डरीक कमल के वर्णन को सक्षेप मे दोहराने के पीछे शास्त्रकार का आशय पुष्करिणी और पौण्डरीक दोनो के चित्ताकर्षक वर्णन का निष्कर्ष बताना प्रतीत होता है। वृत्तिकार का आशय तो मूलार्थ मे दिया जा चुका है। चूर्णिकार का आशय यह है—"सभी मृणाल, नाल, पत्र, केसर, किंजल्क (कली) से युक्त अनुक्रम से प्राप्त, अथवा जहाँ-तहाँ उतार-चढाव से उभरे हुए पुण्डरीक कमल।"[२]

---

१ सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २७१ पर से

२ (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २७२ पर से

(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० १२२

श्रेष्ठ पुण्डरीक को पाने में असफल चार पुरुष

६३९. अह पुरिसे पुरत्थिमातो दिसातो आगम्म तं पुक्खरणीं तीसे पुक्खरणीए तीरे ठिच्चा पासति त महं एगं पउमवरपोंडरीय अणुपुव्वट्ठितं ऊसिय जाव पडिरूव ।

तए णं से पुरिसे एव वदासी—अहमसि पुरिसे खेत्तण्णे कुसले पंडिते वियत्ते मेधावी अबाले मग्गत्थे मग्गविदू मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू, अहमेय पउमवरपोंडरीयं उन्निक्खेस्सामि त्ति कट्टु इति वच्चा से पुरिसे अभिक्कमे तं पुक्खरणिं, जाव जावं च णं अभिक्कमे ताव ताव च णं महते उदए, महते सेए, पहीणे तीर, अप्पत्ते पउमवरपोंडरीय, णो हव्वाए णो पाराए, अतरा पोक्खरणीए सेयसि विसण्णे पढमे पुरिसज्जाए ।

६३९ अब कोई पुरुष पूर्वदिशा से उस पुष्करिणी के पास आकार उस पुष्करिणी के तीर (किनारे) पर खडा होकर उस महान् उत्तम एक पुण्डरीक को देखता है, जो क्रमश (उतार-चढाव के कारण) सुन्दर रचना से युक्त तथा जल और कीचड से ऊपर उठा हुआ एव यावत् (पूर्वोक्त विशेषणो से युक्त) बडा ही मनोहर है ।

इसके पश्चात् उस श्वेतकमल को देखकर उस पुरुष ने (मन ही मन) इस प्रकार कहा—"मै पुरुष हूँ, खेदज्ञ (क्षेत्रज्ञ या निपुण) हूँ, कुशल (हित मे प्रवृत्ति एव अहित से निवृत्ति करने मे निपुण) हूँ, पण्डित (पाप से दूर, धर्मज्ञ या देशकालज्ञ), व्यक्त (बाल-भाव से निष्क्रान्त-वयस्क अथवा परिपक्व-बुद्धि), मेधावी (बुद्धिमान्) तथा अबाल (बालभाव से निवृत्त—युवक) हूँ । मै मार्गस्थ (सज्जनो द्वारा आचरित मार्ग पर स्थित हूँ, मार्ग का ज्ञाता हूँ, मार्ग की गति एव पराक्रम का (जिस मार्ग से चलकर जीव अपने अभीष्टदेश मे पहुँचता है, उसका) विशेषज्ञ हूँ । मै कमलो मे श्रेष्ठ इस पुण्डरीक कमल को (उखाडकर) बाहर निकाल लूँगा । इस इच्छा से यहाँ आया हूँ—यह कहकर वह पुरुष उस पुष्करिणी मे प्रवेश करता है । वह ज्यो-ज्यो उस पुष्करिणी मे आगे बढता जाता है, त्यो-त्यो उसमे अधिकाधिक गहरा पानी और कीचड का उसे सामना करना पडता है । अत वह व्यक्ति तीर से भी हट चुका और श्रेष्ठ पुण्डरीक कमल के पास भी नही पहुँच पाया । वह न इस पार का रहा, न उस पार का । अपितु उस पुष्करिणी के बीच मे ही गहरे कीचड मे फस कर अत्यन्त क्लेश पाता है । यह प्रथम पुरुष की कथा है ।

६४०. अहावरे दोच्चे पुरिसज्जाए ।

अह पुरिसे दक्खिणातो दिसातो आगम्म त पुक्खरिणीं तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा पासति तं महं एगं पउमवरपोंडरीय अणुपुव्वट्ठितं जाव पडिरूव, त च एत्थ एग पुरिसजात पासति पहीण तीर, अपत्तं पउमवरपोंडरीयं, णो हव्वाए णो पाराए, अतरा पोक्खरणीए सेयसि विसण्ण ।

तए णं से पुरिसे तं पुरिसं एव वदासी—अहो णं इमे पुरिसे अखेयण्णे अकुसले अपंडिते अवियत्ते अमेहावी बाले णो मग्गत्थे णो मग्गविऊ णो मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू जं णं एस पुरिसे 'खेयन्ने कुसले

जाव पउमवरपोंडरीयं उण्णिक्खेस्सामि,' णो य खलु एतं पउमवरपोंडरीयं एवं उण्णिक्खेयव्वं जहा णं एस पुरिसे मन्ने।

अहमंसि पुरिसे खेयण्णे कुसले पंडिए वियत्ते मेहावी अबाले मग्गत्थे मग्गविऊ मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू, अहमेय पउमवरपोंडरीय उण्णिक्खिस्सामि त्ति कट्टु इति वच्चा से पुरिसे अभिक्कमे त पुक्खरणिं, जाव जाव च णं अभिक्कमे ताव तावं च णं महंते उदए महते सेए, पहीणे तीर, अप्पत्ते पउमवरपोडरीय, णो हव्वाए णो पाराए, अंतरा सेयंसि विसण्णे दोच्चे पुरिसजाते।

६४० अब दूसरे पुरुष का वृत्तान्त बताया जाता है।

(पहले पुरुष के कीचड मे फस जाने के बाद) दूसरा पुरुष दक्षिण दिशा से उस पुष्करिणी के पास आकर उस (पुष्करिणी) के दक्षिण किनारे पर ठहर कर उस श्रेष्ठ पुण्डरीक को देखता है, जो विशिष्ट क्रमबद्ध रचना से युक्त है, यावत् (पूर्वोक्त विशेषणो से युक्त) अत्यन्त सुन्दर है। वहाँ (खडा-खडा) वह उस (एक) पुरुष को देखता है, जो किनारे से बहुत दूर हट चुका है, और उस प्रधान श्वेत-कमल तक पहुँच नही पाया है, जो न इधर का रहा है, न उधर का, बल्कि उस पुष्करिणी के बीच मे ही कीचड मे फस गया है।

तदनन्तर दक्षिण दिशा से आये हुए इस दूसरे पुरुष ने उस पहले पुरुष के विषय मे कहा कि—"अहो! यह पुरुष खेदज्ञ (मार्गजनित खेद-परिश्रम को जानता) नही है, (अथवा इस क्षेत्र का अनुभवी नही है), यह अकुशल है, पण्डित नही है, परिपक्व बुद्धिवाला तथा चतुर नही है, यह अभी बाल—अज्ञानी है। यह सत्पुरुषो के मार्ग मे स्थित नही है, न ही यह व्यक्ति मार्गवेत्ता है। जिस मार्ग से चलकर मनुष्य अपने अभीष्ट उद्देश्य को प्राप्त करता है, उस मार्ग की गतिविधि तथा पराक्रम को यह नही जानता। जैसा कि इस व्यक्ति ने यह समझा था कि मै बडा खेदज्ञ या क्षेत्रज्ञ हूं, कुशल हूँ, यावत् पूर्वोक्त विशेषताओ से युक्त हूँ, मै इस पुण्डरीक को उखाडकर ले आऊँगा, किन्तु यह पुण्डरीक इस तरह उखाड कर नही लाया जा सकता जैसा कि यह व्यक्ति समझ रहा है।"

"मै खेदज्ञ (या क्षेत्रज्ञ) पुरुष हूँ, मैं इस कार्य मे कुशल हूँ, हिताहित विज्ञ हूँ, परिपक्वबुद्धि-सम्पन्नप्रौढ हूँ, तथा मेधावी हूँ, मे नादान बच्चा नही हूँ, पूर्वज सज्जनो द्वारा आचरित मार्ग पर स्थित हूँ, उस पथ का ज्ञाता हूं, उस मार्ग की गतिविधि और पराक्रम को जानता हूँ। मै अवश्य ही इस उत्तम श्वेतकमल को उखाडकर बाहर निकाल लाऊँगा, (मै ऐसी प्रतिज्ञा करके ही यहाँ आया हूँ) यो कह कर वह द्वितीय पुरुष उस पुष्करिणी मे उतर गया। ज्यो-ज्यो वह आगे बढता गया, त्यो-त्यो उसे अधिकाधिक जल और अधिकाधिक कीचड मिलता गया। इस तरह वह भी किनारे से दूर हट गया और उस प्रधान पुण्डरीक कमल को भी प्राप्त न कर सका। यो वह न इस पार का रहा और न उस पार का रहा। वह पुष्करिणी के बीच मे कीचड मे फसकर रह गया और दुःखी हो गया। यह दूसरे पुरुष का वृत्तान्त है।

६४१. अहावरे तच्चे पुरिसजाते।

अह पुरिसे पच्चत्थिमाओ दिसाओ आगम्म त पुक्खरणिं तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा पासति

तं महं एगं पउमवरपुंडरीयं अणुपुव्वट्ठियं जाव पडिरूव, ते तत्थ दोण्णि पुरिसज्जाते पासति पहीणे तीरं, अप्पत्ते पउमवरपोंडरीयं, णो हव्वाए णो पाराए, जाव सेयंसि निसण्णे।

तते णं से पुरिसे एवं वदासी—अहो णं इमे पुरिसा अखेतन्ना अकुसला अपंडिया अवियत्ता अमेहावी बाला णो मग्गत्था णो मग्गविऊ णो मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू, जं ण एते पुरिसा एव मण्णे 'अम्हेतं पउमवरपोंडरीयं उण्णिक्खेस्सामो,' णो य खलु एयं पउमवरपोंडरीयं एव उण्णिक्खेतव्वं जहा ण एए पुरिसा मण्णे।

अहमंसि पुरिसे खेतन्ने कुसले पंडिते वियत्ते मेहावी अबाले मग्गत्थे मग्गविऊ मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू, अहमेय पउमवरपोंडरीयं उण्णिक्खेस्सामि इति वच्चा से पुरिसे अभिक्कमे तं पुक्खरणिं, जाव जावं च णं अभिक्कमे ताव तावं च ण महंते उदए महंते सेए जाम अंतरा सेयंसि निसण्णे तच्चे पुरिसजाए।

६४१ इसके पश्चात् तीसरे पुरुष का वर्णन किया जाता है।

दूसरे पुरुष के पश्चात् तीसरा पुरुष पश्चिम दिशा से उस पुष्करिणी के पास आ कर उस के किनारे खडा हो कर उस एक महान् श्रेष्ठ पुण्डरीक कमल को देखता है, जो विशेष रचना से युक्त यावत् पूर्वोक्त विशेषणो से युक्त अत्यन्त मनोहर है। वह वहाँ (उस पुष्करिणी मे) उन दोनो पुरुषो को भी देखता है, जो तीर से भ्रष्ट हो चुके और उस उत्तम श्वेतकमल को भी नही पा सके, तथा जो न इस पार के रहे और न उस पार के रहे, अपितु पुष्करिणी के अधबीच मे अगाध कीचड मे ही फस कर दु खी हो गए थे।

इसके पश्चात् उस तीसरे पुरुष ने उन दोनो पुरुषो के लिए इस प्रकार कहा—"अहो! ये दोनो व्यक्ति खेदज्ञ या क्षेत्रज्ञ नही हैं, कुशल भी नही हैं, न पण्डित है, न ही प्रौढ—परिपक्वबुद्धिवाले है, न ये बुद्धिमान् है, ये अभी नादान बालक-से है, ये साधु पुरुषो द्वारा आचरित मार्ग पर स्थित नही है, तथा जिस मार्ग पर चल कर जीव अभीष्ट को सिद्ध करता है, उसे ये नही जानते। इसी कारण ये दोनो पुरुष ऐसा मानते थे कि हम इन उत्तम श्वेतकमल को उखाड कर बाहर निकाल लाएगे, परन्तु इस उत्तम श्वेतकमल को इस प्रकार उखाड लाना सरल नही, जितना कि ये दोनो पुरुष मानते है।"

"अलबत्ता मैं खेदज्ञ (क्षेत्रज्ञ), कुशल, पण्डित, परिपक्वबुद्धिसम्पन्न, मेधावी, युवक, मार्गवेत्ता, मार्ग की गतिविधि और पराक्रम का ज्ञाता हूँ। मैं इस उत्तम श्वेतकमल को बाहर निकाल कर ही रहूँगा, मैं यह सकल्प करके ही यहाँ आया हूँ।" यो कह कर उस तीसरे पुरुष ने पुष्करिणी मे प्रवेश किया और ज्यो-ज्यो उसने आगे कदम बढाए, त्यो-त्यो उसे बहुत अधिक पानी और अधिकाधिक कीचड का सामना करना पडा। अत वह तीसरा व्यक्ति भी वही कीचड मे फसकर रह गया और अत्यन्त दु खी हो गया। वह न इस पार का रहा और न उस पार का। यह तीसरे पुरुष की कथा है।

६४२. अहावरे चउत्थे पुरिसजाए।

अह पुरिसे उत्तराओ दिसाओ आगम्म तं पुक्खरणिं तीसे पुक्खरणीए तीरे ठिच्चा पासति एगं

पउमवरपोंडरीय अणुपुव्वट्ठितं जाव पडिरूव। ते तत्थ तिण्णि पुरिसजाते पासति पहीणे तीरं अप्पत्ते जाव सेयंसि निसण्णे।

तते णं से पुरिसे एवं वदासी-- अहो णं इमे पुरिसा अखेत्तण्णा जाव णो मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू, जण्णं एते पुरिसा एवं मण्णे— अम्हेत पउमवरपोंडरीयं उण्णिक्खिस्सामो। णो खलु एयं पउमवरपोंडरीयं एवं उण्णिक्खेयव्वं जहा ण एते पुरिसा मण्णे।

अहमंसि पुरिसे खेयण्णे जाव मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू, अहमेयं पउमवरपोंडरीयं उण्णिक्खिस्सामि इति वच्चा से पुरिसे अभिक्कमे तं पुक्खरणि, जाव जावं च णं अभिक्कमे ताव तावं च णं महंते उदए महंते सेते जाव विसण्णे चउत्थे पुरिसजाए।

६४२ एक-एक करके तीन पुरुषो के वर्णन के बाद अब चौथे पुरुष का वर्णन किया जाता है।

तीसरे पुरुष के पश्चात् चौथा पुरुष उत्तर दिशा से उस पुष्करिणी के पास आ कर, किनारे खडा हो कर उस एक महान् उत्तम श्वेतकमल को देखता है, जो विशिष्ट रचना से युक्त यावत् (पूर्वोक्त विशेषणो से विशिष्ट) मनोहर है। तथा वह वहाँ (उस पुष्करिणी मे) उन तीनो पुरुषो को भी देखता है, जो तीर से बहुत दूर हट चुके है और श्वेतकमल तक भी नही पहुच सके हैं अपितु पुष्करिणी के बीच मे ही कीचड मे फस गए हैं।

तदनन्तर उन तीनो पुरुषो (को देख कर उन) के लिए उस चौथे पुरुष ने इस प्रकार कहा-- 'अहो! ये तीनो पुरुष खेदज्ञ (क्षेत्रज्ञ) नही है, यावत् (पूर्वोक्त विशेषणो से युक्त) मार्ग की गतिविधि एव पराक्रम के विशेषज्ञ नही है। इसी कारण ये लोग समझते है कि 'हम उस श्रेष्ठ पुण्डरीक कमल को उखाड कर ले आएगे, किन्तु यह उत्तम श्वेतकमल इस प्रकार नही निकाला जा सकता, जैसा कि ये लोग मान रहे है।

"मै खेदज्ञ पुरुष हूँ यावत् उस मार्ग की गतिविधि और पराक्रम का विशेषज्ञ हूँ। मैं इस प्रधान श्वेतकमल को उखाड कर ले आऊगा इसी अभिप्राय से मै कृतसकल्प हो कर यहाँ आया हूँ।" यो कह कर वह चौथा पुरुष भी पुष्करिणी मे उतरा और ज्यो-ज्यो वह आगे बढता गया त्यो-त्यो उसे अधिकाधिक पानी और अधिकाधिक कीचड मिलता गया। वह पुरुष उस पुष्करिणी के बीच मे ही भारी कीचड मे फंस कर दु खी हो गया। अब न तो वह इस पार का रहा, न उस पार का। इस प्रकार चौथे पुरुष का भी वही हाल हुआ।

विवेचन श्रेष्ठ पुण्डरीक को पाने मे असफल चार व्यक्ति-- प्रस्तुत चार सूत्रो मे पूर्वसूत्रवर्णित पुष्करिणी के मध्य मे विकसित एक श्रेष्ठ पुण्डरीक को पाने के लिए जी-तोड प्रयत्न करके असफल हुए चार व्यक्तियो की रूपक कथा है।

यद्यपि चारो व्यक्तियो की पुष्करिणी के तट पर आने, पुष्करिणी को एव उसके ठीक बीच मे स्थित श्रेष्ठ श्वेतकमल को देखने की चेष्टाओ तथा तदनन्तर उस श्वेतकमल को पाने के लिए किये जाने वाले प्रयत्न तथा उसमे मिलने वाली विफलता का वर्णन लगभग समान है। परन्तु चारो

व्यक्तियो का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण किया जाय तो चारो के मनोभावो और तदनुसार उनकी चेष्टाओं मे थोड़ा-थोड़ा अन्तर जान पड़ता है । वह अन्तर इस प्रकार है—

(१) चारो व्यक्ति चार अलग-अलग दिशाओ से आए थे ।

(२) प्रथम व्यक्ति ने उस पुष्करिणी को सर्वप्रथम देखा और उस उत्तम श्वेतकमल को पाने मे उसकी दृष्टि सर्वप्रथम केन्द्रित हुई । उसके पश्चात् क्रमश दूसरा, तीसरा और चौथा व्यक्ति आया ।

(३) अपने से पूर्व असफल व्यक्ति को क्रमश दूसरा, तीसरा और चौथा व्यक्ति कोसता है और अपने पौरुष, कौशल और पाण्डित्य की डीग हाकता है ।

(४) चारो ही व्यक्तियो ने गर्वोद्धत होकर अपना मूल्याकन गलत किया, अपने से पूर्व असफल होने वाले व्यक्तियो की असफलता से कोई प्रेरणा नही ली । फलत. चारो ही अपने प्रयास मे विफल हुए ।

उत्तम श्वेतकमल को पाने में सफल : निःस्पृह भिक्षु

६४३. अह भिक्खू लूहे तीरट्ठी खेयण्णे कुसले पंडिते वियत्ते मेहावी अबाले मग्गत्थे मग्गविदू मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू अन्नतरीओ दिसाओ अणुदिसाओ वा आगम्म तं पुक्खरणीं तीसे पुक्खरणीए तीरे ठिच्चा पासति त महं एगं पउमवरपोंडरीयं जाव पडिरूवं, ते य चत्तारि पुरिसजाते पासति पहीणे तीर अप्पत्ते जाव अंतरा पोक्खरणीए सेयंसि विसण्णे ।

तते णं से भिक्खू एवं वदासी—अहो णं इमे पुरिसा अखेतण्णा जाव णो मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू जं णं एते पुरिसा एवं मन्ने 'अम्हेयं पउमवरपोंडरीयं उन्निक्खिस्सामो', णो य खलु एयं पउमवरपोंडरीयं एव उन्नक्खेतव्व जहा णं एते पुरिसा मन्ने, अहमसी भिक्खू लूहे तीरट्ठी खेयण्णे जाव मग्गस्स गति-परक्कमण्णू, अहमेय पउमवर-पोंडरीयं उन्निक्खिस्सामि त्ति कट्टु इति वच्चा से भिक्खू णो अभिक्कमे तं पुक्खरणिं, तीसे पुक्खरणीए तीरे ठिच्चा सद्दं कुज्जा—"उप्पताहि खलु भो पउमवरपोंडरीया ! उप्पताहि खलु भो पउमवरपोंडरीया ! अह से उप्पतिते पउमवरपोंडरीए ।"

६४३ इसके पश्चात् राग-द्वेषरहित (रूक्ष-अस्निग्ध घड़े के समान कर्ममल-लेपरहित), ससार-सागर के तीर (उस पार जाने का इच्छुक खेदज्ञ या क्षेत्रज्ञ, यावत् (पूर्वोक्त सभी विशेषणो से युक्त) मार्ग की गति और पराक्रम का विशेषज्ञ तथा निर्दोष भिक्षामात्र से निर्वाह करने वाला साधु किसी दिशा अथवा विदिशा से उस पुष्करिणी के पास आ कर उस (पुष्करिणी) के तट पर खडा हो कर उस श्रेष्ठ पुण्डरीक कमल को देखता है, जो अत्यन्त विशाल यावत् (पूर्वोक्त गुणो से युक्त) मनोहर है और वहाँ वह भिक्षु उन चारो पुरुषो को भी देखता है, जो किनारे से बहुत दूर हट चुके हैं, और उत्तम श्वेतकमल को भी नही पा सके हैं । जो न तो इस पार के रहे है, न उस पार के, जो पुष्करिणी के बीच मे ही कीचड मे फस गए है ।

इसके पश्चात् उस भिक्षु ने उन चारो पुरुषो के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा—अहो ! ये चारो व्यक्ति खेदज्ञ नही हैं, यावत् (पूर्वोक्त विशेषणो से सम्पन्न) मार्ग की गति एव पराक्रम से अनभिज्ञ है ।

इसी कारण ये लोग यो समझने लगे कि "हम लोग इस श्रेष्ठ श्वेतकमल को निकाल कर ले जाएँगे, परन्तु यह उत्तम श्वेतकमल इस प्रकार नही निकाला जा सकता, जैसा कि ये लोग समझते हैं।"

"मैं निर्दोष भिक्षाजीवी साधु हूँ, राग-द्वेष से रहित (रूक्ष—नि स्पृह) हूँ। मैं ससार सागर के पार (तीर पर) जाने का इच्छुक हूँ, क्षेत्रज्ञ (खेदज्ञ) हूँ यावत् जिस मार्ग से चल कर साधक अपने अभीष्ट साध्य की प्राप्ति के लिए पराक्रम करता है, उसका विशेषज्ञ हूँ। मै इस उत्तम श्वेतकमल को (पुष्करिणी से बाहर) निकालू गा, इसी अभिप्राय से यहाँ आया हूँ।" यो कह कर वह साधु उस पुष्करिणी के भीतर प्रवेश नही करता, वह उस (पुष्करिणी) के तट पर खडा-खडा ही आवाज देता है—"हे उत्तम श्वेतकमल! वहाँ से उठकर (मेरे पास) आ जाओ, आ जाओ!" यो कहने के पश्चात् वह उत्तम पुण्डरीक उस पुष्करिणी से उठकर (या बाहर निकल कर) आ जाता है।

विवेचन—उत्तम श्वेतकमल को पाने मे सफल : निःस्पृह भिक्षु- प्रस्तुत सूत्र मे पूर्वोक्त चारो विफल व्यक्तियो की चेष्टाओ और मनोभावो का वर्णन करने के पश्चात् पाँचवे सफल व्यक्ति का वर्णन किया गया है।

पूर्वोक्त चारो पुरुषो के द्वारा पुष्करिणी एव उसके मध्य मे स्थित उत्तम पुण्डरीक को देखने और पाचवे इस राग-द्वेषरहित नि स्पृह भिक्षु को देखने मे दृष्टिकोण का अन्तर है। पूर्वोक्त चारो व्यक्ति राग, द्वेष, मोह और स्वार्थ से आक्रान्त थे, अहकारग्रस्त थे, जब कि नि स्पृह भिक्षु राग-द्वेष मोह से दूर है। न इसके मन मे स्वार्थ, पक्षपात, लगाव या अहकार है, न किसी से घृणा और ईर्ष्या है।

प्रश्न होता है—शास्त्रकार ने उन चारो पुरुषो की परस्पर निन्दा एव स्वप्रशसा की तुच्छ प्रकृति का जिन शब्दो मे वर्णन किया है, उन्ही शब्दो मे इस पाचवे साधु-पुरुष का वर्णन किया है, फिर उनमे और इस भिक्षु मे क्या अन्तर रहा? पाचो के लिए एक-सरीखी वाक्यावली प्रयुक्त करने से तो ये समान प्रकृति के मानव प्रतीत होते है, केवल उनके और भिक्षु के प्रयासो और उनके परिणाम मे अन्तर है।

इसका युक्तियुक्त समाधान भिक्षु के लिए प्रयुक्त **'लूहे'** (राग-द्वेष-रहित) **'तीरट्ठी'** आदि विशेषणो से ध्वनित हो जाता है। जो साधु राग, द्वेष, मोह, स्वार्थ आदि विकारो से दूर है और ससार किनारा पाने का इच्छुक है, उसकी दृष्टि और चेष्टा मे एव रागादिविकारग्रस्त लोगो की दृष्टि और चेष्टा मे रातदिन का अन्तर होगा, यह स्वाभाविक है। इसलिए भले ही इस भिक्षु के लिए पूर्वोक्त चारो असफल पुरुषो के समान वाक्यावली का प्रयोग किया गया है परन्तु इसकी दृष्टि और भावना मे पर्याप्त अन्तर है। रागी-द्वेषी के जिन शब्दो मे दूसरे के प्रति तिरस्कार और अवहेलना छिपी होती है, वीतराग के उन्ही शब्दो से करुणा का विमल स्रोत प्रवाहित होता है। वीतराग साधु श्वेतकमल के बाह्य सौन्दर्य के नही, आन्तरिक सौन्दर्य के दर्शन करता है, साथ ही अपनी शुद्ध निर्विकार अनन्त ज्ञानादि गुण युक्त आत्मा से तुलना करता है। तदनन्तर वह उन चारो असफल व्यक्तियो पर दृष्टिपात करता है, उन पर वह तटस्थ दृष्टि से समभावपूर्वक चिन्तन करता है, मन ही मन उनके प्रति दयाभाव से प्रेरित होकर कहता है—"बेचारे ये अज्ञानी पुरुष इस उत्तम श्वेतकमल को तो पा नही सके और इस पुष्करिणी के तट से बहुत दूर हट कर बीच मे ही गाढ कीचड मे फस कर

रह गए। इसके पीछे रहस्य यह मालूम होता है—ये बेचारे इसे प्राप्त करने के उपाय, श्रम या मार्ग को नही जानते, न इस कार्य को करने मे कुशल विचारक एव विद्वान् है।"

तत्पश्चात् वह भिक्षु चारो की हुई इस दुर्दशा के कारणो पर विचार करके उससे बहुत बडी प्रेरणा लेता है। वह अपने अन्तर्मन मे पहले तटस्थदृष्टि से सोचता है कि कही मैं तो इनके जैसा ही नही हूँ। अन्तर्निरीक्षण के बाद वह इस निर्णय पर आता है कि जिन कारणो से ये लोग पुण्डरीक को पाने मे असफल रहे, उन कारणो से मै दूर ही रहूँगा।" फिर उसने अपनी अन्तरात्मा मे डुबकी लगा कर यह भी जानने का प्रयत्न किया कि मुझमे इस श्रेष्ठ कमल को पाने की योग्यता, आत्म-शक्ति एव दृढविश्वास है या नही, जिसके बल पर मै इस श्वेतकमल को अपने पास बुला सकूँ। और वह इस निश्चय पर पहुँचा कि मै एक निःस्पृह भिक्षाजीवी साधु हूँ, मेरे मन मे स्वार्थ, द्वेष, घृणा, द्रोह, मोह आदि नही है, मैं मोक्षतट पर पहुँचने को इच्छुक हूँ। इसलिए मेरा आत्मविश्वास है कि मै मोक्ष-सम, दुष्प्राप्य इस श्वेतकमल को अवश्य ही प्राप्त कर सकूँगा।" और इसी आत्मविश्वास एव आत्मशक्ति से प्रेरित होकर वह भिक्षु पुष्करिणी मे प्रविष्ट न हो कर उसके तट पर खडा होकर ही उक्त श्वेतकमल को अपने निकट बुलाने मे समर्थ हो सका।

शास्त्रकार ने इस रहस्य को यहा नही खोला है कि वह उत्तम श्वेतकमल पुष्करिणी से बाहर कैसे निकाल कर आ गया? यहा तो रूपक के द्वारा इतना ही बताया गया है कि पुष्करिणी के मध्य मे स्थित श्वेतकमल को पाने मे कौन असफल रहे, कौन सफल? अगले सूत्रो मे इन दृष्टान्तो को घटित किया गया है।

दृष्टान्तों के दार्ष्टान्तिक की योजना

६४४. किट्टिते णाते समणाउसो! अट्ठे पुण से जाणितव्वे भवति।

भंते! त्ति समणं भगवं महावीरं निग्गंथा य निग्गंथीओ य वंदंति नमंसंति, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी- किट्टिते नाए समणाउसो! अट्ठं पुण से ण जाणामो।

समणाउसो! त्ति समणे भगवं महावीरे ते य बहवे निग्गंथा य निग्गंथीओ य आमंतित्ता एवं वदासी हंता समणाउसो! आइक्खामि विभावेमि किट्टेमि पवेदेमि सअट्ठं सहेउं सनिमित्तं भुज्जो भुज्जो उवदंसेमि।

६४४ (श्रमण भगवान् महावीर स्वामी कहते हैं—) "आयुष्मान् श्रमणो! तुम्हे मैंने यह दृष्टान्त (ज्ञात) कहा है, इसका अर्थ (भाव) तुम लोगो को जानना चाहिए।"

'हाँ, भदन्त!" कह कर साधु और साध्वी श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना और नमस्कार करते है। वन्दना-नमस्कार करके भगवान् महावीर से इस प्रकार कहते है—"आयुष्मन् श्रमण भगवन्! आपने जो दृष्टान्त बताया उसका अर्थ (रहस्य) हम नही जानते।"

(इस पर) श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने उन बहुत-से निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थिनियो को सम्बोधित करके इस प्रकार कहा—'आयुष्मान् श्रमण-श्रमणियो! मैं इसका अर्थ (रहस्य) बताता हूँ, अर्थ स्पष्ट (प्रकट) करता हूँ। पर्यायवाची शब्दो द्वारा उसे कहता हूँ, हेतु और दृष्टान्तों द्वारा हृदय-गम कराता हूँ; अर्थ, हेतु और निमित्त सहित उस अर्थ को बार-बार बताता हूँ।"

६४५. से बेमि—लोयं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! सा पुक्खरणी बुइता, कम्मं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से उदए बुइते, कामभोगा य खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से सेए बुइते, जण-जाणवयं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! ते बहवे पउमवरपुंडरीया बुइता, रायाणं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से एगे मह पउमवरपोंडरीए बुइते, अन्नउत्थिया य खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! ते चत्तारि पुरिसजाता बुइता, धम्मं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से भिक्खू बुइते, धम्मतित्थं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से तीरे बुइए, धम्मकहं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से सद्दे बुइते, नेव्वाणं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से उप्पाते बुइते, एवमेय च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से एवमेय बुइतं ।

६४५. (सुनो,) उस अर्थ को मै कहता हूँ—"आयुष्मान् श्रमणो ! मैने अपनी इच्छा मे मान कर (मात्र रूपक के रूप मे कल्पना कर) इस लोक को पुष्करिणी कहा है । और हे आयुष्मान् श्रमणो ! मैंने अपनी कल्पना से विचार करके कर्म को इस पुष्करिणी का जल कहा है । आयुष्मान् श्रमणो ! मैंने अपनी कल्पना से स्थिर करके काम भोगो को पुष्करिणी का कीचड कहा है । आयुष्मान् श्रमणो ! मैने अपनी दृष्टि से चिन्तन करके आर्य देशो के मनुष्यो और जनपदो (देशो) को पुष्करिणी के बहुत से श्वेतकमल कहा है । आयुष्मान् श्रमणो ! मैंने अपनी इच्छा से अपने मन मे निश्चित करके राजा को उस पुष्करिणी का एक महान् श्रेष्ठ श्वेतकमल (पुण्डरीक) कहा है । और हे आयुष्मान् श्रमणो ! मैने अपनी इच्छा से मानकर अन्यतीर्थिको को उस पुष्करिणी के कीचड मे फसे हुए चार पुरुष बताया है । आयुष्मान् श्रमणो ! मैने अपनी बुद्धि से चिन्तन करके धर्म को वह भिक्षु बताया है । आयुष्मान् श्रमणो ! मैने अपनी इच्छा से अपने आप सोचकर धर्मतीर्थ को पुष्करिणी का तट बताया है । और आयुष्मान् श्रमणो ! मैने अपनी आत्मा मे निश्चित करके धर्मकथा को उस भिक्षु का वह शब्द (आवाज) कहा है । आयुष्मान् श्रमणो ! मैने अपने मन मे स्थिर करके निर्वाण (समस्त कर्मक्षयरूप मोक्ष या सिद्धशिला स्थान) को श्रेष्ठ पुण्डरीक का पुष्करिणी से उठ कर बाहर आना कहा है । (सक्षेप मे) आयुष्मान् श्रमणो ! मैने इस (पूर्वोक्त) प्रकार से अपनी आत्मा मे निश्चय करके (यत्किञ्चित् साधर्म्य के कारण) इन पुष्करिणी आदि को इन लोक आदि के दृष्टान्त के रूप मे प्रस्तुत किया है ।

विवेचन—दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक की योजना—प्रस्तुत दो सूत्रो मे से प्रथम सूत्र मे श्रमण भगवान् महावीर ने श्रमण-श्रमणियो की जिज्ञासा देखकर उनको दृष्टान्तो का अर्थघटन करके बताने का आश्वासन दिया है, द्वितीय सूत्र मे महावीर प्रभु ने अपनी केवलज्ञानरूपी प्रज्ञा द्वारा निश्चित करके पुष्करिणी आदि दृष्टान्तो का विविध पदार्थों से उपमा देकर इस प्रकार अर्थघटन किया है—

(१) पुष्करिणी चौदह रज्जू-परिमित विशाल लोक है । जैसे पुष्करिणी मे अगणित कमल उत्पन्न और विनष्ट होते रहते हैं, वैसे ही लोक मे अगणित प्रकार के जीव स्व-स्वकर्मानुसार उत्पन्न-विनष्ट होते रहते हैं । पुष्करिणी अनेक कमलो का आधार होती है, वैसे ही मनुष्यलोक भी अनेक मानवो का आधार है ।

(२) पुष्करिणी का जल कर्म है । जैसे पुष्करिणी मे जल के कारण कमलो की उत्पत्ति होती है, वैसे ही आठ प्रकार के स्वकृत कर्मों के कारण मनुष्यो की उत्पत्ति होती है ।

(३) काम-भोग पुष्करिणी का कीचड है। जैसे कीचड मे फसा हुआ मानव अपना उद्धार करने में असमर्थ हो जाता है, वैसे ही काम-भोगों में फंसा मानव भी अपना उद्धार नही कर सकता। ये दोनों ही समानरूप से बन्धन के कारण हैं। एक बाह्य बन्धन है, दूसरा आन्तरिक बन्धन।

(४) आर्यजन और जानपद बहुसख्यक श्वेतकमल हैं। पुष्करिणी मे नानाप्रकार के कमल होते हैं, वैसे ही मनुष्यलोक मे नानाप्रकार के मानव रहते हैं। अथवा पुष्करिणी कमलो मे सुशोभित होती है, वैसे ही मनुष्यो और उनके देशो से मानवलोक सुशोभित होता है।

(५) जैसे पुष्करिणी के समस्त कमलो मे प्रधान एक उत्तम और विशाल श्वेतकमल है, वैसे ही मनुष्यलोक के सभी मनुष्यो मे श्रेष्ठ और सब पर शासनकर्ता नरेन्द्र होता है, वह शीर्षस्थ एव स्व-पर-अनुशास्ता होता है, जैसे कि पुष्करिणी मे कमलो का शीर्षस्थ, श्रेष्ठ पुण्डरीक है।

(६) अविवेक के कारण पुष्करिणी के कीचड मे फस जाने वाले जैसे वे चार पुरुष थे, वैसे ही ससाररूपी पुष्करिणी के काम-भोगरूपी कीचड़ या मिथ्यामान्यताओ के दलदल मे फँस जाने वाले चार अन्यतीर्थिक है, जो पुष्करिणी-पकमग्न पुरुषो की तरह न तो अपना उद्धार कर पाते हैं, न ही प्रधान श्वेतकमलरूप शासक का उद्धार कर सकते है।

(७) अन्यतीर्थिक गृहत्याग करके भी सत्सयम का पालन नही करते, अतएव वे न तो गृहस्थ ही रहते है, न साधुपद—मोक्षपद प्राप्त कर पाते है। वे बीच मे फसे पुरुषो के समान न इधर के न उधर के रहते हैं—उभयभ्रष्ट ही रह जाते हैं।

(८) जैसे बुद्धिमान पुरुष पुष्करिणी के भीतर न घुस कर उसके तट पर से ही आवाज देकर उत्तम श्वेतकमल को बाहर निकाल लेता है, वैसे ही राग-द्वेषरहित साधु काम-भोगरूपी दलदल से युक्त ससारपुष्करिणी मे न घुसकर ससार के धर्मतीर्थरूप तट पर खडा (तटस्थ—निर्लिप्त) होकर धर्मकथारूपी आवाज देकर श्वेतकमलरूपी राजा-महाराजा आदि को ससाररूपी पुष्करिणी से बाहर निकाल लेते है।

(९) जैसे जल और कीचड का त्याग करके कमल बाहर (उनसे ऊपर उठ) आता है, इसी प्रकार उत्तम पुरुष अपने अष्टविध कर्मरूपी जल और काम-भोगरूपी कीचड का त्याग करके निर्वाण-पद को प्राप्त कर लेते है। श्वेतकमल का ऊपर उठकर बाहर आना ही निर्वाण पाना है।

धर्मश्रद्धालु राजा आदि के मस्तिष्क में अन्यतीर्थिकों द्वारा स्वधर्म प्रवेश का तरीका

६४६. इह खलु पाईणं वा पडीणं वा उदीणं वा दाहिणं वा संति एगतिया मणुस्सा भवंति अणुपुव्वेण लोगं तं उववन्ना, तं जहा—आरिया वेगे अणारिया वेगे, उच्चागोया वेगे णीयागोया वेगे, कायमंता वेगे हुस्समंता वेगे, सुवण्णा वेगे दुवण्णा वेगे, सुरूवा वेगे दुरूवा वेगे।

तेसिं च णं महं एगे राया भवति महाहिमवंतमलयमंदरमहिंदसारे अच्चंतविसुद्धरायकुलवंसप्पसूते निरंतररायलक्खणविरातियंगमंगे बहुजणबहुमाणपूतिते सव्वगुणसमिद्धे खत्तिए मुदिए मुद्धाभिसित्ते माउं पिउं सुजाए दयप्पत्ते सीमंकरे सीमंधरे खेमंकरे खेमंधरे मणुस्सिंदे जणवदपिया जणवदपुरोहिते सेउकरे केउकरे णरपवरे पुरिसवरे पुरिससीहे पुरिसआसीविसे पुरिसवरपोंडरीए

पुरिसवरगंधहत्थी अड्ढे दित्ते वित्ते विच्छिण्णविउलभवण-सयणा-ऽऽसण-जाण-वाहणाइण्णे बहुधण-बहुजातरूव-रयए आओगपओगसपउत्ते विच्छड्डियपउरभत्त-पाणे बहुदासी-दास-गो-महिस-गवेलगप्प-भूते पडिपुण्णकोस-कोट्ठागाराउहधरे बलव दुब्बलपच्चामित्ते ओहयकटकं निहयकंटकं मलियकटक उद्धियकटक अकंटय ओहयसत्तू निहयसत्तू मलियसत्तू उद्धियसत्तू निज्जियसत्तू पराइयसत्तू ववगय-दुब्भिक्खमारिभयविप्पमुक्कं रायवण्णओ जहा उववाइए जाव पसतडिबडमर रज्ज पसासेमाणे विरहति ।

६४६ (श्रमण भगवान् महावीर कहते है –) इस मनुष्यलोक मे पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशाओ मे उत्पन्न कई प्रकार के मनुष्य होते है, जैसे कि—उन मनुष्यो मे कई आर्य (क्षेत्रार्य आदि) होते है अथवा कई अनार्य (धर्म से दूर, पापी, निर्दय, निरनुकम्प, क्रोधमूर्ति, असस्कारी) होते है, कई उच्चगोत्रीय होते है, कई नीचगोत्रीय । उनमे से कोई भीमकाय (लम्बे और सुदृढ शरीर वाले) होते है, कई ठिगने कद के होते है । कोई (सोने की तरह) सुन्दर वर्ण वाले होते है तो कोई बुरे (काले कलूटे) वर्ण वाले । कोई सुरूप (सुन्दर अगोपागो से युक्त) होते है तो कोई कुरूप (बेडौल, अपग) होते है ।

उन मनुष्यो मे (विलक्षण कर्मोदय से) कोई एक राजा होता है । वह (राजा) महान् हिमवान् मलयाचल, मन्दराचल तथा महेन्द्र पर्वत के समान सामर्थ्यवान् अथवा वैभववान् होता है । वह अत्यन्त विशुद्ध राजकुल के वश मे जन्मा हुआ होता है । उसके अग राजलक्षणो से सुशोभित होते है । उसकी पूजा-प्रतिष्ठा अनेक जनो द्वारा बहुमानपूर्वक की जाती है, वह गुणो से समृद्ध होता है, वह क्षत्रिय (पीडित प्राणियो का त्राता—रक्षक) होता है । वह सदा प्रसन्न रहता है । वह राजा राज्याभिषेक किया हुआ होता है । वह अपने माता-पिता का सुपुत्र (अगजात) होता है । उसे दया प्रिय होती है । वह सीमकर (जनता की सुव्यवस्था के लिए सीमा—नैतिक, धार्मिक मर्यादा स्थापित-निर्धारित करने वाला) तथा सीमधर (स्वय उस मर्यादा का पालन करने वाला) होता है । वह क्षेमकर (जनता का क्षेम-कुशल करने वाला) तथा क्षेमन्धर (प्राप्त योगक्षेम का वहन रक्षण करने वाला) होता है । वह मनुष्यो मे इन्द्र, जनपद (देश या प्रान्त) का पिता और जनपद का पुरोहित (शान्तिरक्षक) होता है । वह अपने राज्य या राष्ट्र की सुख-शान्ति के लिए सेतुकर (नदी, नहर, पुल बाध आदि का निर्माण कराने वाला) और केतुकर (भूमि, खेत, बगीचे आदि की व्यवस्था करने वाला) होता है । वह मनुष्यो मे श्रेष्ठ, पुरुषो मे वरिष्ठ, पुरुषो मे सिहसम, पुरुषो मे आसीविष सर्प समान, पुरुषो मे श्रेष्ठ पुण्डरीकतुल्य, पुरुषो मे श्रेष्ठ मत्तगन्धहस्ती के समान होता है । वह अत्यन्त धनाढ्य, दीप्तिमान् (तेजस्वी) एव प्रसिद्ध पुरुष होता है । उसके पास विशाल विपुल भवन, शय्या आसन, यान (विविध पालकी आदि) तथा वाहन (घोडा-गाडी, रथ आदि सवारियाँ एव हाथी, घोडे आदि) की प्रचुरता रहती है । उसके कोष (खजाने) प्रचुर धन, सोना, चाँदी आदि से भरे रहते है । उसके यहाँ प्रचुर द्रव्य की आय होती है और व्यय भी बहुत होता है । उसके यहाँ से बहुत से लोगो को पर्याप्त मात्रा मे भोजन-पानी दिया जाता है । उसके यहा बहुत-से दासी-दास, गाय, बैल, भैस, बकरी आदि पशु रहते है । उसके धान्य का कोठार अन्न से, धन के कोश (खजाने) प्रचुर द्रव्य से और आयुधागार विविध शस्त्रास्त्रा से भरा रहता है । वह शक्तिशाली होता है । वह अपने शत्रुओ को दुर्बल बनाए रखता है । उसके राज्य मे कटक—चोरो, व्यभिचारियो, लुटेरो तथा उपद्रवियो एव दुष्टो का नाश

कर दिया जाता है, उनका मानमर्दन कर दिया जाता है, उन्हे कुचल दिया जाता है, उनके पैर उखाड दिये जाते है, जिससे उसका राज्य निष्कण्टक (चोर आदि दुष्टो से रहित) हो जाता है। उसके राज्य पर आक्रमण करने वाले शत्रुओ को नष्ट कर दिया जाता है, उन्हे खदेड दिया जाता है, उनका मानमर्दन कर दिया जाता है, अथवा उनके पैर उखाड दिये जाते है, उन शत्रुओं को जीत लिया जाता है, उन्हे हरा दिया जाता है। उसका राज्य दुर्भिक्ष और महामारी आदि के भय से विमुक्त होता है। यहाँ से लेकर "जिसमे स्वचक्र-परचक्र का भय शान्त हो गया है, ऐसे राज्य का प्रशासन—पालन करता हुआ वह राजा विचरण करता है," यहाँ तक का पाठ औपपातिकसूत्र मे वर्णित पाठ की तरह समझ लेना चाहिए।

६४७. तस्स ण रण्णो परिसा भवति —उग्गा उग्गपुत्ता भोगा भोगपुत्ता इक्खागा इक्खागपुत्ता नाया नायपुत्ता कोरव्वा कोरव्वपुत्ता भडा भडपुत्ता माहणा माहणपुत्ता लेच्छई लेच्छईपुत्ता पसत्थारो पसत्थपुत्ता सेणावती सेणावतिपुत्ता।

तेसिं च ण एगतिए सड्ढी भवति, कामं तं समणा य माहणा य पहारेंसु गमणाए, तत्थऽन्नतरेणं धम्मेणं पण्णत्तारो वयमेतेण धम्मेण पण्णवइस्सामो, से ए वमायाणह भयतारो जहा मे एस धम्मे सुयक्खाते सुपण्णत्ते भवति।

६४७ उस राजा की परिषद् (सभा) होती है। उसके सभासद ये होते है—उग्रकुल मे उत्पन्न उग्रपुत्र, भोगकुल मे उत्पन्न भोग तथा भोगपुत्र इक्ष्वाकु कुल मे उत्पन्न तथा इक्ष्वाकुपुत्र, ज्ञातकुल मे उत्पन्न तथा ज्ञातपुत्र, कुरुकुल मे उत्पन्न—कौरव, तथा कौरवपुत्र, सुभटकुल मे उत्पन्न तथा सुभट-पुत्र, ब्राह्मणकुल मे उत्पन्न तथा ब्राह्मणपुत्र, लिच्छवी नामक क्षत्रियकुल मे उत्पन्न तथा लिच्छवीपुत्र, प्रशास्तागण (मत्री आदि बुद्धिजीवी वर्ग) तथा प्रशास्तृपुत्र (मत्री आदि के पुत्र) सेनापति और सेनापतिपुत्र।

इनमे से कोई एक धर्म मे श्रद्धालु होता है। उस धर्म-श्रद्धालु पुरुष के पास श्रमण या ब्राह्मण (माहन) धर्म प्राप्ति की इच्छा से जाने का निश्चय (निर्धारण) करते है। किसी एक धर्म की शिक्षा देने वाले वे श्रमण और ब्राह्मण यह निश्चय करते है कि हम इस धर्मश्रद्धालु पुरुष के समक्ष अपने इस (अभीष्ट) धर्म की प्ररूपणा करेगे। वे उस धर्मश्रद्धालु पुरुष के पास जाकर कहते है —हे समारभीरु धर्मप्रेमी! अथवा भय से जनता के रक्षक महाराज! मै जो भी उत्तम धर्म की शिक्षा आप को दे रहा हूँ उसे ही आप पूर्वपुरुषो द्वारा सम्यक्प्रकार से कथित और सुप्रज्ञप्त (सत्य) समझे।"

विवेचन—धर्मश्रद्धालु राजा आदि के मस्तिष्क मे अन्यतीर्थिको द्वारा स्वधर्म-प्रवेश का तरीका—प्रस्तुत सूत्रद्वय (सू स ६४६-६४७) मे शास्त्रकार अनेक विशेषणो से युक्त राज्य और उसकी राज्यसभा के क्षत्रिय, मत्री, ब्राह्मण आदि विविध सभासदो का विस्तार से निरूपण करते है, तत्पश्चात् इनमे से किसी-किसी धर्म श्रद्धालु के मस्तिष्क मे अन्यतीर्थिक श्रमण-ब्राह्मण अपने धर्म की मान्यता ठसाने का किस प्रकार से उपक्रम करते है, वह सक्षेप मे बताते है। शास्त्रकार इस विस्तृत पाठ मे चार तथ्यो का वर्णन करते है—

(१) पूर्वादि दिशाओ से समागत आर्य-अनार्य आदि नाना प्रकार के पुरुषो का वर्णन।
(२) उन सबके शास्ता—राजा का वर्णन।
(३) उक्त राजा की परिषद् के विभिन्न सभासदो का वर्णन।

(४) इनमे से किसी धर्मश्रद्धालु को अन्यतीर्थिको द्वारा स्वधर्मानुसार बनाने के उपक्रम का वर्णन ।

प्रथमपुरुष : तज्जीव-तच्छरीरवादी का वर्णन

६४८. त जहा—उड्ढं पादतला[1] अहं केसग्गमत्थया तिरियं तयपरियंते जीवे, एस आयपज्जवे कसिणे, एस जीवे जीवति, एस मए णो जीवति, सरीरे चरमाणे चरती, विणट्ठम्मि य णो चरति, एतंतं जीवितं भवति, आदहणाए परेहिं णिज्जति, अगणिझामिते सरीरे कवोतवण्णाणि अट्ठीणि भवंति, आसंदीपचमा पुरिसा गामं पच्चागच्छंति । एवं असतो असंविज्जमाणे ।

६४८ वह धर्म इस प्रकार है—पादतल (पैरो के तलवे) से ऊपर और मस्तक के केशो के अग्रभाग से नीचे तक तथा तिरछा—चमडी तक जो शरीर है, वही जीव है । यह शरीर ही जीव का समस्त पर्याय (अवस्था विशेष अथवा पर्यायवाची शब्द) है । (क्योकि) इस शरीर के जीने तक ही यह जीव जीता रहता है, शरीर के मर जाने पर यह नही जीता, शरीर के स्थित (टिके) रहने तक ही यह जीव स्थित रहता है और शरीर के नष्ट हो जाने पर यह नष्ट हो जाता है । इसलिए जब तक शरीर है, तभी तक यह जीवन (जीव) है । शरीर जब मर जाता है तब दूसरे लोग उसे जलाने के लिए ले जाते है, आग से शरीर के जल जाने पर हड्डियाँ कपोत वर्ण (कबूतरी रग) की हो जाती है । इसके पश्चात् मृत व्यक्ति को श्मशान भूमि मे पहुँचाने वाले जघन्य (कम से कम) चार पुरुष मृत शरीर को ढोने वाली मचिका (अर्थी) को लेकर अपने गाव मे लौट आते है । ऐसी स्थिति मे यह स्पष्ट हो जाता है कि शरीर से भिन्न कोई जीव नामक पदार्थ नही है, क्योकि वह शरीर से भिन्न प्रतीत नही होता । (अत जो लोग शरीर से भिन्न जीव का अस्तित्व नही मानते, उनका यह-पूर्वोक्त सिद्धान्त ही युक्ति युक्त समझना चाहिए ।)

६४९. जेसिं तं सुयक्खाय भवति—'अन्नो भवति जीवो अन्न सरीर' तम्हा ते एवं नो विप्पडिवेदेंति—अयमाउसो ! आता दीहे ति वा ह्रस्से ति वा परिमंडले ति वा वट्टे ति वा तसे ति वा चउरसे ति वा छलंसे ति वा अट्ठसे ति वा आयते ति वा किण्हे ति वा णीले ति वा लोहिते ति वा हालिद्दे ति वा सुक्किले ति वा सुब्भिगधे ति वा दुब्भिगधे ति वा तित्ते ति वा कडुए ति वा कसाए ति वा अबिले ति वा महुरे ति वा कक्खडे ति वा मउए ति वा गरुए ति वा लहुए ति वा सिते ति वा उसिणे ति वा णिद्धे ति वा लुक्खे ति वा । एवमसतो असंविज्जमाणे ।

६४९ जो लोग युक्तिपूर्वक यह प्रतिपादन करते हैं कि जीव पृथक् है और शरीर पृथक् है वे इस प्रकार (जीव और शरीर को) पृथक् पृथक् करके नही बता सकते कि—यह आत्मा दीर्घ (लम्बा) है, यह ह्रस्व (छोटा या ठिगना) है, यह चन्द्रमा के समान परिमण्डलाकार है, अथवा गेद की तरह गोल है, यह त्रिकोण है, या चतुष्कोण है, या यह षट्कोण या अष्टकोण है, यह आयत

---

१ तुलना—"उड्ढं पायतला अहे केसग्गमत्थका एस आता पज्जवे ... अफले कल्लापावए । तम्हा एतं सम्मं तिबेमि—उड्ढं पायतला ... एस मडे णो (जीवति) एत त (जीवितं भवति) ।"

—इसिभासियाइं १९, उक्कलज्झयण पृ० ३९

(चौडा) है, यह काला है अथवा नीला है, यह लाल है या पीला है या यह श्वेत है, यह सुगन्धित है या दुर्गन्धित है, यह तिक्त (तीखा) है या कडवा है अथवा कसैला, खट्टा या मीठा है; अथवा यह कर्कश है या कोमल है अथवा भारी (गुरु) है या हलका (लघु) अथवा शीतल है या उष्ण है, स्निग्ध है अथवा रूक्ष है ।

इसलिए जो लोग जीव को शरीर से भिन्न नही मानते, उनका मत ही युक्तिसगत है ।

६५०. जेसिं त सुयक्खाय भवति 'अन्नो जीवो अन्नं सरीर', तम्हा ते णो एव उवलभंति—

(१) से जहानामए केइ पुरिसे कोसीतो[1] असिं अभिनिव्वट्टित्ताणं उववंसेज्जा—अयमाउसो ! असी, अय कोसीए, एवमेव णत्थि केइ अभिनिव्वट्टित्ताणं उववंसेति—अयमाउसो ! आता, अय सरीरे ।

(२) से जहाणामए केइ पुरिसे मुंजाओ इसीयं अभिनिव्वट्टित्ताणं उववंसेज्जा—अयमाउसो ! मुंजो, अयं इसीया, एवामेव नत्थि केति उववंसेत्तारो अयमाउसो ! आता इवं सरीरे ।

(३) से जहाणामए केति पुरिसे मसाओ अट्ठि अभिनिव्वट्टित्ताणं उववंसेज्जा—अयमाउसो ! मंसे, अयं अट्ठी, एवामेव नत्थि केति उववंसेत्तारो—अयमाउसो ! आया, इवं सरीरं ।

(४) से जहानामए केति पुरिसे करतलाओ आमलक अभिनिव्वट्टित्ताणं उववंसेज्जा—अयमाउसो ! करतले, अयं आमलए, एवामेव णत्थि केति उववंसेत्तारो—अयमाउसो ! आया, इव सरीरं ।

(५) से जहानामए केइ पुरिसे वहीओ णवणीयं अभिनिव्वट्टित्ताणं उववंसेज्जा—अयमाउसो ! नवनीत, अय वही, एवामेव नत्थि केति उववंसेत्तारो जाव सरीरं ।

(६) से जहानामए केति पुरिसे तिलेहिंतो तेल्लं अभिनिव्वट्टेत्ताणं उववसेज्जा—अयमाउसो ! तेल्ले, अय पिण्णाए, एवामेव जाव सरीरं ।

(७) से जहानामए केइ पुरिसे उक्खूतो खोतरस अभिनिव्वट्टित्ताणं उववंसेज्जा—अयमाउसो ! खोतरसे, अयं चोए, एवमेव जाव सरीरं ।

(८) से जहानामए केइ पुरिसे अरणीतो अग्गि अभिनिव्वट्टेत्ताणं उववंसेज्जा—अयमाउसो ! अरणी, अयं अग्गी, एवामेव जाव सरीरं । एवं असतो असंविज्जमाणे ।

जेसिं तं सुयक्खातं भवति तं जहा—'अन्नो जीवो अन्नं सरीर' तम्हा तं मिच्छा ।

६५०. जिन लोगो का यह कथन है कि जीव अन्य है और शरीर अन्य है, वे इस प्रकार से जीव को उपलब्ध (प्राप्त) नही करा पाते—(१) जैसे—कि कोई व्यक्ति म्यान से तलवार को बाहर

---

१ तुलना—"सेय्यथापि, महाराज ! पुरिसो मुञ्जम्हा ईसिका पवाहेय्य । तस्स एवमस्स अयं मुञ्जो, अयं ईसिका ... तस्स एवमस्स—अय असि अयं कोसि ... मनोमयं काय अभिनिम्मनाय चित्तं अभिनीहरति अभिनिन्नामेति ।" —सुत्तपिटक दीघनिकाय (पालि) भा १ सामञ्ञफलसुत्त पृ ६८

निकाल कर दिखलाता हुआ कहता है –आयुष्मन् ! यह तलवार है, और यह म्यान है। इसी प्रकार कोई पुरुष ऐसा नही है, जो शरीर से जीव को पृथक् करके दिखला सके कि 'आयुष्मन् ! यह तो आत्मा है और यह (उससे भिन्न) शरीर है।'

(२) जैसे कि कोई पुरुष मुंज नामक घास से इषिका (कोमलस्पर्श वाली शलाका) को बाहर निकाल कर अलग-अलग बतला देता है कि 'आयुष्मन् ! यह तो मुंज है, और यह इषिका है।' इसी प्रकार ऐसा कोई उपदर्शक पुरुष नही है, जो यह बता सके कि 'आयुष्मन् ! यह आत्मा है और यह (उससे पृथक्) शरीर है।'

(३) जैसे कोई पुरुष मांस से हड्डी को अलग-अलग करके बतला देता है कि 'आयुष्मन् ! यह मांस है और यह हड्डी है।'' इसी तरह कोई ऐसा उपदर्शक पुरुष नही है, जो शरीर से आत्मा को अलग करके दिखला दे कि 'आयुष्मन् ! यह तो आत्मा है और यह शरीर है।'

(४) जैसे कोई पुरुष हथेली से आंवले को बाहर निकाल कर दिखला देता है कि 'आयुष्मन् यह हथेली (करतल) है और यह आँवला है।' 'इसी प्रकार कोई ऐसा पुरुष नही है, जो शरीर से आत्मा को पृथक् करके दिखा दे कि 'आयुष्मन् ! यह आत्मा है, और यह (उससे पृथक्) शरीर है।'

(५) जैसे कोई पुरुष दही से नवनीत (मक्खन) को अलग निकाल कर दिखला देता है कि 'आयुष्मन् ! यह नवनीत है और यह दही है।' इस प्रकार कोई ऐसा पुरुष नही है, जो शरीर से आत्मा को पृथक् करके दिखला दे कि 'आयुष्मन् ! यह तो आत्मा है और यह शरीर है।'

(६) जैसे कोई पुरुष तिलो से तेल निकाल कर प्रत्यक्ष दिखला देता है कि 'आयुष्मन् ! यह तेल है और यह उन तिलो की खली है,' वैसे कोई पुरुष ऐसा नही है, जो शरीर को आत्मा से पृथक् करके दिखा सके कि 'आयुष्मन् ! यह आत्मा है और यह उससे भिन्न शरीर है।'

(७) जैसे कि कोई पुरुष ईख से उसका रस निकाल कर दिखा देता है कि 'आयुष्मन् ! यह ईख का रस है और यह उसका छिलका है,' इसी प्रकार ऐसा कोई पुरुष नही है जो शरीर और आत्मा को अलग-अलग करके दिखला दे कि 'आयुष्मन् ! यह आत्मा है और यह शरीर है।'

(८) जैसे कि कोई पुरुष अरणि की लकडी से आग निकाल कर प्रत्यक्ष दिखला देता है कि-- 'आयुष्मन् ! यह अरणि है और यह आग है,' इसी प्रकार कोई व्यक्ति ऐसा नही है जो शरीर और आत्मा को पृथक् करके दिखला दे कि 'आयुष्मन् ! यह आत्मा है और यह उससे भिन्न शरीर है।'

इसलिए आत्मा शरीर से पृथक् उपलब्ध नही होती, यही बात युक्तियुक्त है। इस प्रकार (विविध युक्तियो से आत्मा का अभाव सिद्ध होने पर भी) जो पृथगात्मवादी (स्वदर्शनानुरागवश) बार-बार प्रतिपादन करते है, कि आत्मा अलग है, शरीर अलग है, पूर्वोक्त कारणो से उनका कथन मिथ्या है।

६५१. से हंता हणह खणह छणह दहह पयह आलुंपह विलुंपह सहसक्कारेह विपरामुसह, एत्ताव ताव जीवे, णत्थि परलोए, ते णो एवं विप्पडिवेदेंति, तं जहा— किरिया इ वा अकिरिया इ वा सुक्कडे ति वा दुक्कडे ति वा कल्लाणे ति वा पावए ति वा साहू ति वा असाहू ति वा सिद्धि ति वा असिद्धि ति

वा निरए ति वा अनिरए ति वा ।

एवं ते विरूवरूवेहिं कम्मसमारंभेहिं विरूवरूवाइं कामभोगाइं समारंभंति भोयणाए ।

६५१ इस प्रकार शरीर से भिन्न आत्मा को न मानने वाले तज्जीवतच्छरीरवादी लोकायतिक आदि स्वय जीवो का (नि सकोच) हनन करते हैं, तथा (दूसरो को भी उपदेश देते हैं)—इन जीवो को मारो, यह पृथिवी खोद डालो, यह वनस्पति काटो, इसे जला दो, इसे पकाओ, इन्हे लूट लो या इनका हरण कर लो, इन्हे काट दो या नष्ट कर दो, बिना सोचे विचारे सहसा कर डालो, इन्हे पीडित (हैरान) करो इत्यादि । इतना (शरीरमात्र) ही जीव है, (परलोकगामी कोई जीव नही होने से) परलोक नही है ।" (इसलिए यथेष्ट सुख भोग करो ।) वे शरीरात्मवादी आगे कही जाने वाली बातो को नही मानते जैसे कि —सत्क्रिया या असत्क्रिया, सुकृत या दुष्कृत, कल्याण (पुण्य) या पाप, भला बुरा, सिद्धि या असिद्धि, नरक या स्वर्ग आदि ।

इस प्रकार वे शरीरात्मवादी अनेक प्रकार के कर्मसमारम्भ करके विविध प्रकार के काम-भोगो का सेवन (उपभोग) करते है अथवा विषयो का उपभोग करने के लिए विविध प्रकार के दुष्कृत्य करते है ।

६५२. एव पेगे पागब्भिया निक्खम्म मामगं धम्मं पण्णवेंति त सद्दहमाणा त पत्तियमाणा त रोएमाणा साधु सुयक्खाते समणे ति वा माहणे ति वा काम खलु आउसो ! तुम पूययामो, त जहा—असणेण वा पाणेण वा खाइमेण वा साइमेण वा वत्थेण वा पडिग्गहेण वा कंबलेण वा पायपुंछणेण वा, तत्थेगे पूयणाए समाउट्टिंसु, तत्थेगे पूयणाए निगामइंसु ।

६५२ इस प्रकार शरीर से भिन्न आत्मा न मानने की धृष्टता करने वाले कोई नास्तिक अपने मतानुसार प्रव्रज्या धारण करके 'मेरा ही धर्म सत्य है,' ऐसी प्ररूपणा करते है । इस शरीरात्मवाद मे श्रद्धा रखते हुए, उस पर प्रतीति करते हुए, उसमें रुचि रखते हुए कोई राजा आदि उस शरीरात्मवादी से कहते है—'हे श्रमण या ब्राह्मण ! आपने हमें यह तज्जीव-तच्छरीरवाद रूप उत्तम धर्म बता कर बहुत ही अच्छा किया, हे आयुष्मन् ! (आपने हमारा उद्धार कर दिया) अत हम आपकी पूजा (सत्कार-सम्मान) करते है, जैसे कि- हम अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य अथवा वस्त्र, पात्र, कम्बल अथवा पाद-प्रोञ्छन आदि के द्वारा आपका सत्कार-सम्मान करते है ।' यो कहते हुए कई राजा आदि उनकी पूजा मे प्रवृत्त होते है, अथवा वे शरीरात्मवादी अपनी पूजा-प्रतिष्ठा मे प्रवृत्त हो जाते है, और उन स्वमतस्वीकृत राजा आदि को अपनी पूजा-प्रतिष्ठा के लिए अपने मत-सिद्धान्त मे दृढ (पक्के या कट्टर) कर देते है ।

६५३. पुव्वामेव तेसिं णायं भवति— समणा भविस्सामो अणगारा अकिंचणा अपुत्ता अपसू परदत्तभोइणो भिक्खुणो पाव कम्म णो करिस्सामो समुट्ठाए ते अप्पणा अप्पडिविरया भवंति, सयमाइयति अन्ने वि आदियावेंति अन्नं पि आतियत समणुजाणंति, एवामेव ते इत्थिकामभोगेहिं मुच्छिया गिद्धा गढिता अज्झोववन्ना लुद्धा रागदोसत्ता, ते णो अप्पाणं समुच्छेदेंति, नो परं समुच्छेदेंति, नो अण्णाइं पाणाइं भूताइं जीवाइं सत्ताइं समुच्छेदेंति, पहीणा पुव्वसंयोगं, आयरियं मग्ग असपत्ता, इति ते

णो हव्वाए णो पाराए, अंतरा कामभोगेसु विसण्णा । इति पढमे पुरिसज्जाते तज्जीव-तस्सरीरिए आहिते ।

६५३ इन शरीरात्मवादियो ने पहले तो वह प्रतिज्ञा की होती है कि 'हम अनगार (घरबार के त्यागी), अकिंचन (द्रव्यादि-रहित) अपुत्र (पुत्रादि के त्यागी) अपशु (पशु आदि के स्वामित्व से रहित), परदत्तभोजी (दूसरो के द्वारा दिये गए भिक्षान्न पर निर्वाह करने वाले) भिक्षु एव श्रमण (शम सम एव श्रम-तप की साधना करने वाले) बनेगे, अब हम पापकर्म (सावद्य कार्य) नही करेगे', ऐसी प्रतिज्ञा के साथ वे स्वय दीक्षा ग्रहण करके (प्रव्रजित होकर) पाप कर्मों (सावद्य आरम्भसमारम्भादि कार्यों) से विरत (निवृत्त) नही होते, वे स्वय परिग्रह को ग्रहण (स्वीकार) करते है, दूसरे से ग्रहण कराते हैं और परिग्रह ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करते (अच्छा समझते) है, इसी प्रकार वे स्त्री तथा अन्य कामभोगो मे आसक्त (मूर्च्छित), गृद्ध, उनमे अत्यधिक इच्छा और लालसा से युक्त, लुब्ध (लोभी), राग-द्वेष के वशीभूत एव आर्त्त (चिन्तातुर) रहते है । वे न तो अपनी आत्मा को ससार से या कर्म-पाश (बन्धन) से मुक्त कर पाते है, न वे दूसरो को मुक्त कर सकते है, और न अन्य प्राणियो, भूतो, जीवो और सत्वो को मुक्त कर सकते है । वे (उक्त शरीरात्मवादी प्रथम असफल पुरुष के समान अपने स्त्री-पुत्र, धन धान्य आदि पूर्वसयोग गृहावास या ज्ञातिजनवास) से प्रभ्रष्ट (प्रहीन) हो चुके है, और आर्यमार्ग (सम्यग्दर्शनादियुक्त मोक्षमार्ग) को नही पा सके है । अत वे न तो इस लोक के होते है, और न ही पर लोक के होते है, (किन्तु उभयलोक के सदनुष्ठान से भ्रष्ट होकर) वीच मे कामभोगो—(के कीचड) मे आसक्त हो (फस) जाते है ।

इस प्रकार प्रथम पुरुष तज्जीव-तच्छरीरवादी कहा गया है ।

विवेचन—प्रथम पुरुष : तज्जीव-तच्छरीरवादी का वर्णन—सूत्रसख्या ६४८ से ६५३ तक छह सूत्रो द्वारा शास्त्रकार ने कई पहलुओ से तज्जीव-तच्छरीरवादी—पूर्वोक्त प्रथम पुरुष—का वर्णन किया है । वे पहलू इस प्रकार है—

(१) अन्यतीर्थिको मे से प्रथम अन्यतीर्थिक द्वारा अपने राजा आदि धर्मश्रद्धालुओ के समक्ष तज्जीव-तच्छरीरवादरूप स्वधर्म के स्वरूप का निरूपण ।

(२) उनके द्वारा जीव-शरीर-पृथक्वादियो पर **प्रथम आक्षेप**—शरीर से आत्मा को वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, आकार-प्रकार आदि के रूप मे पृथक् करके स्पष्टतया बतला नही सकते ।

(३) **द्वितीय आक्षेप**—जीव और शरीर को निम्नोक्त पदार्थों के सदृश पृथक्-पृथक् करके उपलब्ध नही करा सकते—(१) तलवार और म्यान की तरह, (२) मुंज और इषिका की तरह, (३) मास और हड्डी की तरह, (४) हथेली और आँवले की तरह, (५) दही और मक्खन की तरह, (६) तिल की खली और तेल की तरह, (७) ईख के रस और उसके छिलके की तरह, (८) अरणि की लकडी और आग की तरह ।

(४) तज्जीव-तच्छरीरवादियो के द्वारा जीव-अजीव, परलोक आदि न माने जाने के कारण जीवहिंसा, चोरी, लूट आदि की निरकुश प्रवृत्ति करने-कराने का वर्णन ।

(५) उनके द्वारा सत्क्रिया—असत्क्रिया, सुकृत-दुष्कृत, कल्याण-पाप, सिद्धि-असिद्धि, धर्म-अधर्म आदि न माने जाने के कारण किये जाने वाले विविध आरम्भकार्य एव कामभोग-सेवन के लिए विविध दुष्कृत्यो का वर्णन ।

(६) 'मेरा ही धर्म सत्य है'—ऐसी हठाग्रहपूर्वक प्ररूपणा ।

(७) राजा आदि अनुयायियो द्वारा तज्जीव-तच्छरीरवादियो के प्रति श्रद्धा-प्रतीति-रुचि-पूर्वक प्रकट की जाने वाली कृतज्ञता एव पूजा—भक्तिभावना और उसकी आसक्ति मे फस जाने वाले तज्जीव-तच्छरीरवादी ।

(८) शरीरात्मवादियो द्वारा पूर्वगृहीत महाव्रतो एव त्याग-नियमादि की प्रतिज्ञा के भग का वर्णन ।

(९) इस प्रकार पूर्वोक्त प्रथमपुरुषवत् तज्जीव-तच्छरीरवादी उभय भ्रष्ट होकर कामभोग के कीचड में फस कर रह जाते हैं । वे गृहवासादि पूर्वसयोगो को भी छोड चुके होते हैं, लेकिन आर्य-धर्म नहीं प्राप्त कर पाते । तदनुसार वे ससारपाश से स्व-पर को मुक्त नही कर पाते ।

निष्कर्ष—पूर्वदिशा से पुष्करिणी के तट पर आये हुए और प्रधान श्वेतकमल को पाने के लिए लालायित, किन्तु पुष्करिणी के बीच मे ही कीचड एव पानी मे फसकर रह जाने वाले प्रथम पुरुष की तरह तज्जीव-तच्छरीरवादी भी ससार के तट पर आते हैं, मोक्षमार्ग को पाने के लिए एव आतुर कृत-प्रतिज्ञ साधुवेषी तज्जीव-तच्छरीरवाद की मान्यता एव तदनुसार सासारिक विषयभोगरूपी कीचड़ मे फस जाते है, वे उस समय गृहस्थाश्रम और साधुजीवन दोनो से भ्रष्ट हो जाने से वे स्वपर का उद्धार करने मे असमर्थ हो जाते हैं ।

द्वितीय पुरुष : पाञ्चमहाभूतिक : स्वरूप विश्लेषण

६५४. अहावरे दोच्चे पुरिसज्जाते पचमहब्भूतिए त्ति आहिज्जति ।

इह खलु पाईण वा ४ सतेगतीया मणुस्सा भवति अणुपुव्वेणं लोय उववण्णा, तं जहा—आरिया वेगे एवं जाव दुरूवा वेगे । तेसिं च णं महं एगे राया भवती महया० एवं चेव णिरवसेस जाव सेणावतिपुत्ता । तेसिं च ण एगतीए सड्ढी भवति, कामं त समणा य माहणा पहारिसु गमणाए । तत्थऽण्णयरेण धम्मेणं पन्नत्तारो वयमिमेणं धम्मेण पन्नवइस्सामो, से एवमायाणह भयंतारो ! जहा मे एस धम्मे सुअक्खाए सुपण्णत्ते भवति ।

६५४ पूर्वोक्त प्रथम पुरुष से भिन्न दूसरा पुरुष पञ्चमहाभूतिक कहलाता है ।

इस मनुष्यलोक की पूर्व, पश्चिम आदि दिशाओ मे मनुष्य रहते है । वे क्रमश नाना रूपो मे मनुष्यलोक मे उत्पन्न होते है, जैसे कि—कोई आर्य होते हैं, कोई अनार्य । इसी तरह पूर्वसूत्रोक्त वर्णन के अनुसार कोई कुरूप आदि होते हैं । उन मनुष्यो मे से कोई एक महान् पुरुष राजा होता है । वह राजा पूर्वसूत्रोक्त विशेषणो (महान् हिमवान् आदि) से युक्त होता है और उसकी राजपरिषद् भी पूर्वसूत्रोक्त सेनापतिपुत्र आदि से युक्त होती है । उन सभासदो मे से कोई पुरुष धर्मश्रद्धालु होता है । वे श्रमण और माहन उसके पास जाने का निश्चय करते हैं । वे किसी एक धर्म की शिक्षा देने वाले अन्यतीर्थिक श्रमण और माहन (ब्राह्मण) राजा आदि से कहते हैं—"हम आपको उत्तम धर्म की शिक्षा देगे ।" (इसके पश्चात् वे कहते हैं)—'हे भयत्राताओ ! प्रजा के भय का अन्त करने वालो ! मै जो भी उत्तम धर्म का उपदेश आपको दे रहा हूँ, वही पूर्वपुरुषो द्वारा सम्यक्प्रकार से कथित और सुप्रज्ञप्त (सत्य) है ।"

६५५ इह खलु पच महब्भूता जेहिं नो कज्जति किरिया ति वा अकरिया ति वा सुकडे ति वा दुक्कडे ति वा कल्लाणे ति वा पावए ति वा साहू ति वा असाहू ति वा सिद्धी ति वा असिद्धि ति वा णिरए ति वा अणिरए ति वा अवि यंतसो तणमातमवि ।

६५५ इस जगत् मे पचमहाभूत ही सब कुछ है। जिन से हमारी क्रिया या अक्रिया, सुकृत अथवा दुष्कृत, कल्याण या पाप, अच्छा या बुरा, सिद्धि या असिद्धि, नरकगति या नरक के अतिरिक्त अन्यगति, अधिक कहाँ तक कहे, तिनके के हिलने जैसी क्रिया भी (इन्ही पचमहाभूतो से) होती है।

६५६. त च पदुद्देसेणं पुढोभूतसमवातं जाणेज्जा, तं जहा—पुढवी एगे महब्भूते, आऊ दोच्चे महब्भूते, तेऊ तच्चे महब्भूते, वाऊ चउत्थे महब्भूते, आगासे पचमे महब्भूते। इच्चेते पंच महब्भूता अणिम्मिता अणिम्मेया अकडा णो कित्तिमा णो कडगा अणादिया अणिधणा अवझा अपुरोहिता सतंता सासता ।

६५६ उस भूत-समवाय (समूह) को पृथक्-पृथक् नाम से जानना चाहिए। जैसे कि—पृथ्वी एक महाभूत है, जल दूसरा महाभूत है, तेज (अग्नि) तीसरा महाभूत है, वायु चौथा महाभूत है और आकाश पाचवाँ महाभूत है। ये पाच महाभूत किसी कर्त्ता के द्वारा निर्मित (बनाये हुए) नही है, न ही ये किसी कर्त्ता द्वारा बनवाए हुए (निर्मापित) है, ये किये हुए (कृत) नही है, न ही ये कृत्रिम (बनावटी) हैं, और न ये अपनी उत्पत्ति के लिए किसी की अपेक्षा रखते है। ये पाचो महाभूत आदि एव अन्त रहित है तथा अवन्ध्य—अवश्य कार्य करने वाले हैं। इन्हे कार्य मे प्रवृत्त करने वाला कोई दूसरा पदार्थ नही है, ये स्वतन्त्र एव शाश्वत (नित्य) हैं।

६५७. आयछट्ठा पुण एगे, एवमाहु—सतो णत्थि विणासो, असतो णत्थि सभवो।[1] एताव ताव जीवकाए, एताव ताव अत्थिकाए, एताव ताव सव्वलोए, एत मुहं लोगस्स कारणयाए, अवि यतसो तणमातमवि ।

से किण किणावेमाणे, हण घातमाणे, पय पयावेमाणे, अवि अतसो पुरिसमवि विक्किणित्ता घायइत्ता, एत्थ वि जाणाहि—णत्थि एत्थ दोसो ।

६५७ कोई (साख्यवादी) पचमहाभूत और छठे आत्मा को मानते है। वे इस प्रकार कहते हैं कि सत् का विनाश नही होता और असत् की उत्पत्ति नही होती। (वे पचमहाभूतवादी कहते हैं—) "इतना ही (यही) जीव काय है, इतना ही (पचभूतो का अस्तित्वमात्र ही) अस्तिकाय है, इतना ही (पचमहाभूतरूप ही) समग्र जीवलोक है। ये पचमहाभूत ही लोक के प्रमुख कारण (समस्तकार्यों मे व्याप्त) हैं, यहाँ तक कि तृण का कम्पन भी इन पचमहाभूतो के कारण होता है।"

(इस दृष्टि से आत्मा असत् या अकिञ्चित्कर होने से) 'स्वय खरीदता हुआ, दूसरे से खरीद कराता हुआ, एव प्राणियो का स्वय घात करता हुआ तथा दूसरे से घात कराता हुआ, स्वय पकाता और दूसरो से पकवाता हुआ (उपलक्षण से इन सब असदनुष्ठानो का अनुमोदन करता हुआ), यहाँ

---

१ तुलना—'नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सत।' —भगवद्गीता अ २, श्लो १६

तक कि किसी पुरुष को (दास आदि के रूप मे) खरीद कर घात करने वाला पुरुष भी दोष का भागी नही होता क्योकि इन सब (सावद्य) कार्यों मे कोई दोष नही है, यह समझ लो।"

६५८. ते णो एत विप्पडिवेदेंति, तं जहा—किरिया ति वा जाव अणिरए ति वा। एवामेव ते विरूवरूवेहिं कम्मसमारंभेहिं विरूवरूवाइं कामभोगाइं समारभंति भोयणाए। एवामेव ते अणारिया विप्पडिवण्णा तं सद्दहमाणा पत्तियमाणा जाव इति ते णो हव्वाए णो पाराए, अंतरा कामभोगेसु विसण्णा।

दोच्चे पुरिसज्जाए पंचमहब्भूतिए त्ति आहिते।

६५८ वे (पचमहाभूतवादी) क्रिया से लेकर नरक से भिन्न गति तक के (पूर्वोक्त) पदार्थों को नही मानते। इस प्रकार वे नाना प्रकार के सावद्य कार्यों के द्वारा कामभोगो की प्राप्ति के लिए सदा आरम्भ-समारम्भ मे प्रवृत्त रहते है। अत वे अनार्य (आर्यधर्म से दूर), तथा विपरीत विचार वाले है। इन पचमहाभूतवादियो के धर्म (दर्शन) मे श्रद्धा रखने वाले एव इनके धर्म को सत्य मानने वाले राजा आदि (पूर्वोक्त प्रकार से) इनकी पूजा-प्रशसा तथा आदर सत्कार करते हैं, विषयभोग-सामग्री इन्हे भेट करते है। इस प्रकार सावद्य अनुष्ठान मे भी अधर्म न मानने वाले वे पचमहाभूतवादी स्त्री सम्बन्धी कामभोगो मे मूर्च्छित होकर न तो इहलोक के रहते हैं और न ही परलोक के। उभयभ्रष्ट होकर पूर्ववत् बीच मे ही कामभोगो मे फंस कर कष्ट पाते है।

यह दूसरा पुरुष पाञ्चमहाभूतिक कहा गया है।

विवेचन—द्वितीय पाञ्चमहाभूतिक पुरुष स्वरूप विश्लेषण—सूत्रसख्या ६५४ से ६५८ तक पाच सूत्रो द्वारा शास्त्रकार ने पाञ्चमहाभूतिक वाद का स्वरूप, उसको स्वीकार करने वाले तथा उसकी मोक्ष प्राप्ति मे असफलता का प्रतिपादन विविध पहलुओ से किया है। वे इस प्रकार है—

(१) सर्वप्रथम पूर्वसूत्रोक्त वर्णन भूमिका के रूप मे प्रस्तुत किया गया है।

(२) पच महाभूतो का महात्म्य—सारा ससार, ससार की सभी क्रियाए, जगत् की उत्पत्ति स्थिति और नाश आदि पचमहाभूतो के ही कारण हैं।

(३) पचमहाभूतो का स्वरूप—ये अनादि, अनन्त, अकृत, अनिर्मित, अकृत्रिम, अप्रेरित, स्वतत्र, काल, ईश्वर, आत्मा आदि से निरपेक्ष, स्वय समस्तक्रियाए करने वाले है।

(४) इसलिए क्रिया-अक्रिया, पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, आत्मा-परमात्मा आदि वस्तुओ का कोई अस्तित्व नही है।

(५) साख्यदर्शन के मतानुसार पचमहाभूतो के अतिरिक्त छठा आत्मा भी है। पर वह निष्क्रिय है, अकर्ता है। इसलिए अच्छा या बुरा फल उसे नही मिलता। अत दोनो ही प्रकार के पाचभूतवादियो के मतानुसार हिसा, असत्य आदि मे कोई दोष नही है।

(६) ऐसा मानकर वे नि सकोच स्वय कामभोगो या सावद्यकार्यों मे प्रवृत्त होते रहते हैं। फिर उन्होंने जिन राजा आदि धर्म श्रद्धालुओ को पक्के भक्त बनाए है, वे भी विविध प्रकार से उनकी पूजा-प्रतिष्ठा करके उनके लिए विषयभोगसामग्री जुटाते हैं।

(७) फलत. वे इस लोक से भी भ्रष्ट हो जाते हैं और परलोक से भी। वे ससार को पार

नही कर पाते, अधबीच मे ही कामभोगों के कीचड में फस जाते हैं। श्वेतकमल के समान निर्वाण पाना तो दूर रहा, वे न तो अपना उद्धार कर सकते हैं, न दूसरो का ही।

तृतीय पुरुष : ईश्वरकारणवादी-स्वरूप और विश्लेषण

६५९. अहावरे तच्चे पुरिसज्जाते ईसरकारणिए त्ति आहिज्जइ । इह खलु पाईणं वा ४ संतेगतिया मणुस्सा भवंति अणुपुव्वेणं लोयं उववन्ना, तं जहा—आरिया वेगे जाव तेसिं च णं महंते एगे राया भवति जाव सेणावतिपुत्ता । तेसिं च णं एगतीए सड्ढी भवति, कामं तं समणा य माहणा य पहारिंसु गमणाए जाव जहा मे एस धम्मे सुअक्खाए सुपण्णत्ते भवति ।

६५९. दूसरे पाञ्चमहाभूतिक पुरुष के पश्चात् तीसरा पुरुष 'ईश्वरकारणिक' कहलाता है। इस मनुष्यलोक मे पूर्व आदि दिशाओ में कई मनुष्य होते हैं, जो क्रमश इस लोक मे उत्पन्न है। जैसे कि उनमे से कोई आर्य होते है, कोई अनार्य इत्यादि। प्रथम सूत्रोक्त सब वर्णन यहाँ जान लेना चाहिए। उनमे कोई एक श्रेष्ठ पुरुष महान् राजा होता है, यहाँ से लेकर राजा की सभा के सभासदो (सेनापतिपुत्र) तक का वर्णन भी प्रथम सूत्रोक्त वर्णनवत् समझ लेना चाहिए। इन पुरुषो मे से कोई एक धर्मश्रद्धालु होता है। उस धर्मश्रद्धालु के पास जाने का तथाकथित श्रमण और ब्राह्मण (माहन) निश्चय करते है। वे उसके पास जाकर कहते है—हे भयत्राता महाराज! मै आपको सच्चा धर्म सुनाता हूँ, जो पूर्वपुरुषो द्वारा कथित एव सुप्रज्ञप्त है, यावत् आप उसे ही सत्य समझे।

६६०. इह खलु धम्मा पुरिसादीया पुरिसोत्तरिया पुरिसप्पणीया पुरिसपज्जोइता पुरिस-अभिसमण्णागता पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति।[1]

[१] से जहानामए गंडे सिया सरीरे जाते सरीरे वुड्ढे सरीरे अभिसमण्णागते सरीरमेव अभिभूय चिट्ठति। एवामेव धम्मा वि पुरिसादीया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठति।

[२] से जहाणामए अरई सिया सरीरे जाया सरीरे अभिसंवुड्ढा सरीरे अभिसमण्णागता सरीरमेव अभिभूय चिट्ठति। एवामेव धम्मा पुरिसादीया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठति।

[३] से जहाणामए वम्मिए सिया पुढवीजाते पुढवीसंवुड्ढे पुढवीअभिसमण्णागते पढवीमेव अभिभूय चिट्ठति। एवामेव धम्मा वि पुरिसादीया जाव अभिभूय चिट्ठति।

[४] से जहाणामए रुक्खे सिया पुढवीजति पुढविसंवुड्ढे पुढविअभिसमण्णागते पुढविमेव अभिभूय चिट्ठति। एवामेव धम्मा वि पुरिसाइया जाव अभिभूय चिट्ठंति।

[५] से जहानामए पुक्खरणी सिया पुढविजाता जाव पुढविमेव अभिभूय चिट्ठति। एवामेव धम्मा वि पुरिसादीया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति।

---

१ तुलना—' पुरिसादीया धम्मा ' से जहानामते अरतीसिया " एवामेव धम्मा वि पुरिसादीया जाव चिट्ठति। एव गडे वम्मीके थूभे रुक्खे, वणसडे, पुक्खरिणी उदगपुक्खले अगणिकाए सिया अरणीय जाते एवामेव धम्मावि पुरिसादीया त चेव। ' " इसिभासियाइं—अ २२, पृ ४३।

[६] से जहाणामए उदगपोक्खले सिया उदगजाए जाव उदगमेव अभिभूय चिट्ठति । एवामेव धम्मा वि जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति ।

[७] स जहाणामए उदगबुब्बुए सिया उदगजाए जाव उदगमेव अभिभूय चिट्ठति । एवामेव धम्मा वि पुरिसाईया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति ।

६६० इस जगत् मे जितने भी चेतन—अचेतन धर्म (स्वभाव या पदार्थ) हैं, वे सब पुरुषादिक है—ईश्वर या आत्मा (उनका) आदि कारण है, वे सब पुरुषोत्तरिक हैं—ईश्वर या आत्मा ही सब पदार्थों का कार्य है, अथवा ईश्वर ही उनका सहारकर्ता है, सभी पदार्थ ईश्वर द्वारा प्रणीत (रचित) है, ईश्वर से ही उत्पन्न (जन्मे हुए) हैं, सभी पदार्थ ईश्वर द्वारा प्रकाशित है, सभी पदार्थ ईश्वर के अनुगामी है, ईश्वर का आधार लेकर टिके हुए हैं।

(१) जैसे किसी प्राणी के शरीर मे हुआ फोडा (गुमड़ा) शरीर से ही उत्पन्न होता है शरीर मे ही बढता है, शरीर का ही अनुगामी बनता है और शरीर का ही आधार लेकर टिकता है, इसी तरह सभी धर्म (पदार्थ) ईश्वर से ही उत्पन्न होते हैं, ईश्वर से ही वृद्धिगत होते हैं, ईश्वर के ही अनुगामी हैं, ईश्वर का आधार लेकर ही स्थित रहते हैं।

(२) जैसे अरति (मन का उद्वेग) शरीर से ही उत्पन्न होती है, शरीर मे ही बढती है, शरीर की अनुगामिनी बनती है, और शरीर को ही मुख्य आधार बना करके पीडित करती हुई रहती है, इसी तरह समस्त पदार्थ ईश्वर से ही उत्पन्न, उसी से वृद्धिगत और उसी के आश्रय से स्थित हैं।

(३) जैसे वल्मीक (कीटविशेषकृत मिट्टी का स्तूप या दीमको के रहने की बाबी) पृथ्वी से उत्पन्न होता है, पृथ्वी मे ही बढता है, और पृथ्वी का ही अनुगामी है तथा पृथ्वी का ही आश्रय लेकर रहता है, वैसे ही समस्त पदार्थ (धर्म) भी ईश्वर से ही उत्पन्न हो कर उसी मे लीन होकर रहते है।

(४) जैसे कोई वृक्ष मिट्टी से ही उत्पन्न होता है, मिट्टी से ही उसका सवर्द्धन होता है, मिट्टी का ही अनुगामी बनता है, और मिट्टी मे ही व्याप्त होकर रहता है, वैसे ही सभी पदार्थ ईश्वर से उत्पन्न, सवर्द्धित और अनुगामिक होते हैं और अन्त मे उसी मे व्याप्त हो कर रहते है।

(५) जैसे पुष्करिणी (बावड़ी) पृथ्वी से उत्पन्न (निर्मित) होती है, और यावत् अन्त मे पृथ्वी मे ही लीन होकर रहती है, वैसे ही सभी पदार्थ ईश्वर से उत्पन्न होते है और अन्त मे उसी मे ही लीन हो कर रहते हैं।

(६) जैसे कोई जल का पुष्कर (पोखर या तालाब) हो, वह जल से ही उत्पन्न (निर्मित) होता है, जल से ही बढता है, जल का ही अनुगामी होकर अन्त मे जल को ही व्याप्त करके रहता है, वैसे ही सभी पदार्थ ईश्वर से उत्पन्न सवर्द्धित एव अनुगामी होकर उसी मे विलीन होकर रहते हैं।

(७) जैसे कोई पानी का बुद्बुद् (बुलबुला) पानी से उत्पन्न होता है, पानी से ही बढता है, पानी का ही अनुगमन करता है और अन्त मे पानी मे ही बिलीन हो जाता है, वैसे ही सभी पदार्थ ईश्वर से उत्पन्न होते हैं और अन्त मे उसी मे व्याप्त (लीन) होकर रहते हैं।

६६१. जं पि य इमं समणाणं णिग्गंथाणं उद्दिट्ठं वियंजियं दुवालसंगं गणिपिडगं, तं जहा—आयारो जाव दिट्ठिवातो, सव्वमेयं मिच्छा, ण एतं तहितं, ण एयं आहत्तहितं। इमं सच्चं, इमं तहितं, इमं आहत्तहितं, ते एवं सण्णं कुव्वंति, ते एवं सण्णं संठवेंति, ते एवं सण्णं सोवट्ठवयंति, तमेवं ते तज्जातियं दुक्खं णातिउट्टंति सउणी पंजरं जहा।

६६१ यह जो श्रमणो-निर्ग्रन्थो द्वारा कहा हुआ, रचा हुआ या प्रकट किया हुआ द्वादशाङ्ग गणिपिटक (आचार्यों का या गणधरो का ज्ञानपिटारा—ज्ञानभण्डार) है, जैसे कि—आचाराग, सूत्रकृताग से लेकर दृष्टिवाद तक, यह सब मिथ्या है, यह तथ्य (सत्य) नही है और न ही यह यथातथ्य (यथार्थ वस्तुस्वरूप का बोधक) है, (क्योकि यह सब ईश्वरप्रणीत नही है), यह जो हमारा (ईश्वरकर्तृत्ववाद या आत्माद्वैतवाद है) यह सत्य है, यह तथ्य है, यह यथातथ्य (यथार्थ रूप से वस्तुरूप प्रकाश) है। इस प्रकार वे (ईश्वरकारणवादी या आत्माद्वैतवादी) ऐसी सज्ञा (मान्यता या विचारधारा) रखते, (या निश्चत करते) है, वे अपने शिष्यो के समक्ष भी इसी मान्यता की स्थापना करते हैं, वे सभा मे भी वे इसी मान्यता से सम्बन्धित युक्तियाँ मताग्रहपूर्वक उपस्थित (प्रस्तुत) करते हैं। जैसे पक्षी पिंजरे को नही तोड सकता वैसे ही वे (पूर्वोक्तवादी) अपने ईश्वर—कर्तृत्ववाद या आत्माद्वैतवाद को अत्यन्ताग्रह के कारण नही छोड सकते, अत इस मत के स्वीकार करने से उत्पन्न (तज्जातीय) दु:ख (दु:ख के कारणभूत कर्मसमूह) को नही तोड सकते।

६६२. ते णो [एतं] विप्पडिवेदेंति तं जहा—किरिया इ वा जाव अणिरए ति वा। एवामेव ते विरूवरूवेहि कम्मसमारंभेहि विरूवरूवाइं कामभोगाइं समारंभित्ता भोयणाए एवामेव ते अणारिया विप्पडिवण्णा, तं सद्दहमाणा जाव इति ते णो हव्वाए णो पाराए, अंतरा कामभोगेसु विसण्णा।

तच्चे पुरिसज्जाते इस्सरकारणिए त्ति आहिते।

६६२ वे (ईश्वरकारणवादी या आत्माद्वैतवादी स्वमताग्रहग्रस्त होने से) इन (आगे कहे जाने वाली) बातो को नही मानते जैसे कि—पूर्वसूत्रोक्त[1] क्रिया से लेकर अनिरय (नरक से अतिरिक्त गति) तक हैं। वे नाना प्रकार के पापकर्मयुक्त (सावद्य) अनुष्ठानो के द्वारा कामभोगो के उपभोग के लिए अनेक प्रकार के कामभोगो का आरम्भ करते है। वे अनार्य (आर्यधर्म से दूर) है, वे विपरीत मार्ग को स्वीकार किये हुए है, अथवा भ्रम मे पडे हुए हैं। इस प्रकार के ईश्वरकर्तृत्ववाद मे श्रद्धा-प्रतीति रखने वाले वे धर्मश्रद्धालु राजा आदि उन मतप्ररूपक साधको की पूजा-भक्ति करते है, इत्यादि पूर्वोक्त वर्णन के अनुसार वे ईश्वरकारणवादी न तो इस लोक के होते हैं न परलोक के। वे उभयभ्रष्ट लोग बीच मे ही कामभोगो मे फस कर दु ख पाते है।

विवेचन—ईश्वरकारणवादी तृतीयपुरुष : स्वरूप और विश्लेषण—प्रस्तुत चार सूत्रो (सूत्र सख्या ६५९ से ६६२ तक) मे ईश्वरकारणवाद तथा आत्माद्वैतवाद का स्वरूप, प्रतिपक्ष पर आक्षेप एव दुष्परिणाम पर शास्त्रकार ने विभिन्न पहलुओ से प्रतिपादन किया है।

---

१ देखिए सूत्र ६५५ और उसका अर्थ

ईश्वरकारणवाद का मन्तव्य—प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन के तृतीय उद्देशक मे स्पष्ट कर दिया गया है, पाठक वही देखे ।

आत्माद्वैतवाद का स्वरूप—भी प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन मे बता दिया गया है । सक्षेप मे उनका मन्तव्य यह है कि सारे विश्व मे एक ही आत्मा है, वही प्रत्येक प्राणी मे स्थित है । वह एक होता हुआ भी विभिन्न जलपात्रो के जल मे प्रतिबिम्बित चन्द्र के समान प्रत्येक जीव मे भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है । जैसे मिट्टी से बने हुए सभी पात्र मृण्मय कहलाते हैं, तन्तु द्वारा बने हुए सभी वस्त्र तन्तुमय कहलाते है, इसी प्रकार समस्त विश्व आत्मा द्वारा निर्मित होने से आत्ममय है ।

इस चतु सूत्री मे निम्नोक्त तथ्यो का निरूपण किया गया है—(१) ईश्वरकारणवादी अथवा आत्माद्वैतवादी पुरुष का परिचय, (२) ईश्वरकारणवाद या आत्माद्वैतवाद का स्वरूप (३) ईश्वर-कारणवाद या आत्माद्वैतवाद को सिद्ध करने के लिए प्रतिपादित ७ उपमाए (क) शरीर मे उत्पन्न फोडे की तरह, (ख) शरीरोत्पन्न अरतिवत् (ग) पृथ्वी से उत्पन्न वल्मीकवत् (घ) पृथ्वीसमुत्पन्न वृक्षवत् (ङ) पृथ्वी से निर्मित पुष्करिणीवत्, (च) जल से उत्पन्न पुष्करवत् (छ) जल से उत्पन्न बुदबुदवत् । (४) ईश्वर कर्तृत्ववाद विरोधी श्रमणनिर्ग्रन्थो का द्वादशागी गणिपिटक ईश्वरकृत न होने से मिथ्या होने का आक्षेप और स्ववाद की सत्यता का प्रतिपादन, (५) ईश्वरकारणवादी या आत्मा-द्वैतवादी पूर्वसूत्रोक्तवत् क्रिया-अक्रिया से लेकर नरकादि गतियो को नही मानते । (६) अपने मिथ्यावाद के आश्रय से पापकर्म एव कामभोगो का नि·सकोच सेवन, (७) अनार्य एव विप्रतिपन्न ईश्वरकारणवादियो या आत्माद्वैतवादियो की दुर्दशा का पूर्ववत् वर्णन ।

आत्माद्वैतवाद भी युक्तिविरुद्ध--इस जगत् में जब एक आत्मा के सिवाय दूसरी वस्तु है ही नही तब फिर मोक्ष के लिए प्रयत्न, शास्त्राध्ययन आदि सब बाते व्यर्थ ही सिद्ध होगी, सारे जगत् के जीवो का एक आत्मा मानने पर सुखी-दु·खी, पापी-पुण्यात्मा आदि प्रत्यक्षदृश्यमान् विचित्रताए सिद्ध नही होगी, एक के पाप से सभी पापी और एक की मुक्ति से सबकी मुक्ति माननी पडेगी, जो कि आत्माद्वैतवादी को अभीष्ट नही है ।[४]

चतुर्थ पुरुष : नियतिवादी : स्वरूप और विश्लेषण

६६३. अहावरे चउत्थे पुरिसजाते णियतिवातिए त्ति आहिज्जति । इह खलु पाईणं वा ४ तहेव जाव सेणावतिपुत्ता वा, तेसिं च णं एगतिए सड्ढी भवति, कामं तं समणा य माहणा य सपहारिंसु गमणाए जाव जहा मे एस धम्मे सुअक्खाते सुपण्णत्ते भवति ।

६६३ तीन पुरुषो का वर्णन करने के पश्चात् अब नियतिवादी नामक चौथे पुरुष का वर्णन किया जाता है । इस मनुष्यलोक मे पूर्वादि दिशाओ के वर्णन से लेकर राजा और राजसभा के सभासद सेनापतिपुत्र तक का वर्णन प्रथम पुरुषोक्त पाठ के समान जानना चाहिए । पूर्वोक्त राजा और उसके सभासदो मे से कोई पुरुष धर्मश्रद्धालु होता है । उसे धर्मश्रद्धालु जान कर (धर्मोपदेशार्थ) उसके निकट जाने का श्रमण और ब्राह्मण निश्चय करते हैं । यावत् वे उसके पास जाकर कहते है--"मै आपको पूर्वपुरुषकथित और सुप्रज्ञप्त (सत्य) धर्म का उपदेश करता हूँ (उसे आप ध्यान से सुने) ।"

---

४ सूत्रकृताग शीलांकवृत्ति पत्राक २८४ से २८७ तक का साराश

६६४. इह खलु दुवे पुरिसा भवंति—एगे पुरिसे किरियमाइक्खति, एगे पुरिसे णोकिरियमाइक्खति। जे य पुरिसे किरियमाइक्खइ, जे य पुरिसे णोकिरियमाइक्खइ, दो वि ते पुरिसा तुल्ला एगट्ठा कारणमावन्ना।

बाले पुण एवं विप्पडिवेदेति कारणमावन्ने, त जहा—जोऽहमंसी दुक्खामि वा सोयामि वा जूरामि वा तिप्पामि वा पिड्डामि वा परितप्पामि वा अहं तमकासी, परो वा ज दुक्खति वा सोयइ वा जूरइ वा तिप्पइ वा पिड्डइ वा परितप्पइ वा परो एतमकासि, एवं से बाले सकारणं वा परकारण वा एव विप्पडिवेदेति कारणमावन्ने।

मेधावी पुण एव विप्पडिवेदेति कारणमावन्ने—अहमंसि दुक्खामि वा सोयामि वा जूरामि वा तिप्पामि वा पिड्डामि वा, परितप्पामि वा, णो अहमेतमकासि परो वा ज दुक्खति वा जाव परितप्पति वा नो परो एयमकासि। एवं से मेहावी सकारणं वा परकारणं वा एवं विप्पडिवेदेति कारणमावन्ने।

६६४ इस लोक मे (या दार्शनिक जगत् मे) दो प्रकार के पुरुष होते है—एक पुरुष क्रिया का कथन करता है, (जबकि) दूसरा क्रिया का कथन नही करता, (क्रिया का निषेध करता है)। जो पुरुष क्रिया का कथन करता है और जो पुरुष क्रिया का निषेध करता है, वे दोनो ही नियति के अधीन होने से समान हैं, तथा वे दोनो एक ही अर्थ वाले और एक ही कारण (नियतिवाद) को प्राप्त हैं।

ये दोनो ही अज्ञानी (बाल) हैं, अपने सुख और दु ख के कारणभूत काल, कर्म तथा ईश्वर आदि को मानते हुए यह समझते हैं कि मै जो कुछ भी दु ख पा रहा हूँ, शोक (चिन्ता) कर रहा हूँ, दु.ख से आत्मनिन्दा (पश्चात्ताप) कर रहा हूँ, या शारीरिक बल का नाश कर रहा हूँ, पीडा पा रहा हूँ, या सतप्त हो रहा हूँ, वह सब मेरे किये हुए कर्म (कर्मफल) है, तथा दूसरा जो दु ख पाता है, शोक करता है, आत्मनिन्दा करता है, शारीरिक बल का क्षय करता है, अथवा पीडित होता है या सतप्त होता है, वह सब उसके द्वारा किये हुए कर्म (कर्मफल) हैं। इस कारण वह अज्ञजीव (काल, कर्म, ईश्वर आदि को सुख-दु ख का कारण मानता हुआ) स्वनिमित्तक (स्वकृत) तथा परनिमित्तक (परकृत) सुखदु खादि को अपने तथा दूसरे के द्वारा कृत कर्मफल समझता है, परन्तु एकमात्र नियति को ही समस्त पदार्थों का कारण मानने वाला पुरुष तो यह समझता है कि 'मै जो कुछ दु ख भोगता हूँ, शोकमग्न होता हूँ या सतप्त होता हूँ, वे सब मेरे किये हुए कर्म (कर्मफल) नही हैं, तथा दूसरा पुरुष जो दु ख पाता है, शोक आदि से सतप्त—पीडित होता है, वह भी उसके द्वारा कृतकर्मों का फल नही है, (अपितु यह सब नियति का प्रभाव है)। इस प्रकार वह बुद्धिमान् पुरुष अपने या दूसरे के निमित्त से प्राप्त हुए दु ख आदि को यो मानता है कि ये सब नियतिकृत (नियति के कारण से हुए) है, किसी दूसरे के कारण से नही।

६६५. से बेमि—पाईणं वा ४ जे तसथावरा पाणा ते एवं संघायमावज्जंति, ते एवं परियायमावज्जंति, ते एवं विवेगमावज्जंति, ते एवं विहाणमागच्छंति, ते एवं संगइ यंति। उवेहाए णो एयं विप्पडिवेदेंति, तं जहा—किरिया ति वा जाव णिरए ति वा अणिरए ति वा। एवं ते विरूवरूवेहिं कम्मसमारंभेहिं विरूवरूवाइं कामभोगाइं समारभंति भोयणाए। एवामेव ते अणारिया विप्पडिवण्णा त सद्दहमाणा जाव इति ते णो हव्वाए णो पाराए, अंतरा कामभोगेसु विसण्णा।

चउत्थे पुरिसजाते णियइवाइए त्ति आहिए।

६६५. अत. मैं (नियतिवादी) कहता हूँ कि पूर्व आदि दिशाओ मे रहने वाले जो त्रस एव स्थावर प्राणी हैं, वे सब नियति के प्रभाव से ही औदारिक आदि शरीर की रचना (सघात) को प्राप्त करते हैं, वे नियति के कारण ही बाल्य, युवा और वृद्ध अवस्था (पर्याय) को प्राप्त करते हैं, वे नियतिवशात् ही शरीर से पृथक् (मृत) होते है, वे नियति के कारण ही काना, कुबडा आदि नाना प्रकार की दशाओ को प्राप्त करते है, नियति का आश्रय लेकर ही नाना प्रकार के सुख-दु खो को प्राप्त करते है ।"

(श्री सुधर्मास्वामी श्री जम्बूस्वामी से कहते है—) इस प्रकार नियति को ही समस्त अच्छे-बुरे कार्यों का कारण मानने की कल्पना (उत्प्रेक्षा) करके (नि सकोच एव कर्मफल प्राप्ति से निश्चिन्त होने से) नियतिवादी आगे कही जाने वाली बातो को नहीं मानते—क्रिया, अक्रिया से लेकर प्रथम सूत्रोक्त नरक और नरक से अतिरिक्त गति तक के पदार्थ । इस प्रकार वे नियतिवाद के चक्र मे पडे हुए लोग नाना प्रकार के सावद्यकर्मो का अनुष्ठान करके काम-भोगो का उपभोग करते है, इसी कारण (नियतिवाद मे श्रद्धा रखने वाले) वे (नियतिवादी) अनार्य है, वे भ्रम मे पडे है । वे न तो इस लोक के होते है और न परलोक के, अपितु काम-भोगो मे फस कर कष्ट भोगते है ।

यह चतुर्थपुरुष नियतिवादी कहलाता है ।

६६६. इच्चेते चत्तारि पुरिसजाता णाणापन्ना णाणाछदा णाणासीला णाणादिट्ठी णाणारुई णाणारभा णाणज्झवसाणसजुत्ता पहीणपुव्वसजोगा आरियं मग्गं असपत्ता, इति ते णो हव्वाए णो पाराए, अतरा कामभोगेसु विसण्णा ।

६६६ इस प्रकार ये पूर्वोक्त चार पुरुष भिन्न-भिन्न बुद्धि वाले, विभिन्न अभिप्राय वाले, विभिन्न शील (आचार) वाले, पृथक्-पृथक् दृष्टि (दर्शन) वाले, नाना रुचि वाले, अलग-अलग आरम्भ धर्मानुष्ठान वाले तथा विभिन्न अध्यवसाय (पुरुषार्थ) वाले है । इन्होने माता-पिता आदि गृहस्थाश्रमीय पूर्वसयोगो को तो छोड दिया, किन्तु आर्यमार्ग (मोक्षपथ) को अभी तक पाया नही है । इस कारण वे न तो इस लोक के रहते है और न ही परलोक के होते है, किन्तु बीच मे ही (सासारिक) काम-भोगो मे ग्रस्त होकर कष्ट पाते है ।

विवेचन—चतुर्थ पुरुष : नियतिवादी—स्वरूप और विश्लेषण—

प्रस्तुत चार सूत्रो मे से प्रथम तीन सूत्रो मे चतुर्थ पुरुष नियतिवादी के सम्बन्ध मे कुछ तथ्यो का तथा चतुर्थ सूत्र मे पूर्वोक्त चारो पुरुषो द्वारा आर्यमार्ग पाने मे असफलता का निरूपण है ।

नियतिवाद के सम्बन्ध मे यहाँ निम्नोक्त तथ्य प्रतिफलित होते है—

(१) नियतिवाद के प्ररूपक और उनके अनुगामी ।

(२) क्रियावादी और अक्रियावादी दोनो ही नियति के प्रभाव मे ।

(३) एकान्त-नियतिवादविरोधी सुखदु खादि स्व-स्वकृतकर्मफलानुसार मानते हैं ।

(४) नियतिवादी सुखदु खादि को स्वकृतकर्मफल न समझकर नियतिकृत मानते हैं ।

(५) नियति के प्रभाव से शरीर-रचना, बाल्य, युवा आदि अवस्थाएँ या विविध विरूपताएँ प्राप्त होती हैं ।

(६) भगवान् महावीर का मन्तव्य—एकान्तनियतिवादी नियति को समस्त कार्यों की उत्तरदायी मानकर नि सकोच सावद्यकर्म एव कामभोग सेवन करके उक्त कर्मबन्ध के फलस्वरूप ससार मे ही फंसे रहकर नाना कष्ट पाते है।[1]

एकान्त नियतिवाद-समीक्षा—नियतिवाद का मन्तव्य यह है कि मनुष्यो को जो कुछ भी भला-बुरा सुख-दु ख, हानि-लाभ, जीवन-मरण ग्रादि प्राप्त होना नियत निश्चित है, वह उसे ग्रवश्य ही प्राप्त होता है। जो होनहार नही है, वह नही होता ग्रौर जो होनहार है, वह हुए बिना नही रहता।[2] ग्रपने-ग्रपने मनोरथ की सिद्धि के लिए समानरूप से प्रयत्न करने पर भी किसी के कार्य की सिद्धि होती है, किसी के कार्य की नही, उसमे नियति ही कारण है। नियति को छोडकर काल, ईश्वर, कर्म ग्रादि को कारण मानना ग्रज्ञान है। नियतिवादी मानता है कि स्वय को या दूसरो को प्राप्त होने वाले सु ख-दु खादि स्वकृतकर्म के फल नही है, वे सब नियतिकृत है, जबकि ग्रज्ञानी लोग प्राप्त सुख-दुखादि को ईश्वरकृत, कालकृत या स्वकर्मकृत मानते है। शुभ कार्य करने वाले दु खी ग्रौर ग्रशुभ कार्य करने वाले सुखी दृष्टिगोचर होते है, इनमे नियति की ही प्रबलता है। क्रियावादी जो सत्क्रिया करता है, या ग्रक्रियावादी जो ग्रक्रिया का प्रतिपादन या ग्रसत्क्रिया (दु खजनक क्रिया) मे प्रवृत्ति करता है वह सब नियति की ही प्रेरणा से। जीव स्वाधीन नही है, नियति के वश है। सभी प्राणी नियति के ग्रधीन है।

यह एकान्तनियतिवाद युक्तिविरुद्ध है। नियति उसे कहते है, जो वस्तुग्रो को ग्रपने-ग्रपने स्वभाव मे नियत करती है। ऐसी स्थिति में नियति को ग्रपने (नियति के) स्वभाव मे नियत करने वाली दूसरी नियति की, ग्रौर दूसरी को स्व-स्वभाव मे नियत करने के लिए तीसरी नियति की ग्रावश्यकता रहेगी, यों ग्रनवस्था दोष ग्रायेगा। यदि यह कहे कि नियति ग्रपने स्वभाव मे स्वत नियत रहती है, तो यह क्यों नहीं मान लेते कि सभी पदार्थ ग्रपने-ग्रपने स्वभाव मे स्वत नियत रहते है, उन्हे स्व-स्वभाव मे नियत करने के लिए नियति नामक किसी दूसरे पदार्थ की ग्रावश्यकता नही रहती।

नियति नियत स्वभाववाली होने के कारण जगत् मे प्रत्यक्ष दृश्यमान विचित्रता एव विविधरूपता को उत्पन्न नही कर सकती, यदि वह विचित्र जगत् की उत्पत्ति करने लगेगी तो स्वय विचित्र स्वभाव वाली हो जाएगी, एक स्वभाव वाली नही रह सकेगी। ग्रत जगत् मे दृश्यमान विचित्रता के लिए कर्म को मानना ही उचित है। प्राणिवर्ग ग्रपने-ग्रपने कर्मों की विभिन्नता के कारण ही भिन्न-भिन्न ग्रवस्थाग्रो को प्राप्त करते हैं। स्वकृत कर्मो का फल माने बिना जगत् की विचित्रता सिद्ध नही हो सकती। ग्रगर नियति को विचित्र स्वभाववाली मानते है तो वह कर्म ही है, जिसे नियतिवादी 'नियति' शब्द से कहते है। दोनो के स्वरूप मे कोई ग्रन्तर नही रहता। वास्तव मे, जिस प्रकार वृक्षो का मूल सीचने से उनकी शाखाग्रो मे फल लगते है, उसी प्रकार इस जन्म मे किये हुए कर्मों का फल भोग ग्रागामी काल मे होता है। मनुष्य पूर्वजन्म मे शुभाशुभ कर्म सचित करता है,

१ सूत्रकृताग शीलांकवृत्ति पत्राक २८८-२८९ का सारांश

२ प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थः, सोऽवश्य भवति नृणां शुभोऽशुभो वा।
भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने, नाभाव्यं भवति, न भाविनोऽस्ति नाशः॥
—सूत्रकृ शी वृत्ति, पत्र [illegible] मे उद्धृत

उसके अनुसार स्व-स्वकृत कर्मपरिणाम को सुर या असुर कोई भी अन्यथा नही कर सकता है।[1] कर्म का फल नियत है, अवश्यम्भावी है, उसे न मानकर एकमात्र नियति को सबका कारण मानना मिथ्या है।

एकान्तनियतिवादी अपने शुभाशुभ कर्मों का दायित्व स्वय पर न लेकर नियति पर डाल देता है, इसके कारण वह पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरकादि परलोक, सुकृत-दुष्कृत, शुभाशुभफल आदि का चिन्तन छोडकर नि सकोच सावद्य अनुष्ठानो एव काम-भोगो मे प्रवृत्त हो जाता है। इस प्रकार नियतिवादी उभयलोक से भ्रष्ट हो जाता है, जब कि कर्म को मानने वाला अशुभकर्मो से दूर रहेगा, तथा कर्मक्षय करने का पुरुषार्थ करेगा और एक दिन सर्वकर्मक्षयरूप मोक्ष को प्राप्त कर सकेगा।

चारो कोटि के पुरुष : मिथ्यावाद प्ररूपक—पृथक्-पृथक् बुद्धि, अभिप्राय, रुचि, दृष्टि, शील, आरम्भ और निश्चयवाले ये चारो पुरुष एकान्तवादी तथा अपने-अपने मताग्रह के कारण अधर्म को भी धर्म समझने वाले है, इस कारण ये चारो मिथ्यावादप्ररूपक हैं। अत ये स्वकृतकर्मफलानुसार ससार के काम-भोगरूपी कीचड मे फस कर दु खी होते है।

भिक्षावृत्ति के लिए समुद्यत भिक्षु के लिए वैराग्योत्पादकपरिज्ञानसूत्र

६६७ **से बेमि पाईण वा ४ सतेगतिया मणुस्सा भवति; तं जहा—आरिया वेगे अणारिया वेगे, उच्चागोया वेगे णीयागोया वेगे, कायमंता वेगे हस्समंता वेगे, सुवण्णा वेगे दुवण्णा वेगे, सुरूवा वेगे दुरूवा वेगे। तेसिं च ण खेत्त-वत्थूणि परिग्गहियाणि भवंति, त जहा—अप्पयरा वा भुज्जतरा वा। तेसिं च ण जण-जाणवयाइं परिग्गहियाइं भवति, त जहा—अप्पयरा वा भुज्जयरा वा। तहप्प-कारेहिं कुलेहिं आगम्म अभिभूय एगे भिक्खायरियाए समुट्ठिता, सतो वा वि एगे णायओ य उवकरणं च विप्पजहाय भिक्खायरियाए समुट्ठिता। असतो वा वि एगे नायओ य उवकरणं च विप्पजहाय भिक्खायरियाए समुट्ठिता।**

६६७ (श्री सुधर्मास्वामी श्री जम्बूस्वामी से कहते है--) मैं ऐसा कहता हूँ कि पूर्व आदि चारो दिशाओ मे नाना प्रकार के मनुष्य निवास करते है, जैसे कि कोई आर्य होते हैं, कोई अनार्य होते है, कोई उच्चगोत्रीय और कोई नीचगोत्रीय होते है, कोई मनुष्य लम्बे कद के (ऊँचे) और कोई ठिगने कद के (ह्रस्व) होते है, किसी के शरीर का वर्ण सुन्दर होता है, किसी का असुन्दर होता है, कोई सुरूप होते हैं, कोई कुरूप। उनके पास (अपने स्वामित्व के थोडे या बहुत) खेत और मकान आदि होते है, उनके अपने जन (परिवार, कुल आदि के लोग) तथा जनपद (देश) परिगृहीत (अपने स्वामित्व के) होते हैं, जैसे कि किसी का परिग्रह थोडा और किसी का अधिक। इनमे से कोई पुरुष पूर्वोक्त कुलो मे जन्म लेकर विषय-भोगो की आसक्ति छोडकर भिक्षावृत्ति धारण करने के लिए (दीक्षाग्रहण हेतु) उद्यत होते है। कई विद्यमान ज्ञातिजन (स्वजन), अज्ञातिजन (परिजन) तथा उपकरण (विभिन्न भोगोपभोग-साधन या धन-धान्यादि वैभव) को छोडकर भिक्षावृत्ति धारण करने

---

१ यदिह क्रियते कर्म, तत्परत्रोपभुज्यते, मूलसिक्तेषु वृक्षेषु फल शाखासु जायते ॥ १ ॥
यदुपात्तमन्यजन्मनि शुभाशुभ वा स्वकर्मपरिणत्या, तच्छक्यमन्यथा नो कर्तुं देवासुरैरपि हि ॥ २ ॥
—सू० कृ० शी० वृत्ति पृ० २८९ मे उद्धृत

(प्रव्रजित होने) के लिए समुद्यत होते है, अथवा कई अविद्यमान ज्ञातिजन, अज्ञातिजन एव उपकरण का त्याग करके भिक्षावृत्ति धारण करने के लिए समुद्यत होते है।

६६८. जे ते सतो वा असतो वा णायओ य उवकरण च विप्पजहाय भिक्खायरियाए समुट्ठिता पुव्वामेव तेहिं णात भवति, तं जहा—इह खलु पुरिसे अण्णमण्णं ममट्ठाए एवं विप्पडिवेदेति, तं जहा—खेत्तं मे, वत्थु मे, हिरण्णं मे, सुवण्ण मे, धण मे, धण्णं मे, कंस मे, दूसं मे, विपुल-धण-कणग-रयण-मणि-मोत्तिय-सख-सिल-प्पवाल-रत्त-रयण-संतसार-सावतेयं मे, सद्दा मे, रूवा मे, गंधा मे, रसा मे, फासा मे, एते खलु मे कामभोगा, अहमवि एतेसिं।

६६८. जो विद्यमान अथवा अविद्यमान ज्ञातिजन, अज्ञातिजन एव उपकरण का त्याग करके भिक्षाचर्या (साधुदीक्षा) के लिए समुत्थित होते है, इन दोनो प्रकार के ही साधको को पहले से ही यह ज्ञात होता है कि इस लोक मे पुरुषगण अपने से भिन्न वस्तुओ (पर-पदार्थों) को उद्देश्य करके झूठमूठ ही ऐसा मानते है कि ये मेरी है, मेरे उपभोग मे आएँगी, जैसे कि—यह खेत (या जमीन) मेरा है, यह मकान मेरा है, यह चाँदी मेरी है, यह सोना मेरा है, यह धन मेरा है, धान्य मेरा है, यह कासे के बर्तन मेरे हैं, यह बहुमूल्य वस्त्र या लोह आदि धातु मेरा है, यह प्रचुर धन (गाय, भैंस आदि पशु) यह बहुत-सा कनक, ये रत्न, मणि, मोती, शखशिला, प्रवाल (मू गा), रक्तरत्न (लाल), पद्मराग आदि उत्तमोत्तम मणियाँ और पैतृक नकद धन, मेरे हैं, ये कर्णप्रिय शब्द करने वाले वीणा, वेणु आदि वाद्य-साधन मेरे हैं, ये सुन्दर और रूपवान पदार्थ मेरे हैं, ये इत्र, तेल आदि सुगन्धित पदार्थ मेरे है, ये उत्तमोत्तम स्वादिष्ट एव सरस खाद्य पदार्थ मेरे है, ये कोमल-कोमल स्पर्श वाले गद्दे, तोशक आदि पदार्थ मेरे हैं। ये पूर्वोक्त पदार्थ-समूह मेरे कामभोग के साधन है, मै इनका योगक्षेम (अप्राप्त को प्राप्त करने और प्राप्त की रक्षा) करने वाला हूँ, अथवा उपभोग करने मे समर्थ हूँ।''

६६९. से मेहावी पुव्वामेव अप्पणा एव समभिजाणेज्जा, त जहा—इह खलु मम अण्णयरे दुक्खे रोगायके समुप्पज्जेज्जा अणिट्ठे अकते अप्पिए असुभे अमणुण्णे अमणामे दुक्खे णो सुहे, से हता भयंतारो कामभोगा! इम मम अण्णतर दुक्ख रोगायक परियाइयह अणिट्ठ अकतं अप्पियं असुभ अमणुण्णं अमणामं दुक्ख णो सुहं, ताह दुक्खामि वा सोयामि वा जूरामि वा तिप्पामि वा पिड्डामि वा परितप्पामि वा, इमाओ मे अण्णतराओ दुक्खातो रोगायंकातो पडिमोयह अणिट्ठातो अकंतातो अप्पियाओ असुहाओ अमणुन्नाओ अमणामाओ दुक्खाओ णो सुहातो। एवामेव नो लद्धपुव्वं भवति।

६६९ वह (प्रव्रजित अथवा प्रव्रज्या लेने का इच्छुक) मेधावी साधक स्वय पहले से ही (इनका उपभोग करने से पूर्व ही) यह भलीभाँति जान ले कि "इस ससार मे जब मुझे कोई राग या आतक उत्पन्न होता है, जो कि मुझे इष्ट नही है, कान्त (मनोहर) नही है, प्रिय नही है, अशुभ है, अमनोज्ञ है, अधिक पीडाकारी (मनोव्यथा पैदा करने वाला) है, दु.खरूप है, सुखरूप नही है, (तब यदि मैं प्रार्थना करू कि) हे भय का अन्त करने वाले मेरे धनधान्य आदि कामभोगो! मेरे इस अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ, अतीव दु खद, दु खरूप या असुखरूप रोग, आतक आदि को तुम बाट कर ले लो, क्योकि मै इस पीडा, रोग या आतक से बहुत दु.खी हो रहा हूँ, मैं चिन्ता या शोक से व्याकुल हूँ, इनके कारण मै बहुत चिन्ताग्रस्त हूँ, मैं अत्यन्त पीडित हो रहा हूँ, मैं बहुत ही

वेदना पा रहा हूँ, या अतिसतप्त हूँ। अत तुम सब मुझे इस अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ, अवमान्य, दु:खरूप या असुखरूप मेरे किसो एक दु:ख से या रोगातक से मुझे मुक्त करा दो।" तो वे (धनधान्यादि कामभोग) पदार्थ उक्त प्रार्थना सुनकर दु खादि से मुक्त करा दे, ऐसा कभी नही होता।

६७०. इह खलु कामभोगा णो ताणाए वा सरणाए वा, पुरिसे वा एगता पुव्वि कामभोगे विप्पजहति, कामभोगा वा एगता पुव्वि पुरिसं विप्पजहंति, अन्ने खलु कामभोगा अन्नो अहमंसि, से किमंग पुण वयं अन्नमन्नेहिं कामभोगेहिं मुच्छामो ? इति संखाए ण वयं कामभोगे विप्पजहिस्सामो।

६७० इस ससार मे वास्तव मे, (अत्यन्त परिचित वे धन-धान्यादि परिग्रह विशेष तथा शब्दादि) काम-भोग दु ख से पीडित उस व्यक्ति की रक्षा करने या शरण देने मे समर्थ नही होते। इन काम-भोगो का उपभोक्ता किसी समय तो (दु साध्यव्याधि, जराजीर्णता, या अन्य शासनादि का उपद्रव या मृत्युकाल आने पर) पहले से ही स्वय इन काम-भोग पदार्थों को (बरतना) छोड देता है, अथवा किसी समय (द्रव्यादि के अभाव मे) (विषयोन्मुख) पुरुष को काम-भोग (ये कामभोग्य साधन) पहले ही छोड़ (कर चल) देते है। इसलिए ये काम-भोग मेरे से भिन्न है, मै इनसे भिन्न हूँ। फिर हम क्यो अपने से भिन्न इन काम-भोगो (धन धान्यादि तथा ज्ञातिजनादि परिग्रह-विशेष तथा शब्दादि कामभोग्य पदार्थों) मे मूर्च्छित—आसक्त हो। इस प्रकार इन सबका ऐसा स्वरूप जानकर (अब) हम इन कामभोगो का परित्याग कर देगे।

६७१. से मेहावी जाणेज्जा बाहिरंगमेतं, इणमेव उवणीततराग, तं जहा—माता मे, पिता मे, भाया मे, भज्जा मे, भगिणी मे, पुत्ता मे, धूता मे, नत्ता मे, सुण्हा मे, पेसा मे, सुही मे, सयण-संगंथ-संथुता मे, एते खलु मे णायओ, अहमवि एतेसिं।

६७१ (इस प्रकार वह विवेकशील) बुद्धिमान् साधक (निश्चितरूप से) जान ले, ये सब काम-भोगादिपदार्थ बहिरग—बाह्य हैं, मेरी आत्मा से भिन्न (परभाव) है। (सासारिक दृष्टि वाले मानते है कि) इनमे तो मेरे निकटतर ये ज्ञातिजन (स्वजन) है—जैसे कि (वह कहता है—) "यह मेरी माता है, मेरा पिता है, मेरा भाई है, मेरी बहन है, मेरी पत्नी है, मेरे पुत्र है, मेरी पुत्री है, ये मेरे दास (नौकर-चाकर) है, यह मेरा नाती है, मेरी पुत्र-वधू है, मेरा मित्र है, ये मेरे पहले और पीछे के स्वजन एव परिचित सम्बन्धी है। ये मेरे ज्ञातिजन हैं और मै भी इनका आत्मीय जन हूँ।"

६७२. से मेहावी पुव्वामेव अप्पणा एवं समभिजाणेज्जा—इह खलु मम अण्णतरे दुक्खे रोगातंके समुप्पज्जेज्जा अणिट्ठे जाव दुक्खे नो सुहे, से हंता भयंतारो णायओ इमं ममऽण्णतरं दुक्खं रोगायंकं परिआदियध[1] अणिट्ठं जाव नो सुहं, ना हं[2] दुक्खामि वा जाव परितप्पामि वा, इमातो मं

---

१ तुलना—'न तस्स दुक्ख विभयति नाइओ, न मित्तवग्गा न सुया न बधवा।
एक्को सय पच्चणु होइ दुक्ख, कत्तारमेव अणुजाइ कम्म॥

—उत्तराध्ययन, अ १३ गा २३

२. पाठान्तर है—'ताऽहं', 'माऽहं'। ताऽह होने पर व्याख्या मे थोडा परिवर्तन हो जाता है।

अन्नयरातो दुक्खातो रोगायंकातो पडिमोएह अणिट्ठाओ जाव णो सुहातो । एवामेव णो लद्धपुव्वं भवति ।

६७२ (किन्तु उक्त शास्त्रज्ञ) बुद्धिमान साधक को स्वय पहले से ही सम्यक् प्रकार से जान लेना चाहिए कि इस लोक मे मुझे किसी प्रकार का कोई दु ख या रोग-आतक (जो कि मेरे लिए अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय यावत् दु खदायक है) पैदा होने पर मैं अपने ज्ञातिजनो से प्रार्थना करूँ कि हे भय का अन्त करने वाले ज्ञातिजनो ! मेरे इस अनिष्ट, अप्रिय यावत् दु खरूप या असुखरूप दु ख या रोगातक को आप लोग बराबर बाट ले, ताकि मै इस दु ख से दु खित, चिन्तित, यावत् अतिसतप्त न होऊँ । आप सब मुझे इस अनिष्ट यावत् उत्पीडक दु ख या रोगातक से मुक्त करा (छुटकारा दिला) दे । इस पर वे ज्ञातिजन मेरे दु ख और रोगातक को बाँट कर ले ले, या मुझे इस दु ख या रोगातक से मुक्त करा दे, ऐसा कदापि नही होता ।

६७३. तेसिं वा वि भयंताराण मम णाययाण अण्णयरे दुक्खे रोगातके समुप्पजेज्जा अणिट्ठे जाव नो सुहे, से हता अहमेतेसिं भयंताराणं णाययाणं इमं अण्णतरं दुक्ख रोगातकं परियाइयामि अणिट्ठं जाव णो सुहं, मा मे दुक्खंतु वा जाव परितप्प तु वा, इमाओ ण अण्णतरातो दुक्खातो रोगातंकातो परिमोएमि अणिट्ठातो जाव नो सुहातो । एवामेव णो लद्धपुव्व भवति ।

६७३ अथवा भय से मेरी रक्षा करने वाले उन मेरे ज्ञातिजनो को ही कोई दु ख या रोग उत्पन्न हो जाए, जो अनिष्ट, अप्रिय यावत् असुखकर हो, तो मै उन भयत्राता ज्ञातिजनो के अनिष्ट, अप्रिय यावत् असुखरूप उस दु ख या रोगातक को बाट कर ले लू , ताकि वे मेरे ज्ञातिजन दु ख न पाएँ यावत् वे अतिसतप्त न हो, तथा मैं उन ज्ञातिजनो को उनके किसी अनिष्ट यावत् असुखरूप दु ख या रोगातक से मुक्त कर दूँ, ऐसा भी कदापि नही होता ।

६७४ अण्णस्स दुक्खं अण्णो नो परियाइयति, अन्नेण कडं कम्म अन्नो नो पडिसवेदेति, पत्तेय जायति, पत्तेय मरइ, पत्तेयं चयति, पत्तेय उववज्जति, पत्तेय झझा, पत्तेय सण्णा, पत्तेय मण्णा, एव विण्णू, वेदणा, इति खलु णातिसंयोगा णो ताणाए वा णो सरणाए वा, पुरिसो वा एगता पुव्वि णातिसयोगे विप्पजहति, नातिसयोगा वा एगता पुव्वि पुरिस विप्पजहति, अन्ने खलु णातिसयोगा अन्नो अहमसि, से किमग पुण वय अन्नमन्नेहिं णातिसयोगेहिं मुच्छामो ? इति सखाए णं वय णातिसंयोगे विप्पजहिस्सामो ।

६७४ (क्योकि) दूसरे के दु ख को दूसरा व्यक्ति बाँट कर नही ले सकता । दूसरे के द्वारा कृत कर्म का फल दूसरा नही भोग सकता । प्रत्येक प्राणी अकेला ही जन्मता है, आयुष्य क्षय होने पर अकेला ही मरता है, प्रत्येक व्यक्ति अकेला ही (धन-धान्य-हिरण्य-सुवर्णादि परिग्रह, शब्दादि विषयो या माता-पितादि के सयोगो का) त्याग करता है, अकेला ही प्रत्येक व्यक्ति इन वस्तुओ का उपभोग या स्वीकार करता है, प्रत्येक व्यक्ति अकेला ही झझा (कलह) आदि कषायो को ग्रहण करता है, अकेला ही पदार्थों का परिज्ञान (सज्ञान) करता है, तथा प्रत्येक व्यक्ति अकेला ही मनन-चिन्तन करता है, प्रत्येक व्यक्ति अकेला ही विद्वान् होता है, (उसके बदले मे दूसरा कोई विद्वान् नही बनता), प्रत्येक व्यक्ति

अपने-अपने सुख-दु ख का वेदन (अनुभव) करता है। अत पूर्वोक्त प्रकार से (अन्यकृत कर्म का फल अन्य नही भोगता, तथा प्रत्येक व्यक्ति के जन्म-जरा-मरणादि भिन्न-भिन्न हैं इस सिद्धान्त के अनुसार ज्ञातिजनो का सयोग दु ख से रक्षा करने या पीडित मनुष्य को शान्ति या शरण देने मे समर्थ नही है। कभी (क्रोधादिवश या मरणकाल मे) मनुष्य स्वय ज्ञातिजनो के सयोग को पहले ही छोड देता है अथवा कभी ज्ञातिसयोग भी मनुष्य के दुर्व्यवहार-दुराचरणादि देखकर) मनुष्य को पहले छोड देता है। अत (मेधावी साधक यह निश्चित जान ले कि) 'ज्ञातिजनसयोग मेरे से भिन्न है, मै भी ज्ञातिजन सयोग से भिन्न हूँ।' तब फिर हम अपने से पृथक् (आत्मा से भिन्न) इन ज्ञातिजनसयोग मे क्यो आसक्त हो ? यह भलीभाँति जानकर अब हम ज्ञाति-सयोग का परित्याग कर देंगे।

६७५. से मेहावी जाणेज्जा बाहिरगमेत,[1] इणमेव उवणीयतराग, तं जहा—हत्था मे, पाया मे, बाहा मे, ऊरू मे, सीस मे, उदर मे, सील मे, आउं मे, बल मे, वण्णो मे, तया मे, छाया मे, सोय मे, चक्खु मे, घाण मे, जिब्भा मे, फासा मे, ममाति। जसि वयातो परिजूरति तं जहा—आऊओ बलाओ वण्णाओ तताओ छाताओ सोताओ जाव फासाओ, सुसधीता सधी विसंधी भवति, वलितरगे गाते भवति, किण्हा केसा पलिता भवति, त जहा- जं पि य इम सरीरगं उरालं आहारोवचिय एत पि य मे अणुपुव्वेण विप्पजहियव्व भविस्सति।

६७५—परन्तु मेधावी साधक को यह निश्चित रूप से जान लेना चाहिए कि ज्ञातिजनसयोग तो बाह्य वस्तु (आत्मा से भिन्न—परभाव) है ही, इनसे भी निकटतर सम्बन्धी ये सब (शरीर के सम्बन्धित अवयवादि) है, जिन पर प्राणी ममत्व करता है, जैसे कि—ये मेरे हाथ है, ये मेरे पैर है, ये मेरी बाहे है, ये मेरी जाघे है, यह मेरा मस्तक है, यह मेरा शील (स्वभाव या आदत) है, इसी तरह मेरी आयु, मेरा बल, मेरा वर्ण (रग), मेरी चमडी (त्वचा) मेरी छाया (अथवा कान्ति) मेरे कान, मेरे नेत्र, मेरी नासिका, मेरी जिह्वा, मेरी स्पर्शेन्द्रिय, इस प्रकार प्राणी 'मेरा-मेरा' करता है। (परन्तु याद रखो) आयु अधिक होने पर ये सब जीर्ण-शीर्ण हो जाते है। जैसे कि (वृद्ध होने के साथ-साथ मनुष्य) आयु से, बल से, त्वचा से, कान से, तथा स्पर्शेन्द्रियपर्यन्त सभी शरीर सम्बन्धी पदार्थो से क्षीण-हीन हो जाता है। उसकी सुघटित (गठी हुई) दृढ सन्धियाँ (जोड) ढीली हो जाती है, उसके शरीर की चमडी सिकुड कर नसो के जाल से वेष्टित (तरगरेखावत्) हो जाती है। उसके काले केश सफेद हो जाते है, यह जो आहार से उपचित (वृद्धिगत) औदारिक शरीर है, वह भी क्रमश अवधि (आयुष्य) पूर्ण होने पर छोड देना पडेगा।

६७६ एयं संखाए से भिक्खू भिक्खायरियाए समुट्ठिते दुहतो लोग जाणेज्जा, तं जहा—जीवा चेव अजीवा चेव, तसा चेव, थावरा चेव।

६७६ यह जान कर भिक्षाचर्या स्वीकार करने हेतु प्रव्रज्या के लिए समुद्यत साधु लोक को दोनो प्रकार से जान ले, जैसे कि—लोक जीवरूप है और अजीवरूप है, तथा त्रसरूप है और स्थावररूप है।

---

१ पाठान्तर—**बाहिरए ताव एस संजोगू** —चूर्णि

विवेचन—भिक्षावृत्ति के लिए समुद्यत भिक्षु के लिए वैराग्योत्पादक परिज्ञानसूत्र—प्रस्तुत दशसूत्रो (सू. स ६६७ से ६७६ तक) मे आत्मा से भिन्न समस्त सांसारिक सजीव-निर्जीव पदार्थों एव काम-भोगो से विरक्त होकर प्रव्रजित होने की भूमिका के कतिपय परिज्ञानसूत्र प्रस्तुत किये हैं।

वे इस प्रकार हैं—

(१) आर्य-अनार्य आदि अनेक प्रकार के मनुष्यो मे से कई क्षेत्र, वास्तु तथा जन (ज्ञातिजन आदि) एव जानपद का थोडा या बहुत परिग्रह रखते है।

(२) उनमे से तथाकथित कुलो मे जन्मे कुछ व्यक्ति प्रव्रजित होने के लिए तत्पर होते हैं।

(३) उनमे से कई विद्यमान और कई अविद्यमान स्वजन, परिजन एव भोगोपभोग साधनो को छोड कर दीक्षाग्रहण करने के लिए उद्यत होते है।

(४) उन्हे यह जान लेना चाहिए कि सासारिक दृष्टि वाले क्षेत्र-वास्तु आदि परिग्रह एव शब्दादि काम-भोगो को अपना और स्वय को उनका समझते हैं।

(५) वह दीक्षाग्रहण से पूर्व ही यह जान ले कि ये कामभोग किसी अनिष्ट दु ख या रोग के होने पर प्रार्थना करने पर भी उस दु ख या रोगातक को बाट लेने या उससे छुडाने मे समर्थ नही होते, न ही रक्षण एव शरणप्रदान मे समर्थ होते है।

(६) बल्कि कभी तो मनुष्य रोगादि कारणवश स्वय इन कामभोगो को पहले छोड देता है, या कभी ये मनुष्य को छोड देते है।

(७) अत ये कामभोग मुझ से भिन्न है, मै इनसे भिन्न हूँ, इस परिज्ञान को लेकर कामभोगो मे मूर्च्छित न होकर उनका परित्याग करने का सकल्प करता है।

(८) वह मेधावी साधक यह जान ले कि कामभोग तो प्रत्यक्ष बाह्य है, परन्तु इनसे भी निकटतर माता-पिता आदि ज्ञातिजन है, जिन पर मनुष्य ममत्व करता है, ज्ञातिजनो को अपना और अपने को ज्ञातिजनो का मानता है।

परन्तु वह मेधावी दीक्षाग्रहण से पूर्व ही यह जान ले कि ये ज्ञातिजन भी किसी अनिष्ट, दु ख या रोगातक के आ पडने पर प्रार्थना करने पर भी उस अप्रिय दु ख या रोगातक को बाट लेने या उससे छुडाने मे समर्थ नही होते, न ही वे त्राण या शरण प्रदान कर सकते है। और न ही वह मनुष्य उन ज्ञातिजनो की प्रार्थना पर उनपर आ पडे हुए अनिष्ट दु ख या रोगातक को बाट कर ले सकता है, न उससे उन्हे छुडा सकता है।

(९) कारण यह है कि दूसरे का दु ख न तो दूसरा ले सकता है, न ही अन्यकृत कर्म का फल अन्य भोग सकता है। जीव अकेला जन्मता, मरता है, परिग्रहादि सचय करता है, उनका उपभोग करता है, व्यक्ति अकेला ही कषाय करता है, अकेला ही ज्ञान प्राप्त करता है, अकेला ही चिन्तन-मनन, अकेला ही विद्वान् होता है, अकेला ही सुख-दु खानुभव करता है, इसलिए ज्ञातिजन रक्षा करने या शरण देने मे समर्थ नही हो सकते। कभी तो किसी कारणवश मनुष्य पहले ही अपने ज्ञातिजनो को छोड देता है, कभी वे उसे पहले छोड देते हैं। इसलिए ज्ञातिजन मुझ से भिन्न हैं, मैं ज्ञातिजन से भिन्न हूँ, फिर क्यो ज्ञातिजनो के साथ आसक्तिसम्बन्ध रखू? यह जान कर ही वह ज्ञातिजनो के प्रति आसक्तियुक्त सयोग को छोडने का सकल्प करता है।

(१०) ज्ञातिजन तो प्रत्यक्षत. भिन्न प्रतीत होते हैं, उनसे भी निकटतर ये शरीरसम्बन्धित हाथ पैर आदि अवयव अथवा आयु, बल, वर्ण, कान्ति आदि पदार्थ हैं, जिन पर मनुष्य ममत्व करता है। यद्यपि वय से वृद्ध होने पर उसके इन सब अगो या शरीरसम्बद्ध पदार्थों का ह्रास हो जाता है तथा एक दिन आहारादि से सवर्धित इस शरीर को छोडकर जाना पडता है।

(११) यह जान कर भिक्षावृत्ति के लिए समुत्थित वह भिक्षु जोव (आत्मा) और अजीव (आत्मबाह्य) का, तथा त्रस और स्थावर जीवो का सम्यक् परिज्ञान कर लेता है।

निष्कर्ष यह है कि इन्ही परिज्ञानगर्भित वैराग्योत्पादक सूत्रो के आधार पर वह प्रव्रजित होने वाला साधक दीक्षाग्रहण से पूर्व क्षेत्र, वास्तु आदि परिग्रहो, शब्दादि काम-भोगो, ज्ञातिजनो तथा शरीर सम्बन्धित पदार्थों से अवश्य ही विरक्त हो जाता है।[1]

गृहस्थवत् आरम्भपरिग्रहयुक्त श्रमण-माहन और इन दोनों से मुक्त निर्ग्रन्थ भिक्षु

६७७. (१) इह खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगतिया समण-माहणा सारंभा सपरिग्गहा, जे इमे तस-थावरा पाणा ते सय समारंभंति, अण्णेण वि समारंभावेंति, अण्णं पि समारंभंतं समणुजाणंति।

(२) इह खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगतिया समण-माहणा वि सारंभा सपरिग्गहा, जे इमे कामभोगा सचित्ता वा अचित्ता वा ते सयं चेव परिगिण्हंति, अण्णेण वि परिगिण्हावेंति, अण्णं पि परिगिण्हंतं समणुजाणंति।

(३) इह खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगतिया समणा माहणा वि सारंभा सपरिग्गहा, अहं खलु अणारंभे अपरिग्गहे। जे खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगतिया समण-माहणा वि सारंभा सपरिग्गहा, एतेसिं चेव निस्साए बंभचेरं चरिस्सामो, कस्स ण तं हेउं ? जहा पुव्वं तहा अवरं, जहा अवरं तहा पुव्वं। अंजू चेते अणुवरया अणवट्ठिता पुणरवि तारिसगा चेव।

६७७ (१) इस लोक मे गृहस्थ आरम्भ और परिग्रह से युक्त होते हैं, (क्योकि गृहकार्यों को करने मे उन्हे आरम्भ करना तथा धन-धान्यादि का परिग्रह भी रखना पडता है), कई श्रमण और ब्राह्मण (माहन) भी आरम्भ और परिग्रह से युक्त होते हैं, (क्योकि वे भी गृहस्थ की तरह कई सावद्यक्रियाओ मे प्रवृत्त होते है, धन-धान्य, मकान, खेत आदि परिग्रह भी रखते है) वे गृहस्थ तथा श्रमण और ब्राह्मण इन त्रस और स्थावर प्राणियो का स्वय आरम्भ करते है, दूसरे के द्वारा भी आरम्भ कराते हैं और आरम्भ करते हुए अन्य व्यक्ति को अच्छा मानते-अनुमोदन करते हैं।

(२) इस जगत् मे गृहस्थ तो आरम्भ और परिग्रह से युक्त होते ही हैं, कई श्रमण एव माहन भी आरम्भ और परिग्रह से युक्त होते है। ये गृहस्थ तथा श्रमण और माहन (ब्राह्मण) सचित्त और अचित्त दोनो प्रकार के काम-भोगो को स्वय ग्रहण करते है, दूसरे से भी ग्रहण कराते हैं तथा ग्रहण करते हुए का अनुमोदन करते है।

---

१. सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति, पत्रांक २९२ से २९४ तक का साराश

(३) इस जगत् मे गृहस्थ आरम्भ और परिग्रह से युक्त होते है, कई श्रमण और ब्राह्मण भी आरम्भ परिग्रह से युक्त होते है। (ऐसी स्थिति मे आत्मार्थी सयमी भिक्षु विचार करता है—) मैं (आर्हत् धर्मानुयायी मुनि) आरम्भ और परिग्रह से रहित हूँ। जो गृहस्थ हैं, वे आरम्भ और परिग्रह-सहित है ही, कोई-कोई श्रमण (शाक्य भिक्षु) तथा माहन भी आरम्भ-परिग्रह मे लिप्त है। अत आरम्भ-परिग्रह युक्त पूर्वोक्त गृहस्थवर्ग एव श्रमण-माहनो के आश्रय से मै ब्रह्मचर्य (मुनिधर्म) का आचरण करूगा। (प्रश्न—१) आरम्भ-परिग्रह-सहित रहने वाले गृहस्थवर्ग और कतिपय श्रमण-ब्राह्मणो के निश्राय मे ही जब रहना है, तब फिर इनका त्याग करने का क्या कारण है? (उत्तर—) गृहस्थ जैसे पहले आरम्भ-परिग्रह-सहित होते है, वैसे पीछे भी होते है, एव कोई-कोई श्रमण माहन प्रव्रज्या धारण करने से पूर्व जैसे आरम्भ-परिग्रहयुक्त होते हैं, इसी तरह बाद मे भी आरम्भ-परिग्रह मे लिप्त रहते हैं। इसलिए ये लोग सावद्य आरम्भ-परिग्रह से निवृत्त नही है, अत शुद्ध सयम का आचरण करने के लिए, शरीर टिकाने के लिए इनका आश्रय लेना अनुचित नही है।

६७८ जे खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगतिया समण-माहणा सारभा सपरिग्गहा, दुहतो पावाइं इति संखाए दोहिं वि अंतेहिं अदिस्समाणे[1] इति भिक्खू रीएज्जा।

से बेमि-पाईण वा ४। एवं से परिण्णातकम्मे, एव से विवेयकम्मे, एव से वियतकारए भवतीति मक्खात।

६७८ आरम्भ-परिग्रह से युक्त रहने वाले जो गृहस्थ है, तथा जो सारम्भ सपरिग्रह श्रमण-माहन है, वे इन दोनो प्रकार (आरम्भ एव परिग्रह) की क्रियाओ से या राग और द्वेष से अथवा पहले और पीछे या स्वत और परत पापकर्म करते रहते है। ऐसा जानकर साधु आरम्भ और परिग्रह अथवा राग और द्वेष दोनो के अन्त से (विहीनता से) इनसे अदृश्यमान (रहित) हो इस प्रकार सयम मे प्रवृत्ति करे।

इसलिए मै कहता हूँ- -पूर्व आदि (चारो) दिशाओ से आया हुआ जो (पूर्वोक्त विशेषताओ से युक्त) भिक्षु आरम्भ-परिग्रह से रहित है, वही कर्म के रहस्य को जानता है, इस प्रकार वह कर्म बन्धन से रहित होता है तथा वही (एक दिन) कर्मों का अन्त करने वाला होता है, यह श्री तीर्थंकरदेव ने कहा है।

विवेचन—गृहस्थवत् आरंभ-परिग्रह युक्त श्रमण-माहन और इन दोनो से मुक्त निर्ग्रन्थभिक्षु— प्रस्तुत दोनो सूत्रो मे गृहस्थ के समान आरम्भपरिग्रह-दोषलिप्त श्रमण-माहनो की दशा और निर्ग्रन्थ भिक्षु की स्थिति का अन्तर बतलाया गया है। निम्नोक्त चार तथ्य इसमे से फलित होते है—

(१) गृहस्थ के समान सारम्भ और सपरिग्रह श्रमण एव माहन त्रस-स्थावर प्राणियो का आरम्भ करते, कराते और अनुमोदन करते है।

(२) गृहस्थवत् आरम्भ परिग्रहयुक्त श्रमण एव माहन सचित्त-अचित्त काम-भोगो को ग्रहण करते, कराते तथा अनुमोदन करते है।

---

१ तुलना—'**दोहिं अतेहिं अदिस्समाणे** ' —आचाराग विवेचन अ ३, सू १११, पृ ९१

'**दोहिं वि अतेहिं अदिस्समाणेहिं**…' —आचाराग विवेचन अ ३, सू. १२३, पृ १०५

'**उभो अते अनुपगम्म मज्झेन तथागतो धम्मं देसेति** '।

—सुत्तपिटक सयुक्तनिकाय पालि भाग २, पृ ६६

(३) गृहस्थ की तरह कतिपय श्रमणो एव माहनो को आरम्भ परिग्रह युक्त देखकर आत्मार्थी निर्ग्रन्थ भिक्षु विचार करता है—"मैं स्वय निरारम्भ निष्परिग्रह रहकर इन सारम्भ-सपरिग्रह गृहस्थो एव श्रमण-माहनो के आश्रय से अपने मुनिधर्म (तप-सयम) का निर्वाह करूँगा, किन्तु मैं इनकी तरह पहले (दीक्षा से पूर्व) और पीछे (दीक्षा के बाद) आरम्भ परिग्रह मे लिप्त तथा पापकर्मजनक राग-द्वेष या इनकी क्रियाओ से दूर—अदृश्य, अलिप्त रह कर सयम मे प्रवृत्ति करूगा।"

(४) निर्ग्रन्थ साधु आरम्भ-परिग्रहवान् गृहस्थो एव श्रमण-माहनो से दूर रहता है—उनके ससर्ग का त्याग करता है, तथापि उनके आश्रय-निश्रा से मुनिधर्म के पालन का विचार क्यो करता है ? इस प्रश्न का समाधान मूल पाठ मे ही कर दिया गया है। वह यह कि वे तो आरम्भ-परिग्रह मे लिप्त है ही, निरवद्य भिक्षा के लिए निर्ग्रन्थ साधु उनका आश्रय ले तो भी वे आरम्भ-परिग्रह करेगे, न ले तो भी करेगे अत सयमपालन के लिए शरीर टिकाना आवश्यक है तो पहले से ही आरम्भ-परिग्रह मे लिप्त गृहस्थो और ऐसे श्रमण-माहनो का आश्रय लेने मे कोई दोष नही है। इस कारण साधु इनका त्याग करके भी इनके आश्रय से निर्दोष सयम का पालन करते है।

(५) जो आत्मार्थी भिक्षु आरम्भ-परिग्रह से रहित होता है, वह कर्म-रहस्यज्ञ होता है, वह कर्मबन्धन के कारणो से दूर रहता है, और एक दिन कर्मों का सर्वथा अन्त कर देता है।[1]

पंचम पुरुष : अनेकगुणविशिष्ट भिक्षु—स्वरूप और विश्लेषण

६७९. तत्थ खलु भगवता छज्जीवणिकाया हेऊ पण्णत्ता, तजहा—पुढविकायिया जाव तसकायिया। से जहानामए मम अस्सायं दंडेण वा अट्ठीण वा मुट्ठीण वा लेलूण वा कवालेण वा आउडिज्जमाणस्स वा हम्ममाणस्स वा तज्जिज्जमाणस्स वा ताडिज्जमाणस्स वा परिताविज्जमाणस्स वा किलामिज्जमाणस्स वा उद्दविज्जमाणस्स वा जाव लोमुक्खणणमातमवि हिंसाकरं दुक्खं भयं पडिसवेदेमि, इच्चेव जाण सव्वे पाणा जाव सत्ता दंडेण वा जाव कवालेण वा आउडिज्जमाणा वा हम्ममाणा वा तज्जिज्जमाणा वा ताडिज्जमाणा वा परियाविज्जमाणा वा किलामिज्जमाणा वा उद्दविज्जमाणा वा जाव लोमुक्खणणमातमवि हिंसाकरं दुक्ख भयं पडिसवेदेंति। एव णच्चा सव्वे पाणा जाव सव्वे सत्ता णं हंतव्वा, ण अज्जावेयव्वा, ण परिघेतव्वा, न परितावेयव्वा, ण उद्दवेयव्वा।

६७९ सर्वज्ञ भगवान् तीर्थंकर देव ने षट्जीवनिकायो (सासारिक प्राणियो) को कर्मबन्ध के हेतु बताये है। जैसे कि—पृथ्वीकाय से लेकर त्रसकाय तक षट्जीवनिकाय है। जैसे कोई व्यक्ति मुझे डडे से, हड्डी से, मुक्के से, ढेले या पत्थर से, अथवा घडे के फूटे हुए ठीकरे आदि से मारता है, अथवा चाबुक आदि से पीटता है, अथवा अगुली दिखाकर धमकाता है, या डाँटता है, अथवा ताडन करता है, या सताता—सताप देता है, अथवा क्लेश करता है, अथवा उद्विग्न करता है, या उपद्रव करता है, या डराता है, तो मुझे दु ख (असाता) होता है, यहाँ तक कि मेरा एक रोम भी उखाडता है तो मुझे मारने जैसा दु ख और भय का अनुभव होता है। इसी तरह सभी जीव, सभी भूत, समस्त प्राणी और सर्व सत्त्व, डडे, मुक्के, हड्डी, चाबुक अथवा ठीकरे से मारे जाने या पीटे जाने, अँगुली दिखाकर धमकाए या डाँटे जाने, अथवा ताडन किये जाने, सताये जाने, हैराने किये जाने, या

---

१ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्रांक २९५-२९६ का सारांश

उद्विग्न (भयभीत) किये जाने से, यहाँ तक कि एक रोम मात्र के उखाडे जाने से वे मृत्यु का-सा कष्ट एव भय महसूस करते हैं।

ऐसा जान कर समस्त प्राण, जीव, भूत और सत्त्व की हिंसा नही करनी चाहिए, उन्हे बलात् अपनी आज्ञा का पालन नही कराना चाहिए, न उन्हे बलात् पकड कर या दास-दासी आदि के रूप मे खरीद कर रखना चाहिए, न ही किसी प्रकार का सताप देना चाहिए और न उन्हे उद्विग्न (भयभीत) करना चाहिए।

६८०. से बेमि—जे य अतीता जे य पडुप्पण्णा जे य आगमेस्सा अरहंता भगवंता सव्वे ते एवमाइक्खंति, एवं भासेंति, एवं पण्णवेंति, एवं परूवेंति—सव्वे पाणा जाव सव्वे सत्ता ण हंतव्वा, ण अज्जावेयव्वा, ण परिघेतव्वा, ण परितावेयव्वा, ण उद्दवेयव्वा, एस धम्मे धुवे णितिए सासते, समेच्च लोगं खेतन्नेहिं पवेदिते।

६८० इसलिए (वही बात) मैं (सुधर्मास्वामी) कहता हूँ—भूतकाल मे (ऋषभदेव आदि) जो भी अर्हन्त (तीर्थंकर) हो चुके, वर्तमान मे जो भी (सीमन्धरस्वामी आदि) तीर्थंकर है, तथा जो भी भविष्य मे (पद्मनाभ आदि) होगे, वे सभी अर्हन्त भगवान् (परिषद् मे) ऐसा ही उपदेश देते हैं, ऐसा ही भाषण करते (कहते) है, ऐसा ही (हेतु, दृष्टान्त, युक्ति आदि द्वारा) बताते (प्रज्ञापन करते) है, और ऐसी ही प्ररूपणा करते है कि—किसी भी प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व की हिंसा नही करनी चाहिए, न ही बलात् उनसे आज्ञा-पालन कराना चाहिए, न उन्हे बलात् दास-दासी आदि के रूप मे पकड कर या खरीद कर रखना चाहिए, न उन्हे परिताप (पीडा) देना चाहिए, और न उन्हे उद्विग्न (भयभीत या हैरान) करना चाहिए। यही धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत (सदैव स्थिर रहने वाला) है। समस्त लोक को केवल-ज्ञान के प्रकाश मे जान कर जीवो के खेद (पीडा) को या क्षेत्र को जानने वाले श्री तीर्थंकरो ने इस धर्म का प्रतिपादन किया है।

६८१. एवं से भिक्खू विरते पाणातिवातातो जाव विरते परिग्गहातो। णो दंतपक्खालणेणं दंते पक्खालेज्जा, णो अजणं, णो वमणं, णो धूमं तं (णो धूमणेत्तं) पि आविए।

६८१ इस प्रकार वह भिक्षु प्राणातिपात (हिंसा) से लेकर परिग्रह-पर्यन्त पाँचो आश्रवो से विरत (निवृत्त) हो, दतौन आदि दाँत साफ करने वाले पदार्थों से दाँतो को साफ न करे, शोभा के लिए आँखो मे अजन (काजल) न लगाए, दवा लेकर वमन न करे, तथा अपने वस्त्रो या आवास-स्थान को धूप आदि से सुगन्धित न करे और खाँसी आदि रोगो की शान्ति के लिए धूम्रपान न करे।

६८२ से भिक्खू अकिरिए अलूसए अकोहे अमाणे अमाए अलोभे उवसते परिनिव्वुडे। णो आससं पुरतो करेज्जा—इमेण मे दिट्ठेण वा सुएण वा मुएण वा विण्णाएण वा इमेण वा सुचरिय तव-नियम-बभचेरवासेणं इमेण वा जायामातावुत्तिएणं धम्मेणं इतो चुते पेच्चा देवे सिया, कामभोगा वसवत्ती, सिद्धे वा अदुक्खमसुभे, एत्थ वि सिया, एत्थ वि णो सिया।

६८२. वह भिक्षु सावद्यक्रियाओ से रहित, जीवो का अहिंसक, क्रोधरहित, निर्मानी (अभिमानरहित) अमायी, निर्लोभी, उपशान्त एव परिनिर्वृ त-समाधियुक्त होकर रहे ।

वह अपनी क्रिया से इहलोक-परलोक मे काम-भोगो की प्राप्ति की आकाक्षा न करे, (जैसे कि)—यह (इतना) जो ज्ञान मैंने जाना-देखा है, सुना है अथवा मनन किया है, एव विशिष्ट रूप से अभ्यस्त-अर्जित किया है, तथा यह जो मैंने तप, नियम, ब्रह्मचर्य आदि चारित्र का सम्यक् आचरण किया है, एव मोक्षयात्रा का तथा (धर्मपालन के कारणभूत) शरीर-निर्वाह के लिए अल्पमात्रा मे शुद्ध आहार ग्रहणरूप धर्म का पालन किया है, इन सब सुकार्यों के फलस्वरूप यहाँ से शरीर छोडने के पश्चात् परलोक मे मैं देव हो जाऊँ, समस्त काम-भोग मेरे अधीन (वशवर्ती) हो जाएँ, मै अणिमा आदि सिद्धियो से युक्त हो जाऊँ, अथवा मै विद्यासिद्ध बन जाऊँ, एव सब दु खो तथा अशुभकर्मों से रहित हो जाऊँ (अथवा दु खरूप अशुभकर्मों और सुख रूप शुभकर्मों से रहित हो जाऊँ), क्योकि विशिष्ट-तपश्चर्या आदि के होते हुए भी कभी अणिमादि सिद्धि प्राप्त हो जाती है, कभी नही भी होती (किन्तु ऐसी फलाकाक्षा नही करनी चाहिए) ।

६८३. से भिक्खू सद्देहिं, अमुच्छिए, रूवेहिं, अमुच्छिए, गंधेहिं अमुच्छिए, रसेहिं अमुच्छिए, फासेहिं अमुच्छिए, विरए कोहाओ माणाओ मायाओ लोभाओ पेज्जाओ दोसाओ कलहाओ अब्भक्खाणाओ पेसुण्णाओ परपरिवायातो अरतीरतीओ मायामोसाओ मिच्छादंसणसल्लाओ, इति से महता आदाणाओ उवसते उवट्ठिते पडिविरते ।

६८३. जो भिक्षु मनोज्ञ शब्दो, रूपो, गन्धो, रसो, एव कोमल स्पर्शो मे अमूच्छित (अनासक्त) रहता है, तथा क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, (प्रेय), द्वेष, कलह, अभ्याख्यान (दोषारोपण), पैशुन्य (चुगली), परपरिवाद (परनिन्दा), सयम मे अरति, असयम मे रति, मायामृषा (कपटसहित असत्य-दम्भ) एव मिथ्यादर्शन रूप शल्य से विरत रहता है, इस कारण से वह भिक्षु महान् कर्मो के आदान (बन्ध) से रहित हो जाता है, वह सुसयम मे उद्यत हो जाता (रहता) है, तथा पापो से विरत-निवृत्त हो जाता है ।

६८४. से भिक्खू जे इमे तस-थावरा पाणा भवति ते णो सयं समारंभति, णो वऽण्णेहिं समारभावेति, अण्णे समारभते वि न समणुजाणइ, इति से महता आदाणातो उवसते उवट्ठिते पडिविरते ।

६८४ जो ये त्रस और स्थावर प्राणी है, उनका वह भिक्षु स्वय समारम्भ (हिसाजनक व्यापार या प्रवृत्ति) नही करता, न वह दूसरो से समारम्भ कराता है, और न ही समारम्भ करते हुए व्यक्ति का अनुमोदन करता है । इस कारण से वह साधु महान् कर्मो के आदान (बन्धन) से मुक्त हो जाता है, शुद्ध सयम मे उद्यत रहता है तथा पाप कर्मों से निवृत्त हो जाता है ।

६८५. से भिक्खू जे इमे कामभोगा सचित्ता वा अचित्ता वा ते णो सयं परिगिण्हति, नेवऽण्णेण परिगिण्हावेति, अण्णं परिगिण्हतं पि ण समणुजाणइ, इति से महया आदाणातो उवसते उवट्ठिते पडिविरते ।

६८५. जो ये सचित्त या अचित्त काम-भोग (के साधन) है, वह भिक्षु स्वय उनका परिग्रह

नही करता, न दूसरो से परिग्रह कराता है, और न ही उनका परिग्रह करने वाले व्यक्ति का अनुमोदन करता है। इस कारण से वह भिक्षु महान् कर्मों के आदान (ग्रहण या बन्ध) से मुक्त हो जाता है, शुद्धसयम-पालन मे उपस्थित करता है, और पापकर्मों से विरत हो जाता है।

६८६. से भिक्खू जं पि य इम सपराइयं कम्मं कज्जइ णो तं सयं करेति, नेवऽन्नेणं कारवेति, अन्नं पि करेंतं णाणुजाणति, इति से महता आदाणातो उवसंते उवट्ठिते पडिविरते।

६८६ जो यह साम्परायिक (ससारपरिभ्रमण का हेतु कषाययुक्त) कर्म-बन्ध (सासारिकजनो द्वारा) किया जाता है, उसे भी वह भिक्षु स्वय नही करता, न दूसरो से कराता है, और न ही साम्परायिक कर्म-बन्धन करते हुए व्यक्ति का अनुमोदन करता है। इस कारण वह भिक्षु महान् कर्मों के बन्धन (आदान) से मुक्त हो जाता है, वह शुद्ध सयम मे रत और पापो से विरत रहता है।

६८७. से भिक्खू ज पुण जाणेज्जा असणं वा ४ अस्सिपडियाए एगं साहम्मियं समुद्दिस्स पाणाइ भूयाइ जीवाइ सत्ताइं समारभ समुद्दिस्स कीत पामिच्चं अच्छेज्जं अणिसट्ठं अभिहडं आहट्टुद्देसिय चेतियं सिता त णो सय भुंजइ, णो वऽन्नेण भुंजावेति, अन्न पि भुंजंत ण समणुजाणइ, इति से महता आदाणातो उवसंते उवट्ठिते पडिविरते से भिक्खू।

६८७ यदि वह भिक्षु यह जान जाए कि अमुक श्रावक ने किसी निष्परिग्रह साधर्मिक साधु को दान देने के उद्देश्य से प्राणो, भूतो, जोवो और सत्त्वो का आरम्भ करके आहार बनाया है, अथवा खरीदा है, या किसी से उधार लिया है, अथवा बलात् छीन कर (अपहरण करके) लिया है, अथवा उसके स्वामी से पूछे बिना ही ले लिया (उसके स्वामित्व का नही) है अथवा साधु के सम्मुख लाया हुआ है, अथवा साधु के निमित्त से बनाया हुआ है, तो ऐसा सदोष आहार वह न ले। कदाचित् भूल से ऐसा सदोष आहार ले लिया हो तो स्वय उसका सेवन न करे, दूसरे साधुओ को भी वह आहार न खिलाए, और न ऐसा सदोष आहार-सेवन करने वाले को अच्छा समझे। इस प्रकार के सदोष आहारत्याग से वह भिक्षु महान् कर्मों के बन्धन से दूर रहता है, वह शुद्ध सयम पालन मे उद्यत और पाप कर्मों से विरत रहता है।

६८८. अह पुणेवं जाणेज्जा, त जहा—विज्जति तेसिं परक्कमे जस्सट्ठाते चेतितं सिया, तंजहा—अप्पणो से, पुत्ताण, धूयाण, सुण्हाण, धाईणं, णाईणं, राईण, दासाण, दासीणं कम्मकराण, कम्मकरीणं, आदेसाए, पुढो पहेणाए सामासाए, पातरासाए, सण्णिधिसंणिचए कज्जति इहमेगेसिं माणवाणं भोयणाए। तत्थ भिक्खू परकड-परणिट्ठित उग्गमुप्पायणेसणासुद्धं सत्थातीतं सत्थपरिणामित अविहिंसितं एसियं वेसिय सामुदाणियं पण्णमसण कारणट्ठा पमाणजुत्त अक्खोवजण-वणलेवणभूयं संजमजातामातावुत्तियं बिलमिव पन्नगभूतेण अप्पाणेण आहारं आहारेज्जा, तंजहा—अन्नं अन्नकाले, पाणं पाणकाले, वत्थं वत्थकाले, लेणं लेणकाले, सयण सयणकाले।

६८८ यदि साधु यह जान जाए कि गृहस्थ ने जिनके लिए आहार बनाया है वे साधु नही, अपितु दूसरे है, जैसे कि गृहस्थ ने अपने पुत्रो के लिए अथवा पुत्रियो, पुत्रवधुओ के लिए, धाय के

लिए, ज्ञातिजनो के लिए, राजन्यो, दास, दासी, कर्मकर, कर्मकरी (स्त्री) तथा अतिथि के लिए, या किसी दूसरे स्थान पर भेजने के लिए या रात्रि मे खाने के लिए अथवा प्रात नाश्ते के लिए आहार बनाया है, अथवा इस लोक मे जो दूसरे मनुष्य हैं, उनको भोजन देने के लिए उसने आहार का अपने पास संचय किया है, ऐसी स्थिति मे साधु दूसरे के द्वारा दूसरो के लिए बनाये हुए तथा उद्गम, उत्पाद और एषणा दोष से रहित शुद्ध एव अग्नि आदि शस्त्र द्वारा परिणत होने से प्रासुक (अचित्त) बने हुए एव अग्नि आदि शस्त्रो द्वारा निर्जीव किये हुए अहिंसक (हिंसादोष से रहित) तथा एषणा (भिक्षा-वृत्ति) से प्राप्त तथा साधु के वेषमात्र से प्राप्त, सामुदायिक भिक्षा (माधुकरी वृत्ति) से प्राप्त, प्राज्ञ—गीतार्थ के द्वारा ग्राह्य (कल्पनीय) वैयावृत्य आदि ६ कारणो मे से किसी कारण से साधु के लिए ग्राह्य प्रमाणोपेत, एव गाडी को चलाने के लिए उसकी धुरी मे दिये जाने वाले तेल तथा घाव पर लगाये गए लेप (मल्हम) के समान केवल सयमयात्रा के निर्वाहार्थ ग्राह्य अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य-रूप चतुर्विध आहार का बिल मे प्रवेश करते हुए साँप के समान स्वाद लिये बिना ही सेवन करे। जैसे कि वह भिक्षु अन्नकाल मे अन्न (आहार) का, पानकाल मे पान (पेय पदार्थ) का, वस्त्र (परिधान) काल मे वस्त्र का, मकान (मे प्रवेश या निवास के) समय मे मकान (आवास-स्थान) का, शयनकाल मे शय्या का ग्रहण एव सेवन (उपभोग) करता है।

६८९. से भिक्खू मातण्णे अण्णतर दिस वा अणुदिस वा पडिवण्णे धम्मं आइक्खे विभए किट्टे उवट्ठितेसु वा अणुवट्ठितेसु वा सुस्सूसमाणेसु पवेदए। संतिविरतिं उवसमं निव्वाण सोयवियं अज्जवियं मद्दवियं लाघवियं अणतिवातियं सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूताण जाव सत्ताणं अणुवीइ किट्टए धम्म।

६८९ वह भिक्षु (आहार, उपधि, शयन, स्वाध्याय, ध्यान आदि प्रत्येक चर्या की) मात्रा एव विधि का ज्ञाता होकर किसी दिशा या अनुदिशा मे पहुँचकर, धर्म का व्याख्यान करे, (धर्मतत्त्व के अनुरूप कर्त्तव्य का यथायोग्य) विभाग करके प्रतिपादन करे, धर्म के फल का कीर्तन—कथन करे। (परहितार्थ प्रवृत्त) साधु (भली भाति सुनने के लिए) उपस्थित (तत्पर) (शिष्यो या श्रावको को) अथवा अनुपस्थित (कौतुकादिवश आगत-धर्म मे अतत्पर) श्रोताओ को (स्व-पर-कल्याण के लिये) धर्म का प्रतिपादन करे।

(धर्मधुरन्धर) साधु (समस्त क्लेशोपशमरूप) के लिए विरति (विषय-कषायो या आश्रवो से) निवृत्ति (अथवा शान्ति-- क्रोधादि कषायविजय, शान्ति-प्रधान विरति—प्राणातिपातादि से निवृत्ति), उपशम (इन्द्रिय और मन का शमन अथवा राग द्वेषाभावजनित उपशमन), निर्वाण (समस्त द्वन्द्वोपरमरूप या सर्वकर्मक्षयरूप मोक्ष), शौच (निर्लोभता), आर्जव (सरलता), मार्दव (कोमलता), लाघव (लघुता—हलकापन) तथा समस्त प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व के प्रति अहिंसा आदि धर्मों के अनुरूप (या प्राणियो के हितानुरूप) विशिष्ट चिन्तन करके धर्मोपदेश दे।

६९०. से भिक्खू धम्मं किट्टमाणे णो अन्नस्स हेउ धम्मं आइक्खेज्जा, णो पाणस्स हेउं धम्मं आइक्खेज्जा, णो वत्थस्स हेउं धम्म आइक्खेज्जा,[1] णो लेणस्स हेउ धम्म आइक्खेज्जा, णो सयणस्स

---

१. तुलना—"**ण कहेज्जा धम्मकहं वत्थपत्तादिहेदु।**" —मूलाराधना विजयोदयावृत्ति, पृ. ६१२

हेउं धम्मं आइक्खेज्जा, णो अन्नेसिं विरूव-रूवाण कामभोगाणं हेउं धम्ममाइक्खेज्जा, अगिलाए धम्म-माइक्खिज्जा, णण्णत्थ कम्मणिज्जरट्ठयाए धम्मं आइक्खेज्जा।

६९० धर्मोपदेश करता हुआ साधु अन्न (विशिष्ट सरस-स्वादिष्ट आहार) के लिए धर्मकथा न करे, पान (विशिष्ट पेय पदार्थ) के लिए धर्मव्याख्यान न करे, तथा सुन्दर वस्त्र प्राप्ति के लिए धर्मोपदेश न करे, न ही सुन्दर आवासस्थान (मकान) के लिए धर्मकथन करे, न विशिष्ट शयनीय पदार्थों की प्राप्ति (शय्या) के लिए धर्मोपदेश करे, तथा दूसरे विविध प्रकार के काम-भोगो (भोग्य-पदार्थों) की प्राप्ति के लिए धर्म कथा न करे। प्रसन्नता (अग्लानभाव) से धर्मोपदेश करे। कर्मों की निर्जरा (आत्मशुद्धि) के उद्देश्य के सिवाय अन्य किसी भी फलाकाक्षा से धर्मोपदेश न करे।

६९१. इह खलु तस्स भिक्खुस्स अंतियं धम्मं सोच्चा णिसम्म उट्ठाय वीरा अस्सिं धम्मे समुट्ठिता, जे तस्स भिक्खुस्स अंतिय धम्मं सोच्चा णिसम्म सम्मं उट्ठाणेणं उट्ठाय वीरा अस्सिं धम्मे समुट्ठिता, ते एवं सव्वोवगता, ते एव सव्वोवरता, ते एवं सव्वोवसता, ते एव सव्वत्ताए परिनिव्वुडे त्ति बेमि।

६९१ इस जगत् मे उस (पूर्वोक्तगुण विशिष्ट) भिक्षु से धर्म को सुन कर, उस पर विचार करके (मुनिधर्म का आचरण करने के लिए) सम्यक् रूप से उत्थित (उद्यत) वीर पुरुष ही इस आर्हत धर्म मे उपस्थित (दीक्षित) होते हैं। जो वीर साधक उस भिक्षु से (पूर्वोक्त) धर्म को सुन-समझ कर सम्यक् प्रकार से मुनिधर्म का आचरण करने के लिए उद्यत होते हुए इस (आर्हत) धर्म मे दीक्षित होते हैं, वे सर्वोपगत हो जाते हैं (सम्यग्दर्शनादि समस्त मोक्षकारणो के निकट पहुँच जाते हैं), वे सर्वोपरत (समस्त पाप स्थानो से उपरत) हो जाते हैं, वे सर्वोपशान्त (कषायविजेता होने से सर्वथा उपशान्त) हो जाते है, एव वे समस्त कर्मक्षय करके परिनिर्वाण को प्राप्त होते हैं। यह मैं (सुधर्मास्वामी) कहता हूँ।

६९२. एवं से भिक्खू धम्मट्ठी धम्मविदू नियागपडिवण्णे, से जहेय बुतियं, अदुवा पत्ते पउमवर-पोंडरीय अदुवा अपत्ते पउमवरपोंडरीयं।

६९२ इस प्रकार (पूर्वोक्तविशेषण युक्त) वह भिक्षु धर्मार्थी (धर्म से ही प्रयोजन रखने वाला) धर्म का ज्ञाता और नियाग (सयम या मोक्ष) को प्राप्त होता है।

ऐसा भिक्षु, जैसा कि (इस अध्ययन मे) पहले कहा गया था, पूर्वोक्त पुरुषो मे से पाचवाँ पुरुष है। वह (भिक्षु) श्रेष्ठ पुण्डरीक कमल के समान निर्वाण को प्राप्त कर सके अथवा उस श्रेष्ठ पुण्डरीक कमल को (मति, श्रुत, अवधि एव मन पर्याय ज्ञान तक ही प्राप्त होने से) प्राप्त न कर सके, (वही सर्वश्रेष्ठ पुरुष है)।

६९३. एवं से भिक्खू परिण्णातकम्मे परिण्णायसंगे परिण्णायगिहवासे उवसंते समिते सहिए सदा जते। सेयं वयणिज्जे तंजहा—समणे ति वा माहणे ति वा खंते ति वा दंते ति वा गुत्ते ति वा मुत्ते

ति वा इसी ति वा मुणी ति वा कती ति वा विदू ति वा भिक्खू ति वा लूहे ति वा तीरट्ठी ति वा चरण-करणापारविदु त्ति बेमि ।

।। पोंडरीय : पढमं अज्झयणं सम्मत्तं ।।

६९३. इस प्रकार का भिक्षु कर्म (कर्म के स्वरूप, विपाक एव उपादान) का परिज्ञाता, सग (बाह्य-आभ्यन्तर-सम्बन्ध) का परिज्ञाता तथा (नि सार) गृहवास का परिज्ञाता (मर्मज्ञ) हो जाता है । वह (इन्द्रिय और मन के विषयो का उपशमन करने से) उपशान्त, (पचसमितियो से युक्त होने से) समित, (हित से या ज्ञानादि से युक्त होने से) सहित एव सदैव यतनाशील अथवा सयम मे प्रयत्न-शील होता है ।

उस साधक को इस प्रकार (आगे कहे जाने वाले विशेषणो मे से किसी भी एक विशेषयुक्त शब्दो से) कहा जा सकता है, जैसे कि--वह श्रमण है, या माहन (प्राणियो का हनन मत करो, ऐसा उपदेश करने वाला या ब्रह्मचर्यनिष्ठ होने से ब्राह्मण) है, अथवा वह क्षान्त (क्षमाशील) है, या दान्त (इन्द्रियमनोवशीकर्ता) है अथवा गुप्त (तीन गुप्तियो से गुप्त) है, अथवा मुक्त (मुक्तवत्) है, तथा महर्षि (विशिष्ट तपश्चरणयुक्त) है, अथवा मुनि (जगत् की त्रिकालावस्था पर मनन करने वाला) है, अथवा कृती (पुण्यवान्—सुकृती या परमार्थपण्डित), तथा विद्वान् (अध्यात्मविद्यावान्) है, अथवा भिक्षु (निरवद्यभिक्षाजीवी) है, या वह रूक्ष (अन्ताहारी-प्रान्ताहारी) है, अथवा तीरार्थी (मोक्षार्थी) है, अथवा चरण-करण (मूल-उत्तर गुणो) के रहस्य का पारगामी है । —ऐसा मै कहता हूँ ।

विवेचन—पंचमपुरुष : अनेकगुणविशिष्ट भिक्षु—स्वरूप और विश्लेषण—प्रस्तुत १५ सूत्रो (सू स ६७९ से ६९३ तक) मे उत्तम पुण्डरीक कमल को प्राप्त करने के योग्य निर्ग्रन्थ भिक्षु की विशेषताओ एव अर्हताओ का सर्वांगीण विश्लेषण किया गया है । उक्त भिक्षु की अर्हताए सक्षेप मे इस प्रकार हैं—

(१) वह भिक्षु अपने आप को कसौटी बना कर षट्कायिक जीवो के हिंसाजनित दु ख और भय का अनुभव करता है, और किसी भी प्राणी की, किसी भी प्रकार हिंसा नही करता, क्योकि अतीत-अनागत और वर्तमान में जितने भी तीर्थकर हुए है, होगे या हैं, उन सब महापुरुषो ने सर्वप्राणि—अहिंसारूप शाश्वत धर्म का प्रतिपादन किया है ।

(२) प्राणातिपात की तरह वह भिक्षु मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह से भी सर्वथा विरत हो जाता है ।

(३) इस धर्म (अहिसादि रूप) की रक्षा के लिए भिक्षु शोभा की दृष्टि से दन्तप्रक्षालन, अजन, वमन-विरेचन, धूप और धूम्रपान नही करता ।

(४) वह भिक्षु सावद्यक्रियाविरत, अहिसक, अकषायी, उपशान्त एव परिनिर्वृत्त होता है ।

(५) वह अपने समाराधित ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, नियम, सयम एव ब्रह्मचर्यरूप धर्म से इहलौकिक या पारलौकिक किसी भी प्रकार की फलाकाक्षा नही करता, न ही काम-भोगो, सिद्धियो की प्राप्ति की या दु:ख एव अशुभ की अप्राप्ति की वाञ्छा करता है ।

(६) निम्नोक्त गुणो के कारण भिक्षु महान् कर्मबन्धन से दूर (उपशान्त) शुद्धसयम मे उद्यत एवं पापकर्मों से निवृत्त होता है—

(अ) पचेन्द्रियविषयो विषयो मे अनासक्त होने से ।

(आ) अठारह ही पापस्थानो से विरत होने से ।

(इ) त्रस-स्थावरप्राणियो के आरम्भ का कृत-कारित-अनुमोदित रूप से त्याग करने से ।

(ई) सचित्त-अचित्त काम-भोगो के परिग्रह का कृत-कारित-अनुमोदित रूप से त्याग करने से ।

(उ) साम्परायिक कर्मबन्ध का कृत-कारित-अनुमोदित रूप से त्याग करने से ।

(ऊ) वह षट्कायिक जीव समारम्भजनित उद्गमादि दोषयुक्त आहार ग्रहण न करे, कदाचित् भूल से ग्रहण कर लिया गया हो तो उसका सेवन स्वय न करने, न कराने और सेवनकर्ता को अच्छा न समझने पर ।

(७) यदि यह ज्ञात हो जाए कि साधु के निमित्त से नही, अपितु किसी दूसरे के निमित्त से, अन्यप्रयोजनवश गृहस्थ ने आहार बनाया है और वह आहार उद्गम, उत्पादना और एषणादि दोषो से रहित, शुद्ध, शस्त्रपरिणत, प्रासुक, हिंसादि दोषरहित, साधु के वेष, वृत्ति, कल्प तथा कारण की दृष्टि से ग्राह्य है तो वह भिक्षु उसे प्रमाणोपेत ग्रहण करे और गाडी की धुरी मे तेल या घाव पर लेप के समान उसे सांप के द्वारा बिल-प्रवेश की तरह अस्वादवृत्ति से सेवन करे ।

(८) वह भिक्षु आहार, वस्त्रादि उपधि, वसति, शयन, स्वाध्याय, ध्यान आदि प्रत्येक वस्तु की मात्रा, कालमर्यादा और विधि का ज्ञाता होता है और तदनुरूप ही आहारादि का उपयोग करता है ।

(९) धर्मोपदेश देते समय निम्नलिखित विवेक का आश्रय ले –

(अ) वह जहाँ कही भी विचरण करे, सुनने के लिए धर्म मे तत्पर या अतत्पर, श्रोताओ को शुद्ध धर्म का तथा उसके फल आदि का स्व-पर-हितार्थ ही कथन करे ।

(आ) वह भिक्षु शान्ति, विरति, उपशम, निर्वाण, शौच, आर्जव, मार्दव, लाघव, समस्त प्राणियो के प्रति अहिंसा आदि धर्मों का प्राणिहितानुरूप विशिष्ट चिन्तन करके उपदेश दे ।

(इ) वह साधु अन्न, पान, वस्त्र, आवासस्थान, शयन तथा अन्य अनेकविध काम-भोगो की प्राप्ति के हेतु धर्मोपदेश न करे।

(ई) प्रसन्नतापूर्वक एकमात्र कर्मनिर्जरा के उद्देश्य से धर्मोपदेश करे ।

(१०) जो पूर्वोक्त विशिष्ट गुणसम्पन्न भिक्षु से धर्म सुन समझ कर श्रमणधर्म मे प्रव्रजित होकर इस धर्म के पालन हेतु उद्यत हुए हैं, वे वीरपुरुष सर्वोपगत, सर्वोपरत, सर्वोपशान्त एव सर्वत परिनिर्वृत्त होते हैं।[1]

---

१. सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक २९८ से ३०२ का साराश

(११) वह भिक्षु कर्म, संग और गृहवास का मर्मज्ञ होता है, सदा उपशान्त, समित, सहित एव सयत रहता है। वही भिक्षु धर्मार्थी, धर्मवेत्ता, सयमप्राप्त तथा प्रस्तुत अध्ययन मे वर्णित गुणो से सम्पन्न होता है। वह उस उत्तम पुण्डरीक को प्राप्त करे या न करे परन्तु प्राप्त करने योग्य हो जाता है।

(१२) उसे श्रमण कहे, या माहन (ब्राह्मण) कहें, क्षान्त, दान्त, गुप्त, मुक्त, ऋषि, मुनि, यति, कृती, विद्वान्, भिक्षु, रूक्ष, तीरार्थी अथवा चरण-करण-पारवेत्ता कहें, वही पूर्वोक्त पुरुषो मे योग्य सर्वश्रेष्ठ पचम पुरुष है।

।। पौण्डरीक : प्रथम अध्ययन समाप्त ।।

□□

क्रियास्थान : द्वितीय अध्ययन

प्राथमिक

□ सूत्रकृताग सूत्र (द्वि श्रु.) के द्वितीय अध्ययन का नाम 'क्रियास्थान' है।

□ सामान्यतया क्रिया का अर्थ है—हलन, चलन, स्पन्दन, कम्पन आदि प्रवृत्ति या व्यापार।

□ जैनतार्किको ने इसके दो भेद किये है—द्रव्यक्रिया और भावक्रिया। सचेतन-अचेतन द्रव्यो की प्रयोगत (प्रयत्नपूर्वक) एव विस्रसात (सहजरूप मे) उपयोगपूर्विका एव अनुपयोगपूर्विका, अक्षिनिमेषमात्रादि समस्त क्रियाए द्रव्यक्रियाए है।

भावप्रधानक्रिया भावक्रिया है, जो ८ प्रकार की होती है—

(१) **प्रयोगक्रिया** (मनोद्रव्यो की स्फुरणा के साथ जहाँ मन, वचन, काया की क्रिया से आत्मा का उपयोग होता है, वहाँ मन प्रयोग, वचनप्रयोग, कायप्रयोग क्रिया है),

(२) **उपायक्रिया** (घटपटादिनिर्माण के लिए उपायो का प्रयोग),

(३) **करणीयक्रिया** (जो वस्तु जिस द्रव्य सामग्री से बनाई जाती है उसके लिए उसी वस्तु का प्रयोग करना),

(४) **समुदानक्रिया** (समुदायरूप मे स्थित जिस क्रिया को ग्रहण कर प्रथमगुणस्थान से दशम गुणस्थान तक के जीव द्वारा प्रकृति, स्थिति, अनुभाव और प्रदेशरूप से अपने मे स्थापित करना),

(५) **ईर्यापथक्रिया** (उपशान्तमोह से लेकर सयोगिकेवली गुणस्थान तक होने वाली क्रिया),

(६) **सम्यक्त्वक्रिया** (जिस क्रिया से जीव सम्यग्दर्शनयोग्य ७७ कर्म प्रकृतियो को बाधता है),

(७) **सम्यङ् मिथ्यात्वक्रिया** (जिस क्रिया से जीव सम्यक्त्व-मिथ्यात्वयोग्य ७४ कर्म प्रकृतियाँ बाधता है) तथा

(८) **मिथ्यात्वक्रिया** (जिस क्रिया से जीव तीर्थकरप्रकृति एव आहारकद्वय को छोड कर ११७ कर्म प्रकृतियाँ बाँधता है)।

□ इन द्रव्य-भावरूप क्रियाओ का जो स्थान अर्थात् प्रवृत्ति-निमित्त है उसे क्रियास्थान कहते हैं। विविध प्रकार की प्रवृत्तियो के विविध (निमित्त) कारण होने से क्रियास्थान विविध हैं।

□ सामान्यतया यह माना जाता है, कि क्रिया से कर्मबन्ध होता है। परन्तु इस अध्ययन में उक्त क्रियास्थानो से कई क्रियावानो के कर्मबन्ध होता है, कई क्रियावान् कर्ममुक्त होते है। इसी लिए प्रस्तुत अध्ययन मे दो प्रकार के क्रियास्थान बताए गए हैं—धर्मक्रियास्थान और अधर्मक्रियास्थान।

☐ अर्थदण्डप्रत्ययिक से लेकर लोभप्रत्ययिक क्रियास्थान तक १२ अधर्मक्रियास्थान हैं, और तेरहवाँ ऐर्यापथप्रत्ययिकक्रियास्थान धर्मक्रियास्थान है। इस प्रकार क्रियास्थानो का वर्णन होने से इस अध्ययन का नाम '**क्रियास्थान**' है।

☐ कर्मबन्धन से मुक्त होने के लिए कर्मक्षयाकाक्षी साधक पहले १२ प्रकार के अधर्मक्रियास्थानो को जान कर उनका त्याग करदे तथा तेरहवे धर्मक्रियास्थान को मोक्षमार्ग मे प्रवृत्ति करने हेतु अपनाये, यही प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य है।[1]

☐ जैन दृष्टि से रागद्वेषजन्य प्रत्येक प्रवृत्ति (क्रिया) हिसा रूप होने से कर्मबन्ध का कारण होती है।

☐ सूत्रसख्या ६९४ से प्रारम्भ होकर सूत्रसख्या ७२१ पर यह अध्ययन पूर्ण होता है।

☐☐

---

१. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३०४

किरियाठाणं : बीयं अज्झयणं

क्रियास्थान : द्वितीय अध्ययन

संसार के समस्त जीव तेरह क्रियास्थानों में

६९४. सुतं मे आउसंतेण भगवता एवमक्खातं—

इह खलु किरियाठाणे णाम अज्झयणे, तस्स णं अयमट्ठे—इह खलु संजूहेणं दुवे ठाणा एवमाहिज्जंति, तंजहा—धम्मे चेव अधम्मे चेव, उवसंते चेव अणुवसन्ते चेव।

तत्थ ण जे से पढमस्स ठाणस्स अधम्मपक्खस्स विभंगे तस्स णं अयमट्ठे—इह खलु पाईणं वा ४ सतेगइया मणुस्सा भवंति, तंजहा—आरिया वेगे, अणारिया वेगे, उच्चागोता वेगे, णीयागोता वेगे, कायमंता वेगे, हस्समता वेगे, सुवण्णा वेगे, दुवण्णा वेगे, सुरूवा वेगे, दुरूवा वेगे।

तेसिं च णं इमं एतारूवं दंडसमादाणं सपेहाए, तंजहा—णेरइएसु तिरिक्खजोणिएसु माणुसेसु देवेसु जे यावन्ने तहप्पगारा पाणा विण्णू वेयणं वेदेंति तेसिं पि य ण इमाइ तेरस किरियाठाणाइ भवतीति अक्खाताइ,[1] तंजहा—अट्ठादंडे १ अणट्ठादंडे २ हिंसादंडे ३ अकम्हादंडे ४ दिट्ठिविपरियासियादंडे ५ मोसवत्तिए ६ अदिन्नादाणवत्तिए ७ अज्झत्थिए ८ माणवत्तिए ९ मित्तदोसवत्तिए १० मायावत्तिए ११ लोभवत्तिए १२ इरियावहिए १३।

६९४ हे आयुष्मन्! मैंने सुना है, उन आयुष्मान् श्रमण भगवान् महावीर ने इस प्रकार कहा था—

"इस (जैनशासन या निर्ग्रन्थ प्रवचन) मे 'क्रियास्थान' नामक अध्ययन कहा गया है, उसका अर्थ यह है—इस लोक मे सामान्य रूप से (या सक्षेप मे) दो स्थान इस प्रकार बताये जाते है, एक धर्मस्थान और दूसरा अधर्मस्थान, अथवा एक उपशान्त स्थान और दूसरा अनुपशान्त स्थान।

इन दोनो स्थानो मे से प्रथम अधर्मपक्ष का जो विभग (विकल्प) है उसका अर्थ (अभिप्राय) इस प्रकार कहा गया है—'इस लोक मे पूर्व आदि छहो दिशाओ मे अनेकविध मनुष्य रहते हैं, जैसे कि कई आर्य होते हैं, कई अनार्य, अथवा कई उच्चगोत्रीय होते हैं, कई नीचगोत्रीय अथवा कई लम्बे कद के और कई ठिगने (छोटे) कद के या कई उत्कृष्ट वर्ण के और कई निकृष्ट वर्ण के अथवा कई सुरूप और कई कुरूप होते हैं।

उन आर्य आदि मनुष्यो मे यह (आगे कहे जाने वाला) दण्ड हिसादिपापोपादान सकल्प) का समादान—ग्रहण देखा जाता है, जैसे कि—नारको मे, तिर्यञ्चो मे, मनुष्यो मे और देवो मे, अथवा जो

---

१ तुलना—**इमाइं तेरस किरियाठाणाइं ... ते अट्ठडंडे अणट्ठाडंडे ... ईरियावहिए।**

—आवश्यक चूर्णि, प्रतिक्रमणाध्ययन पृ. १२७

इसी प्रकार के (सुवर्ण-दुर्वर्ण आदि रूप) विज्ञ (समझदार) प्राणी हैं, वे सुख-दु:ख का वेदन करते हैं, उनमें अवश्य ही ये तेरह प्रकार के क्रियास्थान होते है, ऐसा श्री तीर्थंकर देव ने कहा है। वे क्रियास्थान इस प्रकार हैं—(१) अर्थदण्ड, (२) अनर्थदण्ड, (३) हिंसादण्ड, (४) अकस्मात् दण्ड, (५) दृष्टिविपर्यासदण्ड, (६) मृषाप्रत्ययिक, (७) अदत्तादानप्रत्ययिक, (८) अध्यात्मप्रत्ययिक, (९) मानप्रत्ययिक (१०) मित्रद्वेषप्रत्ययिक (११) मायाप्रत्ययिक, (१२) लोभ-प्रत्ययिक और (१३) ईर्य्याप्रत्ययिक।

विवेचन—संसार के समस्त जीव : तेरह क्रियास्थानों मे—प्रस्तुत सूत्र मे श्री सुधर्मास्वामी श्रीतीर्थंकर भगवान् महावीर के श्रीमुख से सुने हुए १३ क्रियास्थानो का उल्लेख श्री जम्बूस्वामी के समक्ष करते है। इस सम्बन्ध मे शास्त्रकार ने निम्नलिखित तथ्यो का निरूपण किया है—

(१) सामान्य रूप से दो स्थान—धर्मस्थान और अधर्मस्थान अथवा उपशान्तस्थान और अनुपशान्तस्थात।

(२) अधर्मस्थान के अधिकारी—आर्य-अनार्य आदि मनुष्य।

(३) चारो गतियो के विज्ञ (चेतनाशील) एव सुख-दु:ख-वेदनशील जीवो मे तेरह कर्मबन्ध कारणभूत क्रियास्थानो का अस्तित्व।

(४) तेरह क्रियास्थानो का नामोल्लेख।

क्रियास्थान—किसी क्रिया या प्रवृत्ति का स्थान यानी कारण, निमित्तकारण क्रियास्थान कहलाता है। सक्षेप मे, क्रिया जिस निमित्त से हुई हो उसे क्रियास्थान कहते है।

दण्डसमादान—दण्ड कहते हैं—हिंसादिपापोपादानरूप सकल्प को, जिससे जीव दण्डित (पीडित) होता है, उसका समादान यानी ग्रहण दण्डसमादान है।[1]

वेयणं वेदंति की व्याख्या—इसके दो अर्थ बताए गए हैं। तदनुसार अनुभव और ज्ञान की दृष्टि से वृत्तिकार ने यहाँ चतुर्भगी बताई है—(१) सज्ञी वेदना का अनुभव करते हैं, जानते भी है, (२) सिद्ध भगवान् जानते है, अनुभव नही करते (३) असज्ञी अनुभव करते है, जानते नही और (४) अजीव न अनुभव करते है, न जानते है। यहाँ प्रथम और तृतीय भग वाले जीवो का अधिकार है, द्वितीय और चतुर्थ यहाँ अप्रासगिक है।[2]

क्रियास्थानों द्वारा कर्मबन्ध—इन तेरह क्रियास्थानो के द्वारा कर्मबन्ध होता है, इनके अतिरिक्त कोई क्रियास्थान नही, जो कर्मबन्धन का कारण हो। इसलिए समस्त ससारी प्राणी इन तेरह क्रियास्थानो में समा जाते है।[3]

शास्त्रकार एव वृत्तिकार स्वय इन तेरह क्रियास्थानो का अर्थ एव व्याख्या आगे यथास्थान करेंगे।

---

१ सूत्रकृताग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३०४-३०५ का साराश

२. सूत्रकृताग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३०४ ३. वही, पत्रांक ३०५

प्रथमक्रियास्थान—अर्थदण्डप्रत्ययिक : स्वरूप और विश्लेषण

६९५. पढमे दंडसमादाणे। अट्ठादंडवत्तिए त्ति आहिज्जति से। जहानामए केइ पुरिसे आतहेउं वा णाइहेउं वा अगारहेउं वा परिवारहेउं वा मित्तहेउं वा णागहेउं वा भूतहेउं वा जक्खहेउं वा तं दंडं तस थावरेहिं पाणेहिं सयमेव णिसिरति, अण्णेण वि णिसिरावेति, अण्णं पि णिसिरंतं समणुजाणति, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जे त्ति आहिज्जति, पढमे दंडसमादाणे अट्ठादंडवत्तिए आहिते।[1]

३९५—प्रथम दण्डसमादान अर्थात् क्रियास्थान अर्थदण्डप्रत्ययिक कहलाता है। जैसे कि कोई पुरुष अपने लिए, अपने ज्ञातिजनो के लिए, अपने घर या परिवार के लिए, मित्रजनो के लिए अथवा नाग, भूत और यक्ष आदि के लिए स्वय त्रस और स्थावर जीवो को दण्ड देता है (प्राणिसहारकारिणी क्रिया करता है), अथवा (पूर्वोक्त कारणो से) दूसरे से दण्ड दिलवाता है, अथवा दूसरा दण्ड दे रहा हो, उसका अनुमोदन करता है। ऐसी स्थिति मे उसे सावद्यक्रिया के निमित्त से पापकर्म का बन्ध होता है। यह प्रथम दण्डसमादान अर्थदण्डप्रत्ययिक कहा गया है।

विवेचन—प्रथम क्रियास्थान—अर्थदण्डप्रत्ययिक : स्वरूप और विश्लेषण—प्रस्तुत सूत्र मे शास्त्रकार ने तेरह क्रियास्थानो मे से अर्थदण्डप्रत्ययिक नामक प्रथम क्रियास्थान का स्वरूप, प्रवृत्ति-निमित्त एव उसकी परिधि का विश्लेषण किया है।

अर्थदण्ड—हिसा आदि दोषो से युक्त प्रवृत्ति, फिर चाहे वह किसी भी प्रयोजन से, किसी के भी निमित्त की जाती हो, अर्थदण्ड है।

अर्थदण्डप्रत्ययिक क्रियास्थान : भ० महावीर की दृष्टि मे—कई मतवादी सार्थक क्रियाओ से जनित दण्ड (हिंसादि) को पापकर्मबन्धकारक नही मानते थे, किन्तु भगवान् महावीर की दृष्टि मे वह पाप-कर्मबन्ध का कारण है। इसीलिए शास्त्रकार स्पष्ट कर देते है कि जो पुरुष अपने या किसी भी दूसरे प्राणी के लिए अथवा नाग भूत-यक्षादि के निमित्त त्रस स्थावरप्राणियो की हिंसा करता, करवाता और अनुमोदन करता है, उसे उस सावद्यक्रिया के फलस्वरूप अर्थदण्डप्रत्ययिक पाप कर्म का बन्ध होता है।

पुरिसे—यहाँ पुरुष शब्द उपलक्षण से चारो गतियो के सभी प्राणियो के लिए प्रयुक्त है।[2]

द्वितीय क्रियास्थान—अनर्थदण्डप्रत्ययिक : स्वरूप और विश्लेषण

६९६ (१) अहावरे दोच्चे दंडसमादाणे अणट्ठादंडवत्तिए त्ति आहिज्जति। से जहानामए केइ पुरिसे जे इमे तसा पाणा भवंति ते णो अच्चाए णो अजिणाए णो मसाए णो सोणियाए एवं हिययाए पित्ताए वसाए पिच्छाए पुच्छाए वालाए सिंगाए विसाणाए दंताए दाढाए णहाए ण्हारुणीए अट्ठीए अट्ठिमिंजाए, णो हिंसिसु मे त्ति, णो हिंसंति मे त्ति, णो हिंसिस्संति मे त्ति, णो पुत्तपोसणयाए णो पसुपोसणयाए णो अगारपरिवूहणताए णो समण-माहणवत्तियहेउं, णो तस्स सरीरगस्स किंचि वि

---

१ तुलना—'पढमे दंडसमादाणे अट्ठादंडवत्तिए ... त्ति आहिते।'—आवश्यकचूर्णि प्रतिक्रमणाध्ययन, पृ. १२७

२ सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३०६ का सारांश

परियादित्ता भवति, से हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्दवइत्ता उज्झिउं बाले वेरस्स आभागी भवति, अणट्ठादंडे ।

(२) से जहाणामए केइ पुरिसे जे इमे थावरा पाणा भवंति, तंजहा—इक्कडा इ वा कढिणा इ वा जंतुगा इ वा परगा इ वा मोरका इ वा तणा इ वा कुसा इ वा कुच्चक्का इ वा पव्वगा ति वा पलालए इ वा, ते णो पुत्तपोसणयाए णो पसुपोसणयाए णो अगारपोसणयाए णो समण-माहणपोसणयाए, णो तस्स सरीरगस्स किंचि वि परियादित्ता भवति, से हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंइपत्ता उद्दवइत्ता उज्झिउ बाले वेरस्स आभागी भवति, अणट्ठादडे ।

(३) से जहाणामए केइ पुरिसे कच्छंसि वा दहंसि वा दगंसि वा दवियंसि वा वलयंसि वा णूमंसि वा गहणंसि वा गहणविदुग्गंसि वा वणंसि वा वणविदुग्गंसि वा तणाइं ऊसविय ऊसविय सयमेव अगणिकायं णिसिरति, अण्णेण वि अगणिकाय णिसिरावेति, अण्ण पि अगणिकायं णिसिरतं समणुजाणति, अणट्ठादंडे, एव खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जे त्ति आहिज्जति, दोच्चे दंडसमादाणे अणट्ठादंडवत्तिए त्ति आहिते ।

६९६ इसके पश्चात् दूसरा दण्डसमादानरूप क्रियास्थान अनर्थदण्ड प्रत्ययिक कहलाता है।

(१) जैसे कोई पुरुष ऐसा होता है, जो इन त्रसप्राणियो को न तो अपने शरीर की अर्चा (रक्षा या सस्कार) के लिए अथवा अर्चा-पूजा के लिए मारता है, न चमडे के लिए, न ही मास के लिए और न रक्त के लिए मारता है। एव हृदय के लिए, पित्त के लिए, चर्बी के लिए, पिच्छ (पख) पूछ, बाल, सीग, विषाण, दाँत, दाढ, नख, नाडी, हड्डी और हड्डी की मज्जा (रग) के लिए नही मारता। तथा इसने मुझे या मेरे किसी सम्बन्धी को मारा है, अथवा मार रहा है या मारेगा, इसलिए नही मारता एव पुत्रपोषण, पशुपोषण तथा अपने घर की मरम्मत एव हिफाजत (अथवा विशाल बनाने) के लिए भी नही मारता, तथा श्रमण और माहन (ब्राह्मण) के जीवन निर्वाह के लिए, एव उनके या अपने शरीर या प्राणो पर किञ्चित् उपद्रव न हो अत परित्राणहेतु भी नही मारता, अपितु निष्प्रयोजन (बिना किसी अर्थ या निमित्त के) ही वह मूर्ख (बाल) प्राणियो को दण्ड देता हुआ उन्हे (दण्ड आदि से) मारता है, उनके (कान नाक आदि) अगो का छेदन करता है, उन्हे शूल आदि से भेदन करता है, उन प्राणियो के अगो को अलग-अलग करता है, उनकी आँखे निकालता है, चमडी उधेडता है, उन्हे डराता-धमकाता है, अथवा परमाधार्मिकवत् अकारण ही नाना उपायो से उन्हे पीडा पहुँचाता है, तथा प्राणो से रहित भी कर देता है। वह सद्विवेक का त्याग करके या अपना आपा (होश) खोकर (अविचारपूर्वक कार्य करने वाला) तथा निष्प्रयोजन त्रस प्राणियो को उत्पीडित (दण्डित) करने वाला वह मूढ प्राणियो के साथ (जन्म-जन्मान्तरानुबन्धी) वैर का भागी बन जाता है।

(२) कोई पुरुष ये जो स्थावर प्राणी हैं, जैसे कि इक्कड, कठिन, जन्तुक, परक, मयूरक, मुस्ता (मोथा), तृण (हरीघास), कुश, कुच्छक, (कर्चक) पर्वक और पालाल (पराल) नामक विविध वनस्पतियाँ होती हैं, उन्हे निरर्थक दण्ड देता है। वह इन वनस्पतियो को पुत्रादि के पोषणार्थ या पशुओ के पोषणार्थ, या गृहरक्षार्थ, अथवा श्रमण एव माहन (ब्राह्मण) के पोषणार्थ दण्ड नही देता, न

ही ये वनस्पतियाँ उसके शरीर की रक्षा के लिए कुछ काम आती हैं, तथापि वह अज्ञ निरर्थक ही उनका हनन, छेदन, भेदन, खण्डन, मर्दन, उत्पीडन करता है, उन्हे भय उत्पन्न करता है, या जीवन से रहित कर देता है और (जन्मजन्मान्तर तक) उन प्राणियो के साथ वैर का भागी बन जाता है।

(३) जैसे कोई पुरुष (सद-असद्विवेकविकल होकर) नदी के कच्छ (किनारे) पर, द्रह (तालाब या झील) पर, या किसी जलाशय मे, अथवा तृणराशि पर, तथा नदी आदि द्वारा घिरे हुए स्थान मे, अन्धकारपूर्ण स्थान मे अथवा किसी गहन—दुष्प्रवेशस्थान मे, वन मे या घोर वन मे, पर्वत पर या पर्वत के किसी दुर्गम स्थान मे तृण या घास को बिछा-बिछा या फैला-फैला कर अथवा ऊँचा ढेर करके, स्वय उसमे आग लगाता (जला कर डालता) है, अथवा दूसरे से आग लगवाता है, अथवा इन स्थानो पर आग लगाते (या जलाते) हुए अन्य व्यक्ति का अनुमोदन—समर्थन करता है, वह पुरुष निष्प्रयोजन प्राणियो को दण्ड देता है। इस प्रकार उस पुरुष को व्यर्थ ही (अग्निकायिक तथा तदाश्रित अन्य त्रसादि) प्राणियो के घात के कारण सावद्य (पाप) कर्म का बन्ध होता है।

यह दूसरा अनर्थदण्डप्रत्ययिक क्रियास्थान कहा गया है।

विवेचन—द्वितीय क्रियास्थान अनर्थदण्डप्रत्ययिक स्वरूप और विश्लेषण—प्रस्तुत सूत्र मे शास्त्रकार निरर्थक प्राणिघातजनित क्रियास्थान का विभिन्न पहलुओ से निरूपण करते है। वे पहलू ये है—

(१) वह द्वीन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक के त्रस प्राणियो की निरर्थक ही विविध प्रकार से प्राणहिंसा करता, करवाता व अनुमोदन करता है,

(२) वह स्थावरजीवो की—विशेषत वनस्पतिकायिक एव अग्निकायिक जीवो की निरर्थक ही विविध प्रकार से—पर्वतादि विविध स्थानो मे, छेदन-भेदनादि रूप मे हिंसा करता, करवाता व अनुमोदन करता है,

(३) वह शरीरसज्जा, चमडे, मासादि के लिए हिंसा नही करता,

(४) किसी प्राणी द्वारा मारने की आशका से उसका वध नही करता,

(५) वह पुत्र पशु, गृह आदि के सवर्द्धनार्थ हिंसा नही करता, किन्तु किसी भी प्रयोजन के बिना निरर्थक त्रस जीवो का घात करता है।

अनर्थदण्डप्रत्ययिक क्रियास्थान—किसी भी प्रयोजन के बिना केवल आदत, कौतुक, कुतूहल मनोरजन आदि से प्रेरित होकर किसी भी त्रस या स्थावर जीव की किसी भी रूप मे की जाने वाली हिंसा (दण्ड) के निमित्त से जो पाप कर्मबन्ध होता है, उसे अनर्थदण्ड-प्रत्ययिक क्रियास्थान कहते हैं। भगवान् महावीर की दृष्टि मे अर्थदण्ड-प्रत्ययिक की अपेक्षा अनर्थदण्ड-प्रत्ययिक क्रियास्थान अधिक पापकर्मबन्धक है।[1]

तृतीय क्रियास्थान-हिंसादंडप्रत्ययिक : स्वरूप और विश्लेषण

६९७. अहावरे तच्चे दंडसमादाणे हिंसादंडवत्तिए त्ति आहिज्जति। से जहाणामए केइ

१ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ३०७ का साराश

पुरिसे ममं वा ममि वा अन्नं वा अन्नि वा हिंसिसु वा हिंसइ वा हिंसिस्सइ वा तं दंडं तस-थावरेहि पाणेहि सयमेव णिसिरति, अण्णेण वि णिसिरावेति, अन्नं पि णिसिरंतं समणुजाणति, हिंसादंडे, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जे त्ति आहिज्जइ, तच्चे दंडसमादाणे हिंसादंडवत्तिए त्ति आहिते ।

६९७ इसके पश्चात् तीसरा क्रियास्थान हिंसादण्डप्रत्ययिक कहलाता है। जैसे कि कोई पुरुष त्रस और स्थावर प्राणियो को इसलिए स्वय दण्ड देता है कि इस (त्रस या स्थावर) जीव ने मुझे या मेरे सम्बन्धी को तथा दूसरे को या दूसरे के सम्बन्धी को मारा था, मार रहा है या मारेगा अथवा वह दूसरे से त्रस और स्थावर प्राणी को वह दण्ड दिलाता है, या त्रस और स्थावर प्राणी को दण्ड देते हुए दूसरे पुरुष का अनुमोदन करता है। ऐसा व्यक्ति प्राणियो को हिंसारूप दण्ड देता है। उस व्यक्ति को हिंसाप्रत्ययिक सावद्यकर्म का बन्ध होता है।

अत इस तीसरे क्रियास्थान को हिंसादण्डप्रत्ययिक कहा गया है।

विवेचन—तृतीय क्रियास्थान : हिंसादण्डप्रत्ययिक—स्वरूप और विश्लेषण—प्रस्तुत सूत्र मे हिंसा दण्डप्रत्ययिक क्रियास्थान क्या है, वह कैसे होता है इसका दिग्दर्शन कराया गया है।

हिंसादण्डप्रत्ययिक क्रियास्थान मुख्यतया हिंसा प्रधान होता है। यह त्रैकालिक और कृतकारिक और अनुमोदित तीनो प्रकार से होता है। जैसे (१) कई व्यक्ति अपने सम्बन्धी की हत्या का बदला लेने के लिए क्रुद्ध होकर सम्बन्धित व्यक्तियो को मार डालते है, जैसे—परशुराम ने अपने पिता की हत्या से क्रुद्ध होकर कार्तवीर्य को मार डाला था। (२) भविष्य मे मेरी हत्या कर डालेगा, इस आशका से कोई व्यक्ति सम्बन्धित व्यक्ति को मार या मरवा डालते है, जैसे—कस ने देवकी के पुत्रो को मरवा डालने का उपक्रम किया था। कई व्यक्ति सिह, सर्प या बिच्छू आदि प्राणियो का इसलिए वध कर डालते है कि ये जिदा रहेगे तो मुझे या अन्य प्राणियो को मारेगे। (३) कई व्यक्ति वर्तमान मे कोई किसी को मार रहा है तो उस पर मारने को टूट पडते है। ये और इस प्रकार की क्रिया हिंसाप्रवृत्तिनिमित्तक होती हैं जो पाप कर्मबन्ध का कारण होने से हिंसादण्डप्रत्ययिक क्रियास्थान कहलाती हैं।[1]

चतुर्थ क्रियास्थान—अकस्माद्दण्डप्रत्ययिक : स्वरूप और विश्लेषण

६९८. (१) अहावरे चउत्थे दंडसमादाणे अकस्माद् दंडवत्तिए आहिज्जति। से जहाणामए केइ पुरिसे कच्छंसि वा जाव वणविदुग्गंसि वि मियवित्तिए मियसकप्पे मियपणिहाणे मियवहाए गता एते मिय त्ति काउं अन्नयरस्स मियस्स वधाए उसुं आयामेत्ता णं णिसिरेज्जा, से मियं वहिस्सामि त्ति कट्टु तित्तिरं वा वट्टगं वा चडगं वा लावगं वा कवोतगं वा कविं वा कविंजलं वा विंधित्ता भवति; इति खलु से अण्णस्स अट्ठाए अण्णं फुसए, अकस्माइंडे ।

(२) से जहाणामए केइ पुरिसे सालीणि वा वीहीणि वा कोद्दवाणि वा कंगूणि वा परगाणि वा रालाणि वा णिलिज्जमाणे अन्नयरस्स तणस्स वहाए सत्थं णिसिरेज्जा, से सामगं मयाणगं मुगुंदगं वीहिरूसितं कालेसुतं तणं छिंदिस्सामि त्ति कट्टु सालिं वा वीहिं वा कोद्दवं वा कंगुं वा परगं वा रालयं

---

१ सूत्रकृतांक शीलांकवृत्ति पत्रांक ३०८ का साराश

वा छिंदित्ता भवइ, इति खलु से अन्नस्स अट्ठाए अन्न फुसति, अकस्मात् दंडे, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जे त्ति आहिज्जति, चउत्थे दंडसमादाणे अकस्मात् दंडवत्तिए त्ति आहिते।

६९८ इसके बाद चौथा क्रियास्थान अकस्माद् दण्डप्रत्ययिक कहलाता है।

(१) जैसे कि कोई व्यक्ति नदी के तट पर अथवा द्रह (झील) पर यावत् किसी घोर दुर्गम जगल मे जा कर मृग को मारने की प्रवृत्ति करता है, मृग को मारने का सकल्प करता है, मृग का ही ध्यान रखता है मृग का वध करने के लिए चल पडता है, 'यह मृग है' यो जान कर किसी एक मृग को मारने के लिए वह अपने धनुष पर बाण को खीच कर चलाता है, किन्तु उस मृग को मारने का आशय होने पर भी उसका बाण लक्ष्य (वध्यजीवमृग) को न लग कर तीतर, बटेर (बतक), चिडिया, लावक, कबूतर, बन्दर या कपिजल पक्षी को लग कर उन्हे बीध डालता है। ऐसी स्थिति मे वह व्यक्ति दूसरे के लिए प्रयुक्त दण्ड से दूसरे का घात करता है, वह दण्ड इच्छा न होने पर भी अकस्मात् (सहसा) हो जाता है इसलिए इसे अकस्माद्दण्ड (प्रत्ययिक) क्रियास्थान कहते है।

(२) जैसे कोई पुरुष शाली, व्रीहि, कोद्रव (कोदो), कगू, परक और राल नामक धान्यो (अनाजो) को शोधन (साफ) करता हुआ किसी तृण (घास) को काटने के लिए शस्त्र (हसिया या दाती) चलाए, और 'मैं श्यामाक, तृण और कुमुद आदि घास को काटू' ऐसा आशय होने पर भी (लक्ष्य चूक जाने से) शाली, व्रीहि, कोद्रव, कगू, परक और राल के पौधो का ही छेदन कर बैठता है। इस प्रकार अन्य वस्तु को लक्ष्य करके किया हुआ दण्ड (प्राणिहिसा) अन्य को स्पर्श करता है। यह दण्ड भी घातक पुरुष का अभिप्राय न होने पर भी अचानक हो जाने के कारण अकस्माद्दण्ड कहलाता है। इस प्रकार अकस्मात् (किसी जीव को) दण्ड देने के कारण उस घातक पुरुष को (उसके निमित्त से) सावद्यकर्म का बन्ध होता है। अत यह चतुर्थ क्रियास्थान अकस्माद्दण्ड प्रत्ययिक कहा गया है।

विवेचन—चतुर्थ क्रियास्थान : अकस्माद्दण्डप्रत्ययिक—स्वरूप और विश्लेषण—प्रस्तुत सूत्र मे शास्त्रकार ने चतुर्थ क्रियास्थान के रूप मे अकस्माद्दण्डप्रत्ययिक क्रियास्थान क्या है, वह कैसे-कैसे हो जाता है, इसे दो दृष्टान्तो द्वारा समझाया है—(१) किसी मृग को मारने के अभिप्राय से चलाये गये शस्त्र से अन्य किसी प्राणी (तीतर आदि) का घात हो जाने पर, (२) किसी घास को काटने के अभिप्राय से चलाये गए औजार से किसी पौधे के कट जाने पर।[1]

पंचम क्रियास्थान: दृष्टि विपर्यासदण्डप्रत्ययिक : स्वरूप और विश्लेषण

६९९. (१) अहावरे पचमे दडसमादाणे दिट्ठीविप्परियासियादडे त्ति आहिज्जति। से जहाणामए केइ पुरिसे माईहि वा पिईहि वा भातीहि वा भगिणीहि वा भज्जाहि वा पुत्तेहि वा धूताहि वा सुण्हाहि वा सद्धि सवसमाणे मित्त अमित्तमिति मन्नमाणे मित्ते हयपुव्वे भवति दिट्ठीविप्परियासियादंडे।

(२) से जहा वा केइ पुरिसे गामघायसि वा णगरघायंसि वा खेड० कब्बड० मडबघातंसि वा दोणमुहघायसि वा पट्टणघायंसि वा आसमघातंसि वा सन्निवेसघायसि वा निगमघायंसि वा रायहाणि-

---

१. सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति, पत्राक ३०९ का साराश

घायंसि वा अतेणं तेणमिति मन्नमाणे अतेणे हयपुव्वे भवइ, दिट्ठीविपरियासियादंडे, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जे त्ति आहिज्जति, पंचमे दंडसमादाणे दिट्ठीविप्परियासियादंडे त्ति आहिते ।

६९९ इसके पश्चात् पाचवा क्रियास्थान दृष्टिविपर्यासदण्डप्रत्ययिक कहलाता है ।

(१) जैसे कोई व्यक्ति अपने माता, पिता, भाइयो, बहनो, स्त्री, पुत्रो, पुत्रियो या पुत्रवधुओ के साथ निवास करता हुआ अपने उस मित्र (हितैषीजन) को (गलतफहमी से) शत्रु (विरोधी या अहितैषी) समझ कर मार देता है, इसको दृष्टिविपर्यासदण्ड कहते है, क्योकि यह दण्ड दृष्टिभ्रमवश होता है ।

(२) जैसे कोई पुरुष ग्राम, नगर, खेड, कब्बड, मण्डप, द्रोण-मुख, पत्तन, आश्रम, सन्निवेश, निगम अथवा राजधानी पर घात के समय किसी चोर से भिन्न (अचोर) को चोर समझ कर मार डाले तो वह दृष्टिविपर्यासदण्ड कहलाता है ।

इस प्रकार जो पुरुष अहितैषी या दण्ड्य के भ्रम से हितैषी जन या अदण्ड्य प्राणी को दण्ड दे बैठता है, उसे उक्त दृष्टिविपर्यास के कारण सावद्यकर्मबन्ध होता है। इसलिए दृष्टिविपर्यास दण्डप्रत्ययिक नामक पचम क्रियास्थान बताया गया है ।

विवेचन—पचम क्रियास्थान-दृष्टिविपर्यासदण्ड-प्रत्ययिक स्वरूप और विश्लेषण—प्रस्तुत सूत्र मे दृष्टिविपर्यासवश होने वाले दण्डसमादान (क्रियास्थान) को दो दृष्टान्तो द्वारा समझाया गया है—(१) हितैषी पारिवारिक जनो मे से किसी को भ्रमवश अहितैषी (शत्रु) समझ कर दड देना, (२) ग्राम, नगर आदि मे किसी उपद्रव के समय चोर, हत्यारे आदि दण्डनीय व्यक्ति को ढूढने के दौरान किसी अदण्डनीय को भ्रम से दण्डनीय समझ कर दड देना ।[1]

छठा क्रियास्थान—मृषावादप्रत्ययिक : स्वरूप और विश्लेषण

७००. अहावरे छट्ठे किरियाठाणे मोसवत्तिए त्ति आहिज्जति । से जहानामए केइ पुरिसे आयहेउ वा नायहेउ वा अगारहेउं वा परिवारहेउं वा सयमेव मुसं वयति, अण्णेण वि मुसं वदावेति, मुसं वयंतं पि अण्णं समणुजाणति, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जे त्ति आहिज्जति, छट्ठे किरियाठाणे मोसवत्तिए त्ति आहिते ।

७०० इसके पश्चात् छठे क्रियास्थान का वर्णन है, जो मृषाप्रत्ययिक कहलाता है । जैसे कि कोई पुरुष अपने लिए, ज्ञातिवर्ग के लिए, घर के लिए अथवा परिवार के लिए स्वय असत्य बोलता है, दूसरे से असत्य बुलवाता है, तथा असत्य बोलते हुए अन्य व्यक्ति का अनुमोदन करता है, ऐसा करने के कारण उस व्यक्ति को असत्य प्रवृत्ति-निमित्तक पाप (सावद्य) कर्म का बन्ध होता है। इसलिए यह छठा क्रियास्थान मृषावादप्रत्ययिक कहा गया ।

विवेचन—छठा क्रियास्थान : मृषावादप्रत्ययिक—स्वरूप—प्रस्तुत सूत्र मे मृषावाद प्रत्ययिक क्रियास्थान का स्वरूप बताया गया है । यह क्रियास्थान मन, वचन, काय से किसी भी प्रकार का असत्याचरण करने, कराने एव अनुमोदन से होता है ।

---

१ सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ३०९ का सारांश

अन्तर—इसके पूर्व जो पाच क्रियास्थान कहे गए हैं, उनमे प्राय· प्राणियो का घात होता है, इसलिए उन्हे शास्त्रकार ने 'दण्डसमादान' कहा है, परन्तु छठे से ले कर तेरहवे क्रियास्थान तक के भेदो मे प्राय प्राणिघात नही होता, इसलिए इन्हे 'दण्डसमादान' न कह कर 'क्रियास्थान' कहा है।[1]

सप्तम क्रियास्थान—अदत्तादान प्रत्ययिक : स्वरूप और विश्लेषण

७०१. अहावरे उत्तमे किरियाठाणे अदिण्णादाणवत्तिए त्ति आहिज्जति। से जहाणामए केइ पुरिसे आयहेउं वा जाव परिवारहेउ वा सयमेव अदिण्ण आदियति, अण्णेण वि अदिण्णं आदियावेति, अदिण्ण आदियंत अण्ण समणुजाणति, एवं खलु तस्स तप्पत्तिय सावज्जे त्ति आहिज्जति, सत्तमे किरियाठाणे अदिण्णादाणवत्तिए त्ति आहिते।

७०१ इसके पश्चात् सातवाँ क्रियास्थान अदत्तादानप्रत्ययिक कहलाता है। जैसे कोई व्यक्ति अपने लिए, अपनी ज्ञाति के लिए तथा अपने घर और परिवार के लिए अदत्त—वस्तु के स्वामी के द्वारा न दी गई वस्तु को स्वय ग्रहण करता है, दूसरे से अदत्त को ग्रहण कराता है, और अदत्त ग्रहण करते हुए अन्य व्यक्ति का अनुमोदन करता है, तो ऐसा करने वाले उस व्यक्ति को अदत्तादान-सम्बन्धित सावद्य (पाप) कर्म का बन्ध होता है। इसलिए इस सातवे क्रियास्थान को अदत्तादानप्रत्ययिक कहा गया है।

विवेचन—सप्तम क्रियास्थान : अदत्तादानप्रत्ययिक—स्वरूप और कारण—प्रस्तुत सूत्र मे अदत्तादान से सम्बन्धित कृत-कारित-अनुमोदितरूप क्रियास्थान का स्वरूप बताया गया है।

अदत्तादान—वस्तु के स्वामी या अधिकारी से विना पूछे उसके विना दिये या उसकी अनुमति, सहमति या इच्छा के विना उस वस्तु को ग्रहण कर लेना, उस पर अपना अधिकार या स्वामित्व जमा लेना, उससे छीन, लूट या हरण पर लेना अदत्तादान, स्तेन या चोरी है।[2]

अष्टम क्रियास्थान—अध्यात्मप्रत्ययिक क्रियास्थान : स्वरूप और विश्लेषण

७०२. अहावरे अट्ठमे किरियाठाणे अज्झत्थिए त्ति आहिज्जति। से जहाणामए केइ पुरिसे, से णत्थि णं केइ किंचि विसवादेति, सयवेति, सयमेव हीणे दीणे दुट्ठे दुम्मणे ओहयमणसंकप्पे चितासोगसागरसपविट्ठे करतलपल्हत्थमुहे अट्टज्झाणोवते भूमिगतदिट्ठीए झियाति, तस्स णं अज्झत्थिया असंसइया चत्तारि ठाणा एवमाहिज्जति, त०—कोहे माणे माया लोभे, अज्झत्थमेव कोह-माण-माया-लोहा, एव खलु तस्स तप्पत्तिय सावज्जे ति आहिज्जति, अट्ठमे किरियाठाणे अज्झत्थिए त्ति आहिते।

७०२ इसके बाद आठवाँ अध्यात्मप्रत्ययिक क्रियास्थान कहा गया है। जैसे कोई ऐसा (चिन्ता एव भ्रम से ग्रस्त) पुरुष है, किसी विसवाद (तिरस्कार या क्लेश) के कारण, दु:ख उत्पन्न करने वाला कोई दूसरा नही है फिर भी वह स्वयमेव हीन भावनाग्रस्त, दीन, दुश्चिन्त (दु·खित चित्त) दुर्मनस्क, उदास होकर मन मे अस्वस्थ (बुरा) संकल्प करता रहता है, चिन्ता और शोक के सागर मे

---

१ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति, पत्राक ३०९ के अनुसार

२ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति, पत्राक ३१० का साराश

डूबा रहता है, एव हथेली पर मु ह रख कर (उदासीन मुद्रा मे) पृथ्वी पर दृष्टि किये हुए आर्त्तध्यान करता रहता है। नि सन्देह उसके हृदय मे सचित चार कारण हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। वस्तुत क्रोध, मान, माया और लोभ (आत्मा—अन्तकरण मे उत्पन्न होने के कारण) आध्यात्मिक भाव हैं। इस प्रकार अध्यात्मभाव के कारण सावद्यकर्म का बन्ध होता है। अत आठवे क्रियास्थान को अध्यात्मप्रत्ययिक कहा गया है।

विवेचन—आठवाँ क्रियास्थान : अध्यात्मप्रत्ययिक : स्वरूप और कारण—प्रस्तुत सूत्र मे शास्त्रकार ने अध्यात्मप्रत्ययिक क्रियास्थान का स्वरूप समझाते हुए चार तथ्य प्रस्तुत किये हैं—(१) अन्त करण (आत्मा) से प्रादुर्भूत होने के कारण इसे अध्यात्मप्रत्ययिक कहते है, (२) मनुष्य अपने चिन्ता, सशयग्रस्त दुर्मन के कारण ही हीन, दीन, दुश्चिन्त, हो कर आर्त्तध्यान मे प्रवृत्त होता है, (३) इस अध्यात्मक्रिया के पीछे क्रोधादि चार कारण होते है। (४) इसलिए आत्मा मे उत्पन्न होने वाले क्रोधादि चार के कारण जो क्रिया होती है, उसके निमित्त से पापकर्म बन्ध होता है।[1]

नौवां क्रियास्थान—मानप्रत्ययिक : स्वरूप, कारण, परिणाम

७०३. अहावरे णवमे किरियाठाणे माणवत्तिए त्ति आहिज्जई। से जहाणामए केइ पुरिसे जातिमदेण वा कुलमदेण वा बलमदेण वा रूवमएण वा तवमएण वा सुयमदेण वा लाभमदेण वा इस्सरियमदेण वा पण्णामदेण वा अन्नतरेण वा मदट्ठाणेणं मत्ते समाणे परं हीलेति निंदति खिंसति गरहति परिभवइ अवमण्णेति, इत्तरिए अयमंसि अप्पाणं समुक्कसे, देहा चुए कम्मबितिए अवसे पयाति, तंजहा गब्भातो गब्भ, जम्मातो जम्मं, मारातो मारं, णरगाओ णरगं, चंडे थद्धे चवले माणी यावि भवति, एव खलु तस्स तप्पत्तिय सावज्जे त्ति आहिज्जति, णवमे किरियाठाणे माणवत्तिए त्ति आहिते।

७०३ इसके पश्चात् नौवा क्रियास्थान मानप्रत्ययिक कहा गया है। जैसे कोई व्यक्ति जातिमद, कुलमद, रूपमद, तपोमद, श्रुत (शास्त्रज्ञान) मद, लाभमद, ऐश्वर्यमद एव प्रज्ञामद, इन आठ मदस्थानो मे से किसी एक मद-स्थान से मत्त हो कर दूसरे व्यक्ति की अवहेलना (अवज्ञा) करता है, निन्दा करता है, उसे झिडकता है, या घृणा करता है, गर्हा करता है, दूसरे को नीचा दिखाता (पराभव करता) है, उसका अपमान करता है। (वह समझता है—) यह व्यक्ति हीन (योग्यता, गुण आदि मे मुझ से न्यून) है, मै विशिष्ट जाति, कुल, बल आदि गुणो से सम्पन्न हूँ, इस प्रकार अपने आपको उत्कृष्ट मानता हुआ गर्व करता है।

इस प्रकार जाति आदि मदो से उन्मत्त पुरुष आयुष्य पूर्ण होने पर शरीर को (यहीं) छोड कर कर्ममात्र को साथ ले कर विवशतापूर्वक परलोक प्रयाण करता है। वहाँ वह एक गर्भ से दूसरे गर्भ को, एक जन्म से दूसरे जन्म को, एक मरण से दूसरे मरण को और एक नरक से दूसरे नरक को प्राप्त करता है। परलोक मे वह चण्ड (भयकर क्रोधी, अतिरौद्र), नम्रतारहित चपल, और अतिमानी होता है।

इस प्रकार वह व्यक्ति उक्त अभिमान (मद) की क्रिया के कारण सावद्यकर्मबन्ध करता है। यह नौवा क्रियास्थान मानप्रत्ययिक कहा गया है।

१ सूत्रकृतांग शीलाकवृत्ति, पत्राक ३१० का साराश

विवेचन—नौवाँ क्रियास्थान : मानप्रत्ययिक—स्वरूप, कारण और परिणाम—प्रस्तुत सूत्र में मानप्रत्ययिक क्रियास्थान के सन्दर्भ मे शास्त्रकार तीन तथ्यो को सूचित करते हैं—

(१) मान की उत्पत्ति के स्रोत—आठमद

(२) मानक्रिया का प्रत्यक्ष रूप—दूसरो की अवज्ञा, निन्दा, घृणा, पराभव, अपमान आदि तथा दूसरे को जाति आदि मे हीन और स्वय को उत्कृष्ट समझना।

(३) जाति आदि वश मानक्रिया का दुष्परिणाम—दुष्कर्मवश चिरकाल तक जन्म-मरण के चक्र मे भ्रमण, प्रकृति अतिरौद्र, अतिमानी, चचल और नम्रतारहित।[1]

दसवाँ क्रियास्थान—मित्रदोषप्रत्ययिक : स्वरूप, कारण और दुष्परिणाम

७०४. अहावरे दसमे किरियाठाणे मित्तदोसवत्तिए त्ति आहिज्जति, से जहाणामए केइ पुरिसे मातीहि वा पितीहि वा भाईहि वा भगिणीहि वा भज्जाहि वा पुत्तेहि वा धूयाहि वा सुण्हाहि वा सद्धि सवसमाणे तेसि अन्नतरंसि अहालहुगंसि अवराहंसि सयमेव गरुय दड वत्तेति, तंजहा—सीतोदग-वियडसि वा कायं ओबोलित्ता भवति, उसिणोदगवियडेण वा काय ओसिचित्ता भवति, अगणिकाएण वा कायं उड्डहित्ता भवति, जोत्तेण वा वेत्तेण वा णेत्तेण वा तया वा कसेण वा छिवाए वा लयाए वा पासाइं उद्दालेत्ता भवति, दडेण वा अट्ठीण वा मुट्ठीण वा लेलूण वा कवालेण वा कायं आउट्टित्ता भवति; तहप्पकारे पुरिसजाते सवसमाणे दुम्मणा भवति, पवसमाणे सुमणा भवति, तहप्पकारे पुरिसजाते दडपासी दडगुरुए दडपुरक्खडे अहिए इमसि लोगसि अहिते परसि लोगसि सजलणे कोहणे पिट्ठिमंसि यावि भवति, एव खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जे त्ति आहिज्जति, दसमे किरियाठाणे मित्तदोसवत्तिए त्ति आहिते।

७०४ इसके बाद दसवाँ क्रियास्थान मित्र दोषप्रत्ययिक कहलाता है। जैसे—कोई (प्रभुत्व-सम्पन्न) पुरुष माता, पिता, भाइयो, बहनो, पत्नी, कन्याओ, पुत्रो अथवा पुत्रवधुओ के साथ निवास करता हुआ, इनसे कोई छोटा-सा भी अपराध हो जाने पर स्वय भारी दण्ड देता है, उदाहरणार्थ—सर्दी के दिनो मे अत्यन्त ठडे पानी मे उन्हे डुबोता है, गर्मी के दिनो मे उनके शरीर पर अत्यन्त गर्म (उबलता हुआ) पानी छीटता है, आग से उनके शरीर को जला देता है या गर्म दाग देता है, तथा जोत्र से, बेत से, छडी से, चमडे से, लता से या चाबुक से अथवा किसी प्रकार की रस्सी से प्रहार करके उसके बगल (पार्श्वभाग) की चमडी उधेड देता है, तथैव डडे से, हड्डी से, मुक्के से, ढेले से ठीकरे या खप्पर से मार-मार कर उसके शरीर को ढीला (जर्जर) कर देता है। ऐसे (अतिक्रोधी) पुरुष के घर पर रहने से उसके सहवासी परिवारिकजन दुःखी रहते है, ऐसे पुरुष के परदेश प्रवास करने से वे सुखी रहते है। इस प्रकार का व्यक्ति जो (हरदम) डडा बगल मे दबाये रखता है, जरा से अपराध पर भारी दण्ड देता है, हर बात मे दण्ड को आगे रखता है अथवा दण्ड को आगे रख कर बात करता है, वह इस लोक मे तो अपना अहित करता ही है परलोक मे भी अपना अहित करता है। वह प्रतिक्षण ईर्ष्या से जलता रहता है, बात-बात मे क्रोध करता है, दूसरो की पीठ पीछे निन्दा करता है, या चुगली खाता है।

---

१ सूत्रकृताग शीलांकवृत्ति पत्राक ३११ का साराश

इस प्रकार के (महादण्डप्रवर्त्तक) व्यक्ति को हितैषी (मित्र) व्यक्तियो को महादण्ड देने की क्रिया के निमित्त से पापकर्म का बन्ध होता है। इसी कारण इस दसवे क्रियास्थान को 'मित्रदोषप्रत्ययिक' कहा गया है।

विवेचन—दसवाँ क्रियास्थान : मित्रदोषप्रत्ययिक—स्वरूप, कारण और दुष्परिणाम—प्रस्तुत सूत्र मे मित्रदोषप्रत्ययिक क्रियास्थान के सन्दर्भ मे शास्त्रकार पाँच तथ्यो को प्रस्तुत करते है—(१) मित्र के समान हितैषी सहवासी स्वजन-परिजनो मे से किसी के जरा-से दोष पर कोई जबर्दस्त व्यक्ति उसे भारी दण्ड देता है, इस कारण इसे मित्रदोषप्रत्ययिक कहते है। (२) उक्त प्रभुत्वसम्पन्न व्यक्ति द्वारा सहवासी स्वजन–परिजनो को गुरुतरदण्ड देने की प्रक्रिया का निरूपण। (३) ऐसे महादण्ड प्रवर्त्तक पुरुष की निन्द्य एव तुच्छ प्रकृति का वर्णन। (४) इहलोक और परलोक मे उसका अहितकर दुष्परिणाम। (५) मित्रजनो के दोष पर महादण्ड देने की क्रिया के निमित्त से पापकर्म का बन्ध।[1]

ग्यारहवाँ क्रियास्थान—मायाप्रत्ययिक : स्वरूप, प्रक्रिया और परिणाम

७०५. अहावरे एक्कारसमे किरियाठाणे मायावत्तिए त्ति आहिज्जति, जे इमे भवंति—गुढायारा तमोकासिया उलूगपत्तलहुया, पव्वयगुरुया, ते आरिया वि सता अणारियाओ भासाओ विउज्जति, अन्नहा सतं अप्पाणं अन्नहा मन्नति, अन्न पुट्ठा अन्नं वागरेंति, अन्न आइक्खियव्व अन्न आइक्खति। से जहाणामए केई पुरिसे अंतोसल्ले त सल्ल णो सयं णीहरति, णो अन्नेण णीहरावेति, णो पडिविद्धंसेति, एवामेव निण्हवेति, अविउट्टमाणे अतो अंतो रियाति, एवामेव माई माय कट्टु णो आलोएति णो पडिक्कमति णो णिंदति णो गरहति णो विउट्टति णो विसोहति णो अकरणयाए अब्भुट्ठेति णो अहारिह तवोकम्म पायच्छित्तं पडिवज्जति, मायी अस्सिं लोए पच्चायाइ, मायी परंसि लोए पच्चायाति निंद गहाय पससते, णिच्चरति, ण नियट्टति, णिसिरिय दंड छाएति, मायी असमाहडसुहलेसे यावि भवति, एव खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जे त्ति आहिज्जइ, एक्कारसमे किरियाठाणे मायावत्तिए त्ति आहिते।

७०५ ग्यारहवाँ क्रियास्थान है, जिसे मायाप्रत्ययिक कहते है। ऐसे व्यक्ति, जो किसी को पता न चल सके, ऐसे गूढ आचार (आचरण) वाले होते है, लोगो को अंधेरे मे रख कर कायचेष्टा या क्रिया (काम) करते हैं, तथा (अपने कुकृत्यो के कारण) उल्लू के पख के समान हलके होते हुए भी अपने आपको पर्वत के समान बड़ा भारी समझते है, वे आर्य्य (आर्यदेशोत्पन्न) होते हुए भी (स्वय को छिपाने के लिए) अनार्यभाषाओ का प्रयोग करते है, वे अन्य रूप मे होते हुए भी स्वय को अन्यथा (साधु पुरुष के रूप मे) मानते है, वे दूसरी बात पूछने पर (वाचालतावश) दूसरी बात का व्याख्यान करने लगते है, दूसरी बात कहने के स्थान पर (अपने अज्ञान को छिपाने के लिए) दूसरी बात का वर्णन करने पर उतर जाते हैं। (उदाहरणार्थ—) जैसे किसी (युद्ध से पलायित) पुरुष के अन्तर मे शल्य (तीर या नुकीला कांटा) गड गया हो, वह उस शल्य को (वेदनासहन मे भीरुता प्रदर्शित न हो, इसलिए या पीडा के डर से) स्वयं नही निकालता न किसी दूसरे से निकलवाता है, और न

---

१. सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्रांक ३१३ का साराश

(चिकित्सक के परामर्शानुसार किसी उपाय से) उस शल्य को नष्ट करवाता है, प्रत्युत निष्प्रयोजन ही उसे छिपाता है, तथा उसकी वेदना से अदर ही अदर पीडित होता हुआ उसे सहता रहता है, इसी प्रकार मायी व्यक्ति भी माया (कपट) करके उस (अन्तर मे गडे हुए) मायाशल्य को निन्दा के भय से स्वय (गुरुजनो के समक्ष) आलोचना नही करता, न उसका प्रतिक्रमण करता है, न (आत्मसाक्षी से) निन्दा करता है, न (गुरुजन समक्ष) उसकी गर्हा करता है, (अर्थात्, उक्त मायाशल्य को न तो स्वय निकलता है, और न दूसरो से निकलवाता है।) न वह उस (मायाशल्य) को प्रायश्चित्त आदि उपायो से तोडता (मिटाता) है, और न उसकी शुद्धि करता है, उसे पुन न करने के लिए भी उद्यत नही होता, तथा उस पापकर्म के अनुरूप यथायोग्य तपश्चरण के रूप मे प्रायश्चित्त भी स्वीकार नही करता।

इस प्रकार मायी इस लोक मे (मायी रूप मे) प्रख्यात हो जाता है, (इसलिए) अविश्वसनीय हो जाता है, (अतिमायी होने से) परलोक मे (अधम यातना स्थानो—नरक तिर्यञ्चगतियो मे) भी पुन· पुन जन्म-मरण करता रहता है। वह (नाना प्रपञ्चो से वचना करके) दूसरे की निन्दा करता है, दूसरे से घृणा करता है, अपनी प्रशसा करता है, निश्चिन्त हो कर बुरे कार्यों मे प्रवृत्त होता है, असत् कार्यों से निवृत्त नही होता, प्राणियो को दण्ड दे कर भी उसे स्वीकारता नही, छिपाता है (दोष ढँकता है)। ऐसा मायावी शुभ लेश्याओ को अगीकार भी नही करता।

ऐसी मायी पुरुष पूर्वोक्त प्रकार की माया (कपट) युक्त क्रियाओ के कारण पाप (सावद्य) कर्म का बन्ध करता है। इसीलिए ग्यारहवे क्रियास्थान को मायाप्रत्ययिक कहा गया है।

विवेचन—ग्यारहवां क्रियास्थान : मायाप्रत्ययिक—स्वरूप, मायाप्रक्रिया और दुष्परिणाम - प्रस्तुत सूत्र मे शास्त्रकार मायाप्रत्ययिक क्रियास्थान का निरूपण करते हुए मुख्यतया चार तथ्य प्रस्तुत करते है—

(१) मायाप्रत्ययिक क्रियास्थान का मूलाधार—मायाचारियो द्वारा अपनाई जाने वाली माया की विविध प्रक्रियाए।

(२) मायाचारी की प्रकृति का सोदाहरण वर्णन—मायाशल्य को अन्त तक अन्तर से न निकालने का स्वभाव।

(३) मायाप्रधान क्रिया का इहलौकिक एव पारलौकिक दुष्फल—कुगतियो मे पुन पुन गमनागमन, एव कुटिल दुर्वृत्तियो से अन्त तक पिण्ड न छूटना।

(४) मायिक क्रियाओ के कारण पापकर्म का बन्ध एव मायाप्रत्ययिक क्रियास्थान नाम की सार्थकता।[1]

बारहवां क्रियास्थान—लोभप्रत्ययिक : अधिकारी, प्रक्रिया और परिणाम

७०६ अहावरे बारसमे किरियाठाणे लोभवत्तिए ति आहिज्जति, तंजहा—जे इमे भवंति आरण्णिया आवसहिया गामंतिया कण्हुईराहस्सिया, णो बहुसंजया, णो बहुपडिविरया, सव्वपाण-भूत-जीव-सत्तेहिं, ते अप्पणा सच्चामोसाइं एवं विउजंति-अहं ण हंतव्वो अन्ने हंतव्वा, अहं ण

---

१ सूत्रकृतांग शीलाकवृत्ति, पत्राक ३१३-३१४ का साराश

अज्जावेतव्वो अन्ने अज्जावेयव्वा, अहं ण परिघेत्तव्वो अन्ने परिघेत्तव्वा, अहं ण परितावेयव्वो अन्ने परितावेयव्वा, अहं ण उद्दवेयव्वो अन्ने उद्दवेयव्वा, एवामेव ते इत्थिकामेहिं मुच्छिया गिद्धा गढिता गरहिता अज्झोववण्णा जाव वासाइं चउपचमाइं छद्दसमाइं अप्पयरो वा भुज्जयरो वा भुंजित्तु भोगभोगाइं कालमासे कालं किच्चा अन्नतरेसु आसुरिएसु किब्बिसिएसु ठाणेसु उववत्तारो भवति, ततो विप्पमुच्चमाणा भुज्जो भुज्जो एलमूयत्ताए तमूयत्ताए जाइमूयत्ताए पच्चायंति, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जे त्ति आहिज्जति, दुवालसमे किरियाठाणे लोभवत्तिए त्ति आहिते । इच्चेताइं दुवालस किरियाठाणाइं दविएणं समणेणं वा माहणेणं व सम्मं सुपरिजाणियव्वाइं[1] भवति ।

७०६ इसके पश्चात् बारहवाँ क्रियास्थान है, जिसे लोभप्रत्ययिक कहा जाता है । वह इस प्रकार है—ये जो वन मे निवास करने वाले (आरण्यक) हैं, जो कुटी बना कर रहते (आवसथिक) हैं, ग्राम के निकट डेरा डालकर (ग्राम के आश्रय से अपना निर्वाह करने हेतु) रहते (ग्रामान्तिक) है, कई (गुफा, वन आदि) एकान्त (स्थानो) मे निवास करते है, अथवा कोई रहस्यमयी गुप्त क्रिया करते (राहस्यिक) हैं । ये आरण्यक आदि न तो सर्वथा सयत (सर्वसावद्य अनुष्ठानो से निवृत्त) है और हिंसा से स्वय विरत नही हैं । वे (आरण्यकादि) स्वय कुछ सत्य और कुछ मिथ्या (सत्यमिथ्या) (अथवा सत्य होते हुए भी जीवहिंसात्मक होने से मृषाभूत) वाक्यो का प्रयोग करते है जैसे कि—मैं ब्राह्मण होने से) मारे जाने योग्य नही हूँ, अन्य लोग (शूद्र होने से) मारे जाने योग्य (मारे जा सकते) है, मैं (वर्णों मे उत्तम ब्राह्मणवर्णीय होने से) आज्ञा देने (आज्ञा मे चलाने) योग्य नही हूँ, किन्तु दूसरे (शूद्रादिवर्णीय) आज्ञा देने योग्य है, मै (दास-दासी आदि के रूप मे खरीद कर) परिग्रहण या निग्रह करने योग्य, नही हूँ, दूसरे (शूद्रादिवर्णीय) परिग्रह या निग्रह करने योग्य है, मैं सताप देने योग्य नही हूँ, किन्तु अन्य जीव सन्ताप देने योग्य है, मैं उद्विग्न करने या जीवरहित करने योग्य नही हूँ दूसरे प्राणी उद्विग्न, भयभीत या जीवरहित करने योग्य है ।'

इस प्रकार परमार्थ से अनभिज्ञ वे अन्यतीर्थिक स्त्रियो और शब्दादि कामभोगो मे आसक्त (मूर्च्छित), गृद्ध (विषयलोलुप) सतत विषयभोगो मे ग्रस्त, गर्हित एव लीन रहते हैं ।

वे चार, पाँच, छह या दस वर्ष तक थोडे या अधिक काम-भोगो का उपभोग करके मृत्यु के समय मृत्यु पा कर असुरलोक मे किल्विषी असुर के रूप मे उत्पन्न होते है । उस आसुरी योनि से (आयुक्षय होने से) विमुक्त होने पर (मनुष्यभव मे भी) बकरे की तरह मूक, जन्मान्ध (द्रव्य से अन्ध एव भाव से अज्ञानान्ध) एव जन्म से मूक होते है । इस प्रकार विषय-लोलुपता की क्रिया के कारण लोभप्रत्ययिक पाप (सावद्य) कर्म का बन्ध होता है ।

इसीलिए बारहवें क्रियास्थान को लोभप्रत्ययिक कहा गया है ।

इन पूर्वोक्त बारह क्रियास्थानो (के स्वरूप) को मुक्तिगमनयोग्य (द्रव्य-भव्य) श्रमण या माहन को सम्यक् प्रकार से जान लेना चाहिए, और इनका त्याग करना चाहिए ।

---

१ पाठान्तर—'सुपरिजाणियव्वाइं' के बदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—
'सुपडिलेहियव्वाणि'—अर्थ होता है—'इनके हेयत्व, ज्ञेयत्व, उपादेयत्व का सम्यक् प्रतिलेखन—समीक्षापूर्वक विचार कर लेना चाहिए ।'

विवेचन—बारहवाँ क्रियास्थान : लोभप्रत्ययिक— अधिकारी, लोभप्रक्रिया एव दुष्परिणाम— प्रस्तुत सूत्र मे लोभप्रत्ययिक क्रियास्थान के सन्दर्भ मे शास्त्रकार पाँच तथ्यो को प्रस्तुत करते है—

(१) लोभप्रत्यया क्रिया के अधिकारी—आरण्यक आदि।

(२) वे विषयलोलुपतावश प्राणातिपात, मृषावाद आदि से सर्वथा विरत नही होते, कतिपय उदाहरणो सहित वर्णन।

(३) लोभक्रिया का मूलाधार—स्त्रियो एव शब्दादि कामभोगो मे आसक्ति, लालसा, वासना एव अन्वेषणा।

(४) विषयभोगो की लोलुपता का दुष्फल—आसुरी किल्विषिक योनि में जन्म, तत्पश्चात् एलक-मूकता, जन्मान्धता, जन्ममूकता की प्राप्ति।

(५) विषयलोभ की पूर्वोक्त प्रक्रिया के कारण पापकर्मबन्ध और तदनुसार लोभप्रत्ययिक क्रियास्थान नाम की सार्थकता।[1]

'णोबहुसंजया'—जो अधिकाशत सयमी नही है, इसका तात्पर्य यह है कि वे तापस आदि प्राय· त्रसजीवो का दण्डसमारम्भ नही करते, किन्तु एकेन्द्रियोपजीवी रूप मे तो वे प्रसिद्ध है, इसलिए स्थावर जीवो का दण्डसमारम्भ करते ही हैं।[2]

'णो बहुपडिविरया'—जो अधिकाशत प्राणातिपात आदि आश्रवो से विरत नही है। अर्थात् जो प्राणातिपातविरमण आदि सभी व्रतो के धारक नही है किन्तु द्रव्यत कतिपय व्रतधारक है, भावत सम्यग्दर्शन-ज्ञान रूप कारणो के अभाव मे जरा भी सम्यक्व्रत (चारित्र) के धारक नही है।

भोगभोगाइं—इसका भावार्थ यह है कि स्त्री सम्बन्धी भोग होने पर शब्दादि भोग अवश्यम्भावी होते हैं, इसलिए शब्दादि भोग भोग-भोग कहलाते है।[3]

आसुरिएसु—जिन स्थानो मे सूर्य नही है, वे आसुरिक स्थान है।[4]

तेरहवाँ क्रियास्थान : ऐर्यापथिक : अधिकारी, स्वरूप, प्रक्रिया एवं सेवन

७०७. **अहावरे तेरसमे किरियाठाणे इरियावहिए त्ति आहिज्जति, इह खलु अत्तत्ताए संवुडस्स अणगारस्स इरियासमियस्स भासासमियस्स एसणासमियस्स आयाणभंडमत्तणिक्खेवणा-समियस्स उच्चार-पासवण-खेल-सिंघाण-जल्लपारिट्ठावणियासमियस्स मणसमियस्स वइसमियस्स काय-समियस्स मणगुत्तस्स वइगुत्तस्स कायगुत्तस्स गुत्तस्स गुत्तिंदियस्स गुत्तबंभचारिस्स आउत्तं गच्छमाणस्स आउत्तं चिट्ठमाणस्स आउत्तं णिसीयमाणस्स आउत्तं तुयट्टमाणस्स आउत्तं भुंजमाणस्स आउत्तं भास-माणस्स आउत्त वत्थ पडिग्गह कंबल पायपुंछणं गेण्हमाणस्स वा णिक्खिवमाणस्स वा जाव चक्खुपम्ह-णिवातमवि अत्थि वेमाया सुहुमा किरिया इरियावहिया नामं कज्जति, सा पढमसमए बद्धा पुट्ठा,**

---

१ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ३१४-३१५ का साराश

२. सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ३१४

३ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ३१५

४ **'आसुरिएसु— जेसु सूरो नत्थि ट्ठाणेसु'**—सूत्रकृताग (चूर्णि मू० पा० टि०) पृ० १६३

बितीयसमए वेदिता, ततियसमए णिज्जिण्णा, सा बद्धा पुट्ठा उदीरिया वेदिया णिज्जिण्णा सेयकाले अकम्मं चावि भवति, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं असावज्जे त्ति आहिज्जति, तेरसमे किरियाठाणे इरियावहिए त्ति आहिते ।

से बेमि—जे य अतीता जे य पडुप्पन्ना जे य आगमिस्सा अरहंता भगवंता सव्वे ते एताइं चेव तेरस किरियाठाणाइं भासिसु वा भासंति वा भासिस्संति वा पण्णविसु वा पण्णवेंति वा पण्णविस्संति वा, एवं चेव तेरसमं किरियाठाणं सेविसु वा सेवंति वा सेविस्संति वा ।

७०७. इसके पश्चात् तेरहवाँ क्रियास्थान है, जिसे ऐर्यापथिक कहते है। इस जगत् मे या आर्हतप्रवचन मे जो व्यक्ति अपने आत्मार्थ (आत्मभाव) के लिए उपस्थित एव समस्त परभावो या पापो से (मन-वचन-काया से) सवृत (निवृत्त) है तथा घरबार आदि छोडकर अनगार (मुनिधर्म मे प्रव्रजित) हो गया है, जो ईर्यासमिति से युक्त है, सावद्य भाषा नही बोलता, इसलिए जो भाषासमिति से युक्त है, जो एषणासमिति का पालन करता है, जो पात्र, उपकरण आदि के ग्रहण करने और रखने की (आदान-निक्षेप) समिति से युक्त है, जो लघु नीति, बडी नीति, थूक, कफ, नाक के मैल आदि के परिष्ठापन की (उच्चारादि परिष्ठापन) समिति से युक्त है, जो मनसमिति, वचनसमिति, कायसमिति से युक्त है, जो मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति से गुप्त है, जिसकी इन्द्रियाँ गुप्त (विषयो से सुरक्षित या वश मे) है, जिसका ब्रह्मचर्य नौ गुप्तियो से गुप्त (सुरक्षित) है, जो साधक उपयोग (यतना) सहित गमन करता है, उपयोगपूर्वक खडा होता है, उपयोगपूर्वक बैठता है, उपयोगसहित करवट बदलता है, यतनापूर्वक भोजन करता है, यतना के साथ बोलता है, उपयोगपूर्वक वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रोंछन आदि को ग्रहण करता है और उपयोगपूर्वक ही इन्हे रखता-उठाता है, यहाँ तक कि आँखो की पलके भी उपयोगसहित झपकाता है।

ऐसे (पूर्वोक्त अर्हताओ से युक्त) साधु मे विविध मात्रा (प्रकार) वाली सूक्ष्म ऐर्यापथिकी क्रिया होती है, जिसे वह करता है। उस ऐर्यापथिकी क्रिया का प्रथम समय मे बन्ध और स्पर्श होता है, द्वितीय समय मे उसका वेदन (अनुभव, फलभोग) होता है, तृतीय समय मे उसकी निर्जरा होती है। इस प्रकार वह ईर्यापथिकी क्रिया क्रमश. बद्ध, स्पृष्ट, उदीरित (उदीरणा की जाती है), वेदित (वेदन का विषय) और निर्जीण होती (निर्जरा की जाती) है। फिर आगामी (चतुर्थ) समय मे वह अकर्मता को प्राप्त (कर्मरहित) होती है।

इस प्रकार वीतराग पुरुष के पूर्वोक्त ईर्यापथिक क्रिया के कारण असावद्य (निरवद्य) कर्म का (त्रिसमयात्मक) बन्ध होता है। इसीलिए इस तेरहवे क्रियास्थान को ऐर्यापथिक कहा गया है। (श्री सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी से कहते हैं—) मै कहता हूँ कि भूतकाल मे जितने तीर्थंकर हुए है, वर्तमान काल में जितने तीर्थंकर है, और भविष्य मे जितने भी तीर्थंकर होगे, उन सभी ने इन तेरह क्रियास्थानो का कथन किया है, करते हैं तथा करेंगे, इसी प्रकार भूतकाल तीर्थंकरो ने इन्ही १३ क्रियास्थानों की प्ररूपणा की है, वर्तमान तीर्थंकर करते है तथा भविष्यकालिक तीर्थंकर इन्ही की प्ररूपणा करेंगे। इसी प्रकार प्राचीन तीर्थंकरो ने इसी तेरहवे क्रियास्थान का सेवन किया है, वर्तमान तीर्थंकर इसी का सेवन करते हैं और भविष्य में होने वाले तीर्थंकर भी इसी का सेवन करेंगे।

विवेचन—तेरहवाँ क्रियास्थान : ऐर्यापथिक— अधिकारी, स्वरूप, प्रक्रियाप्ररूपण एवं सेवन— प्रस्तुत सूत्र मे शास्त्रकार ने ऐर्यापथिक क्रियास्थान के सन्दर्भ मे छह तथ्यो का निरूपण किया है—

(१) ऐर्यापथिक क्रियावान् की अर्हताएँ—समिति, गुप्ति, इन्द्रियगुप्ति, तथा ब्रह्मचर्यगुप्ति वस्त्रादि से सम्पन्न।

(२) ऐर्यापथिक क्रिया का स्वरूप—गति, स्थिति, पार्श्वपरिवर्तन, भोजन, भाषण और आदान-निक्षेप यहाँ तक कि पक्ष्मनिपात (पलक झपकना) आदि समस्त सूक्ष्म क्रियाए उपयोगपूर्वक करना।

(३) ऐर्यापथिक क्रिया की क्रमश प्रक्रिया—त्रिसमयिक, बद्ध-स्पृष्ट, वेदित, निर्जीर्ण, तत्पश्चात् अक्रिय (कर्मरहित)।

(४) ऐर्यापथिक असावद्य क्रिया के निमित्त से होने वाला त्रिसमयवर्ती शुभकर्मबन्धन, ऐर्यापथिक क्रियास्थान नाम की सार्थकता।

(५) त्रैकालिक तीर्थंकरो द्वारा इन्ही तेरह क्रियास्थानो का कथन और प्ररूपण।

(६) त्रैकालिक तीर्थकरो द्वारा मात्र तेरहवे क्रियास्थान का ही सेवन।[1]

ऐर्यापथिकी क्रिया और उसका अधिकारी—क्रियाएँ गुणस्थान की दृष्टि से मुख्यतया दो कोटि की है—साम्परायिक क्रिया और ऐर्यापथिकी क्रिया। पहले गुणस्थान से लेकर दसवे गुणस्थानवर्ती तक के जीवो मे साम्परायिक क्रिया का बन्ध होता है, ग्यारहवे, बारहवे और तेरहवे गुणस्थानवर्ती जीवो के ऐर्यापथिक क्रिया का बन्ध होता है। पहले गुणस्थान से दसवे गुणस्थान तक मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, इन पाचो मे कोई न कोई अवश्य विद्यमान रहता है, और कषाय जहाँ तक है, वहाँ तक साम्परायिक क्रिया का बन्ध होता है। दसवे गुणस्थान से आगे तेरहवे गुणस्थान तक कषाय का उदय नही रहता सिर्फ योग विद्यमान रहता है। इसलिए योगो के कारण वहाँ केवल सातावेदनीय कर्म का प्रदेशबन्ध होता है, स्थितिबन्ध नही, क्योकि स्थितिबन्ध वही होता है जहाँ कषाय है।

ऐर्यापथिकी क्रिया इतनी सूक्ष्म है कि प्रथम समय मे इसका बन्ध और स्पर्श होता है, दूसरे समय मे वेदन और तीसरे समय मे निर्जरा हो जाती है, इस दृष्टि से निष्कषाय वीतराग पुरुष को भी सयोगावस्था तक इस क्रिया का बन्ध होता है। केवलज्ञानी सयोगावस्था मे सर्वथा निश्चल निष्कम्प नही रह सकते, क्योकि मन, वचन, काया के योग उनमे विद्यमान है। और ऐर्यापथिक क्रिया इतनी सूक्ष्म है कि धीरे से पलक गिराने पर यह क्रिया लग जाती है।

ऐर्यापथिक क्रिया प्राप्त करने की अर्हताएँ—शास्त्रकार ने यहाँ ऐर्यापथिक क्रिया के अधिकारी साधक की मुख्य पाँच अर्हताएँ प्रस्तुत की हैं—

(१) आत्मत्व—आत्मभाव मे स्थित एव विषय-कषायो आदि परभावो से विरत।

(२) सासारिक शब्दादि वैषयिक सुखो से विरक्त, एकमात्र आत्मिक सुख के लिए प्रयत्नशील।

(३) गृहवास तथा माता-पिता आदि का एव धन-सम्पत्ति आदि सयोग का ममत्व त्याग कर अनगारधर्म मे प्रव्रजित, अप्रमत्त भाव से अनगार-धर्मपालन मे तत्पर।

---

१ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ३१६-३१७ तक का साराश

(४) प्रत्येक प्रवृत्ति मे समिति से युक्त, तथा यतनाशील।

(५) मन, वचन, काया और इन्द्रियो की गुप्ति से युक्त, नवगुप्तियुक्त ब्रह्मचर्यनिष्ठ।

इस दृष्टि से प्रस्तुत मूलपाठ मे वर्णित सुविहित साधु मे मिथ्यात्व, अविरति न होने पर भी कदाचित् प्रमाद एव कषाय की सूक्ष्ममात्रा रहती है, इसलिए सिद्धान्तत ऐर्यापथिक क्रिया न लग कर साम्प्रदायिक क्रिया लगती है।

जिस साधु मे प्रस्तुत सूत्रोक्त अर्हताएँ नही है, वह वीतराग अवस्था को निकट भविष्य मे प्राप्त नही कर सकता और वीतराग अवस्था प्राप्त किये बिना कोई भी आत्मा ऐर्यापथिक क्रिया को प्राप्त नही कर सकता।[1]

अधर्मपक्ष नामक प्रथम स्थान के विकल्प

७०८. अवुत्तरं च णं पुरिसविजयविभंगमाइक्खिस्सामि।

इह खलु नाणापण्णाणं नाणाछंदाणं नाणासीलाणं नाणादिट्ठीणं नाणारुईणं नाणारंभाणं नाणाज्झवसाणसंजुत्ताणं नाणाविहं पावसुयज्झयणं एवं भवति, तंजहा— भोम्मं उप्पायं सुविणं अंतलिक्खं अंगं सरलक्खणं वंजणं इत्थिलक्खणं पुरिसलक्खणं हयलक्खणं गयलक्खणं गोणलक्खणं मिंढलक्खणं कुक्कुडलक्खणं तित्तिरलक्खणं वट्टगलक्खणं लावगलक्खणं चक्कलक्खणं छत्तलक्खणं चम्मलक्खणं दंडलक्खणं असिलक्खणं मणिलक्खणं कागिणिलक्खणं सुभगाकरं दुब्भगाकरं गब्भकरं मोहणकरं आहव्वणिं पागसासणिं दव्वहोमं खत्तियविज्जं चंदचरियं सूरचरियं सुक्कचरियं बहस्सइचरियं उक्कापायं दिसीदाहं मियचक्कं वायसपरिमंडलं पंसुवुट्ठिं केसवुट्ठिं मंसवुट्ठिं रुहिरवुट्ठिं वेतालिं अद्धवेतालिं ओसोवणिं तालुग्घाडणिं सोवागिं सावरिं दामिलिं कालिंगिं गोरिं गंधारिं ओवतणिं उप्पतणिं जंभणिं थंभणिं लेसणिं आमयकरणिं विसल्लकरणिं पक्कमणिं अंतद्धाणिं आयमणिं एवमादियाओ विज्जाओ अन्नस्स हेउं पउंजंति, पाणस्स हेउं पउंजंति, वत्थस्स हेउं पउंजंति, लेणस्स हेउं पउंजंति, सयणस्स हेउं पउंजंति, अन्नेसिं वा विरूव-रूवाणं कामभोगाणं हेउं पउंजंति, तेरिच्छं ते विज्जं सेवंति, अणारिया विप्पडिवन्ना ते कालमासे कालं किच्चा अण्णतराइं आसुरियाइं किब्बिसियाइं ठाणाइं उववत्तारो भवंति, ततो वि विप्पमुच्चमाणा भुज्जो एलमूयताए तमअंधयाए पच्चायंति।

७०८. इसके पश्चात् पुरुषविजय (जिस-जिस विद्या से कतिपय अल्पसत्त्व पुरुषगण अनर्थानु-

---

१ (क) **ईरणमीर्या तस्यास्तया वा पन्था ईर्यापथस्तत्रभवमीर्यापथिकम्।** अर्थात्—गमनागमनादि करना ईर्या है, उसका या उसके सहारे से पथ का उपयोग करना ईर्यापथ है। ईर्यापथ से होने वाली क्रिया ईर्यापथिक है। यह इसका शब्दव्युत्पत्तिनिमित्त है। प्रवृत्तिनिमित्त इस प्रकार है—**सर्वत्रोपयुक्तस्याकषायस्य समीक्षित मनोवाक्कायक्रियस्य या क्रिया, तया यत्कर्म तदीर्यापथिकेत्युच्यते।**' अर्थात्—जो साधक सर्वत्रोपयोगयुक्त हो, अकषाय हो, मन-वचन-काया की क्रिया भी देखभालकर करता हो, उसकी (कायिक) क्रिया ईर्यापथ-क्रिया है, उससे जो कर्म बधता है, उसे ईर्यापथिका कहते है। —सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ३१६

(ख) देखिये '**केवली णं भंते! अस्सि समयंसि जेसु आगासपएसेसु**' इत्यादि वर्णन।

—सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ३१६

बन्धी विजय प्राप्त करते हैं) अथवा पुरुषविचय (पुरुषगण विज्ञानद्वारा जिसका विचय—अन्वेषण करते है) के विभग (विभगज्ञानवत् ज्ञानविशेष या विकल्पसमूह) का प्रतिपादन करूँगा।

इस मनुष्यक्षेत्र मे या प्रवचन मे (विचित्र क्षयोपशम होने से) नाना प्रकार की प्रज्ञा, नाना अभिप्राय, नाना प्रकार के शील (स्वभाव) विविध (पूर्वोक्त ३६३ जैसी) दृष्टियो, (आहारविहारादि मे) अनेक रुचियो (कृषि आदि) नाना प्रकार के आरम्भ तथा नाना प्रकार के अध्यवसायो से युक्त मनुष्यो द्वारा (अपनी-अपनी रुचि, दृष्टि आदि के अनुसार) अनेकविध पापशास्त्रो (सावद्यकार्यों मे प्रवृत्त करने वाले ग्रन्थो) का अध्ययन किया जाता है। वे (पापशास्त्र) इस प्रकार हैं—(१) भौम (भूकम्प आदि तथा भूमिगत जल एव खनिज पदार्थों की शिक्षा देने वाला शास्त्र), (२) उत्पात (किसी प्रकार के प्राकृतिक उत्पात-उपद्रव की एव उसके फलाफल की सूचना देने वाला शास्त्र), (३) स्वप्न (स्वप्नो के प्रकार एव उनसे शुभाशुभ फल बताने वाला शास्त्र), (४) अन्तरिक्ष (आकाश मे होने वाले मेघ, विद्युत, नक्षत्र आदि की गतिविधि का ज्ञान कराने वाला शास्त्र), (५) अग (नेत्र, भृकुटि, भुजा आदि अगो के स्फुरण का फल बताने वाला शास्त्र), (६) स्वर (कौआ, सियार एव पक्षी आदि की आवाजो का फल बताने वाला स्वर-शास्त्र अथवा स्वरोदय शास्त्र), (७) लक्षण (नर-नारियो के हाथ, पैर आदि अगो मे बने हुए यव, मत्स्य, चक्र, पद्म, श्रीवत्स आदि रेखाओ या चिह्नो का फल बताने वाला शास्त्र), (८) व्यञ्जन (मस, तिल आदि का फल बताने वाला शास्त्र), (९) स्त्रीलक्षण (विविध प्रकार की स्त्रियो का लक्षणसूचक शास्त्र), (१०) पुरुषलक्षण (विविध प्रकार के पुरुषो के लक्षणो का प्रतिपादक शास्त्र), (११) हयलक्षण (घोडो के लक्षण बताने वाला शालिहोत्र शास्त्र), (१२) गजलक्षण (हाथियो के लक्षण का प्रतिपादक पालकाप्य शास्त्र), (१३) गोलक्षण (विविध प्रकार के गोवशो का लक्षणसूचक शास्त्र), (१४) मेषलक्षण (भेड या मेढे के लक्षणो का सूचक शास्त्र), (१५) कुक्कुटलक्षण (मुर्गों के लक्षण बताने वाला शास्त्र), (१६) तित्तिरलक्षण (नाना प्रकार के तीतरो के लक्षण बताने वाला शास्त्र), (१७) वर्तकलक्षण (बटेर या बत्तख के लक्षणो का सूचक शास्त्र), (१८) लावकलक्षण (लावक पक्षी के लक्षणो का प्रतिपादक शास्त्र), (१९) चक्रलक्षण (चक्र के या चकवे के लक्षणो को बताने वाला शास्त्र), (२०) छत्रलक्षण (छत्र के लक्षणो का सूचक शास्त्र), (२१) चर्मलक्षण (चर्म-रत्न के लक्षणो को बताने वाला शास्त्र), (२२) दण्डलक्षण (दण्ड के लक्षणो को बताने वाला शास्त्र), (२३) असिलक्षण (तलवार के लक्षणो का प्रतिपादक शास्त्र), (२४) मणिलक्षण (विविध मणियो-रत्नो के लक्षणो का प्रतिपादक शास्त्र), (२५) काकिनी-लक्षण (काकिणीरत्न या कौडी के लक्षणो को बताने वाला शास्त्र), (२६) सुभगाकर (कुरूप को सुरूप या सुभग बनाने वाली विद्या), (२७) दुर्भगाकर (सुरूप या सुभग को कुरूप या दुर्भग बना देने वाली विद्या), (२८) गर्भकरी (गर्भ रक्षा करने के उपाय बताने वाली विद्या), (२९) मोहनकरी (पुरुष या स्त्री को मोहित करने वाली अथवा कामोत्तेजन (मोह=मैथुन) पैदा करने वाली बाजीकरण करने वाली अथवा व्यामोह—मतिभ्रम पैदा करने वाली विद्या), (३०) आथर्वणी (तत्काल अनर्थ उत्पन्न करने वाली या जगत् का ध्वस करने वाली विद्या), (३१) पाकशासन (इन्द्रजाल विद्या), (३२) द्रव्यहोम (मारण, उच्चाटन आदि करने के लिए मन्त्रो के साथ मधु, घृत आदि द्रव्यो की होमविधि बताने वाली विद्या), (३३) क्षत्रियविद्या (क्षत्रियो की शस्त्रास्त्रचालन एवं युद्ध आदि की विद्या), (३४) चन्द्रचरित (चन्द्रमा की गति आदि को बताने वाला शास्त्र), (३५) सूर्यचरित (सूर्य की गति-चर्या को बताने वाला शास्त्र), (३६) शुक्रचरित (शुक्रतारे की गति-चर्या को बताने वाला शास्त्र), (३७) बृहस्पतिचरित (बृहस्पति

गृह की चाल को बताने वाला शास्त्र), (३८) उल्कापात (उल्कापात का सूचक शास्त्र), (३९) दिग्दाह (दिशादाह का सूचक शास्त्र), (४०) मृगचक्र (ग्रामादि मे प्रवेश के समय मृगादि पशुओं के दर्शन का शुभाशुभफल बताने वाला शास्त्र), (४१) वायसपरिमण्डल (कौए आदि पक्षियो के बोलने का शुभाशुभफल बताने वाला शास्त्र), (४२) पासुवृष्टि (धूलिवर्षा का फलनिरूपक शास्त्र), (४३) केशवृष्टि (केशवर्षा का फलप्रतिपादक शास्त्र), (४४) मासवृष्टि (मांसवर्षा का फलसूचक शास्त्र), (४५) रुधिरवृष्टि (रक्त-वर्षा का फल-निरूपक शास्त्र), (४६) वैताली (वैतालीविद्या, जिसके प्रभाव से अचेतन काष्ठ मे भी चेतना-सी आ जाती है), (४७) अर्द्धवैताली (वैताली विद्या की विरोधिनी विद्या, अथवा जिस विद्या के प्रभाव से उठाया हुआ दण्ड गिरा दिया जाए), (४८) अवस्वापिनी (जागते मनुष्य को नीद मे सुला देने वाली विद्या), (४९) तालोद्घाटिनी (तालो को खोल देने वाली विद्या), (५०) श्वपाकी (चाण्डालो की विद्या), (५१) शाबरीविद्या, (५२) द्राविडी विद्या, (५३) कालिगी विद्या, (५४) गौरीविद्या, (५५) गान्धारी विद्या, (५६) अवपतनी (नीचे गिरा देने वाली विद्या), (५७) उत्पतनी (ऊपर उठा—उडा देने वाली विद्या), (५८) जृम्भणी (जमुहाई लेने सम्बन्धी अथवा मकान, वृक्ष या पुरुष को कपा (हिला) देने वाली विद्या), (५९) स्तम्भनी (जहाँ का तहाँ रोक देने—थमा देने वाली विद्या), (६०) श्लेषणी (हाथ पैर आदि चिपका देने वाली विद्या), (६१) आमयकरणी (किसी प्राणी को रोगी या ग्रहग्रस्त बना देने वाली विद्या), (६२) विशल्यकरणी शरीर मे प्रविष्ट शल्य को निकाल देने वाली विद्या, (६३) प्रक्रमणी (किसी प्राणी को भूत-प्रेत आदि की बाधा—पीडा उत्पन्न कर देने वाली विद्या, (६४) अन्तर्धानी (जिस विद्या मे अजनादि प्रयोग करके मनुष्य अदृश्य हो जाए) और (६५) आयामिनी (छोटी वस्तु को बडी बना कर दिखाने वाली विद्या) इत्यादि (इन और ऐसी ही) अनेक विद्याओं का प्रयोग वे (परमार्थ से अनभिज्ञ अन्यतीर्थिक या गृहस्थ अथवा स्वतीर्थिक द्रव्यलिगी साधु) भोजन (अन्न) और पेय पदार्थों के लिए, वस्त्र के लिए, आवास-स्थान के लिए, शय्या की प्राप्ति के लिए तथा अन्य नाना प्रकार के काम-भोगो की (सामग्री की) प्राप्ति के लिए करते है। वे इन (स्व-परहित के या सदनुष्ठान के) प्रतिकूल वक्र विद्याओं का सेवन करते हैं। वस्तुत वे विप्रतिपन्न (मिथ्यादृष्टि से युक्त विपरीत बुद्धि वाले) एव (भाषार्य तथा क्षेत्रार्य होते हुए भी अनार्यकर्म करने के कारण) अनार्य ही हैं।

वे (इन मोक्षमार्ग-विघातक विद्याओं का अध्ययन और प्रयोग करके) मृत्यु का समय आने पर मर कर आसुरिक किल्विषिक स्थान मे उत्पन्न होते है। वहाँ से आयु पूर्ण होते ही देह छूटने पर वे पुन. पुन ऐसी योनियो में जाते हैं जहाँ वे बकरे की तरह मूक, या जन्म से अधे, या जन्म से ही गू गे होते हैं।

७०९. से एगतिओ आयहेउं वा णायहेउं वा अगारहेउं वा परिवारहेउं वा नायग वा सहवासियं वा निस्साए अदुवा अणुगामिए १, अदुवा उवचरए २, अदुवा पाडिपहिए ३, अदुवा संधिच्छेदए ४, अदुवा गंठिच्छेदए ५, अदुवा उरब्भिए ६, अदुवा सोवरिए ७, अदुवा वागुरिए ८, अदुवा साउणिए ९, अदुवा मच्छिए १०, अदुवा गोपालए ११, अदुवा गोघायए १२, अदुवा सोणइए १३, अदुवा सोवणियंतिए १४।

से एगतिओ अणुगामियभावं पडिसंधाय तमेव अणुगमियाणुगमिय हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्दवइत्ता आहारं आहारेति, इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति १।

से एगतिओ उवचरगभावं पडिसंधाय तमेव उवचरित २ हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्दवइत्ता आहारं आहारेति, इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति २।

से एगतिओ पाडिपहियभावं पडिसंधाय तमेव पडिपहे ठिच्चा हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्दवइत्ता आहारं आहारेति, इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति ३।

से एगतिओ संधिच्छेदगभावं पडिसंधाय तमेव संधिं छेत्ता भेत्ता जाव इति से महता पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति ४।

से एगतिओ गंठिच्छेदगभावं पडिसंधाय तमेव गंठिं छेत्ता भेत्ता जाव इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अप्पाण उवक्खाइत्ता भवति ५।

से एगतिओ उरब्भियभावं पडिसंधाय उरब्भं वा अण्णतरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवति ६। एसो अभिलावो सव्वत्थ।

से एगतिओ सोयरियभावं पडिसंधाय महिसं वा अण्णयरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवति ७।

से एगतिओ वागुरियभावं पडिसंधाय मिगं वा अण्णतरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवति ८।

से एगतिओ साउणियभावं पडिसंधाया सउणि वा अण्णतरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवति ९।

से एगतिओ मच्छियभावं पडिसंधाय मच्छ वा अण्णयरं वा तस पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवति १०।

से एगतिओ गोघातगभावं पडिसंधाय गोण वा अण्णतरं वा तस पाण हता जाव उवक्खाइत्ता भवति ११।

से एगतिओ गोपालगभाव पडिसंधाय तमेव गोण वा परिजविय परिजविय हंता जाव उवक्खाइत्ता भवति १२।

से एगतिओ सोवणियभावं पडिसंधाय सुणगं वा अन्नयर वा तस पाण हता जाव उवक्खाइत्ता भवति १३।

से एगतिओ सोवणियंतियभावं पडिसंधाय मणुस्सं वा अन्नयरं वा तसं पाणं हंता जाव आहारे आहारेति, इति से महता पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति १४।

७०९ कोई पापी मनुष्य अपने लिए अथवा अपने ज्ञातिजनो के लिए अथवा कोई अपना घर बनाने के लिए या अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए अथवा अपने नायक या परिचित जन तथा सहवासी या पडौसी के लिए निम्नोक्त पापकर्म का आचरण करने वाले बनते हैं—(१) अनुगामिक (धनादि हरण के लिए किसी व्यक्ति के पीछे लग जाने वाला) बनकर, अथवा (२) उपचरक (पाप-

कृत्य करने के लिए किसी का सेवक) बनकर, या (३) प्रातिपथिक (धनादि हरणार्थ मार्ग मे चल रहे पथिक का सम्मुखगामी पथिक) बनकर, अथवा (४) सन्धिच्छेदक (सेंध लगाकर घर मे प्रवेश करके चोरी करनेवाला) बनकर, अथवा (५) ग्रन्थिच्छेदक (किसी की गाठ या जेब काटनेवाला) बनकर अथवा (६) औरभ्रिक (भेड चरानेवाला) बनकर, अथवा (७) शौकरिक (सूअर पालनेवाला) बनकर, या (८) वागुरिक (पारधी—शिकारी) बनकर, अथवा (९) शाकुनिक (पक्षियो को जाल में फसानेवाला बहेलिया) बनकर, अथवा (१०) मात्स्यिक (मछुआ—मच्छीमार) बनकर, या (११) गोपालक बनकर, या (१२) गोघातक (कसाई) बनकर, अथवा (१३) श्वपालक (कुत्तो को पालनेवाला) बनकर, या (१४) शौवान्तिक (शिकारी कुत्तो द्वारा पशुओ का शिकार करके उनका अन्त करनेवाला) बनकर।

(१) कोई पापी पुरुष (ग्रामान्तर जाते हुए किसी धनिक के पास धन जानकर) उसका पीछा करने की नीयत से साथ मे चलने की अनुकूलता समझ कर उसके पीछे-पीछे चलता है, और अवसर पा कर उसे (डंडे आदि से) मारता है, (तलवार आदि से) उसके हाथ-पैर आदि अग काट देता है, (मुक्के आदि प्रहारों से) उसके अग चूर-चूर कर देता है, (केश आदि खीच कर या घसीट कर) उसकी विडम्बना करता है, (चाबुक आदि से) उसे पीडित कर या डरा-धमका कर अथवा उसे जीवन से रहित करके (उसका धन लूट कर) अपना आहार उपार्जन करता है।

इस प्रकार वह महान् (क्रूर) पाप कर्मों के कारण (महापापी के नाम से) अपने आपको जगत् मे प्रख्यात कर देता है।

(२) कोई पापी पुरुष किसी धनवान् की अनुचरवृत्ति, सेवकवृत्ति स्वीकार करके (विश्वास मे लेकर) उसी (अपने सेव्य स्वामी) को मार-पीट कर, उसका छेदन, भेदन, एव प्रहार करके, उसकी विडम्बना और हत्या करके उसका धनहरण कर अपना आहार उपार्जन करता है।

इस प्रकार वह महापापी व्यक्ति बडे-बडे पापकर्म करके महापापी के रूप मे अपने आपको प्रख्यात कर लेता है।

(३) कोई पापी जीव किसी धनिक पथिक को सामने से आते देख उसी पथ पर मिलता है, तथा प्रातिपथिक भाव (सम्मुख आकर पथिक को लूटने की वृत्ति) धारण करके पथिक का मार्ग रोक कर (धोखे से) उसे मारपीट, छेदन, भेदन करके तथा उसकी विडम्बना एव हत्या करके उसका धन, लूट कर अपना आहार-उपार्जन करता है। इस प्रकार महापापकर्म करने से वह अपने आपको महापापी के नाम से प्रसिद्ध करता है।

(४) कोई पापी जीव (धनिको के घरो मे सेंध लगा कर, धनहरण करने की वृत्ति स्वीकार कर तदनुसार) सेंध डाल कर उस धनिक के परिवार को मार-पीट कर, उसका छेदन, भेदन, ताडन और प्रहार करके, उसे डरा-धमका कर, या उसकी विडम्बना और हत्या करके उसके धन को चुरा कर अपनी जीविका चलाता है। इस प्रकार का महापाप करने के कारण वह स्वय को महापापी के नाम से प्रसिद्ध करता है।

(५) कोई पापी व्यक्ति धनाढ्यो के धन की गाठ काटने का धधा अपना कर धनिको की गाठ काटता रहता है। (उस सिलसिले मे) वह (उस गांठ के स्वामी को) मारता-पीटता है, उसका छेदन-भेदन, एवं उस पर ताड़न-तर्जन करके तथा उसकी विडम्बना और हत्या करके उसका धन

हरण कर लेता है, और इस तरह अपना जीवन-निर्वाह करता है। इस प्रकार के महापाप के कारण वह स्वय को महापापी के रूप मे विख्यात कर लेता है।

(६) कोई पापात्मा भेडो का चरवाहा बन कर उन भेडो मे से किसी को या अन्य किसी भी त्रस प्राणी को मार-पीट कर, उसका छेदन-भेदन-ताडन आदि करके तथा उसे पीडा देकर या उसकी हत्या करके अपनी आजीविका चलाता है। इस प्रकार का महापापी उक्त महापाप के कारण जगत् में स्वय को महापापी के नाम से प्रसिद्ध कर लेता है।

(७) कोई पापकर्मा जीव सूअरो को पालने का या कसाई का धन्धा अपना कर भैसे, सूअर या दूसरे त्रस प्राणी को मार-पीट कर, उनके अगो का छेदन-भेदन करके, उन्हे तरह-तरह से यातना देकर या उनका वध करके अपनी आजीविका का निर्वाह करता है। इस प्रकार का महान् पाप-कर्म करने के कारण ससार मे वह अपने आपको महापापी के नाम से विख्यात कर लेता है।

(८) कोई पापी जीव शिकारी का धधा अपना कर मृग या अन्य किसी त्रस प्राणी को मार-पीट कर, छेदन-भेदन करके, जान से मार कर अपनी जीविका उपार्जन करता है। इस प्रकार के महापापकर्म के कारण जगत् मे वह स्वय को महापापी के नाम से प्रसिद्ध कर लेता है।

(९) कोई पापात्मा बहेलिया बन कर पक्षियो को जाल मे फसाकर पकडने का धधा स्वीकार करके पक्षी या अन्य किसी त्रस प्राणी को मारकर, उसके अगो का छेदन भेदन करके, या उसे विविध यातनाएँ देकर उसका वध करके उससे अपनी आजीविका कमाता है। वह इस महान् पापकर्म के कारण विश्व मे स्वय को महापापी के नाम से प्रख्यात कर लेता है।

(१०) कोई पापकर्मजीवी मछुआरा बनकर मछलियो को जाल मे फसा कर पकडने का धधा अपना कर मछली या अन्य त्रस जलजन्तुओ का हनन, छेदन-भेदन, ताडन आदि करके तथा उन्हे अनेक प्रकार से यातनाएँ देकर, यहाँ तक कि प्राणो से रहित करके अपनी आजीविका चलाता है। अत वह इस महापाप कृत्य के कारण जगत् मे स्वय को महापापी के नाम से प्रसिद्ध कर लेता है।

(११) कोई पापात्मा गोवशघातक (कमाई) का धधा अपना कर गाय, बैल या अन्य किसी भी त्रस प्राणी का हनन, छेदन, भेदन, ताडन आदि करके उसे विविध यातनाएं देकर, यहाँ तक कि उसे जीवनरहित करके उससे अपनी जीविका कमाता है। परन्तु ऐसे निन्द्य महापापकर्म करने के कारण जगत् मे वह अपने आपको महापापी के रूप मे प्रसिद्ध कर लेता है।

(१२) कोई व्यक्ति गोपालन का धधा स्वीकार करके (कुपित होकर) उन्ही गायो या उनके बछडो को टोले से पृथक् निकाल-निकाल कर बार-बार उन्हे मारता-पीटता तथा भूखे रखता है, उनका छेदन-भेदन आदि करता है, उन्हे कसाई को बेच देता है, या स्वय उनकी हत्या कर डालता है, उससे अपनी रोजी-रोटी कमाता है। इस प्रकार के महापापकर्म करने से वह स्वय महापापियो की सूची मे प्रसिद्धि पा लेता है।

(१३) कोई अत्यन्त नीचकर्मकर्ता व्यक्ति कुत्तो को पकड कर पालने का धंधा अपना कर उनमे से किसी कुत्ते को या अन्य किसी त्रस प्राणी को मार कर, उसके अगभग करके या उसे यातना देकर, यहाँ तक कि उसके प्राण लेकर उससे अपनी आजीविका कमाता है। वह उक्त महापाप के कारण जगत् मे स्वय को महापापी के नाम से प्रसिद्ध कर लेता है।

(१४) कोई पापात्मा शिकारी कुत्तो को रख कर श्वपाक (चाण्डाल) वृत्ति अपनाकर ग्राम आदि के अन्तिम सिरे पर रहता है और पास से गुजरने वाले मनुष्य या प्राणी पर शिकारी कुत्ते छोड कर उन्हे कटवाता है, फडवाता है, यहाँ तक कि जान से मरवाता है। वह इस प्रकार का भयकर पापकर्म करने के कारण महापापी के रूप मे प्रसिद्ध हो जाता है।

७१०. से एगतिओ परिसामज्झातो उट्ठित्ता अहमेयं हंछामि त्ति कट्टु तित्तिर वा वट्टगं वा लावगं वा कवोयगं वा कवि वा कविजलं वा अण्णयरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवति।

से एगतिओ केणइ आदाणेण विरुद्धे समाणे अदुवा खलदाणेणं[1] अदुवा सुराथालएणं[2] गाहावतीणं वा गाहावइपुत्ताण वा सयमेव अगणिकाएणं सस्साइं झामेति, अण्णेण वि अगणिकाएण सस्साइं झामावेति, अगणिकाएण सस्साइ झामंतं पि अण्ण समणुजाणति, इति से महता पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति।

से एगतिओ केणइ आयाणेणं विरुद्धे समाणे अदुवा खलदाणेणं अदुवा सुराथालएणं गाहावतीण वा गाहावइपुत्ताण वा उट्टाण वा गोणाण वा घोडगाण वा गद्दभाण वा सयमेव घूराओ कप्पेति, अण्णेण वि कप्पावेति, कप्पतं पि अण्णं समणुजाणति, इति से महया जाव भवति।

से एगतिओ केणइ आदाणेणं विरुद्धे समाणे अदुवा खलदाणेणं अदुवा सुराथालएणं गाहावतीण वा गाहावतिपुत्ताण वा उट्टसालाओ वा गोणसालाओ वा घोडगसालाओ वा गद्दभसालाओ वा कटगबोंदियाए पडिपेहित्ता सयमेव अगणिकाएणं झामेति, अण्णेण वि झामावेति, झामेतं पि अन्नं समणुजाणइ, इति से महया जाव भवति।

से एगतिओ केणइ आयाणेणं विरुद्धे समाणे अदुवा खलदाणेणं अदुवा सुराथालएणं गाहावतीणं वा गाहावइपुत्ताणं वा कुंडलं वा गुणं वा मणि वा मोत्तियं वा सयमेव अवहरति, अन्नेण वि अवहरावेति, अवहरंतं पि अन्नं समणुजाणति, इति से महया जाव भवति।

---

१ **खलदाणेणं**—चूर्णिसम्मत अर्थ—**खलकेदाण खलभिक्ख** तदूण दिण्ण, ण दिण्ण, तेण विरुद्धो—अर्थात्—तुच्छ वस्तु की भिक्षा दी, या कम दी, या नहीं दी, इस कारण विरुद्ध—प्रतिकूल होकर। वृत्तिसम्मत अर्थ—**खलस्य कुथितादि विशिष्टस्य दानम्, खलके वाऽल्पधान्यादेर्दानं खलदानम् तेन कुपितः।** अर्थात् सडी-गली, तुच्छ आदि खराब वस्तु का दान, अथवा दुष्ट—खल देखकर अल्पधान्य आदि का दान देना खलदान है, इसके कारण कुपित होकर।

२ **सुराथालएणं**—चूर्णिसम्मत अर्थ—**थालगेण सुरा पिज्जति, तस्य परिवाडीए आवेट्ठस्स वारो ण दिण्णो, उट्ठवितो वा, तेण विरुद्धो।** अर्थात्—सुरापान करने के पात्र (प्याली) से सुरा (मदिरा) पी जा सकती है, अत मदिरापान के समय पक्ति मे बैठे हुए उस व्यक्ति की सुरापान करने की बारी नही आने दी या उसे पक्ति मे से उठा दिया, इस अपमान के कारण विरुद्ध होकर, वृत्तिसम्मत अर्थ—**सुराया स्थालक कोशकादि, तेन विवक्षितलाभाभावात् कुपितः।** अर्थात्—सुरापान करने का स्थालक—चषक—(प्याला) आदि पात्र, उससे अभीष्ट लाभ न होने से कुपित होकर। —सूत्रकृतांग (मूलपाठ टिप्पण युक्त) पृ १६९

से एगइओ केणइ आदाणेणं विरुद्धे समाणं अदुवा खलदाणेणं अदुवा सुराथालएणं समणाण वा माहणाण वा छत्तगं वा दंडगं वा भंडगं वा मत्तगं वा लट्ठिगं वा भिसिगं वा चेलगं वा चिलिमिलिगं वा चम्मगं वा चम्मच्छेदणग वा चम्मकोस वा सयमेव अवहरति जाव समणुजाणति इति से महया जाव उवक्खाइत्ता भवति ।

से एगतिओ णो वितिगिंछइ, तं०—गाहावतीण वा गाहावतिपुत्ताण वा सयमेव अगणिकाएणं ओसहीओ झामेति जाव अण्ण पि झामेंतं समणुजाणति इति से महया जाव भवति ।

से एगतिओ णो वितिगिंछति, तं०—गाहावतीण वा गाहावतिपुत्ताण वा उट्टाण वा गोणाण वा घोडगाण वा गद्दभाण वा सयमेव घूराओ कप्पेति, अण्णेण वि कप्पावेति, अण्ण पि कप्पेंतं समणुजाणति ।

से एगतिओ णो वितिगिंछति, त०—गाहावतीण वा गाहावतिपुत्ताण वा उट्टसालाओ वा जाव गद्दभसालाओ वा कटकबोंदियाए पडिपेहित्ता सयमेव अगणिकाएण झामेति जाव समणुजाणति ।

से एगतिओ णो वितिगिंछति, [त०—] गाहावतीण वा गाहावतिपुत्ताण वा कोण्डल वा जाव मोट्ठिय वा सयमेव अवहरति जाव समणुजाणति ।

से एगतिओ णो वितिगिंछति, [त०—] समणाण वा माहणाण वा दंडगं वा जाव चम्मच्छेदणग वा सयमेव अवहरति जाव समणुजाणति, इति से महता जाव उवक्खाइत्ता भवति ।

से एगतिओ समण वा माहण वा दिस्सा णाणाविधेहिं पावकम्मेहिं अत्ताण उवक्खाइत्ता भवति, अदुवा ण अच्छराए अप्फालेत्ता भवति, अदुवा ण फरुसं वदित्ता भवति, कालेण वि से अणुपविट्ठस्स असण वा पाण वा जाव णो दवावेत्ता भवति, जे इमे भवति वोण्णमंता भारोक्कता अलसगा वसलगा किमणगा समणगा पव्वयती ते इणमेव जीवितं धिज्जीवितं संपडिब्रूहेंति, नाइ ते पारलोइ [य] स्स अट्ठस्स किंचि वि सिलिस्सति, ते दुक्खति ते सोयति ते जूरति ते तिप्पति ते पिट्ट (ड्डं) ति ते परितप्पंति ते दुक्खण-सोयण-जूरण-तिप्पण-पिट्ट (ड्ड) ण-परितप्पण-वह-बंधण-परिकिलेसातो अपडिविरता भवंति, ते महता आरंभेण ते महया समारंभेण ते महता आरंभसमारंभेणं विरूवरूवेहिं पावकम्मकिच्चेहिं उरालाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजित्तारो भवंति, तंजहा— अन्नं अन्नकाले, पाणं पाणकाले, वत्थं वत्थकाले, लेणं लेणकाले, सयण सयणकाले, सपुव्वावरं च ण ण्हाते कतबलिकम्मे कयकोउयमंगलपायच्छित्ते सिरसा ण्हाते कठेमालकडे आविद्धमणिसुवण्णे कप्पितमालामउली पडिबद्धसरीरे वग्घारियसोणिसुत्तगमल्लदामकलावे अहतवत्थपरिहिते चंदणोक्खित्त-गायसरीरे महति महालियाए कूडागारसालाए महतिमहालयसि सीहासणसि इत्थीगुम्मसंपरिवुडे, सव्वरातिएण जोइणा झियायमाणेण महताहतनट्ट-गीत-वाइय-तती-तल-ताल-तुडिय-घण-मुइंगपडुप्प-वाइतरवेण उरालाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरति, तस्स णं एगमवि आणवेमाणस्स जाव चत्तारि पंच जणा अवुत्ता चेव अब्भुट्ठेंति, भण देवाणुप्पिया ! किं करेमो ! किं आहरेमो ? किं उवणेमो ? किं आवि ट्ठवेमो ! किं भे हिय इच्छितं ? किं भे आसगस्स सदइ ? तमेव पासित्ता

अणारिया एवं वदंति—देवे खलु अयं पुरिसे, देवसिणाए खलु अयं पुरिसे, देवजीवणिज्जे खलु अयं पुरिसे, अण्णे वि णं उवजीवंति, तमेव पासित्ता आरिया वदंति—अभिक्कंतकूरकम्मे खलु अयं पुरिसे अतिधुन्ने अतिआतरक्खे दाहिणगामिए[1] नेरइए कण्हपक्खिए आगमिस्साणं[2] दुल्लभबोहिए यावि भविस्सइ।

इच्चेयस्स ठाणस्स उट्ठिता वेगे अभिगिज्झंति, अणुट्ठिता वेगे अभिगिज्झंति, अभिझंझाउरा अभिगिज्झंति, एस ठाणे अणारिए अकेवले अप्पडिपुण्णे अणेआउए असंसुद्धे असल्लगत्तणे असिद्धिमग्गे अमुत्तिमग्गे अनिव्वाणमग्गे अणिज्जाणमग्गे असव्वदुक्खपहीणमग्गे एगंतमिच्छे असाहू। एस खलु पढमस्स ठाणस्स अधम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिते।

७१० (१) कोई व्यक्ति सभा मे खडा होकर प्रतिज्ञा करता है—'मैं इस प्राणी को मारूँगा। तत्पश्चात् वह तीतर, बतख, लावक, कबूतर, कपिजल या अन्य किसी त्रसजीव को मारता है, छेदन-भेदन करता है, यहाँ तक कि उसे प्राणरहित कर डालता है। अपने इस महान् पापकर्म के कारण वह स्वय को महापापी के नाम से प्रख्यात कर देता है।

(२) कोई (प्रकृति से क्रोधी) पुरुष किसी (अनिष्ट शब्दरूप आदि आदान) कारण से अथवा सडे गले, या थोडा-सा हलकी किस्म का अन्न आदि दे देने से अथवा किसी दूसरे पदार्थ (सुरास्थाल-कादि) से अभीष्ट लाभ न होने से (अपने स्वामी गृहपति आदि से) विरुद्ध (नाराज या कुपित) हो कर उस गृहपति के या गृहपति के पुत्रो के खलिहान मे रखे शाली, व्रीहि, जो, गेहूँ आदि धान्यो को स्वय आग लगाकर जला देता अथवा दूसरे से आग लगवा कर जलवा देता है, उन (गृहस्थ एव गृहस्थ के पुत्रो) के धान्य को जलानेवाले (दूसरे व्यक्ति को) अच्छा समझता है। इस प्रकार के महापापकर्म के कारण जगत् मे वह अपने आपको महापापी के नाम से प्रसिद्ध कर देता है।

(३) कोई (असहिष्णु) पुरुष अपमानादि प्रतिकूल शब्दादि किसी कारण (आदान) से, अथवा सडेगले या तुच्छ या अल्प अन्नादि के देने से या किसी दूसरे पदार्थ (सुराथालक आदि) से अभीष्ट लाभ न होने से उस गृहस्थ या उसके पुत्रो पर कुपित (नाराज या विरुद्ध) होकर उनके ऊँटो, गायो-बैलो, घोडो, गधो के जघा आदि अगो को स्वय (कुल्हाडी आदि से) काट देता है, दूसरो से उनके अग कटवा देता है, जो उन गृहस्थादि के पशुओ के अग काटता है, उसे अच्छा समझता है।

इस महान् पापकर्म के कारण वह जगत् में अपने आपको महापापी के रूप मे प्रसिद्ध कर देता है।

(४) कोई (अतिरौद्र) पुरुष किसी अपमानादिजनक शब्दादि के कारण से, अथवा किसी गृह-पतिद्वारा खराब या कम अन्न दिये जाने अथवा उससे अपना इष्ट स्वार्थ-सिद्ध न होने से उस पर अत्यत बिगड कर उस गृहस्थ की अथवा उसके पुत्रो की उष्ट्रशाला, गोशाला, अश्वशाला अथवा गर्दभशाला

---

१ **दाहिणगामिए, नेरइए कण्हपक्खिए**—दाक्षिणात्य नरक, तिर्यञ्च मनुष्य और देवो से उत्पन्न होने वाला **दक्षिणगामी, नैरयिक और कृष्णपक्षी होता है।** सिद्धान्तानुसार-दिशाओ मे दक्षिण दिशा, गतियो मे नरकगति, पक्षो मे कृष्णपक्ष अप्रशस्त माने जाते हैं।—शी वृत्ति २२५

२ **आगमिस्साणं**—आगामी तीर्थंकरो के तीर्थ मे मनुष्यभव पाकर दुर्लभबोधि होता है।—सू चू (मू पा टि) पृ १७३

को कांटों की शाखाओं (डालियो) से ढक कर स्वय उसमे आग लगाकर जला देता है, दूसरों से जलवा देता है या जो उनमे आग लगाकर जला देने वाले को अच्छा समझता है। इस प्रकार के महापाप के कारण वह स्वय को महापापी के नाम से विख्यात कर देता है।

(५) कोई (अत्यन्त उग्र) व्यक्ति किसी भी प्रतिकूल शब्दादि के कारण, अथवा गृहपति द्वारा खराब, तुच्छ या अल्प अन्न आदि दिये जाने से अथवा उससे अपने किसी मनोरथ की सिद्धि न होने से उस पर क्रुद्ध होकर उसके या उसके पुत्रो के कुण्डल, मणि या मोती को स्वय हरण करता है, दूसरे से हरण कराता है, या हरण करनेवाले को अच्छा जानता है।

इस प्रकार महापाप के कारण जगत् मे वह महापापी के रूप मे स्वय को प्रसिद्ध कर देता है।

(६) कोई (द्वेषी) पुरुष श्रमणो या माहनो के किसी भक्त से सडा-गला, तुच्छ या घटिया या थोडा-सा अन्न पाकर अथवा मद्य की हडिया न मिलने से या किसी अभीष्ट स्वार्थ के सिद्ध न होने से अथवा किसी भी प्रतिकूल शब्दादि के कारण उन श्रमणो या माहनो के विरुद्ध (शत्रु) होकर उनका छत्र, दण्ड, उपकरण, पात्र, लाठी, आसन, वस्त्र, पर्दा (चिलिमिली या मच्छरदानी), चर्म, चर्म-छेदनक (चाकू) या चर्मकोश (चमडे की थैली) स्वय हरण कर लेता है, दूसरे से हरण करा लेता है, अथवा हरण करने वाले को अच्छा जानता है। इस प्रकार (अपहरण रूप) महापाप के कारण वह स्वय को महापापी के रूप मे प्रसिद्ध कर देता है।

(७) कोई-कोई व्यक्ति तो (अपने कुकृत्य के इहलौकिक पारलौकिक फल का) जरा भी विचार नही करता, जैसे कि वह अकारण ही गृहपति या उनके पुत्रो के अन्न आदि को स्वयमेव आग लगाकर भस्म कर देता है, अथवा वह दूसरे से आग लगवाकर भस्म करा देता है, या जो आग लगाकर भस्म करता है, उसे अच्छा समझता है। इस प्रकार महापापकर्म उपार्जन करने के कारण जगत् मे वह महापापी के रूप मे बदनाम हो जाता है।

(८) कोई-कोई व्यक्ति अपने कृत दुष्कर्मों के फल का किंचित् भी विचार नही करता, जैसे कि—वह अकारण ही किसी गृहस्थ या उसके पुत्रो के ऊँट, गाय, घोडो या गधो के जघादि अग स्वय काट डालता है, या दूसरे से कटवाता है, अथवा जो उनके अग काटता है, उसकी प्रशसा एव अनुमोदना करता है। अपनी इस पापवृत्ति के कारण वह महापापी के नाम से जगत् मे पहिचाना जाता है।

(९) कोई व्यक्ति ऐसा होता है, जो स्वकृतकर्मों के परिणाम का थोडा-सा विचार नही करता, जैसे कि वह (किसी कारण के विना ही अपनी दुष्टप्रकृतिवश) किसी गृहस्थ या उनके पुत्रो की उष्ट्रशाला, गोशाला, घुडसाल या गर्दभशाला को सहसा कटीली झाडियो या डालियो से ढक कर स्वय आग लगाकर उन्हे भस्म कर डालता है, अथवा दूसरे को प्रेरित करके भस्म करवा डालता है, या जो उनकी उक्त शालाओ को इस प्रकार आग लगाकर भस्म करता है, उसको अच्छा समझता है।

(१०) कोई व्यक्ति पापकर्म करता हुआ उसके फल का विचार नही करता। वह अकारण ही गृहपति या गृहपतिपुत्रो के कुण्डल, मणि, या मोती आदि को स्वय चुरा लेता है, या दूसरो से चोरी करवाता है, अथवा जो चोरी करता है, उसे अच्छा समझता है।

(११) कोई (पापकर्म में धृष्ट) व्यक्ति स्वकृत दुष्कर्मों के फल का जरा भी विचार नही करता। वह अकारण ही (श्रमणादि-द्वेषी बनकर) श्रमणों या माहनो के छत्र, दण्ड, कमण्डलु, भण्डोपकरणों से लेकर चर्मछेदनक एवं चर्मकोश तक साधनो का स्वय अपहरण कर लेता है, औरो से अपहरण करता है और जो अपहरण करता है, उसे अच्छा समझता है।

इस प्रकार की महती पापवृत्ति के कारण वह जगत् मे स्वय को महापापी के नाम से प्रसिद्ध कर देता है।

(१२) ऐसा कोई (पापसाहसी) व्यक्ति श्रमण और माहन को देखकर उनके साथ अनेक प्रकार के पापमय व्यवहार करता है और उस महान् पापकर्म के कारण उसकी प्रसिद्धि महापापी के रूप मे हो जाती है। अथवा वह (मिथ्यात्वग्रस्त व्यक्ति साधुदर्शन को अपशकुन मान कर साधु को अपने सामने से हटाने के लिए) चुटकी बजाता है अथवा (ओ ओोदनमुण्ड! व्यर्थकाय-क्लेश-परायण! दुर्बुद्धे! हट सामने से) इस प्रकार के कठोर वचन बोलता है। भिक्षाकाल मे भी अगर साधु उसके यहाँ दूसरे भिक्षुओ के पीछे भिक्षा के लिए प्रवेश करता है, तो भी वह साधु को स्वय आहारादि नही देता दूसरा, कोई देता हो तो (विद्वेषवश) उसे यह कह कर भिक्षा देने से रोक देता है—ये पाखण्डी (घास और लकडी का) बोझा ढोते थे या नीच कर्म करते थे, कुटुम्ब के या बोझे के भार से (घबराए हुए) थे। ये बडे आलसी हैं, ये शूद्र (वृषल) हैं, दरिद्र (कृपण, निकम्मे बेचारे एव दीन) हैं, (कुटुम्ब पालन मे असमर्थ होने से सुखलिप्सा से) ये श्रमण एव प्रव्रजित हो गए हैं। वे (साधुद्रोही) लोग इस (साधुद्रोहमय) जीवन को जो वस्तुतः धिग्जीवन है, (उत्तम बता कर) उलटे इसकी प्रशसा करते है। वे साधुद्रोहजीवी मूढ परलोक के लिए भी कुछ भी साधन नही करते, वे दु.ख पाते हैं, वे शोक पाते हैं, वे पश्चात्ताप करते हैं, वे क्लेश पाते हैं, वे पीडावश छाती-माथा कूटते हैं, सन्ताप पाते है, वे दु ख शोक पश्चात्ताप, क्लेश, पीडावश सिर पीटने आदि की क्रिया, सताप, वध, बन्धन आदि परिक्लेशो से कभी निवृत्त नहीं होते। वे महारम्भ और महासमारम्भ नाना प्रकार के पाप कर्मजनक कुकृत्य करके उत्तमोत्तम (उदार = प्रधान) मनुष्य सम्बन्धी भोगो का उपभोग करते हैं। जैसे कि—वह आहार के समय (सरस स्वादिष्ट) आहार का, पीने के समय (उत्तम) पेय पदार्थों का, वस्त्र परिधान के समय वस्त्रो का, आवास के समय (सुन्दर सुसज्जित) आवासस्थान (भवन) का, शयन के समय (उत्तम—कोमल) शयनीय पदार्थों का उपभोग करते है। वह प्रातःकाल, मध्याह्नकाल और सायकाल स्नान करते हैं फिर देव-पूजा के रूप में बलिकर्म करते चढावा चढाते हैं, देवता की आरती करके मगल के लिए स्वर्ण, चन्दन, दही, अक्षत और दर्पण आदि मागलिक पदार्थों का स्पर्श करते है, फिर प्रायश्चित के लिए शान्तिकर्म करते हैं। तत्पश्चात् सशीर्ष स्नान करके कण्ठ मे माला धारण करते है। वह मणियो (रत्नो) और सोने (के आभूषणो) को अगो मे पहनता है, (फिर) सिर पर पुष्पमाला से युक्त मुकुट धारण करता है। (युवावस्था के कारण) वह शरीर से सुडौल एव हृष्ट-पुष्ट होता है। वह कमर मे करधनी (कन्दोरा) तथा वक्षस्थल पर फूलो की माला (गजरा) पहनता है। बिलकुल नया और स्वच्छ वस्त्र पहनता है। अपने अगो पर चन्दन का लेप करता है। इस प्रकार सुसज्जित होकर अत्यन्त ऊँचे विशाल प्रासाद (कूटागारशाला) मे जाता है। वहाँ वह बहुत बडे भव्य सिहासन पर बैठता है। वहाँ (शृ गारित व वस्त्राभूषणो से सुसज्जित) युवतियाँ (दासी आदि अन्य परिवार सहित) उसे घेर लेती हैं। वहाँ सारी रातभर दीपक आदि का प्रकाश जगमगाता रहता है। फिर वहाँ बड़े जोर से नाच, गान, वाद्य, वीणा, तल, ताल, त्रुटित, मृदंग तथा करतल आदि की, ध्वनि होने लगती

है। इस प्रकार उतमोत्तम (उदार) मनुष्यसम्बन्धी भोगो का उपभोग करता हुआ वह पुरुष अपना जीवन व्यतीत करता है। वह व्यक्ति जब किसी एक नौकर को आज्ञा देता है तो चार-पाँच मनुष्य बिना कहे ही वहाँ आकर सामने खडे हो जाते है, (और हाथ जोडकर पूछते हैं—) "देवो के प्रिय ! कहिए, हम आपकी क्या सेवा करे ? क्या लाएँ, क्या भेट करे ?, क्या-क्या कार्य करे ? आपको क्या हितकर है, क्या इष्ट (इच्छित) है ? आपके मुख को कौन-सी वस्तु स्वादिष्ट लगती है ? बताइए।"

उस पुरुष को इस प्रकार सुखोपभोगमग्न देखकर अनार्य (शुद्धधर्माचरण से दूर = अनाडी) लोग यो कहते है—यह पुरुष तो सचमुच देव है ! यह पुरुष तो देवो से भी श्रेष्ठ (स्नातक) है। यह मानव तो देवो का-सा जीवन जी रहा है (अथवा देवो के समान बहुत-से लोगो के जीवन का आधार है)। इसके आश्रय से अन्य लोग भी आनन्दपूर्वक जीते हैं।

किन्तु इस प्रकार (भोगविलास मे डूबे हुए) उसी व्यक्ति को देख कर आर्य पुरुष (विवेकी—धर्मिष्ठ) कहते है– यह पुरुष तो अत्यन्त क्रूर कर्मों मे प्रवृत्त है, अत्यन्त धूर्त है (अथवा संसार-भ्रमणकारी धूतो = कर्मों से अतिग्रस्त है), अपने शरीर की यह बहुत रक्षा (हिफाजत) करता है, यह दक्षिण-दिशावर्ती नरक के कृष्णपक्षी नारको मे उत्पन्न होगा। यह भविष्य मे दुर्लभबोधि प्राणी होगा।

कई मूढ जीव मोक्ष के लिए उद्यत (साधुधर्म मे दीक्षित) होकर भी इस (पूर्वोक्त) स्थान (विषय सुखसाधन) को पाने के लिए लालायित हो जाते है। कई गृहस्थ (अनुत्थित—सयम मे अनुद्यत) भी इस (अतिभोगग्रस्त) स्थान (जीवन) को पाने की लालसा करते रहते है। कई अत्यन्त विषयसुखान्ध या तृष्णान्ध मनुष्य भी इस स्थान के लिए तरसते है।

(वस्तुत) यह स्थान अनार्य (अनार्य आचरणमय होने से आर्यपुरुषो द्वारा अनाचरणीय) है, केवलज्ञान-रहित (या अशुद्ध) है, परिपूर्णसुखरहित (सद्गुण युक्त न होने से अपूर्ण—तुच्छ) है, सुन्याय-वृत्ति से रहित है, सशुद्धि-पवित्रता से रहित है, मायादि शल्य को काटने वाला नही है, यह सिद्धि (मोक्ष) मार्ग नही है, यह मुक्ति (समस्त कर्मक्षयरूप मुक्ति) का मार्ग नही है, यह निर्वाण का मार्ग नही है, यह निर्याण (ससारसागर से पार होने) का मार्ग नही है, यह सर्वदु खो का नाशक मार्ग नही है, यह एकान्त मिथ्या और असाधु स्थान है।

यही अधर्मपक्षनामक प्रथम स्थान का विकल्प (विभग) है, ऐसा (तीर्थंकरदेव ने) कहा है।

विवेचन—अधर्मपक्षनामक प्रथम स्थान के विकल्प—प्रस्तुत तीन लम्बे सूत्रपाठो (७०८ से ७१० तक) मे शास्त्रकार अधर्मपक्षनामक प्रथम स्थान के सम्बन्ध मे विभिन्न पहलुओ से विस्तार-पूर्वक मुख्यतया पन्द्रह विकल्प प्रस्तुत करते है--

(१) अधर्मपक्षीय लोगो द्वारा अपनाई जानेवाली सावद्य विद्याएँ।
(२) उनके द्वारा अपनाए जाने वाले पापमय व्यवसाय।
(३) उनके पापमय क्रूर आचार-विचार एव व्यवहार।
(४) उनकी विषयसुखभोगमयी चर्या।
(५) उनके विषयो मे अनार्यों एव आर्यों के अभिप्राय।
(६) अधर्मपक्षीय अधिकारी और स्थान का स्वरूप।

सावद्य विद्याएँ—अधर्मपक्षीय लोग अपनी-अपनी रुचि, दृष्टि या मनोवृत्ति के अनुसार भौम

से लेकर आयामिनी तक ६४ प्रकार की सावद्य (पापमय) विद्याओ का तथा उनके प्रतिपादक शास्त्रो, ग्रन्थो आदि का अध्ययन करते हैं।[1]

पापमय व्यवसाय—कई अधर्मपक्षीय लोग अपने तथा परिवार आदि के लिए आनुगामिक से लेकर शौवान्तिक तक १४ प्रकार के व्यवसायिको मे से कोई एक बन कर अपना पापमय व्यवसाय चलाते हैं। वे इन पापमय व्यवसायो को अपनाने के कारण जगत् मे महापापी के नाम से प्रसिद्ध हो जाते हैं।

पापमय क्रूर आचार-विचार और व्यवहार—इन अधर्मपक्षीय लोगो के पापमय आचार विचार और व्यवहार के सम्बन्ध मे सूत्रसंख्या ७१० मे ग्यारह विकल्प प्रस्तुत किये हैं। वे सक्षेप मे इस प्रकार हैं—(१) सभा मे किसी पंचेन्द्रिय प्राणी को मारने का सकल्प करके उसे मारना, (२) किसी व्यक्ति से किसी तुच्छकारणवश रुष्ट होकर अनाज के खलिहान मे आग लगा या लगवा कर जला देना, (३) असहिष्णु बनकर किसी के पशुओ को अगभग करना या करा देना, (४) अतिरौद्र बनकर किसी की पशुशाला को झाडियो से ढक कर आग लगा या लगवा देना। (५) कुपित होकर किसी के कुण्डल, मणि आदि बहुमूल्य पदार्थों का हरण करना-कराना (६) अभीष्ट स्वार्थ सिद्ध न होने से क्रुद्ध होकर श्रमणो या माहनो के उपकरण चुराना या चोरी करवाना (७) अकारण ही किसी गृहस्थ की फसल मे आग लगा या लगवा देना, (८) अकारण ही किसी के पशुओ का अगभग करना या करा देना। (९) अकारण ही किसी व्यक्ति की पशुशाला मे कटीली झाडियो से ढक कर आग लगा या लगवा देना, (१०) अकारण ही किसी गृहस्थ के बहुमूल्य आभूषण या रत्न आदि चुरा लेना या चोरी करवाना, (११) साधु-द्रोही दुष्टमनोवृत्ति-वश साधुओ का अपमान, तिरस्कार करना, दूसरो के समक्ष उन्हे नीचा दिखाना, बदनाम करना आदि नीच व्यवहार करना, इन सब पापकृत्यो का भयकर दुष्परिणाम उन्हे भोगना पडता है।

उनकी विषयसुखभोगमयी चर्या—इसी सूत्र (७१०) मे उन अधर्मपक्षीय लोगो के प्रात काल से लेकर रात्रि के शयनकाल तक की भोगी-विलासी जीवनचर्या का वर्णन भी किया गया है।

उनके विषय मे अनार्यों और आर्यों का अभिप्राय—अनार्य लोग उनकी भोगमग्न जिदगी देख कर उन्हे देवतुल्य देव से भी श्रेष्ठ, आश्रितो का पालक आदि बताते है, आर्यलोग उनकी वर्तमान विषय सुखमग्नता के पीछे हिंसा आदि महान् पापो का परिणाम देखकर इन्हे क्रूरकर्मा, धूर्त, शरीर-पोषक, विषयो के कीडे आदि बताते हैं।

अधर्मपक्ष के अधिकारी—शास्त्रकार ने तीन कोटि के व्यक्ति बताए है—(१) प्रव्रजित होकर इस विषयसुखसाधनमय स्थान को पाने के लिए लालायित, (२) इस भोगग्रस्त अधर्म स्थान को पाने की लालसा करनेवाले गृहस्थ और (३) इस भोगविलासमय जीवन को पाने के लिए तरसने वाले तृष्णान्ध या विषयसुखभोगान्ध व्यक्ति।

अधर्मपक्ष का स्वरूप—इस अधर्मपक्ष को एकान्त अनार्य, अकेवल, अपरिपूर्ण आदि तथा एकान्त मिथ्या और अहितकर बताया गया है।[2]

---

१ सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ३१८ से ३२६ तक का सारांश

२. वही, पत्रांक ३१८ से ३२६ तक का निष्कर्ष

धर्मपक्ष नामक द्वितीय स्थान के विकल्प

७११. अहावरे दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिज्जति—इह खलु पाईणं वा पडीणं वा उदीणं वा दाहिणं वा संतेगतिया मणुस्सा भवंति, तंजहा—आरिया वेगे अणारिया वेगे, उच्चागोया वेगे णीयागोया वेगे, कायमंता वेगे हस्समंता वेगे, सुवण्णा वेगे दुवण्णा वेगे, सुरूवा वेगे दुरूवा वेगे, तेसिं च णं खेत्तवत्थूणि परिग्गहियाणि भवंति, एसो आलावगो तहा णेतव्वो जहा पोंडरीए[1] जाव सव्वोवसंता सव्वताए परिनिव्वुड त्ति बेमि। एस ठाणे आरिए केवले जाव[2] सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतसम्मे साहू, दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिते।

७११ इसके पश्चात् द्वितीय स्थान धर्मपक्ष का विकल्प इस प्रकार कहा जाता है—इस मनुष्यलोक मे पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशाओ मे अनेक प्रकार के मनुष्य रहते हैं, जैसे कि—कई आर्य होते है, कई अनार्य अथवा कई उच्चगोत्रीय होते हैं, कई नीचगोत्रीय, कई विशालकाय (लम्बे कद के) होते है, कई ह्रस्वकाय (छोटे-नाटे कद के) कई अच्छे वर्ण के होते हैं, कई खराब वर्ण के अथवा कई सुरूप (अच्छे डीलडौल के) होते है, कई कुरूप (बेडौल या अगविकल)। उन मनुष्यो के खेत और मकान परिग्रह होते हैं। यह सब वर्णन जैसे 'पौण्डरीक' के प्रकरण मे किया गया है, वैसा ही यहाँ (इस आलापक मे) समझ लेना चाहिए। यहाँ से लेकर—'जो पुरुष समस्त कषायो से उपशान्त हैं, समस्त इन्द्रिय भोगो से निवृत्त है, वे धर्मपक्षीय है, ऐसा मैं (सुधर्मास्वामी) कहता हूँ'—यहाँ तक उसी (पौण्डरीक प्रकरणगत) आलापक के समान कहना चाहिए। यह (द्वितीय) स्थान आर्य है, केवलज्ञान की प्राप्ति का कारण है, (यहाँ से लेकर) 'समस्त दु:खो का नाश करनेवाला मार्ग है' (यावत्—तक)। यह एकान्त सम्यक् और उत्तम स्थान है।

इस प्रकार धर्मपक्षनामक द्वितीय स्थान का विचार प्रतिपादित किया गया है।

विवेचन—धर्मपक्षनामक द्वितीय स्थान के विकल्प—प्रस्तुत सूत्र मे धर्मपक्षनामक द्वितीय स्थान के स्वरूप की झाकी दी गई है। तीन विकल्पो द्वारा इसका विवरण प्रस्तुत किया गया है—

धर्मपक्ष के अधिकारी—इस सूत्र मे सर्वप्रथम धर्मपक्ष के अधिकारीगण के कतिपय नाम गिनाए हैं, इन सबका निष्कर्ष यह है कि सभी दिशाओ, देशो, आर्य-अनार्यवशो, समस्त रग-रूप, वर्ण एव जाति मे उत्पन्न जन धर्मपक्ष के अधिकारी हो सकते हैं। इस पर किसी एक विशिष्ट वर्ण, जाति वश, देश आदि का अधिकार नही है। हाँ, इतना अवश्य समझ लेना चाहिए कि अनार्यदेशोत्पन्न या अनार्यवशज व्यक्तियो मे जो दोष बताये गए है, उन दोषो से रहित उत्तम आचार मे प्रवृत्त, धर्मिष्ठजन ही धर्मपक्ष के अधिकारी होगे।[3]

धर्मपक्षीय व्यक्तियो की अर्हताएँ—पौण्डरीक अध्ययन मे जो अर्हताएँ दुर्लभ पुण्डरीक को

---

१ यहाँ **'जहा पोंडरीए'** से **'परिग्गहियाणि भवंति'**—से आगे पुण्डरीक अध्ययन के सूत्र सख्या ६६७ के 'तजहा—अप्पयरा वा भुज्जयरा वा' से लेकर सूत्र सख्या ६९१ के 'ते एव सव्वोवरता' तक का सारा पाठ समझ लेना चाहिए।

२ यहाँ 'जाव' शब्द से **पडिपुण्णे** से लेकर '**सव्वदुक्खपहीणमग्गे**' तक का पाठ समझ लेना चाहिए।

३ सूत्रकृताग शीलांकवृत्ति, पत्राक ३२६ के आधार पर।

प्राप्त करने वाले भिक्षु की प्रतिपादित की गई हैं, वे सब अर्हताएँ धर्मपक्षीय साधक मे होनी आवश्यक है। यहाँ तक कि उसके समस्त कषाय उपशान्त होते हैं तथा वह समस्त इन्द्रियविषयो की आसक्ति से निवृत्त होता है।

धर्मपक्ष-स्थान का रूप—यह पक्ष पूर्वोक्त अधर्मपक्षनामक प्रथम स्थान से ठीक विपरीत है। अर्थात्— यह स्थान आर्य, केवल, प्रतिपूर्ण, नैयायिक, सशुद्ध, शल्यकर्तन, सिद्धिमार्ग, मुक्तिमार्ग, निर्वाणमार्ग, निर्याणमार्ग, सर्वदु ख-प्रहीणमार्ग है। एकान्त सम्यक् है, श्रेष्ठ है।[1]

तृतीयस्थान : मिश्रपक्ष का अधिकारी एवं स्वरूप

७१२. **अहावरे तच्चस्स ठाणस्स मिस्सगस्स विभंगे एवमाहिज्जति—जे इमे भवंति आरण्णिया गामणियंतिया कण्हुइराहस्सिता जाव[2] ततो विप्पमुच्चमाणा भुज्जो एलमूयत्ताए तमूयत्ताए पच्चायंति, एस ठाणे अणारिए अकेवले जाव[3] असव्वदुक्खपहीणमग्गे एगंतमिच्छे असाहू, एस खलु तच्चस्स ठाणस्स मिस्सगस्स विभंगे एवमाहिते।**

७१२ इसके पश्चात् तीसरे स्थान मिश्रपक्ष का विकल्प (विभग) इस प्रकार कहा जाता है— (इसके अधिकारी वे हैं) जो ये आरण्यक (वन मे रहने वाले तापस) हैं, यह जो ग्राम के निकट झोपडी या कुटिया बनाकर रहते हैं, अथवा किसी गुप्त (रहस्यमय) क्रिया का अनुष्ठान करते हैं, या एकान्त मे रहते हैं, यावत् (वे पूर्वोक्त आचार-विचार वाले शब्दादि काम-भोगो मे आसक्त होकर कुछ वर्षों तक उन विषयभोगो का उपभोग करके आसुरी किल्विषी योनि मे उत्पन्न होते हैं) फिर वहाँ से देह छोडकर इस लोक मे बकरे की तरह मूक के रूप मे या जन्मान्ध (द्रव्य से अन्ध एव अज्ञानान्ध) के रूप मे आते (जन्म लेते) हैं। (वे जिस मार्ग का आश्रय लेते हैं, उसे 'मिश्रस्थान' कहते हैं।) यह स्थान अनार्य (आर्यपुरुषो द्वारा अनाचरणीय) है, केवलज्ञान-प्राप्ति से रहित है, यहाँ तक कि (पूर्वोक्त पाठानुसार) यह समस्त दु खो से मुक्त करानेवाला मार्ग नही है। यह स्थान एकान्त मिथ्या और बुरा (असाधु) है।

इस प्रकार यह तीसरे मिश्रस्थान का विचार (विभग) कहा गया है।

विवेचन—तृतीय स्थान: मिश्रपक्ष का अधिकारी एवं स्वरूप—प्रस्तुत सूत्र मे मिश्रित पक्ष के स्वरूप तथा उसके अधिकारी का निरूपण किया गया है।

मिश्रपक्ष—इस स्थान को मिश्रपक्ष इसलिए कहा गया है कि इसमे न्यूनाधिक रूप मे पुण्य और पाप दोनो रहते है। इस पक्ष मे पाप की अधिकता, और पुण्य की यत्किञ्चित् स्वल्प मात्रा रहती है। वृत्तिकार कहते हैं कि यद्यपि इसके अधिकारी मिथ्यादृष्टि होते है, और वे अपनी दृष्टि के अनुसार हिंसा आदि से निवृत्ति करते हैं, तथापि मिथ्यात्व युक्त होने— अशुद्ध होने से ऊषर भूमि पर वर्षा की तरह या नये-नये पित्तप्रकोप मे शर्करा-मिश्रित दुग्धपान की तरह विवक्षित अर्थ (मोक्षार्थ)

---

१ सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ३२६ का साराश

२ यहाँ 'जाव' शब्द से 'णोबहुसंजया' से 'उववत्तारो भवंति' तक का सारा पाठ सूत्र ७०६ के अनुसार समझे।

३ यहाँ 'जाव' शब्द से 'अकेवले' से लेकर 'असव्वदुक्खपहीणमग्गे' तक का पाठ सूत्र ७१० के अनुसार समझें।

को सिद्ध नही करते, ग्रत उसकी निवृत्ति निरर्थक है। मिथ्यात्त्व के तीव्र प्रभाव के कारण मिश्रपक्ष को ग्रधर्म ही समझना चाहिए।

अधिकारी—इसके ग्रधिकारी कन्दमूलफलभोजी तापस ग्रादि है। ये किसी पापस्थान से किञ्चित् निवृत्त होते हुए भी इनकी बुद्धि प्रबलमिथ्यात्व से ग्रस्त रहती है। इनमे से कई उपवासादि तीव्र कायक्लेश के कारण देवगति मे जाते है, परन्तु वहाँ ग्रधम ग्रासुरी योनि में उत्पन्न होते हैं।[1]

प्रथमस्थान : अधर्मपक्ष : वृत्ति, प्रवृत्ति एवं परिणाम

७१३. अहावरे पढमस्स ठाणस्स अधम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिज्जति—इह खलु पाईणं वा ४ सतेगतिया मणुस्सा भवति महिच्छा महारंभा महापरिग्गहा अधम्मिया अधम्माणुया[3] अधम्मिट्ठा अधम्मक्खाई ग्रधम्मपायजीविणो अधम्मपलोइणो अधम्मलज्जणा अधम्मसीलसमुदायारा अधम्मेण चेव वित्ति कप्पेमाणा विहरति। हण छिद भिद विगत्तगा लोहितपाणी चंडा रुद्दा खुद्दा साहसिया उक्कंचण-वंचण-माया-णियडि-कूड-कवड-सातिसपओगबहुला दुस्सीला दुव्वता दुप्पडियाणंदा असाधू सव्वातो पाणातिवायाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए जाव सव्वातो परिग्गहातो अप्पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वातो कोहातो जाव मिच्छादंसणसल्लातो ग्रप्पडिविरया, सव्वातो ण्हाणुम्मद्दण-वण्णग-विलेवण-सद्द-फरिस-रस-रूव-गंध-मल्लालंकारातो अप्पडिविरता जावज्जीवाए, सव्वातो सगड-रह-जाण-जुग्ग-गिल्लि-थिल्लि-सीय-सदमाणिया-सयणा-ऽऽसण-जाण-वाहण-भोग-भोयणपवित्थरविहीतो अप्पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वातो कय-विक्कय-मास-ऽद्धमास-रूवगसववहाराओ अप्पडिविरता जावज्जीवाए, सव्वातो हिरण्ण-सुवण्ण-धण-धण्ण-मणि-मोत्तिय-संख-सिल-प्पवालाओ अप्पडिविरया, सव्वातो कूडतुल-कूडमाणाग्रो अप्पडिविरया, सव्वातो ग्रारंभसमारंभातो अप्पडिविरया सव्वातो करण-कारावणातो अप्पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वातो पयण-पयावणातो अप्पडिविरया, सव्वातो कुट्टण-पिट्टण तज्जण-तालण-वह-बंधपरिकिलेसातो ग्रप्पडिविरता जावज्जीवाए, जे यावऽण्णे तहप्पगारा सावज्जा ग्रबोहिया कम्मता परपाणपरितावणकरा जे अणारिएहि कज्जति ततो वि ग्रप्पडिविरता जावज्जीवाए।

से जहाणामए केइ पुरिसे कलम-मसूर-तिल-मुग्ग-मास-णिप्फाव-कुलत्थ-ग्रालिसंदग-पलिमंथ-गमादिएहि अयते कूरे मिच्छादंड पउजति, एवमेव तहप्पगारे पुरिसजाते तित्तिर-वट्टग-लावग-कवोत-कविजल-मिय-महिस-वराह-गाह-गोह-कुम्म-सिरीसिवमादिएहि ग्रयते कूरे मिच्छादंडं पउंजति।

जा वि य से बाहिरिया परिसा भवति, तजहा—दासे ति वा पेसे ति वा भयए ति वा भाइल्ले ति वा कम्मकरए ति वा भोगपुरिसे ति वा तेसिं पि य ण ग्रन्नयरंसि ग्रहालहुसगंसि अवराहंसि सयमेव

---

१ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति, पत्राक ३२७

२ देखिये दशाश्रुतस्कन्ध मे उल्लिखित ग्रक्रियावादी के वर्णन से तुलना—' 'महिच्छे महारम्भे' ......ग्रागमेस्साण दुल्लभबोधिते यावि भवति, से त ग्रकिरियावादी भवति।' —दशाश्रुत. ग्र. ६ प्रथम उपासक प्रतिमावर्णन

३ तुलना—'ग्रधम्मिया ग्रधम्माणुया ग्रधम्मेणा चेव वित्ति कप्पेमाणा विहरति।' —ग्रौपपातिक सूत्र स. ४१

गरुयं दंडं निव्वत्तेई, तंजहा—इमं दंडेह, इमं मुंडेह, इमं तज्जेह, इमं तालेह, इमं अदुयबंधणं करेह, इमं नियलबंधणं करेह, इमं हडिबंधणं करेह, इमं चारगबंधणं करेह, इमं नियलजुयलसंकोडियमोडिय करेह, इमं हत्थच्छिण्णयं करेह, इमं पायच्छिण्णयं करेह, इमं कण्णच्छिण्णयं[1] करेह, सीस-मुहच्छिण्णयं करेह, इमं नक्क-उट्ठच्छिण्णय करेह, वेगच्छच्छिण्णयं करेह, हिययुप्पाडियं करेह, इमं णयणुप्पाडियय करेह, इमं दसणुप्पाडियं करेह, इमं वसणुप्पाडियं करेह, जिब्भुप्पाडियय करेह, ओलंबितयं करेह, उल्लंबियं करेह, घंसियं करेह, घोलियं करेह, सूलाइअयं करेह, सूलाभिण्णयं करेह, खारवत्तियं करेह, वज्झवत्तियं करेह, दब्भवत्तियं करेह, सीहपुच्छियगं करेह, वसहपुच्छियगं कडग्गिदड्ढयं कागणिमस-खावितयं भत्तपाणनिरुद्धयं करेह, इम जावज्जीवं वहबंधणं करेह, इमं अण्णतरेणं असुभेण कुमारेणं मारेह।

जा वि य से अब्भितरिया परिसा भवति, तंजहा-माता ती वा पिता ती वा भाया ती वा भगिणी ति वा भज्जा ति वा पुत्ता इ वा धूता इ वा सुण्हा ति वा, तेसिं पि य णं अन्नयरसि अहालहु-सगंसि अवराहंसि सयमेव गरुयं गंडं वत्तेति, सीओदगवियडंसि ओबोलेत्ता भवति जहा मित्तदोसवत्तिए जाव अहिते परंसि लोगंसि, ते दुक्खति सोयंति जूरंति तिप्पंति पिड्डंति परितप्पंति ते दुक्खण-सोयण-जूरण-तिप्पण-पिट्ट (ड्ड) ण-परितप्पण-वह बंधणपरिकिलेसातो अपडिविरया भवति।

एवामेव ते इत्थिकामेहिं मुच्छिया गिद्धा गढिता अज्झोववन्ना जाव वासाइं चउपचमाइ छद्दसमाइ वा अप्पतरो वा भुज्जतरो वा कालं भुंजित्तु भोगभोगाइं पसवित्ता वेरायतणाइ संचिणित्ता बहूणि कूराणि कम्माइं उस्सण्णं सभारकडेण कम्मुणा से जहाणामए अयगोले ति वा सेलगोले ति वा उदगंसि पक्खित्ते समाणे उदगतलमतिवतित्ता अहे धरणितलपइट्ठाणे भवति, एवामेव तहप्पगारे पुरिसजाते वज्जबहुले धुन्नबहुले पंकबहुले वेरबहुले अप्पत्तियबहुले दंभबहुले णियडिबहुले साइबहुले अयसबहुले उस्सण्णं तसपाणघाती कालमासे कालं किच्चा धरणितलमतिवतित्ता अहे णरगतलपतिट्ठाणे भवति।

ते णं णरगा अंतो वट्टा बाहिं चउरंसा अहे खुरप्पसंठाणसंठिता णिच्चंधकारतमसा ववगयगह-चंद-सूर-नक्खत्त-जोतिसपहा मेद-वसा-मंस-रुहिर-पूयपडलचिक्खल्ललित्ताणुलेवणतला असुई वीसा परमदुब्भिगंधा काऊअगणिवण्णाभा कक्खडफासा दुरहियासा असुभा णरगा, असुभा णरएसु वेदणाओ, नो चेव णं नरएसु नेरइया णिद्दायंति वा पयलायंति वा सायं वा रतिं वा धितिं वा मतिं वा उवलभंति, ते णं तत्थ उज्जलं विपुलं पगाढं कडुयं कक्कसं चंडं दुक्खं दुग्गं तिव्वं दुरहियासं णिरयवेदणं पच्चणुभवमाणा विहरंति।

से जहाणामते रुक्खे सिया पव्वतग्गे जाते मूले छिन्ने अग्गे गरुए जतो निन्नं जतो विसमं जतो दुग्गं ततो पवडति, एवामेव तहप्पगारे पुरिसजाते गब्भातो गब्भं, जम्मातो जम्मं, माराओ मारं णरगातो णरगं, दुक्खातो दुक्खं, दाहिणगामिए णेरइए कण्हपक्खिए आगमिस्साणं दुल्लभबोहिए यावि भवति,

---

१ तुलना—कण्णछिण्णका णक्कछिण्णका ... णयणुप्पाडियगा। —औपपातिक सूत्र स ३८

एस ठाणे अणारिए अकेवले जाव असव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतमिच्छे असाहू । पढमस्स ठाणस्स अधम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिते ।

७१३. इसके पश्चात् प्रथम, स्थान जो अधर्मपक्ष है, उसका विश्लेषणपूर्वक विचार इस प्रकार किया जाता है—इस मनुष्यलोक मे पूर्व आदि दिशाओ मे कई मनुष्य ऐसे होते हैं, जो (कौटुम्बिक जीवन बितानेवाले) गृहस्थ होते हैं, जिनकी बडी-बडी इच्छाए (महत्त्वाकाक्षाए) होती हैं, जो महारम्भी एव महापरिग्रही होते हैं। वे अधार्मिक (अधर्माचरण करने वाले), अधर्म का अनुसरण करने या अधर्म की अनुज्ञा देने वाले, अधर्मिष्ठ (क्रूरतायुक्त अधर्म प्रधान, अथवा जिन्हे अधर्म ही इष्ट है), अधर्म की ही चर्चा करनेवाले, अधर्मप्राय· जीवन जीनेवाले, अधर्म को ही देखनेवाले, अधर्म-कार्यों मे ही अनुरक्त, अधर्ममय शील (स्वभाव) और आचार (आचरण) वाले एव अधर्म (पाप) युक्त धधो से अपनी जीविका (वृत्ति) उपार्जन करते हुए जीवन-यापन करते है। (उदाहरणार्थ—वे सदैव इस प्रकार की आज्ञा देते रहते हैं—) इन (प्राणियो) को (डडे आदि से) मारो, इनके अग काट डालो, इनके टुकडे-टुकडे कर दो (या इन्हे शूल आदि मे बीध दो)। वे प्राणियो की चमडी उधेड देते है, प्राणियो के खून से उनके हाथ रगे रहते है, वे अत्यन्त चण्ड (क्रोधी), रौद्र (भयकर) और क्षुद्र (नीच) होते है, वे पाप कृत्य करने मे अत्यन्त साहसी होते है, वे प्राय प्राणियो को ऊपर उछाल कर शूल पर चढाते हैं, दूसरो को धोखा देते हैं, माया (छल-कपट) करते हैं, बकवृत्ति से दूसरो को ठगते हैं, दम्भ करते हैं (कहते कुछ और तथा करते कुछ और है), वे तौल-नाप मे कम देते है, वे धोखा देने के लिए देश, वेष और भाषा बदल लेते हैं। 'वे दु शील (दुराचारी या दुष्टस्वभाववाले), दुष्ट-व्रती (मासभक्षण, मदिरापान आदि बुरे नियम वाले) और कठिनता से प्रसन्न किये जा सकने वाले (अथवा दुराचरण या दुर्व्यवहार करने मे आनन्द मानने वाले) एव दुर्जन होते है। जो आजीवन सब प्रकार की हिसाओ से विरत नही होते यहाँ तक कि समस्त असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह से जीवनभर निवृत्त नही होते। जो क्रोध से लेकर मिथ्यादर्शन-शल्य तक अठारह ही पाप स्थानो से जीवन भर निवृत्त नही होते। वे आजीवन समस्त स्नान, तैल-मर्दन, सुगन्धित पदार्थों का लगाना (वर्णक), सुगन्धित चन्दनादि का चूर्ण लगाना, विलेपन करना, मनोहर कर्ण शब्द, मनोज्ञ रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का उपभोग करना पुष्पमाला एव अलकार धारण करना, इत्यादि सब (उपभोग-परिभोगो) का त्याग नही करते, जो समस्त गाडी (शकट), रथ, यान (जलयान, आकाशयान -विमान, घोडागाडी आदि स्थलयान) सवारी, डोली, आकाश की तरह अधर रखी जाने वाली सवारी (पालकी) आदि वाहनो तथा शय्या, आसन, वाहन, भोग और भोजन आदि (परिग्रह को विस्तृत करने (बढाते रहने) की विधि (प्रक्रिया) को जीवन भर नही छोडते, जो सब प्रकार के क्रय-विक्रय तथा माशा, आधा माशा और तोला आदि व्यवहारो से जीवनभर निवृत्त नही होते, जो सोना, चादी, धन, धान्य, मणि, मोती, शख, शिला, प्रवाल (मू गा) आदि सब प्रकार के (बहुमूल्य) पदार्थों के) सग्रह से जीवन भर निवृत्त नही होते, जो सब प्रकार के खोटे तौल-नाप (कम तौलने—कम नापने, खोटे बाँट या गज मीटर आदि रखने) को आजीवन नही छोडते, जो सब प्रकार के आरम्भ-समारम्भो का जीवनभर त्याग नही करते। वे सभी प्रकार के (सावद्य=पापयुक्त) दुष्कृत्यो को करने-कराने से जीवनभर निवृत्त नही होते, जो सभी प्रकार की पचन-पाचन (स्वय अन्नादि पकाने तथा दूसरो से पकवाने) आदि (सावद्य) क्रियाओ से आजीवन निवृत्त नही होते, तथा जो जीवनभर प्राणियो को कूटने, पीटने, धमकाने, प्रहार करने, वध करने और बाँधने तथा उन्हें सब प्रकार से

क्लेश (पीडा) देने से निवृत्त नही होते, ये तथा अन्य प्रकार के (परपीडाकारी) सावद्य कर्म है, जो बोधिबीजनाशक हैं, तथा दूसरे प्राणियो को सताप देने वाले हैं, जिन्हें क्रूर कर्म करनेवाले अनार्य करते हैं, उन (दुष्कृत्यो) से जो जीवनभर निवृत्त नही होते, (इन सब पुरुषो को एकान्त अधर्मस्थान मे स्थित जानना चाहिए।)

जैसे कि कई अत्यन्त क्रूर पुरुष चावल, (या कलाई, गवार), मसूर, तिल, मूग, उडद, निष्पाव (एक प्रकार का धान्य या वालोर) कुलत्थी, चवला, परिमथक (धान्यविशेष, काला चना) आदि (के हरे पौधों या फसल) को अपराध के बिना (अकारण) व्यर्थ (निष्प्रयोजन) ही दण्ड देते (हनन करते) हैं। इसी प्रकार तथाकथित अत्यन्त क्रूर पुरुष तीतर, बटेर (या बत्तख), लावक, कबूतर, कपिंजल, मृग, भैंसे, सूअर, ग्राह (घडियाल या मगरमच्छ), गोह, कछुआ, सरीसृप (जमीन पर सरक कर चलने वाले) आदि प्राणियो को अपराध के बिना व्यर्थ ही दण्ड देते हैं।

उन (क्रूर पुरुषो) की जो बाह्य परिषद् होती है, जैसे दास, या सदेशवाहक (प्रेष्य) अथवा दूत, वेतन या दैनिक वेतन पर रखा गया नौकर, (उपज का छठाभाग लेकर) बटाई (भाग) पर काम करने वाला अन्य काम-काज करने वाला (कर्मकर) एव भोग की सामग्री देने वाला, इत्यादि।

इन लोगो मे से किसी का जरा-सा भी अपराध हो जाने पर ये (क्रूरपुरुष) स्वय उसे भारी दण्ड देते हैं। जैसे कि—इस पुरुष को दण्ड दो या डडे से पीटो, इसका सिर मूड दो, इसे डाटो—फटकारो, इसे लाठी आदि से पीटो, इसकी बाँहे पीछे को बाँध दो, इसके हाथ-पैरो मे हथकडी और बेडी डाल दो, उसे हाडीबन्धन मे दे दो, इसे कारागार मे बद कर दो, इसे हथकडी-बेडियो से जकड कर इसके अगो को सिकोडकर मरोड दो, इसके हाथ काट डालो, इसके पैर काट दो, इसके कान काट लो, इसका सिर और मुह काट दो, इसके नाक-ओठ काट डालो, इसके कधे पर मार कर आरे से चीर डालो, इसके कलेजे का मांस निकाल लो, इसकी आँखे निकाल लो, इसके दाँत उखाड दो इसके अण्डकोश उखाड दो, इसकी जीभ खीच लो, इसे उल्टा लटका दो, इसे ऊपर या कुए मे लटका दो, इसे जमीन पर घसीटो, इसे (पानी में) डुबो दो या घोल दो, इसे शूली मे पिरो दो, इसके शूल चुभो दो, इसके टुकडे-टुकडे कर दो, इसके अगो को घायल करके उस पर नमक छिडक दो, इसे मृत्युदण्ड दे दो, (या चमडी उधेड कर उसे बट कर रस्सा-सा बना दो), इसे सिंह की पूछ मे बाँध दो (या चमडी काट कर सिंह पुच्छ काट बना दो) या उसे बैल की पूछ के साथ बांध दो, इसे दावाग्नि मे झौक कर जला दो, (अथवा इसके चटाई लपेट कर आग से जला दो), इसका माँस काट कर कौओ को खिला दो, इस को भोजन-पानी देना बद कर दो, इसे मार-पीट कर जीवनभर कैद मे रखो, इसे इनमे से किसी भी प्रकार से बुरी मौत मारो, (या इसे बुरी तरह से मार-मार कर जीवनरहित कर दो)।

इन क्रूर पुरुषो की जो आभ्यन्तर परिषद होती है, वह इस प्रकार है जैसे कि—माता, पिता भाई, बहन, पत्नी, पुत्र, पुत्री, अथवा पुत्रवधू आदि। इनमे से किसी का जरा-सा भी अपराध होने पर वे क्रूरपुरुष उसे भारी दण्ड देते है। वे उसे शर्दी के दिनो मे ठडे पानी मे डाल देते हैं। जो-जो दण्ड मित्रद्वेषप्रत्ययिक क्रियास्थान मे कहे गए हैं, वे सभी दण्ड वे इन्हे देते हैं। वे ऐसा करके स्वय अपने परलोक का अहित करते (शत्रु बन जाते) है। वे (क्रूरकर्मा पुरुष) अन्त मे दुख पाते हैं, शोक करते हैं, पश्चात्ताप करते हैं, (या विलाप करते है), पीडित होते हैं, सताप पाते हैं, वे दुख, शोक, विलाप (या पश्चात्ताप) पीडा, संताप, एव वध-बध आदि क्लेशों से निवृत्त (मुक्त) नही हो पाते।

इसी प्रकार वे अधार्मिक पुरुष स्त्रीसम्बन्धी तथा अन्य विषयभोगो में मूच्छित, गृद्ध, अत्यन्त आसक्त (रचे-पचे, या ग्रस्त) तथा तल्लीन हो कर पूर्वोक्त प्रकार से चार, पाँच या छह या अधिक से अधिक दस वर्ष तक अथवा अल्प या अधिक समय तक शब्दादि विषयभोगो का उपभोग करके प्राणियो के साथ वैर का पुज बाध करके, बहुत-से क्रूरकर्मों का सचय करके पापकर्म के भार से इस तरह दब जाते है, जैसे कोई लोहे का गोला या पत्थर का गोला पानी मे डालने पर पानी के तल (सतह) का अतिक्रमण करके भार के कारण (नीचे) पृथ्वीतल पर बैठ जाता है, इसी प्रकार (पापकर्मों के भार से दबा हुआ) अतिक्रूर पुरुष अत्यधिक पाप से युक्त पूर्वकृत कर्मो से अत्यन्त भारी, कर्मपक से अतिमलिन, अनेक प्राणियो के साथ बैर बाँधा हुआ, (या कुविचारों से परिपूर्ण), अत्यधिक अविश्वासयोग्य, दम्भ से पूर्ण, शठता या वचना मे पूर्ण, देश, वेष एव भाषा को बदल कर धूर्तता करने मे अतिनिपुण, जगत् मे अपयश के काम करने वाला, तथा त्रसप्राणियो के घातक; भोगो के दलदल मे फसा हुआ वह पुरुष आयुष्यपूर्ण होते ही मरकर रत्नप्रभादि भूमियो को लाँघ कर नीचे के नरकतल मे जाकर स्थित होता है।

वे नरक अन्दर से गोल और बाहर से चौकोन (चतुष्कोण) होते हैं, तथा नीचे उस्तरे की धार के समान तीक्ष्ण होते है। उनमे सदा घोर अन्धकार रहता है। वे ग्रह चन्द्रमा, सूर्य, नक्षत्र और ज्योतिष्कमण्डल की प्रभा (प्रकाश) से रहित हैं। उनका भूमितल मेद, चर्बी, मास, रक्त, और मवाद की परतो से उत्पन्न कीचड से लिप्त है। वे नरक अपवित्र, सडे हुए मास से युक्त, अतिदुर्गन्ध पूर्ण और काले हैं। वे सधूम अग्नि के समान वर्ण वाले, कठोर स्पर्श वाले और दु सह्य है। इस प्रकार नरक बडे अशुभ है और उनकी वेदनाए भी बहुत अशुभ है। उन नरको मे रहने वाले नैरयिक न कभी निद्रासुख प्राप्त करते है, न उन्हे प्रचलानिद्रा आती है, और न उन्हे श्रुति (धर्मश्रवण), रति (किसी विषय मे रुचि) धृति (धैर्य) एव मति (सोचने विचारने की बुद्धि) प्राप्त होती है। वे नारकीय जीव वहाँ कठोर, विपुल, प्रगाढ, कर्कश, प्रचण्ड (उग्र), दुर्गम्य, दु खद, तीव्र, दु सह वेदना भोगते हुए अपना समय (आयुष्य) व्यतीत करते है।

जैसे कोई वृक्ष पर्वत के अग्रभाग मे उत्पन्न हो, उसकी जड काट दी गई हो, वह आगे से भारी हो, वह जिधर नीचा होता है, जिधर विषम होता है, जिधर दुर्गम स्थान होता है, उधर ही गिरता है, इसी प्रकार गुरुकर्मा पूर्वोक्त पापिष्ठ पुरुष एक गर्भ से दूसरे गर्भ को, एक जन्म से दूसरे जन्म को, एक मरण से दूसरे मरण को, एक नरक से दूसरे नरक को तथा एक दुःख से दूसरे दु ख को प्राप्त करता है।

वह दक्षिणगामी नैरयिक, कृष्णपाक्षिक तथा भविष्य मे दुर्लभ-बोधि होता है।

अत यह अधर्मपक्षीय प्रथम स्थान अनार्य है, केवलज्ञानरहित है, यावत् समस्त दु खो का नाशक मार्ग नही है। यह स्थान एकान्त मिथ्या एव बुरा (असाधु) है।

इस प्रकार अधर्मपक्षनामक प्रथम स्थान का विचार किया गया है।

विवेचन—प्रथमस्थान : अधर्मपक्ष : वृत्ति, प्रवृत्ति एवं परिणाम—प्रस्तुत सूत्र मे अधर्मपक्षी के अधिकारी—गृहस्थ की मनोवृत्ति, उसकी प्रवृत्ति और उसके परिणाम पर विचार प्रस्तुत किया है।

वृत्ति-प्रवृत्ति—अधर्मपक्ष के अधिकारी विश्व मे सर्वत्र हैं। वे बडी-बडी आकांक्षाएँ रखते हैं, महारम्भी, महापरिग्रही एव अधर्मिष्ठ होते हैं। अठारह ही पापस्थानो मे लिप्त रहते हैं। स्वभाव

से निर्दय, दम्भी, धोखेबाज, दुराचारी, छलकपट-निपुण, अतिक्रोधी, अतिमानी, अतिसाहसी एव अति-रौद्र होते हैं। छोटी-छोटी बात पर क्रुद्ध होकर अपने स्वजनो एव अनुचरो को भयकर बडा से बडा दण्ड दे बैठते हैं। वे पचेन्द्रिय विषयों मे गाढ आसक्त एवं काम-भोगो मे लुब्ध रहते हैं।

परिणाम—वे इहलोक में सदा दु.ख, शोक, सताप, मानसिक क्लेश, पीडा, पश्चात्ताप आदि से घिरे रहते हैं, तथा यहाँ अनेक प्राणियो के साथ वैर बाँध कर, अधिकाधिक विषयभोगो का उपभोग करके कूटकर्म सचित करके परलोक मे जाते हैं। वहाँ नीचे की नरक भूमि मे उनका निवास होता है, जहाँ निद्रा, धृति, मति, रति, श्रुति, बोधि आदि सब लुप्त हो जाती हैं। असह्य वेदनाओ और यातनाओ मे ही उसका सारा लम्बा जीवन व्यतीत होता है। उसके पश्चात् भी चिरकाल तक वह ससार में परिभ्रमण करता है।[1]

द्वितीय स्थान—धर्मपक्ष : अधिकारी, वृत्ति, प्रवृत्ति, सुपरिणाम

७१४. अहावरे दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिज्जइ—इह खलु पाईणं वा ४ संतेगतिया मणुस्सा भवंति, तं जहा—अणारंभा अपरिग्गहा धम्मिया धम्माणुगा धम्मिट्ठा जाव धम्मेणं चेव वित्ति कप्पेमाणा विहरंति, सुसीला सुव्वता सुप्पडियाणंदा सुसाहू सव्वातो पाणातिवायातो पडिविरता जावज्जीवाए जाव जे यावऽण्णे तहप्पगारा सावज्जा अबोहिया कम्मंता परपाणपरिता-वणकरा कज्जंति ततो वि पडिविरता जावज्जीवाए।

से जहानामए[2] अणगारा भगवंतो इरियासमिता भासासमिता एसणासमिता आयाणभंडमत्त-णिक्खेवणासमिता उच्चार-पासवण-खेल-सिंघाण-जल्लपारिट्ठावणियासमिता मणसमिता वइसमिता कायसमिता मणगुत्ता वइगुत्ता कायगुत्ता[3] गुत्ता गुत्तिंदिया गुत्तबंभचारी अकोहा अमाणा अमाया अलोभा संता पसंता उवसंता परिणिव्वुडा अणासवा अगंथा छिन्नसोता निरुवलेवा कंसपाई व मुक्कतोया, संखो इव णिरंगणा, जीवो इव अप्पडिहयगती, गगणतलं पि व निरालंबणा, वायुरिव अपडिबद्धा, सारदसलिलं व सुद्धहियया, पुक्खरपत्तं व निरुवलेवा, कुम्मो इव गुत्तिंदिया, विहग इव विप्पमुक्का, खग्गविसाणं व एगजाया, भारंडपक्खी व अप्पमत्ता, कुंजरो इव सोंडीरा, वसभो इव जातत्थामा, सीहो इव दुद्धरिसा, मंदरो इव अप्पकंपा, सागरो इव गंभीरा, चंदो इव सोमलेसा, सूरो इव दित्ततेया, जच्चकणगं व जातरूवा, वसुंधरा इव सव्वफासविसहा, सुहुतहुयासणो विव तेयसा जलंता।

णत्थि णं तेसिं भगवंताणं कत्थइ पडिबंधे भवति, से य पडिबंधे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—अंडए ति वा पोयए इ वा उग्गहिए ति वा पग्गहिए ति वा, जण्णं जण्णं दिसं इच्छंति तण्णं तण्णं दिसं अप्पडिबद्धा सुइभूया लहुभूया अणुप्पग्गंथा संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति।

---

१. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ३२८ से ३३१ तक का निष्कर्ष

२ तुलना—औपपातिक सूत्र में यह पाठ प्राय समान है।—औप सू १७

३ पाठान्तर—"गुत्तागुत्तिंदिया गुप्तानि शब्दादिषु रागादिनिरोधात्, अगुप्तानि च आगमश्रवणेर्यासमित्यादिषु अनिरोधादिन्द्रियाणि येषा ते।" अर्थात्—रागादि का निरोध होने से शब्दादि मे जिनकी इन्द्रियाँ गुप्त हैं, तथा आगमश्रवण, ईर्यासमिति आदि मे निरोध न होने से जिनकी इन्द्रियाँ अगुप्त हैं।

—औपपातिक सू० वृत्ति पृ० ३५

तेसि णं भगवंता णं इमा एतारूवा जायामायावित्ती होत्था, तं जहा—चउत्थे भत्ते, छट्ठे भत्ते अट्ठमे भत्ते, दसमे भत्ते, दुवालसमे भत्ते, चोद्दसमे भत्ते, अद्धमासिए भत्ते, मासिए भत्ते, दोमासिए भत्ते, तेमासिए भत्ते चउम्मासिए भत्ते, पंचमासिए भत्ते, छम्मासिए भत्ते, अदुत्तरं च ण उक्खित्तचरगा णिक्खित्तचरगा उक्खित्तणिक्खित्तचरगा अंतचरगा पंतचरगा लूहचरगा समुदाणचरगा संसट्ठचरगा असंसट्ठचरगा तज्जातससट्ठचरगा दिट्ठलाभिया अदिट्ठलाभिया पुट्ठलाभिया अपुट्ठलाभिया भिक्खलाभिया अभिक्खलाभिया अण्णातचरगा अन्नगिलातचरगा ओवणिहिता संखादत्तिया परिमितपिंडवातिया सुद्धेसणिया अताहारा पंताहारा अरसाहारा विरसाहारा लहाहारा तुच्छाहारा अंतजीवी पंतजीवी पुरिमड्ढिया आयंबिलिया निव्विगतिया अमज्ज-मंसासिणो णो णियामरसभोई ठाणादीता पडिमट्ठाई णेसज्जिया वीरासणिया दंडायतिया लगंडसाईणो आयावगा अवाउडा अकंडुया अणिट्ठुहा धुतकेस-मसु-रोम-नहा सव्वगायपडिकम्मविप्पमुक्का चिट्ठंति।

ते णं एतेणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणंति, बहूइं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणित्ता आबाहंसि उप्पण्णंसि वा अणुप्पण्णंसि वा बहूइं भत्ताइं पच्चक्खाइंति, [बहूइं भत्ताइं] पच्चक्खित्ता बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेदेंति, बहूणि भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता जस्सट्ठाए कीरति नग्गभावे मुंडभावे अण्हाणगे अदंतवणगे अछत्तए अणोवाहणए भूमिसेज्जा फलगसेज्जा कट्ठसेज्जा केसलोए बंभचेरवासे परघरपवेसे लद्धावलद्ध-माणावमाणणाओ हीलणाओ निंदणाओ खिंसणाओ गरहणाओ तज्जणाओ तालणाओ उच्चावया गामकंटगा बावीसं परीसहोवसग्गा अहिया-सिज्जंति तमट्ठं आराहेंति, तमट्ठं आराहित्ता चरमेहिं उस्सासनिस्सासेहिं अणंतं अणुत्तरं निव्वाघातं निरावरणं कसिणं पडिपुण्णं केवलवरणाण-दंसणं समुप्पाडेंति, समुप्पाडित्ता ततो पच्छा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिनिव्वायंति सव्वदुक्खाणं अंतं करेंति, एगच्चा पुण एगे भंतारो भवंति, अवरे पुण पुव्वकम्मावसेसेणं कालमासे कालं किच्चा अण्णतरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति, तं जहा—महिड्ढीएसु महज्जुतिएसु महापरक्कमेसु महाजसेसु महब्बलेसु महाणुभावेसु महासोक्खेसु, ते णं तत्थ देवा भवंति महिड्ढिया महज्जुतिया जाव महासुक्खा हारविराइतवच्छा कडगतुडितथंभितभुया स (अ ?) गयकुंडलमट्ठगंडतलकण्णपीढधारी विचित्तहत्थाभरणा विचित्तमालामउलिमउडा कल्लाणग-पवरवत्थपरिहिता कल्लाणगपवरमल्लाणुलेवणधरा भासरबोंदी पलंबवणमालाधरा दिव्वेणं रूवेणं दिव्वेणं वण्णेणं दिव्वेणं गंधेणं दिव्वेणं फासेणं दिव्वेणं संघाएणं दिव्वेणं संठाणेणं दिव्वाए इड्ढीए दिव्वाए जुतीए दिव्वाए पभाए दिव्वाए छायाए दिव्वाए अच्चीए दिव्वेणं तेएणं दिव्वाए लेसाए दस दिसाओ उज्जोवेमाणा पभासेमाणा गतिकल्लाणा ठितिकल्लाणा आगमेस्सभद्दया[1] वि भवंति, एस ठाणे आरिए जाव सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतसम्मे साधू। दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिते।

७१४. इसके पश्चात् दूसरे धर्मपक्ष का विवरण इस प्रकार है—

इस मनुष्यलोक मे पूर्व आदि दिशाओ मे कई पुरुष ऐसे होते है, जो अनारम्भ

१ आगमेसि भद्देति—'आगमेसभवग्गहणेसिज्झति'—भविष्य भव मे मनुष्य ग्रहण करके सिद्ध होते हैं।
—सू० चू० (मू पा. टि) पृ० १८७

(आरम्भरहित), अपरिग्रह (परिग्रहविरत) होते हैं, जो धार्मिक होते हैं, धर्मानुसार प्रवृत्ति करते है या धर्म को अनुज्ञा देते हैं, धर्म को अपना इष्ट मानते हैं, या धर्मप्रधान होते है, धर्म की ही चर्चा करते हैं, धर्ममयजीवी, धर्म को ही देखने वाले, धर्म मे अनुरक्त, धर्मशील तथा धर्माचारपरायण होते हैं, यहाँ तक कि वे धर्म से ही अपनी जीविका उपार्जन करते हुए जीवनयापन करते हैं, जो सुशील, सुव्रती, शीघ्रसुप्रसन्न होने वाले (सदानन्दी) और उत्तम सुपुरुष होते हैं। जो समस्त प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक जीवनभर विरत रहते हैं। जो स्नानादि से आजीवन निवृत्त रहते है, समस्त गाडी, घोडा, रथ आदि वाहनो से आजीवन विरत रहते है, क्रय-विक्रय पचन, पाचन सावद्यकर्म करने-कराने, आरम्भ-समारम्भ आदि से आजीवन निवृत्त रहते हैं, स्वर्ण-रजत धनधान्यादि सर्वपरिग्रह से आजीवन निवृत्त रहते हैं, यहाँ तक कि वे परपीडाकारी समस्त सावद्य अनार्य कर्मों से यावज्जीवन विरत रहते हैं।

वे धार्मिक पुरुष अनगार (गृहत्यागी) भाग्यवान् होते हैं। वे ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदान भाण्डमात्र निक्षेपणासमिति, उच्चार-प्रस्रवण-खेल-जल्ल-सिंघाण-परिष्ठापनिका समिति, इन पाँच समितियो से युक्त होते है तथा मन समिति, वचनसमिति, कायसमिति, मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति से भी युक्त होते है। वे अपनी आत्मा को पापो से गुप्त (सुरक्षित) रखते है, अपनी इन्द्रियो को विषयभोगो से गुप्त (सुरक्षित) रखते है, और ब्रह्मचर्य का पालन नौ गुप्तियो सहित करते हैं। वे क्रोध, मान, माया और लोभ से रहित होते हैं। वे शान्ति तथा उत्कृष्ट (बाहर भीतर की) शान्ति से युक्त और उपशान्त होते हैं। वे समस्त सतापो से रहित, आश्रवो से रहित, बाह्य-आभ्यन्तर-परिग्रह से रहित होते है, इन महात्माओ ने ससार के स्रोत (प्रवाह) का छेदन कर दिया है, ये कर्ममल के लेप से रहित होते हैं। वे जल के लेप से रहित कासे की पात्री (बर्तन) की तरह कर्ममल के लेप से रहित होते है। जैसे शख कालिमा (अजन) से रहित होता है, वैसे ही ये महात्मा रागादि के कालुष्य से रहित होते है। जैसे जीव की गति कही नही रुकती, वैसे ही उन महात्माओ की गति कही नही रुकती। जैसे गगनतल बिना अवलम्बन के ही रहता है, वैसे ही ये महात्मा निरवलम्बी (किसी व्यक्ति या धन्धे का अवलम्बन लिये बिना) रहते है। जैसे वायु को कोई रोक नही सकता, वैसे ही, ये महात्मा भी द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के प्रतिबन्ध से रहित (अप्रतिबद्ध) होते हैं। शरद्‌काल के स्वच्छ पानी की तरह उनका हृदय भी शुद्ध और स्वच्छ होता है। कमल का पत्ता जैसे जल के लेप से रहित होता है, वैसे ही ये भी कर्म मल के लेप से दूर रहते हैं, वे कछुए की तरह अपनी इन्द्रियों को गुप्त-सुरक्षित रखते हैं। जैसे आकाश मे पक्षी स्वतन्त्र (मुक्त) विहारी होता है, वैसे ही वे महात्मा समस्त ममत्वबन्धनो से रहित होकर आध्यात्मिक आकाश मे स्वतन्त्रविहारी होते हैं। जैसे गेंडे का एक ही सीग होता है, वैसे ही वे महात्मा भाव से राग-द्वेष रहित अकेले ही होते हैं। वे भारण्डपक्षी की तरह अप्रमत्त (प्रमादरहित) होते हैं। जैसे हाथी वृक्ष को उखाड़ने मे समर्थ होता है, वैसे ही वे मुनि कषायो को निर्मूल करने मे शूरवीर एव दक्ष होते हैं। जैसे बैल भारवहन करने में समर्थ होता है, वैसे ही वे मुनि सयम भार को वहन करने मे समर्थ होते हैं। जैसे सिंह दूसरे पशुओ से दबता एव हारता नही, वैसे ही वे महामुनि परीषहो और उपसर्गों से दबते और हारते नही। जैसे मन्दर पर्वत कम्पित नही होता वैसे ही वे महामुनि कष्टो, उपसर्गों और भयो से नही कापते। वे समुद्र की तरह गम्भीर होते हैं, (हर्षशोकादि से व्याकुल नही होते।) उनकी प्रकृति (या मनोवृत्ति) चन्द्रमा के समान सौम्य एव शीतल होती है,

उत्तम जाति के सोने मे जैसे मल (दाग) नही लगता, वैसे ही उन महात्माओं के कर्ममल नही लगता। वे पृथ्वी के समान सभी (परीषह, उपसर्ग आदि के) स्पर्श सहन करते हैं। अच्छी तरह होम (अथवा प्रज्वलित) की हुई अग्नि के समान वे अपने तेज से जाज्वल्यमान रहते हैं। उन अनगार भगवन्तों के लिए किसी भी जगह प्रतिबन्ध (रुकावट) नही होता। वह प्रतिबन्ध चार प्रकार से होता है, जैसे कि—अण्डे से उत्पन्न होने वाले हस, मोर आदि पक्षियो से (अथवा अण्डज यानी पट्सूत्रज—रेशमी वस्त्र का), पोतज (हाथी आदि के बच्चो से अथवा बच्चो का अथवा पोतक = वस्त्र का) अवग्रहिक (वसति, पट्टा—चौकी आदि का) तथा औपग्रहिक (दण्ड, आदि उपकरणो का) होता है। (उन महामुनियो के विहार मे ये चारो ही प्रतिबन्ध नही होते)। वे जिस-जिस दिशा मे विचरण करना चाहते है, उस-उस दिशा मे अप्रतिबद्ध (प्रतिबन्ध रहित) शुचिभूत (पवित्र-हृदय अथवा श्रुतिभूत-सिद्धान्त प्राप्त) लघुभूत (परिग्रहरहित होने से हलके) अपनी त्यागवृत्ति के अनुरूप (औचित्य के अनुसार किन्तु अपुण्यवश नही) अणु (सूक्ष्म) ग्रन्थ (परिग्रह) से भी दूर (अथवा अनल्प-ग्रन्थ यानी विपुल आगमज्ञान आत्म-ज्ञानरूप भावधन से युक्त) होकर सयम एव तप से अपनी आत्मा को भावित (सुवासित) करते हुए विचरण करते हैं।

उन अनगार भगवन्तो को इस प्रकार की सयम यात्रा के निर्वाहार्थ यह वृत्ति (प्रवृत्ति) होती है, जैसे कि—वे चतुर्थभक्त (उपवास) करते है, षष्ठभक्त (बेला), अष्टमभक्त (तेला), दशमभक्त (चौला) द्वादशभक्त (पचौला), चतुर्दश भक्त (छह उपवास) अर्द्धमासिक भक्त (पन्द्रह दिन का उपवास) मासिक भक्त (मासक्षमण), द्विमासिक (दो महीने का) तप, त्रिमासिक (तीन महीने का) तप, चातुर्मासिक (चार महीने का) तप, पचमासिक (पाँच मास का) तप, एव षाण्मासिक (छह महीने का) तप, इसके अतिरिक्त भी कोई निम्नोक्त अभिग्रहो मे (से किसी अभिग्रह के धारक भी होते है) जैसे कई हडिया (बर्तन) मे से (एक बार मे) निकाला हुआ आहार लेने की चर्या (उत्क्षिप्तचरक) वाले होते हैं, कई हडिया (बर्तन) मे से निकालकर फिर हडिया या थाली आदि मे रक्खा हुआ आहार ग्रहण करने लेने की चर्या वाले (उत्क्षिप्त-निक्षिप्तचरक) होते हैं, कोई शेष बचा हुआ (अन्त) आहार लेने की अभिग्रह वाले, कोई फैंक देने लायक (प्रान्त) आहार लेने के अभिग्रह वाले, कई रूक्ष आहार ग्रहण करने के अभिग्रह वाले, कोई सामुदानिक (छोटे-बडे अनेक घरो से सामुदायिक भिक्षाचरी करते हैं, कई भरे हुए (समृष्ट) हाथ से दिये हुए आहार को ग्रहण करते हैं कई न भरे हुए (असमृष्ट) हाथ से आहार लेते है, कोई जिस अन्न या शाक आदि से चम्मच या हाथ भरा हो, उसी हाथ या चम्मच से उसी वस्तु को लेने का अभिग्रह करते है, कोई देखे हुए आहार को लेने का अभिग्रह करते हैं, कोई पूछ कर ही आहार लेते है, और कई पूछे बिना आहार ग्रहण करते है। कोई भिक्षा की तरह की तुच्छ या अविज्ञात भिक्षा ग्रहण करते हैं, और कोई अतुच्छ या ज्ञात भिक्षा ग्रहण करते हैं। कोई अज्ञात-अपरिचित घरो से आहार लेते हैं, कोई आहार के बिना ग्लान होने पर ही आहार ग्रहण करते हैं। कोई दाता के निकट रखा हुआ आहार ही ग्रहण करते हैं, कई दत्ति की सख्या (गिनती) करके आहार लेते हैं, कोई परिमित आहार ग्रहण करते हैं, कोई शुद्ध (भिक्षा-दोषो से सर्वथा रहित) आहार की गवेषणा करके आहार लेते हैं, वे अन्ताहारी प्रान्ताहारी होते हैं, कई अरसाहारी एव कई विरसाहारी (नीरस-स्वादरहित वस्तु का आहार करने वाले) होते हैं, कई रूखा-सूखा आहार करने वाले तथा कई तुच्छ आहार करने वाले होते हैं।

कोई अन्त या प्रान्त आहार से ही अपना जीवन निर्वाह करते हैं, कोई पुरिमड्ढ तप (अपराह्न काल मे आहार सेवन) करते हैं, कोई आयम्बिल तपश्चरण करते हैं, कोई निर्विगयी (जिस तप में घी, दूध, दही, तेल, मीठा आदि विगइयों का सेवन न किया जाए) तप करते हैं, वे मद्य और मास का सेवन कदापि नही करते, वे अधिक मात्रा मे सरस आहार का सेवन नही करते, कई कायोत्सर्ग (स्थान मे स्थित रहते हैं, कई प्रतिमा धारण करके कायोत्सर्गस्थ रहते हैं, कई उत्कट आसन से बैठते हैं कई आसनयुक्त भूमि पर ही बैठते हैं, कई वीरासन लगा कर बैठते हैं, कई डडे की तरह आयत—लम्बे होकर लेटते हैं, कई लगडशायी होते हैं (लक्कड की तरह टेढे होकर) सोते हैं। कई बाह्य प्रावरण (वस्त्रादि के आवरण) से रहित होकर रहते हैं, कई कायोत्सर्ग मे एक जगह स्थित होकर रहते हैं (अथवा शरीर की चिन्ता नही करते)। कई शरीर को नही खुजलाते, वे थूक को बाहर नही फेंकते। (इस प्रकार औपपातिक सूत्र मे अनगार के जो गुण बताए हैं, उन सबको यहा समझ लेना चाहिए)। वे सिर के केश, मू छ, दाढी, रोम और नख की काट-छाँट (साज-सज्जा) नही करते, तथा अपने सारे शरीर का परिकर्म (धोना, नहाना, तेलादि लगाना, सवारना आदि) नही करते।

वे महात्मा इस प्रकार उग्रविहार करते हुए बहुत वर्षों तक श्रमणपर्याय का पालन करते हैं। रोगादि अनेकानेक बाधाओ के उपस्थित होने या न होने पर वे चिरकाल तक आहार का त्याग करते हैं। वे अनेक दिनो तक भक्त प्रत्याख्यान (सथारा) करके उसे पूर्ण करते हैं। अनशन (सथारे) को पूर्णतया सिद्ध करके जिस प्रयोजन से उन महात्माओ द्वारा नग्नभाव, मुण्डित भाव, अस्नान भाव, अदन्तधावन (दात साफ न करना), छाते और जूते का उपयोग न करना, भूमिशयन, काष्ठफलक-शयन, केशलु चन, ब्रह्मचर्य-वास (या ब्रह्मचर्य = गुरुकुल मे निवास), भिक्षार्थ परगृह-प्रवेश आदि कार्य किये जाते है, तथा जिसके लिए लाभ और अलाभ (भिक्षा मे कभी आहार प्राप्त होना, कभी न होना) मान-अपमान, अवहेलना, निन्दा, फटकार, तर्जना (झिडकिया), मार-पीट, (ताडना), धमकियाँ तथा ऊँची-नीची बाते, एव कानो को अप्रिय लगने वाले अनेक कटुवचन आदि बावीस प्रकार के परिषह एव उपसर्ग समभाव से सहे जाते है, (तथा जिस उद्देश्य से वे महामुनि साधुधर्म मे दीक्षित हुए थे) उस उद्देश्य (लक्ष्य) की आराधना कर लेते है। उस उद्देश्य की आराधना (सिद्धि) करके अन्तिम श्वासोच्छ्वास मे अनन्त, अनुत्तर, निर्व्याघात, (निराबाध), निरावरण, सम्पूर्ण और प्रतिपूर्ण केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर लेते है। केवलज्ञान-केवलदर्शन उपार्जित करने के पश्चात् वे सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते हैं, सर्व कर्मों से मुक्त होते हैं, परिनिर्वाण (अक्षय शान्ति) को प्राप्त कर लेते हैं, और समस्त दु खो का अन्त कर देते हैं।

कई महात्मा एक ही भव (जन्म) में ससार का अन्त (मोक्ष प्राप्त) कर लेते हैं। दूसरे कई महात्मा पूर्वकर्मों के शेष रह जाने के कारण मृत्यु का अवसर आने पर मृत्यु प्राप्त करके किसी देवलोक मे देवरूप में उत्पन्न होते हैं। जैसे कि—महान् ऋद्धि वाले, महाद्युति वाले, महापराक्रमयुक्त महायशस्वी, महान् बलशाली महाप्रभावशाली और महासुखदायी जो देवलोक हैं, उनमे वे देवरूप मे उत्पन्न होते हैं, वे देव महाऋद्धि सम्पन्न, महाद्युतिसम्पन्न यावत् महासुखसम्पन्न होते है। उनके वक्षःस्थल हारो से सुशोभित रहते हैं, उनकी भुजाओ मे कडे, बाजूबन्द आदि आभूषण पहने होते हैं, उनके कपोलों पर अंगद और कुण्डल लटकते रहते हैं। वे कानों मे कर्णफूल धारण किये होते है। उनके हाथ विचित्र आभूषणों से युक्त रहते हैं। वे सिर पर विचित्र मालाओ से सुशोभित मुकुट धारण

करते हैं। वे कल्याणकारी तथा सुगन्धित उत्तम वस्त्र पहनते हैं, तथा कल्याणमयी श्रेष्ठ माला और अग-लेपन धारण करते हैं। उनका शरीर प्रकाश से जगमगाता रहता है। वे लम्बी वनमालाओ को धारण करने वाले देव होते है। वे अपने दिव्य रूप, दिव्य वर्ण, दिव्यगन्ध, दिव्य स्पर्श, दिव्य सहनन, दिव्य सस्थान, तथा दिव्य ऋद्धि, द्युति, प्रभा, छाया (कान्ति), अर्चा (वृत्ति) तेज और लेश्या से दसो दिशाओ को आलोकित करते हुए, चमकाते हुए कल्याणमयी गति और स्थिति वाले तथा भविष्य मे भद्रक होने वाले देवता बनते है।

यह (द्वितीय) स्थान आर्य है, यावत् यह समस्त दु खो को नष्ट करने वाला मार्ग है। यह स्थान एकान्त (सर्वथा) सम्यक् और बहुत अच्छा (सुसाधु) है।

इस प्रकार दूसरे स्थान—धर्मपक्ष का विचार प्रतिपादित किया गया है।

विवेचन—द्वितीय स्थान—धर्मपक्ष का अधिकारी, वृत्ति, प्रवृत्ति और सुपरिणाम—प्रस्तुत सूत्र (७१४) मे उत्तमोत्तम आचार विचारनिष्ठ अनगार को धर्मपक्ष का अधिकारी बताकर उसकी वृत्ति प्रवृत्ति आदि का विश्लेषण करते हुए, अन्त मे उसकी सुन्दर फलश्रुति दी गई है।

विशिष्ट अनगार की वृत्ति को २१ पदार्थों से उपमित किया गया है। जैसे कि (१) कास्यपात्र, (२) शख, (३) जीव, (४) गगनतल, (५) वायु, (६) शारदसलिल, (७) कमलपत्र, (८) कच्छप, (९) विहग, (१०) खड्गी (गेडे) का सीग, (११) भारण्डपक्षी, (१२) हाथी, (१३) वृषभ, (१४) सिंह, (१५) मन्दराचल, (१६) सागर, (१७) चन्द्रमा, (१८) सूर्य, (१९) स्वर्ण, (२०) पृथ्वी और (२१) प्रज्वलित अग्नि।

प्रवृत्ति—अनगारो की प्रवृत्ति के रूप मे प्रारम्भिक साधना से लेकर अन्तिम श्वासोच्छ्वास तक की तप, त्याग एव सयम की साधना का विश्लेषण किया गया है। अप्रतिबद्धता, विविध तपश्चर्या, विविध अभिग्रहयुक्त भिक्षाचरी, आहार-विहार की उत्तमचर्या, शरीरप्रतिकर्म-विरक्ति और परीषहोपसर्गसहन, तथा अन्तिम समय मे सल्लेखना-सथारा-पूर्वक आमरण अनशन, ये अनगार की प्रवृत्ति के मुख्य अग हैं।

सुपरिणाम—धर्मपक्षीय अधिकारी की वृत्ति-प्रवृत्ति के दो सुपरिणाम शास्त्रकार ने अकित किये हैं—(१) या तो वह केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त करके सिद्ध, बुद्ध, मुक्त एव परिनिर्वृत्त होता है, (२) या फिर महाऋद्धि आदि से सम्पन्न देव होता है।

तृतीय स्थान—मिश्रपक्ष : अधिकारी, वृत्ति, प्रवृति और परिणाम

७१५. अहावरे तच्चस्स ठाणस्स मीसगस्स विभगे एवमाहिज्जति—इह खलु पाईणं वा ४ सतेगतिया मणुस्सा भवति, त जहा—अप्पिच्छा अप्पारंभा अप्पपरिग्गहा धम्मिया धम्माणुया जाव धम्मेणं चेव वित्ति कप्पेमाणा विहरंति। सुसीला सुव्वया सुप्पडियाणंदा साहू, एगच्चातो पाणातिवायातो पडिविरता जावज्जीवाए एगच्चातो अप्पडिविरता, जाव जे यावऽण्णे तहप्पकारा सावज्जा अबोहिया कम्मता परपाणपरितावणकरा कज्जंति ततो वि एगच्चातो पडिविरता एगच्चातो अप्पडिविरता।

से जहाणामए समणोवासगा भवंति अभिगयजीवा-ऽजीवा[1] उवलद्धपुण्ण-पावा आसव-संवर-वेयण-णिज्जर-किरिया-ऽहिकरण-बंध-मोक्खकुसला असहिज्जदेवा-[2]ऽसुर-नाग-सुवण्ण-जक्ख-रक्खस-किन्नर-किंपुरिस-गरुल-गंधव्व-महोरगादीएहिं देवगणेहिं निग्गंथातो पावयणातो अणतिक्कमणिज्जा[3] इणमो निग्गंथे पावयणे निस्संकिता निक्कंखिता निव्वितिगिछा लद्धट्ठा गहियट्ठा पुच्छियट्ठा विणिच्छियट्ठा अभिगतट्ठा अट्ठिमिजपेम्माणुरागरत्ता 'अयमाउसो ! निग्गथे पावयणे अट्ठे, अयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे' ऊसितफलिहा अवगुतदुवारा अवियत्ततेउरघरपवेसा[4] चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्ण पोसह सम्मं अणुपालेमाणा समणे निग्गथे फासुएसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेण वत्थ-पडिग्गह-कबल-पायपुंछणेणं ओसहभेसज्जेणं पीढ-फलग-सेज्जासंथारएणं पडिलाभेमाणा बहूहिं सीलव्वत-गुण-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासेहिं अहापरिग्गहितेहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणा विहरंति ।

ते णं एयारूवेणं विहारेण विहरमाणा बहूइं वासाइं समणोवासपरियागं पाउणंति, पाउणित्ता आबाधंसि उप्पण्णंसि वा अणुप्पण्णंसि वा बहूइं भत्ताइं पच्चक्खाइंति, बहूइं भत्ताइं पच्चक्खाइत्ता बहूइ भत्ताइं अणसणाए छेदेंति, बहूइ भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता आलोइयपडिक्कंता समाहिपत्ता कालमासे काल किच्चा अण्णयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति, तं जहा—महिड्ढिएसु महज्जुतिएसु जाव महासुक्खेसु, सेसं तहेव जाव एस ठाणे आरिए जाव एगंतसम्मे साहू । तच्चस्स ठाणस्स मीसगस्स विभगे एवमाहिए ।

इसके पश्चात् तृतीय स्थान, जो मिश्रपक्ष है, उसका विभग (विकल्प) इस प्रकार प्रतिपादित किया है—इस मनुष्यलोक मे पूर्व आदि दिशाओ मे कई मनुष्य होते है, जैसे कि—वे अल्प इच्छा वाले, अल्पारम्भी और अल्पपरिग्रही होते है। वे धर्माचरण करते हैं, धर्म के अनुसार प्रवृत्ति करते हैं (अथवा धर्म की अनुज्ञा देते है), यहाँ तक कि (यावत्) धर्मपूर्वक अपनी जीविका चलाते हुए जीवन-यापन करते है। वे सुशील, सुव्रती सुगमता से प्रसन्न हो जाने वाले और साधु (साधनाशील सज्जन) होते है। एक ओर वे किसी (स्थूल एव सकल्पी) प्राणातिपात से जीवनभर विरत होते है तथा दूसरी

---

१ तुलना—"**अभिगमजीवाऽजीवा भावेमाणा विहरति ।**"

—भगवतीसूत्र श—२, उ ५, औपपातिक, सू ४१

२ **पाठान्तर—असहज्जदेवा, असहरणिज्जा जधा वातेहिं मेरु न तु तधा वातपडागाणि सक्कति विप्परिणावेतु देवेहिं वि, किंपुण माणुसेहिं ?** अर्थात्—जैसे प्रचण्ड वायु के द्वारा मेरु चलित नही किया जा सकता, वैसे ही वे (श्रमणोपासक) देवो के द्वारा भी विचलित नही किये जा सकते, मनुष्यो की तो बात ही क्या ? देखे भगवती ५।२ वृत्ति मे—आपत्ति आदि मे भी देव सहाय की अपेक्षा नही करने वाले।

३ **अणतिक्कमणिज्ज—जधा कस्सइ सुसीलस्स गुरु अणतिकमणिज्जे, एव तेसिं अरहता साधुणो सीलाई वा अणतिकमणिज्जाइ णिस्संकिताइ ।** जैसे किसी सुशील व्यक्ति का गुरु अपने सिद्धान्त का अतिक्रमण नही करता, वैसे ही उनके आर्हतोपासक श्रावक शील सिद्धान्त या निर्ग्रन्थ प्रवचन का अतिक्रमण नही करते।

—सूत्र चू (मू. पा टि) पृ १८७, १८८

४ **चियत्त तेउरघरदारप्पवेसी-चियत्तोत्ति लोकाना प्रीतिकर एव अन्त: वा गृहे वा प्रवेशो यस्य स तथा, अति धार्मिकतया सर्वत्राऽनाशंकनीयोऽसाविति भाव: । अर्थात्**—जिसका प्रवेश अन्त पुर मे, हर घर मे, द्वार मे लोगो को प्रीतिकार था। अर्थात्—वह सर्वत्र नि शक प्रवेश कर सकता था। —औपपातिक वृत्ति ४०/१००

और किसी (सूक्ष्म एव आरम्भी) प्राणातिपात से निवृत्त नही होते, (इसी प्रकार मृषावाद, अदत्तादान मैथुन और परिग्रह से कथचित् स्थूलरूप से) निवृत्त और कथचित् (सूक्ष्म रूप से) अनिवृत्त होते हैं। ये और इसी प्रकार के अन्य बोधिनाशक एव अन्य प्राणियो को परिताप देने वाले जो सावद्यकर्म (नरकादिगमन के कारणभूत यत्रपीडानादि कर्मादानरूप पापव्यवसाय) है उनसे निवृत्त होते है, दूसरी ओर कतिपय (अल्पसावद्य) कर्मों—व्यवसायो से वे निवृत्त नही होते।

जैसा कि उनके नाम से विदित है, (इस मिश्रस्थान के अधिकारी) श्रमणोपासक (श्रमणो के उपासक-श्रावक) होते हैं, जो जीव और अजीव के स्वरूप के ज्ञाता पुण्य-पाप के रहस्य को उपलब्ध किये हुए, तथा आश्रव, सवर, वेदना, निर्जरा, क्रिया, अधिकरण, बन्ध एव मोक्ष के ज्ञान मे कुशल होते है। वे श्रावक असहाय होने पर भी देव, असुर, नाग, सुपर्ण, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किम्पुरुष, गरुड, गन्धर्व, महोरग आदि देव गणो (से सहायता की अपेक्षा नहीं रखते) और इन के द्वारा दबाव डाले जाने पर भी निर्ग्रन्थ प्रवचन का उल्लघन नही करते। वे श्रावक इस निर्ग्रन्थ प्रवचन के प्रति नि शकित, निष्काक्षित, एव निर्विचिकित्स (फलाशका से रहित) होते हैं। वे सूत्रार्थ के ज्ञाता, उसे समझे हुए, और गुरु से पूछे हुए होते है, (अतएव) सूत्रार्थ का निश्चय किये हुए तथा भली भाँति अधिगत किए होते है। उनकी हड्डियाँ और रग (मज्जाएँ) उसके प्रति अनुराग से रजित होती है। (किसी के पूछने पर वे श्रावक कहते हैं -'आयुष्मन्! यह निर्ग्रन्थ प्रवचन ही सार्थक (सत्य) है, परमार्थ है, शेष सब अनर्थक है।' वे स्फटिक के समान स्वच्छ और निर्मल हृदय वाले होते हैं (अथवा वे अपने घर मे प्रवेश करने की टाटी (फलिया) खुली रखते हैं), उनके घर के द्वार भी खुले रहते है, उन्हे राजा के अन्त पुर के समान दूसरे घर मे प्रवेश अप्रीतिकर-अरुचिकर लगता है, वे श्रावक चतुर्दशी, अष्टमी, पूर्णिमा आदि पर्वतिथियो मे प्रतिपूर्ण पौषधोपवास का सम्यक् प्रकार से पालन करते हुए तथा श्रमण निर्ग्रन्थो को प्रासुक एषणीय अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रोछन, औषध, भैषज्य, पीठ, फलक, शय्या-सस्तारक, तृण (घास) आदि भिक्षारूप मे देकर बहुत लाभ लेते हुए, एव यथाशक्ति यथारुचि स्वीकृत किये हुए बहुत से शीलव्रत, गुणव्रत, अणुव्रत, त्याग, प्रत्याख्यान, पौषध और उपवास आदि तप कर्मों द्वारा (बहुत वर्षों तक) अपनी आत्मा को भावित (वासित) करते हुए जीवन व्यतीत करते हैं।

वे इस प्रकार के आचरणपूर्वक जीवनयापन (विचरण) करते हुए बहुत वर्षों तक श्रमणोपासक पर्याय (श्रावकव्रतो का) पालन करते हैं। यो श्रावकव्रतो की आराधना करते हुए रोगादि कोई बाधा उत्पन्न होने पर या न होने पर भी बहुत लम्बे दिनो तक का भक्त-प्रत्याख्यान (अनशन) करते है। वे चिरकाल तक का भक्त प्रत्याख्यान (अनशन) करके उस अनशन-सथारे को पूर्ण (सिद्ध) करके करते है। उस अवसरण अनशन (सथारे) को सिद्ध करके अपने भूतकालीन पापो की आलोचना एव प्रतिक्रमण करके समाधिप्राप्त होकर मृत्यु (काल) का अवसर आने पर मृत्यु प्राप्त करके किन्ही (विशिष्ट) देवलोको मे से किसी एक मे देवरूप मे उत्पन्न होते है। तदनुसार वे महाऋद्धि, महाद्युति, महाबल, महायश यावत् महासुख वाले देवलोको मे महाऋद्धि आदि से सम्पन्न देव होते है। शेष बाते पूर्वपाठानुसार जान लेनी चाहिए। यह (तृतीय मिश्रपक्षीय) स्थान आर्य (आर्यों द्वारा सेवित), एकान्त सम्यक् और उत्तम है।

तीसरा जो मिश्रस्थान है, उसका विचार इस प्रकार निरूपित किया गया है।

७१६. अविरतिं पडुच्च बाले आहिज्जति, विरतिं पडुच्च पंडिते आहिज्जति, विरताविरतिं पडुच्च बालपंडिते आहिज्जइ, तत्थ णं जा सा सव्वतो अविरती एस ठाणे आरंभट्ठाणे अणारिए जाव असव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतमिच्छे असाहू, तत्थ तत्थ णं जा सा सव्वतो विरती एस ठाणे अणारंभट्ठाणे, एस ठाणे आरिए जाव सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतसम्मे साहू, तत्थ णं जा सा सव्वतो विरताविरती एस ठाणे आरंभाणारंभट्ठाणे, एस ठाणे आरिए जाव सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतसम्मे साहू ।

इस तृतीय स्थान का स्वामी अविरति की अपेक्षा से बाल, विरति की अपेक्षा से पण्डित और विरता-विरति की अपेक्षा से बालपण्डित कहलाता है।

इन तीनों स्थानों में से समस्त पापों से अविरत होने का जो स्थान है, वह आरम्भस्थान है, अनार्य है, यावत् समस्त दुःखों का नाश न करने वाला एकान्त मिथ्या और बुरा (असाधु) है। इनमें से जो दूसरा स्थान है, जिसमें व्यक्ति सब पापों से विरत होता है, वह अनारम्भ स्थान एवं आर्य है, यावत् समस्त दुःखों का नाशक है, एकान्त सम्यक् एवं उत्तम है। तथा इनमें से जो तीसरा (मिश्र) स्थान है, जिसमें सब पापों से कुछ अंश में विरति और कुछ अंश में अविरति होती है, वह आरम्भ-नोआरम्भ स्थान है। यह स्थान भी आर्य है, यहाँ तक कि सर्वदुःखों का नाश करने वाला, एकान्त सम्यक् एवं उत्तम (स्थान) है।

विवेचन—तृतीय स्थान - मिश्रपक्ष : अधिकारी, वृत्ति, प्रवृत्ति और परिणाम--प्रस्तुत दो सूत्रों में तृतीय स्थान के अधिकारी के स्वरूप, एवं उसकी वृत्ति-प्रवृत्ति का निरूपण करते हुए अन्त में इसका परिणाम बताकर तीनों स्थानों की पारस्परिक उत्कृष्टता-निकृष्टता भी सूचित कर दी है।

अधिकारी-- मिश्र स्थान का अधिकारी श्रमणोपासक होता है, जो सामान्यतया धार्मिक एवं धर्मनिष्ठ होने के साथ-साथ अल्पारम्भी, अल्पपरिग्रही, अल्प इच्छा वाला, प्राणातिपात आदि पांचों पापों से देशतः विरत होता है।

वृत्ति --जीवादि तत्त्वों का ज्ञाता, मार्गानुसारी के गुणों से सम्पन्न निर्ग्रन्थ प्रवचन के प्रति दृढ श्रद्धालु एवं धर्म सिद्धान्तों का सम्यग्ज्ञाता होता है। वह सरल स्वच्छ हृदय एवं उदार होता है।

प्रवृत्ति-- पर्वतिथियों में परिपूर्ण पोषधोपवास करता है, यथाशक्ति व्रत, नियम, त्याग, तप प्रत्याख्यानादि अंगीकार करता है, श्रमणों को ग्राह्य एषणीय पदार्थों का दान देता है। चिरकाल तक श्रावकवृत्ति में जीवनयापन करके अन्तिम समय में सल्लेखना-संथारापूर्वक अनशन करता है, आलोचना, प्रतिक्रमण करके समाधिपूर्वक मृत्यु का अवसर आने पर शरीर का व्युत्सर्ग कर देता है।

परिणाम—वह विशिष्ट ऋद्धि, द्युति आदि से सम्पन्न देवलोकों में से किसी में देवरूप में उत्पन्न होता है।

शास्त्रकार ने इसे भी द्वितीय स्थान की तरह आर्य एकान्त सम्यक् और उत्तम स्थान बताया है।[1]

दो स्थानों में सबका समावेश : क्यों, कैसे और दोनों की पहचान क्या ?

७१७ एवामेव समणुगम्ममाणा समणुगाहिज्जमाणा इमेहिं चेव दोहिं ठाणेहिं समोयरंति,

१ सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ३३५-३३६ का निष्कर्ष

तं जहा—धम्मे चेव अधम्मे चेव, उवसंते चेव अणुवसंते चेव। तत्थ णं जे से पढमस्स ठाणस्स अधम्म-पक्खस्स विभंगे एवमाहिते, तस्स णं इमाइं तिण्णि तेवट्ठाइं पावाउयसताइं भवंतीति अक्खाताइं, तं जहा—किरियावादीणं अकिरियावादीणं अण्णाणियवादीणं वेणइयवादीणं, ते वि निव्वाणमाहंसु, ते वि पलिमोक्खमाहंसु, ते वि लवंति सावगा,[1] ते वि लवंति सावइत्तारो।

७१७. (संक्षेप मे) सम्यक् विचार करने पर ये तीनो पक्ष दो ही स्थानो मे समाविष्ट हो जाते है—जैसे कि धर्म मे और अधर्म मे, उपशान्त और अनुपशान्त मे। पहले जो अधर्मस्थान का विचार पूर्वोक्त प्रकार से किया गया है, उसमे इन ३६३ प्रावादुको (मतवादियो) का समावेश हो जाता है, यह पूर्वाचार्यो ने कहा है। वे (चार कोटि के प्रावादुक) इस प्रकार हैं—क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादी। वे भी 'परिनिर्वाण' का प्रतिपादन करते है, वे भी मोक्ष का निरूपण करते है, वे भी अपने श्रावको को धर्मोपदेश करते है (उनसे आलाप करते है) वे भी अपने धर्म को सुनाते है।

७१८. ते सव्वे पावाउया[2] आदिकरा धम्माणं णाणापण्णा णाणाछंदा णाणासीला णाणादिट्ठी णाणारुई णाणारंभा णाणाज्झवसाणसंजुत्ता एगं महं मंडलिबंधं किच्चा सव्वे एगओ चिट्ठंति, पुरिसे य सागणियाणं इंगालाणं पातिं बहुपडिपुण्णं अयोमएणं संडासएणं गहाय ते सव्वे पावाउए आदिगरे धम्माणं णाणापण्णे जाव णाणाज्झवसाणसंजुत्ते एवं वदासी—हं भो पावाउया आदियरा धम्माणं णाणापण्णा जावऽज्झवसाणसंजुत्ता! इमं ता तुब्भे सागणियाणं इंगालाणं पातिं बहुपडिपुण्णं गहाय मुहुत्तगं मुहुत्तगं पाणिणा धरेह, णो य हु संडासगं संसारियं कुज्जा, णो य हु अग्गिथंभणियं कुज्जा[3], णो य हु साहम्मियवेयावडियं[4] कुज्जा, णो य हु परधम्मियवेयावडियं कुज्जा, उज्जुया णियागपडिवण्णा[5] अमायं कुव्वमाणा पाणिं पसारेह, इति वच्चा से पुरिसे तेसिं पावादुयाणं तं सागणियाणं इंगालाणं पातिं बहुपडिपुण्णं अओमएणं संडासतेणं गहाय पाणिसु णिसिरति, तते णं ते पावाउया आदिगरा धम्माणं णाणापन्ना जाव णाणा-

---

१ **ते वि लवंति सावगा**—चूर्णिकार प्रश्न उठाते है, लोग उनके पास क्या सुनने व शरण लेने जाते है? इसका उत्तर है—मिथ्यापद के प्रभाव से। आदि तीर्थंकर (अपने मत प्रवर्तकत्त्व की दृष्टि से) कपिलादि श्रावको को धर्मोपदेश देते है, उनके शिष्य भी परम्परा से धर्मश्रवण कराते है। धर्म श्रवण करने वाले 'श्रावक' या 'श्राव इतर' कहलाते हैं।

२ **पावातिया-'शास्तार इत्यर्थः, तद्धि शास्तु भृशं वदन्तीति प्रावादुका.' प्रवदनशीला**—सूत्र कृ. चूर्णि (मू पा टि) पृ १९०। अर्थात्—प्रावादिक का अर्थ है—शास्ता, वे अपने अनुयायियो पर शासन-अनुशासन करने के लिए बहुत बोलते हैं, इसलिए वे प्रावादुक हैं। अथवा प्रवदनशील होने से प्रावादिक है।

३ **'णो य अग्गिथंभणियं कुज्जा'—णो अग्गिथंभणविज्जाए आदिच्चमंतेहिं अग्गी थंभिज्जइ**—अर्थात्—अग्निस्तम्भन विद्या से या आदित्यमंत्रो से अग्निस्तम्भन न करे।

४ **'णो साधम्मियवेयावडियं'**—'पासंडियस्स थंभेति, परपासंडितस्स वि परिचएण थंभेइ'—अर्थात्—'साधर्मिक स्वतीर्थिक व्रतधारी इस आग को न रोके, न ही परपाषण्डी (अन्यतीर्थिक व्रतधारी) परिचयवश उस अग्नि को रोके।

५ **णिकायपडिवण्णा** (पाठान्तर)—सवहसाविता इत्यर्थः। अर्थात्—शपथ लेकर प्रतिज्ञाबद्ध हुए।

—सूत्र कृ चूर्णि (मू पा टि.) पृ १९१

ज्झवसाणसंजुत्ता पाणिं पडिसाहरेंति, तते णं से पुरिसे ते सव्वे पावाउए आदिगरे धम्माणं जाव नाणाज्झवसाणसंजुत्ते एवं वदासी—हं भो पावाउया आदियरा धम्माणं जाव णाणाज्झवसाणसंजुत्ता ! कम्हा णं तुब्भे पाणिं पडिसाहरह ?, पाणी नो डज्झेज्जा डड्ढे किं भविस्सइ ?, दुक्खं-दुक्खं ति मण्णमाणा पडिसाहरह, एस तुला, एस पमाणे, एस समोसरणे, पत्तेयं तुला, पत्तेयं पमाणे, पत्तेयं समोसरणे ।

७१८ वे (पूर्वोक्त ३६३) प्रावादुक अपने-अपने धर्म के आदि-प्रवर्त्तक हैं। नाना प्रकार की बुद्धि (प्रज्ञा), नाना अभिप्राय, विभिन्न शील (स्वभाव), विविध दृष्टि, नानारुचि, विविध आरम्भ और विभिन्न निश्चय रखने वाले वे सभी प्रावादुक (स्वधर्मशास्ता) (किसी समय) एक स्थान मे मडलीबद्ध होकर बैठे हो, वहाँ कोई पुरुष आग के अगारो से भरी हुई किसी पात्री (बर्तन) को लोहे की सडासी से पकड कर लाए और नाना प्रकार की प्रज्ञा, अभिप्राय, शील, दृष्टि, रुचि, आरम्भ, और निश्चय वाले, धर्मों के आदि प्रवर्तक उन प्रावादुको से कहे—"अजी ! नाना प्रकार की बुद्धि आदि तथा विभिन्न निश्चय वाले धर्मों के आदिप्रवर्तक प्रावादुको ! आप लोग आग के अगारो से भरी हुई (इस) पात्री को लेकर थोडी-थोडी देर (मुहूर्त्त-मुहूर्त्त भर) तक हाथ मे पकडे रखे, (इस दौरान) सडासी की (बहुत) सहायता न ले और न ही आग को बुझाएँ या कम करे, (इस आग से) अपने साधार्मिको की (अग्निदाह को उपशान्त करने के रूप मे) वैयावृत्य (सब या उपकार) भी न कीजिए, न ही अन्य धर्म वालो की वैयावृत्य कीजिए, किन्तु सरल और मोक्षाराधक (नियागप्रतिपन्न) बनकर कपट न करते हुए अपने हाथ पसारिए।' यो कहकर वह पुरुष आग के अंगारो से पूरी भरी हुई उस पात्री को लोहे की सडासी से पकडकर उन प्रावादुको के हाथ पर रखे। उस समय धर्म के आदि प्रवर्तक तथा नाना प्रज्ञा, शील अध्यवसाय आदि से सम्पन्न वे सब प्रावादुक अपने हाथ अवश्य ही हटा लेगे।" यह देखकर वह पुरुष नाना प्रकार की प्रज्ञा, अध्यवसाय आदि से सम्पन्न, धर्म के आदि प्रवर्तक उन प्रावादुको से इस प्रकार कहे—'अजी ! नाना प्रज्ञा और निश्चय आदि वाले, धर्म के आदिकर प्रावादुको ! आप अपने हाथ को क्यो हटा रहे हैं ?' "इसीलिए कि हाथ न जले !" (हम पूछते हैं—) हाथ जल जाने से क्या होगा ? यही कि दु ख होगा। यदि दु ख के भय से आप हाथ हटा लेते है तो यही बात आप सबके लिए अपने समान मानिए, यही (युक्ति) सबके लिए प्रमाण मानिए यही धर्म का सार-सर्वस्व समझिए। यही बात प्रत्येक के लिए तुल्य (समान) समझिए, यही युक्ति प्रत्येक के लिए प्रमाण मानिए, और इसी (आत्मौपत्य सिद्धान्त) को प्रत्येक के लिए धर्म का सार-सर्वस्व (समवसरण) समझिए।

७१९. तत्थ णं जे ते समणा माहणा एवमाइक्खंति जावेवं परूवेंति—'सव्वे पाणा जाव सत्ता हंतव्वा अज्जावेतव्वा परिघेतव्वा परितावेयव्वा किलामेतव्वा उद्दवेतव्वा,' ते आगंतुं छेयाए, ते आगंतुं भेयाए, ते आगंतुं जाति-जरा-मरण-जोणिजम्मण-संसार-पुणब्भव-गब्भवास-भवपवंचकलंकलीभागिणो भविस्संति, ते बहूणं दंडणाणं बहूणं मुंडणाणं तज्जणाण तालणाण अंदुबंधणाणं जाव घोलणाण माइमरणाणं पितिमरणाणं भाइमरणाणं भगिणीमरणाण भज्जामरणाणं पुत्तमरणाणं धूयमरणाणं सुण्हामरणाणं दारिद्दाणं दोहग्गाण अप्पियसंवासाणं पियविप्पओगाणं बहूणं दुक्खदोमणसाणं आभागिणो भविस्संति, अणादियं च णं अणवयग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं भुज्जो-भुज्जो अणुपरियट्टिस्संति, ते नो सिज्झिस्संति नो बुज्झिस्संति जाव नो सव्वदुक्खाणं अंतं करिस्संति, एस तुला, एस पमाणे, एस समोसरणे, पत्तेयं तुला, पत्तेयं पमाणे, पत्तेयं समोसरणे ।

७१९ (परमार्थत आत्मौपम्यमयी अहिंसा ही धर्म सिद्ध होने पर भी) धर्म के प्रसग मे जो श्रमण और माहन ऐसा कहते है, यावत ऐसी प्ररूपणा करते है कि समस्त प्राणियो, भूतो, जीवो और सत्त्वो का हनन करना चाहिए उन पर आज्ञा चलाना चाहिए, उन्हे दास-दासी आदि के रूप मे रखना चाहिए, उन्हे परिताप (पीडा) देना चाहिए, उन्हे क्लेश देना चाहिए, उन्हे उपद्रवित (भयभीत) करना चाहिए। ऐसा करने वाले वे भविष्य मे 'अपने शरीर को छेदन-भेदन आदि पीडाओ का भागी बनाते हैं। वे भविष्य मे जन्म, जरा, मरण, विविध योनियो मे उत्पत्ति फिर ससार मे पुन जन्म गर्भवास, और सासारिक प्रपच (अरहट्टघटिका न्यायेन ससारचक्र) मे पडकर महाकष्ट के भागी होगे। वे घोर दण्ड के भागी होगे। वे बहुत ही मुण्डन, तर्जन, ताडन, खोडी बन्धन के यहाँ तक कि घोले (पानी मे डुबोए) जाने के भागी होगे। तथा माता, पिता, भाई, भगिनी, भार्या, पुत्र, पुत्री, पुत्रवधू आदि मरण दु ख के भागी होगे। (इसी प्रकार) वे दरिद्रता, दुर्भाग्य अप्रिय व्यक्ति के साथ निवास, प्रियवियोग, तथा बहुत-से दु खो और वैमनस्यो के भागी होगे। वे आदि-अन्तरहित तथा दीर्घकालिक (या दीर्घमध्य वाले) चतुर्गतिक ससार रूप घोर जगल मे बार-बार परिभ्रमण करते रहेगे। वे सिद्धि (मुक्ति) को प्राप्त नही होगे, न ही बोध को प्राप्त होगे, यावत् सर्वदु खो का अन्त नही कर सकेगे। (जैसे सावद्य अनुष्ठान करने वाले अन्यतीर्थिक सिद्धि नही प्राप्त कर सकते, वैसे ही सावद्यानुष्ठानकर्ता स्वयूथिक भी सिद्धि प्राप्त नही कर सकते, वे भी पूर्वोक्त अनेक दु खो के भागी होते है। यह कथन सबके लिए तुल्य है, यह प्रत्यक्ष आदि प्रमाणो से सिद्ध है (कि दूसरो को पीडा देने वाले चोर, जार आदि प्रत्यक्ष ही दण्ड भोगते नजर आते है), (समस्त आगमो का) यही सारभूत विचार है। यह (सिद्धान्त) प्रत्येक प्राणी के लिए तुल्य है, प्रत्येक के लिए यह प्रमाण सिद्ध है, तथा प्रत्येक के लिए (आगमो का) यही सारभूत विचार है।

७२०. तत्थ ण जे ते समण-माहणा एव आइक्खंति जाव परूवेंति—सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण हतव्वा ण अज्जावेयव्वा ण परिघेत्तव्वा ण उद्दवेयव्वा, ते णो आगंतु छेयाए, ते णो आगतु भेयाए, ते णो आगतु जाइ-जरा-मरण-जोणिजम्मण-ससार-पुणब्भव-गब्भवास-भवपवंचकलकलीभागिणो भविस्सति, ते णो बहूण दडणाण जाव णो बहूण दुक्खदोमणसाण आभागिणो भविस्सति, अणातिय च णं अणवदग्गं दीहमद्ध चाउरंत ससारकतार भुज्जो-भुज्जो णो अणुपरियट्टिस्सति,[1] ते सिज्झिस्सति जाव सव्वदुक्खाण अत करिस्संति।

७२० परन्तु धर्म-विचार के प्रसग मे जो सुविहित श्रमण एव माहन यह कहते है कि-समस्त प्राणियो, भूतो, जीवो और सत्त्वो को नही मारना चाहिए, उन्हे अपनी आज्ञा मे नही चलाना एव उन्हे बलात् दास-दासी के रूप मे पकड कर गुलाम नही बनाना चाहिए, उन्हे डराना-धमकाना या पीडित नही करना चाहिए, वे महात्मा भविष्य मे छेदन-भेदन आदि कष्टो को प्राप्त नही करेंगे, वे जन्म, जरा, मरण, अनेक योनियो मे जन्म-धारण, ससार मे पुन पुन जन्म, गर्भवास तथा ससार के अनेकविध प्रपच के कारण नाना दु खो के भाजन नही होगे। तथा वे आदि-अन्तरहित, दीर्घ कालिक मध्यरूप चतुर्गतिक ससाररूपी घोर वन मे बार-बार भ्रमण नही करेंगे। (अन्त में) वे सिद्धि (मुक्ति) को प्राप्त करेंगे, केवलज्ञान केवलदर्शन प्राप्त कर बुद्ध और मुक्त होगे, तथा समस्त दु खो का सदा के लिए अन्त करेगे।

विवेचन—दो स्थानों मे सबका समावेश : क्यों कैसे और दोनों की पहचान क्या ?—प्रस्तुत चार सूत्रो मे धर्म और अधर्म दो स्थानो मे पूर्वोक्त तीनो स्थानो का विशेषत: ३६३ प्रावादुको का अधर्मपक्ष ये युक्तिपूर्वक समावेश किया गया है, साथ ही अन्त मे धर्मस्थान और अधर्मस्थान दोनो की मुख्य पहचान बताई गई है ।

धर्म और अधर्म दो ही पक्षों मे सबका समावेश कैसे ?—पूर्वसूत्रो मे उक्त तीन पक्षो का धर्म और अधर्म, इन दो पक्षो मे ही समावेश हो जाता है, जो मिश्रपक्ष है, वह धर्म और अधर्म, इन दोनो से मिश्रित होने के कारण इन्ही दो के अन्तर्गत है । इसी शास्त्र मे जिन ३६३ प्रावादुको का उल्लेख किया गया था, उनका समावेश भी अधर्मपक्ष मे हो जाता है, क्योकि ये प्रावादुक धर्मपक्ष से रहित और मिथ्या है ।

मिथ्या कैसे ? धर्मपक्ष से रहित कैसे ?—यद्यपि बौद्ध, साख्य, नैयायिक और वैशेषिक ये चारो मोक्ष या निर्वाण को एक या दूसरी तरह से मानते हैं, अपने भक्तो को धर्म की व्याख्या करके समझाते हैं, किन्तु वे सब बाते मिथ्या, थोथी एव युक्तिरहित हैं । जैसे कि बौद्ध दर्शन की मान्यता है—ज्ञानसन्तति के अतिरिक्त आत्मा नामक कोई पदार्थ नही है । ज्ञानसन्तति का अस्तित्व कर्मसन्तति के प्रभाव से है, जो ससार कहलाता है । कर्मसन्तति के नाश के साथ ही ज्ञानसतति का नाश हो जाता है । अत मोक्षावस्था मे आत्मा का कोई अस्तित्व न होने से ऐसे नि सार मोक्ष या निर्वाण के लिए प्रयत्न भी वृथा है । इसी प्रकार साख्यदर्शन आत्मा को कूटस्थ नित्य मानता है, ऐसी स्थिति मे जीव के ससार और मोक्ष दोनो ही सगत नही होते, कूटस्थ आत्मा चातुर्गतिक ससार मे परिणमन गमन (ससरण) कर नही सकती, न ही आत्मा के स्वाभाविक गुणो (स्वभाव) मे सदैव परिणमन रूप मोक्ष प्राप्त कर सकती है । इसी प्रकार नैयायिक और वैशेषिक की मोक्ष और आत्मा को मान्यता युक्तिहीन एव एकान्ताग्रह युक्त होने से दोनो ही मिथ्या है ।

इन प्रावादुको को अधर्मस्थान मे इसलिए भी समाविष्ट किया गया है कि इनका मत परस्पर विरुद्ध है, क्योकि वे सब प्रावादुक अपने-अपने मत के प्रति अत्याग्रही, एकान्तवादी होते है, इस कारण साख्य, वैशेषिक, नैयायिक, बौद्ध आदि मतवादियो का मत युक्तिविरुद्ध व मिथ्या है । आगे शास्त्रकार इन ३६३ मतवादियो के अधर्मपक्षीय सिद्ध हेतु शास्त्रकार धधकते अगारो से भरा बर्तन हाथ मे कुछ समय तक लेने का दृष्टान्त देकर समझाते है । जैसे विभिन्न दृष्टि वाले प्रावादुक अगारो से भरे बर्तन को हाथ मे लेने से इसलिए हिचकिचाते है कि उससे उन्हे दु ख होता है और दु ख उन्हे प्रिय नही है । इसी प्रकार सभी प्राणियो को दु ख अप्रिय एव सुख प्रिय लगता है । ऐसी आत्मौपम्य रूप अहिंसा जिसमे हो, वही धर्म है । इस बात को सत्य समझते हुए भी देवपूजा, यज्ञयाग आदि कार्यो मे तथा धर्म के निमित्त प्राणियो का वध करना (हिसा करना) पाप न मानकर धर्म मानते है । इस तरह श्राद्ध के समय रोहित मत्स्य का वध तथा देवयज्ञ मे पशुवध करना धर्म का अग मानते है । इस प्रकार हिसा धर्म का समर्थन और उपदेश करने वाले प्रावादुक अधर्मपक्ष की ही कोटि मे आते है । इन मुख्य कारणो से ये प्रावादुक तथाकथित श्रमण-ब्राह्मण धर्मपक्ष से रहित है । निर्ग्रन्थ श्रमण-ब्राह्मण एकान्त धर्मपक्ष से युक्त हैं । क्योकि अहिसा ही धर्म का मुख्य अग है, जिसका वे सर्वथा सार्वत्रिक रूप से स्वयं पालन करते-कराते हैं, दूसरो को उपदेश भी उसी का देते है । वे सब प्रकार की हिसा का सर्वथा निषेध करते है । वे किसी के साथ भी वैरविरोध, घृणा, द्वेष, मोह या कलह नही रखते ।

निष्कर्ष—जिस मत या मतानुयायी मे अहिंसा धर्म नही है, हिंसा का प्रतिपादन धर्म आदि के नाम से है, वह अधर्म स्थान की कोटि मे आता है, जब कि जिस मत या मतानुयायी मे अहिंसा धर्म सर्वांग-रूप मे व्याप्त है, हिसा का सर्वथा निषेध है, वह धर्मस्थान की कोटि मे आता है। यही धर्मस्थान और अधर्मस्थान की मुख्य पहचान है।

परिणाम—शास्त्रकार ने अधर्मस्थान और धर्मस्थान दोनो के अधिकारी व्यक्तियो को अपने-अपने शुभाशुभ विचार-अविचार से सदाचार-कदाचर सद्व्यवहार-दुर्व्यवहार आदि के इहलौकिक-पारलौकिक फल भी बताए है, एक अन्तिम लक्ष्य (सिद्धि, बोधि, मुक्ति, परिनिर्वाण सर्वदु खनिवृत्ति) प्राप्त कर लेता है, जबकि दूसरा नही।

तेरह ही क्रियास्थानों का प्रतिफल

७२१. इच्चेतेहिं बारसहिं किरियाठाणेहिं वट्टमाणा जीवा नो सिज्झिसु [नो] बुज्झिसु जाव नो सव्वदुक्खाणं अंत करेंसु वा करेंति वा करिस्सति वा। एतम्मि चेव तेरसमे किरियाठाणे वट्टमाणा जीवा सिज्झिसु बुज्झिसु मुच्चिसु परिणिव्वाइसु सव्वदुक्खाण अंत करिंसु वा करेंति वा करिस्सति वा। एव से भिक्खू आतट्ठी आतहिते आतगुत्ते[1] आयजोगी आतपरक्कमे आयरक्खिते आयाणुकपए आयनिप्फेडए आयाणमेव पडिसाहरेज्जासि त्ति बेमि।

॥ किरियाठाणंः बितियं अज्झयणं सम्मत्तं ॥

७२१ इन (पूर्वोक्त) बारह क्रियास्थानो मे वर्तमान जीव अतीत मे सिद्ध नही हुए, बुद्ध नही हुए, मुक्त नही हुए यावत् सर्व-दु खो का अन्त न कर सके, वर्तमान मे भी वे सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, यावत् सर्वदु खान्तकारी नही होते और न भविष्य मे सिद्ध बुद्ध, मुक्त यावत् सर्वदु खान्तकारी होंगे। परन्तु इस तेरहवे क्रियास्थान मे वर्तमान जीव अतीत, वर्तमान एव भविष्य मे सिद्ध, बुद्ध, मुक्त यावत् सर्वान्तिकृत् हुए है, होते है और होगे।

इस प्रकार (बारह क्रियास्थानो का त्याग करने वाला) वह आत्मार्थी, आत्महिततत्पर, आत्मगुप्त (आत्मा को पाप से बचाने वाला), आत्मयोगी, आत्मभाव मे पराक्रमी, आत्मरक्षक (आत्मा की समाराग्नि से रक्षा करने वाला), आत्मानुकम्पक (आत्मा पर अनुकम्पा करने वाला), आत्मा का जगत् से उद्धार करने वाला उत्तम साधक (भिक्षु) अपनी आत्मा को समस्त पापो से निवृत्त करे। —प्रति ऐसा मै कहता हूँ।

विवेचन—क्रियास्थानों का प्रतिफल—प्रस्तुत सूत्र मे इस अध्ययन का उपसहार करते हुए शास्त्रकार ने पूर्वोक्त १३ क्रियास्थानो का सक्षेप मे प्रतिफल दिया है, ताकि हेय-हेय-उपादेय का साधक विवेक कर सके।

तेरहवां क्रियास्थान भी कब ग्राह्य, या त्याज्य भी ?—प्रस्तुत सूत्र में १२ क्रियास्थानो को

---

१ 'अप्पगुत्ता'-ण परपक्खएण। आत्मगुप्त—स्वत आत्मरक्षा करने वाले की दृष्टि से प्रयुक्त है।—"आत्मनैव सजम-जोए जु जति, सयमेवपरक्कमति" अर्थात—अपने आप ही सयम योग में जुटाता है, स्वयमेव पराक्रम करता है। —सू चू. (मू. पा टि) पृ. १९३

ससार के तथा तेरहवे क्रियास्थान को मोक्ष का कारण बताने का आशय है—१२ क्रियास्थान तो मुमुक्षु के लिए त्याज्य और तेरहवाँ ग्राह्य समझा जाए। परन्तु सिद्धान्तानुसार तेरहवाँ क्रियास्थान ग्राह्य अन्त मे होने पर भी एवभूत आदि शुद्ध नयो की अपेक्षा से त्याज्य है। तेरहवे क्रियास्थान में स्थित जीव को सिद्धि, मुक्ति या निर्वाण पाने की बात औपचारिक है। वास्तव मे देखा जाए तो, जब तक योग रहते हैं, (१३वे गुणस्थान तक) तब तक भले ही ईर्यापथ क्रिया हो, जीव को मोक्ष, मुक्ति, निर्वाण या सिद्धि नही मिल सकतो। इसलिए, यहाँ १३वे क्रियास्थान वाले को मोक्ष या मुक्ति की प्राप्ति होती है, इस कथन के पीछे शास्त्रकार का तात्पर्य यह कि १३वाँ क्रियास्थान प्राप्त होने पर जीव को मोक्ष, मुक्ति या निर्वाण आदि अवश्यमेव प्राप्त हो जाता है। मोक्षप्राप्ति मे १३वाँ क्रियास्थान उपकारक है। जिन्होने १२ क्रियास्थानो को छोडकर १३वे क्रियास्थान का आश्रय ले लिया, वे एक दिन अवश्य ही सिद्ध, बुद्ध, मुक्त यावत् सर्वदु खान्तकृत् बने है, बनते है, और बनेंगे, किन्तु १२ क्रिया स्थानो का आश्रय लेने वाले कदापि सिद्ध, बुद्ध, मुक्त नही हुए, न होते, न होगे।[1]

।। क्रियास्थानः द्वितीय अध्ययन समाप्त ।।

□□

१ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ३४१ का निष्कर्ष

आहारपरिज्ञा : तृतीय अध्ययन

प्राथमिक

- ☐ सूत्रकृतांग (द्वि श्रु) के तृतीय अध्ययन का नाम 'आहारपरिज्ञा' है ।

- ☐ शरीरधारी प्राणी को आहार ग्रहण करना अनिवार्य होता है, उसके बिना शरीर की स्थिति सम्भव नही है । साधु-साध्वियो को भी आहार-ग्रहण करना आवश्यक होता है । वे दोषरहित शुद्ध कल्पनीय आहार से ही अपने शरीर की रक्षा करे, अशुद्ध अकल्पनीय से नही, तथा कवलाहार के अतिरिक्त भी अन्य किस किस आहार से शरीर को पोषण मिलता है, अन्य जीवो के आहार की पूर्ति कैसे और किस प्रकार के आहार से होती है ? इस प्रकार जीवो के आहार के सम्बन्ध मे साधको को विविध परिज्ञान कराने के कारण इस अध्ययन का नाम **'आहारपरिज्ञा'** रखा गया है ।

- ☐ मुख्यतया आहार के दो भेद हैं—द्रव्याहार एव भावाहार । **द्रव्याहार** सचित्त, अचित्त और मिश्र तीन प्रकार का है ।

- ☐ प्राणिवर्ग क्षुधा वेदनीय कर्मोदय से जब किसी वस्तु का आहार करता है, वह भावाहार है । समस्त प्राणी तीन प्रकार से भावाहार ग्रहण करते हैं—**ओज-आहार, रोम-आहार** और **प्रक्षेपाहार** ।

- ☐ जब तक औदारिक रूप मे दृश्यमान शरीर उत्पन्न नही होता, (किन्ही आचार्यों के मत से जब तक इन्द्रिय, प्राण, भाषा और मन की उत्पत्ति नही होती), तब तक तैजस-कार्मण एव मिश्र शरीर द्वारा ग्रहण किया जाने वाला आहार **ओज-आहार** है । शरीर की रचना पूर्ण होने के बाद बाहर की त्वचा (स्पर्शेन्द्रिय) से या रोमकूप से प्राणियो द्वारा ग्रहण किया जाने वाला आहार **रोमाहार** या **लोमाहार** है । मुख-जिह्वा आदि द्वारा जो कवल (कौर), बू द, कण, कतरे आदि के रूप मे आहार ग्रहण किया जाता है, उसे **प्रक्षेपाहार** (कवलाहार) कहते है ।

- ☐ अपर्याप्त जीवो का ओज आहार, देवो-नारको का रोमाहार, तथा अन्य पर्याप्त जीवो का प्रेक्षपाहार होता है । केवली अनन्तवीर्य होते हुए भी उनमे पर्याप्तित्व, वेदनीयोदय, आहार को पचाने वाला तैजस् शरीर और दीर्घायुष्कता होने से उनका कवलाहार करना युक्तिसिद्ध है ।

- ☐ चार अवस्थाओ मे जीव आहार नही करता—(१) विग्रहगति के समय, (२) केवली समुद्घात के तीसरे, चौथे, पाचवें समय मे, (३) शैलेशी अवस्था प्राप्त अयोगी केवली (४) सिद्धि प्राप्त आत्मा ।

- बीजकायो के आहार की चर्चा से अध्ययन का प्रारम्भ होकर क्रमश. पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा त्रसजीवो में पंचेन्द्रिय देव-नारको के आहार की चर्चा छोडकर मनुष्य एव तिर्यंच के आहार की चर्चा की गई है। साथ ही प्रत्येक जीव की उत्पत्ति, पोषण, सवर्द्धन आदि की पर्याप्त चर्चा की है।

- आहार प्राप्ति मे हिंसा की सम्भावना होने से साधु वर्ग को संयम नियमपूर्वक निर्दोष शुद्ध आहार ग्रहण करने पर जोर दिया गया है।[1]

- यह अध्ययन सूत्र ७२२ से प्रारम्भ होकर सूत्र ७४६ पर पूर्ण होता है।

---

१ (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गा. १६९ से १७३ तक
(ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३४२ से ३४६ तक का साराश

आहारपरिण्णा : तइयं अज्झयणं

आहारपरिज्ञा : तृतीय अध्ययन

अनेकविध वनस्पतिकायिक जीवों की उत्पत्ति, स्थिति, संवृद्धि एवं आहार की प्रक्रिया—

७२२. सुयं मे आउसंतेणं भगवता एवमक्खातं-इह खलु आहारपरिण्णा णाम अज्झयणे, तस्स णं अयमट्ठे-इह खलु पाईणं वा ४ सव्वातो सव्वावंति लोगंसि चत्तारि बीयकाया एवमाहिज्जंति, तं जहा—अग्गबीया मूलबीया पोरबीया खंधबीया ।

७२२ आयुष्मन् ! मैंने सुना है, उन भगवान् श्री महावीर स्वामी ने कहा था—इस तीर्थंकर देव के शासन (निर्ग्रन्थ-प्रवचन) मे आहारपरिज्ञा नामक एक अध्ययन है, जिसका अर्थ (भाव) यह है—इस समग्र लोक मे पूर्व आदि दिशाओ तथा ऊर्ध्व आदि विदिशाओ मे सर्वत्र चार प्रकार के बीज काय वाले जीव होते हैं, उनके नाम इस प्रकार है—अग्रबीज, मूलबीज, पर्वबीज एव स्कन्धबीज ।

७२३. (१) तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेण इह एगतिया सत्ता पुढविजोणिया पुढविसंभवा पुढविवक्कमा । तज्जोणिया तस्संभवा तव्वक्कमा कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थवकम्म[1] (वक्कमा) णाणाविहजोणियासु पुढवीसु रुक्खत्ताए विउट्टंति । ते जीवा तासिं णाणाविहजोणियाण पुढवीण सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं आउसरीरं तेउसरीरं वाउसरीरं वणस्सतिसरीरं नाणाविहाण तस-थावराण पाणाण सरीरं अचित्तं कुव्वंति, परिविद्धत्थं तं सरीरगं पुव्वाहारियं तयाहारियं विपरिणयं सारूविकड[2] संतं सव्वप्पणताए आहारेंति । अवरे वि य णं तेसिं पुढविजोणियाण रुक्खाण सरीरा नाणावण्णा नाणागंधा नाणारसा नाणाफासा नाणासंठाणसंठिया नाणाविहसरीरपोग्गलविउव्विता ते जीवा कम्मोववण्णगा भवंतीति मक्खायं ।

(२) अहावरं पुरक्खातं—इहेगतिया सत्ता रुक्खजोणिया रुक्खसंभवा रुक्खवक्कमा तज्जोणिया तस्संभवा तव्वक्कमा कम्मोवगा कम्मनिदाणेण तत्थवक्कमा पुढविजोणिएहिं रुक्खेहिं रुक्खत्ताए विउट्टंति ते जीवा तेसिं पुढविजोणियाणं रुक्खाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं आउसरीरं तेउसरीरं वाउसरीरं वणस्सइसरीरं, णाणाविहाणं तस-थावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति, परिविद्धत्थं तं सरीरगं पुव्वाहारियं तयाहारियं विपरिणयं सारूविकडं संतं सव्वप्पणाए आहारं आहारेंति । अवरे वि य णं तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सरीरा नाणावण्णा नाणागंधा नाणारसा

---

१ 'तत्थवक्कमा'—तत्रोत्पत्तिस्थान उपक्रम्य आगत्य—उस उत्पत्तिस्थान-योनि मे आकर ।

२. सारूविकड ति समानरूवकड, वृक्षत्वेन परिणामितमित्यर्थं —चूर्णि स्वरूपता नीत सत् तन्मयतां प्रतिपद्यते ।

—शी वृत्ति सूत्र कृ मू पा. टि पृ. १९५

णाणाफासा णाणासंठाणसंठिया णाणाविहसरीरपोग्गलविउव्विता, ते जीवा कम्मोववन्ना भवंतीति मक्खायं।

(३) अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता रुक्खजोणिया रुक्खसंभवा रुक्खवक्कमा तज्जोणिया तस्संभवा तव्वक्कमा (मा) कम्मोवगा कम्मनिदाणेणं तत्थवक्कमा रुक्खजोणिएसु रुक्खेसु रुक्खत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं आउ० तेउ० वाउ० वणस्सतिसरीरं, नाणाविहाणं तस-थावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति परिविद्धत्थं तं सरीरगं पुव्वाहारितं तयाहारियं विपरिणयं सारूविकडं सत। अवरे वि य णं तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सरीरा णाणावण्णा जाव ते जीवा कम्मोववण्णगा भवतीति मक्खाय।

(४) अहावरं पुरक्खाय—इहेगतिया सत्ता रुक्खजोणिया रुक्खसंभवा रुक्खवक्कमा तज्जोणिया तस्सभवा तवक्कमा कम्मोवगा कम्मनिदाणेणं तत्थवक्कम्मा (मा) रुक्खजोणिएसु रुक्खेसु मूलत्ताए कंदत्ताए खंधत्ताए तयत्ताए सालत्ताए पवालत्ताए पत्तत्ताए पुप्फत्ताए फलत्ताए बीयत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं रुक्खजोणियाण रुक्खाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीर आउ० तेउ० वाउ० वणस्सति०, नाणाविहाण तस-थावराणं पाणाण सरीरं अचित्तं कुव्वंति, परिविद्धत्थं त सरीरग जाव सारूविकड संतं, अवरे वि य णं तेसिं रुक्खजोणियाणं मूलाणं कंदाणं खंधाणं तयाण सालाणं पवालाणं जाव बीयाणं सरीरा नाणावण्णा नाणागंधा जाव नाणविहसरीरपोग्गलविउव्विया, ते जीवा कम्मोववण्णगा भवंतीति मक्खायं।

७२३ (१) उन बीज-कायिक जीवो मे जो जिस प्रकार के बीज से, जिस-जिस अवकाश (उत्पत्ति स्थान अथवा भूमि, जल, काल, आकाश और बीज के सयोग) से उत्पन्न होने की योग्यता रखते है, वे उस उस बीज से तथा उस-उस अवकाश मे उत्पन्न होते है। इस दृष्टि से कई बीज-कायिक जीव पृथ्वीयोनिक होते है, पृथ्वी पर (उस बीज और अवकाश से) उत्पन्न होते है, उसी पर स्थित रहते हैं और उसी पर उनका विकास होता है।

इसलिए पृथ्वीयोनिक, पृथ्वी पर उत्पन्न होने वाले और उसी पर स्थित रहने व बढने वाले वे जीव (बीज-कायिक प्राणी) कर्म के वशीभूत होकर तथा कर्म के निदान (आदिकारण) से आकर्षित होकर वही (पृथ्वी पर ही) वृद्धिगत होकर नाना प्रकार की योनि वाली पृथ्वियो पर वृक्ष रूप मे उत्पन्न होते हैं। वे जीव नाना जाति की योनियो वाली पृथ्वियो के स्नेह (स्निग्धता) का आहार करते हैं। वे जीव (स्वशरीर सन्निकृष्ट) पृथ्वी शरीर अप्-शरीर (भौम या आकाशीय जल के शरीर) तेज शरीर, (अग्नि की राख आदि) वायु-शरीर और वनस्पति-शरीर का आहार करते है। तथा वे पृथ्वी जीव नाना-प्रकार के त्रस और स्थावर प्राणियो के शरीर को अचित्त (प्रासुक) कर देते हैं। वे आदि के अत्यन्त विध्वस्त (पूर्व जीव से मुक्त) उस शरीर को कुछ प्रासुक कुछ परितापित कर देते हैं, वे (वनस्पतिजीव) उन (पृथ्वीकायादि) के पूर्व-आहारित (पृथ्वीकायादि से उत्पत्ति के समय उनका जो आहार किया था, और स्वशरीर के रूप मे परिणत) किया था, उसे अब भी (उत्पत्ति के बाद भी) त्वचास्पर्श द्वारा आहार करते है, तत्पश्चात् उन्हे स्वशरीर के रूप मे विपरिणत करते है।

और उक्त विपरिणामित शरीर को स्व स्वरूप (स्वसमान रूप) कर लेते है। इस प्रकार वे सर्व दिशाओ से आहार करते है।

उन पृथ्वीयोनिक वृक्षो के दूसरे (मूल, शाखा, प्रशाखा, पत्र, पुष्प, फलादि के रूप मे बने हुए) शरीर भी अनेक वर्ण, अनेक गन्ध, नाना रस, नाना स्पर्श के तथा नाना सस्थानो से सस्थित एव नाना प्रकार के शारीरिक पुद्गलो (रस, वीर्य आदि) से विकुर्वित होकर बनते हैं। वे जीव कर्मों के उदय (एकेन्द्रिय जाति, स्थावरनाम, वनस्पति योग्य आयुष्य आदि कर्मों के उदय) के अनुसार स्थावरयोनि मे उत्पन्न होते है, ऐसा तीर्थंकरो ने कहा है।

(२) इसके पश्चात् श्रीतीर्थंकरदेव ने पहले (वनस्पतिकाय का दूसरा भेद) बताया है, कि कई सत्त्व (वनस्पतिकायिक जीव) वृक्ष मे ही उत्पन्न होते है, अतएव वे वृक्षयोनिक होते है, वृक्ष मे स्थित रह कर वही वृद्धि को प्राप्त होते है। (पूर्वोक्त प्रकार से) वृक्षयोनिक, वृक्ष मे उत्पन्न, उसी मे स्थिति और वृद्धि को प्राप्त करने वाले कर्मों के उदय के कारण वे (वनस्पतिकाय के अगभूत) जीव कर्म से आकृष्ट होकर पृथ्वीयोनिक वृक्षो मे वृक्षरूप मे उत्पन्न होते है। वे जीव उन पृथ्वीयोनिक वृक्षो से उनके स्नेह (स्निग्धता) का आहार करते हैं, तथा वे जीव पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति के शरीर का आहार करते हैं। वे नाना प्रकार के त्रस और स्थावर प्राणियो के शरीर को अचित्त (प्रासुक) कर डालते है। वे परिविध्वस्त (प्रासुक) किये हुए एव पहले आहार किये हुए, तथा त्वचा द्वारा आहार किये हुए पृथ्वी आदि शरीरो को विपरिणामित (पचा) कर अपने अपने समान स्वरूप मे परिणत कर लेते है। वे सर्व दिशाओ से आहार लेते है। उन वृक्षयोनिक वृक्षो के नाना वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाले, अनेक प्रकार के सस्थानो (अवयवरचनाओ) से युक्त दूसरे शरीर भी होते हैं, जो अनेक प्रकार के शारीरिक (शरीरगत रस, वीर्य आदि) पुद्गलो से विकुर्वित (विरचित) होते हैं। वे जीव कर्म के उदय के अनुरूप ही पृथ्वीयोनिक वृक्षो मे उत्पन्न होते है, यह श्रीतीर्थंकर देव ने कहा है।

(३) इसके पश्चात् श्रीतीर्थंकरदेव ने वनस्पतिकायिक जीवो का अन्य भेद बताया है। इसी वनस्पतिकायवर्ग मे कई जीव वृक्षयोनिक होते हैं, वे वृक्ष मे उत्पन्न होते है, वृक्ष मे ही स्थिति एव वृद्धि को प्राप्त होते हैं। वृक्ष मे उत्पन्न होने वाले, उसी मे स्थित रहने और उसी मे सवृद्धि पाने वाले वृक्षयोनिक जीव कर्म के वशीभूत होकर कर्म के ही कारण उन वृक्षो मे आकर वृक्षयोनिक जीवो मे वृक्षरूप से उत्पन्न होते हैं। वे जीव उन वृक्षयोनिक वृक्षो के स्नेह (स्निग्धता) का आहार करते है। इसके अतिरिक्त वे जीव पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति के शरीरो का भी आहार करते हैं। वे त्रस और स्थावर प्राणियो के शरीर को अचित्त (प्रासुक) कर देते है। परिविध्वस्त (प्रासुक) किये हुए तथा पहले आहार किये हुए और पीछे त्वचा के द्वारा आहार किये हुए पृथ्वी आदि के शरीरो को पचा कर अपने रूप मे मिला लेते है। उन वृक्षयोनिक वृक्षो के नाना वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाले दूसरे शरीर (मूल, कन्द, स्कन्धादि) होते हैं। वे जीव कर्मोदय वश वृक्षयोनिक वृक्षो मे उत्पन्न होते हैं, यह तीर्थंकर देव ने कहा है।

(४) श्रीतीर्थंकरदेव ने वनस्पतिकायिक जीवो के और भेद भी बताए हैं। इस वनस्पतिकाय-वर्ग मे कई जीव वृक्षयोनिक होते हैं, वे वृक्ष मे ही उत्पन्न होते है, वृक्ष मे ही स्थित रहते हैं, वृक्ष मे ही सवर्धित होते रहते हैं। वे वृक्षयोनिक जीव उसी मे उत्पन्न, स्थित एव सवृद्ध होकर कर्मोदयवश

उन-उन कर्मों के कारण वृक्षो मे आते हैं और वृक्षयोनिक वृक्षो मे मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वचा (छाल) शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल एव बीज के रूप में उत्पन्न होते हैं। वे जीव उन वृक्षयोनिक वृक्षो के स्नेह का आहार करते हैं। इसके अतिरिक्त वे जीव पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति के शरीर का आहार करते है। वे जीव नाना प्रकार के त्रस और स्थावर जीवो के (सचित्त शरीर मे से रस खीच कर उनके) शरीर को अचित्त कर देते हैं। फिर प्रासुक (परिविध्वस्त) हुए उनके शरीरो को पचा कर अपने समान रूप मे परिणत कर डालते हैं। उन वृक्षयोनिक मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल और बीज रूप जीवो के और भी शरीर होते है, जो नाना वर्ण, गन्ध, रस, एव स्पर्श वाले तथा नाना प्रकार के पुद्गलो से बने हुए होते हैं। ये जीव कर्मोदयवश ही वहाँ उत्पन्न होते हैं, यह श्रीतीर्थंकरदेव ने कहा है।

७२४. (१) अहावर पुरक्खाय—इहेगइया सत्ता रुक्खजोणिया रुक्खसंभवा रुक्खवक्कमा तज्जोणिया तस्संभवा तवक्कमा कम्मोवगा कम्मनिदाणेण तत्थवक्कमा रुक्खजोणिएहिं रुक्खेहिं अज्झोरुहित्ताते विउट्टंति, ते जीवा तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीर जाव सारूविकड संतं, अवरे वि य ण तेसिं रुक्खजोणियाणं अज्झोरुहाणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खाय।

(२) अहावरं पुरक्खायं—इहेगतिया सत्ता अज्झोरुहजोणिया[1] अज्झोरुहसंभवा जाव कम्मनिदाणेण तत्थवक्कमा रुक्खजोणिएसु अज्झोरुहेसु अज्झोरुहत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं रुक्खजोणियाण अज्झोरुहाण सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीर जाव सारूविकडं संतं, अवरे वि य ण तेसिं अज्झोरुहजोणियाणं अज्झोरुहाण सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं।

(३) अहावरं पुरक्खाय—इहेगतिया सत्ता अज्झोरुहजोणिया अज्झोरुहसंभवा जाव कम्मनिदाणेण तत्थवक्कमा अज्झोरुहजोणिएसु अज्झोरुहेसु अज्झोरुहित्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं अज्झोरुहजोणियाण अज्झोरुहाण सिणेहमाहारेंति, [ते जीवा आहारेंति] पुढविसरीर जाव सारूविकड संत, अवरे वि य ण तेसिं अज्झोरुहजोणियाणं [अज्झोरुहाणं] सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खाय।

(४) अहावर पुरक्खायं—इहेगइया सत्ता अज्झोरुहजोणिया अज्झोरुहसंभवा जाव कम्मनिदाणेण तत्थवक्कमा अज्झोरुहजोणिएसु अज्झोरुहेसु मूलत्ताए जाव बीयत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं अज्झोरुहजोणियाण अज्झोरुहाण सिणेहमाहारेंति जाव अवरे वि य णं तेसिं अज्झोरुहजोणियाणं मूलाण जाव बीयाणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं।

७२४ (१) श्रीतीर्थंकरदेव ने वनस्पतिकाय के अन्य भेद भी बताए है। इस वनस्पतिकाय जगत् मे कई वृक्षयोनिक जीव वृक्ष मे ही उत्पन्न होते है, वृक्ष मे ही स्थित रहते एव बढते हैं। इस प्रकार उसी मे उत्पन्न, स्थित और संवर्धित होने वाले वे वृक्षयोनिक जीव कर्मोदयवश तथा कर्म के कारण ही वृक्षो मे आकर उन वृक्षयोनिक वृक्षो मे 'अध्यारूह' वनस्पति के रूप मे उत्पन्न होते है। वे (अध्यारूह) जीव वृक्षयोनिक वृक्षो के स्नेह का आहार करते है। इसके अतिरिक्त वे जीव पृथ्वी से लेकर वनस्पति तक के शरीर का भी आहार करते हैं। यहाँ तक कि वे उन्हे अचित्त, प्रासुक एव

---

१ (क) अज्झारोहा—रुक्खस्स उवरि अन्नो रुक्खो चूर्णि।
(ख) वृक्षेषु उपर्युपरि अध्यारोहन्तीत्यध्यारुहा —शीलांकवृत्ति

परिणामित करके अपने स्वरूप मे मिला लेते है । उन वृक्षयोनिक अध्यारूह वनस्पति के नाना प्रकार के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शवाले तथा अनेकविध रचनावाले एव विविध पुद्‌गलो से बने हुए दूसरे शरीर भी होते हैं । वे अध्यारूह वनस्पति जीव स्वकर्मोदयवश कर्मप्रेरित होकर ही वहाँ उस रूप मे उत्पन्न होते हैं, ऐसा श्रीतीर्थंकरदेव ने कहा है ।

(२) श्रीतीर्थंकरदेव ने वनस्पतिकाय के और भी भेद कहे हैं । इस वनस्पतिकायजगत् मे अध्यारूहयोनिक जीव अध्यारूह मे ही उत्पन्न होते हैं, उसी मे स्थित रहते, एव सर्वाद्धित होते है । वे जीव कर्मोदय के कारण ही वहाँ आकर वृक्षयोनिक अध्यारूह वृक्षो में अध्यारूह के रूप मे उत्पन्न होते हैं । वे जीव उन वृक्षयोनिक अध्यारूहो के स्नेह का आहार करते है । इसके अतिरिक्त वे जीव पृथ्वी से लेकर वनस्पतिक के शरीर का आहार करते है । वे त्रस और स्थावर जीवो के शरीर से रस खीच कर उन्हे अचित्त कर डालते हैं, फिर उनके परिविध्वस्त शरीर को पचा कर अपने रूप मे परिणत कर लेते है । उन अध्यारूहयोनिक अध्यारूह वनस्पतियो के अनेक वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शवाले, नाना सस्थानवाले, अनेकविध पुद्‌गलो से बने हुए और भी शरीर होते है, वे जीव अपने पूर्वकृत कर्मों के प्रभाव से ही अध्यारूहयोनिक अध्यारूहो में उत्पन्न होते है, ऐसा तीर्थंकर प्रभु ने कहा है ।

(३) श्रीतीर्थंकरदेव ने वनस्पतिकाय के और भी भेदो का प्रतिपादन पहले किया है । इस वनस्पतिकायिक जगत् मे कई अध्यारूहयोनिक प्राणी अध्यारूह वृक्षो मे ही उत्पन्न होते है, उन्ही मे उनकी स्थिति और सवृद्धि होती है । वे प्राणी तथाप्रकार के कर्मोदयवश वहाँ आते हैं और अध्यारूहयोनिक वृक्षो मे अध्यारूह रूप मे उत्पन्न होते हैं । वे जीव अध्यारूहयोनिक अध्यारूह वृक्षो के स्नेह का आहार करते हैं । इसके अतिरिक्त वे पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति के शरीरो का भी आहार करते हैं । तथा वे जीव त्रस और स्थावरप्राणियो के शरीर से रम खीच कर उन्हे अचित्त प्रासुक एव विपरिणामित करके अपने स्वरूप मे परिणत कर लेते है । उन अध्यारूहयोनिक अध्यारूह वृक्षो के नाना वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थानो से युक्त, विविध पुद्‌गलो से रचित दूसरे शरीर भी होते हैं । स्वकृतकर्मोदयवश ही वहाँ उत्पन्न होते हैं, ऐसा श्रीतीर्थंकर भगवान् के कहा है ।

(४) श्रीतीर्थंकरदेव ने वनस्पतिकाय के और भी भेदो का निरूपण किया है । इस वनस्पतिकायजगत् मे कई जीव अध्यारूहयोनिक होते है । वे अध्यारूह वृक्षो मे उत्पन्न होते है, तथा उन्ही मे स्थित रहते हैं और बढते है । वे अपने पूर्वकृत कर्मों से प्रेरित होकर अध्यारूह वृक्षो मे आते हैं और अध्यारूहयोनिक अध्यारूह वृक्षो के मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल एव बीज के रूप मे उत्पन्न होते है । वे (पूर्वोक्त) जीव उन अध्यारूहयोनिक अध्यारूह वृक्षो के स्नेह का आहार करते हैं । तदतिरिक्त वे पृथ्वी से लेकर वनस्पति तक के शरीरो का भी आहार करते हैं । वे जीव त्रस और स्थावर जीवो के शरीर से रस खीच कर उन्हे अचित्त कर देते है । प्रासुक हुए उस शरीर को वे विपरिणामित करके अपने स्वरूप में परिणत कर लेते हैं । उन अध्यारूहयोनिक वृक्षो के मूल से लेकर बीज तक के जीवो के नाना वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श एव सस्थान से युक्त, अनेक प्रकार के पुद्‌गलो से रचित अन्य शरीर भी होते हैं । वे (पूर्वोक्त सभी जीव) स्व-स्वकर्मोदयवश ही इनमे उत्पन्न होते हैं, ऐसा तीर्थंकर भगवान् ने कहा है ।

७२५. (१) आहवरं पुरक्खातं इहेगतिया सत्ता पुढविजोणिया पुढविसंभवा जाव णाणाविह-

जोणियासु पुढवीसु तणत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं नाणाविहजोणियाणं पुढवीणं सिणेहमाहारेंति जाव ते जीवा कम्मोववन्ना भवंतीति मक्खायं।

(२) एवं पुढविजोणिएसु तणेसु तणत्ताए विउट्टंति जाव मक्खायं।

(३) एवं तणजोणिएसु तणेसु तणत्ताए विउट्टंति जाव मक्खायं।

(४) एव तणजोणिएसु तणेसु मूलत्ताए जाव बीयत्ताए विउट्टंति, ते जीवा जाव एवमक्खायं।

७२५ (१) श्रीतीर्थंकरदेव ने वनस्पतिकायिक जीवो के और भेद भी बताए हैं। इस वनस्पतिकायिक जगत् मे कई प्राणी पृथ्वीयोनिक होते है, वे पृथ्वी से ही उत्पन्न होते है, पृथ्वी मे ही स्थित होकर उसी मे सवर्धन पाते हैं। इस प्रकार पृथ्वी मे ही उत्पन्न, स्थित एव सवृद्ध वे जीव स्वकर्मोदयवश ही नाना प्रकार की जाति (योनि) वाली पृथ्वियो पर तृणरूप मे उत्पन्न होते है। वे तृण के जीव उन नाना जाति वाली पृथ्वियो के स्नेह (स्निग्धरस) का आहार करते हैं। वे पृथ्वी से लेकर वनस्पति तक के शरीरो का आहार करते हैं। त्रस-स्थावर जीवो के शरीरो को अचित्त, प्रासुक एव स्वरूप मे परिणत कर लेते हैं। वे जीव कर्म से प्रेरित होकर ही पृथ्वीयोनिक तृण के रूप मे उत्पन्न होते है, इत्यादि सब वर्णन पूर्ववत् समझ लेना चाहिए। यह सब श्रीतीर्थंकर प्रभु ने कहा है।

(२) इसी प्रकार कई (वनस्पतिकायिक) जीव पृथ्वीयोनिक तृणो मे तृण रूप से उत्पन्न होते है, वही स्थित रहते, एव सवृद्ध होते है। वे पृथ्वीयोनिक तृणो के शरीर का आहार करते है, इत्यादि समस्त वर्णन पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।

(३) इसी तरह कई (वनस्पतिकायिक) जीव तृणयोनिक तृणो मे (स्वकृतकर्मोदयवश) तृणरूप मे उत्पन्न होते है, वही स्थित एव सवृद्ध होते हैं। वे जीव तृणयोनिक तृणो के शरीर का ही आहार ग्रहण करते हैं। शेष सारा वर्णन पहले की तरह यहाँ भी समझ लेना चाहिए।

(४) इसी प्रकार कई (वनस्पतिकायिक) जीव तृणयोनिक तृणो मे मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल एव बीजरूप मे (कर्मोदयवश) उत्पन्न होते है, वही स्थित रहते एव सवृद्ध होते है। वे उन्ही तृणयोनिक तृणो का आहार करते है। इन जीवो का शेष समस्त वर्णन भी पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।

७२६. एव ओसहीण वि चत्तारि आलावगा (४)।

७२६. इसी प्रकार औषधिरूप मे उत्पन्न (वनस्पतिकायिक) जीवो के भी चार आलापक [(१) नानाविध पृथ्वीयोनिक पृथ्वियो मे औषधि विविध अन्नादि की पकी हुई फसल के रूप मे, (२) पृथ्वीयोनिक औषधियो मे औषधि के रूप मे, (३) औषधियोनिक औषधियो मे औषध के रूप मे, एव (४) औषधियोनिक औषधियो मे (मूल से लेकर बीज तक के रूप मे उत्पत्ति)] और उनका सारा वर्णन भी पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।

७२७. एवं हरियाण वि चत्तारि आलावगा (४)।

७२७. इसी प्रकार हरितरूप में उत्पन्न वनस्पतिकायिक जीवो के भी चार आलापक [(१) नानाविध पृथ्वीयोनिक पृथ्वियो पर हरित के रूप में, (२) पृथ्वीयोनिक हरितो मे हरित के रूप मे,

(३) हरित योनिक हरितो में हरित (अध्यारूह) के रूप मे, एव (४) हरितयोनिक हरितों मे मूल से लेकर बीज तक के रूप मे] एव उनका सारा वर्णन भी पूर्ववत् समझ लेना चाहिए ।

७२८. अहावर पुरक्खायं—इहेगतिया सत्ता पुढविजोणिया पुढविसंभवा जाव कम्मनियाणेणं तत्थवक्कमा नाणाविहजोणियासु पुढवीसु आयत्ताए वायत्ताए कायत्ताए कुहणत्ताए[1] कंदुकत्ताए उव्वेहलियत्ताए निव्वेहलियत्ताए सछत्ताए सज्झत्ताए छत्तगत्ताए वासाणियत्ताए कूरत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं नाणाविहजोणियाणं पुढवीणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरे वि य णं तेसिं पुढविजोणियाणं आयाणं जाव कूराणं सरीरा नाणावण्णा जाव मक्खातं एक्को चेव आलावगो (१), सेसा तिण्णि नत्थि ।

७२८ श्रीतीर्थंकरदेव ने वनस्पतिकाय के और भी भेद बताए है । इस वनस्पतिकाय जगत् मे कई जीव पृथ्वीयोनिक होते है, वे पृथ्वी से उत्पन्न होते हैं, पृथ्वी पर ही रहते और उसी पर ही विकसित होते है । वे पूर्वोक्त पृथ्वीयोनिक वनस्पतिजीव स्व-स्वकर्मोदयवश कर्म के कारण ही वहाँ आकर उत्पन्न होते है । वे नाना प्रकार की योनि (जाति) वाली पृथ्वियो पर आर्य वाय, काय, कूहण, कन्दुक, उपेहणी, निर्वेहणी, सछत्रक, छत्रक, वासानी एव कूर नामक वनस्पति के रूप मे उत्पन्न होते हैं । वे (पूर्वोक्त) जीव उन नानाविध योनियो वाली पृथ्वियो के स्नेह का आहार करते है, तथा वे जीव पृथ्वीकाय आदि छहो काय के जीवो के शरीर का आहार करते हैं । पहले उनसे रस खीच कर वे उन्हे अचित्त-प्रासुक कर देते हैं, फिर उन्हे अपने रूप मे परिणत कर लेते है । उन पृथ्वीयोनिक (विविध पृथ्वियो से उत्पन्न) आर्यवनस्पति से लेकर कूरवनस्पति तक के जीवो के विभिन्न वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आकार-प्रकार और ढाचे वाले तथा विविध पुद्गलो से रचित दूसरे शरीर भी होते है । इन जीवो का एक ही आलापक होता है, शेष तीन आलापक नही होते ।

७२९. अहावरं पुरक्खातं—इहेगतिया सत्ता उदगजोणिया उदगसंभवा जाव कम्मनियाणेण तत्थवक्कमा णाणाविहजोणिएसु उदएसु रुक्खत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं णाणाविहजोणियाण उदगाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरे वि य णं तेसिं उदगजोणियाण रुक्खाण सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं, जहा पुढविजोणियाणं रुक्खाणं चत्तारि गमा [४] अज्झोरुहाण वि तहेव [४], तणाणं ओसहीणं हरियाणं चत्तारि आलावगा भाणियव्वा एक्केक्के [४, ४, ४] ।

७२९ श्रीतीर्थंकरप्रभु ने वनस्पतिकाय के और भी भेदों का निरूपण किया है । इस वनस्पतिकायजगत् मे कई उदकयोनिक (जल मे उत्पन्न होने वाली) वनस्पतियाँ होती हैं, जो जल मे ही उत्पन्न होती है, जल मे ही रहती और उसी मे बढती है । वे उदकयोनिक वनस्पति जीव पूर्वकृत कर्मोदयवश-कर्मों के कारण ही उनमे आते हैं और नाना प्रकार की योनियो (जातियो) वाले उदको (जलकायो) मे वृक्षरूप में उत्पन्न होते हैं । वे जीव नानाप्रकार के जाति वाले जलो के स्नेह का आहार करते हैं । इसके अतिरिक्त वे जीव पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पतिकाय के शरीरो का भी

१ तुलना—"कुहणा अणेगविहा पन्नत्ता, तं० आए काए कुहणे कुरए।" —प्रज्ञापनासूत्र प्रथम पद

आहार करते हैं। उन जलयोनिक वृक्षो के विभिन्न वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श एवं संस्थान वाले तथा विविध पुद्गलों से रचित दूसरे शरीर भी होते हैं। वे जीव स्वकर्मोदयवश ही जलयोनिक वृक्षो मे उत्पन्न होते हैं। जैसे पृथ्वीयोनिक वृक्ष के चार भेदो के प्रत्येक के चार-चार आलापक बताए गए थे, वैसे ही यहाँ जलयोनिक वृक्षो के भी चार भेदो (वृक्ष, अध्यारूह वृक्ष, तृण और हरित) के भी प्रत्येक के चार-चार आलापक कहने चाहिए।

७३०. अहावरं पुरक्खायं—इहेगतिया सत्ता उदगजोणिया उदगसंभवा जाव कम्मणियाणेणं तत्थवक्कमा णाणाविहजोणिएसु उदएसु[1] उदगत्ताए अवगत्ताए पणगत्ताए सेवालत्ताए कलबुगत्ताए हडत्ताए कसेरुयत्ताए कच्छ०भाणियत्ताए उप्पलत्ताए पउमत्ताए कुमुदत्ताए नलिणत्ताए सुभग० सोगंधियत्ताए पोंडरिय० महापोंडरिय० सयपत्त० सहस्सपत्त० एवं कल्हार० कोकणत० अरविंदत्ताए तामरसत्ताए भिस० भिसमुणाल० पुक्खलत्ताए पुक्खलत्थिभगत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं नाणाविहजोणियाणं उदगाण सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरे वि य णं तेसिं उदगजोणियाण उदगाणं जाव पुक्खलत्थिभगाणं सरीरा नाणावण्णा जाव मक्खायं, एक्को चेव आलावगो [१]।

७३० श्रीतीर्थंकर भगवान् ने वनस्पतिकाय के और भेद भी बताए हैं। इस वनस्पतिकाय-जगत् मे कई जीव उदकयोनिक होते हैं, जो जल मे उत्पन्न होते है, वही रहते और वही सवृद्धि पाते हैं। वे जीव अपने पूर्वकृत कर्मों के कारण ही तथारूप वनस्पतिकाय मे आते है और वहाँ वे अनेक प्रकार की योनि (जाति) के उदको मे उदक, अवक, पनक (काई), शैवाल, कलम्बुक, हड, कसेरुक, कच्छभाणितक, उत्पल, पद्म, कुमुद, नलिन, सुभग, सौगन्धिक, पुण्डरीक, महापुण्डरीक, शतपत्र, सहस्रपत्र, कल्हार, कोकनद, अरविन्द, तामरस, भिस, मृणाल, पुष्कर, पुष्कराक्षिभग के रूप मे उत्पन्न होते हैं। वे जीव नाना जाति वाले जलो के स्नेह का आहार करते हैं, तथा पृथ्वीकाय आदि के शरीरो का भी आहार करते है। उन जलयोनिक वनस्पतियो के उदक से लेकर पुष्कराक्षिभग तक जो नाम बताए गए हैं, उनके विभिन्न वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, संस्थान (अवयवरचना) से युक्त एव नानाविध पुद्गलो से रचित दूसरे शरीर भी होते है। वे सभी जीव स्व-कृतकर्मानुसार ही इन जीवो मे उत्पन्न होते है, ऐसा तीर्थंकरदेव ने कहा है। इसमे केवल एक ही आलापक होता है।

७३१. [१] अहावरं पुरक्खायं—इहेगतिया सत्ता तेहिं चेव पुढवि-जोणिएहिं रुक्खेहिं रुक्खजोणिएहिं रुक्खेहिं, रुक्खजोणिएहिं मूलेहिं जाव बीएहिं [३], रुक्खजोणिएहिं अज्झोरुहेहिं, अज्झोरुहजोणिएहिं अज्झोरुहेहिं, अज्झोरुहजोणिएहिं मूलेहिं जाव बीएहिं [३], पुढविजोणिएहिं तणेहिं, तणजोणिएहिं तणेहिं, तणजोणिएहिं मूलेहिं जाव बीएहिं [३], एवं ओसहीहिं तिण्णि आलावगा [३], एवं हरिएहिं वि तिण्णि आलावगा [३], पुढविजोणिएहिं आएहिं काएहिं जाव कूरेहिं [१], उदगजोणिएहिं रुक्खेहिं, रुक्खजोणिएहिं रुक्खेहिं, रुक्खजोणिएहिं मूलेहिं जाव बीएहिं [३], एवं

---

१ तुलना—"जलरुहा अणेगविहा पन्नत्ता, त—उदए अवए पणए ...पोक्खलत्थिभए ।"

—प्रज्ञापनासूत्र प्रथम पद

अज्झोरुहेहिं वि तिण्णि [३], तणेहिं वि तिण्णि आलावगा [३], ओसहीहिं वि तिण्णि [३], हरितेहिं वि तिण्णि [३], उदगजोणिएहिं उदएहिं अवएहिं जाव पुक्खलत्थिभएहिं [१] तसपाणत्ताए विउट्टंति।

[२] ते जीवा तेसिं पुढविजोणियाणं उदगजोणियाणं रुक्खजोणियाणं अज्झोरुहजोणियाणं तणजोणियाणं ओसहिजोणियाणं हियजोणियाणं रुक्खाणं अज्झोरुहाणं तणाणं ओसहीणं हरियाणं मूलाणं जाव बीयाणं आयाणं कायाणं जाव कुराणं उदगाणं अवगाणं जाव पुक्खलत्थिभगाणं सिणेहमाहारेंति। ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरे वि य णं तेसिं रुक्खजोणियाणं अज्झोरुहजोणियाणं तणजोणियाणं ओसहिजोणियाणं हरियजोणियाणं मूलजोणियाणं कंदजोणियाणं जाव बीयजोणियाणं आयजोणियाणं कायजोणियाणं जाव कूरजोणियाणं उदगजोणियाणं अवगजोणियाणं जाव पुक्खलत्थिभगजोणियाणं तसपाणाणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं।

७३१ (१) श्रीतीर्थंकरदेव ने जीवो के अन्य भेद भी बताए हैं—इस वनस्पतिकायिक जगत् मे कई जीव-पृथ्वीयोनिक वृक्षो मे, कई वृक्षयोनिक वृक्षो मे, कई वृक्षयोनिक मूल से लेकर बीजपर्यन्त अवयवो मे, कई वृक्षयोनिक अध्यारूह वृक्षो मे, कई अध्यारूह योनिक अध्यारूहो मे, कई अध्यारूह-योनिक मूल से लेकर बीजपर्यन्त अवयवो मे, कई पृथ्वीयोनिक तृणो से, कई तृणयोनिक तृणो मे, कई तृणयोनिक मूल से लेकर बीजपर्यन्त अवयवो मे, इसी तरह औषधि और हरितो के सम्बन्ध मे तीन-तीन आलापक कहे गए हैं, (कई उनमे), कई पृथ्वीयोनिक आर्य, काय से लेकर कूट तक के वनस्पति-कायिक अवयवो मे, 'कई उदकयोनिक वृक्षो मे, वृक्षयोनिक वृक्षो मे, तथा' वृक्षयोनिक मूल से लेकर बीज तक के अवयवो मे, इसी तरह अध्यारूहो, तृणो, औषधियो और हरितो मे (पूर्वोक्तवत् तीन-तीन आलापक कहे गए है, (उनमे), तथा कई उदकयोनिक उदक, अवक से लेकर पुष्कराक्षिभगो मे त्रस-प्राणी के रूप मे उत्पन्न होते हैं।

(२) वे जीव उन पृथ्वीयोनिक वृक्षो के, जलयोनिक वृक्षो के, अध्यारूहयोनिक वृक्षो के, एव तृणयोनिक, औषधियोनिक, हरितयोनिक वृक्षो के तथा वृक्ष, अध्यारूह, तृण, औषधि, हरित, एव मूल से लेकर बीज तक के, तथा आर्य, काय से लेकर कूट वनस्पति तक के एव उदक अवक से लेकर पुष्कराक्षिभग वनस्पति तक के स्नेह का आहार करते है। वे जीव पृथ्वी आदि के शरीरो का भी आहार करते है। उन वृक्षयोनिक, अध्यारूहयोनिक, तृणयोनिक, औषधियोनिक, हरितयोनिक, मूलयोनिक, कन्दयोनिक, से लेकर बीजयोनिक पर्यन्त, तथा आर्य, काय से लेकर कूटयोनिकपर्यन्त, एव अवक अवकयोनि से लेकर पुष्कराक्षिभमयोनिकपर्यन्त त्रसजीवो के[1] नाना वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श एव संस्थान से युक्त तथा विविध पुद्गलो से रचित दूसरे शरीर भी होते है। ये सभी जीव स्वस्वकर्मानुसार ही अमुक-अमुक रूप मे अमुकयोनि मे उत्पन्न होते है। ऐसा तीर्थंकरदेव ने कहा है।

विवेचन—अनेकविध वनस्पतिकायिक जीवो की उत्पत्ति, स्थिति, संवृद्धि और आहार की प्रक्रिया—प्रस्तुत दस सूत्रो (७२२ से ७३१ तक) मे शास्त्रकार ने वनस्पतिकाय जीव के **बीज**, वृक्ष आदि भेदो की उत्पत्ति, स्थिति, सवृद्धि तथा आहार की प्रक्रिया का विस्तृत **वर्णन** किया है।

---

१ देखें—विवेचन

वनस्पतिकायिक जीवों के मुख्य प्रकार—वनस्पतिकायिक जीवो के यहाँ मुख्यतया निम्नोक्त भेदों का उल्लेख है—बीजकायिक, पृथ्वीयोनिकवृक्ष वृक्षयोनिकवृक्ष, वृक्षयोनिकवृक्षो मे वृक्ष, वृक्षयोनिक वृक्षों से उत्पन्न मूल आदि से लेकर बीज तक, वृक्षयोनिक वृक्षो से उत्पन्न अध्यारूह, वृक्षयोनिक अध्यारूहो मे उत्पन्न अध्यारूह, अध्यारूहयोनिको मे उत्पन्न अध्यारूह, अध्यारूहयोनिक अध्यारूहों मे उत्पन्न मूल से लेकर बीज तक अवयव, अनेकविध पृथ्वीयोनिक तृण, पृथ्वीयोनिक तृणो मे उत्पन्न, तृण, तृणयोनिक तृणो मे उत्पन्न तृण, तृणयोनिक तृणो के मूल से लेकर बीज तक अवयव, तथा औषधि हरित, अनेकविध पृथ्वी मे उत्पन्न आर्य, वाय से लेकर कूट तक की वनस्पति, उदकयोनिक वृक्ष, (अध्यारूह, तृण औषधि तथा हरित आदि), अनेकविधउदकयोनि मे उत्पन्न उदक से लेकर पुष्कराक्षिभग तक की वनस्पति आदि।

बीजकायिक जीव चार प्रकार के होते हैं—अग्रबीज (जिसके अग्रभाग मे बीज हो, जैसे—तिल, ताल, आम, गेहूँ, चावल आदि), मूलबीज, (जो मूल से उत्पन्न होते है, जैसे—अदरक आदि), पर्वबीज (जो पर्व से उत्पन्न होते हैं, जैसे—ईख आदि) और स्कन्धबीज (जो स्कन्ध से उत्पन्न होते है, जैसे सल्लकी आदि)।

उत्पत्ति के कारण—पूर्वोक्त विविध प्रकार की वनस्पतियो की योनि (मुख्य उत्पत्तिस्थान) भिन्न-भिन्न हैं। पृथ्वी, वृक्ष, जल बीज आदि मे से जिस वनस्पति की जो योनि है, वह वनस्पति उसी योनि से उत्पन्न कहलाती है। वृक्षादि जिस वनस्पति के लिए जो प्रदेश उपयुक्त होता है, उसी प्रदेश मे वह (वृक्षादि वनस्पति) उत्पन्न होती है, अन्यत्र नही, तथा जिसकी उत्पत्ति के लिए जो काल, भूमि जल, आकाशप्रदेश और बीज आदि अपेक्षित है, उनमे से एक के भी न होने पर वह उत्पन्न नही होना। तात्पर्य यह है कि वनस्पतिकायिक विविध प्रकार के जीवो को उत्पत्ति के लिए भिन्न-भिन्न काल, भूमि, जल, बीज आदि तो बाह्य निमित्त कारण हैं ही, साथ ही अन्तरग कारण कर्म भी एक अनिवार्य कारण है। कर्म से प्रेरित होकर ही विविध वनस्पतिकायिक जीव नानाविध योनियो मे उत्पन्न होता है। कभी यह पृथ्वी से वृक्ष के रूप मे उत्पन्न होती है, कभी पृथ्वी से उत्पन्न हुए वृक्ष से वृक्ष के रूप मे उत्पन्न होती है, कभी वृक्षयोनिक वृक्ष के रूप मे उत्पन्न होती है और कभी वृक्षयोनिक वृक्षो से मूल कन्दफल, मूल, त्वचा, पत्र, बीज, शाखा, बेल, स्कन्ध आदि रूप मे उत्पन्न होती है। इसी तरह कभी वृक्षयोनिक वृक्ष से अध्यारूह आदि चार रूपो में उत्पन्न होती है। कभी नानायोनिक पृथ्वी से तृणादि चार रूपो मे, कभी औषधि आदि चार रूपों मे, तथा कभी हरित आदि चार रूपो मे उत्पन्न होती है। कभी वह विविधयोनिक पृथ्वी से सीधे आर्य, वाय से लेकर कूट तक की वनस्पति के रूप मे उत्पन्न होती है। कभी वह उदकयोनिक उदक में वृक्ष आदि चार रूपो मे उत्पन्न होती है, कभी उदक से सीधे ही उदक, अवक से लेकर पुष्कराक्षिभग नाम के वनस्पति के रूप मे उत्पन्न होती है। यद्यपि पहले जिन के चार-चार आलापक बताए गए थे, उनके अन्तिम उपसहारात्मक सूत्र (७३१) मे तीन-तीन आलापक बताए गए है। इसका तत्त्व केवलिगम्य है।

अध्यारूह—वृक्ष आदि के ऊपर एक के बाद एक चढकर जो उग जाते है[1] उन्हे अध्यारूह

---

१ (क) सूत्रकृ शी वृत्ति, पत्राक ३४९ से ३५२ तक का निष्कर्ष

(ख) 'रुक्खजोणिएसु रुक्खेसु अज्झारुहत्ताए' —'रुहं जन्मनि,' अहिय आरुहंति त्ति अज्झारोहा। रुक्खस्स उवरिं अन्नो रुक्खो।'—चूर्णि। वृक्षेषु उपर्युपरि अध्यारोहन्तीति अध्यारुहा, वृक्षोपरिजातावृक्षा इत्यभिधीयन्ते।—शी. वृत्ति

कहते है। इन अध्यारूहो की उत्पत्ति वृक्ष, तृण, औषधि एव हरित आदि के रूप मे यहाँ बताई गई है।

स्थिति, संवृद्धि, एवं आहार की प्रक्रिया—प्रस्तुत सूत्रो मे पूर्वोक्त विविध वनस्पतियो की उत्पत्ति एव सवृद्धि का वर्णन किया गया है, उसका प्रधान प्रयोजन है—इनमे जीव (आत्मा) का अस्तित्व सिद्ध करना। यद्यपि बौद्ध दर्शन मे इन स्थावरो को जीव नही माना जाता, तथापि जीव का जो लक्षण है—उपयोग, वह इन वृक्षादि मे भी परिलक्षित होता है। यह प्रत्यक्ष प्रतीत होता है कि जिधर आश्रय मिलता है, उसी ओर लता जाती है। तथा विशिष्ट अनुरूप आहार मिलने पर वनस्पति की वृद्धि और न मिलने पर कृशता-म्लानता आदि देखी जाती है। इन सब कार्यकलापो को देखते हुए वनस्पति मे जीवत्व सिद्ध होता है। चू कि आहार के बिना किसी जीव की स्थिति एव सवृद्धि (विकास) हो नही सकते। इसलिए आहार की विविध प्रक्रिया भी बताई है। जो वनस्पतिकायिक जीव जिस पृथ्वी आदि की योनि मे उत्पन्न होता है वह उसी मे स्थित रहता है, और उसी से सवर्धन पाता है। मुख्यतया वह उसी के स्नेह (स्निग्धरस) का आहार करता है। इसके अतिरिक्त वह पृथ्वी, जल, तेज, वायु एव वनस्पतिकाय के शरीर का आहार करता है। पूर्वोक्त वनस्पतिकायिक जीव जब अपने से ससृष्ट या सन्निकट किसी त्रस या स्थावर जीवो का आहार करते हैं, तब वे पूर्वभुक्त त्रस या स्थावर के शरीर को उसका रस चूसकर परिविध्वस्त (अचित्त) कर डालते हैं।[1] तत्पश्चात् त्वचा द्वारा भुक्त पृथ्वी आदि या त्रस शरीर को वे अपने रूप मे परिणत कर लेते हैं। यही समस्त वनस्पतिकायिक जीवो के आहार की प्रक्रिया है। साथ ही यह भी जान लेना चाहिए कि जो वनस्पति जिस प्रकार के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श वाले जल, भूमि आदि का आहार लेती है, उसी के अनुसार उसका वर्णादि बनता है, या आकार-प्रकार आदि बनता है। जैसे आम एक ही प्रकार की वनस्पति होते हुए भी विभिन्न प्रदेश की मिट्टी, जल, वायु एव बीज आदि के कारण विभिन्न प्रकार के वर्णादि से युक्त, विविध आकार-प्रकार से विशिष्ट नाना शरीरो को धारण करता है। इसी प्रकार अन्य वनस्पतियो के सम्बन्ध मे भी समझ लेना चाहिए।

स्नेह—प्रस्तुत प्रकरण मे स्नेह शब्द का अर्थ शरीर का सार, या स्निग्धतत्व। जिसे अमुक-अमुक वनस्पतिकायिक जीव पी लेता है, या ग्रहण कर लेता है।[2]

नानाविध मनुष्यों की उत्पत्ति, स्थिति, संवृद्धि एवं आहार की प्रक्रिया

७३२. **अहावरं पुरक्खायं—णाणाविहाणं मणुस्साणं, तंजहा—कम्मभूमगाणं अकम्मभूमगाणं अंतरदीवगाणं आरियाणं मिलक्खूणं, तेसिं च णं अहाबीएणं अहावकासेणं इत्थीए पुरिसस्स य कम्मकडाए जोणीए एत्थ णं मेहुणवत्तिए नामं संयोगे समुप्पज्जति, ते दुहतो वि सिणेहं[3] संचिणंति,**

---

१ इस प्रकार अनेक वृक्ष व वनस्पतिया पाई जाती है जो मनुष्य व अन्य त्रस प्राणियो को अपने निकट आने पर खीच कर उनका आहार कर लेते हैं।

२ 'सिणेहो णाम सरीरसारो, त आपिबति'—चूर्णि स्नेह स्निग्धभावमाददते।—शी वृत्ति सूत्र. मू. पा. टिप्पण, पृ १९५

३. 'ते दुहतो वि सिणेह'—सिणेहो नामा अन्योऽन्यगात्र सस्पर्श। यदा पुरुषस्नेह शुक्रान्त नार्योदरमनुप्रविश्य नार्योजसा सह सयुज्यते तदा सो सिणेहो क्षीरोदकवत् अण्णमण्ण 'संचिणति' गृह्णातीत्यर्थ।' अर्थात्—स्नेह का अर्थ पुरुष और स्त्री के परस्पर गात्रसस्पर्श से जनित पदार्थ। जब पुरुष का स्नेह—शुक्र नारी के उदर मे प्रविष्ट होकर नारी के ओज (रज) के साथ मिलता है, तब वह स्नेह दूध और पानी की तरह परस्पर एकरस हो जाता है, उसी स्नेह को गर्भस्थ जीव सर्वप्रथम ग्रहण करता है। सूत्र कृ. चू (मू पा. टि.) पृ. २०२

संचिणित्ता तत्थ णं जीवा इत्थित्ताए पुरिसत्ताए णपुंसगत्ताए विउट्टंति, ते जीवा मातुओयं पितुसुक्कं तं तदुभयं संसट्ठं कलुसं किब्बिसं तप्पढमयाए आहारमाहारेंति, ततो पच्छा जं से माता णाणाविहाओ रसविगईओ[1] आहारमाहारेति ततो एगदेसेणं ओयमाहारेंति, अणुपुव्वेणं वुड्ढा पलिपागमणुचिन्ना ततो कायातो अभिनिव्वट्टमाणा इत्थि वेगता जणयंति पुरिसं वेगता जणयंति णपुंसगं वेगता जणयंति ते जीवा डहरा समाणा मातुं खीरं सप्पि आहारेंति, अणुपुव्वेणं वुड्ढा ओयणं कुम्मासं तस-थावरे य पाणे, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव सारूविकडं संतं, अवरे वि य णं तेसिं णाणाविहाणं मणुस्साणं अंतरदीवगाणं आरियाणं मिलक्खूणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं।

७३२ इसके पश्चात् श्रीतीर्थंकरदेव ने अनेक प्रकार के मनुष्यो का स्वरूप बतलाया है। जैसे कि—कई मनुष्य कर्मभूमि मे उत्पन्न होते है, कई अकर्मभूमि मे और कई अन्तर्द्वीपो (५६ अन्तर्द्वीपो) मे उत्पन्न होते है। कोई आर्य हैं, कोई म्लेच्छ (अनार्य)। उन जीवो की उत्पत्ति अपने अपने बीज और अपने-अपने अवकाश के अनुसार होती है। इस उत्पत्ति के कारणरूप पूर्वकर्मनिर्मित योनि मे स्त्री पुरुष का मैथुनहेतुक सयोग उत्पन्न होता है। (उस सयोग के होने पर) उत्पन्न होने वाले वे जीव तैजस् और कार्मण शरीर द्वारा) दोनो के स्नेह का आहार (ग्रहण) करते हैं, तत्पश्चात् वे जीव वहाँ स्त्रीरूप मे, पुरुषरूप मे और नपुसकरूप मे उत्पन्न होते हैं। सर्वप्रथम (वहाँ) वे जीव माता के रज (शोणित) और पिता के वीर्य (शुक्र) का, जो परस्पर मिले हुए (ससृष्ट) कलुष (मलिन) और घृणित होते है, ओज-आहार करते हैं। उसके पश्चात् माता, जिन अनेक प्रकार की सरस वस्तुओं का आहार करती है, वे जीव उसके एकदेश (अश) का ओज आहार करते हैं। क्रमश. (गर्भ की) वृद्धि एव परिपाक को प्राप्त वे जीव माता के शरीर से निकलते हुए कोई स्त्रीरूप मे, कोई पुरुषरूप मे और कोई नपुसकरूप मे उत्पन्न होते हैं। वे जीव बालक होकर माता के दूध और घी का आहार करते हैं। क्रमश बड़े हो कर वे जीव चावल, कुल्माष (उड़द या थोड़ा भीजा हुआ मूग) एव त्रस-स्थावर प्राणियो का आहार करते हैं। इसके अतिरिक्त वे जीव पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति के शरीर का आहार करते है। फिर वे उनके शरीर को अचित करके उन्हे अपने रूप मे परिणत कर लेते हैं। उन कर्मभूमिज, अकर्मभूमिज, अन्तर्द्वीपज, आर्य और म्लेच्छ आदि अनेकविध मनुष्यो के शरीर नानावर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श एव सस्थान वाले नाना पुद्गलो से रचित होते हैं। ऐसा तीर्थंकरदेव ने कहा है।

विवेचन—मनुष्यो की उत्पत्ति, स्थिति, संवृद्धि एवं आहार की प्रक्रिया—प्रस्तुत सूत्र मे अनेक प्रकार के मनुष्यो की उत्पत्ति, आदि की प्रक्रिया का निरूपण किया गया है।

नारक और देव से पहले मनुष्यों के आहारादि का वर्णन क्यों?—त्रस जीवो के ४ भेद है—नारक, देव, तिर्यञ्च और मनुष्य। इन चारो मे मनुष्य सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। इसके अतिरिक्त

---

१ **रसविगईओ**—'रसविगई खीखीरादिआओ णव विगइओ।' अर्थात् माता के दूध आदि ९ विगई (विकृतियाँ) कहलाती हैं। भगवती सूत्र (१/७/६१) मे कहा है—'**जंसे माया णाणाविहाओ रसविगइओ आहार माहारेइ**'—वह माता नाना प्रकार की रसविकृतियाँ आहार के रूप मे ग्रहण करती हैं।

—सूत्र कृ चू (मू पा टि) पृ २०२

देव और नारक अल्पज्ञो द्वारा प्रत्यक्ष नही दिखाई देते, अनुमान—आगम से जाने जाते हैं, इस कारण देव एव नारक को छोड कर यहाँ सर्वप्रथम मनुष्य के आहारादि का वर्णन किया गया है।

देव और नारकों का आहार—नारक जीव अपने पापकर्मों का फल भोगने वाले जीव है, जबकि देव प्राय अपने शुभकर्मों का फल भोगने वाले जीव हैं। नारकजीवो का आहार एकान्त अशुभपुद्‌गलो का होता है, जबकि देवो का आहार शुभपुद्‌गलो का होता है। देव और नारक दोनो ही ओज आहार को ग्रहण करते है, कवलाहार नही करते। ओज-आहार दो प्रकार का होता है—पहला अनाभोगकृत, जो प्रतिसमय होता रहता है, दूसरा आभोगकृत जो जघन्य चतुर्थभक्त से लेकर उत्कृष्ट ३३ हजार वर्ष मे होता है।

मनुष्य की उत्पत्ति की प्रक्रिया—जब स्त्री और पुरुष का सुरतसुखेच्छा से सयोग होता है, तब जीव अपने कर्मानुसार स्त्री के गर्भ मे उत्पन्न होता है। वह सयोग उस जीव की उत्पत्ति का कारण उसी तरह होता है, जिस तरह दो अरणि की लकडियो का सयोग (घर्षण) अग्नि की उत्पत्ति का कारण होता है। उत्पन्न होने वाला जीव कर्मप्रेरित होकर तेजस-कार्मणशरीर के द्वारा पुरुष के शुक्र और स्त्री के शोणित (रज) के आश्रय से उत्पन्न होता है।

स्त्री, पुरुष एवं नपुंसक की उत्पत्ति का रहस्य—शास्त्रकार ने इसके रहस्य के लिए दो मुख्य कारण बताए हैं—यथाबीज एव यथावकाश। इसका आशय बताते हुए वृत्तिकार कहते है—बीज कहते हैं—पुरुष के वीर्य और स्त्री के रज को। सामान्यतया स्त्री, पुरुष या नपु सक की उत्पत्ति भिन्न-भिन्न बीज के अनुसार होती है। स्त्री का रज और पुरुष का वीर्य दोनो अविध्वस्त हो, यानी सतानोत्पत्ति की योग्यता वाले हो—दोषरहित हो, और रज की अपेक्षा वीर्य की मात्रा अधिक हो तो पुरुष की, रज की मात्रा अधिक और वीर्य की मात्रा कम हो तो स्त्री की, एव दोनो समान मात्रा मे हो तो नपु सक की उत्पत्ति होती है।

५५ वर्ष से कम उम्र की स्त्री एव ७० वर्ष से कम उम्र के पुरुष की अविध्वस्तयोनि सतानोत्पत्ति का कारण मानी जाती है। इसके अतिरिक्त शुक्र-शोणित भी १२ मुहूर्त तक ही सतानोत्पत्ति की शक्ति रखते है, तत्पश्चात् वे शक्तिहीन एव विध्वस्तयोनि हो जाते हैं।

इस भिन्नता का दूसरा कारण बताया है—'**यथावकाश**' अर्थात्—माता के उदर, कुक्षि आदि के अवकाश के अनुसार स्त्री, पुरुष या नपु सक होता है। सामान्यतया माता की दक्षिण कुक्षि से पुरुष की एव वामकुक्षि से स्त्री की तथा दोनो ही कुक्षि से नपु सक की उत्पत्ति होती है।

उसके अतिरिक्त स्त्री, पुरुष या नपु सक होने का सबसे प्रधान कारण प्राणी का स्वकृत कर्म है। ऐसा सिद्धान्त नही है कि स्त्री मरकर अगले जन्म मे स्त्री ही हो, पुरुष मर कर पुरुष ही हो। यह सब कर्माधीन है। कर्मानुसार ही वैसे बीज और वैसे अवकाश का सयोग मिलता है।[1]

स्थिति, वृद्धि एवं आहार की प्रक्रिया—स्त्री की कुक्षि मे प्रविष्ट होकर वह प्राणी स्त्री द्वारा आहार किये हुए पदार्थों के स्नेह का आहार करता है। उस स्नेह के रूप मे प्राप्त माता के आहाराश का आहार करता हुआ, वह बढ़ता है। माता के गर्भ (उदर) से निकल कर वह बालक पूर्वजन्म के अभ्यासवश आहार लेने की इच्छा से माता का स्तनपान करता है उसके पश्चात् वह

१ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति, पत्राक ३५३-३५४ का साराश।

कुछ और बड़ा होने पर स्तनपान छोड कर दूध, दही, घृत, चावल, रोटी आदि पदार्थों का आहार करता है। इसके बाद अपने आहार के योग्य त्रस या स्थावर प्राणियो का आहार करता है। भुक्त-पदार्थों को वह पचाकर अपने रूप मे मिला लेता है। मनुष्यो के शरीर मे जो रस, रक्त, मास, मेद (चर्बी), हड्डी, मज्जा और शुक्र मे सात धातु पाए जाते हैं, वे भी उनके द्वारा किये गए आहारो से उत्पन्न होते हैं, जिनसे मनुष्यो के नाना प्रकार के शरीर बनते हैं।

पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों की उत्पत्ति, स्थिति, संवृद्धि एवं आहार की प्रक्रिया—

७३३. अहावरं पुरक्खायं—णाणाविहाणं जलचरपंचिदियतिरिक्खजोणियाणं, तंजहा—मच्छाणं[1] जाव सुंसुमाराणं, तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थीए पुरिसस्स य कम्म० तहेव जाव ततो एगदेसेणं ओयमाहारेंति अणुपुव्वेणं वुड्ढा पलिपागमणुचिण्णा ततो कायातो अभिनिव्वट्टमाणा अंडं वेगता जणयंति, पोयं वेगता जणयंति, से अंडे उब्भिज्जमाणे इत्थि वेगया जणयंति पुरिसं वेगया जणयंति नपुंसगं वेगया जणयंति, ते जीवा डहरा समाणा आउसिणेहमाहारेंति अणुपुव्वेणं वुड्ढा वणस्सतिकायं तस थावरे य पाणे, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरे वि य णं तेसिं णाणाविहाणं जलचरपंचिदियतिरिक्खजोणियाण मच्छाणं जाव सुंसुमाराणं सरीरा नाणावण्णा जाव मक्खायं।

७३३ इसके पश्चात् तीर्थंकरदेव ने अनेक प्रकार के पचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक जलचरो का वर्णन इस प्रकार किया है, जैसे कि—मत्स्यो से लेकर सुसुमार तक के जीव पचेन्द्रियजलचर तिर्यञ्च हैं। वे जीव अपने-अपने बीज और अवकाश के अनुसार स्त्री और पुरुष का सयोग होने पर स्व-स्वकर्मानुसार पूर्वोक्त प्रकार के गर्भ मे उत्पन्न (प्रविष्ट) होते हैं। फिर वे जीव गर्भ मे माता के आहार के एकदेश को (आशिक रूप से) ओज-आहार के रूप मे ग्रहण करते हैं। इस प्रकार वे क्रमश वृद्धि को प्राप्त हो कर गर्भ के परिपक्व होने (गर्भावस्था पूर्ण होने) पर माता की काया से बाहर निकल (पृथक् हो) कर कोई अण्डे के रूप मे होते हैं, तो कोई पोत के रूप मे होते हैं। जब वह अडा फूट जाता है तो कोई स्त्री (मादा) के रूप मे, कोई पुरुष (नर) के रूप मे और कोई नपुसक के रूप मे उत्पन्न होते हैं। वे जलचर जीव बाल्यावस्था मे आने पर जल के स्नेह (रस) का आहार करते हैं। तत्पश्चात् क्रमश बडे होने पर वनस्पतिकाय तथा त्रस-स्थावर प्राणियो का आहार करते हैं। (इसके अतिरिक्त) वे जीव पृथ्वी आदि के शरीरो का भी आहार करते हैं, एव उन्हे पचा कर क्रमश अपने रूप मे परिणत कर लेते हैं। उन मछली, मगरमच्छ, कच्छप, ग्राह और घडियाल आदि सुसुमार तक के जलचर पचेन्द्रियतिर्यञ्च जीवो के दूसरे भी नाना वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाले, नाना आकृति एव अवयव रचना वाले तथा नाना पुद्गलो से रचित अनेक शरीर होते है, यह श्री तीर्थंकरदेव ने कहा है।

७३४. अहावरं पुरक्खायं—नाणाविहाणं चउप्पयथलचरपंचिदियतिरिक्खजोणियाणं, तंजहा—एगखुराणं दुखुराण गंडीपदाणं सणप्फयाणं, तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थीए पुरिसस्स य

---

१. तुलना—"जलचर पंचिदिय तिरिक्ख जोणिया —मच्छा, कच्छा— सुसुमारा।"—प्रज्ञापनासूत्र, पद १

कम्म० जाव मेहुणवत्तिए नामं संजोगे समुप्पज्जति, ते दुहतो सिणेहं [संचिणंति, संचिणित्ता] तत्थ णं जीवा इत्थित्ताए पुरिसत्ताए जाव विउट्टंति, ते जीवा माउं ओयं पिउं सुक्कं एवं जहा मणुस्साणं जाव इत्थि वेगता जणयंति पुरिसं पि नपुंसगं पि, ते जीवा डहरा समाणा माउं खीरं सप्पिं आहारेंति अणुपुव्वेणं वुड्ढा वणस्सतिकायं तसथावरे य पाणे, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरे वि य णं तेसिं णाणाविहाणं चउप्पयथलचरपंचिदियतिरिक्खजोणियाणं एगखुराणं जाव सणप्फयाणं सरीरा नाणावण्णा जावमक्खायं।

७३४ इसके पश्चात् श्री तीर्थंकरदेव ने अनेकजाति वाले स्थलचर चतुष्पद (चौपाये) तिर्यञ्चपचेन्द्रिय के सम्बन्ध मे बताया है, जैसे कि—कई स्थलचर चौपाये पशु एक खुर वाले, कई दो खुर वाले, कई गण्डीपद (हाथी आदि) और कई (सिंह आदि) नखयुक्त पद वाले होते हैं। वे जीव अपने-अपने बीज और अवकाश के अनुसार उत्पन्न होते हैं। स्त्री-पुरुष (मादा और नर) का कर्मानुसार परस्पर सुरत-सयोग होने पर वे जीव चतुष्पद स्थलचरजाति के गर्भ मे आते हैं। वे माता और पिता दोनो के स्नेह का पहले आहार करते है। उस गर्भ मे वे जीव स्त्री, पुरुष या नपुसक के रूप मे होते हैं। वे जीव (गर्भ मे) माता के ओज (रज) और पिता के शुक्र का आहार करते हैं। शेष सब बाते पूर्ववत् मनुष्य के समान समझ लेनी चाहिए। इनमे कोई स्त्री (मादा) के रूप मे, कोई नर के रूप मे और कोई नपुसक के रूप मे उत्पन्न होते है। वे जीव बाल्यावस्था मे माता के दूध और घृत का आहार करते है। क्रमश बडे होकर वे वनस्पतिकाय का तथा दूसरे त्रस-स्थावर प्राणियो का आहार करते हैं। इसके अतिरिक्त वे प्राणी पृथ्वी आदि के शरीर का भी आहार करते है। फिर वे आहार किये हुए पदार्थों को पचा कर अपने शरीर के रूप मे परिणत कर लेते है। उन अनेकविध जाति वाले स्थलचर पचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिक चतुष्पद जीवो के विविध वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, आकार एव रचना वाले दूसरे अनेक शरीर भी होते है, यह श्री तीर्थंकरप्रभु ने कहा है।

७३५. अहावरं पुरक्खाय—नाणाविहाणं उरपरिसप्पथलचरपंचिदियतिरिक्खजोणियाण, तंजहा—अहीणं अयगराणं आसालियाणं, महोरगाणं, तेसिं च णं अहाबीएणं, अहावगासेण इत्थीए पुरिस० जाव एत्थ ण मेहुण० एत चेव, नाणत्तं अंडं वेगता जणयंति, पोय वेगता जणयंति, से अंडे उब्भिज्जमाणे इत्थि वेगता जणयंति पुरिसं पि नपुंसगं पि, ते जीवा डहरा समाणा वाउकायमाहारेंति अणुपुव्वेण वुड्ढा वणस्सतिकाय तस-थावरे य पाणे, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीर जाव संतं, अवरेवि य ण तेसिं णाणाविहाण उरपरिसप्पथलचरतिरिक्खपंचिदिय० अहीण जाव महोरगाणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खातं।

७३५ इसके पश्चात् श्री तीर्थंकरदेव ने अनेक प्रकार की जाति वाले उरपरिसर्प (छाती के बल सरक कर चलने वाले), स्थलचर, पचेन्द्रिय, तिर्यञ्चयोनिक जीवो का वर्णन किया है। जैसे कि सर्प, अजगर, आशालिक (सर्पविशेष) और महोरग (बडे साप) आदि उर परिसर्प स्थलचर पचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिक जीव है। वे जीव अपने-अपने उत्पत्तियोग्य बीज और अवकाश के द्वारा ही उत्पन्न होते है। इन प्राणियो मे भी स्त्री और पुरुष का परस्पर मैथुन नामक संयोग होता है, उस सयोग के होने पर कर्मप्रेरित प्राणी अपने-अपने कर्मानुसार अपनी-अपनी नियत योनि में उत्पन्न होते हैं। शेष बाते पूर्ववत् समझ लेनी चाहिए। उनमे से कई अडा देते हैं, कई बच्चा (पोत द्वारा) उत्पन्न

करते हैं। उस अण्डे के फूट जाने पर उसमे से कभी स्त्री (मादा) होती है, कभी नर पैदा होता है, और कभी नपुंसक होता है। वे जीव बाल्यावस्था मे वायुकाय (हवा) का आहार करते हैं। क्रमशः बड़े होने पर वे वनस्पतिकाय तथा अन्य त्रस-स्थावर प्राणियो का आहार करते हैं। इसके अतिरिक्त वे जीव पृथ्वी के शरीर से लेकर वनस्पति के शरीर का भी आहार करते हैं, फिर उन्हे पचाकर अपने शरीर के रूप में परिणत कर लेते हैं। उन (पूर्वोक्त) उरःपरिसर्प स्थलचर पचेन्द्रिय तिर्यञ्चो के अनेक वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, आकृति एव सस्थान (रचना) वाले अन्य अनेक शरीर भी होते हैं, ऐसा श्रीतीर्थंकरप्रभु ने कहा है।

७३६ अहावरं पुरक्खायं—नाणाविहाणं भुयपरिसप्पथलचरपंचिदियतिरिक्खजोणियाणं, तंजहा—[1] 'गोहाणं नउलाणं सेहाणं सरडाणं सल्लाण संरथाणं खोराणं घरकोइलियाणं विस्संभराणं मूसगाणं मंगुसाण पयलाइयाणं विरालियाणं जोहाणं चाउप्पाइयाणं, तेसिं च णं अहाबीएण अहावगासेणं इत्थीए पुरिसस्स य जहा उरपरिसप्पाणं तहा भाणियव्वं जाव सारूविकडं संतं, अवरे वि य णं तेसिं नाणाविहाणं भुयपरिसप्पपंचिदियथलयरतिरिक्खाण तं गोहाणं जाव मक्खातं।

७३६. इसके पश्चात् भुजा के सहारे से पृथ्वी पर चलने वाले (भुजपरिसर्प) अनेक प्रकार के स्थलचर पचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिक जीवो के विषय मे श्री तीर्थंकर भगवान् ने कहा है। जैसे कि—गोह, नेवला, सेह, सरट, सल्लक, सरथ, खोर, गृहकोकिला (घरोली-छिपकली), विषम्भरा, मूषक (चूहा), मगुस, पदलातिक, विडालिक, जोध और चातुष्पद आदि भुजपरिसर्प हैं। उन जीवो की उत्पत्ति भी अपने-अपने बीज और अवकाश के अनुसार होती है। उरःपरिसर्पजीवो के समान ये जीव भी स्त्री पुरुष-सयोग से उत्पन्न होते हैं। शेष सब बाते पूर्ववत् जान लेनी चाहिए। ये जीव भी अपने किये हुए आहार को पचाकर अपने शरीर मे परिणत कर लेते हैं। गोह से लेकर चातुष्पद तक (पूर्वोक्त) उन अनेक जाति वाले भुजपरिसर्प स्थलचर तिर्यञ्चपचेन्द्रिय जीवो के नाना वर्णादि को लेकर अनेक शरीर होते हैं, ऐसा श्रीतीर्थंकरदेव ने कहा है।

७३७—अहावर पुरक्खातं—णाणाविहाणं खहचरपंचिदियतिरिक्खजोणियाणं, तजहा—चम्मपक्खीणं लोमपक्खीण समुग्गपक्खीण विततपक्खीणं, तेसिं च णं अहाबीएण अहावगासेणं इत्थीए जहा उरपरिसप्पाणं, नाणत्तं ते जीवा डहरगा समाणा माउं-गात्तसिणेहं[2] आहारेंति अणुपुव्वेणं वुड्ढा वणस्सतिकायं तस-थावरे य पाणे, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरे वि य णं तेसिं नाणाविहाणं खहचरपंचिदियतिरिक्खजोणियाणं चम्मपक्खीण जाव मक्खातं।

७३७ इसके पश्चात् श्रीतीर्थंकरदेव ने अनेक प्रकार की जाति वाले आकाशचारी (खेचर)

---

१. तुलना—भुजपरिसप्पा अणेगविहा नउला सेहा जाहा चउप्पाइया ।"—प्रज्ञापनासूत्र पद १

२ "माउगात्तसिणेहं"—'सीपक्खिणी अडगाणि काएण पेल्लिऊण अच्छति। एव गातुम्हाए फुसति, सरीर च निव्वत्तेति।" अर्थात्—वह पक्षिणी (मादा पक्षी) अण्डो पर अपने पखो को फैला कर बैठती है और अपने शरीर की उष्मा (गर्मी) के स्पर्श से आहार देकर बच्चे (अण्डे) को सेती है, जिससे वह क्रमश बढता है—परिपक्व होता है। —सूत्र कृ चूर्णि (मू पा. टि) २०५

पचेन्द्रिय तिर्यञ्चो के विषय मे कहा है। जैसे कि—चर्मपक्षी, लोमपक्षी, समुद्‌गपक्षी तथा विततपक्षी आदि खेचर तिर्यञ्च पचेन्द्रिय होते हैं। उन प्राणियो की उत्पत्ति भी उत्पत्ति के योग्य बीज और अवकाश के अनुसार होती है और स्त्री-पुरुष (मादा और नर) के सयोग से इनकी उत्पत्ति होती है। शेष बाते उर.परिसर्प जाति के पाठ के अनुसार जान लेनी चाहिए। वे प्राणी गर्भ से निकल कर बाल्यावस्था प्राप्त होने पर माता के शरीर के स्नेह का आहार करते है। फिर क्रमश· बडे होकर वनस्पतिकाय तथा त्रस-स्थावर प्राणियो का आहार करते हैं। इसके अतिरिक्त वे जीव पृथ्वी आदि के शरीरो का भी आहार करते है और उन्हे पचाकर अपने शरीर रूप मे परिणत कर लेते हैं। इन अनेक प्रकार की जाति वाले चर्मपक्षी आदि आकाशचारी पचेन्द्रिय तिर्यञ्च जीवो के और भी अनेक प्रकार के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, आकार एव अवयवरचना वाले शरीर होते हैं, यह श्रीतीर्थंकर देव ने कहा है।

विवेचन—पंचेन्द्रियतिर्यंचों की उत्पत्ति, स्थिति, संवृद्धि एवं आहार की प्रक्रिया—प्रस्तुत पाच सूत्रो मे पाच प्रकार के तिर्यञ्चपचेन्द्रिय जीवो की उत्पत्ति, स्थिति, सवृद्धि एव आहारादि की प्रक्रिया का निरूपण किया गया है। पचेन्द्रियतिर्यञ्च के ५ प्रकार ये है—जलचर, स्थलचर, उर परिसर्प, भुजपरिसर्प और खेचर। इन पाचो के प्रत्येक के कतिपय नाम भी शास्त्रकार ने बताए हैं। शेष सारी प्रक्रिया प्राय मनुष्यो की उत्पत्ति आदि की प्रक्रिया के समान है। अन्तर इतना ही है कि प्रत्येक की उत्पत्ति अपने-अपने बीज और अवकाश के अनुसार होती है, तथा प्रथम आहार-ग्रहण मे अन्तर है—

(१) जलचर जीव सर्वप्रथम जन्म लेते ही अप्काय का स्नेह का आहार करते हैं।
(२) स्थलचर जीव सर्वप्रथम माता-पिता के स्नेह का (ओज) आहार करते है।
(३) उर परिसर्प जीव सर्वप्रथम वायुकाय का आहार करते हैं।
(४) भुजपरिसर्प जीव उर परिसर्प के समान वायुकाय का आहार करते है।
(५) खेचर जीव माता के शरीर की गर्मी (स्निग्धता) का आहार करते हैं।

शेष सब प्रक्रिया प्राय मनुष्यो के समान है।[1]

स्थलचर—एक खुरवाले घोडे गधे आदि, दो खुर वाले—गाय, भैस आदि, गडीपद (फलकवत् पैर वाले) हाथी गैडा आदि, नखयुक्त पजे वाले—सिंह बाघ आदि होते हैं।

खेचर—चर्मपक्षी-चमचेड, वल्गूली आदि, रोमपक्षी-हस, सारस, बगुला आदि, विततपक्षी और समुद्र पक्षी-ढाई द्वीप से बाहर पाये जाते हैं।[2]

विकलेन्द्रिय त्रसप्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति, संवृद्धि और आहार की प्रक्रिया

७३८. अहावरं पुरक्खातं—इहेगतिया सत्ता नाणाविहजोणिया नाणाविहसंभवा नाणाविहवक्कमा तज्जोणिया तस्संभवा तव्वक्कमा कम्मोवगा कम्मनिदाणेणं तत्थवक्कमा नाणाविहाण तस-थावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा अणुसूयत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं नाणाविहाणं

---

१ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्रांक ३५५-३५६ का साराश

२ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ३५५

तसथावराणं पाणाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरे वि त णं तेसिं तस-थावरजोणियाणं अणुसूयाणं सरीरा नानावण्णा जावमक्खातं ।

एवं दुरूवसंभवत्ताए ।[1] एवं खुरुदुगत्ताए[2] । अहावरं पुरक्खायं—इहेगइया सत्ता नाणाविह० जाव कम्म० खुरुदुगत्ताए वक्कमंति ।

७३८. इसके पश्चात् श्री तीर्थंकर देव ने (अन्य जीवो की उत्पत्ति और आहार के सम्बन्ध मे) निरूपण किया है । इस जगत् मे कई प्राणी नाना प्रकार की योनियो मे उत्पन्न होते हैं । वे अनेक प्रकार की योनियो मे स्थित रहते हैं, तथा विविध योनियो मे आकर सवर्द्धन पाते हैं । नाना प्रकार की योनियो मे उत्पन्न, स्थित और सवर्द्धित वे जीव अपने पूर्वकृत कर्मानुसार उन कर्मों के ही प्रभाव से विविध योनियो मे आकर (विकलेन्द्रिय त्रस के रूप मे) उत्पन्न होते हैं । वे प्राणी अनेक प्रकार के त्रस स्थावर-पुद्गलो के सचित्त या अचित्त शरीरो मे उनके आश्रित होकर रहते हैं । वे जीव अनेकविध त्रस-स्थावर प्राणियो के स्नेह का आहार करते हैं । इसके अतिरिक्त वे जीव पृथ्वी से लेकर वनस्पति तक के शरीरो का भी आहार करते है । उन त्रस-स्थावर योनियो से उत्पन्न, और उन्ही के आश्रित रहने वाले प्राणियो के विभिन्न वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाले, विविध सस्थान (आकार तथा रचना) वाले और भी अनेक प्रकार के शरीर होते है, यह श्री तीर्थंकरदेव ने कहा है ।

इसी प्रकार विष्ठा और मूत्र आदि मे कुरूप विकलेन्द्रिय प्राणी उत्पन्न होते हैं और गाय भैस आदि के शरीर मे चर्मकीट उत्पन्न होते हैं ।

विवेचन—विकलेन्द्रिय त्रस प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति, संवृद्धि और आहार की प्रक्रिया—प्रस्तुत सूत्र मे विकलेन्द्रिय प्राणियो की स्थिति आदि के सम्बन्ध मे निरूपण किया गया है ।

विकलेन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति के स्रोत—मनुष्यो एव तिर्यञ्च पचेन्द्रियो के सचित्त शरीर मे पसीने आदि मे जू , लीख, चीचड (चर्मकील) आदि सचित्त शरीर सस्पर्श से खटमल आदि पैदा होते है, तथा मनुष्य के एव विकलेन्द्रिय प्राणियो के अचित्त शरीर (कलेवर) मे कृमि आदि उत्पन्न हो जाते हैं । सचित्त अग्निकाय तथा वायुकाय से भी विकलेन्द्रिय जीवो की उत्पत्ति होती है । वर्षाऋतु मे गर्मी के कारण जमीन से कुथु आ आदि सस्वेदज तथा मक्खी, मच्छर आदि प्राणियो की उत्पत्ति होती है । इसी प्रकार जल से भी अनेक विकलेन्द्रिय जीवो की उत्पत्ति होती है । वनस्पतिकाय से भ्रमर आदि

---

१. **दुरूवसंभवत्ताए**—जिनका विरूप रूप हो, ऐसे कृमि आदि के रूप मे । अथवा पाठान्तर है—'**दुरूतत्ताए विउट्टंति'—दुरूतनाम मुत्तपुरीसादी सरीरावयवा तत्थ सचित्तेसु मणुस्साण ताव पोट्टेसु समिगा, गंडोलगा, कोट्ठाओ अ संभवन्ति सजायन्ते भणिता दुरूतसंभवा'** दुरूत कहते हैं मूत्र मल आदि शरीर नि सृत अगभूत तत्त्वो को तथा सचित्त मनुष्यो के पेट मे तथा अन्य अवयवो मे गिडोलिए, कैचुए, कृमि, कोष्ठ आदि उत्पन्न होते हैं । —सूत्र कृ. चूर्णि (मू पा टि) पृ २०६

२. **खुरुदुगत्ताए**— खुरुड्डगा नाम जीवताण चेव गोमहिसादीण चम्मस्स अतो सम्मुच्छति । अर्थात्—खुरूदुग या खुरुड्डग उन्हें कहते हैं, जो जीवित गाय-भैसो की चमडी पर सम्मूर्च्छिमरूप से उत्पन्न होते हैं । —सूत्र कृ चूर्णि, (मू पा टि.) पृ २०६

विकलेन्द्रिय जीव उत्पन्न होते हैं। पचेन्द्रिय प्राणियो के मलमूत्र, मवाद आदि में भी विकलेन्द्रिय जीव पैदा हो जाते हैं। सचित्त-अचित्त वनस्पतियो मे भी घुण, कीट आदि उत्पन्न हो जाते हैं। ये जीव जहा-जहा उत्पन्न होते है, वहा-वहा के पार्श्ववर्त्ती या आश्रयदायी सचित्त या अचित्त प्राणियो के शरीरो से उत्पन्न मल, मूत्र, पसीना, रक्त, जल, मवाद आदि का ही आहार करते है।[1]

अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय और पृथ्वीकाय के आहारादि का निरूपण

७३९. अहावरं पुरक्खातं—इहेगतिया सत्ता नाणाविहजोणिया जाव कम्मनिदाणेणं तत्थवक्कमा नाणाविहाणं तस-थावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा तं सरीरगं वातसंसिद्धं वातसंगहितं वा वा वातपरिगतं उड्ढं वातेसु उड्ढभागी भवइ अहे वातेसु अहेभागी भवइ तिरियं वाएसु तिरियभागी भवइ, तंजहा—ओसा हिमए महिया करए हरतणुए सुद्धोदए। ते जीवा तेसिं नाणाविहाणं तस-थावराणं पाणाणं सिणेहमाहारेंति, [ते जीवा आहारेंति] पुढविसरीरं जाव संतं, अवरे वि य णं तेसिं तस-थावर जोणियाणं ओसाणं जाव सुद्धोदगाणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खातं।

७३९ इसके पश्चात् श्रीतीर्थंकरदेव ने अन्यान्य प्राणियो के आहारादि का प्रतिपादन किया है। इस जगत् मे नानाविध योनियो मे उत्पन्न होकर कर्म से प्रेरित वायुयोनिक जीव अप्काय मे आते हैं। वे प्राणी वहाँ अप्काय में आ कर अनेक प्रकार के त्रस और स्थावर प्राणियो के सचित्त तथा अचित्त शरीर मे अप्कायरूप मे उत्पन्न होते है। वह अप्काय वायु से बना हुआ (ससिद्ध) या वायु से सग्रह किया हुआ अथवा वायु के द्वारा धारण किया हुआ होता है। अत वह (जल) ऊपर का वायु हो तो ऊपर, नीचे का वायु हो तो नीचे और तिरछा वायु हो तो तिरछा जाता है। उस अप्काय के कुछ नाम ये हैं--ओस, हिम (बर्फ), मिहिका (कोहरा या धुध), ओला (गडा), हरतनु और शुद्ध जल। वे जीव अनेक प्रकार के त्रस और स्थावर प्राणियो के स्नेह का आहार करते है। इसके अतिरिक्त वे जीव पृथ्वी आदि के शरीरो का भी आहार करते हैं। तथा पूर्वभुक्त त्रस-स्थावरीय आहार को पचा कर अपने रूप मे परिणत कर लेते हैं। उन त्रस-स्थावरयोनि समुत्पन्न अवश्याय (ओस) से लेकर शुद्धोदकपर्यन्त जलकायिक जीवो के अनेक वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, सस्थान, आकार-प्रकार आदि के और भी अनेक शरीर होते हैं, ऐसा श्रीतीर्थंकरदेव ने कहा है।[1]

७४०. अहावरं पुरक्खात—इहेगतिया सत्ता उदगजोणिया जाव कम्मनियाणेण तत्थवक्कमा तस-थावरजोणिएसु उदएसु उदगत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं तस-थावर जोणियाण उदगाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरे वि य णं तेसिं तस-थावरजोणियाणं उदगाणं सरीरा नाणावण्णा जाव मक्खायं।

७४० इसके अनन्तर श्रीतीर्थंकरप्रभु ने अप्काय से उत्पन्न होने वाले विविध जलकायिक जीवो का स्वरूप बताया है। इस जगत् मे कितने ही प्राणी जल से उत्पन्न होते हैं, जल में ही रहते

---

१ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ३५७ का सारांश

हैं, और जल मे ही बढ़ते हैं। वे अपने पूर्वकृतकर्म के प्रभाव से जल मे आते हैं और जल मे जलरूप से उत्पन्न होते हैं। वे जीव उन त्रस-स्थावर योनिक जलो के स्नेह का आहार करते है। इसके अतिरिक्त वे पृथ्वी आदि के शरीरो का भी आहार करते है, तथा उन्हे पचा कर अपने शरीर के रूप मे परिणत कर लेते हैं। उन त्रस-स्थावरयोनिक उदको के अनेक वर्णादि वाले दूसरे शरीर भी होते हैं, ऐसा श्री तीर्थंकरप्रभु ने कहा है।

७४१. अहावरं पुरक्खातं—इहेगतिया सत्ता उदगजोणियाणं जाव कम्मनिदाणेण तत्थवक्कमा उदगजोणिएसु उदएसु उदगत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं उदगजोणियाणं उदगाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरे वि य णं तेसिं उदगजोणियाणं उदगाणं सरीरा नाणावण्णा जाव मक्खातं।

७४१ इसके पश्चात् श्री तीर्थंकरदेव ने जलयोनिक जलकाय के स्वरूप का निरूपण किया है। इस जगत् मे कितने ही जीव उदकयोनिक उदको मे अपने पूर्वकृत कर्मों के वशीभूत होकर आते हैं तथा उदकयोनिक उदकजीवो मे उदकरूप मे जन्म लेते हैं। वे जीव उन उदकयोनिक उदको के स्नेह का आहार करते हैं। इसके अतिरिक्त वे पृथ्वी आदि शरीरो का भी आहार ग्रहण करते हैं और उन्हे अपने स्वरूप मे परिणत कर लेते हैं। उन उदकयोनिक उदको के अनेक वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श एव सस्थान वाले और भी शरीर होते हैं, ऐसा श्री तीर्थंकरो द्वारा प्ररूपित है।

७४२. अहावर पुरक्खात—इहेगतिया सत्ता उदगजोणिया जाव कम्मनिदाणेण तत्थवक्कमा उदगजोणिएसु उदगेसु तसपाणत्तार विउट्टंति ते जीवा तेसिं उदगजोणियाणं उदगाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरे वि य णं तेसिं उदगजोणियाण तसपाणाणं सरीरा नाणावण्णा जाव मक्खातं।

७४२. इसके पश्चात् श्री तीर्थंकरदेव ने पहले उदकयोनिक त्रसकाय के स्वरूप का निरूपण किया था कि इस ससार मे अपने पूर्वकृत कर्म के उदय से उदकयोनिक उदको मे आकर उनमे त्रस प्राणी के रूप मे उत्पन्न होते है। वे जीव उन उदकयोनि वाले उदको के स्नेह का आहार करते है। इसके अतिरिक्त वे पृथ्वी आदि के शरीरो का भी आहार करते है। उन उदकयोनिक त्रसप्राणियो के नाना वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान की अपेक्षा से अन्य अनेक शरीर भी होते हैं, यह तीर्थंकर-प्रभु ने बताया है।

७४३—अहावरं पुरक्खात—इहेगतिया सत्ता नाणाविहजोणिया जाव कम्मनियाणेणं तत्थवक्कमा णाणाविहाणं तस-थावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा अगणिकायत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं णाणाविहाण तस-थावराणं पाणाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरे वि य णं तेसिं तस-थावरजोणियाणं अगणीणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खातं। सेसा तिण्णि आलावगा जहा उदगाणं।

७४३. इसके पश्चात् श्री तीर्थंकरदेव ने जीवो के आहारादि के सम्बन्ध मे अन्य बातो की

भी प्ररूपणा की है। इस ससार मे कितने ही जीव पूर्वजन्म में (कृतकर्मवश) नानाविध योनियों में उत्पन्न होकर वहाँ किये हुए कर्मोदयवशात् नाना प्रकार के त्रसस्थावर प्राणियो के सचित्त तथा अचित्त शरीर मे अग्निकाय के रूप में उत्पन्न होते हैं। वे जीव उन विभिन्न प्रकार के त्रस-स्थावर प्राणियो के स्नेह का आहार करते हैं। इसके अतिरिक्त वे जीव पृथ्वी आदि के शरीरों का भी आहार करते हैं। उन त्रस-स्थावरयोनिक अग्निकायो के दूसरे और भी शरीर बताये गये हैं, जो नाना वर्ण, गन्ध रस, स्पर्श और सस्थान आदि के होते है। शेष तीन आलापक (बोल) उदक के आलापकों के समान समझ लेने चाहिए।

७४४. अहावरं पुरक्खायं—इहेगतिया सत्ता नाणाविहजोणिया जाव कम्मणिदाणेणं तत्थ-वक्कमा णाणाविहाणं तस-थावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा वाउक्कायत्ताए विउट्टंति, जहा अगणीणं तहा भाणियव्वा चत्तारि गमा।

७४४ इसके पश्चात् श्रीतीर्थंकरदेव ने अन्य (जीवों के आहारादि के सम्बन्ध मे) कुछ बाते बताई है। इस ससार मे कितने ही जीव पूर्वजन्म मे नाना प्रकार की योनियो मे आकर वहाँ किये हुए अपने कर्म के प्रभाव से त्रस और स्थावर प्राणियो के सचित्त या अचित्त शरीरो मे वायु-काय के रूप मे उत्पन्न होते हैं। यहाँ भी वायुकाय के सम्बन्ध मे शेष बाते तथा चार आलापक अग्निकाय के आलापको के समान कह देने चाहिए।

७४५. अहावरं पुरक्खातं—इहेगतिया सत्ता णाणाविहजोणिया जाव कम्मनिदाणेणं तत्थ-वक्कमा णाणाविहाण तस-थावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा पुढवित्ताए सक्करत्ताए वालुयत्ताए, इमाओ गाहाओ अणुगंतव्वाओ—

पुढवी य सक्करा वालुगा य उवले सिला य लोणूसे।[1]
अय तउय तंब सीसग रुप्प सुवण्णे य वइरे य॥१॥

हरियाले हिंगुलए मणोसिला सासगंजण पवाले।
अब्भपडलऽब्भवालुय बादरकाए मणिविहाणा॥२॥

गोमेज्जए य रुयए अंके फलिहे य लोहियक्खे य।
मरगय मसारगल्ले भुयमोयग इंदणीले य॥३॥

चंदण गेरुय हंसगब्भ पुलए सोगंधिए य बोधव्वे।
चंदप्पभ वेरुलिए जलकंते सूरकंते य॥४॥

एताओ एतेसु भाणियव्वाओ गाहासु (गाहाओ) जाव सूरकंतत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं

---

१ तुलना करें—'**पुढवी य सक्करा सूरकतेय। एए खरपुढवीए नामा छत्तीसइं होंति।**'

—आचाराग निर्युक्ति गाथा ७३ से ७६ तथा प्रज्ञापना पद १

—उत्तराध्ययन अ २६। गा ७३ से ७६ तक

णाणाविधाणं तस-थावराणं पाणाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति, पुढविसरीरं जाव संतं, अवरे वि य णं तेसिं तस-थावरजोणियाणं पुढवीणं जाव सूरकंताणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खातं, सेसा तिण्णि आलावगा जहा उदगाणं।

७४५ इसके पश्चात् श्रीतीर्थंकर भगवान् ने (इस सम्बन्ध मे) और भी बाते बताई हैं। इस संसार में कितने ही जीव नानाप्रकार की योनियो मे उत्पन्न होकर उनमे अपने किये हुए कर्म के प्रभाव से पृथ्वीकाय मे आकर अनेक प्रकार के त्रस-स्थावरप्राणियो के सचित्त या अचित्त शरीरो मे पृथ्वी, शर्करा (कंकर) या बालू के रूप में उत्पन्न होते है। इस विषय मे इन गाथाओ के अनुसार इसके भेद जान लेने चाहिए—

पृथ्वी, शर्करा (ककर) बालू (रेत), पत्थर, शिला (चट्टान), नमक, लोहा, रागा (कथीर), ताबा, चादी, शीशा, सोना और वज्र (हीरा), तथा हड़ताल, हीगलू, मनसिल, सासक, अजन, प्रवाल (मू गा), अभ्रपटल (अभ्रक), अभ्रबालुका, ये सब पृथ्वीकाय के भेद हैं। गोमेदक रत्न, रुचकतररत्न, अकरत्न, स्फटिकरत्न, लोहिताक्षरत्न, मरकतरत्न, मसारगल्ल, भुजपरिमोचकरत्न तथा इन्द्रनीलमणि, चन्दन, गेरुक, हसगर्भ, पुलक, सौगन्धिक, चन्द्रप्रभ, वैडूर्य, जलकान्त, एव सूर्यकान्त, ये मणियो के भेद हैं। इन (उपर्युक्त) गाथाओ मे उक्त जो मणि, रत्न आदि कहे गए है, उन (पृथ्वी से लेकर सूर्यकान्त तक की योनियो) मे वे जीव उत्पन्न होते हैं। (उस समय) वे जीव अनेक प्रकार के त्रस-स्थावर प्राणियो के स्नेह का आहार करते है। (इसके अतिरिक्त) वे जीव पृथ्वी आदि शरीरो का भी आहार करते है। उन त्रस और स्थावरो से उत्पन्न पृथ्वी से लेकर सूर्यकान्तमणि-पर्यन्त प्राणियो के दूसरे शरीर भी नाना वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, सस्थान आदि की अपेक्षा से बताए गए हैं। शेष तीन आलापक जलकायिक जीव के आलापको के समान ही समझ लेने चाहिए।[1]

विवेचन—अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय, और पृथ्वीकाय के आहारादि का निरूपण—प्रस्तुत ७ सूत्रो (७३९ से ७४५ तक) मे वनस्पतिकाय के अतिरिक्त शेष चार स्थावरजीवो की उत्पत्ति, स्थिति, सवृद्धि एव आहारादि की प्रक्रिया का निरूपण किया गया है।

अप्काय के चार आलापक—अप्कायिक जीवो के शास्त्रकार ने चार आलापक बताकर उनकी उत्पत्ति, आहार आदि की प्रक्रिया पृथक्-पृथक् रूप से बताई है। जैसे कि—

(१) वायुयोनिक अप्काय—मेढक आदि त्रस तथा नमक और हरित आदि स्थावर प्राणियो के सचित्त-अचित्त नानाविध शरीरो मे वायुयोनिक अप्काय के रूप मे जन्म धारण करते है। इनकी स्थिति, सवृद्धि और प्राथमिक आहारग्रहण का आधार वायुकाय है।

(२) अप्योनिक अप्काय—जो पूर्वकृतकर्मानुसार एक अप्काय मे ही दूसरे अप्काय के रूप मे उत्पन्न होते हैं, वे अप्योनिक अप्काय कहलाते हैं। जैसे शुद्ध पानी से बर्फ के रूप मे अप्काय उत्पन्न होता है। शेष सब प्रक्रिया पूर्ववत् है।

१ सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्राक ३५७-३५८ का सराश

(३) **त्रसस्थावरयोनिक अप्काय**—ये प्राणी त्रस और स्थावरो मे उत्पन्न होते हैं। इनकी भी शेष समस्त प्रक्रिया पूर्ववत् है।

(४) **उदकयोनिक उदको मे उत्पन्न त्रसकाय**—उदकयोनिक उदक पानी, बर्फ आदि मे कीड़े आदि के रूप मे कई जीव उत्पन्न हो जाते है। वे उसी प्रकार के होते है।

अग्निकाय और वायुकाय की उत्पत्ति के चार-चार आलापक—(१) त्रसस्थावरयोनिक अग्निकाय (२) वायुयोतिक अग्निकाय, (३) अग्नियोनिक अग्निकाय और (४) अग्नियोनिक अग्नि मे उत्पन्न त्रसकाय। इसी प्रकार (१) त्रसस्थावरयोनिक वायुकाय, (२) वायुयोनिक वायुकाय, (३) अग्नियोनिक वायुकाय एव (४) वायुयोनिक वायुकाय मे उत्पन्न त्रसकाय।

त्रसस्थावरो के सचित्त-अचित्त शरीरों से अग्निकाय की उत्पत्ति—हाथी, घोड़ा, भंस आदि पस्स्पर लडते है, तब उनके सीगो मे से आग निकलती दिखाई देती है। तथा अचित्त हड्डियो की रगड से तथा सचित्त-अचित्त वनस्पतिकाय एव पत्थर आदि मे से अग्नि की लपटे निकलती देखी जाती हैं।

पृथ्वीकाय की उत्पत्ति के चार आलापक—पृथ्वीकाय के यहाँ मिट्टी से लेकर सूर्यकान्त रत्न तक अनेक प्रकार बताए हैं। पृथ्वीकाय की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे चार आलापक—(१) त्रस-स्थावर-प्राणियो के शरीर मे उत्पन्न पृथ्वीकाय (२) पृथ्वीकाययोनिक पृथ्वीकाय, (३) वनस्पतियोनिक-पृथ्वीकाय, और (४) पृथ्वीकाययोनिक पृथ्वीकाय मे उत्पन्न त्रस।

समुच्चयरूप से सब जीवों की आहारादि प्रक्रिया और आहारसंयम-प्रेरणा

७४६. अहावर पुरक्खातं—सव्वे पाणा सव्वे भूता सव्वे जीवा सव्वे सत्ता नाणाविहजोणिया नाणाविहसंभवा नाणाविहवक्कमा सरीरजोणिया सरीरसंभवा सरीरवक्कमा सरीरहारा कम्मोवगा कम्मनिदाणा कम्मगतिया कम्मठितिया कम्मुणा चेव विप्परियासुवेंति।

७४६ इसके पश्चात् श्रीतीर्थंकरदेव ने जीवो के आहारादि के सम्बन्ध मे और भी बाते कही है। समस्त प्राणी, सर्व भूत, सर्व सत्त्व और सर्व जीव नाना प्रकार की योनियो मे उत्पन्न होते हैं, वही वे स्थित रहते हैं, वही वृद्धि पाते हैं। वे शरीर से ही उत्पन्न होते हैं, शरीर मे ही रहते हैं, तथा शरीर मे ही बढते हैं, एव वे शरीर का ही आहार करते हैं। वे अपने-अपने कर्म का ही अनुसरण करते हैं, कर्म ही उस-उस योनि मे उनकी उत्पत्ति का प्रधान निमित्त कारण है। उनकी गति और स्थिति भी कर्म के अनुसार होती है। वे कर्म के ही प्रभाव से सदैव भिन्न-भिन्न अवस्थाओ को प्राप्त करते हुए दु ख के भागी होते हैं।

७४७. सेवमायाणह, सेवमायाणित्ता आहारगुत्ते समिते सहिते सदा जए त्ति बेमि।

७४७. हे शिष्यो ! ऐसा ही जानो, और इस प्रकार जानकर सदा आहारगुप्त, ज्ञान-दर्शन-चारित्रसहित, समितियुक्त एव सयमपालन मे सदा यत्नशील बनो।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—समुच्चयरूप से सर्वजीवों की आहारादि प्रक्रिया एवं आहार-संयम प्रेरणा—प्रस्तुत सूत्र द्वय मे अध्ययन का उपसहार करते हुए समुच्चयरूप से सभी जीवो के आहारादि का निरूपण किया गया है। मुख्यतया उत्पत्ति, स्थिति, सवृद्धि, आहार-आदि का मुख्य कारण कर्म है। सभी जीव अपने-अपने कर्म से प्रेरित होकर उत्पन्न होते हैं, ईश्वर, काल आदि की प्रेरणा से नही। अत साधक को आहार के सम्बन्ध मे ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सयम एव आत्माराधना की दृष्टि से विचार करके निर्दोष आहार-सेवन उचित है।[1]

।। आहारपरिज्ञा : तृतीय अध्ययन समाप्त ।।

□□

---

१ सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३५९ का सार

प्रत्याख्यान-क्रिया : चतुर्थ अध्ययन

प्राथमिक

☐ सूत्रकृताग (द्वि० श्रु०) के चतुर्थ अध्ययन का नाम 'प्रत्याख्यानक्रिया' है।

☐ आत्मा किसी देव, भगवान् या गुरु की कृपा से अथवा किसी धर्मतीर्थ को स्वीकार करने मात्र से पापकर्मों से मुक्त नही हो सकता। केवल त्याग-प्रत्याख्यान के विधि-विधानो की बाते करने मात्र से या कोरा आध्यात्मिक ज्ञान बघारने से भी व्यक्ति पाप कर्म से मुक्त नही हो सकता। समस्त पापकर्मों के बन्धन को रोकने एव मुक्त होने का अचूक उपाय है- **'प्रत्याख्यानक्रिया'**।

☐ 'प्रत्याख्यान' शब्द का सामान्य अर्थ किसी वस्तु का प्रतिषेध (निषेध) या त्याग करना है। परन्तु यह एक पारिभाषिक शब्द होने से अपने गर्भ मे निम्नोक्त विशिष्ट अर्थों को लिये हुए है—

(१) त्याग करने का नियम (सकल्प=निश्चय) करना।

(२) परित्याग करने की प्रतिज्ञा करना।

(३) निन्द्यकर्मों से निवृत्ति करना।

(४) अहिसादि मूलगुणो एव सामायिकादि उत्तरगुणो के आचरण मे बाधक सिद्ध होने वाली प्रवृत्तियो का यथाशक्ति त्याग करना।[1]

☐ प्रत्याख्यान के मुख्य दो भेद होते हैं—द्रव्यप्रत्याख्यान और भावप्रत्याख्यान। किसी द्रव्य का अविधिपूर्वक निरुद्देश्य छोडना या किसी द्रव्य के निमित्त प्रत्याख्यान करना द्रव्यप्रत्याख्यान है। आत्मशुद्धि के उद्देश्य से मूलगुण-उत्तरगुण मे बाधक हिंसादि का मन-वचन-काया से यथाशक्ति त्याग करना भावप्रत्याख्यान है। भावप्रत्याख्यान के दो भेद है—अन्त करण से शुद्ध साधु या श्रावक का मूलगुणप्रत्याख्यान और उत्तरगुणप्रत्याख्यान।

☐ 'प्रत्याख्यान' के साथ 'क्रिया' शब्द जुड जाने पर विशिष्ट अर्थ हो जाते है—(१) गुरु या गुरुजन से (समाज या परिवार मे बडे) या तीर्थंकर भगवान् की साक्षी से विधिपूर्वक त्याग या नियम स्वीकार करना। अथवा (२) हिंसा आदि निन्द्यकर्मों के त्याग या व्रत, नियम, तप का सकल्प करते समय मन मे धारणा करना, वचन से 'वोसिरे-वोसिरे' बोलना और काया से तदनुकूल व्यवहार होना। (३) मूलोत्तरगुणो की साधना मे लगे हुए दोषो का प्रतिक्रमण, आलोचना,

---

१ (क) पाइअ-सद्द-महण्णवो पृ० ५०७ (ख) जैनसाहित्य का बृहद् इतिहास भा १, पृ. १६२

निन्दना, (पश्चात्ताप), गर्हना (गुरुसाक्षी से) तथा व्युत्सर्ग करना। प्रस्तुत अध्ययन मे इस प्रकार की भावप्रत्याख्यानक्रिया के सम्बन्ध मे निरूपण है।[1]

☐ प्रस्तुत अध्ययन मे सर्वप्रथम अप्रत्याख्यानी आत्मा के पाप के द्वार खुले रहने के कारण सतत पापकर्म का बन्ध होना बताया है, और उसे असयत, अविरत, पापकर्म का प्रतिघात एव प्रत्याख्यान न करने वाला, एकान्त बाल, हिंसक आदि बताया है। अन्त मे प्रत्याख्यानी आत्मा कौन और कैसे होता है ? इस पर प्रकाश डाला गया है।[2]

☐☐

---

१. (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ३६०
(ख) सूत्र कृ निर्युक्ति गा १७९,१८०
(ग) आवश्यक चूर्णि प्रतिक्रमणाध्ययन

२. सूत्रकृताग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३६०

पच्चक्खाणकिरिया : चउत्थ अज्झयणं

प्रत्याख्यान-क्रिया : चतुर्थ अध्ययन

अप्रत्यख्यानी आत्मा का स्वरूप और प्रकार

७४७. सुयं मे आउसतेणं भगवता एवमक्खातं-इह खलु पच्चक्खाणकिरिया नामज्झयणे, तस्स ण अयमट्ठे—आया अपच्चक्खाणी यावि भवति, आया अकिरियाकुसले यावि भवति, आया मिच्छासठिए यावि भवति, आया एगंतदडे यावि भवति, आया एगतबाले यावि भवति, आया एगंतसुत्ते यावि भवति, आया अवियारमण-वयस-काय-वक्के यावि भवति, आया अप्पडिहय-अपच्चक्खायपावकम्मे यावि भवति, एस खलु भगवता अक्खाते असंजते अविरते अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे सकिरिए असंवुडे एगंतदंडे एगतबाले एगंतसुत्ते, से बाले अवियारमण-वयस-काय-वक्के सुविणमवि ण पस्सति, पावे से कम्मे कज्जति ।

७४७ आयुष्मन् ! उन तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी ने ऐसा कहा था—मैंने सुना है । इस निर्ग्रन्थप्रवचन मे प्रत्याख्यानक्रिया नामक अध्ययन है । उसका यह अर्थ (भाव) (उन्होने) बताया है कि आत्मा (जीव) अप्रत्याख्यानी (सावद्यकर्मों का त्याग न करने वाला) भी होता है, आत्मा अक्रियाकुशल (शुभक्रिया न करने मे निपुण) भी होता है, आत्मा मिथ्यात्व (के उदय) मे सस्थित भी होता है, आत्मा एकान्तरूप से दूसरे प्राणियो को दण्ड देने वाला भी होता है, आत्मा एकान्त (सर्वथा) बाल (अज्ञानी) भी होता है, आत्मा एकान्तरूप से सुषुप्त भी होता है, आत्मा अपने मन, वचन, काया और वाक्य (की प्रवृत्ति) पर विचार न करने वाला (अविचारी) भी होता है । और आत्मा अपने पापकर्मों का प्रतिहत- घात एव प्रत्याख्यान नही करता । इस जीव (आत्मा) को भगवान् ने असयत (सयमहीन), अविरत (हिसा आदि से अनिवृत्त), पापकर्म का घात (नाश) और प्रत्याख्यान (त्याग) न किया हुआ, क्रियासहित, सवररहित, प्राणियो को एकान्त (सर्वथा) दण्ड देने वाला, एकान्त बाल, एकान्तसुप्त कहा है । मन, वचन, काया और वाक्य (की प्रवृत्ति) के विचार से रहित वह अज्ञानी, चाहे स्वप्न भी न देखता हो अर्थात् अत्यन्त अव्यक्त विज्ञान से युक्त हो, तो भी वह पापकर्म करता है ।

विवेचन—अप्रत्याख्यानी आत्मा का स्वरूप और प्रकार—प्रस्तुत सूत्र मे अध्ययन का प्रारम्भ करते हुए शास्त्रकार ने अप्रत्याख्यानी आत्मा के प्रकार और उसके स्वरूप का निरूपण किया है ।

'जीव' के बदले 'आत्मा' शब्द का प्रयोग क्यों ? मूलपाठ मे 'जीव' शब्द के बदले 'आत्मा' शब्द का प्रयोग करने के पीछे प्रथम आशय यह है कि अप्रत्याख्यानी जीव लगातार एक भव से दूसरे भव मे नानाविध गतियो और योनियो मे भ्रमण करता रहता है, इस बात को जीव शब्द की अपेक्षा

'आत्मा' शब्द बहुत शीघ्र और अचूक रूप से प्रकट कर सकता है, क्योकि आत्मा की व्युत्पत्ति है— 'जो विभिन्न योनियो-गतियो मे सतत गमन करता है।'[1]

दूसरा आशय है—बौद्धदर्शनसम्मत आत्मासम्बन्धी मान्यता का निराकरण करना, क्योकि बौद्धदर्शन मे आत्मा क्षणिक (स्थितिहीन) होने से उसका प्रत्याख्यानी होना सम्भव नही हो सकता।

तीसरा आशय है—साख्यदर्शन मे मान्य आत्मा सम्बन्धी मन्तव्य का खण्डन। साख्य-दर्शनानुसार आत्मा उत्पत्ति-विनाश से रहित, स्थिर (कूटस्थ) एव एकस्वभाव वाला है। ऐसा कूटस्थ स्थिर आत्मा न तो अनेक योनियो मे गमन कर सकता है, न ही किसी प्रकार का प्रत्याख्यान।

अप्रत्याख्यानी आत्मा के प्रकार—(१) प्रत्याख्यान से सर्वथा रहित, (२) शुभक्रिया करने मे अकुशल, (३) मिथ्यात्व से ग्रस्त, (४) एकान्त प्राणिदण्ड (घात) देने वाला, (६) एकान्त बाल, (६) एकान्त सुप्त, (७) मन, वचन, शरीर और वाक्य (किसी विशेष अर्थ का प्रतिपादक पदसमूह) का प्रयोग करने मे विचारशून्य एव (८) पापकर्म के विघात एव प्रत्याख्यान (त्याग) से रहित आत्मा अप्रत्याख्यानी है।

अप्रत्याख्यानी आत्मा का स्वरूप—वह असयमी, हिंसादि से अविरत, पापकर्म का नाश और प्रत्याख्यान न करने वाला, अहर्निशदुष्क्रियारत, सवररहित, एकान्त हिसक (दण्डदाता), एकान्तबाल एव एकान्तसुप्त (सुषुप्तचेतनावाला) होना है। ऐसा बालकवत् हिताहितभावरहित एकान्त प्रमादी जीव मन, वचन, काया और वाक्य की किसी प्रवृत्ति मे प्रयुक्त करते समय जरा भी विचार नही करता कि मेरी इस प्रवृत्ति से दूसरे प्राणियो की क्या दशा होगी ? ऐसा जीव चाहे स्वप्न न भी देखे, यानी उनका विज्ञान (चैतन्य) इतना अव्यक्त-गाढ सुषुप्त हो, तो भी वह पापकर्म करता रहता है—अर्थात् उसके पापकर्म का बन्ध होता रहता है।

पारिभाषिक शब्दो के भावार्थ—असंयत—वर्तमान मे सावद्यकृत्यो मे निरकुश प्रवृत्त, **अविरत**—जो अतीत और अनागतकालीन हिंसादि पापो से निवृत्त हो, **अप्रतिहितपापकर्मा**—पूर्वकृत पापकर्मों की स्थिति और अनुभाग को वर्तमान मे तप आदि द्वारा कम करके जो उन्हे नष्ट नही कर पाता। **अप्रत्याख्यात पापकर्मा**—भावी पापकर्मो का प्रत्याख्यान न करने वाला, **सक्रिय**—सावद्यक्रियाओ से युक्त, असवृत—जो आते हुए कर्मो के निरोधरूप व्यापार से रहित हो। **सुप्त**—भावनिद्रा मे सोया हुआ, हिताहित प्राप्ति परिहार के भाव से रहित। **प्रत्याख्यान**—पूर्वकृत दोषो (अतिचारो) की निन्दा (पश्चात्ताप) एव गर्हा करके भविष्य मे उक्त पाप को न करने का सकल्प करना।

किसी समय प्रत्याख्यानी भी—अनादिकाल से जीवमिथ्यात्वादि के सयोग के कारण अप्रत्या-ख्यानी अवस्था मे रहता चला आ रहा है, किन्तु कदाचित् शुभकर्मों के निमित्त से प्रत्याख्यानी भी होता है, इसे प्रकट करने के लिए मूल पाठ मे 'अवि' (अपि) शब्द का प्रयोग किया गया है।[2]

---

१ 'अतति सतत (विभिन्न गतिषु योनिषु च) गच्छतीति आत्मा'।

२ (क) सूत्रकृतांग शीलाकवृत्ति, पत्राक ३६१

(ख) आवश्यकसूत्र चूर्णि प्रतिक्रमणाध्ययन

प्रत्याख्यानक्रियारहित सदैव पापकर्मबन्धकर्ता : क्यों और कैसे ?

७४८. तत्थ चोदए पण्णवगं एवं वदासि—असंतएणं मणेणं पावएणं असंतियाए वतीए पावियाए असंतएणं काएणं पावएण अहणंतस्स अमणक्खस्स अवियारमण-वयस-काय-वक्कस्स सुविणमवि अपस्सतो पावे कम्मे नो कज्जति ।

कस्स णं तं हेउं ? चोदग एवं ब्रवीति—अण्णयरेणं मणेणं पावएणं मणवत्तिए पावे कम्मे कज्जति, अण्णयरीए वतीए पावियाए वइवत्तिए पावे कम्मे कज्जति, अण्णयरेणं काएणं पावएणं कायवत्तिए पावे कम्मे कज्जइ । हणतस्स समणक्खस्स सवियारमण-वयस-आय-वक्कस्स सुविणमवि पासओ एवं गुणंजातीयस्स पावे कम्मे कज्जति ।

पुणरवि चोदग एवं ब्रवीति—तत्थ णं जे ते एवामाहंसु 'असंतएणं मणेण पावएणं असतियाए वतीए पावियाए असंतएणं काएणं पावएणं अहणंतस्स अमणक्खस्स अवियारमण-वयस-काय-वक्कस्स सुविणमवि अपस्सतो पावे कम्मे कज्जति', जे ते एवमाहंसु मिच्छा ते एवमाहंसु ।

७४८ इस विषय मे प्रेरक (प्रश्नकर्ता) ने प्ररूपक (उदेशक) से इस प्रकार कहा—पापयुक्त मन न होने पर, पापयुक्त वचन न होने पर, तथा पापयुक्त काया न होने पर जो प्राणियो की हिंसा नही करता, जो अमनस्क है, जिसका मन, वचन, शरीर और वाक्य हिंसादि पापकर्म के विचार से रहित है, जो पापकर्म करने का स्वप्न भी नही देखता—अर्थात् जो अव्यक्तविज्ञान (चेतना) युक्त है, ऐसे जीव मे पापकर्म का बन्ध नही होता । किस कारण से उसे पापकर्म का बन्ध नही होता ? प्रेरक (प्रश्नकर्ता स्वय) इस प्रकार कहता है—किसी का मन पापयुक्त होने पर ही मानसिक (मन-सम्बन्धी) पापकर्म किया जाता है, तथा पापयुक्त वचन होने पर ही वाचिक (वचन द्वारा) पापकर्म किया जाता है, एव पापयुक्त शरीर होने पर ही कायिक (काया द्वारा) पापकर्म किया जाता है । जो प्राणी हिंसा करता है, हिंसायुक्त मनोव्यापार से युक्त है, जो जान-बूझ कर (विचारपूर्वक) मन, वचन, काया और वाक्य का प्रयोग करता है, जो स्पष्ट (व्यक्त) विज्ञानयुक्त (वैसा स्वप्नद्रष्टा) भी है । इस प्रकार के गुणो (विशेषताओ) से युक्त जीव पापकर्म करता (बाधता) है ।

पुन प्रेरक (प्रश्नकर्ता) इस प्रकार कहता है 'इस विषय मे जो लोग ऐसा कहते हैं कि मन पापयुक्त न हो, वचन भी पापयुक्त न हो, तथा शरीर भी पापयुक्त न हो, किसी प्राणी का घात न करता हो, अमनस्क हो, मन, वचन, काया और वाक्य के द्वारा भी (पाप) विचार से रहित हो, स्वप्न मे भी (पाप) न देखता हो, यानी अव्यक्तविज्ञान वाला हो, तो भी (वह) पापकर्म करता है ।'' जो इस प्रकार कहते है, वे मिथ्या कहते हैं ।''

७४९—तत्थ पण्णवगे चोदगं एवं वदासी—ज मए पुव्वुत्तं 'असंतएणं मणेणं पावएणं असंतियाए वतीए पावियाए असंतएणं काएण पावएणं अहणंतस्स अमणक्खस्स अवियारमण-वयस-काय-वक्कस्स सुविणमवि अपस्सतो पावे कम्मे कज्जति' तं सम्मं । कस्स णं तं हेउं ? आचार्य आह—तत्थ खलु भगवता छज्जीवनिकाया हेऊ पण्णत्ता, तंजहा—पुढविकाइया जाव तसकाइया । इच्चेतेहिं छहिं जीवनिकाएहिं आया अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे निच्चं पसढविओवातचित्तदंडे, तंजहा—पाणाइवाए

जाव परिग्गहे, कोहे जाव मिच्छादंसणसल्ले। आचार्य आह—तत्थ खलु भगवता वहए दिट्ठंते पण्णत्ते, से जहानामए वहए सिया गाहावतिस्स वा गाहावतिपुत्तस्स वा रण्णो वा रायपुरिसस्स वा खण निदाए पविसिस्सामि खणं लद्धूण वहिस्सामि पहारेमाणे, से किं नु हु नाम से वहए तस्स वा गाहावतिस्स तस्स वा गाहावतिपुत्तस्स तस्स वा रण्णो तस्स वा रायपुरिसस्स खण निदाए पविसिस्सामि खण लद्धूण वहिस्सामि पहारेमाणे[1] दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूते मिच्छासंठिते निच्च पसढविओवातचित्तदंडे भवति ? एवं वियागरेमाणे समियाए वियागरे चोयए-हंता भवति।

आचार्य आह—जहा से वहए तस्स वा गाहावतिस्स तस्स वा गाहावतिपुत्तस्स तस्स वा रण्णो तस्स वा रायपुरिसस्स खण णिदाए पविसिस्सामि खणं लद्धूण वहिस्सामीति पहारेमाणे दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूते मिच्छासंठिते निच्च पसढविओवातचित्तदंडे एवामेव बाले वि सव्वेसि पाणाण जाव सत्ताण पिया वा रातो वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूते मिच्छासठिते निच्च पसढविओवातचित्तदडे, तं० पाणाइवाते जाव मिच्छादंसणसल्ले, एवं खलु भगवता अक्खाए अस्संजते अविरते अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे सकिरिए असवुडे एगंतदडे एगतबाले एगतसुत्ते यावि भवति, से बाले अवियारमण-वयस-काय-वक्के सुविणमवि ण पस्सति, पावे य से कम्मे कज्जति। जहा से वहए तस्स वा गाहावतिस्स जाव तस्स वा रायपुरिसस्स पत्तेय पत्तेय चित्त समादाए दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूते मिच्छासंठिते निच्च पसढविओवातचित्तदडे भवति, एवामेव बाले सव्वेसि पाणाणं जाव सव्वेसि सत्ताणं पत्तेयं पत्तेयं चित्त समादाए दिया वा रातो वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूते मिच्छासंठिते जाव चित्तदंडे भवइ।

७४९ इस सम्बन्ध मे प्रज्ञापक (उत्तरदाता) ने प्रेरक (प्रश्नकार) से इस प्रकार कहा—जो मैंने पहले कहा था कि मन पाप युक्त न हो वचन भी पापयुक्त न हो, तथा काया भी पापयुक्त न हो, वह किसी प्राणी की हिंसा भी न करता हो, मनोविकल हो, चाहे वह मन, वचन, काया और वाक्य का समझ-बूझकर (विचारपूर्वक) प्रयोग न करता हो, और वैसा (पापकारी) स्वप्न भी न देखता हो, अर्थात् अव्यक्त विज्ञान (चेतना) वाला हो, ऐसा जीव भी पापकर्म करता (बाधता) है, वही सत्य है। ऐसे कथन के पीछे कारण क्या है ? आचार्य (प्रज्ञापक) ने कहा—इस विषय मे श्री तीर्थंकर भगवान् ने षड्जीवनिकाय कर्मबन्ध के हेतु के रूप मे बताए है। वे षड्जीवनिकाय पृथ्वीकाय से लेकर त्रसकाय पर्यन्त हैं। इन छह प्रकार के जीवनिकाय के जीवो की हिंसा से उत्पन्न पाप को जिस आत्मा ने (तपश्चर्या आदि करके) नष्ट (प्रतिहत) नही किया, तथा भावी पाप को प्रत्याख्यान के द्वारा रोका नही, बल्कि सदैव निष्ठुरतापूर्वक प्राणियो की घात मे चित्त लगाए रखता है, और उन्हे दण्ड देता है तथा प्राणातिपात से लेकर परिग्रह-पर्यन्त तथा क्रोध से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक के पापस्थानो से निवृत्त नही होता है, (वह चाहे किसी भी अवस्था मे हो, अवश्यमेव पापकर्म का बन्ध करता है, यह सत्य है।)

(इस सम्बन्ध मे) आचार्य (प्ररूपक) पुन कहते हैं—इसके विषय मे भगवान् महावीर ने वधक (हत्यारे) का दृष्टान्त बताया है—कल्पना कीजिए—कोई हत्यारा हो, वह गृहपति की अथवा

---

१ नागार्जुनीय सम्मत पाठ—'अप्पणो अक्खणयाए तस्स वा पुरिसस्स छिद्द अलभमाणे णो वहेइ, मे से पुरिसे अवसं वहेयव्वे भविस्सइ एव मणो पहारेमाणे चूर्णि०'—सूत्रकृ वृत्ति पत्रांक ३६४

गृहपति के पुत्र की अथवा राजा की या राजपुरुष की हत्या करना चाहता है। (वह इसी ताक मे रहता है कि) अवसर पाकर मैं घर में प्रवेश करूंगा और अवसर पाते ही (उस पर) प्रहार करके हत्या कर दूँगा। "उस गृहपति की, या गृहपतिपुत्र की, अथवा राजा की या राजपुरुष की हत्या करने हेतु अवसर पाकर घर में प्रवेश करूंगा और अवसर पाते ही प्रहार करके हत्या कर दूँगा," इस प्रकार (सतत सकल्प-विकल्प करने और मन मे निश्चय करने वाला) वह हत्यारा दिन को या रात को, सोते या जागते प्रतिक्षण इसी उधेड़बुन में रहता है, जो उन सबका अमित्र-(शत्रु) भूत है, उन सबसे मिथ्या (प्रतिकूल) व्यवहार करने मे जुटा हुआ (सस्थित) है, जो चित्त रूपी दण्ड मे सदैव विविध प्रकार से निष्ठुरतापूर्वक घात का दुष्ट विचार रखता है, क्या ऐसा व्यक्ति उन (पूर्वोक्त व्यक्तियो) का हत्यारा कहा जा सकता है, या नही ?

आचार्यश्री के द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर प्रेरक (प्रश्नकर्ता शिष्य) समभाव (माध्यस्थ्य-भाव) के साथ कहता है—"हाँ, पूज्यवर ! ऐसा (पूर्वोक्त विशेषणविशिष्ट) पुरुष हत्यारा (हिंसक) ही है।"

आचार्य ने (पूर्वोक्त दृष्टान्त को स्पष्ट करने हेतु) कहा—जैसे उस गृहपति या गृहपति के पुत्र को अथवा राजा या राजपुरुष को मारना चाहने वाला वह वधक पुरुष सोचता है कि मैं अवसर पा कर इसके मकान (या नगर) मे प्रवेश करूँगा और मौका (या छिद्र अथवा सुराग) मिलते ही इस पर प्रहार करके वध कर दूँगा, ऐसे कुविचार से वह दिन-रात, सोते-जागते हरदम घात लगाये रहता है, सदा उनका शत्रु (अमित्र) बना रहता है, मिथ्या (गलत) कुकृत्य करने पर तुला हुआ है, विभिन्न प्रकार से उनके घात (दण्ड) के लिए नित्य शठतापूर्वक दुष्टचित्त मे लहर चलती रहती है, (वह चाहे घात न कर सके, परन्तु है वह घातक ही।) इसी तरह (अप्रत्याख्यानी) बाल (अज्ञानी) जीव भी समस्त प्राणियो, भूतो, जीवो और सत्वो का दिन-रात, सोते या जागते सदा वैरी (अमित्र) बना रहता है, मिथ्याबुद्धि से ग्रस्त रहता है, उन जीवो को नित्य निरन्तर शठतापूर्वक हनन करने (दण्ड देने) की बात चित्त मे जमाए रखता है, क्योकि वह (अप्रत्याख्यानी बाल जीव) प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक अठारह ही पापस्थानो मे ओतप्रोत रहता है। इसीलिए भगवान् ने ऐसे जीव के लिए कहा है कि वह असयत, अविरत, पापकर्मों का (तप आदि से) नाश एव प्रत्याख्यान न करने वाला, पापक्रिया से युक्त, सवररहित, एकान्तरूप से प्राणियो को दण्ड देने (हनन करने) वाला, सर्वथा बाल (अज्ञानी) एव सर्वथा सुप्त भी होता है। वह अज्ञानी जीव चाहे मन, वचन, काया और वाक्य का विचारपूर्वक (पापकर्म मे) प्रयोग न करता हो, भले ही वह (पापकर्म करने का) स्वप्न भी न देखता हो, यानी उसकी चेतना (ज्ञान) बिलकुल अस्पष्ट ही क्यो न हो, तो भी वह (अप्रत्याख्यानी होने के कारण) पापकर्म का बन्ध करता रहता है। जैसे वध का विचार करने वाला घातक पुरुष उस गृहपति या गृहपतिपुत्र की अथवा राजा या राजपुरुष की प्रत्येक की अलग-अलग हत्या करने का दुर्विचार चित्त मे लिए हुए अहर्निश, सोते या जागते उसी धुन मे रहता है, वह उनका (प्रत्येक का) शत्रु-सा बना रहता है, उसके दिमाग मे धोखे देने के दुष्ट (मिथ्या) विचार घर किये रहते हैं, वह सदैव उनकी हत्या करने की धुन मे रहता है, शठतापूर्वक प्राणि-दण्ड के दुष्ट विचार ही चित्त मे किया करता है, इसी तरह (अप्रत्याख्यानी भी) समस्त प्राणो, भूतो-जीवो और सत्वों के, प्रत्येक के प्रति चित्त मे निरन्तर हिंसा के भाव रखने वाला और प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक के १८ ही पापस्थानो से अविरत, अज्ञानी जीव दिन-रात, सोते या जागते सदैव उन प्राणियों का शत्रु-सा

बना रहता है, उन्हें धोखे से मारने का दुष्ट विचार करता है, एवं नित्य उन जीवो के शठतापूर्वक (दण्ड) घात की बात चित्त मे घोटता रहता है।

स्पष्ट है कि ऐसे अज्ञानी जीव जब तक प्रत्याख्यान नही करते, तब तक वे पापकर्म से जरा भी विरत नही होते, इसलिए उनके पापकर्म का बन्ध होता रहता है।

विवेचन—प्रत्याख्यान क्रियारहित : सदैव पापकर्मबन्धकर्ता, क्यों और कैसे?—प्रस्तुत दो सूत्रो मे प्रेरक द्वारा अप्रत्याख्यानी के द्वारा सतत पापकर्मबन्ध के सम्बन्ध मे उठाए गए प्रश्न का प्ररूपक द्वारा सदृष्टान्त समाधान किया गया है। सक्षेप मे प्रश्न और उत्तर इस प्रकार हैं—

प्रश्न—जिस प्राणी के मन-वचन-काया पापयुक्त हो, जो समनस्क हो, जो हिंसा-युक्त मनोव्यापार से युक्त हो, हिंसा करता हो, जो विचारपूर्वक, मन, वचन, काया और वाक्य का प्रयोग करता हो, जो व्यक्तचेतनाशील हो, वैसा प्राणी ही पापकर्म का बन्ध करता है, मगर इसके विपरीत जो प्राणी अमनस्क हो एव जिसके मन-वचन-काया पापयुक्त न हो, जो विचारपूर्वक इनका प्रयोग न करता हो, अव्यक्त चेतनाशील हो वह भी पापकर्मबन्ध करता है, ऐसा कहना कैसे उचित हो सकता है?

उत्तर—सैद्धान्तिक दृष्टि से पूर्वोक्त मन्तव्य ही सत्य है, क्योकि षड्जीवनिकाय की हिंसा से उत्पन्न पाप को जिसने तप आदि द्वारा नष्ट नही किया, न भावी पाप को प्रत्याख्यान द्वारा रोका, वह जीव चाहे कैसी भी अवस्था मे हो, चाहे उसके मन, वचन, काया पापयुक्त न हो वह अमनस्क हो, अविचारी हो, अस्पष्ट चेतनाशील हो तो भी अप्रत्याख्यानी होने के कारण उसके सतत पापकर्म का बन्ध होता रहता है।

जैसे कोई हत्यारा किसी व्यक्ति का वध करना चाहता है, सोते-जागते, दिन-रात इसी फिराक मे रहता है कि कब मौका मिले और कब मैं उसे मारू। ऐसा शत्रु के समान प्रतिकूल व्यवहार करने को उद्यत हत्यारा चाहे अवसर न मिलने से उस व्यक्ति की हत्या न कर सके, परन्तु कहलाएगा वह हत्यारा ही। उसका हिंसा का पाप लगता रहता है। इसी प्रकार एकान्त अप्रत्याख्यानी जीव द्वारा भी किसी जीव को न मारने का, या पापो का प्रत्याख्यान नही किया होने से, भले ही अमनस्क हो, मन-वचन-काया का प्रयोग विचारपूर्वक न करता हो, सुषुप्त चेतनाशील हो, तब भी उसके अठारह ही पापस्थान तथा समस्त जीवो की हिंसा खुली होने से, उसके पापकर्म का बन्ध होता रहता है। प्रत्याख्यान न करने के कारण वह सर्वथा असयत, अविरत, पापो का तप आदि से नाश एव प्रत्याख्यान से निरोध न करने वाला, सवररहित, एकान्त प्राणिहिंसक, एकान्त बाल एवं सर्वथा सुप्त होता है।[1]

फलितार्थ—जिन प्राणियों का मन राग-द्वेष से पूर्ण और अज्ञान के आवृत होता है, उनका अन्य समस्त प्राणियो के प्रति दूषित भाव रहता है। इन दूषित भावो से जब तक विरति नही होती, तब तक वे प्रत्याख्यान क्रिया नही कर पाते, और प्रत्याख्यानक्रिया के अभाव मे, वे सभी (एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक के) प्राणियो का द्रव्य से चाहे अवसर न मिलने के कारण या अन्य कारणो से) घात न कर पाते हो, किन्तु भाव से तो घातक ही हैं, अघातक नही, वे भाव से उन प्राणियों के वैरी हैं।[2]

---

१. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३६३-३६४ का साराश

२. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३६४ के अनुसार

संज्ञी-असंज्ञी अप्रत्याख्यानी : सदैव पापकर्मरत

७५०. णो इणट्ठे समट्ठे – चोदगो। इह खलु बहवे पाणा जे इमेणं सरीरसमुस्सएण णो दिट्ठा वा नो सुया वा नाभिमता वा विण्णाया वा जेसिं णो पत्तेयं पत्तेयं चित्त समादाए दिया वा रातो वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूते मिच्छासंठिते निच्च पसढविओवातचित्तदंडे, तं०—पाणातिवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले।

७५० प्रेरक (प्रश्नकर्त्ता) ने (इस सम्बन्ध में) एक प्रतिप्रश्न उठाया—(आपकी) पूर्वोक्त बात मान्य नही हो सकती। इस जगत् मे बहुत-से ऐसे प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व हैं, (जो इतने सूक्ष्म और दूर है कि हम जैसे अर्वाग्दर्शी पुरुषो ने) उनके शरीर के प्रमाण को न कभी देखा है, न ही सुना है, वे प्राणी न तो अपने अभिमत (इष्ट) है, और न वे ज्ञात हैं। इस कारण ऐसे समस्त प्राणियो मे से प्रत्येक प्राणी के प्रति हिंसामय चित्त रखते हुए दिन-रात, सोते या जागते उनका अमित्र (शत्रु बना रहना, तथा उनके साथ मिथ्या व्यवहार करने मे सलग्न रहना, एव सदा उनके प्रति शठतापूर्ण हिंसामय चित्त रखना, सम्भव नही है, इसी तरह प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक के पापो (पापस्थानो) मे ऐसे प्राणियो का लिप्त रहना भी सम्भव नही है।

७५१. आचार्य आह—तत्थ खलु भगवता दुवे दिट्ठंता पण्णत्ता, तं जहा—सण्णिदिट्ठंते य असण्णिदिट्ठंते य।

(१) से किं तं सण्णिदिट्ठंते? सण्णिदिट्ठंते जे इमे सण्णिपंचिंदिया पज्जत्तगा एतेसिं णं छज्जीवनिकाए पडुच्च तं०—पुढविकाय जाव तसकाय, से एगतिओ पुढविकाएण किच्चं करेति वि कारवेति वि, तस्स णं एवं भवति—एव खलु अहं पुढविकाएण किच्च करेमि वि कारवेमि वि, णो चेव ण से एवं भवति इमेण वा इमेण वा, से य तेण पुढविकाएण किच्च करेइ वा कारवेइ वा, से य ताओ पुढविकायातो असंजयअविरयअपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे यावि भवति, एव जाव तसकायातो त्ति भाणियव्वं, से एगतिओ छहिं जीवनिकाएहिं किच्च करेति वि कारवेति वि, तस्स ण एव भवति—एव खलु छहिं जीवनिकाएहिं किच्चं करेमि वि कारवेमि वि, णो चेव णं से एव भवति इमेहिं वा इमेहिं वा, से य तेहिं छहिं जीवनिकाएहिं जाव कारवेति वि, से य तेहिं छहिं जीवनिकाएहिं असंजय अविरय-अपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे, तं०—पाणातिवाते जाव मिच्छादंसणसल्ले, एस खलु भगवता अक्खाते असजते अविरते अपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे सुविणमवि अपस्सतो पावे य कम्मे से कज्जति।

से त्तं सण्णिदिट्ठंतेणं।

(२) से किं तं असण्णिदिट्ठंते? असण्णिदिट्ठंते जे इमे असण्णिणो पाणा, तं—पुढविकाइया जाव वणस्सतिकाइया छट्ठा वेगतिया तसा पाणा, जेसिं णो तक्का ति वा सण्णा ति वा पण्णा इ वा मणो ति वा वई ति वा सयं वा करणाए अण्णेहिं वा कारवेत्तए करेंत वा समणुजाणित्तए ते वि णं बाला सव्वेसिं पाणाणं जाव सव्वेसिं सत्ताणं दिया वा रातो वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूता मिच्छासंठिता निच्च पसढविओवातचित्तदंडा, तं०—पाणातिवाते जाव मिच्छादंसणसल्ले, इच्चेवं जाण,

णो चेव मणो णो चेव वई पाणाण जाव सत्ताण दुक्खणताए सोयणताए जूरणताए तिप्पणताए पिट्टणताए परितप्पणताए ते दुक्खण-सोयण जाव परितप्पण-वह-बंधणपरिकिलेसाओ अप्पडिविरता भवंति। इति खलु ते असण्णिणो वि संता अहोनिसं पाणातिवाते उवक्खाइज्जंति जाव अहोनिसं परिग्गहे उवक्खाइज्जंति जाव मिच्छादंसणसल्ले उवक्खाइज्जंति।

७५१ आचार्य ने (पूर्वोक्त प्रतिप्रश्न का समाधान करते हुए) कहा—इस विषय मे भगवान् महावीर स्वामी ने दो दृष्टान्त कहे हैं, जो इस प्रकार हैं—एक सज्ञिदृष्टान्त और दूसरा असज्ञिदृष्टान्त।

(१) (**प्रश्न**—) यह सज्ञी का दृष्टान्त क्या है?

(**उत्तर**—) सज्ञी का दृष्टान्त इस प्रकार है—जो ये प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर सज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक जीव हैं, इनमे पृथ्वीकाय से लेकर त्रसकाय तक षड्जीवनिकाय के जीवो मे से यदि कोई पुरुष पृथ्वीकाय से ही अपना आहारादि कृत्य करता है, कराता है, तो उसके मन मे ऐसा विचार होता है कि मै पृथ्वीकाय से अपना कार्य करता भी हूँ और कराता भी हूँ (या अनुमोदन करता हूँ), उसे उस समय ऐसा विचार नही होता (या उसके विषय मे ऐसा नही कहा जा सकता है कि) वह इस या इस (अमुक) पृथ्वी (काय) से ही कार्य करता है, कराता है, सम्पूर्ण पृथ्वी से नही। (उसके सम्बन्ध मे यही कहा जाता है कि) वह पृथ्वीकाय से ही कार्य करता है और कराता है। इसलिए वह व्यक्ति पृथ्वीकाय का असयमी, उससे अविरत, तथा उसकी हिंसा का प्रतिघात (नाश) और प्रत्याख्यान किया हुआ नही है। इसी प्रकार त्रसकाय तक के जीवो के विषय में कहना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति छहकाया के जीवो से कार्य करता है, कराता भी है, तो वह यही विचार करता (या कहता) है कि मैं छह काया के जीवो मे कार्य करता हूँ, कराता भी हूँ। उस व्यक्ति को ऐसा विचार नही होता, (या उसके विषय मे ऐसा नही कहा जाता) कि वह इन या इन (अमुक-अमुक) जीवो से ही कार्य करता और कराता है, (सबसे नही), क्योकि वह सामान्यरूप से उन छहो जीवनिकायो से कार्य करता है और कराता भी है। इस कारण (यही कहा जाता है कि) वह प्राणी उन छहो जीवनिकायो के जीवो की हिंसा से असयत, अविरत है और उनकी हिंसा आदि से जनित पापकर्मों का प्रतिघात और प्रत्याख्यान किया हुआ नही है। इस कारण वह प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक के सभी पापो का सेवन करता है। तीर्थंकर भगवान् ने ऐसे प्राणी को असयत, अविरत, पापकर्मों का (तप आदि से) नाश तथा प्रत्याख्यान से निरोध न करने वाला कहा है। चाहे वह प्राणी स्वप्न भी न देखता हो, अर्थात्—अव्यक्तचेतनाशील हो, तो भी वह पापकर्म (का बन्ध) करता है।

यह है, सज्ञी का दृष्टान्त।

(२) (**प्रश्न**—) 'वह असज्ञिदृष्टान्त क्या है?'

(**उत्तर**—) असज्ञी का दृष्टान्त इस प्रकार है—'पृथ्वीकायिक जीवों से लेकर वनस्पतिकायिक जीवो तक पांच स्थावर एव छठे जो त्रससज्ञक अमनस्क जीव है, वे असंज्ञी हैं, जिनमे न तर्क है, न संज्ञा है न प्रज्ञा (बुद्धि) है, न मन (मनन करने का साधन) है, न वाणी है, और जो न तो स्वयं कर सकते हैं और न ही दूसरे से करा सकते हैं, और न करते हुए को अच्छा समझ सकते हैं;

तथापि वे अज्ञानी प्राणी भी समस्त प्राणियो, भूतो, जीवो और सत्त्वो के दिन-रात सोते या जागते हर समय शत्रु-से बने रहते हैं, उन्हे धोखा देने मे तत्पर रहते है, उनके प्रति सदैव हिंसात्मक (भावमनोरूप—) चित्तवृत्ति रखते हैं, इसी कारण वे प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक अठारह ही पापस्थानो मे सदा लिप्त रहते है। इस प्रकार यद्यपि असज्ञी जीवो के मन (द्रव्यमन) नही होता, और न ही वाणी होती है, तथापि वे (अप्रत्याख्यानी होने से) समस्त प्राणियो, भूतो, जीवों और सत्त्वो को दु ख देने, शोक उत्पन्न करने, विलाप कराने, रुलाने, पीड़ा देने, वध करने, तथा परिताप देने अथवा उन्हे एक ही साथ (सामूहिकरूप से) दु ख, शोक, विलाप, रुदन, पीड़न, सताप वध-बन्धन, परिक्लेश आदि करने से विरत नही होते, अपितु पापकर्म मे सदा रत रहते हैं। इस प्रकार वे प्राणी असज्ञी होते हुए भी अहर्निश प्राणातिपात मे प्रवृत्त कहे जाते हैं, तथा मृषावाद आदि से लेकर परिग्रह तक मे तथा मिथ्यादर्शनशल्य तक के समस्त पापस्थानो मे प्रवृत्त कहे जाते हैं।

७५२. सव्वजोणिया वि खलु सत्ता सण्णिणो होच्चा असण्णियो होंति, असण्णिणो होच्चा सण्णिणो होंति, होज्ज सण्णी अदुवा असण्णी, तत्थ से अविविचिया अविधूणिया असमुच्छिया अणणुताविया सण्णिकायाओ सण्णिकायं संकमंति १, सण्णिकायाओ वा असण्णिकायं सकमंति २, असण्णिकायाओ वा सण्णिकायं संकमंति ३, असण्णिकायाओ वा असण्णिकायं संकमंति ४।

जे एते सण्णी वा असण्णी वा सव्वे ते मिच्छायारा निच्चं पसढविओवातचित्तदंडा, तं०—पाणातिवाते जाव मिच्छादंसणसल्ले। एवं खलु भगवता अक्खाते असंजए अविरए अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे सकिरिए असंवुडे एगंतदंडे एगंतबाले एगंतसुत्ते, से बाले अवियारमण-वयस-काय-वक्के, सुविणमवि अपासओ पावे य से कम्मे कज्जति।

७५२. सभी योनियो के प्राणी निश्चितरूप से सज्ञी होकर असज्ञी (पर्याय मे उत्पन्न) हो जाते हैं, तथा असज्ञी होकर सज्ञी (पर्याय मे उत्पन्न) हो जाते हैं। वे सज्ञी या असज्ञी होकर यहाँ पापकर्मों को अपने से अलग (पृथक्) न करके, तथा उन्हे न झाडकर (तप आदि से उनकी निर्जरा न करके), (प्रायश्चित्त आदि से) उनका उच्छेद न करके तथा (आलोचना-निन्दना-गर्हणा आदि से) उनके लिए पश्चात्ताप न करके वे सज्ञी के शरीर से सज्ञी के शरीर मे आते (जन्म लेते) हैं, अथवा संज्ञी के शरीर से असज्ञी के शरीर मे सक्रमण करते (आते) हैं, अथवा असज्ञीकाय से सज्ञीकाय मे सक्रमण करते हैं अथवा असज्ञी की काया से असज्ञी की काया मे आते (सक्रमण करते) हैं।

जो ये सज्ञी अथवा असज्ञी प्राणी होते हैं, वे सब मिथ्याचारी और सदैव शठतापूर्ण हिंसात्मक चित्तवृत्ति धारण करते हैं। अतएव वे प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक अठारह ही पापस्थानो का सेवन करने वाले हैं। इसी कारण से ही भगवान् महावीर ने इन्हे असयत, अविरत, पापो का प्रतिघात (नाश) और प्रत्याख्यान न करने वाले, अशुभक्रियायुक्त, सवररहित, एकान्त हिंसक (प्राणियो को दण्ड देने वाले), एकान्त बाल (अज्ञानी) और एकान्त (भावनिद्रा में) सुप्त कहा है। वह अज्ञानी (अप्रत्याख्यानी) जीव भले ही मन, वचन, काया और वाक्य का प्रयोग विचारपूर्वक न करता हो, तथा (हिंसा का) स्वप्न भी न देखता हो,—(अव्यक्तविज्ञानयुक्त हो) फिर भी पापकर्म (का बन्ध) करता रहता है।

विवेचन—असंज्ञी-संज्ञी दोनों प्रकार अप्रत्याख्यानी प्राणी सदैव पापरत—प्रस्तुत तीन सूत्रो मे शास्त्रकार ने प्रत्याख्यानरहित सभी प्रकार के प्राणियो को सदैव पापकर्मबन्ध होते रहने का सिद्धान्त दृष्टान्तपूर्वक यथार्थ सिद्ध किया है। इस त्रिसूत्री मे से प्रथम सूत्र मे प्रश्न उठाया गया है, जिसका दो सूत्रो द्वारा समाधान किया गया है।

प्रेरक द्वारा नये पहलू से उठाया गया प्रश्न—सभी अप्रत्याख्यानी जीव सभी प्राणियो के शत्रु हैं, यह कथन युक्तिसंगत नही जँचता, क्योकि ससार मे ऐसे बहुत-से प्राणी है, जो देश, काल एव स्वभाव से अत्यन्त दूर, अतिसूक्ष्म एव सर्वथा अपरिचित हैं, न तो वे आंखो से देखने मे आते हैं, न ही कानो से उनके नाम सुनने में आते हैं, न वे इष्ट होते हैं न ज्ञात होते हैं। अत: उनके साथ कोई सम्बन्ध या व्यवहार न रहने से किसी भी प्राणी की चित्तवृत्ति उन प्राणियो के प्रति हिंसात्मक कैसे बनी रह सकती है? इस दृष्टि से अप्रत्याख्यानी जीव समस्त प्राणियों का घातक कैसे माना जा सकता है? इसी प्रकार जो प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक के पापो के विषय मे सर्वथा अज्ञात हैं, वे उन पापो से कैसे लिप्त हो सकते हैं?

यथार्थ समाधान—दो दृष्टान्तों द्वारा—जो प्राणी जिस प्राणी की हिंसा से निवृत्त नही, वह वध्य प्राणी भले ही देश-काल से दूर, सूक्ष्म, अज्ञात एव अपरिचित हो; तो भी, अप्रत्याख्यानी प्राणी उसका घातक ही कहा जायगा। उसकी चित्त वृत्ति उनके प्रति हिंसक ही है। इसी प्रकार जो हिंसादि पापो से विरत नही, वह चाहे उन पापो से अज्ञात हो, फिर भी अविरत कहलाएगा, इसलिए उसके उन सब पापकर्मों का बन्ध होता रहेगा। ग्रामघातक व्यक्ति ग्राम से दूर चले गये प्राणियो का भले ही घात न कर पाए, किन्तु है वह उनका घातक ही, क्योंकि उसकी इच्छा समग्र ग्राम के घात की है। अत अप्रत्याख्यानी प्राणी ज्ञात-अज्ञात सभी प्राणियो का हिंसक है, समस्त पापो मे लिप्त है, भले ही वह १८ पापस्थानो में से एक पाप करता हो।

प्रथम दृष्टान्त—एक सज्ञी प्राणी है, उसने पृथ्वीकाय से अपना कार्य करना निश्चित किया है। शेष सब कार्यों के आरम्भ का त्याग कर दिया है। यद्यपि वह पृथ्वीकाय में भी देश-काल से दूर-वर्ती समग्र पृथ्वीकाय का आरम्भ नही करता, एक देशवर्ती अमुक पृथ्वी विशेष का ही आरम्भ करता है, किन्तु उसके पृथ्वीकाय के आरम्भ या घात का प्रत्याख्यान न होने से समग्र पृथ्वीकाय की हिंसा (आरम्भ) का पाप लगता है, वह अमुक दूरवर्ती पृथ्वीकाय का अनारम्भक या अघातक नही, आरम्भक एव घातक ही कहा जाएगा। इसी प्रकार जिस सज्ञी जीव ने छहो काया के प्राणियो की हिंसा का प्रत्याख्यान नही किया है, वह अमुक काय के जीव की या देश-काल से दूरवर्ती प्राणियो की हिसा न करता हुआ भी प्रत्याख्यान न होने से षट्कायिक जीवो का हिंसक या घातक ही है। इसी प्रकार १८ पापस्थानो का प्रत्याख्यान न करने पर उसे १८ ही पापस्थानो का कर्त्ता माना जाएगा, भले ही वह उन पापो को मन, वचन, काया व वाक्य से समझबूझ कर न करता हो।

दूसरा दृष्टान्त—असज्ञी प्राणियो का है—पृथ्वीकाय से लेकर वनस्पतिकाय तक तथा कोई कोई त्रसकाय (द्वीन्द्रिय आदि) तक के जीव असज्ञी भी होते है, वे सम्यग्ज्ञान, विशिष्ट चेतना, या द्रव्य मन से रहित होते हैं। ये सुप्त प्रमत्त या मूर्च्छित के समान होते हैं। इनमे तर्क, सज्ञा, प्रज्ञा वस्तु की आलोचना करके पहचान करने, मनन करने, शब्दो का स्पष्ट उच्चारण करने तथा शरीर से स्वयं करने, कराने या अनुमोदन करने की शक्ति नही होती, इनमें मन, वचन, काय का विशिष्ट

व्यापार नही होता। फिर भी ये असज्ञी प्राणी प्राणिहिंसा एव अठारह पापस्थानो का प्रत्याख्यान न होने से दूसरे प्राणियो के घात की योग्यता रखते है, दूरवर्त्ती प्राणियो के प्रति भी हिंसात्मक दुष्ट आशय इनमे रहता है, ये प्राणियो को दु ख, शोक, सताप एव पीडा उत्पन्न करने से विरत नही कहे जा सकते। पाप से विरत न होने से ये सतत अठारह ही पापस्थानो मे लिप्त या प्रवृत्त कहे जाते हैं।

निष्कर्ष—यह है कि प्राणी चाहे सज्ञी हो या असज्ञी, जो प्रत्याख्यानी नही है, वह चाहे जैसी अवस्था मे हो, वध्य प्राणी चाहे देश-काल से दूर हो, चाहे वह (वधक) प्राणी स्वय किसी भी स्थिति मे मन-वचन-काया से किसी भी प्राणी की घात न कर सकता हो, स्वप्न मे भी घात की कल्पना न आती हो, सुषुप्त चेतनाशील हो या मूर्छित हो, तो भी सब प्राणियो के प्रति दुष्ट आशय होने से तथा अठारह पापस्थानो से निवृत्त न होने से उसके सतत पापकर्म का बन्ध होता रहता है।[1]

संज्ञी-असज्ञी का संक्रमण : एक सैद्धान्तिक स्पष्टीकरण—शास्त्रकार से सूत्र ७५२ मे इस मान्यता का खण्डन किया है कि सज्ञी मर कर संज्ञी ही होते है, असज्ञी असज्ञी ही। जीवो की गति या योनि कर्माधीन होती है। अतः कर्मों की विचित्रता के कारण—(१) सज्ञी से असज्ञी भी हो जाता है, (२) असज्ञी से भी सज्ञी हो जाता है (३) कभी सज्ञी मर कर सज्ञी बन जाता है, (४) और कभी असज्ञी मर कर पुन असज्ञी हो जाता है। इस दृष्टि से देवता सदा देवता ही बने रहेगे, नारकी सदा नारकी ही, यह सिद्धान्त युक्तियुक्त नही है।[2]

संयत, विरत पापकर्म प्रत्याख्यानी कौन और कैसे

७५३. चोदकः—से किं कुव्वं किं कारवं कह संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे भवति ?।

आचार्य आह—तत्थ खलु भगवता छज्जीवणिकायाया हेऊ पण्णत्ता, तजहा- पुढविकाइया जाव तसकाइया, से जहानामए मम अस्सातं डडेण वा अट्ठीण वा मुट्ठीण वा लेलूण वा कवालेण वा आतोडिज्जमाणस्स वा जाव उद्दविज्जमाणस्स वा जाव लोमुक्खणणमातमवि विहिंसक्कारं दुक्खं भय पडिसंवेदेमि, इच्चेव जाण सव्वे पाणा जाव सव्वे सत्ता दंडेण वा जाव कवालेण वा आतोडिज्जमाणा वा हम्ममाणा वा तज्जिज्जमाणा वा तालिज्जमाणा वा जाव उद्दविज्जमाणा वा जाव लोमुक्खणणमातमवि विहिंसक्कारं दुक्ख भय पडिसवेदेंति, एवं णच्चा सव्वे पाणा जाव सव्वे सत्ता ण हंतव्वा जाण ण उद्दवेयव्वा, एस धम्मे धुवे णितिए सासते समेच्च लोग खेत्तण्णेहिं पवेदिते। एवं से भिक्खू विरते पाणातिवातातो जाव मिच्छादसणसल्लातो। से भिक्खू णो दंतपक्खालणेण दते पक्खालेज्जा, नो अंजण, णो वमणं, णो धूवणित्तिं पि आइत्ते। से भिक्खू अकिरिए अलूसए अकोहे अमाणे जाव अलोभे उवसते परिनिव्वुडे।

एस खलु भगवता अक्खाते संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे अकिरिए संवुडे एगंतपंडिते यावि भवति त्ति बेमि।

॥ पच्चक्खाणकिरिया चउत्थमज्झयणं समत्तं ॥

१　सूत्रकृतांग शीलाकवृत्ति पत्राक ३६६ मे ३६८ तक का साराश

२.　वही, पत्रांक ३६९ का साराश

७५३—(प्रेरक ने पुन अपनी जिज्ञासा प्रस्तुत की—) मनुष्य क्या करता हुआ, क्या कराता हुआ तथा कैसे संयत, विरत, तथा पापकर्म का प्रतिघात और प्रत्याख्यान करने वाला होता है ?

आचार्य ने (समाधान करते हुए) कहा—इस विषय मे तीर्थंकर भगवान् ने षड् जीवनिकायो को (सयम अनुष्ठान का) कारण बताया है। वे छह प्राणिसमूह इस प्रकार हैं—पृथ्वीकाय से लेकर त्रसकाय तक के जीव। जैसे कि किसी व्यक्ति द्वारा डडे से, हड्डियो से, मुक्को से, ढेले से या ठीकरे से मैं ताड़न किया जाऊ या पीडित (परेशान) किया जाऊ, यहाँ तक कि मेरा केवल एक रोम उखाडा जाए तो मैं हिंसाजनित दु ख, भय और असाता का अनुभव करता हूँ, इसी तरह जानना चाहिए कि समस्त प्राणी यावत् सभी सत्त्व डडे आदि से ठीकरे तक से मारे जाने पर एव पीडित किये जाने पर, यहाँ तक कि एक रोम भी उखाडे जाने पर हिंसाजनित दु ख और भय का अनुभव करते हैं। ऐसा जानकर समस्त प्राणियो यावत् सभी सत्त्वो को नही मारना चाहिए, यहाँ तक कि उन्हे पीडित (उपद्रवित) नही करना चाहिए। यह (अहिंसा) धर्म ही ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है, तथा लोक के स्वभाव को सम्यक् जानकर खेदज्ञ या क्षेत्रज्ञ तीर्थंकरदेवों द्वारा प्रतिपादित है। यह जान कर साधु प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक अठारह ही पापस्थानो से विरत होता है। वह साधु दात साफ करने वाले काष्ठ आदि से दात साफ न करे, तथा नेत्रो मे अजन (काजल) न लगाए, न दवा लेकर वमन करे, और न ही धूप के द्वारा अपने वस्त्रो या केशो को सुवासित करे। वह साधु सावद्य-क्रियारहित, हिसारहित, क्रोध, मान, माया और लोभ से रहित, उपशान्त एव पाप से निवृत्त होकर रहे।

ऐसे त्यागी प्रत्याख्यानी साधु को तीर्थंकर भगवान् ने सयत, विरत, (हिसादि पापो से निवृत्त पापकर्मों का प्रतिघातक, एव प्रत्याख्यानकर्ता, अक्रिय (सावद्य क्रिया से रहित), सवृत्त (सवरयुक्त) और एकान्त (सर्वथा) पण्डित (होता है, यह) कहा है।

(सुधर्मास्वामी बोले--) (जो भगवान् ने कहा है) 'वही मैं कहता हूँ।'

विवेचन—संयत, विरत एवं पापकर्मप्रत्याख्यानी कौन और कैसे ?—प्रस्तुत सूत्र मे प्रेरक के द्वारा सुप्रत्याख्यानी के सम्बन्ध मे उठाए गए प्रश्न का आचार्यश्री द्वारा दिया गया समुचित समाधान अंकित है।

प्रश्न—कौन व्यक्ति, किस उपाय से, क्या करके सयत, विरत, तथा पापकर्मनाशक एव प्रत्याख्यानी होता है ?

समाधान के पांच मुद्दे—(१) समस्त प्राणियो को आत्मतुल्य जानकर उनकी किसी भी प्रकार से हिंसा न करे, न कराए, और न ही उसका अनुमोदन करे, (२) प्राणातिपात से मिथ्यादर्शन शल्य तक के अठारह पापो से विरत हो, (३) दन्तमजन, अजन, वमन, धूपन आदि अनाचारो का सेवन न करे, (४) वह साधक सावद्यक्रियारहित, अहिंसक, क्रोधादिरहित, उपशान्त और पापपरिनिवृत्त होकर रहे, (५) ऐसा साधु ही सयत, विरत, पापकर्मनाशक, पाप का प्रत्याख्यानी, सावद्यक्रियारहित, सवर-युक्त एवं एकान्त पण्डित होता है, ऐसा तीर्थंकर भगवान् ने कहा है।[1]

॥ प्रत्याख्यान क्रिया · चतुर्थ अध्ययन समाप्त ॥

---

१. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ३७० का साराश

अनाचारश्रुत : पंचम अध्ययन

प्राथमिक

- सूत्रकृताग (द्वि श्रु) के पचम अध्ययन का नाम 'अनाचारश्रुत' है।
- किन्ही आचार्यों के मतानुसार इस अध्ययन का नाम 'अनगारश्रुत' भी है।[1]
- जब तक साधक समग्र अनाचारो (अनाचरणीय बातो) का त्याग करके शास्त्रोक्त ज्ञानाचारादि पचविध आचारो मे स्थिर होकर उनका पालन नही करता, तब तक वह रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग का सम्यक् आराधक नही हो सकता। जो बहुश्रुत, गीतार्थ, जिनोपदिष्ट सिद्धान्तो का सम्यग्ज्ञाता नही है, वह अनाचार और आचार का विवेक नही कर सकता, फलत आचार विराधना कर सकता है। आचारश्रुत का प्रतिपादन पहले किया जा चुका है। किन्तु उक्त आचार का सम्यक् परिपालन हो सके, इसके लिए अनाचार का निषेधात्मक रूप से वर्णन इस अध्ययन मे किया गया है। इसी हेतु से इस अध्ययन का नाम 'अनाचारश्रुत' रखा गया है।[2]
- प्रस्तुत अध्ययन मे दृष्टि, श्रद्धा, प्ररूपणा, मान्यता, वाणी-प्रयोग, समभ आदि से सम्बन्धित अनाचारो का निषेधात्मक निर्देश करते हुए इनसे सम्बन्धित आचारो का भी वर्णन किया गया है।
- सर्वप्रथम लोक-अलोक, जीव की कर्मविच्छेदता, कर्मबद्धता, विसदृशता, आधाकर्म दोषयुक्त आहारादि से कर्मलिप्तता, पचशरीर सदृशता आदि के सम्बन्ध मे एकान्त मान्यता या प्ररूपणा को अनाचार बताकर उसका निषेध किया गया है, तत्पश्चात् जीव-अजीव, पुण्य-पापादि की नास्तित्व प्ररूपणा या श्रद्धा को अनाचार बताकर आचार के सन्दर्भ मे इनके अस्तित्व की श्रद्धा-प्ररूपणा करने का निर्देश किया गया है। अन्त मे साधु के द्वारा एकान्तवाद प्रयोग, मिथ्याधारणा आदि को अनाचार बताकर उसका निषेध किया गया है।[3]
- इस अध्ययन का उद्देश्य है -साधु आचार-अनाचार का सम्यग्ज्ञाता होकर अनाचार के त्याग और आचार के पालन मे निपुण हो, तथा कुमार्ग को छोडकर सुमार्ग पर चलने वाले पथिक की तरह समस्त अनाचार-मार्गों से दूर रहकर आचारमार्ग पर चलकर अपने अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त करे।
- यह अध्ययन सूत्र गा स. ७५४ से प्रारम्भ होकर ७८६ मे—३३ गाथाओ मे समाप्त होता है।

---

१ सूत्रकृताग शीलाक टीका—अनगारश्रुतमित्येतन्नामभवति

२ सूत्रकृताग निर्युक्ति गा १८२, १८३

३. सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति, पत्राक ३७०-३७१

अणायारसुत्तं : पंचमं अज्झयणं

अनाचारश्रुत : पंचम अध्ययन

अनाचरणीय का निषेध

७५४. आदाय बंभचेरं च, आसुपण्णे इमं वयिं ।
अस्सि धम्मे अणायारं, नायरेज्ज कयाइ वि ॥१॥

७५४ आशुप्रज्ञ (सत्-असत् को समझने मे कुशाग्रबुद्धि) साधक इस अध्ययन के वाक्य तथा ब्रह्मचर्य (ब्रह्म-आत्मा से सम्बन्धित आचार-विचार मे विचरण) को धारण करके इस (वीतरागप्ररूपित सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रयरूप) धर्म मे अनाचार (मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्ररूप अनाचरणीय बातो) का आचरण कदापि न करे।

विवेचन—अनाचरणीय का निषेध—प्रस्तुत सूत्रगाथा मे शास्त्रकार ने प्रस्तुत अध्ययन के सारभूत चार तथ्यो की ओर साधको का ध्यान खीचा है। वे चार तथ्य इस प्रकार हैं—

(१) वीतरागप्ररूपित रत्नत्रयरूप धर्म मे प्रव्रजित साधक सत्यासत्य को समझने मे कुशाग्र-बुद्धि हो।
(२) प्रस्तुत अनाचारश्रुत अध्ययन के वाक्यो को हृदयगम करे।
(३) ब्रह्मचर्य (आत्मा से सम्बन्धित-आचार-विचार) को जीवन मे धारण करे।
(४) मिथ्यादर्शनादित्रयरूप अनाचरणीय बातो का आचरण कदापि न करे।[1]

ब्रह्मचर्य—प्रस्तुत प्रसग मे ब्रह्मचर्य के तीन अर्थ फलित होते है—

(१) सत्य, तप, इन्द्रियनिग्रह एव सर्वभूतदया, ये चारो ब्रह्म है, इनमे विचरण करना।[2]
(२) आत्मा से सम्बन्धित चर्या—आचारविचार।
(३) ब्रह्म (वीतराग परमात्मा) द्वारा प्ररूपित आगमवचन या प्रवचन (अर्थात् जैनेन्द्र प्रवचन)।

अनाचार—प्रस्तुत प्रसग में अनाचार का अर्थ केवल सम्यक् चारित्रविरुद्ध आचरण ही नही है, अपितु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एव सम्यक्चारित्र के विरुद्ध आचरण करना अनाचार है।

धर्म—वीतरागप्ररूपित एव सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग के उपदेशक जैनेन्द्रप्रवचन को ही प्रस्तुत प्रसग मे धर्म समझना चाहिए।

---

१. सूत्रकृताग शीलांकवृत्ति पत्राक ३७१
२ वही, पत्राक ३७१ मे उद्धृत—

सत्यं ब्रह्म, तपो ब्रह्म, ब्रह्म इन्द्रियनिग्रहः।
सर्वभूतदया ब्रह्म, एतद् ब्रह्मलक्षणम्।

अनाचार के निषेधात्मक विवेकसूत्र

७५५. अणादीयं परिण्णाय, अणवदग्गे ति वा पुणो ।
सासतमसासते यावि, इति दिट्ठिं न धारए ॥२॥
७५६. एतेहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो ण विज्जती ।
एतेहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ॥३॥

७५५-७५६. 'यह (चतुर्दशरज्ज्वात्मक एव धर्माधर्मादिषट्द्रव्यरूप) लोक अनादि (आदि-रहित) और अनन्त है,' यह जानकर विवेकी पुरुष यह लोक एकान्त नित्य (शाश्वत) है, अथवा एकान्त अनित्य (अशाश्वत) है, इस प्रकार की दृष्टि, एकान्त (आग्रहमयी बुद्धि) न रखे ।

इन दोनो (एकान्त नित्य और एकान्त अनित्य) पक्षो (स्थानो) से व्यवहार (शास्त्रीय या लौकिक व्यवहार) चल नही सकता । अत इन दोनो एकान्त पक्षो के आश्रय को अनाचार जानना चाहिए ।

७५७. समुच्छिज्जिहिंति सत्थारो, सव्वे पाणा अणेलिसा ।
गंठीगा वा भविस्संति, सासय ति च णो वदे ॥४॥
७५८. एएहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो ण विज्जई ।
एएहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणई ॥५॥

७५७-७५८ प्रशास्ता (शासनप्रवर्तक तीर्थंकर तथा उनके शासनानुगामी सभी भव्य जीव) (एक दिन) भवोच्छेद (कालक्रम से मोक्षप्राप्ति) कर लेंगे । अथवा सभी जीव परस्पर विसदृश (एक समान नही) हैं, या सभी जीव कर्मग्रन्थि से बद्ध (ग्रन्थिक) रहेगे, अथवा सभी जीव शाश्वत (सदा स्थायी एकरूप) रहेगे, अथवा तीर्थंकर, सदैव शाश्वत (स्थायी) रहेगे, इत्यादि एकान्त वचन नही बोलने चाहिए ।

क्योकि इन दोनो (एकान्तमय) पक्षो से (शास्त्रीय या लौकिक) व्यवहार नही होता । अत. इन दोनो एकान्तपक्षो के ग्रहण को अनाचार समझना चाहिए ।

७५९. जे केति खुड्डगा पाणा, अदुवा संति महालया ।
सरिसं तेहिं वेरं ति, असरिसं ति य णो वदे ॥६॥
७६०. एतेहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो ण विज्जती ।
एतेहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ॥७॥

७५९-७६० (इस ससार मे) जो (एकेन्द्रिय आदि) क्षुद्र (छोटे) प्राणी हैं, अथवा जो महाकाय (हाथी, ऊँट, मनुष्य आदि) प्राणी हैं इन दोनो प्रकार के प्राणियो (की हिंसा से, दोनो) के साथ समान ही वैर होता है, अथवा समान वैर नही होता, ऐसा नही कहना चाहिए ।

क्योकि इन दोनो ('समान वैर होता है या समान वैर नही होता',) एकान्तमय वचनों से व्यवहार नही होता । अत इन दोनो एकान्तवचनो को अनाचार जानना चाहिए ।

७६१. अहाकडाइं भुंजंति अण्णमण्णे[1] सकम्मुणा ।
उवलित्ते ति जाणेज्जा, अणुवलित्ते ति वा पुणो ॥८॥

७६२. एतेहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो ण विज्जती ।
एतेहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ॥९॥

७६१-७६२ आधाकर्म दोष युक्त आहारादि का जो साधु उपभोग करते हैं, वे दोनो (आधाकर्मदोष युक्त आहारादिदाता तथा उपभोक्ता) परस्पर अपने (पाप) कर्म से उपलिप्त होते है, अथवा उपलिप्त नही होते, ऐसा जानना चाहिए ।

इन दोनो एकान्त मान्यताओ से व्यवहार नही चलता है, इसलिये इन दोनो एकान्त मन्तव्यो का आश्रय लेना अनाचार समझना चाहिए ।

७६३. जमिदं उरालमाहारं, कम्मगं च तमेव य ।
सव्वत्थ वीरियं अत्थि, णत्थि सव्वत्थ वीरियं ॥१०॥

७६४. एतेहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो ण विज्जती ।
एतेहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ॥११॥

७६३-७६४. यह जो (प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला) औदारिक शरीर है, आहारक शरीर है, और कार्मण शरीर है, तथैव वैक्रिय एव तैजस शरीर है, ये पाचो (सभी) शरीर एकान्तत. भिन्न नही हैं, (एक ही हैं) अथवा ये पाचो सर्वथा भिन्न-भिन्न ही हैं, ऐसे एकान्तवचन नही कहने चाहिए । तथा सब पदार्थों मे सब पदार्थों की शक्ति (वीर्य) विद्यमान है, अथवा सब पदार्थों मे सबकी शक्ति नही ही है; ऐसा एकान्तकथन भी नही करना चाहिए । क्योकि इन दोनो प्रकार के एकान्त विचारो से व्यवहार नही होना । अत इन दोनो एकान्तमय विचारो का प्ररूपण करना अनाचार समझना चाहिए ।

विवेचन—आचार के निषेधात्मक विवेकसूत्र—प्रस्तुत दस सूत्रगाथाओ द्वारा शास्त्रकार ने दर्शन-ज्ञान-चारित्रसम्बन्धी अनाचार के निषेधात्मक विवेकसूत्र प्रस्तुत किये हैं । अनाचार का मूल कारण एकान्त एकपक्षाग्रही दृष्टि, वचन, ज्ञान, विचार या मन्तव्य है, क्योकि एकान्त एकपक्षाग्रह से लोक व्यवहार या शास्त्रीय व्यवहार नही चलता । इन सब विवेकसूत्रो का फलितार्थ है—अनेकान्तवाद का आश्रय लेने का निर्देश ।

वे निषेधरूप नौ विवेकसूत्र-इस प्रकार हैं—

(१) लोक एकान्त नित्य है या एकान्त अनित्य, ऐसी एकान्त दृष्टि ।

१. **अण्णमण्णे**—अन्योन्य का अर्थ चूर्णिकार की दृष्टि से—अन्य इति असयत, तस्मादन्य. सयत' । अर्थात् अन्य का अर्थ—असंयत-गृहस्थ और उससे अन्य सयत—साधु । दोनो एक दूसरे को लेकर (पाप) कर्म से लिप्त होते है या नहीं होते हैं । —सू. कृ. चूर्णि (मू. पा. टि.) पृ. २१८

(२) सभी प्रशास्ता या भव्य एक दिन भवोच्छेद करके मुक्त हो जाएँगे, (ससार भव्य जीव शून्य हो जाएगा), ऐसा वचन।
(३) सभी जीव एकान्तत विसदृश हैं, ऐसा वचन।
(४) सभी जीव सदा कर्मग्रन्थि से बद्ध रहेगे, ऐसा एकान्त वचन।
(५) सभी जीव या तीर्थंकर सदा शाश्वत रहेगे, ऐसा एकान्त वचन।
(६) एकेन्द्रियादि क्षुद्र प्राणी की या हाथी आदि महाकाय प्राणी की हिसा से समान वैर होता है, अथवा समान वैर नही होता, ऐसा एकान्त वचन।
(७) आधाकर्मदोषयुक्त आहारादि का उपभोक्ता और दाता एकान्त रूप से परस्पर पापकर्म से लिप्त होता है, अथवा सर्वथा लिप्त नही होता, ऐसा एकान्त वचन।
(८) औदारिक आदि पाचो शरीर परस्पर अभिन्न है, अथवा भिन्न है, ऐसा एकान्त कथन।
(९) सब पदार्थों मे सबकी शक्ति है, अथवा नही है, ऐसा एकान्त कथन।

एकान्त दृष्टि या एकान्त कथन से दोष—(१) प्रत्येक पदार्थ द्रव्यरूप[1] से नित्य है, किन्तु पर्यायरूप (विशेषत) से अनित्य है। एकान्त नित्य या अनित्य मानने पर लोक व्यवहार नही होता, जैसे 'लोक मे कहा जाता है, यह वस्तु नई है, यह पुरानी है, यह वस्तु अभी नष्ट नही हुई, यह नष्ट हो गई है।' आध्यात्मिक व्यवहार भी नही हो सकता, जैसे—आत्मा को एकान्त नित्य (कूटस्थ) मानने पर उसके बन्ध और मोक्ष का तथा विभिन्न गतियो मे भ्रमण और एकदिन चतुर्गतिरूप ससार से मुक्त होने का व्यवहार नही हो सकता, तथा एकान्त अनित्य (क्षणिक) मानने पर धर्माचरण या साधना का फल किसी को न मिलेगा, यह दोषापत्ति होगी। लोक के सभी पदार्थों को कथचित् नित्यानित्य मानना ही अनेकान्त सिद्धान्त सम्मत आचार है, जैसे सोना, सोने का घडा और स्वर्णमुकुट तीन पदार्थ है। सोने के घट को गलवा कर राजकुमार के लिए मुकुट बना तो उसे हर्ष हुआ, किन्तु राजकुमारी को घडा नष्ट होने से दु ख, लेकिन मध्यस्थ राजा को दोनो अवस्थाओ मे सोना बना रहने से न हर्ष हुआ, न शोक, ये तीनो अवस्थाएँ कथञ्चित् नित्यानित्य मानने पर बनती है।[2]

(२) भविष्यकाल भी अनन्त है और भव्यजीव भी अनन्त है, इसलिए भविष्यकाल की तरह भव्य जीवो का सर्वथा उच्छेद कदापि नही हो सकता। किसी भव्यजीव विशेष का ससारोच्छेद होता भी है।

(३) भवस्थकेवली प्रवाह की अपेक्षा से महाविदेह क्षेत्र मे सदैव रहते हैं, इसलिए शाश्वत किन्तु व्यक्तिगतरूप से सिद्धि को प्राप्त होते है, इस अपेक्षा से वे शाश्वत नही है। ऐसा ही व्यवहार देखा जाता है।

(४) सभी जीव समानरूप से उपयोग वाले, असख्यप्रदेशी और अमूर्त है, इस अपेक्षा से वे कथचित् सदृश हैं, तथा भिन्न-भिन्न कर्म, गति, जाति, शरीर आदि से युक्त होते हैं, इस अपेक्षा से कथचित् विसदृश भी हैं।

---

१ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ३७२ से ३७३ तक का साराश

२. "घट-मौलि-सुवर्णार्थी, नाशोत्पाद-स्थितिस्वयम्।
शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्य, जनो याति सहेतुकम्॥"

(५) कोई अधिक वीर्यसम्पन्न जीव कर्मग्रन्थि का सर्वथा छेदन कर देते हैं, कोई अल्प-पराक्रमी जीव कर्मग्रन्थि का सर्वथा छेदन नही कर पाते। अत. एकान्ततः सभी जीवो को कर्मग्रन्थि से बद्ध कहना अनुचित है, शास्त्रविरुद्ध है।

(६) हिंस्य प्राणी बडे शरीर वाला हो तो उसकी हिंसा से अधिक कर्मबन्ध होता है और क्षुद्र शरीर वाला हो तो कर्मबन्ध अल्प होता है, यह कथन युक्त नही है। कर्मबन्ध की तरतमता हिंसक प्राणी के परिणाम पर निर्भर है। अर्थात् हिंसक प्राणी का तीव्रभाव, महावीर्यता, अल्पवीर्यता की विशेषता से कर्मबन्धजनित वैरबन्ध मे विसदृशता (विशेषता) मानना ही न्यायसगत है। वैरबन्ध का आधार हिंसा है, और हिंसा आत्मा के भावो की तीव्रता-मदता के अनुसार कर्मबन्ध का कारण बनती है। इसलिए, जीवो की सख्या या क्षुद्रता-विशालता वैरबन्ध का कारण नही है। घातक प्राणियो के भावो की अपेक्षा से वैर (कर्म) बन्ध मे सादृश्य या असादृश्य होता है।[1]

(७) आधाकर्मी आहार का सेवन एकान्तत पापकर्म का ही कारण है, ऐसा एकान्तकथन शास्त्रविरुद्ध है। इस सम्बन्ध मे आचार्यो का चिन्तन यह है कि "किसी अवस्थाविशेष मे शुद्ध और कल्पनीय पिण्ड, शय्या, वस्त्र, पात्र, भैषज आदि भी अशुद्ध एव अकल्पनीय हो जाते है और ये ही अशुद्ध एव अकल्पनीय पिण्ड आदि किसी अवस्थाविशेष मे शुद्ध एव कल्पनीय हो जाते है। इसका कारण यह है कि किसी विशिष्ट अवस्था मे न करने योग्य कार्य भी कर्त्तव्य और करने योग्य कार्य भी अकर्त्तव्य हो जाता है।" किसी देशविशेष या कालविशेष मे अथवा किसी अवस्थाविशेष मे शुद्ध (दोषरहित) आहार न मिलने पर आहार के अभाव मे कई अनर्थ पैदा हो सकते हैं, क्योकि वैसी दशा मे भूख और प्यास से पीडित साधक ईर्यापथ का शोधन भलीभाँति नही कर सकता, लडखडाते हुए चलते समय उससे जीवो का उपमर्दन भी सम्भव है, यदि वह क्षुधा-पिपासा या व्याधि की पीडा से मूर्च्छित होकर गिर पडे तो त्रसजीवो की विराधना अवश्यम्भावी है, अगर ऐसी स्थिति मे वह साधक अकाल मे ही कालकवलित हो जाए तो सयम या विरति का नाश हो सकता है, आर्तध्यानवश दुर्गति भी हो सकती है। इसलिए आगम मे विधान किया गया—"साधक को हर हालत मे किसी भी मूल्य पर सयम की रक्षा करनी चाहिए, परन्तु सयम से भी बढ़कर (सयमपालन के साधनभूत) स्वशरीर की रक्षा करना आवश्यक है।" इसलिए आधाकर्मी आहारादि का सेवन एकान्तत पापकर्म का कारण है, ऐसा एकान्तकथन नही करना चाहिए, तथैव आधाकर्मी आहार आदि के सेवन से पापकर्म का बन्धन नही ही होता है, ऐसा एकान्त कथन भी नही करना चाहिए, क्योकि आधाकर्मी आहारादि के बनाने मे प्रत्यक्ष ही षट्कायिक जीवो की विराधना होती है, उससे पापकर्म का बन्ध होता है।

अत आधाकर्मी आहारादि-सेवन से किसी अपेक्षा से पापबन्ध होता है और किसी अपेक्षा से नही भी होता, ऐसा अनेकान्तात्मक कथन ही जैनाचारसम्मत है।

---

१ (क) सूत्रकृताग शीलांकवृत्ति पत्राक ३७२, ३७३

२ (क) किञ्चिच्छुद्ध कल्प्यमकल्प्य वा, स्यादकल्प्यमपि कल्प्यम्।
पिण्ड, शय्या, वस्त्र, पात्र वा भेषजाद्य वा॥

(ख) "उत्पद्येत हि साऽवस्था देशकालामयान् प्रति।
यस्यामकार्यं कार्यं स्यात् कर्म कार्यं च वर्जयेत्॥

(ग) "सव्वत्थ सजम, सजमाओ अप्पाणमेव रक्खेज्जा।" —सूत्र कृ शी वृत्ति प ३७४ से उद्धत

(८) औदारिक आदि पाचो शरीरो के कारणो तथा लक्षणादि मे भेद होने से उनमे एकान्त अभेद नही है। जैसे कि औदारिक शरीर के कारण उदारपुद्गल हैं, कार्मण शरीर के कार्मण वर्गणा के पुद्गल तथा तैजस्शरीर के कारण तेजसवर्गणा के पुद्गल हैं। अतः इसके कारणो में भिन्नता होने से ये एकान्त अभिन्न नही है, तथैव औदारिक आदि शरीर तैजस और कार्मण शरीर के साथ ही उपलब्ध होते है तथा सभी शरीर सामान्यत पुद्गल परमाणुओ से निर्मित हैं इन कारणो से भी इनमे सर्वथा अभेद मानना उचित नही है। इसी प्रकार उनमे एकान्त भेद भी नही मानना चाहिए, क्योकि सभी शरीर एक पुद्गल द्रव्य से निर्मित है। अत अनेकान्त दृष्टि से इन शरीरो मे कथञ्चित् भेद और कथञ्चित् अभेद मानना ही व्यावहारिक राजमार्ग है; शास्त्रसम्मत आचार है।

(९) साख्यदर्शन का मत है—जगत् के सभी पदार्थ प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं, अत प्रकृति ही सबका उपादान कारण है और वह एक ही है, इसलिए सभी पदार्थ सर्वात्मक हैं, सब पदार्थों मे सबकी शक्ति विद्यमान है, यह एक कथन है। दूसरे मतवादियो का कथन है कि देश, काल, एव स्वभाव का भेद होने से सभी पदार्थ सबसे भिन्न है, अपने-अपने स्वभाव मे स्थित हैं, उनकी शक्ति भी परस्पर विलक्षण है, अत सब पदार्थों मे सबकी शक्ति नही है। इस प्रकार दोनो एकान्त कथन हैं, जो उचित नही है। वस्तुत सभी पदार्थ सत्ता रखते हैं, वे ज्ञेय है, प्रमेय हैं, इसलिए अस्तित्व, ज्ञेयत्व, प्रमेयत्व रूप सामान्य धर्म की दृष्टि से भी पदार्थ कथञ्चित् एक है, तथा सबके कार्य, गुण, स्वभाव, नाम एव शक्ति एक दूसरे से भिन्न है, इसलिए सभी पदार्थ कथचित् परस्पर भिन्न भी है। अतएव द्रव्य-पर्यायदृष्टि से कथञ्चित् अभेद एव भेद रूप अनेकान्तात्मक कथन करना चाहिए।

इन विषयो मे अथवा अन्य पदार्थों के विषय मे एकान्तदृष्टि रखना या एकान्त कथन करना अनाचार है, दोष है।[1]

नास्तिकता और आस्तिकता के आधारभूत संज्ञाप्रधान सूत्र

७६५. णत्थि लोए अलोए वा, णेवं सण्णं निवेसए।
अत्थि लोए अलोए वा, एवं सण्णं निवेसए ॥१२॥

७६५ लोक नही है या अलोक नही है ऐसी सज्ञा (बुद्धि—समझ नही रखनी चाहिए) अपितु लोक है और अलोक (आकाशास्तिकायमात्र) है, ऐसी सज्ञा रखनी चाहिए।

७६६. णत्थि जीवा अजीवा वा, णेव सण्ण निवेसए।
अत्थि जीवा अजीवा वा, एवं सण्णं निवेसए ॥१३॥

७६६ जीव और अजीव पदार्थ नही हैं, ऐसी सज्ञा नही रखनी चाहिए, अपितु जीव और अजीव पदार्थ है, ऐसी सज्ञा (बुद्धि) रखनी चाहिए।

७६७. णत्थि धम्मे अधम्मे वा, णेवं सण्णं निवेसए।
अत्थि धम्मे अधम्मे वा, एवं सण्णं निवेसए ॥१४॥

---

१ सूत्रकृतांग शीलाकवृत्ति, पत्राक ३७५-३७६

७६७. धर्म-अधर्म नहीं है, ऐसी मान्यता नहीं रखनी चाहिए, किन्तु धर्म भी है और अधर्म भी है ऐसी मान्यता रखनी चाहिए।

७६८. णत्थि बंधे व मोक्खे वा, णेवं सण्णं निवेसए।
अत्थि बंधे व मोक्खे वा, एवं सण्णं निवेसए ॥१५॥

७६८. बन्ध और मोक्ष नहीं है, यह नहीं मानना चाहिए, अपितु बन्ध है और मोक्ष भी है, यही श्रद्धा रखनी चाहिए।

७६९. णत्थि पुण्णे व पावे वा, णेवं सण्णं निवेसए।
अत्थि पुण्णे व पावे वा, एवं सण्णं निवेसए ॥१६॥

७६९. पुण्य और पाप नहीं है, ऐसी बुद्धि रखना उचित्त नहीं, अपितु पुण्य भी है और पाप भी है, ऐसी बुद्धि रखना चाहिए।

७७०. णत्थि आसवे संवरे वा, णेवं सण्णं निवेसए।
अत्थि आसवे संवरे वा, एवं सण्णं निवेसए ॥१७॥

७७०. आश्रव और सवर नहीं है, ऐसी श्रद्धा नहो रखनी चाहिए, अपितु आश्रव भी है, सवर भी है, ऐसी श्रद्धा रखनी चाहिए।

७७१. णत्थि वेयणा निज्जरा वा, णेवं सण्णं निवेसए।
अत्थि वेयणा निज्जरा वा, एवं सण्णं निवेसए ॥१८॥

७७१ वेदना और निर्जरा नहीं है, ऐसी मान्यता रखना ठीक नहीं है किन्तु वेदना और निर्जरा है, यह मान्यता रखनी चाहिए।

७७२. नत्थि किरिया अकिरिया वा, णेवं सण्णं निवेसए।
अत्थि किरिया अकिरिया वा, एवं सण्णं निवेसए ॥१९॥

७७२. क्रिया और अक्रिया नहीं है, ऐसी सज्ञा नहीं रखनी चाहिए, अपितु क्रिया भी है, अक्रिया भी है, ऐसी मान्यता रखनी चाहिए।

७७३. नत्थि कोहे व माणे वा, णेवं सण्णं निवेसए।
अत्थि कोहे व माणे वा, एवं सण्णं निवेसए ॥२०॥

७७३. क्रोध और मान नहीं हैं, ऐसी मान्यता नहीं रखनी चाहिए, अपितु क्रोध भी है, और मान भी है, ऐसी मान्यता रखनी चाहिए।

७७४. नत्थि माया व लोभे वा, णेवं सण्णं निवेसए।
अत्थि माया व लोभे वा, एवं सण्णं निवेसए ॥२१॥

७७४. माया और लोभ नही हैं, इस प्रकार की मान्यता नही रखनी चाहिए, किन्तु माया है और लोभ भी है, ऐसी मान्यता रखनी चाहिए ।

७७५. णत्थि पेज्जे व दोसे वा, णेव सण्णं निवेसए ।
अत्थि पेज्जे व दोसे वा, एवं सण्ण निवेसए ।।२२।।

७७५ राग और द्वेष नही है, ऐसी विचारणा नही रखनी चाहिए, किन्तु राग और द्वेष हैं, ऐसी विचारणा रखनी चाहिए ।

७७६ णत्थि चाउरते ससारे, णेव सण्ण निवेसए ।
अत्थि चाउरंते ससारे, एव सण्ण निवेसए ।।२३।।

७७६ चार गति वाला ससार नही है, ऐसी श्रद्धा नही रखनी चाहिए, अपितु चातुर्गतिक ससार (प्रत्यक्षसिद्ध) है, ऐसी श्रद्धा रखनी चाहिए ।

७७७. णत्थि देवो व देवी वा, णेव सण्णं निवेसए ।
अत्थि देवो व देवी वा, एव सण्ण निवेसए ।।।२४।।

७७७ देवी और देव नही है, ऐसी मान्यता नही रखनी चाहिए, अपितु देव-देवी है, ऐसी मान्यता रखनी चाहिए ।

७७८ नत्थि सिद्धी असिद्धी वा, णेव सण्ण निवेसए ।
अत्थि सिद्धी असिद्धी वा, एव सण्ण निवेसए ।।२५।।

७७८ सिद्धि (मुक्ति) या असिद्धि (अमुक्तिरूप ससार) नही है, ऐसी बुद्धि नही रखनी चाहिए, अपितु सिद्धि भी है और असिद्धि (ससार) भी है, ऐसी बुद्धि रखनी चाहिए ।

७७९. नत्थि सिद्धी निय ठाण, णेवं सण्ण निवेसए ।
अत्थि सिद्धी निय ठाण, एव सण्ण निवेसए ।।२६।।

७७९ सिद्धि (मुक्ति) जीव का निज स्थान (सिद्धशिला) नही है, ऐसी खोटी मान्यता नही रखनी चाहिए, प्रत्युत सिद्धि जीव का निजस्थान है, ऐसा सिद्धान्त मानना चाहिए ।

७८० नत्थि साहू असाहू वा, णेव सण्णं निवेसए ।
अत्थि साहू असाहू वा, एव सण्णं निवेसए ।।२७।।

७८० (ससार मे कोई) साधु नही है और असाधु नही है, ऐसी मान्यता नही रखनी चाहिए, प्रत्युत साधु और असाधु दोनो है, ऐसी श्रद्धा रखनी चाहिए ।

७८१. नत्थि कल्लाणे पावे वा, णेव सण्णं निवेसए ।
अत्थि कल्लाणे पावे वा, एवं सण्णं निवेसए ।।२८।।

७८१ कोई भी कल्याणवान् (पुण्यात्मा) और पापी (पापात्मा) नही है, ऐसा नही समझना चाहिए अपितु कल्याणवान् (पुण्यात्मा) एव पापात्मा दोनो हैं, ऐसी श्रद्धा रखनी चाहिए।

विवेचन—नास्तिकता और आस्तिकता के आधारभूत सज्ञाप्रधान सूत्र—प्रस्तुत १७ सूत्र-गाथाओ में सम्यग्दर्शनाचार विरुद्ध नास्तिकता का निषेध करके उससे सम्मत आस्तिकता का विधान किया गया है, आस्तिकता ही आचार है और नास्तिकता अनाचार। इस दृष्टि से आचाराराधक को निम्नलिखित विषयो सम्बन्धी नास्तिकता को त्यागकर उनके स्वतत्र अस्तित्व को मानना, जानना और उस पर श्रद्धा करना चाहिए। जो इन पदार्थों के स्वतन्त्र अस्तित्व को नही मानते, वे प्राचीन युग की परिभाषा मे नास्तिक, जैन धर्म की परिभाषा मे मिथ्यात्वी और आगम की भाषा मे अनाचारसेवी (दर्शनाचार रहित) हैं। वृत्तिकार ने स्पष्टीकरण करते हुए इस पर प्रकाश डाला है कि कौन दार्शनिक इनके अस्तित्व को मानता है कौन नही, साथ ही प्रत्येक के अस्तित्व को विभिन्न प्रमाणो से सिद्ध किया है।[1] मूल मे 'सज्ञा' शब्द है, यहाँ वह प्रसगानुसार समझ, बुद्धि, मान्यता, श्रद्धा, सज्ञान या दृष्टि आदि के अर्थ मे प्रयुक्त है।[2] वे १५ सज्ञासूत्र इस प्रकार हैं—

(१) लोक और अलोक—सर्वशून्यतावादी लोक और अलोक दोनो का अस्तित्व नही मानते। वे कहते हैं—स्वप्न, इन्द्रजाल और माया मे प्रतीत होने वाले पदार्थों की तरह लोक (जगत्) और अलोक सभी मिथ्या है। जगत् के सभी प्रतीयमान दृश्य मिथ्या हैं। अवयवो द्वारा ही अवयवी प्रकाशित होता है। जगत् (लोक या अलोक) के अवयवो का (विशेषत अन्तिम अवयव=परमाणु का इन्द्रियातीत होने से) अस्तित्व सिद्ध न होने से जगत् रूप अवयवी सिद्ध नही हो सकता। परन्तु उनका यह सिद्धान्त भ्रान्तिमूलक एव युक्ति विरुद्ध है। अत प्रत्यक्ष दृश्यमान चतुर्दशरज्ज्वात्मक या धर्मादिषड्द्रव्यमय लोक का अस्तित्व स्वत सिद्ध है, और जहाँ धर्मास्तिकाय आदि षट्द्रव्य नही हैं, आकाश है, वहाँ अलोक का अस्तित्व है। यह भी अनुमान एव आगम प्रमाण से सिद्ध है।

(२) जीव और अजीव—पचमहाभूतवादी जीव (आत्मा) का पृथक् अस्तित्व नही मानते। वे कहते हैं—पचभूतो के शरीर के रूप मे परिणत होने पर चैतन्य गुण उन्ही से उत्पन्न हो जाता है, कोई आत्मा नामक स्वतन्त्र पदार्थ नही है। दूसरे आत्माद्वैतवादी (वेदान्ती) अजीव का पृथक् अस्तित्व नही मानते, वे कहते हैं—सारा जगत् ब्रह्म (आत्मा) रूप है, चेतन-अचेतन सभी पदार्थ ब्रह्मरूप हैं, ब्रह्म के कार्य हैं। आत्मा से भिन्न जीव-अजीव आदि पदार्थों को मानना भ्रम है। परन्तु ये दोनो मत युक्ति-प्रमाण विरुद्ध है। जैनदर्शन का मन्तव्य है—उपयोग लक्षण वाले जीव का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वसवेदन प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि प्रमाणो से सिद्ध है, वह अनादि है और पचमहाभूतो का कार्य नही है, जड पचमहाभूतो से चैतन्य की उत्पत्ति सम्भव नही है। अजीव द्रव्य का भी स्वतन्त्र अस्तित्व प्रत्यक्षादिप्रमाणो से सिद्ध है। यदि जीवादिपदार्थ एक ही आत्मा (ब्रह्म) से उत्पन्न होते तो उनमे परस्पर समानता होती, विचित्रता न होती। घट, पट आदि अचेतन अनन्त पदार्थ चेतनरूप आत्मा के परिणाम या कार्य होते तो, वे भी जीव की तरह स्वतन्त्ररूप से गति आदि कर सकते, परन्तु उनमे ऐसा नही देखा जाता। इसके अतिरिक्त ससार मे आत्मा एक ही होता तो कोई सुखी, कोई दु.खी, कोई बद्ध, कोई मुक्त आदि विभिन्न अवस्थाएँ दृष्टिगोचर न होती। एक जीव के सुख से

१ (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३७६ (ख) सूत्रकृ. निर्युक्ति गा. १८२.
२. स्थानांगसूत्र स्थान १०, उ. सू. अभयदेवसूरिटीका।

समस्त जीव सुखी और एक के दु.ख से सारे दु खी हो जाते । प्रत्येक जीव का पृथक्-पृथक् अस्तित्व और अजीव (धर्मास्तिकाय से लेकर पुद्गलास्तिकाय तक) का उससे भिन्न स्वतन्त्र अस्तित्व मानना ही अभीष्ट है ।[१]

(३) धर्म और अधर्म—श्रुत और चारित्र या सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र धर्म कहलाते है, वे आत्मा के स्वाभाविक परिणाम, स्वभाव या गुण है, तथा इनके विपरीत मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, और योग, ये भी आत्मा के ही गुण, परिणाम है किन्तु कर्मोपाधिजनित होने से तथा मुक्ति के विरोधी होने से अधर्म कहलाते हैं । धर्म और अधर्म के कारण जीवो की विचित्रता है । इसलिए इन दोनो का स्वतन्त्र अस्तित्व मानना चाहिए । उपर्युक्त कथन सत्य होते हुए भी कई दार्शनिक[२] काल, स्वभाव, नियति या ईश्वर आदि को ही जगत् की सब विचित्रताओ का कारण मान कर धर्म, अधर्म के स्वतन्त्र अस्तित्व को मानने से इन्कार करते है । किन्तु काल आदि धर्म अधर्म के साथ ही विचित्रता के कारण होते हैं, इन्हे छोड कर नही । अन्यथा एक काल मे उत्पन्न हुए व्यक्तियो मे विभिन्नताएँ या विचित्रताएँ घटित नही हो सकती । स्वभाव आदि की चर्चा अन्य दार्शनिक ग्रन्थो से जान लेनी चाहिए ।

(४) बन्ध और मोक्ष—कर्मपुद्गलो का जीव के साथ दूध पानी की तरह सम्बद्ध होना बन्ध है और समस्त कर्मों का क्षय होना—आत्मा से पृथक् होना मोक्ष है । बन्ध और मोक्ष का अस्तित्व प्रत्यक्षादि प्रमाणो से सिद्ध हो जाता है । इन दोनो के अस्तित्व पर अश्रद्धा व्यक्ति को निरकुश पापाचार या अनाचार मे गिरा देती है । अत आत्मकल्याणकामी को दोनो पर अश्रद्धा का त्याग कर देना चाहिए । कई दार्शनिक (साख्यादि) आत्मा-का बन्ध और मोक्ष नही मानते । वे कहते हैं—आत्मा अमूर्त है, कर्मपुद्गल मूर्त । ऐसी स्थिति मे अमूर्त आत्मा का आकाशवत् कर्मपुद्गलो के साथ बन्ध या लिप्तत्व कैसे हो सकता है ? जब अमूर्त आत्मा बद्ध नही हो सकता तो उसके मुक्त (मोक्ष) होने की बात निरर्थक है, बन्ध का नाश ही तो मोक्ष है । अत बन्ध के अभाव मे मोक्ष भी सम्भव नही । वस्तुत यह सिद्धान्त यथार्थ नही है । चेतना अमूर्त पदार्थ है, फिर भी मद्य आदि मूर्त पदार्थों के साथ सम्बन्ध होने (सेवन) से उसमे विकृति स्पष्टत देखी जा सकती है । इसके अतिरिक्त ससारी आत्मा एकान्तत अमूर्त नही—मूर्त है । अत उसका मूर्त कर्म पुद्गलो के साथ सम्बन्ध सुसगत है । जब बन्ध होता है, तो एक दिन उसका अभाव--मोक्ष भी सम्भव है । फिर बन्ध का अस्तित्व न मानने पर ससारी व्यक्ति का सम्यग्दर्शनादि साधना का पुरुषार्थ व्यर्थ हो जाएगा, और मोक्ष न मानने पर साध्य या अन्तिम लक्ष्य की दिशा मे पुरुषार्थ नही होगा । इसलिए दोनो का अस्तित्व मानना अनिवार्य है ।

(५) पुण्य और पाप—"शुभकर्म पुद्गल पुण्य है और अशुभकर्म पुद्गल पाप ।" इन दोनो का पृथक्-पृथक् स्वतत्र अस्तित्व है ।[३] कई अन्यतीर्थिक कहते है—इस जगत् मे पुण्य नामक कोई

---

१. सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ३७६-३७७

२. नहि कालादिहितो केवलएहितो जायए किंचि ।
इह मुग्गरधणाइ वि ता सव्वे समुदिया हेऊ ॥

३ "पुद्गलकर्म शुभ यत् तत् पुण्यमिति जिनशासने दृष्टम् ।
यदशुभमथ तत् पापमिति भवति सर्वज्ञनिदशात् ॥"

पदार्थ नही, एकमात्र पाप ही है। पाप कम हो जाने पर, सुख उत्पन्न करता है, अधिक हो जाने पर दु.ख, दूसरे दार्शनिक कहते है—जगत् मे पाप नाम का कोई पदार्थ नही है, एकमात्र पुण्य ही है। पुण्य घट जाता है, तब वह दु.खोत्पत्ति, और बढ़ जाता है तब सुखोत्पत्ति करता है। तीसरे मतवादी कहते हैं—पुण्य या पाप दोनो ही पदार्थ मिथ्या हैं, क्योकि जगत् की विचित्रता नियति, स्वभाव आदि के कारण से होती है। वस्तुत. ये दार्शनिक भ्रम मे हैं, पुण्य और पाप दोनो का नियत सम्बन्ध है, एक का अस्तित्व मानने पर दूसरे का अस्तित्व मानना ही पडेगा। यदि सब कुछ नियति या स्वभाव आदि से होने लगे, तो क्यो कोई सत्कार्य मे प्रवृत्त होगा? फिर तो किसी को शुभ-अशुभ क्रिया का फल भी प्राप्त नही होगा। परन्तु ऐसा होता नही। अत. पुण्य और पाप दोनो का स्वतन्त्र अस्तित्व मानना ही ठीक है।

(६) **आश्रव और संवर**—जिसके द्वारा आत्मा मे कर्म आते हैं, अर्थात् जो बन्ध का कारण है, वह (प्राणातिपात आदि) आश्रव है, और उस आश्रव का निरोध करना सवर है। ये दोनो पदार्थ अवश्यम्भावी हैं, शास्त्रसम्मत भी।

किसी दार्शनिक ने आश्रव और सवर दोनो को मिथ्या बताते हुए तर्क उठाया है कि 'यदि आश्रव आत्मा से भिन्न हो तो वह घटपटादि पदार्थों की तरह आत्मा मे कर्म बन्ध का कारण नही हो सकता। यदि वह आत्मा से अभिन्न हो तो मुक्तात्माओ मे भी उसकी सत्ता माननी पडेगी, ऐसा अभीष्ट नही। अत आश्रव की कल्पना मिथ्या है। जब आश्रव सिद्ध नही हुआ तो उसका निरोधरूप सवर भी नही माना जा सकता।

शास्त्रकार ने इसका निराकरण करते हुए कहा—"आश्रव का अस्तित्व न मानने से सासारिक जीवो की विचित्रता सिद्ध नही हो सकती और सवर न मानने से कर्मों का निरोध घटित नही हो सकता। अत दोनो का अस्तित्व मानना ही उचित है। आश्रव ससारी आत्मा से न तो सर्वथा भिन्न है, न सर्वथा अभिन्न। आश्रव और सवर दोनो को आत्मा से कथचित् भिन्न, कथचित् अभिन्न मानना ही न्यायोचित है।

(७) **वेदना और निर्जरा**—कर्म का फल भोगना 'वेदना' है और कर्मों का आत्मप्रदेशो से झड जाना 'निर्जरा' है।

कुछ दार्शनिक कहते है—"ये दोनो पदार्थ नही हैं, क्योकि आचार्यों ने कहा है—'अज्ञानी पुरुष जिन कर्मों का अनेक कोटि वर्षों मे क्षय करता है, उन्हे त्रिगुप्तिसम्पन्न ज्ञानीपुरुष एक उच्छ्वास-मात्र मे क्षय कर डालता है।'[1] इस सिद्धान्तानुसार सैकडो पल्योपम एव सागरोपम काल मे भोगने योग्य कर्मों का भी (बिना भोगे ही) अन्तर्मुहूर्त मे क्षय हो जाता है, अत सिद्ध हुआ कि क्रमश बद्ध-कर्मों का वेदन (फलभोग) क्रमश नही होता, अत 'वेदना' नाम का कोई तत्त्व मानने की क्या आवश्यकता है? इस प्रकार वेदना का अभाव सिद्ध होने से निर्जरा का अभाव स्वत· सिद्ध है।"

परन्तु अनेकान्तवादी जैनदर्शन ऐसा नही मानता। तपश्चर्या और प्रदेशानुभव के द्वारा कतिपय कर्मों का ही क्षपण होता है, समस्त कर्मों का नही। उन्हे तो उदीरणा और उदय के द्वारा

---

१ "ज अन्नाणी कम्म खवेइ बहुयाहि वासकोडीहि।
त णाणी तिहि गुत्तो खवेइ, ऊसासमित्तेण॥"

भोगना (अनुभव-वेदन करना) होता है। इससे वेदना तत्त्व का अस्तित्व सिद्ध होता है। आगम मे भी कहा है—'पहले अपने द्वारा कृत दुष्प्रतीकार्य दुष्कर्मों (पापकर्मों) का वेदन (भोग) करके ही मोक्ष होता है, बिना भोगे नही।'[1] इस प्रकार वेदना का अस्तित्व सिद्ध होने पर निर्जरा का अस्तित्व स्वत. सिद्ध हो जाता है। अत वेदना और निर्जरा दोनो का अस्तित्व मानना अत्यावश्यक है।

(८) **क्रिया और अक्रिया**—चलना, फिरना आदि क्रिया है और इनका अभाव अक्रिया।

साख्यमतवादी आत्मा को आकाश के समान व्यापक मान कर उसमे क्रिया का अस्तित्व नही मानते। वे आत्मा (पुरुष) को निष्क्रिय कहते है।

बौद्ध समस्त पदार्थों को क्षणिक मानते है अत पदार्थों मे उत्पत्ति के सिवाय अन्य किसी क्रिया को नही मानते।

आत्मा मे क्रिया का सर्वथा अभाव मानने पर बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था नही हो सकती। न ही वह आत्मा सुख-दु ख का भोक्ता हो सकता है। अत सयोगावस्था तक आत्मा मे क्रिया रहती है, अयोगावस्था मे आत्मा अक्रिय हो जाता है।[2]

(९) **क्रोध, मान, माया और लोभ**—अपने या दूसरे पर अप्रीति करना क्रोध है, गर्व करना मान है, कपट को माया और वितृष्णा को लोभ कहते है।

इन चारो कषायो का अस्तित्व प्रत्यक्षादि प्रमाणो से सिद्ध है। दसवे गुण-स्थान तक कषाय आत्मा के साथ रहता है, बाद मे आत्मा निष्कषाय हो जाता है।

(१०) **राग और द्वेष**—अपने धन, स्त्री, पुत्र आदि पदार्थों के प्रति जो प्रीति या आसक्ति होती है, उसे प्रेम, या राग कहते है। इष्ट वस्तु को हानि पहुँचाने वाले व्यक्ति के प्रति चित्त मे अप्रीति या घृणा होना द्वेष है। कई लोगो का मत है कि माया और लोभ इन दोनो मे राग या प्रेम तथा क्रोध और मान, इन दोनो मे द्वेष गतार्थ हो जाता है फिर इनके समुदायरूप राग या द्वेष को अलग पदार्थ मानने की क्या आवश्यकता है? क्योकि समुदाय अपने अवयवो से पृथक् पदार्थ नही है। किन्तु यह मान्यता एकान्तत सत्य नही है, समुदाय (अवयवी) अपने अवयवो से कथञ्चिद् भिन्न तथा कथञ्चिद् अभिन्न होता है। इस दृष्टि से राग और द्वेष दोनो का कथचित् पृथक् पृथक् अस्तित्व है।

(११) **चातुर्गतिक ससार**—नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव ये चार गतियाँ है। जीव स्व-स्व कर्मानुसार इन चारो गतियो मे जन्म-मरण के रूप मे ससरण-परिभ्रमण करता रहता है, यही चातुर्गतिक ससार है। यदि चातुर्गतिक ससार न माना जाए तो शुभाशुभकर्म-फल भोगने की व्यवस्था नही हो सकती। इसलिए चार गतियो वाला ससार मानना अनिवार्य है। कई लोग कहते हैं—यह ससार कर्मबन्धनरूप तथा जीवो को एकमात्र दु ख देने वाला है, अत. एक ही प्रकार का है।

कई लोग कहते है—इस जगत् मे मनुष्य और तिर्यञ्च ये दो ही प्रकार के प्राणी दृष्टि-

---

१ पुव्विं दुच्चिण्णाणं दुप्पडिक्कंताणं वेइत्ता मोक्खो, णत्थि अवेइत्ता।

—सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ३७७ से ३७९ तक से उद्धृत।

२ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ३७९-३८०

गोचर होते हैं, देव और नारक नही। अत: ससार दो ही गतियोवाला है, इन्ही दो गतियो मे सुख-दु:ख की न्यूनाधिकता पाई जाती है। अत: ससार द्विगतिक मानना चाहिए, चातुर्गतिक नही। परन्तु-यह मान्यता अनुमान और आगम प्रमाणो से खण्डित हो जाती है। यद्यपि नारक और देव अल्पज्ञो छद्मस्थो को प्रत्यक्ष प्रतीत नही होते, परन्तु अनुमान और आगम प्रमाण से इन दोनो गतियो की सिद्धि हो जाती है। शास्त्रकार कहते हैं—**'अत्थि चाउरंते संसारे'**। देव उत्कृष्ट पुण्यफल के भोक्ता और नारक उत्कृष्ट पापफल के भोक्ता होते है। इसलिए चारो गतियो का अस्तित्व सिद्ध होने से चातुर्गतिक ससार मानना चाहिए।

(१२) **देव और देवी**—यद्यपि चातुर्गतिक ससार मे देवगति के सिद्ध हो जाने से देवो और देवियो का भी पृथक् अस्तित्व सिद्ध हो जाता है तथापि कई मतवादी मनुष्यो के अन्तर्गत ही राजा, चक्रवर्ती या धनपति आदि पुण्यशाली पुरुष-स्त्री को देव-देवी मानते हैं, अथवा ब्राह्मण या विद्वान् को देव एव विदुषी को देवी मानते हैं, पृथक् देवगति मे उत्पन्न देव या देवी नही मानते। उनकी इस भ्रान्त मान्यता का निराकरण करने के लिए शास्त्रकार ने कहा है—देव या देवी का पृथक् अस्तित्व मानना चाहिए—भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक, ये चारो प्रकार के देव पृथक्-पृथक् निकाय के होते हुए भी इन सबका देवपद से ग्रहण हो जाता है। ज्योतिष्कदेव तो प्रत्यक्ष हैं, शेष देव भी अनुमान एव आगम प्रमाण से सिद्ध हैं।

(१३) **सिद्धि, असिद्धि और आत्मा की स्वस्थान-सिद्धि**- समस्त कर्मों का क्षय हो जाने पर अनन्तज्ञान-दर्शन-वीर्य सुखरूप आत्मस्वरूप की उपलब्धि हो जाना सिद्धि है। इसे मोक्ष या मुक्ति भी कहते है। सिद्धि से जो विपरीत हो वह असिद्धि है, यानी शुद्धस्वरूप की उपलब्धि न होना— ससार मे परिभ्रमण करना। असिद्धि ससाररूप है, जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है। जब असिद्धि सत्य है, तो उसकी प्रतिपक्षी समस्त कर्मक्षयरूप सिद्धि भी सत्य है क्योकि सभी पदार्थों का प्रतिपक्षी अवश्य होता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तपश्चरणरूप मोक्षमार्ग की आराधना करने से समस्त कर्मो का क्षय हो कर जीव को सिद्धि प्राप्त होती है। अत अनुमान, आगम आदि प्रमाणो से, अशत प्रत्यक्षप्रमाण से तथा महापुरुषो द्वारा सिद्धि के लिए प्रवृत्ति करने से सिद्धि सिद्ध होती है। कई दार्शनिक कहते है—हिंसा से सर्वथा निवृत्ति किसी भी साधक की नही हो सकती, क्योकि जल, स्थल, आकाश, आदि मे सर्वत्र जीवो से पूर्ण लोक मे अहिंसक रहना सभव नही है। परन्तु हिंसादि आश्रव-द्वारो को रोक कर पाच समिति—त्रिगुप्तिसम्पन्न निर्दोष भिक्षा से जीवननिर्वाह करता हुआ एव ईर्याशोधनपूर्वक यतना से गमनादिप्रवृत्ति करता हुआ साधु भावशुद्धि के कारण कर्मबन्ध नही करता, इस प्रकार के साधु को समस्त कर्मों का क्षय होने से सिद्धि या मुक्ति प्राप्त होती है। असिद्धि का स्वरूप तो स्पष्टत सिद्ध है, अनुभूति का विषय है। सिद्धि जीव (शुद्ध-मुक्तात्मा) का निज स्थान है। समस्त कर्मों के क्षय होने पर मुक्तजीव जिस स्थान को प्राप्त करता है, वह लोकाग्रभागस्थित सिद्धशिला ही जीव का निजी सिद्धिस्थान है। वहाँ से लौट कर वह पुन: इस असिद्धि (ससार) स्थान मे नही आता। कर्मबन्धन से मुक्त जीव की ऊर्ध्वगति होती है, वह ऊर्ध्वगति लोक के अग्रभाग तक ही होती है, धर्मास्तिकाय का निमित्त न मिलने से आगे गति

नहीं होती । अत सिद्धजीव जहाँ स्थित रहते हैं, उसे सिद्धि स्थान कहा जाता है ।[१]

कुछ दार्शनिक कहते हैं—मुक्त पुरुष आकाश के समान सर्वव्यापक हो जाते है, उनका कोई एक स्थान नही होता, परन्तु यह कथन युक्ति-प्रमाणविरुद्ध है । आकाश तो लोक-अलोक दोनो मे व्याप्त है । अलोक मे तो आकाश के सिवाय कोई पदार्थ रह नही सकता, मुक्तात्मा लोकमात्रव्यापक हो जाता है इसमे कोई प्रमाण नही । सिद्ध जीव मे ऐसा कोई कारण नही कि वह शरीरपरिमाण को त्याग कर समस्त लोकपरिमित हो जाए ।

(१४) **साधु और असाधु**—स्व-परहित को सिद्ध करता है, अथवा प्राणातिपात आदि १८ पापस्थानो से विरत होकर सम्यग्दर्शनादिचतुष्टयरूप मोक्षमार्ग की या पचमहाव्रतो की साधना करता है, वह साधु है । जिसमे साधुता नही है, वह असाधु है । अत जगत् मे साधु भी हैं, असाधु भी हैं, ऐसा मानना चाहिए ।

कई लोग कहते है—"रत्नत्रय का पूर्णरूप से पालन असम्भव होने से जगत् मे कोई साधु नही है । जब साधु ही नही तो उसका प्रतिपक्षी साधु भी नही हो सकता ।" यह मान्यता उचित नही है । विवेकी पुरुष को ऐसा नही मानना चाहिए । जो साधक सदा यतनापूर्वक समस्त प्रवृत्ति करता है, 'सुसयमी चारित्रवान् है, शास्त्रोक्तविधि से शुद्ध निर्दोष आहार लेता है, ऐसे सुसाधु से कदाचित् भूल से अनजान मे अनेषणीय अशुद्ध आहार ले भी लिया जाए तो भी सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय का अपूर्ण आराधक नही, अपनी शुद्ध दृष्टि से वह पूर्ण आराधक है, क्योकि वह शुद्धि बुद्धि से, भावनाशुद्धिपूर्वक शुद्ध समझ कर उस आहार को ग्रहण करता है । इससे वह असाधु नही हो जाता, सुसाधु ही रहता है । भक्ष्याभक्ष्य, एषणीय-अनेषणीय, प्रासुक-अप्रासुक आदि का विचार करना राग-द्वेष नही, अपितु चारित्रप्रधान मोक्ष का प्रमुख अग है । इसमे साधु की समता (सामायिक) खण्डित नही होती ।[२]

इस प्रकार साधु का अस्तित्व सिद्ध होने पर उनके प्रतिपक्षी असाधु के अस्तित्व की भी सिद्धि हो जाती है ।

(१५) **कल्याण और पाप अथवा कल्याणवान् और पापवान्**—अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति को कल्याण और हिंसा आदि को पाप कहते है, जिसमे ये हो, उन्हे क्रमश कल्याणवान् तथा पापवान

---

१ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ३८० से ३८२ तक

(ख) दोषावरणयोर्हानि नि शेषाऽस्त्यतिशायिनी ।
क्वचिद् यथा स्वहेतुभ्यो, बहिरन्तर्मलक्षय. ॥

(ग) 'कर्मविमुक्तस्योर्ध्वंगति '

(घ) लाउ एरडफले अग्गी धूमे य उमु धणुविमुक्के ।
गइ पुव्वपओगेण एव सिद्धाण वि गई ओ ॥

२ उच्चालियम्मि पाए ईरियासमियस्स सकमट्ठाए ।
वावज्जिज्ज कुलिगी, मरिज्ज वा त जोगमासज्ज ॥
ण य तस्स तण्णिमित्तो बधो सुहुमो वि देसिओ समए ।

सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्रांक ३८१-३८२ मे उद्धृत

कहते हैं। जगत् मे कल्याण और पाप दोनो प्रकार वाले पदार्थों का अस्तित्व है। इस प्रत्यक्ष दृश्यमान सत्य को झुठलाया नही जा सकता।

बौद्धो का कथन है—जगत् में कल्याण नामक कोई पदार्थ नही है, सभी पदार्थ अशुचि और निरात्मक हैं। कल्याण नामक पदार्थ न होने से कोई भी व्यक्ति कल्याणवान् नही है। परन्तु ऐसा मानने पर बौद्धो के उपास्यदेव भी अशुचि सिद्ध होगे जो उन्हे अभीष्ट नही है। इसीलिए सभी पदार्थ अशुचि नही हैं, न ही निरात्मक हैं, क्योकि सभी पदार्थ स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से सत् हैं, परद्रव्य-क्षेत्र-कालभाव की अपेक्षा से असत् हैं, ऐसा मानना ठीक है। आत्मद्वैतवादो के मतानुसार आत्मा से भिन्न कोई पदार्थ नही है, सभी पदार्थ आत्म (पुरुष) स्वरूप हैं। इसलिए कल्याण और पाप नाम को कोई वस्तु नही है। किन्तु यह प्रत्यक्ष-बाधित है। ऐसा मानने से जगत् की दृश्यमान विचित्रता सगत नही हो सकती।

अत जगत् मे कल्याण और पाप अवश्य है, ऐसा अनेकान्तात्मक दृष्टि से मानना चाहिए।

कतिपय निषेधात्मक आचार सूत्र

७८२. कल्लाणे पावए वा वि, ववहारो ण विज्जई।
जं वेरं तं न जाणंति, समणा बालपंडिया ॥२९॥

७८२ यह व्यक्ति एकान्त कल्याणवान् (पुण्यवान्) है, और यह एकान्त पापी है, ऐसा व्यवहार नही होता, (तथापि) बालपण्डित (सद्-असद्-विवेक से रहित होते हुए भी स्वय को पण्डित मानने वाले) (शाक्य आदि) श्रमण (एकान्त पक्ष के अवलम्बन से उत्पन्न होने वाले), वैर (कर्मबन्धन) नही जानते।

७८३. असेसं अक्खयं वा वि, सव्वदुक्खे त्ति वा पुणो।
वज्झा पाणा न वज्झ त्ति, इति वायं न नीसरे ॥३०॥

७८३ जगत् के अशेष (समस्त) पदार्थ अक्षय (एकान्त नित्य) है, अथवा एकान्त अनित्य है, ऐसा कथन (प्ररूपण) नही करना चाहिए, तथा सारा जगत् एकान्तरूप से दु खमय है, ऐसा वचन भी नही कहना चाहिए एव अमुक प्राणी वध्य है, अमुक अवध्य है, ऐसा वचन भी साधु को (मु ह से) नही निकालना चाहिए।

७८४. दीसंति समियाचारा, भिक्खुणो साहुजीविणो।
एए मिच्छोवजीवि त्ति, इति दिट्ठिं न धारए ॥३१॥

७८४ साधुतापूर्वक जीने वाले, (शास्त्रोक्त) सम्यक् आचार के परिपालक निर्दोष भिक्षाजीवी साधु दृष्टिगोचर होते है, इसलिए ऐसी दृष्टि नही रखनी चाहिए कि ये साधुगण कपट से जीविका (जीवननिर्वाह) करते हैं।

७८५. दक्खिणाए पडिलंभो, अत्थि नत्थि त्ति वा पुणो।
ण वियागरेज्ज मेहावी, संतिमग्गं च वूहए ॥३२॥

७८५ मेधावी (विवेकी) साधु को ऐसा (भविष्य-) कथन नही करना चाहिए कि दान का

प्रतिलाभ (प्राप्ति) अमुक से होता है, अमुक से नही होता, अथवा तुम्हे आज भिक्षालाभ होगा या नही ? किन्तु जिससे शान्ति (मोक्षमार्ग) की वृद्धि होती हो, ऐसा वचन कहना चाहिए।

विवेचन—कतिपय निषेधात्मक आचारसूत्र—प्रस्तुत चार सूत्रगाथाओ मे साधुओ के लिए भाषासमिति, सत्यमहाव्रत, अहिसा अनेकान्त आदि की दृष्टि से विभिन्न पहलुओ से कतिपय निषेधात्मक आचारसूत्र प्रस्तुत किये गए है। वे इस प्रकार हैं—

(१) किसी भी व्यक्ति को एकान्त पुण्यवान् (कल्याणवान्) अथवा एकान्त पापी नही कहना चाहिए।

(२) जगत् के सभी पदार्थ एकान्त नित्य है, या एकान्त अनित्य है, ऐसी एकान्त प्ररूपणा नही करनी चाहिए।

(३) सारा जगत् एकान्तरूप से दु खमय है, ऐसा नही कहना चाहिए।

(४) अमुक प्राणी वध्य (हनन करने योग्य) है, अमुक अवध्य है, ऐसा वचन मु ह से न निकाले।

(५) ससार मे साधुतापूर्वक जीने वाले, आचारवान् भिक्षाजीवी साधु (प्रत्यक्ष) दीखते है, फिर भी ऐसी दृष्टि न रखे (या मिथ्याधारणा न बना ले) कि ये साधु कपटपूर्वक जीवन जीते हैं।

(६) साधुमर्यादा मे स्थित साधु को ऐसी भविष्यवाणी नही करनी चाहिए कि तुम्हे अमुक के यहाँ से दान मिलेगा, अथवा आज तुम्हे भिक्षा प्राप्त होगी या नही ? वह मोक्षमार्ग का कथन करे।

इनकी अनाचरणीयता का रहस्य —किसी को एकान्तत पुण्यवान् (या कल्याणवान्) कह देने से उसके प्रति लोग आकर्षित होगे, सम्भव है, वह इसका दुर्लाभ उठाए। एकान्तपापी कहने से वैर बन्ध जाने की सम्भावना है। जगत् के सभी पदार्थ पर्यायत परिवर्तनशील हैं, कोई भी वस्तु सदा एक-सी अवस्था मे नही रहती इसलिए अनेकान्तदृष्टि से पदार्थ को एकान्त नित्य कहने से उसकी विभिन्न अवस्थाएँ नही बन सकती, एकान्तनित्य (बौद्धो की तरह) कहने से कृतनाश और अकृतप्राप्ति आदि दोष होते है। सारा जगत् एकान्तदु खमय है, ऐसा कह देना भी ठीक नही, क्योकि ऐसा कहने से अहिसादि या रत्नत्रय की साधना करने का उत्साह नही रहता, तथा सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय-प्राप्ति से साधक को असीम सुख का अनुभव होता है, इसलिए सत्यमहाव्रत मे दोष लगता है। अहिसाधर्मी साधु हत्यारे, परस्त्रीगामी, चोर, डाकू या उपद्रवी को देखकर यदि यह कहता है कि इन्हे मार डालना चाहिए तो उसका अहिसा महाव्रत भग हो जाएगा। यदि सरकार किसी भयकर अपराधी को भयकर दण्ड—मृत्युदण्ड (कानून की दृष्टि से) दे रही हो तो उस समय साधु बीच मे पचायती न करे कि इन्हे मारो-पीटो मत, इन्हे दण्ड न दो। यदि वह ऐसा कहता है, तो राज्य या जनता के कोप का भोजन बन सकता है, अथवा ऐसे दण्डनीय व्यक्ति को साधु निरपराध कहता है तो साधु को उसके पापकार्य का अनुमोदन लगता है। अत साधु ऐसे समय मे समभावपूर्वक मध्यस्थ वृत्ति से रहे। अन्यथा, भाषासमिति, अहिसा, सत्य आदि भग होने की सम्भावना है। किसी सुसाधु के विषय मे गलतफहमी या पूर्वाग्रह से मिथ्याधारणा बना लेने पर (कि यह कपटजीवी है, अनाचारी है, साधुता से दूर है आदि) द्वेष, वैर बढता है, पापकर्मबन्ध होता है, सत्यमहाव्रत मे दोष लगता है। इसी प्रकार स्वतीर्थिक या परतीर्थिक साधु के द्वारा दान या

भिक्षा की प्राप्ति के सम्बन्ध मे पूछे जाने पर भविष्यवाणी कर देने से यदि उक्त कथन के विपरीत हो गया तो साधु के प्रति अश्रद्धा बढेगी, एकान्त निश्चयकारी भाषा बोलने से भाषासमिति एव सत्य-महाव्रत में दोष लगेगा। दान प्राप्त न होने का कहने पर प्रश्नकार के मन मे अन्तराय, निराशा, दुःख होना सम्भव है। कहने पर प्रश्नार्थी मे अपार हर्षवश अधिकरणादि दोषो की सम्भावना है। अतः साधु को प्रश्नकर्त्ता साधु के समक्ष शान्ति-(मोक्ष) मार्ग मे वृद्धि हो ऐसा ही कथन करना चाहिए।

एकान्तमार्ग का आश्रय अनाचार की कोटि मे चला जाता है।

जिनोपदिष्ट आचारपालन में प्रगति करे

७८६. इच्चेतेहिं ठाणेहिं, जिणदिट्ठेहिं संजए।
धारयंते उ अप्पाणं, आमोक्खाए परिव्वएज्जासि ॥३३॥
—त्ति बेमि ॥

॥ अणायारसुयं : पंचमं अज्झयणं समत्तं ॥

७८६ इस प्रकार इस अध्ययन मे जिन भगवान् द्वारा उपदिष्ट या उपलब्ध (दृष्ट) स्थानो (तथ्यो) के द्वारा अपने आपको सयम मे स्थापित करता हुआ साधु मोक्ष प्राप्त होने तक (पचाचार पालन मे) प्रगति करे। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—जिनोपदिष्ट आचारपालन मे प्रगति करे—प्रस्तुत गाथा मे अध्ययन का उपसहार करते हुए शास्त्रकार इस अध्ययन मे जिनोपदिष्ट अनाचरणीय मार्गों को छोडकर आचरणीय पचाचारपालन मार्गों मे प्रगति करने का निर्देश करते हैं।

॥ अनाचारश्रुत : पंचम अध्ययन समाप्त ॥

□□

आर्द्रकीय : छठा अध्ययन

प्राथमिक

☐ सूत्रकृताग (द्वि श्रु) के छठे अध्ययन का नाम 'आर्द्रकीय' है।

☐ आर्द्रक (भूतपूर्व राजकुमार और वर्तमान मे श्रवण भगवान् महावीर की परम्परा मे स्वय दीक्षित मुनि) से सम्बन्धित होने के कारण इस अध्ययन का नाम आर्द्रकीय रखा गया।

☐ निर्युक्तिकार के अनुसार आर्द्रकपुर नगर मे, आर्द्रकनामक राजा का पुत्र तथा आर्द्रकवती रानी का अगजात 'आर्द्रककुमार' बाद मे आर्द्रक अनगार हो गया था। आर्द्रक से समुत्थित होने से इस अध्ययन का नाम 'आर्द्रकीय' है।

☐ आर्द्रककुमार ने आर्द्रकपुर[1] नाम अनार्यदेशवर्ती नगर मे जन्म लेकर मुनिदीक्षा कैसे ली? और भगवान् महावीर के धर्म का गाढ परिचय उसे कैसे हुआ? निर्युक्तिकार के अनुसार वह वृत्तान्त सक्षेप मे इस प्रकार है—आर्द्रकपुर नरेश और मगधनरेश श्रेणिक के बीच स्नेहसम्बन्ध था। इसी कारण अभयकुमार से आर्द्रककुमार का परोक्ष परिचय हुआ। आर्द्रककुमार को अभयकुमार ने भव्य और शीघ्रमोक्षगामी समझकर उसके लिए आत्मसाधनोपयोगी उपकरण उपहार मे भेजे। उन्हे देखते ही उसे पूर्वजन्म का स्मरण हुआ। आर्द्रककुमार का मन काम-भोगो से विरक्त हो गया। अपने देश से निकलकर भारत पहुँचा। दिव्यवाणी द्वारा मना किये जाने पर भी स्वय आर्हत-धर्म मे प्रव्रजित हो गया। भोगावलीकर्मोदयवश दीक्षा छोडकर पुन गृहस्थधर्म मे प्रविष्ट होना पडा। अवधि पूर्ण होते ही पुन साधुवेश धारण कर जहाँ भगवान् महावीर विराजमान थे, वहाँ पहुँचने के लिए प्रस्थान किया। पूर्वजन्म का स्मरण होने से आर्द्रक को निर्ग्रन्थ महावीर एव उनके धर्म का बोध हो गया था।

☐ मार्ग मे आर्द्रकमुनि की चर्चा किन-किन के साथ, क्या-क्या हुई? यह इस अध्ययन के **'पुराकड अद्द! इम सुणेह'** पाठ से आरम्भ होने वाले वाक्य से परिलक्षित होती है। इस वाक्य मे उल्लिखित 'अद्द' सम्बोधन से भी स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस अध्ययन मे चर्चित वादविवाद का सम्बन्ध 'आर्द्रक' के साथ है। निर्युक्ति एव वृत्ति के अनुसार इस अध्ययन मे आर्द्रक के साथ पाच मतवादियो के वादविवाद का वर्णन है—(१) गोशालक, (२) बौद्धभिक्षु, (३) वेदवादी ब्राह्मण, (४) साख्यमतवादी एकदण्डी, और (५) हस्तितापस। आर्द्रकमुनि ने सबको युक्ति, प्रमाण एव निर्ग्रन्थ सिद्धान्त के अनुसार उत्तर दिया है, जो बहुत ही रोचक शैली मे प्रस्तुत किया गया है।[2]

☐ यह अध्ययन सू गा ७८७ से प्रारम्भ होकर सू गा ८४१ पर समाप्त होता है। ☐☐

---

१ कुछ विद्वान् आर्द्रकपुर वर्त्तमान 'एडन' को बताते हैं।—स

२ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ३८५ से ३८८

(ख) सूत्रकृताग निर्युक्ति गा १८७, १९०, १९८, १९९

अद्दइज्जं : छट्ठ अज्झयणं

आर्द्रकीय : छठा अध्ययन

भगवान् महावीर पर लगाए गए आक्षेपों का आर्द्रकमुनि द्वारा परिहार

७८७ पुराकडं अद्द ! इमं सुणेह, एगंतचारी समणे पुरासी ।
से भिक्खुणो उवणेत्ता अणेगे, आइक्खतेण्हि पुढो वित्थरेणं ॥१॥

७८७ (गोशालक ने आर्द्रकमुनि से कहा—) हे आर्द्रक ! महावीर स्वामी ने पहले जो आचरण किया था, उसे मुझ से सुन लो ! पहले वे एकान्त (निर्जन प्रदेश मे अकेले) विचरण किया करते थे और तपस्वी थे । अब वे (आप जैसे) अनेक भिक्षुओ को इकट्ठा करके या अपने साथ रख कर पृथक्-पृथक् विस्तार से धर्मोपदेश देते है ।

७८८. साऽऽजीविया पट्ठवियाऽथिरेणं, सभागतो गणतो भिक्खुमज्झे ।
आइक्खमाणो बहुजण्णमत्थं, न संधयाती अवरेण पुव्वं ॥२॥

७८८—उस अस्थिर (चचलचित्त) महावीर ने यह तो अपनी आजीविका बना (स्थापित कर) ली है । वह जो सभा मे जाकर अनेक भिक्षुओ के गण के बीच (बैठ कर) बहुत-से लोगो के हित के लिए धर्मोपदेश देते (व्याख्यान करते) है, यह उनका वर्त्तमान व्यवहार उनके पूर्व व्यवहार से मेल नही खाता, (यह पूर्वापर-विरुद्ध आचरण है) ।

७८९. एगंतमेव अदुवा वि इण्हि, दोवऽण्णमण्णं न समेंति जम्हा ।
पुव्विं च इण्हि च अणागत वा, एगतमेव पडिसंधयाति ॥३॥

७८९ (पूर्वार्द्ध) इस प्रकार या तो महावीर स्वामी का पहला व्यवहार एकान्त (निर्जन प्रदेश मे एकाकी) विचरण ही अच्छा (सम्यक् आचरण) हो सकता है, अथवा इस समय का अनेक लोगो के साथ रहने का व्यवहार ही अच्छा (सम्यक् आचरण) हो सकता है । किन्तु परस्पर-विरुद्ध दोनो आचरण अच्छे नही हो सकते, क्योकि दोनो मे परस्पर मेल नही, विरोध है ।

(उत्तरार्द्ध) [गोशालक के आक्षेप का आर्द्रकमुनि ने इस प्रकार समाधान किया—] श्रमण भगवान् महावीर पूर्वकाल मे, वर्त्तमान काल मे (अब) और भविष्यत्काल मे (सदैव) एकान्त का ही अनुभव करते हैं । अत. उनके (पहले के और इस समय के) आचरण मे परस्पर मेल है, (विरोध नही है) ।

७९०. समेच्च लोगं तस-थावराणं, खेमंकरे समणे माहणे वा ।
आइक्खमाणो वि सहस्समज्झे, एगंतयं साहयति तहच्चे ॥४॥

७९०. बारह प्रकार की तप साधना द्वारा आत्मशुद्धि के लिए श्रम करने वाले (श्रमण) एव 'जीवो को मत मारो' का उपदेश देने वाले (माहन) भ० महावीर स्वामी (केवलज्ञान के द्वारा) समग्र लोक को यथावस्थित (सम्यक्) जानकर त्रस-स्थावर जीवो के क्षेम—कल्याण के लिए हजारो लोगो के बीच मे धर्मोपदेश (व्याख्यान) करते हुए भी एकान्तवास (रागद्वेषरहित आत्मस्थिति) की साधना कर लेते हैं या अनुभूति कर लेते है। क्योकि उनकी चित्तवृत्ति उसी प्रकार की (सदैव एकरूप) बनी रहती है।

७९१. धम्मं कहेतस्स उ णत्थि दोसो, खंतस्स दंतस्स जितेंदियस्स।
भासाय दोसे य विवज्जगस्स, गुणे य भासाय णिसेवगस्स ॥५॥

७९१ श्रुत-चारित्ररूप धर्म का उपदेश करने वाले भगवान् महावीर को कोई दोष नही होता, क्योकि क्षान्त (क्षमाशील अथवा परीषहसहिष्णु), दान्त (मनोविजेता) और जितेन्द्रिय तथा भाषा के दोषो को वर्जित करने वाले भगवान् महावीर के द्वारा भाषा का सेवन (प्रयोग) किया जाना गुणकर है, (दोषकारक नही)।

७९२ महव्वते पंच अणुव्वते य, तहेव पंचासव संवरे य।
विरतिं इह स्सामणियम्मि पण्णे, लवावसक्की समणे त्ति बेमि ॥६॥

७९२ (घातिक) कर्मों से सर्वथा रहित हुए (लवावसर्पी) श्रमण भगवान् महावीर श्रमणो के लिए पच महाव्रत तथा (श्रावको के लिए) पाच अणुव्रत एव (सर्वसामान्य के लिए) पाच आश्रवो और सवरो का उपदेश देते है। तथा (पूर्ण) श्रमणत्व (सयम) के पालनार्थ वे विरति का (अथवा पुण्य का, तथा उपलक्षण से पाप, बध, निर्जरा एव मोक्ष के तत्त्वज्ञान का) उपदेश करते है, यह मै कहता हूँ।

विवेचन—भ. महावीर पर लगाए गए आक्षेपो का आर्द्रक मुनि द्वारा परिहार—प्रस्तुत ६ सूत्रगाथाओ मे आजीवकमतप्रवर्तक गोशालक द्वारा भगवान् महावीर पर लगाए गए कतिपय आक्षेप और प्रत्येक बुद्ध आर्द्रक मुनि द्वारा दिये गये उनके निवारण का अकन किया गया है।

आक्षेपकार कौन, क्यो और कब ?—यद्यपि मूल पाठ मे आक्षेपकार के रूप मे गोशालक का नाम कही नही आता, परन्तु निर्युक्तिकार एव वृत्तिकार इसका सम्बन्ध गोशालक से जोडते हैं, क्योकि आक्षेपो को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि आक्षेपकार (पूर्वपक्षी) भ० महावीर से पूर्व परिचित होना चाहिए। वह व्यक्ति गोशालक के अतिरिक्त और कोई नही है, जो तीर्थंकर महावीर के पवित्र जीवन पर कटाक्ष कर सके। आक्षेप इसलिए किये गये थे, कि आर्द्रकमुनि भ महावीर की सेवा मे जाने से रुक कर आजीवक सघ मे आ जाएँ, इसीलिये जब आर्द्रकमुनि भ. महावीर की सेवा मे जा रहे थे, तभी उनका रास्ता रोक कर गोशालक ने आर्द्रकमुनि के समक्ष भगवान् महावीर पर दोषारोपण किये।[1]

---

१ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति, पत्राक ३८८ का साराश (ख) सूत्रकृ निर्युक्ति गा. १९०
(ग) जैनसाहित्य का बृहत् इतिहास भा १, पृ. १६५

आक्षेप के पहलू—(१) पहले भ. महावीर जनसम्पर्करहित एकान्तचारी थे, अब वे जनसमूह में रहते है, अनेक भिक्षुओ को अपने साथ रखते हैं। (२) पहले वे प्राय मौन रहते थे, अब वे देव मानव और तिर्यञ्चो की परिषद् मे धर्मोपदेश देते हैं। (३) पहले वे तपस्वी जीवन बिताते थे, अब वे उसे नीरस समझ कर छोड बैठे है, (४) महावीर ने पूर्वापर सर्वथा विरुद्ध आचार अपनी आजीविका चलाने के लिए ही अपनाया है, (५) इस पूर्वापरविरोधी आचार-व्यवहार को अपनाने से महावीर अस्थिरचित्त मालूम होते हैं, वे किसी एक सिद्धान्त पर स्थिर नही रह सकते।

अनुकूल समाधान—(१) श्रमण भगवान् महावीर अपनी त्रैकालिक चर्या मे सदैव एकान्त का अनुभव करते हैं, अर्थात्—वे एकान्त मे हो या जनसमूह मे, सर्वत्र एकमात्र अपनी आत्मा (आत्मगुणो) मे विचरण करते हैं।

(२) विशाल जनसमूह मे उपदेश देने पर भी श्रोताजनो के प्रति वे राग या द्वेष नही करते हैं, सबके प्रति उनका समभाव है। पहले वे चतुर्विध घनघाती कर्मों का क्षय करने के लिए वाचिक सयम या मौन रखते थे, एकान्त सेवन करते थे, किन्तु अब घातिकर्मक्षयोपरान्त शेष चार अघातिक कर्मों के क्षय के लिए विशाल समवसरण मे धर्मोपदेश की वाचिक प्रवृत्ति करते है। वस्तुत पूर्वावस्था और वर्तमान अवस्था मे कोई अन्तर नही है।

(३) न वे सत्कार-सम्मान-पूजा के लिए धर्मोपदेश करते है न जीविकानिर्वाह के लिए और न राग-द्वेष से प्रेरित होकर। अत अस्थिरचित्त बताना अज्ञान है।

(४) सर्वज्ञता-प्राप्त होने से पूर्व वस्तुस्वरूप को पूर्णतया यथार्थ रूप से जाने बिना धर्मोपदेश देना उचित नही होता, इसलिए भ० महावीर मौन एकान्तवास करते थे। अब केवलज्ञान प्राप्त होने पर उसके प्रभाव से समस्त त्रस-स्थावर प्राणियो को तथा उनके अध पतन एव कल्याण के कारणो को उन्होने जान लिया है। अत क्षेमकर प्रभु पूर्ण समभावपूर्वक सब के क्षेम-कल्याण का धर्मोपदेश देते हैं। कृतकृत्य प्रभु को किसी स्वार्थसाधन से प्रयोजन ही क्या ?

(५) धर्मोपदेश देते समय हजारो प्राणियो के बीच में रहते हुए भी वे भाव से अकेले (राग-द्वेषरहित शुद्ध स्वभाव मे, अविकल बने रहते है। भगवान् स्वार्थ, रागद्वेष एव ममत्व से सर्वथा रहित हैं।

(६) भाषा के दोषों का ज्ञान भगवान् में है, इसलिए भाषा सबधी दोषो से सर्वथा रहित उनकी धर्मदेशना दोषरूप नही, गुणवर्धक ही है। वे प्राणियो को पवित्र एव एकान्त हितकर मार्ग प्रदर्शित करते हैं।

(७) फिर वे वीतराग परम तपस्वी घातिकर्मों से दूर हैं, इसलिए साधु, श्रावक तथा सामान्य जनों को उनकी योग्यता एवं क्षमता के अनुरूप उपदेश देते हैं। अत उन पर पापकर्म करने का दोषारोपण करना मिथ्या है।[1]

गोशालक द्वारा सुविधावादी धर्म की चर्चा : आर्द्रक द्वारा प्रतिवाद

७९३. सीओदगं सेवउ बीयकाय, आहाय कम्मं तह इत्थियाओ।
एगतचारिस्सिह अम्ह धम्मे, तवस्सिणो णोऽहिसमेति पाव ॥७॥

---

१ सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३८९-३९० का साराश

७९३. (गोशालक ने अपने आजीवक धर्मसम्प्रदाय का आचार समझाने के लिए आर्द्रक मुनि से कहा—) कोई शीतल (कच्चा) जल, बीजकाय, आधाकर्म (युक्त आहारादि) तथा स्त्रियो का सेवन भले ही करता हो, परन्तु जो एकान्त (अकेला निर्जनप्रदेश मे) विचरण करनेवाला तपस्वी साधक है, उसे हमारे धर्म मे पाप नही लगता।

७९४. सीतोदग या तह बीयकाय, आहाय कम्म तह इत्थियाओ।
एयाइं जाण पडिसेवमाणा, अगारिणो अस्समणा भवंति ॥८॥

७९४ (आर्द्रक मुनि ने इस धर्माचार का प्रतिवाद किया—) सचित्त जल, बीजकाय, आधाकर्म (युक्त आहारादि) तथा स्त्रियाँ, इनका सेवन करनेवाला गृहस्थ (घरबारी) होता है, श्रमण (अनगार) नही हो सकता।

७९५. सिया य बीओदग इत्थियाओ, पडिसेवमाणा समणा भवंति।
अगारिणो वि समणा भवतु, सेवंति ज ते वि तहप्पगारं ॥९॥

७९५ यदि बीजकाय, सचित्त जल एव स्त्रियो का सेवन करने वाले पुरुष भी श्रमण हो तो गृहस्थ भी श्रमण क्यो नही माने जाएँगे ? वे भी पूर्वोक्त विषयो का सेवन करते हैं। (तथा वे भी परदेश आदि मे अकेले रहते या घूमते है, और कुछ तप भी करते है।

७९६. जे यावि बीओदगभोति भिक्खू भिक्ख विहं जायति जीवियट्ठी।
ते णातिसजोगमवि प्पहाय, काओवगाऽणतकरा भवंति ॥१०॥

७९६. (अत) जो भिक्षु (अनगार) होकर भी सचित्त, बीजकाय, (सचित्त) जल एव आधाकर्मदोष युक्त आहारादि का उपभोग करते हैं, वे केवल जीविका (जीवन-निर्वाह) के लिए भिक्षावृत्ति करते है। वे अपने ज्ञातिजनो (परिवार आदि) का सयोग छोडकर भी अपनी काया के ही पोषक हैं, वे अपने कर्मों का या जन्म-मरण रूप ससार का अन्त करने वाले नही हैं।

विवेचन—गोशालक द्वारा अपने सुविधावादी धर्म की चर्चा आर्द्रक मुनि द्वारा प्रतिवाद— प्रस्तुत सूत्रगाथाओ मे गोशालक ने प्रथम अपने सुविधावादी भिक्षुधर्म की चर्चा की है, और आर्द्रक मुनि ने इसका युक्तिपूर्वक खण्डन किया है। उन्होने सचित्त जलादि सेवन वाले भिक्षुओ को गृहस्थतुल्य, जीविका के लिए भिक्षावृत्ति अपनाने वाले, शरीरपोषक एव (जीवोपमर्दक आरम्भ मे प्रवृत्त होने से) जन्म-मरणरूप ससार का अन्त करने मे असमर्थ बताया है।[1]

७९७. इम वय तु तुम पाउकुव्वं, पावाइणो गरहसि सव्व एव।
पावाइणो उ पुढो किट्टयता, सय सयं दिट्ठि करेंति पाउ ॥११॥

७९७ (गोशालक ने पुन आर्द्रक से कहा—) हे आर्द्रक! इस वचन (भिक्षुधर्माचार का खण्डनात्मक प्रतिवाद) को कह कर तुम समस्त प्रावादुको (विभिन्न धर्म के व्याख्याताओ) की निन्दा

---

१ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ३९१ का साराश

करते हो। प्रावादुकगण (धर्मव्याख्याकार) अपने-अपने धर्म सिद्धान्तो की पृथक्-पृथक् व्याख्या (या प्रशंसा) करते हुए अपनी-अपनी दृष्टि या मान्यता प्रकट करते हैं।

७९८. ते अण्णमण्णस्स वि गरहमाणा, अक्खंति उ समणा माहणा य।
सतो य अत्थी असतो य णत्थी, गरहामो दिट्ठि ण गरहमो किंचि ॥१२॥

७९९. ण किंचि रूवेणऽभिधारयामो, सं दिट्ठिमग्गं तु करेमो पाउं।
मग्गे इमे किट्टिते आरिएहिं, अणुत्तरे सप्पुरिसेहिं अंजू ॥१३॥

७९८-७९९ (आर्द्रक मुनि गोशालक से कहते हैं—) वे (अन्यधर्मतीर्थिक) श्रमण और ब्राह्मण परस्पर एक-दूसरे की निन्दा करते हुए अपने-अपने धर्म की प्रशसा करते हैं। अपने धर्म मे कथित अनुष्ठान से ही पुण्य, धर्म या मोक्ष होना कहते हैं, दूसरे धर्म मे कथित क्रिया के अनुष्ठान से नही।' हम उनकी (इस एकान्त व एकागी) दृष्टि की निन्दा करते हैं, किसी व्यक्ति विशेष की निन्दा नही करते।

हम किसी के रूप, वेष आदि की निन्दा नही करते, अपितु हम अपनी दृष्टि (अनेकान्तात्मक दर्शन) से पुनीत मार्ग (यथार्थ वस्तु स्वरूप) को अभिव्यक्त करते हैं। यह मार्ग अनुत्तर (सर्वोत्कृष्ट) है, और आर्य सत्पुरुषो ने इसे ही निर्दोष कहा है।

८००. उड्ढं अहे य तिरियं दिसासु, तसा य जे थावर जे य पाणा।
भूयाभिसंकाए दुगुंछमाणा, णो गरहति वुसिम किंचि लोए ॥१४॥

८०० ऊर्ध्वदिशा, अधोदिशा एव तिर्यक् (तिरछी-पूर्वादि) दिशाओ मे जो जो त्रस या स्थावर प्राणी हैं, उन प्राणियो की हिंसा (की आशका) से घृणा करने वाले सयमी पुरुष इस लोक मे किसी की निन्दा नही करते। (अत वस्तु के यथार्थ स्वरूप का निरूपण करना निन्दा है नही।)

विवेचन—दार्शनिको के विवाद के सम्बन्ध मे गोशालक को दृष्टि का समाधान—प्रस्तुत ४ सूत्रगाथाओ में आर्द्रक परनिन्दा करने का आक्षेप और आर्द्रक द्वारा किया गया स्पष्ट समाधान अकित है।

गोशालक द्वारा पर-निन्दा का आक्षेप—"विभिन्न दार्शनिक अपनी-अपनी दृष्टि से सचित्त जलादि-सेवन करते हुए धर्म, पुण्य या मोक्ष बताते हैं, परन्तु तुमने उनकी निन्दा करके अपना अहकार प्रदर्शित किया है।"

आर्द्रक द्वारा समाधान—(१) समभावी साधु के लिए व्यक्तिगत रूप, वेष आदि की निन्दा करना अनुचित है। हम किसी के वेषादि की निन्दा नही करते। सत्य मार्ग का कथन करना ही हमारा उद्देश्य है। (२) अन्य धर्मतीर्थिक ही एकान्त दृष्टि से स्वमतप्रशसा और परमतनिन्दा करते है। हम तो अनेकान्तदृष्टि से वस्तुस्वरूप का यथार्थ कथन कर रहे है। मध्यस्थभाव से सत्य की अभिव्यक्ति करना निन्दा नही है।[1] जैसे नेत्रवान् पुरुष अपनी आँखो से बिल, काँटे, कीडे और साप

---

१ सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति ३९२ का सारांश।

आदि को देख कर उन सबको बचा कर ठीक रास्ते से चलता है, दूसरो को भी बताता है । इसी तरह विवेकी पुरुष कुज्ञान, कुश्रुति, कुमार्ग और कुदृष्टि के दोषो का सम्यक् विचार करके चलता-चलाता है, ऐसा करने मे कौन-सी पर-निन्दा है ?"[1] (३) वस्तुत आर्यपुरुषो द्वारा प्रतिपादित सम्यग्-दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप मोक्षमार्ग ही कल्याण का कारण है, इससे विपरीत त्रस-स्थावर प्राणिहिंसाजनक, अब्रह्मचर्यसमर्थक कोई भी मार्ग हो, वह ससार का अन्तकारक एव कल्याणकारक नही है । ऐसा वस्तु-स्वरूपकथन निन्दा नही है ।

भीरु होने का आक्षेप और समाधान

८०१. आगंतागारे आरामागारे, समणे उ भीते ण उवेति वासं ।
दक्खा हु संती बहवे मणूसा, ऊणातिरित्ता य लवालवा य ॥१५॥

८०२. मेहाविणो सिक्खिय बुद्धिमंता, सुत्तेहि अत्थेहि य निच्छयण्णू ।
पुच्छिसु मा णे अणगार एगे, इति संकमाणो ण उवेति तत्थ ॥१६॥

८०१-८०२ (गोशालक ने पुन आर्द्रकमुनि से कहा—) तुम्हारे श्रमण (महावीर) अत्यन्त भीरु (डरपोक) है, इसीलिए तो पथिकागारो (जहाँ बहुत-से आगन्तुक-पथिक ठहरते है, ऐसे गृहो) मे तथा आरामगृहो (उद्यान मे बने हुए घरो) मे निवास नही करते, (कारण, वे सोचते है कि) उक्त स्थानो मे बहुत-से (धर्म-चर्चा मे) दक्ष मनुष्य ठहरते है, जिनमे कोई कम या कोई अधिक वाचाल (लप-लप करने वाले) होते है, कोई मौनी होते है ।

(इसके अतिरिक्त) कई मेधावी, कई शिक्षा प्राप्त, कई बुद्धिमान् औत्पत्तिकी आदि बुद्धियो से सम्पन्न तथा कई सूत्रो और अर्थो के पूर्णरूप से निश्चयज्ञ होते है । अत दूसरे अनगार मुझ से कोई प्रश्न न पूछ बैठे, इस प्रकार की आशका करते हुए वे (श्रमण भ महावीर) वहा नही जाते ।

८०३ नाकामकिच्चा ण य बालकिच्चा, रायाभिओगेण कुतो भएण ।
वियागरेज्जा पसिणं न वावि, सकामकिच्चेणिह आरियाणं ॥१७॥

८०३ (आर्द्रक मुनि ने उत्तर दिया —) भगवान् महावीर स्वामी (प्रेक्षापूर्वक किसी कार्य को करते है, इसीलिए) अकामकारी (निरुद्देश्यकायकारी) नही हैं, और न ही वे बालको की तरह (अज्ञानपूर्वक एव अनालोचित) कार्यकारी है । वे राजभय से भी धर्मोपदेश नही करते, फिर अन्य (लोगो के दबाव या) भय से करने की तो बात ही कहाँ ? भगवान् प्रश्न का उत्तर देते हैं और नही भी देते । वे इस जगत् मे आर्य लोगो के लिए तथा अपने तीर्थंकर नामकर्म के क्षय के लिए धर्मोपदेश करते हैं ।

८०४. गंता व तत्था अदुवा अगंता, वियागरेज्जा समियाऽऽसुपण्णे ।
अणारिया दंसणतो परित्ता, इति संकमाणो ण उवेति तत्थ ॥१८॥

---

१ नेत्रैर्निरीक्ष्य बिल-कण्टक-कीट सर्पान् सम्यक्पथा व्रजति तान् परिहृत्य सर्वान् ।
कुज्ञान-कुश्रुति-कुमार्ग-कुदृष्टि-दोषान्, सम्यक् विचारयत कोऽत्र परापवाद ?

—सूत्रकृ. शी वृत्ति मे उद्धृत

८०४ सर्वज्ञ (आशुप्रज्ञ) भगवान् महावीर स्वामी वहाँ (श्रोताओ के पास) जाकर अथवा न जाकर समभाव से धर्मोपदेश करते है। परन्तु अनार्य लोग दर्शन से भ्रष्ट होते है, इस आशका से भगवान् उनके पास नही जाते।

विवेचन—भीरु होने का आक्षेप और समाधान—प्रस्तुत चार सूत्रगाथाओ (८०१ से ८०४ तक) मे से दो गाथाओ मे गोशालक द्वारा भगवान् महावीर पर भीरु होने का आक्षेप है, और शेष दो गाथाओ मे आर्द्रक मुनि द्वारा अकाट्य युक्तियो द्वारा किया गया समाधान अकित है।

गोशालक के आक्षेप : महावीर भय एव राग-द्वेष से युक्त—(१) वे इस भय से सार्वजनिक स्थानो मे नही ठहरते कि वहाँ कोई योग्य शास्त्रज्ञ विद्वान् कुछ पूछ बैठेगा, तो क्या उत्तर दूगा ?

आर्द्रकमुनि द्वारा समाधान—(१) भगवान् महावीर अकुतोभय है और सर्वज्ञ हैं, इसलिए किसी भी स्थान मे ठहरने या न ठहरने मे उन्हे कोई भय नही है। वे न राजा के भय से कोई कार्य करते हैं, न किसी अन्य प्राणी का उन्हे भय है। किन्तु वे निष्प्रयोजन कोई कार्य नही करते, और न ही बालको की तरह बिना विचारे कोई कार्य करते है। वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है इसलिए उन्हे जिससे दूसरे का उपकार होना दिखता है, वही कार्य वे करते हैं। अपने उपकार से दूसरे का कोई हित होता नही देखते वहाँ वे उपदेश नही करते। प्रश्नकर्त्ता का उपकार देख कर भगवान् उनके प्रश्न का उत्तर देते हैं, अन्यथा नही देते। वे स्वतन्त्र है, पूर्वोपार्जित तीर्थंकर नामकर्म का क्षय करने तथा आर्यपुरुषो के उपकार के लिए धर्मोपदेश करते हैं। चाहे चक्रवर्ती हो या दरिद्र, यदि वह भव्य हो, और उपकार होना ज्ञात हो तो वे किसी पक्षपात के बिना वहाँ जा कर भी समभाव से उपदेश देते हैं, अन्यथा, वहाँ रह कर भी उपदेश नही देते। इसलिए उनमे राग-द्वेष की गन्ध भी नही है।[1]

गोशालक द्वारा प्रदत्त वणिक की उपमा का आर्द्रक द्वारा प्रतिवाद

८०५. पण्णं जहा वणिए उदयट्ठी, आयस्स हेउं पगरेंति संगं।
तउवमे समणे नायपुत्ते, इच्चेव मे होंति मती वियक्का ॥१९॥

८०५ (गोशालक ने फिर कहा—) जैसे लाभार्थी (उदयार्थी) वणिक् क्रय-विक्रय के योग्य (पण्य) वस्तु को लेकर आय (लाभ) के हेतु (महाजनो का) सग (सम्पर्क) करता है, यही उपमा श्रमण के लिए (घटित होती) है, ये ही वितर्क (विचार) मेरी बुद्धि मे उठते है।

८०६. नव न कुज्जा विहुणे पुराणं, चिच्चाऽमइं तायति साह एव।
एतावया बंभवति त्ति वुत्ते, तस्सोदयट्ठी समणे त्ति बेमि ॥२०॥

८०६ (आर्द्रक मुनि ने उत्तर दिया—) भगवान् महावीर स्वामी नवीन कर्म (बन्ध) नही करते, अपितु वे पुराने (बधे हुए) कर्मों का क्षपण (क्षय) करते है। (क्योकि) षड्जीवनिकाय के त्राता, वे भगवान्) स्वय यह कहते है कि प्राणी कुबुद्धि का त्याग करके ही मोक्ष को प्राप्त करता है।

---

१ सूत्रकृतांग शीलाकवृत्ति पत्रांक ३९३ का साराश

इसी दृष्टि से इसे ब्रह्म-पद या ब्रह्मव्रत (मोक्षव्रत) कहा गया है। उसी मोक्ष के लाभार्थी (उदयार्थी) श्रमण भगवान् महावीर है, ऐसा मैं कहता हूँ।

८०७. समारभते वणिया भूयगामं, परिग्गहं चेव ममायमीणा ।
ते णातिसंजोगमविप्पहाय, आयस्स हेउ पकरेंति संगं ॥२१॥

८०७ (और हे गोशालक!) वणिक् (गृहस्थ व्यापारी) प्राणिसमूह (भूतग्राम) का आरम्भ करते है, तथा (द्रव्य-) परिग्रह पर ममत्व भी रखते है, एव वे ज्ञातिजनों के साथ ममत्वयुक्त सयोग (सम्बन्ध) नही छोडते हुए, आय (लाभ) के हेतु दूसरो (ससर्ग न करने योग्य व्यक्तियो) से भी सग करते है।

८०८. वित्तेसिणो मेहुणसंपगाढा, ते भोयणट्ठा वणिया वयंति ।
वयं तु कामेसु अज्झोववन्ना, अणारिया पेमरसेसु गिद्धा ॥२२॥

८०८ वणिक् धन के अन्वेषक और मैथुन (स्त्रीसम्बन्धी कामभोग) मे गाढ आसक्त होते हैं, तथा वे भोजन (भोगो) की प्राप्ति के लिए इधर-उधर जाते रहते हैं। अत: हम तो ऐसे वणिको (व्यापारियो) को काम-भोगो मे अत्यधिक आसक्त, प्रेम (राग) के रस (स्वाद) मे गृद्ध (ग्रस्त) और अनार्य कहते है। (भगवान् महावीर इस प्रकार के स्वहानिकर्ता वणिक् नही हैं।)

८०९. आरंभयं चेव परिग्गहं च, अविउस्सिया णिस्सिय आयदंडा ।
तेसिं च से उदए जं वयासी, चउरंतणंताय दुहाय णेह ॥२३॥

८०९ (इसी प्रकार) वणिक् आरम्भ और परिग्रह का व्युत्सर्ग (त्याग) नही करते, (अपितु) उन्ही मे निरन्तर बधे हुए (आश्रित), रहते है और (असदाचारप्रवृत्ति करके) आत्मा को दण्ड देते रहते है। उनका वह उदय (-लाभ), जिससे आप उदय (लाभ) बता रहे है, वस्तुत. उदय नही है बल्कि वह चातुर्गतिक अनन्त ससार (लाभ) या दु ख (रूप लाभ) के लिए होता है। वह (वास्तव मे) उदय (लाभ) है ही नही, होता भी नही।

८१०. णेगंत णच्चंतिय उदये से, वयंति ते दो विगुणोदयंमि ।
से उदए सातिमणंतपत्ते तमुदयं साहति ताइ णाती ॥२४॥

८१० पूर्वोक्त सावद्य अनुष्ठान न करने से वणिक् का जो उदय होता है, वह न तो एकान्तिक (सर्वथा या सार्वत्रिक) है और न आत्यन्तिक (सार्वकालिक)। विद्वान् लोग कहते है कि जो उदय इन दोनो गुणो (एकान्तिक एव आत्यन्तिक सुखरूप गुणो से रहित है, उसमे कोई गुण (लाभ या विशेषता) नही है। किन्तु उनको (भगवान् महावीर को) जो उदय=लाभ (धर्मोपदेश से प्राप्त निर्जरारूप प्राप्त है, वह आदि और अनन्त है। (ऐसे उदय को प्राप्त आसन्न भव्यो के) त्राता (अथवा तायी= मोक्षगामी) एव ज्ञातवशीय या समस्त वस्तुजात के ज्ञाता भगवान् महावीर इसी (पूर्वोक्त) उदय (केवलज्ञानरूप या धर्मदेशना से प्राप्त निर्जरारूप लाभ) का दूसरो को उपदेश करते हैं, या इसकी प्रशसा करते है।

८११. अहिंसयं सव्वपयाणुकंपी, धम्मे ठितं कम्मविवेगहेउं ।
तमायदंडेहिं समायरंता, आबोहिए ते पडिरूवमेयं ॥२५॥

८११. भगवान् प्राणियो की हिंसा से सर्वथा रहित हैं, तथा समस्त प्राणियो पर अनुकम्पा (दया) करते हैं। वे धर्म (शुद्ध-आत्मधर्म) मे सदैव स्थित रहते हैं। ऐसे कर्मविवेक (कर्म-निर्जरा) के कारणभूत वीतराग सर्वज्ञ महापुरुष को, आप जैसे आत्मा को दण्ड देने वाले व्यक्ति ही वणिक् के सदृश कहते हैं। यह कार्य आपके (तुम्हारे) अज्ञान के अनुरूप ही है।

विवेचन—गोशालक द्वारा प्रदत्त वणिक् की उपमा का आर्द्रक द्वारा प्रतिवाद—प्रस्तुत सात सूत्रगाथाओ (८०५ से ८११ तक) मे से प्रथम गाथा मे गोशालक द्वारा भगवान् को दी गई उदयार्थी वणिक् की उपमा अंकित है, शेष छह गाथाओ मे आर्द्रकमुनि द्वारा युक्तिपूर्वक उसका प्रतिवाद प्रस्तुत किया गया है।

गोशालक का आक्षेप : श्रमण महावीर लाभार्थी वणिक् तुल्य—जैसे लाभार्थी वणिक् अपना माल लेकर परदेश मे जाता है, वहाँ लाभ के निमित्त महाजनो से सम्पर्क करता है, वैसे ही महावीर भी अपनी पूजा-प्रतिष्ठा तथा आहारादि के लाभ के लिए विभिन्न देशो मे जाते हैं, वहाँ राजा आदि बडे-बडे लोगो से सम्पर्क करते है। अत वे वणिक् तुल्य हैं।

आर्द्रक मुनि द्वारा सयुक्तिक प्रतिवाद—(१) लाभार्थी वणिक् के साथ भ महावीर की एकदेशीय (आशिक) तुल्यता तो सगत है, क्योकि भ महावीर भी जहाँ आत्मिक उपकारादि लाभ देखते हैं, वहाँ उपदेश करते है, अन्यथा नही। (२) किन्तु लाभार्थी वणिक् के साथ भ. महावीर की सम्पूर्ण तुल्यता निम्नोक्त कारणो से सर्वथा असगत और अज्ञानमूलक है—(अ) भ. महावीर सर्वज्ञ हैं, वणिक् अल्पज्ञ, सर्वज्ञ होने से भगवान् सर्वसावद्यकार्यों से रहित है, इसी कारण वे नये कर्म बन्धन नही करते, पूर्वबद्ध (भवोपग्राही) कर्मों की निर्जरा या क्षय करते हैं, तथा कर्मोपार्जन की कुबुद्धि का सर्वथा त्याग करके वे मोक्ष की ओर अग्रसर होते जाते हैं, इस सिद्धान्त का वे प्रतिपादन भी करते है। इस दृष्टि से भगवान् मोक्षोदयार्थी—मुक्तिलाभार्थी मोक्षव्रती अवश्य है, जबकि अल्पज्ञ वणिक् न तो सावद्यकार्यों से रहित होते हैं, न ही नया कर्मबन्धन रोकते हैं, न पूर्वबद्ध कर्मों के क्षय के लिए प्रयास करते हैं, इस दृष्टि से वणिको का मुख मोक्ष की ओर नही है, न वे इस प्रकार से मोक्षलाभ कर सकते है।

(आ) वणिक् व्यापार, गृहकार्य आदि मे आरम्भ करके अनेक प्राणियो की हिसा करते है, परिग्रह पर ममत्व रखते है, धन एव स्वार्थ के लिए स्वजनो-परिजनो के साथ आसक्तिमय ससर्ग रखते है, जबकि भ महावीर निरारम्भी एव निष्परिग्रही है, वे किसी के साथ किसी प्रकार का आसक्तिसयोग नही रखते, वे अप्रतिबद्धविहारी हैं। सिर्फ धर्मवृद्धि के लिए उपदेश देते है। अत. वणिक् के साथ भगवान् का सादृश्य बताना सर्वथा विरुद्ध है। (इ) वणिक् एकमात्र धन के अभिलाषी, कामासक्त रहते हैं एव भोजन या भोगो की प्राप्ति के लिए भटकते है। इसलिए कामभोग, रागद्वेष, पापकर्म, एवं कचन-कामिनी के सर्वथा त्यागी मोक्षलाभार्थी भगवान् महावीर ऐसे रागलिप्त, काममूढ एव अनार्य वणिको के सदृश कैसे हो सकते हैं ? (ई) वणिक् सावद्य आरम्भ और परिग्रह को सर्वथा छोड नही सकते, इस कारण आत्मा को कर्मबन्धन से दण्डित करते रहते है। इससे अनन्तकाल तक चतुर्गतिपरिभ्रमण का लाभ होता है, जो वास्तव मे आत्महानिकारक होने से लाभ ही नही है, जबकि

भ महावीर इन सबसे सर्वथा दूर होने से स्वपर –आत्मिक लाभ प्राप्त कर सकते हैं। (उ) वणिक् को होने वाला धनादि लाभ एकान्तिक एव आत्यन्तिक सुखरूप नहीं होता, इसलिए वह वास्तविक लाभ है ही नही, जबकि भ महावीर को होने वाला दिव्यज्ञान रूप या कर्म निर्जरारूप लाभ एकान्तिक एव आत्यन्तिक है। केवलज्ञान रूप लाभ सादि-अनन्त है, स्थायी, अनुपम एव यथार्थ लाभ है। (ऊ) अत सर्वथा अहिसक, सर्व जीवो के प्रति अनुकम्पाशील, धर्मनिष्ठ एव कर्मक्षयप्रवृत्त भगवान् की तुलना हिसापरायण, निरनुकम्पी, धर्म से दूर एव कर्मबन्धनप्रवृत्त वणिक् से करना युक्तिविरुद्ध एव अज्ञानता का परिचायक है।[1]

बौद्धो के अपसिद्धान्त का आर्द्रक द्वारा खण्डन एवं स्वसिद्धान्त-मण्डन

८१२. पिण्णागपिंडीमवि विद्ध सूले, केई पएज्जा पुरिसे इमे त्ति।
अलाउयं वावि कुमारए त्ति, स लिप्पती पाणवहेण अम्ह ॥२६॥

८१२ (शाक्यभिक्षु आर्द्रक मुनि से कहने लगे –) कोई व्यक्ति खली के पिण्ड को 'यह पुरुष है' यो मानकार शूल से बीध कर (आग मे) पकाए अथवा तुम्बे को कुमार (बालक) मान कर पकाए, तो हमारे मन मे वह प्राणिवध (हिसा) के पाप मे लिप्त होता है।

८१३. अहवा वि विद्धूण मिलक्खु सूले, पिन्नागबुद्धीए णर पएज्जा।
कुमारग वा वि अलाउए त्ति, न लिप्पती पाणवहेण अम्ह ॥२७॥

८१३ अथवा वह म्लेच्छ पुरुष मनुष्य को खली समझ कर उसे शूल मे बीध कर पकाए, अथवा कुमार को तुम्बा समझ कर पकाए तो वह हमारे मन मे प्राणिवध के पाप से लिप्त नही होता।

८१४. पुरिस व विद्धूण कुमारक वा, सूलंमि केई पए जाततेए।
पिण्णायपिडी सतिमारुहेत्ता, बुद्धाण त कप्पति पारणाए ॥२८॥

८१४ कोई पुरुष मनुष्य को या बालक को खली का पिण्ड मान कर उसे शूल मे बीध कर आग मे डाल कर पकाए तो (हमारे मत मे) वह (मासपिण्ड) पवित्र है, वह बुद्धो के पारणे के योग्य है।

८१५. सिणायगा तु दुवे सहस्से, जे भोयए णितिए भिक्खुगाणं।
ते पुण्णखध सुमहऽज्जिणित्ता, भवति आरोप्प महंतसत्ता ॥२९॥

८१५ जो पुरुष दो हजार स्नातक भिक्षुओ को प्रतिदिन भोजन कराता है, वह महान् पुण्यराशि (पुण्यस्कन्ध) का उपार्जन करके महापराक्रमी (महासत्त्व) आरोप्य नामक देव होता है।

८१६. अजोगरूवं इह सजयाण, पावं तु पाणाण पसज्झ काउं।
अबोहिए दोण्ह वि त असाहु, वयंति जे यावि पडिस्सुणंति ॥३०॥

---

1 सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ३९४-३९५ का साराश

८१६. (आर्द्रक मुनि ने बौद्धभिक्षुओ को प्रत्युत्तर दिया—) आपके इस शाक्यमत मे पूर्वोक्त सिद्धान्त सयमियो के लिए अयोग्यरूप है। प्राणियो का (जानबूझ कर) घात करने पर भी पाप नही होता, जो ऐसा कहते हैं और जो सुनते या मान लेते हैं, दोनो के लिए अबोधिलाभ का कारण है, और बुरा है।

८१७. उड्ढं अहे य तिरियं दिसासु, विण्णाय लिंग तस-थावराणं।
भूयाभिसंकाए दुगुंछमाणे, वदे करेज्जा व कुओ विहऽत्थी ॥३१॥

८१७ 'ऊँची, नीची और तिरछी दिशाओ मे त्रस और स्थावर जीवो के अस्तित्व का लिग (हेतु या चिह्न) जान कर जीवहिसा की आशका से विवेकी पुरुष हिंसा से घृणा करता हुआ विचार कर बोले या कार्य करे तो उसे पाप-दोष कैसे हो सकता है?'

८१८. पुरिसे त्ति विण्णत्ति ण एवमत्थि, अणारिए से पुरिसे तहा हु।
को संभवो ? पिन्नागपिंडियाए, वाया वि एसा बुइया असच्चा ॥३२॥

८१८ खली के पिण्ड मे पुरुष-बुद्धि तो मूर्ख को भी नही होती। अत जो पुरुष खली के पिण्ड मे पुरुषबुद्धि अथवा पुरुष मे खली के पिण्ड की बुद्धि रखता है, वह अनार्य है। खली के पिण्ड मे पुरुष की बुद्धि कैसे सम्भव है? अत आपके द्वारा कही हुई यह (ऐसी) वाणी भी असत्य है।

८१९. वायाभिओगेण जया वहेज्जा, णो तारिसं वायमुदाहरेज्जा।
अट्ठाणमेयं वयणं गुणाणं, जे दिक्खिते बूयमुरालमेतं ॥३३॥

८१९ जिस वचन के प्रयोग से जीव पापकर्म का उपार्जन करे, ऐसा वचन (भाषादोषगुणज्ञ विवेकी पुरुष को (कदापि नही बोलना चाहिए। (प्रव्रजितो के लिए) यह (आपका पूर्वोक्त) वचन गुणो का स्थान नही है। अत दीक्षित व्यक्ति ऐसा नि सार वचन नही बोलता।

८२०. लद्धे अहट्ठे अहो एव तुब्भे, जीवाणुभागे सुविचिंतिए य।
पुव्वं समुद्दं अवरं च पुट्ठे, ओलोइए पाणितले ठिते वा ॥३४॥

८२० अहो बौद्धो! तुमने ही (ससारभर के) पदार्थों को उपलब्ध कर (जान) लिया है!, तुमने ही जीवो के कर्मफल का अच्छी तरह चिन्तन किया है!, तुम्हारा ही यश पूर्व समुद्र से लेकर पश्चिम समुद्र तक फैल गया है!, तुमने ही करतल (हथेली) पर रखे हुए पदार्थ के समान इस जगत् को देख लिया है।

८२१. जीवाणुभागं सुविचिंतयंता, आहारिया अण्णविहीए सोही।
न वियागरे छन्नपओपजीवी, एसोऽणुधम्मो इह संजयाणं ॥३५॥

८२१ (जैनशासन के अनुयायी साधक) (कर्मफल-स्वरूप होने वाली) जीवो की पीडा का सम्यक् चिन्तन करके आहारग्रहण करने की विधि से (बयालीस दोषरहित) शुद्ध (भिक्षाप्राप्त) आहार स्वीकार करते हैं, वे कपट से जीविका करने वाले बन कर मायामय वचन नही बोलते। जैनशासन मे संयमीपुरुषो का यही धर्म है।

८२२. सिणायगाणं तु दुवे सहस्से, जे भोयए नितिए भिक्खुयाणं ।
असंजए लोहियपाणि से ऊ, णिगच्छती गरहमिहेव लोए ॥३६॥

८२२ जो व्यक्ति प्रतिदिन दो हजार स्नातक भिक्षुओ को (पूर्वोक्त मासपिण्ड का) भोजन कराता है, वह असयमी रक्त से रगे हाथ वाला पुरुष इसी लोक मे निन्दापात्र होता है ।

८२३. थूलं उरब्भ इह मारियाणं, उद्दिट्ठभत्तं च पकप्पइत्ता ।
त लोणतेल्लेण उवक्खडेत्ता, सपिप्पलीय पकरेंति मसं ॥३७॥

८२४. त भुंजमाणा पिसित पभूत, न उवलिप्पामो वयं रएणं ।
इच्चेवमाहंसु अणज्जधम्मा, अणारिया बाल रसेसु गिद्धा ॥३८॥

८२३-८२४ आपके मत मे बुद्धानुयायी जन एक बडे स्थूल भेड़े को मार कर उसे बौद्ध भिक्षुओ के भोजन के उद्देश्य से कल्पित कर (बना कर) उस (भेडे के मास) को नमक और तेल के साथ पकाते है, फिर पिप्पली आदि द्रव्यो (मसालो) से बघार कर तैयार करते है । (यह मास बौद्ध-भिक्षुओ के भोजन के योग्य समझा जाता है, यही उनके आहारग्रहण की रीति है ।)

अनार्यों के-से स्वभाव वाले अनार्य (कर्मकारक), एव रसो मे गृद्ध (लुब्ध) वे अज्ञानी बौद्ध-भिक्षु कहते हैं कि (इस प्रकार से बना हुआ) बहुत-सा मास खाते हुए भी हम लोग पापकर्म (रज) से लिप्त नही होते ।

८२५. जे यावि भुंजति तहप्पगार, सेवति ते पावमजाणमाणा ।
मण न एयं कुसला करेंति, वाया वि एसा बुइता तु मिच्छा ॥३९॥

८२५ जो लोग इस प्रकार के मास का सेवन करते है, वे (पुण्य-पाप के) तत्त्व को नही जानते हुए पाप का सेवन करते हैं । जो पुरुष कुशल (तत्त्वज्ञान मे निपुण) है, वे ऐसे मास खाने की इच्छा भी नही करते (मन मे भी नही लाते) । माम भक्षण मे दोष न होने का कथन भी मिथ्या है ।

८२६. सव्वेसि जीवाणा दयट्ठयाए, सावज्जदोस परिवज्जयता ।
तस्संकिणो इसिणो नायपुत्ता, उद्दिट्ठभत्तं परिवज्जयंति ॥४०॥

८२६ समस्त जीवो पर दया करने के लिए, सावद्यदोष से दूर रहने वाले तथा (आहारादि मे) सावद्य (पापकर्म) की आशका (छानबीन) करने वाले, ज्ञातपुत्रीय (भगवान् महावीर स्वामी के शिष्य) ऋषिगण उद्दिष्ट भक्त (साधु के निमित्त आरम्भ करके तैयार किये हुए भोजन) का त्याग करते है ।

८२७. भूताभिसकाए दुगुछमाणा, सव्वेसि पाणाणमिहायदंड ।
तम्हा ण भुंजति तहप्पकार, एसोऽणुधम्मो इह संजयाणं ॥४१॥

८२७ प्राणियो के उपमर्दन की आशका से, मावद्य अनुष्ठान से विरक्त रहने वाले निर्ग्रन्थ

श्रमण समस्त प्राणियो को दण्ड देने (हनन करने) का त्याग करते हैं, इसलिए वे (दोषयुक्त) आहारादि का उपभोग नही करते। इस जैनशासन मे सयमी साधको का यही परम्परागत धर्म (अनुधर्म) है।

८२८. निग्गंथधम्मम्मि इमा समाही, अस्सि सुठिच्चा अणिहे चरेज्जा।
बुद्धे मुणी सीलगुणोववेते इच्चत्थतं पाउणती सिलोगं ॥४२॥

८२८. इस निर्ग्रन्थधर्म मे इस समाधि (आचार-समाधि या सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप समाधि) मे सम्यक् प्रकार से स्थित हो कर मायारहित होकर इस निर्ग्रन्थ धर्म मे जो विचरण करता है, वह प्रबुद्ध मुनि (जगत् की त्रिकालावस्था पर मनन करने—जाने वाला) शील और गुणो से युक्त होकर अत्यन्त पूजा-प्रशसा (श्लोक को) प्राप्त करता है।

विवेचन—बौद्धों के अपसिद्धान्त का आर्द्रक द्वारा खण्डन एवं स्वसिद्धान्त मण्डन—प्रस्तुत १७ सूत्रगाथाओ मे पहली चार गाथाओ मे आर्द्रक मुनि के समक्ष बोद्धभिक्षुओ ने जो अपना हिंसायुक्त आचार प्रस्तुत किया है, वह अकित है। शेष १३ गाथाओ मे से कुछ गाथाओ मे आर्द्रक मुनि द्वारा बौद्धमत का निराकरण एव फिर कुछ गाथाओ मे जेनेन्द्रसिद्धान्त का समर्थन अकित है।

बौद्ध भिक्षुओं द्वारा प्रस्तुत चार अपसिद्धान्त—(१) कोई व्यक्ति खली के पिण्ड को पुरुष एव तुम्बे को कुमार समझ कर उसे शूल से बीध कर पकाए तो प्राणिवध के पाप से लिप्त होता है, (२) कोई व्यक्ति पुरुष को खलो का पिण्ड एव कुमार को तुम्बा समझकर पकाए तो प्राणिवध के पाप से लिप्त नही होता, (३) कोई पुरुष मनुष्य या बालक को खली का पिण्ड समझकर आग मे पकाए तो वह भोजन पवित्र है और बोद्धभिक्षुओ के लिए भक्ष्य है। और (४) इस प्रकार का (मास) भोजन तैयार करके जो प्रतिदिन दो हजार भिक्षुओ को खिलाता है, वह महान् पुण्यस्कन्ध उपार्जित करके आरोप्य देव होता है।[1]

आर्द्रकमुनि द्वारा इन अपसिद्धान्तों का खण्डन—(१) प्राणिघातजन्य आहार सयमी साधुओ के लिए अयोग्य है। (२) प्राणिघात से पाप नहो होता, ऐसा कहने-सुनने वाले दोनो अबोधि बढाते हैं। (३) खलो के पिण्ड मे पुरुषबुद्धि या पुरुष मे खली के पिण्ड की बुद्धि सम्भव नही है। अतएव उक्त ऐसा कथन आत्मवचनापूर्ण और असत्य है। (४) पापोत्पादक भाषा कदापि न बोलनी चाहिए, क्योकि वह कर्मबन्धजनक होती है। (५) दो हजार भिक्षुओ को जो पूर्वोक्तरीति से प्रतिदिन मासभोजन कराता है, उसके हाथ रक्तलिप्त होते हैं, वह लोकनिन्द्य है, क्योकि मासभोजन तैयार होता है-पुष्ट भेडे को मार कर नमक-तेल आदि के साथ पका कर मसालो के बघार देने से, वह हिंसाजनक है। (६) जो बोद्धभिक्षु यह कहते हैं कि पूर्वोक्त रोति से गृहस्थ द्वारा तैयार किया हुआ भोजन करते हुए हम पापलिप्त नहो होते, वे पुण्य-पाप के तत्त्व से अनभिज्ञ, अनार्य प्रकृति अनार्य कर्मी, रसलोलुप एव स्वपरवञ्चक हैं। अत मास हिंसाजनित, रौद्रध्यान का हेतु, अपवित्र, निन्द्य, अनार्यजन सेवित एव नरकगति का कारण है। मासभोजी, आत्मद्रोही और आत्म-कल्याणद्वेषी है। वह मोक्षमार्ग का आराधक नही है।[2]

---

१ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ३९६ का साराश

२. वही, पत्राक ३९७ से ३९९ का साराश

जैनेन्द्र सिद्धान्त का समर्थन—(१) निर्ग्रन्थ भिक्षु समस्त प्राणियो पर दयालु होने से आरम्भ-जनित या हिसाजनित आहारादि के त्यागी होते है। वे सात्त्विक आहार भी उद्गम, उत्पादना एव एषणा के ४२ दोषो से रहित शुद्ध कल्पनीय ग्रहण करते है, इसलिए मासभोजन तो क्या, उद्दिष्ट भोजन का भी त्याग करते है। वे कपटभाषा का (बौद्धो की तरह) प्रयोग करके अभक्ष्य आहारादि नही लेते। (२) इस निर्ग्रन्थ धर्म के आचरण के प्रभाव से पदार्थों के यथार्थज्ञाता समस्त द्वन्द्वो से रहित मूलगुण एव उत्तरगुणो से सम्पन्न साधक दोनो लोको मे प्रशसनीय बन जाते हैं।

'अणुधम्मो'—इसके दो अर्थ हैं—(१) पहले तीर्थंकर ने इस निर्ग्रन्थ धर्म का आचारण किया, तत्पश्चात् उनके शिष्यगण इसका आचारण करने लगे, इसलिए इस धर्म को अनुधर्म कहते हैं। (२) अथवा यह अणुधर्म है, सूक्ष्मधर्म है, शिरीष पुष्प सम कोमल है, जरा-सा भी अतिचार (दोष) लगने पर नष्ट होने लगता है।

'निग्गंथधम्मो'—निर्ग्रन्थ का अर्थ यहाँ प्रसगवश किया गया है—"जो सब प्रकार के ग्रन्थो=कपटो से रहित हो, उनका धर्म निर्ग्रन्थ धर्म है।"[1]

पशुवध-समर्थक मांसभोजी ब्राह्मणों को भोजन का फल

८२९. सिणायगाण तु दुवे सहस्से, जे भोयए णितिए माहणाणं।
ते पुण्णखधं सुमहऽज्जिणित्ता, भवति देवा इति वेयवाओ ॥४३॥

८२९ (बौद्ध भिक्षुओ को परास्त करके आर्द्रकमुनि आगे बढे तो ब्रह्मणगण उनके पास आ कर कहने लगे—(हे आर्द्रक!) जो पुरुष प्रति-दिन दो हजार स्नातक ब्राह्मणो को भोजन कराता है, वह महान् पुण्यपुञ्ज उपार्जित करके देव होता है, यह वेद का कथन है।

८३०. सिणायगाणं तु दुवे सहस्से, जे भोयए णितिए कुलालयाणं।[2]
से गच्छति लोलुवसंपगाढे, तिव्वाभितावी णरगाभिसेवी ॥४४॥

८३० (ब्राह्मणो के मन्तव्य का प्रतिकार करते हुए आर्द्रक ने कहा—) क्षत्रिय आदि कुलो मे भोजन के लिए घूमने वाले दो हजार स्नातक ब्राह्मणो को जो (दाता) प्रतिदिन भोजन कराता है, वह व्यक्ति मासलोलुप प्राणियो (पक्षियो) से व्याप्त (प्रगाढ) नरक मे जा कर निवास करता है, जहाँ वह तीव्रतम ताप भोगता रहता है।

८३१. दयावरं धम्म दुगुंछमाणे, वहावहं धम्म पसंसमाणे।
एगं पि जे भोययती असीलं, णिवो णिसं जाति कतो सुरेहिं ? ॥४५॥

---

१ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ३९९
(ख) निर्गत ग्रन्थेभ्य कपटेभ्यइति निर्ग्रन्थ।—सूत्रकृताग शी वृत्ति पत्राक ३९९ मे उद्धृत।

२ कुलालयाण—'कुलानि गृहाण्यामिषान्वेषिणार्थिनो नित्य येऽटन्ति ते कुलाटा—मार्जारा, कुलाटा इव कुलाटा ब्राह्मणा। यदि वा कुलानि क्षत्रियादिगृहाणि तानि नित्य पिण्डपातान्वेषिणा परतर्ककाणामालयो येषा निन्द्य-जीविकोपगताना ते कुलालया।—सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ४००

८३१. दयाप्रधान धर्म की निन्दा और हिंसाप्रधान धर्म की प्रशसा करने वाला जो नृप (शासक) एक भी कुशील ब्राह्मण को भोजन कराता है, वह अन्धकारयुक्त नरक मे जाता है, फिर देवो (देवलोको) में जाने की तो बात ही क्या है ?

विवेचन—पशुवध समर्थक मांसभोजी ब्राह्मणों को भोजन : शंका-समाधान—प्रस्तुत तीन सूत्र-गाथाओ में आर्द्रक कुमार के समक्ष ब्राह्मणो के द्वारा प्रस्तुत मन्तव्य एव आर्द्रक-कुमार द्वारा किया गया उसका प्रतिवाद अकित है।

ब्राह्मण-मन्तव्य—'प्रतिदिन दो हजार ब्राह्मणो को भोजन कराने वाला पुण्यशाली व्यक्ति देव बनता है।'

आर्द्रक द्वारा प्रतिवाद—(१) बिल्ली जैसी वृत्ति वाले तथा मासादि भोजन के लिए क्षत्रियादि कुलो मे घूमने वाले दो हजार शील-विहीन ब्राह्मणो को प्रतिदिन भोजन कराने वाला यजमान मासलुब्धप्राणियो से परिपूर्ण अप्रतिष्ठान नरक में जाता है। जहाँ परमाधार्मिक नरकपालो द्वारा तीव्र यातना दी जाती है। (२) एक भी कुशील व्यक्ति को भोजन कराने वाला हिंसाप्रधान धर्म का प्रशसक राजा तामस नरक मे जाता है, देवलोक मे जाने की बात कहाँ।[1]

ब्राह्मणों को भोज और नरकगमन का रहस्य—उस युग मे ब्राह्मण यज्ञ-यागादि मे पशुवध करने की प्रेरणा देते थे, और स्वय भी प्राय मासभोजी थे। मासभोजन आदि की प्राप्ति के लिए वे क्षत्रिय आदि कुलो मे घूमा करते थे। आचार से भी शिथिल हो गए थे। इसलिये ऐसे दाम्भिक ब्राह्मणो को भोजन कराने वाले, मासमय भोजन करने-कराने वाले व्यक्ति को नरकगामी बताया है। मनुस्मृति आदि वैदिक धर्मग्रन्थो में भी बैडालवृत्तिक हिंसाप्रेरक ब्राह्मणो को भोजन कराने वाले तथा करने वाले दोनो को नरकगामी बताया है। उत्तराध्ययन सूत्र मे भी ऐसे कुमार्गप्ररूपक पशुवधादिप्रेरक ब्राह्मणो को भोजन कराने का फल नरकगति बताया है।[2]

सांख्यमतवादी एकदण्डिकों के साथ तात्त्विक चर्चा

८३२. बुहतो वि धम्मम्मि समुट्ठिया मो, अस्सिं सुठिच्चा तह एसकालं ।
आयारसीले बुइए [ऽ]ह नाणे, ण संपरायंसि विसेसमत्थि ॥४६॥

---

१ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ४०० का साराश

२ (क) 'धर्मध्वजी सदालुब्ध छाद्मिको लोकदम्भक ।
बैडालवृत्तिक ज्ञेयो हिंस्र सर्वाभिसधिक: ॥
... ये बकव्रतिनो विप्रा ये च मार्जारलिंगिन ।
ते पतन्त्यन्धतामिस्रे, तेन पापेन कर्मणा ॥
न वार्य्यपि प्रयच्छेत्तु बैडालव्रतिके द्विजे ।
न बकव्रतिके विप्रेनावेदविदि धर्मवित् ॥ .. ''
—मनुस्मृति अ ४, श्लोक ९५,९७,९८

(ख) 'ते हि भोजिता कुमार्गप्ररूपण—पशुवधादावेव कर्मोपचय-निबन्धनेऽशुभव्यापारे प्रवर्तन्ते, इत्यसत्प्रवर्तनतस्तद्भोजनस्य नरकगतिहेतुत्वमेव ।' —उत्तराध्ययन अ. १४, गा. १२ टीका

**८३३. अव्वत्तरूवं पुरिसं महंतं, सणातणं अक्खयमव्वयं च ।
सव्वेसु भूतेसु वि सव्वतो सो, चंदो व्व ताराहिं समत्तरूवो ।।४७।।**

८३२-८३३—(इसके पश्चात् साख्यमतवादी एकदण्डीगण आर्द्रकमुनि से कहने लगे—) आप और हम दोनो ही धर्म मे सम्यक् प्रकार से उत्थित—उद्यत हैं । (हम दोनो) भूत, वर्तमान और भविष्य, तीनो कालो मे धर्म मे भलीभाँति स्थित हैं। (हम दोनो के मत मे) आचारशील पुरुष को ही ज्ञानी कहा गया है । आपके और हमारे दर्शन मे 'ससार' (सम्पराय) के स्वरूप मे कोई विशेष अन्तर नही है । (देखिये, आपके और हमारे मत की तुल्यता—) यह पुरुष (जीवात्मा) अव्यक्तरूप (मन और इन्द्रियो से (अगोचर) है, तथा यह सर्वलोकव्यापी सनातन (नित्य) अक्षय एव अव्यय है । यह जीवात्मा समस्त भूतो (प्राणियो) मे सम्पूर्ण रूप से उसी तरह रहता है, जिस तरह चन्द्रमा समस्त तारागण के साथ सम्पूर्ण रूप से (सम्बन्धित) रहता है ।

**८३४. एवं न मिज्जंति न ससरंति, न माहणा खत्तिय वेस पेस्सा ।
कोडा य पक्खी य सिरीसिवा य, नरा य सव्वे तह देवलोगा ।।४८।।**

८३४ (आर्द्रक मुनि कहते है—)इस प्रकार (आत्मा को एकान्त नित्य एव सर्वव्यापक) मानने पर (सुखी, दु खी आदि भेदो की) सगति नही हो सकती और जीव का (अपने कर्मानुसार नाना गतियो मे) ससरण (गमनागमन) भी सिद्ध नही हो सकता । और न ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और प्रेष्य (शुद्र) रूप भेद ही सिद्ध हो सकते है । तथा कीट, पक्षी, सरीसृप (सर्प-आदि) इत्यादि योनियो की विविधता भी सिद्ध नही हो सकती । इसी प्रकार मनुष्य, देवलोक के देव आदि सब गतियाँ भी सिद्ध नही होगी ।

**८३५. लोयं अजाणित्तिह केवलेण, कहेंति जे धम्मजाणमाणा ।
नासेंति अप्पाण परं च णट्ठा, संसार घोरम्मि अणोरपारे ।।४९।।**

८३५ इस लोक को केवलज्ञान के द्वारा न जान कर (वस्तु के सत्यस्वरूप से) अनभिज्ञ जो व्यक्ति धर्म का उपदेश करते हैं, वे स्वय नष्ट जीव अपने आप का और दूसरे का भी अपार तथा भयकर (घोर) ससार मे नाश कर देते है ।

**८३६. लोयं विजाणंतिह केवलेणं, पुण्णेण णाणेण समाहिजुत्ता ।
धम्मं समत्त च कहेंति जे उ, तारेंति अप्पाण परं च तिण्णा ।।५०।।**

८३६ परन्तु जो व्यक्ति समाधियुक्त हैं, वे (प्रज्ञ अथवा) पूर्ण केवलज्ञान के द्वारा इस लोक को विविध प्रकार से यथावस्थित रूप से जान पाते हैं, वे ही समस्त (समग्र शुद्ध, सम्यक्) धर्म का प्रतिपादन करते है । वे स्वय ससारसागर से पार हुए पुरुष दूसरो को भी (सदुपदेश देकर) ससार सागर से पार करते है ।

**८३७. जे गरहितं ठाणमिहावसंति, जे यावि लोए चरणोववेया ।
उदाहडं तं तु समं मतीए, अहाउसो विप्परियासमेव ।।५१।।**

८३७. इस लोक मे जो व्यक्ति निन्दनीय स्थान का सेवन (निन्द्य आचरण) करते हैं, और जो साधक उत्तम आचरणो से युक्त हैं, उन दोनो के अनुष्ठानो (आचरणो) को असर्वज्ञ व्यक्ति अपनी बुद्धि (अपने मन या मत) से एक समान बतलाते हैं। अथवा हे आयुष्मन्! वे (शुभ आचरण करने वालो को अशुभ आचरण करने वाले और अशुभ आचरण करने वालो को शुभ आचरण करने वाले बताकर) विपरीतप्ररूपणा करते हैं।

विवेचन—सांख्यमतवादी एकदण्डिकों के साथ तात्त्विक चर्चा—प्रस्तुत ६ सूत्रगाथाओ मे प्रारम्भ की दो गाथाओ मे एकदण्डिको द्वारा आर्द्रक मुनि को अपने मत मे खीचने के उद्देश्य से साख्य और जैनदर्शन की दोनो दर्शनो मे प्रदर्शित की गई समानता की बाते अकित की गई हैं, श्री आर्द्रक द्वारा तात्त्विक अन्तर के मुद्दे प्रस्तुत करके जैनदर्शन के मौलिक सिद्धान्तो की की गई प्रस्थापना का शेष गाथाओ मे उल्लेख है।

एकदण्डिकों द्वारा प्रस्तुत पूर्वपक्ष के मुद्दे (१)—यम-नियम रूप धर्म को दोनो ही मानते है, (२) हम और आप धर्म मे स्थित हैं, (३) आचारशील (यमनियमादि का आचरणकर्ता) ही उत्कृष्ट ज्ञानी है (४) ससार का आविर्भाव तिरोभावात्मक स्वरूप जैनदर्शन के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त स्वरूप (अथवा द्रव्य) रूप नित्यपर्याय रूप से अनित्य रूप के समान ही है। (५) आत्मा अव्यक्त सर्वलोकव्यापी, नित्य अक्षय अव्यय, सर्वभूतो मे सम्पूर्णत. व्याप्त है।

आर्द्रक द्वारा प्रदर्शित दोनो दर्शनो का तात्त्विक अन्तर—(१) धर्म को मानते हुए भी यदि उस धर्म का निरूपण अपूर्णज्ञानी करते है, तो वे स्वपर को ससार के गर्त मे डालकर विनष्ट करते हैं। (२) साख्यदर्शन मे केवल २५ तत्त्वो के ज्ञान से मोक्ष प्राप्ति की मान्यता के कारण धर्माचरण रहित केवल तत्त्वज्ञान बघारने वाले तथा धर्माचरणयुक्त तत्त्वज्ञ, दोनो को समान माना जाता है, यह उचित नही। (३) साख्य एकान्तवादी है, जैन अनेकान्तवादी। (४) आत्मा को साख्य सर्वव्यापी मानते है, जैन मानते हैं—शरीरमात्रव्यापी। (५) आत्मा साख्यमतानुसार कूटस्थ नित्य है, जैन मतानुसार कथञ्चित् नित्य, कथञ्चित् अनित्य है। कूटस्थ नित्य या सर्वव्यापी आत्मा आकाशवत् कभी गति नही कर सकता, जबकि वह देव, नरक आदि गतियो मे गमनागमन करता है, कोई सुखी, कोई दु खी कोई बालक, कोई युवक आदि अवस्थाभेद योनिभेद या जातिभेद वर्णभेद आदि कूटस्थ नित्य आत्मा मे नही बन सकते। (६) साख्यमान्य, ससार के नित्य स्वरूप को भी जैन दर्शन नही मानता, वह जगत् को उत्पाद-व्ययसहित ध्रौव्यस्वरूप मानता है। (७) जैन दर्शन केवलज्ञान के बिना मोक्ष नही मानता, जबकि साख्य २५ तत्त्वो के ज्ञानमात्र से ही मोक्ष मान लेता है और वे तत्त्व भी वास्तव मे तत्त्व नही हैं।[1]

हस्तितापसों का विचित्र अहिंसामत: आर्द्रक द्वारा प्रतिवाद

८३८. संवच्छरेणावि य एगमेगं, बाणेण मारेउ महागयं तु।
सेसाण जीवाण दयट्ठयाए, वासं वयं वित्ति पकप्पयामो ॥५२॥

८३८. (अन्त में हस्तितापस आर्द्रकमुनि से कहते हैं—) हम लोग (अपनी तापसपरम्परा-

१ सूत्रकृताग शीलांकवृत्ति पत्राक ४०१ से ४०३ तक का साराश

नुसार) शेष जीवो की दया के लिए वर्ष मे एक बडे हाथी को बाण से मार कर वर्षभर उसके मास से अपना जीवन-यापन करते हैं।

८३९. संवच्छरेणावि य एगमेगं, पाणं हणंता अणियत्तदोसा।
सेसाण जीवाण वहे ण लग्गा, सिया य थोव गिहिणो वि तम्हा ॥५३॥

८३९ (आर्द्रकमुनि सयुक्तिक प्रतिवाद करते हुए कहते हैं—) जो पुरुष वर्षभर मे भी एक (पचेन्द्रिय) प्राणी को मारते है, वे भी दोषो से निवृत्त (रहित) नही हैं। क्योकि ऐसा मानने पर शेष जीवो (क्षेत्र और काल से दूर प्राणियो) के वध मे प्रवृत्त (सलग्न) न होने के कारण थोडे-से (स्वल्प) जीवो को हनन करने वाले गृहस्थ भी दोषरहित क्यो नही माने जाएँगे ?

८४०. सवच्छरेणावि या एगमेगं, पाण हणंते समणव्वतेसु।
आयाहिते से पुरिसे अणज्जे, न तारिसा केवलिणो भवंति ॥५४॥

८४० जो पुरुष श्रमणो के व्रत मे स्थित होकर वर्षभर मे एक-एक प्राणी (और वह भी पचेन्द्रिय त्रस) को मारता है, उस पुरुष को अनार्य कहा गया है। ऐसे पुरुष केवलज्ञानी (केवलज्ञान सम्पन्न) नही हो पाते।

विवेचन—हस्तितापसों का अहिंसामत : आर्द्रकमुनि द्वारा प्रतिवाद—प्रस्तुत तीन सूत्र-गाथाओ मे से प्रथम गाथा मे हस्तितापसो की जीवो की न्यूनाधिक सख्या के आधार पर हिसा के अल्पत्व-बहुत्व की मान्यता अकित की है, शेष दो गाथाओ मे आर्द्रक मुनि द्वारा इस विचित्र मान्यता का निराकरण करके वास्तविक अहिसा को आराधना का किया गया सकेत अकित किया है।

हस्तितापसों की मान्यता—अधिक जीवो के वध से अधिक और अल्पसख्यक जीवो के वध से अल्पहिसा होती है। वे कहते है—कन्दमूल फल आदि खाने वाले, या अनाज खाने वाले साधक बहुत-से स्थावर जीवो तथा उनके आश्रित अनेक जगम जीवो की हिसा करते हैं, भिक्षाजीवी साधक भी भिक्षा के लिए घूमते समय चीटी आदि अनेक प्राणियो का उपमर्दन करते है, तथा भिक्षा की प्राप्ति-अप्राप्ति मे उनका चित्त रागद्वेष से मलिन भी होता है, अत हम इन सब प्रपचो से दूर रह कर वर्ष मे एक वार सिर्फ एक बडे हाथी को मार लेते हैं, उसके मास से वर्ष भर निर्वाह करते हैं। अत हमारा धर्म श्रेष्ठ है।

अहिंसा की भ्रान्ति का निराकरण—आर्द्रकमुनि अहिसा सबधी उस भ्रान्ति का निराकरण दो तरह से करते है—(१) हिंसा-अहिसा की न्यूनाधिकता के मापदण्ड का आधार मृत जीवो की सख्या नही है। अपितु उसका आधार प्राणी की चेतना, इन्द्रियाँ, मन, शरीर आदि का विकास एव मारने वाले की तीव्र-मन्द मध्यम भावना तथा अहिसाव्रती की किसी भी जीव को न मारने की भावना एव तदनुसार क्रिया है। अतः जो हाथी जैसे विशालकाय, विकसित चेतनाशील पचेन्द्रिय प्राणी को मारता है, वह कथमपि घोर हिंसा दोष से रहित नही माना जा सकता। (२) वर्षभर मे एक महाकाय प्राणी का घात करके निर्वाह करने से सिर्फ एक प्राणी का घात नही, अपितु उस प्राणी के आश्रित रहने वाले तथा उसके मास, रक्त, चर्बी आदि मे रहने या उत्पन्न होने वाले अनेक स्थावर-त्रस जीवो का घात होता है। इसीलिए पचेन्द्रिय जीव का वध करने वाले घोर हिंसक, अनार्य एव

नरकगामी हैं। वे स्वपर अहितकारी सम्यग् ज्ञान से कोसो दूर हैं। अगर अल्प संख्या मे जीवो का वध करने वाले को अहिंसा का आराधक कहा जाएगा, तब तो मर्यादित हिंसा करने वाला गृहस्थ भी हिंसादोष रहित माना जाने लगेगा। (३) अहिंसा की पूर्ण आराधना ईर्यासमिति से युक्त भिक्षाचरी के ४२ दोषो से रहित भिक्षा द्वारा यथालाभ सन्तोषपूर्वक निर्वाह करने वाले सम्पूर्ण अहिंसा महाव्रती भिक्षुओ द्वारा ही हो सकती है।[1]

दुस्तर संसार को पार करने का उपाय : रत्नत्रयरूप धर्म

८४१. बुद्धस्स आणाए इमं समाहिं, अस्सिं सुठिच्चा तिविहेण ताती।
तरिउं समुद्दं व महाभवोघं आयाणवं धम्ममुदाहरेज्जासि ॥५५॥

—त्ति बेमि ॥

॥ अद्दइज्जं : छट्ठं अज्झयणं सम्मत्तं ॥

८४१. तत्त्वदर्शी केवलज्ञानी भगवान् की आज्ञा से इस समाधियुक्त (शान्तिमय) धर्म को अगीकार करके तथा इस धर्म मे सम्यक् प्रकार से सुस्थित होकर तीनो करणो से समस्त मिथ्यादर्शनो से विरक्ति रखता हुआ साधक अपनी और दूसरो की आत्मा का त्राता बनाता है। अत महादुस्तर समुद्र की तरह ससारसमुद्र को पार करने के लिए आदान-(सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-)रूप धर्म का निरूपण एव ग्रहण करना चाहिए।

॥ आर्द्रकीय : छठा अध्ययन समाप्त ॥

---

१. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ४०३-४०४ का सारांश

नालन्दकीय : सप्तम अध्ययन

प्राथमिक

☐ सूत्रकृताग सूत्र (द्वि श्रु) के सप्तम अध्ययन का नाम 'नालन्दीय' या 'नालन्दकीय' है ।

☐ इस अध्ययन का नाम 'नालन्दीय' होने के दो कारण निर्युक्तिकार एव वृत्तिकार बताते हैं (१) नालन्दा मे इस अध्ययन का अर्थ प्रतिपादन होने के कारण, और (२) नालन्दा के निकट वर्त्ती उद्यान मे यह घटना या चर्चा निष्पन्न होने के कारण ।

☐ नालन्दा के समीप मनोरथ नामक उद्यान मे भ महावीर के पट्टशिष्य गणधर इन्द्रभूति गौतम के साथ पार्श्वापत्यीय निर्ग्रन्थ उदक पेढालपुत्र की जो धर्मचर्चा हुई है, उसका वर्णन इस अध्ययन मे होने से इसका नाम 'नालन्दीय' रखा गया है ।

☐ नालन्दा उस युग मे जैन और बौद्ध दोनो परम्पराओ मे प्रसिद्ध (राजगृह की) उपनगरी थी । 'नालन्दा' का अर्थ भी गौरवपूर्ण है —जहाँ श्रमण, ब्राह्मण, परिव्राजक आदि किसी भी भिक्षाचर के लिए दान का निषेध नही है । राजा, श्रेणिक तथा बडे-बडे सामन्त, श्रेष्ठी आदि नरेन्द्रो का निवास होने के कारण इसका नाम, 'नारेन्द्र' भी प्रसिद्ध हुआ, जो मागधी उच्चारण के अनुसार 'नालंद' और बाद मे ह्रस्व के कारण नालिंद तथा 'इ' का 'अ' होने से नालद हुआ । भगवान् महावीर के यहाँ १४ वर्षावास होने के कारण, इस उपनगरी के अतिप्रसिद्ध होने के कारण भी इस अध्ययन का नाम '**नालन्दकीय**' रखा जाना स्वाभाविक है ।[1]

☐ प्रस्तुत अध्ययन मे सर्वप्रथम धर्मचर्चास्थल बताने के लिए राजगृह, नालन्दा, श्रमणोपासक लेप गाथापति, उसके द्वारा निर्मित शेषद्रव्या उदकशाला तथा उसके निकटवर्ती हस्तियाम वनखण्ड, तदन्तवर्ती मनोरथ उद्यान का वर्णन किया गया है । तत्पश्चात् श्री गौतमस्वामी और उदक निर्ग्रन्थ की धर्मचर्चा का प्रश्नोत्तर के रूप मे वर्णन है । धर्मचर्चा मुख्यतया श्रमणोपासक के प्रत्याख्यान के सम्बन्ध मे है, जिसके मुख्य दो मुद्दे उदकनिर्ग्रन्थ की ओर से प्रश्न के रूप मे प्रस्तुत किये गए हैं—(१) श्रमणोपासक द्वारा ग्रहण किया जाने वाला त्रसवध प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान है, उसका पालन सम्भव नही है, क्योकि त्रस जीव मरकर स्थावर हो जाते हैं, और स्थावर जीव मरकर त्रस । ऐसी स्थिति मे त्रसस्थावर का निश्चय करना कठिन होता है । इसलिए क्या त्रस के बदले 'त्रसभूत' शब्द का प्रयोग नही होगा ? 'त्रसभूत' का अर्थ है— वर्तमान मे जो जीव त्रस-पर्याय मे है । उसकी हिंसा का प्रत्याख्यान तथा (२) सभी त्रस यदि कदाचित् स्थावर हो जाएँगे तो श्रमणोपासक का त्रसवधप्रत्याख्यान निरर्थक एव निर्विषय हो जाएगा ।" श्री गौतम द्वारा अनेक युक्तियो और दृष्टान्तो द्वारा दोनो प्रश्नो का विस्तार से समाधान किया गया है । अन्त मे उदक निर्ग्रन्थ भ महावीर के चरणो मे स्व-समर्पण करके पचमहाव्रत रूप धर्म स्वीकार कर लेते हैं । यह सब रोचक वर्णन है ।[2]

☐ प्रस्तुत अध्ययन सूत्र सख्या ८४२ से प्रारम्भ होकर सू स ८७३ पर समाप्त होता है ।

---

१ (क) सूत्र कृ. शी. वृत्ति पत्राक ४०७ (ख) सत्र कृ निर्युक्ति गा. २०४, २०५

२. सूत्र कृ मूलपाठ टिप्पण (जम्बूविजयजी) पृ २३४ से २५८ तक

णालंदइज्जं : सत्तमं अज्झयणं

नालन्दकीय : सप्तम अध्ययन

नालन्दानिवासी लेप श्रमणोपासक और उसकी विशेषताएँ

८४२. तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नामं नगरे होत्था, रिद्धित्थिमितसमिद्धे जाव[1] पडिरूवे। तस्स णं रायगिहस्स नगरस्स बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए, एत्थ णं नालन्दा नामं बाहिरिया होत्था अणेगभवणसयसन्निविट्ठा जाव[2] पडिरूवा।

८४२ धर्मोपदेष्टा तीर्थंकर महावीर के उस काल मे तथा उस समय मे (उस काल के विभाग विशेष मे) राजगृह नाम का नगर था। वह ऋद्ध (धनसम्पत्ति से परिपूर्ण), स्तिमित स्थिर-शासन युक्त अथवा स्वचक्र-परचक्र के भय से रहित) तथा समृद्ध (धान्य, गृह, उद्यान तथा अन्य सुख-सामग्री से पूर्ण) था, यावत् बहुत ही सुन्दर था। (इसका समस्त वर्णन औपपातिक सूत्र के नगरी-वर्णन के अनुसार जान लेना चाहिए)।

उस राजगृह नगर के बाहर उत्तरपूर्व दिशाभाग (ईशान कोण) मे नालन्दा नाम की बाहिरिका—उपनगरी (अथवा पाडा या लघु ग्रामटिका) थी। वह अनेक-सैकडो भवनो से सुशोभित थी, यावत् (वह प्रासादीय, दर्शनीय, अभिरूप एव) प्रतिरूप (अतिसुन्दर) थी।

८४३. तत्थ णं नालंदाए बाहिरियाए लेए नामं गाहावती होत्था, अड्ढे दित्ते वित्ते वित्थिण्णविपुलभवणसयणासणजाणवाहणाइण्णे बहुधण-बहुजातरूवरजते आओगपओगसंपउत्ते विच्छड्डितपउरभत्तपाणे बहुदासी-दास-गो-महिस-गवेलगप्पभूते बहुजणस्स अपरिभूते यावि होत्था। से णं लेए गाहावती समणोवासए यावि होत्था अभिगतजीवाऽजीवे जाव[3] विहरति।

८४३. उस नालन्दा नामक बाहिरिका (बाह्यप्रदेश) मे लेप नामक एक गाथापति गृहपति-गृहस्थ) रहता था, वह बडा ही धनाढ्य, दीप्त (तेजस्वी) और प्रसिद्ध था। वह विस्तीर्ण (विशाल)

---

१ यहाँ 'जाव' शब्द से 'पडिरूवे' तक 'राजगृहनगर' का शेष वर्णन औपपातिक सूत्र मे वर्णित चम्पानगरी के वर्णन की तरह समझ लेना चाहिए।

२ यहाँ 'जाव' शब्द से 'पडिरूवा' तक का वर्णन यो समझना चाहिए—
'पासादीया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा'

३ लेप श्रमणोपासक का वर्णन प्रस्तुत प्रति मे **'अभिगतजीवाजीवे'** से आगे **'जाव विहरति'** करके छोड दिया है, किन्तु वृत्तिकार शीलाकाचार्य के समक्ष इसी शास्त्र के क्रियास्थान अध्ययन के ७१५वे सूत्र मे वर्णित सारा पाठ था, इसलिये प्रस्तुत मूलार्थ मे तदनुसार भावानुवाद किया गया है।

विपुल (अनेक) भवनो, शयन, आसन, यान (रथ, पालकी आदि) एव वाहनो (घोडे आदि सवारियो) से परिपूर्ण था। उसके पास प्रचुर धन सम्पत्ति व बहुत-सा सोना एव चादी थी। वह धनार्जन के उपायो (आयोगो) का ज्ञाता और अनेक प्रयोगो मे कुशल था। उसके यहाँ से बहुत-सा आहार-पानी लोगो को वितरित किया (बाटा) जाता था। वह बहुत-से दासियो, दासो गायो, भैसो और भेड-बकरियो का स्वामी था। तथा अनेक लोगो से भी पराभव नही पाता था (दबता नही था)।

वह लेप नामक गाथापति श्रमणोपासक (निर्ग्रन्थ श्रमणो का उपासक) भी था। वह जीव-अजीव का ज्ञाता था। (पुण्य-पाप का तत्त्व उसे भलीभाति उपलब्ध हो गया था। वह आश्रव-सवर, वेदना, निर्जरा, अधिकरण, बन्ध और मोक्ष के तत्त्वज्ञान मे कुशल था। (वह उपासकदशाग सूत्र मे वर्णित श्रमणोपासक की विशेषताओ से युक्त था)। वह देवगणो से सहायता नही लेता था, न ही देवगण उसे धर्म से विचलित करने मे समर्थ थे। वह लेप श्रमणोपासक (निर्ग्रन्थ-प्रवचन मे शकारहित) था, अन्य दर्शनो की आकाक्षा या धर्माचरण की फलाकाक्षा से दूर था, उसे धर्माचरण के फल मे कोई सन्देह न था, अथवा गुणी पुरुषो की निन्दा-जुगुप्सा से दूर रहता था। वह लब्धार्थ (निर्ग्रन्थप्रवचन-रूप या सूत्रचारित्ररूप धर्म के वस्तुतत्त्व को उपलब्ध कर चुका) था, वह गृहीतार्थ (मोक्ष-मार्ग रूप अर्थ स्वीकृत कर चुका) था, वह पृष्टार्थ (विद्वानो से पूछ कर तत्त्वज्ञान प्राप्त कर चुका) था, अतएव वह विनिश्चितार्थ (विशेष रूप से पूछ कर अर्थनिश्चय कर चुका) था। वह अभिगृहीतार्थ (चित्त मे अर्थ की प्रतीति कर चुका) था। धर्म या निर्ग्रन्थप्रवचन के अनुराग मे उसकी हड्डियाँ और नसे (रगे) रगी हुई थी। (उससे धर्म के सम्बन्ध मे कोई पूछता तो वह यही कहता था—'आयुष्मन्! यह निर्ग्रन्थप्रवचन ही सत्य है, यही परमार्थ है, इसके अतिरिक्त शेष सभी (दर्शन या धर्म लौकिक असर्वज्ञ कल्पित होने से) अनर्थरूप है। उसका स्फटिकसम निर्मल यश चारो ओर फैला हुआ था। उसके घर का मुख्यद्वार याचको के लिए खुला रहता था। राजाओ के अन्त पुर मे भी उसका प्रवेश निषिद्ध नही था इतना वह (शील और अर्थ के सम्बन्ध मे) विश्वस्त था। वह चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णिमा के दिन प्रतिपूर्ण (आहार, शरीर सत्कार, अब्रह्मचर्य एव व्यापार मे निवृत्तिरूप) पोषध का सम्यक् प्रकार से पालन करता हुआ श्रावकधर्म का आचरण करता था। वह श्रमणो-निर्ग्रन्थो को तथाविध शास्त्रोक्त ४२ दोषो से रहित निर्दोष एषणीय अशन-पान-खाद्य-स्वाद्यरूप चतुर्विध के दान मे प्रतिलाभित करता हुआ, बहुत से (यथागृहीत) शील (शिक्षाव्रत), गुणव्रत, तथा हिंसादि से विरमणरूप अणुव्रत, तपश्चरण, त्याग, नियम, प्रत्याख्यान एव पोषधोपवास आदि से) अपनी आत्मा को भावित करता हुआ धर्माचरण मे रत रहता था।

८४४. तस्स णं लेयस्स गाहावतिस्स नालंदाए बाहिरियाए बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए एत्थ णं सेसदविया नाम उदगसाला होत्था अणेगखंभसयसन्निविट्ठा पासादीया जाव[1] पडिरूवा। तीसे णं सेसदवियाए उदगसालाए उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए, एत्थ णं हत्थिजामे नाम वणसंडे होत्था किण्हे, वण्णओ[2] वणसंडस्स।

---

१ यहाँ 'जाव' शब्द से 'पासादीया' से 'पडिरूवा' तक का पाठ यो समझना चाहिए—
" **दरिसणिज्जा, अभिरूवा।**"

२ वनखण्ड के वर्णक' के लिए देखिए—औपपातिक सूत्र ३ मे—
'**से णं वणसंडे किण्हे किण्होभासे अभिरूवा पडिरूवा**" तक पाठ।

८४४. उस लेप गाथापति की वहीं शेषद्रव्या नाम की एक उदकशाला थी, जो राजगृह की बाहिरिका नालन्दा के बाहर उत्तरपूर्व-दिशा मे स्थित थी। वह उदकशाला (प्याऊ) अनेक प्रकार के सैकडो खंभो पर टिकी हुई, मनोरम एव अतीव सुन्दर थी। उस शेषद्रव्या नामक उदकशाला के उत्तरपूर्व दिग्विभाग (ईशानकोण) मे हस्तियाम नाम का एक वनखण्ड था। वह वनखण्ड (सर्वत्र हराभरा होने से) कृष्णवर्ण-सा था (इसका शेष वर्णन औपपातिक-सूत्र मे किये हुए वनखण्ड के वर्णन के समान जान लेना चाहिए।)

विवेचन—नालन्दानिवासी लेप श्रमणोपासक : उसकी विशेषताएँ—उसके द्वारा निर्मित उदकशाला एवं वनखण्ड—प्रस्तुत अध्ययन के प्रारम्भ मे भगवान् महावीर के युग के राजगृह नगर और तदन्तर्गत ईशानकोण मे स्थित एक विशिष्ट उपनगरी नालन्दा का सजीव वर्णन किया गया है, वास्तव मे राजगृह और नालन्दा भगवान् महावीर एव तथागत बुद्ध दोनो की तपोभूमि एव साधना-भूमि रही है। राजगृह को श्रमणशिरोमणि भगवान् महावीर के चौदह वर्षावासो का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। वही गणधर श्री गौतमस्वामी एव उदकनिर्ग्रन्थ का सवाद हुआ है।

इसके पश्चात् नालन्दानिवासी गृहस्थ श्रमणोपासक 'लेप' की सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र-सम्पदा का शास्त्रकार ने वर्णन किया है। इस वर्णन पर से लेप श्रमणोपासक को निर्ग्रन्थप्रवचन पर दृढ श्रद्धा, धर्मदृढता, आचारशीलता तथा सबके प्रति उदारता एव गुणग्राहकता का परिचय मिलता है।

लेप श्रमणोपासक के द्वारा बनाई हुई उदकशाला का नाम 'शेषद्रव्या' रखने के पीछे भी उसकी अल्पारम्भी-अल्पपरिग्रही एव अममग्रहीवृत्ति परिलक्षित होती है, क्योकि लेप गृहपति ने आवासभवन के निर्माण के बाद बची हुई सामग्री (धनराशि आदि) से उस उदकशाला का निर्माण कराया था, उदकशाला के निकट ही एक वनखण्ड उसने ले लिया था, जिसका नाम 'हस्तियाम' था। महावीरशिष्य गणधर गौतम और पार्श्वापत्य उदकनिर्ग्रन्थ का सवादस्थल यही वनखण्ड रहा है। इसलिए शास्त्रकार को इन दोनो स्थलो का वर्णन करना आवश्यक था।[1]

उदकनिर्ग्रन्थ की जिज्ञासा : गणधरगौतम की समाधानतत्परता

८४५. तंसि च णं गिहपदेसंसि भगवं गोतमे विहरति, भगवं च णं अहे आरामंसि। अहे णं उदए पेढालपुत्ते पासावच्चिज्जे नियंठे मेतज्जे गोत्तेण जेणेव भगवं गोतमे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता भगवं गोतमं एवं वदासी—आउसंतो गोयमा! अत्थि खलु मे केइ पदेसे पुच्छियव्वे, तं च मे आउसो! अहासुयं अहादरिसियमेव वियागरेहि। सवायं[2] भगवं गोतमे उदयं पेढालपुत्तं एवं वदासी—अवियाइं आउसो! सोच्चा निसम्म जाणिस्सामो।

---

१ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ४०७-४०८ का साराश

२ **सवायं—'शोभनवाक् सवाया सा विद्यते यस्यः सद्वाच।'**—चूर्णि मू पा २३७ पृ

"सह वादेन सवाद पृष्ट, सद्वाच वा शोभनभारतीक वा प्रश्न पृष्ट।"—सूत्र कृ शी वृत्ति पत्राक ४०९

दोनो का भावार्थ 'मूलार्थ' मे दिया जा चुका है।

८४५ उसी वनखण्ड के गृहप्रदेश मे (जहाँ घर बने हुए थे वहाँ) भगवान् गौतम गणधर (भगवान् महावीर के पट्टशिष्य इन्द्रभूति गौतम) ने (ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए) निवास (विहार) किया। (एक दिन) भगवान् गौतम उस वनखण्ड के अधोभाग में स्थित आराम (मनोरथ नामक उद्यान) मे (अपने शिष्यसमुदाय सहित) विराजमान थे। इसी अवसर मे मेदार्यगोत्रीय एव भगवान् पार्श्वनाथ स्वामी का शिष्य-सतान निर्ग्रन्थ उदक पेढालपुत्र जहाँ भगवान् गौतम विराजमान थे, वहाँ उनके समीप आए। उन्होने भगवान् गौतमस्वामी के पास आकर सविनय यो कहा—"आयुष्मन् गौतम! मुझे आप से कोई प्रदेश (शकास्पदस्थल या प्रश्न) पूछना है, (उसके सम्बन्ध मे) आपने जैसा सुना है, या निश्चित किया है, वैसा मुझे विशेषवाद (युक्ति) सहित कहे।" इस प्रकार विनम्र भाषा मे पूछे जाने पर भगवान् गौतम ने उदक पेढालपुत्र से यो कहा—"हे आयुष्मन्! आपका प्रश्न (पहले) सुन कर और उसके गुण-दोष का सम्यक् विचार करके यदि मैं जान जाऊगा तो उत्तर दूगा।"

विवेचन—उदकनिर्ग्रन्थ को जिज्ञासा—गणधर गौतम की समाधान-तत्परता—गणधर गौतम के आवास-स्थान पर उदक निर्ग्रन्थ ने आकर कुछ प्रष्टव्यस्थल के सम्बन्ध मे बताने के लिए उनसे निवेदन किया, तथा श्री गौतम स्वामो ने उसी सद्भाव से समाधान करने की तैयारी बताई, इसी का वर्णन प्रस्तुत सूत्र मे किया गया है।[1]

उदकनिर्ग्रन्थ की प्रत्याख्यानविषयक शंका : गौतमस्वामी द्वारा स्पष्ट समाधान

८४६. (१) **सवाय उदए पेढालपुत्ते भगव गोयम एव वदासी—आउसतो गोतमा! अत्थि खलु कुमारपुत्तिया नाम समणा निग्गथा तुब्भाग पवयणं पवयमाणा गाहावति समणोवासगं एव पच्चक्खावेंति—नन्नत्थ अभिजोएण गाहावतीचोरग्गहणविमोक्खणयाए तसेहिं पाणेहिं णिहाय दंड। एवण्ह पच्चक्खंताण दुपच्चक्खाय भवति, एवण्ह पच्चक्खावेमाणाण दुपच्चक्खावियं भवइ एव ते पर पच्चक्खावेमाणा अतियरंति सय पइण्ण, कस्स ण त हेउ? ससारिया खलु पाणा, थावरा वि पाणा तसत्ताए पच्चायति, तसावि पाणा थावरत्ताए पच्चायति, थावरकायातो विप्पमुच्चमाणा तसकायसि उववज्जंति, तसकायातो विप्पमुच्चमाणा थावरकायसि उववज्जति, तेसि च णं थावरकायंसि उववण्णाण ठाणमेय घत्तं।**

(२) **एवण्हं पच्चक्खंताण सुपच्चक्खात भवति, एवण्ह पच्चक्खावेमाणाणं सुपच्चक्खाविय भवति, एवं ते परं पच्चक्खावेमाणा णातियरंति सय पतिण्णं, णण्णत्थ अभिओगेणं गाहावतीचोरग्गहण-विमोक्खणताए तसभूतेहिं पाणेहिं णिहाय दड। एवमेव सति भासापरक्कमे विज्जमाणे जे ते कोहा वा लोभा वा परं पच्चक्खावेंति, अयं पि णो देसे किं णो णेआउए भवति, अवियाइं आउसो गोयमा! तुब्भं पि एवं एत रोयति?**

८४६ [१] वादसहित अथवा सद्वचनपूर्वक उदक पेढालपुत्र ने भगवान् गौतम स्वामी से इस प्रकार कहा—"आयुष्मन् गौतम! कुमारपुत्र नाम के श्रमण निर्ग्रन्थ है, जो आपके प्रवचन का (के अनुसार) उपदेश-प्ररूपण करते हैं। जब कोई गृहस्थ श्रमणोपासक उनके समीप प्रत्याख्यान (नियम)

---

१ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति, पत्राक ४०९ का साराश

ग्रहण करने के लिए पहुँचता है तो वे उसे इस प्रकार प्रत्याख्यान कराते है—'राजा आदि के अभियोग (दबाव, या विवशीकरण) के सिवाय गाथापति-चोरविमोक्षण-न्याय से त्रस जीवो को दण्ड देने (घात करने) का त्याग है।' परन्तु जो लोग इस प्रकार से प्रत्याख्यान (नियम-ग्रहण) करते हैं, उनका प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान (मिथ्याप्रत्याख्यान) हो जाता है, तथा इस रीति से जो प्रत्याख्यान करते हैं, वे भी दुष्प्रत्याख्यान करते है, क्योकि इस प्रकार से दूसरे (गृहस्थ) को प्रत्याख्यान कराने वाले साधक अपनी प्रतिज्ञा का उल्लघन करते (प्रतिज्ञा मे अतिचार-दोष लगाते) है। प्रतिज्ञाभग किस कारण से हो जाता है? (वह भी सुन ले,) (कारण यह है कि) सभी प्राणी ससरणशील (परिवर्तनशील-ससारी) है। (इस समय) जो स्थावर प्राणी है, वे भविष्य मे त्रसरूप मे उत्पन्न हो जाते है, तथा (इस समय) जो त्रसप्राणी हैं, वे भी (कर्मोदयवश समय पाकर) स्थावररूप मे उत्पन्न हो जाते हैं। (तात्पर्य यह है कि) अनेक जीव स्थावरकाय से छूट कर त्रसकाय मे उत्पन्न होते है और त्रसकाय से छूट कर स्थावरकाय मे उत्पन्न हो जाते है। (अत·) त्रसप्राणी जब स्थावरकाय मे उत्पन्न होते है, तब त्रसकाय के जीवो को दण्ड न देने की प्रतिज्ञा किये उन पुरुषो द्वारा (स्थावर-काय मे उत्पन्न होने से) वे जीव घात करने के योग्य (वध्य) हो जाते है।

[२] किन्तु जो (गृहस्थ श्रमणोपासक) इस प्रकार (आगे कहे जाने वाली रीति के अनुसार) प्रत्याख्यान करते है, उनका वह प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है; तथा इस प्रकार से जो (श्रमण निर्ग्रन्थ) दूसरे (गृहस्थ) को प्रत्याख्यान कराते हैं, वे भी अपनी प्रतिज्ञा का अतिक्रमण नही करते। वह प्रत्याख्यान इस प्रकार है—'राजा आदि के अभियोग को छोड कर (आगार रख कर) 'गाथापति चोरग्रहण विमोचन न्याय' से वर्त्तमान मे त्रसभूत (त्रसपर्याय मे परिणत) प्राणियो को दण्ड देने (घात करने) का त्याग है।' इसी तरह 'त्रस' पद के बाद 'भूत' पद लगा देने से [भाषा मे ऐसा पराक्रम (बल) आ जाता है कि उस (प्रत्याख्यान कर्ता) व्यक्ति का प्रत्याख्यान भग नही होता।] ऐसे भाषा पराक्रम के विद्यमान होने पर भी जो क्रोध या लोभ के वश होकर दूसरे को ('त्रस' के आगे 'भूत' पद न जोड कर) प्रत्याख्यान कराते है, वे अपनी प्रतिज्ञा भंग करते हैं, ऐसा मेरा विचार है। क्या हमारा यह उपदेश (मन्तव्य) न्याय-सगत नही है? आयुष्मन् गौतम! क्या आपको भी हमारा यह मन्तव्य रुचिकर लगता है?

८४७. सवायं भगव गोयमे उदय पेढालपुत्तं एवं वदासी—नो खलु आउसो उदगा! अम्हं एयं एवं रोयति, जे ते समणा वा माहणा वा एवमाइक्खंति जाव परूवेंति नो खलु ते समणा वा निग्गंथा वा भासं भासति, अणुतावियं खलु ते भासं भासंति, अब्भाइक्खति खलु ते समणे समणोवासए, जेहिं वि अन्नेहिं पाणेहिं भूएहि जीवेहिं सत्तेहिं संजमयंति ताणि वि ते अब्भाइक्खंति, कस्स णं तं हेतुं? संसारिया खलु पाणा, तसा वि पाणा थावरत्ताए पच्चायंति, थावरा वि पाणा तसत्ताए पच्चायति, तसकायाओ विप्पमुच्चमाणा थावरकायंसि उववज्जंति, थावरकायाओ विप्पमुच्चमाणा तसकायंसि उववज्जंति, तेसिं च णं तसकायंसि उववन्नाणं ठाणमेयं अघत्तं।

८४७ (इस पर) भगवान् गौतम ने उदक पेढालपुत्र निर्ग्रन्थ से सद्भावयुक्तवचन, या वाद (युक्ति या अनेकान्तवाद) सहित इस प्रकार कहा—"आयुष्मन् उदक! हमे आपका इस प्रकार का ('त्रस' पद के आगे 'भूत' पद जोडकर प्रत्याख्यान कराने का) यह मन्तव्य अच्छा नही लगता।

जो श्रमण या माहन इस प्रकार (आपके मन्तव्यानुसार) कहते है, उपदेश देते है या प्ररूपणा करते हैं वे श्रमण या निर्ग्रन्थ यथार्थ भाषा (भाषासमितियुक्त वाणी) नही बोलते, अपितु वे अनुतापिनी (सन्ताप या पश्चात्ताप उत्पन्न करने वाली) भाषा बोलते हैं। वे लोग श्रमणो और श्रमणोपासको पर मिथ्या दोषारोपण करते है, तथा जो (श्रमण या श्रमणोपासक) प्राणियो, भूतों, जीवो और सत्त्वो के विषय मे सयम (ग्रहण) करते-कराते है, उन पर भी वे दोषारोपण करते हैं। किस कारण से (वह मिथ्या दोषारोपण होता है)? (सुनिये,) समस्त प्राणी परिवर्तनशील (परस्पर जन्म सक्रमण-शील ससारी) होते है। त्रस प्राणी स्थावर के रूप मे आते है, इसी प्रकार स्थावर जीव भी त्रस के रूप मे आते है। (तात्पर्य यह है—) त्रस जीव त्रसकाय को छोडकर (कर्मोदयवश) स्थावरकाय मे उत्पन्न होते है, तथा स्थावर जीव भी स्थावर काय का त्याग करके (कर्मोदयवश) त्रसकाय मे उत्पन्न होते हैं। अत जब वे त्रसकाय मे उत्पन्न होते है, तब वे त्रसजीवघात-प्रत्याख्यानी पुरुषो द्वारा हनन करने योग्य नही होते।

विवेचन—उदक निर्ग्रन्थ की प्रत्याख्यान विषयक शका एवं गौतम स्वामी का समाधान— प्रस्तुत सूत्रद्वय मे से प्रथम सूत्र मे उदक निर्ग्रन्थ द्वारा अपनी प्रत्याख्यानविषयक शका तीन भागो मे प्रस्तुत की गई है--

(१) अभियोगो का आगार रख कर जो श्रावक त्रसप्राणियो की हिंसा का प्रत्याख्यान (त्याग) करते है, वे कर्मवशात् उन त्रसजीवो के स्थावर जीव के रूप मे उत्पन्न होने पर उनका वध करते है, ऐसी स्थिति मे वे प्रतिज्ञाभग करते है, उनका प्रत्याख्यान भी दुष्प्रत्याख्यान हो जाता है।

(२) उन गृहस्थ श्रमणोपासको को उस प्रकार का प्रत्याख्यान करना भी दुष्प्रत्याख्यान है, तथा वे साधक अपनी प्रतिज्ञा का भी अतिक्रमण करते हैं, जो उन श्रमणोपासको को उस प्रकार से प्रत्याख्यान कराते है।

(३) मेरा मन्तव्य है कि 'त्रस' पद के आगे 'भूत' पद को जोड कर त्याग कराने से प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है, और इस पद्धति से प्रत्याख्यान कराने वाला भी दोष का भागी नही होता। क्या यह प्रत्याख्यानपद्धति न्यायोचित एव आपको रुचिकर नही है?

द्वितीय सूत्र मे श्री गौतमस्वामी ने उदकनिर्ग्रन्थ की उपर्युक्त शका का समाधान भी तीन भागो मे किया है—

(१) आपकी प्रत्याख्यान पद्धति हमे पसन्द नही है। अरुचि के तीन कारण ध्वनित होते हैं—(१) 'भूत' शब्द का प्रयोग निरर्थक है, पुनरुक्तिदोषयुक्त है, (२) 'भूत' शब्द सदृशार्थक होने से 'त्रससदृश' अर्थ होगा, जो अभीष्ट नही, और (३) भूतशब्द उपमार्थक होने से उसी अर्थ का बोधक होगा, जो निरर्थक है।

(२) इस प्रकार की प्ररूपणा करने वाले श्रमण यथार्थ भाषा नही बोलते, वे अनुतापिनी भाषा बोलते है, प्राणिहिसा पर सयम करने-कराने वाले श्रमण—श्रमणोपासको पर मिथ्या दोषारोपण करते हैं।

(३) श्रमणोपासक को उसी प्राणी को मारने का त्याग है, जो वर्तमान मे 'त्रस' पर्याय मे है, वह जीव भूतकाल मे स्थावर रहा हो या वर्तमान मे त्रस से स्थावर बन गया हो, उससे

उसका कोई वास्ता नही, न उससे उसका व्रतभग होता है, क्योंकि कर्मवश पर्याय परिवर्तन होता रहता है।[1]

अभियोग—यहाँ अभियोग शब्द बलात् आज्ञा द्वारा या दबाव द्वारा विवश करने के सयोग (योग) के अर्थ मे रूढ है। श्रावक को व्रत, प्रत्याख्यान, नियम या सम्यक्त्व ग्रहण करते समय इन छह अभियोगो का आगार (छूट) रखा जाता है, जैनागमो मे ये छह अभियोग बताये गए हैं—(१) राजाभियोग (२) गणाभियोग, (३) बलाभियोग, (४) देवाभियोग, (५) महत्तराभियोग, (६) आजीविकाभियोग। इसी विवशपरिस्थिति के आगार को छह-छडी आगार भी कहते है।[2]

गृहपति-चोरविमोक्षण न्याय— एक राजा की आज्ञा थी, समस्त नागरिक शाम को ही नगर के बाहर आकर कौमुदीमहोत्सव मे भाग ले। जो नगर मे ही रह जाएगा, उसे मृत्युदण्ड दिया जाएगा। एक वैश्य के छह पुत्र अपने कार्य की धुन मे नगर के बाहर जाना भूल गए। सूर्यास्त होते ही नगर के सभी मुख्यद्वार बन्द कर दिए गए। प्रात काल वे छहो वैश्य पुत्र राजपुरुषो द्वारा पकड लिए गए। राजा के द्वारा मृत्युदण्ड की घोषणा सुनकर वैश्य अत्यन्त चिन्तित हो उठा। राजा से उसने छहो पुत्रो को दण्डमुक्त करने का अनुरोध किया। जब राजा ऐसा करने को तैयार न हुआ तो उसने क्रमश पाँच, चार, तीन, दो और अन्त मे वश सुरक्षार्थ एक पुत्र को छोड देने की प्रार्थना की। राजा ने उसकी प्रार्थना स्वीकार करके एक पुत्र को छोड दिया। यह इस न्याय (दृष्टान्त) का स्वरूप है। दार्ष्टान्तिक यो है—वृद्धवैश्य अपने छहो पुत्रो को राजदण्ड से मुक्त कराना चाहता था, किन्तु जब यह शक्य न हुआ तो अन्त मे उसने एक पुत्र को ही छुडाकर सतोष माना, इसी तरह साधु सभी प्राणियो (षट्कायिक जीवो) को दण्ड देने का प्रत्याख्यान (त्याग) कराना चाहता है, उसकी इच्छा नही है कि कोई भी मनुष्य किसी भी प्राणी का हनन करे, किन्तु जब प्रत्याख्यानकर्त्ता व्यक्ति सभी प्राणियो का घात करना छोडना नही चाहता या छोडने मे अपनी असमर्थता अनुभव करता है, तब साधु उससे जितना बन सके उतना ही त्याग कराता है। श्रावक अपनी परिस्थितिवश षट्काय के जीवो मे से त्रसकायिक प्राणियो के घात का त्याग (प्रत्याख्यान) कराता है। इसलिए त्रसकायिक जीवो के दण्ड (घात) का (प्रत्याख्यान) करने वाला साधु स्थावर प्राणियो के घात का समर्थक नही होता।[2]

उदकनिर्ग्रन्थ की भाषा मे दोष -श्री गौतमस्वामी ने विविध भाषादोष की ओर उदकनिर्ग्रन्थ का ध्यान खींचा है—(१) ऐसी भाषा जिनपरम्परानुसारिणी तथा साधु के बोलने योग्य नही है, (२) 'त्रसभूत' पद का प्रयोग न करने वाले श्रमणो पर व्यर्थ ही प्रतिज्ञाभग का दोषारोपण करते है, इससे आप उन श्रमणो एव श्रमणोपासको के हृदय मे अनुताप पैदा करते हैं, (३) बल्कि उन पर कलक लगा कर उन श्रमण व श्रमणोपासको को उन-उन प्राणियो के प्रति सयम करने कराने से हतोत्साहित करते हैं, प्रत्याख्यान करने कराने से रोकते है, प्राणिसयम करने वालो को सशय मे डालते हैं, उनमे बुद्धिभेद पैदा करते हैं।

---

१ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ४१० से ४१२ तक का साराश

(ख) सूत्रकृताग चूर्णि (मू पा टिप्पण) पृ २३८-२३९

२ सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ४११

पाठान्तर और व्याख्यान्तर—'**कुमारपुत्तिया नाम समणा**' के बदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—'**कम्मारउत्तिया णाम समणोवासगा,**' व्याख्या यो है—जो कर्म (शिल्प) करता है, वह कर्मकार (शिल्पी) है, कर्मकार के पुत्र कर्मकारपुत्र और कर्मकारपुत्र की सतान कर्मकारपुत्रीय हैं, इस नाम के श्रमणोपासक।

'**अणुतावियं**' के बदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर '**अणुगामियं**' है, जिसका अर्थ होता है—'ससारानुगामिनी' '**णो देसे**....' के बदले पाठान्तर—'**णो उवएसे**' है, अर्थ होता है—देश का अर्थ उपदेश है या दृष्टि है। '**णेयाउओ**'—मोक्ष के प्रति ले जाने वाला या न्याययुक्त।[1]

उदकनिर्ग्रन्थ द्वारा पुनः प्रस्तुत प्रश्न और गौतमस्वामी द्वारा प्रदत्त सटीक उत्तर

८४८. सवायं उदय पेढालपुत्ते भगव गोयम एव वयासी--कयरे खलु आउसतो गोतमा ! तुब्भे वयह तसपाणा तसा आउमण्णहा ? सवाय भगव गोतमे उदयं पेढालपुत्त एव वदासी—आउसतो उदगा ! जे तुब्भे वयह तसभूता पाणा तसभूता पाणा ते वय वयामो तसा पाणा तसा पाणा, जे वय वयामो तसा पाणा तसा पाणा, ते तुब्भे वयह तसभूता पाणा तसभूता पाणा, एते सति दुवे ठाणा तुल्ला एगट्ठा, किमाउसो ! इमे भे सुप्पणीयतराए भवति तसभूता पाणा, तसभूता पाणा, इमे भे दुप्पणीयतराए भवति—तसा पाणा तसा पाणा ? भो एगमाउसो ! पडिकोसह, एक्कं अभिणदह, अयं पि भे देसे णो णेयाउए भवति।

८४८ (इसके पश्चात्) उदक पेढालपुत्र ने (वादसहित या) सद्भावयुक्त वचनपूर्वक भगवान् गौतम से इस प्रकार कहा -"आयुष्मन् गौतम ! वे प्राणी कौन-से है, जिन्हे आप त्रस कहते है ? आप त्रस प्राणी को ही त्रस कहते है, या किसी दूसरे को ?"

इस पर भगवान् गौतम ने भी सद्वचनपूर्वक (या सवाद) उदक पेढालपुत्र से कहा —"आयुष्मन् उदक ! जिन प्राणियो को आप त्रसभूत कहते है, उन्ही को हम त्रसप्राणी कहते है और हम जिन्हे त्रसप्राणी कहते है, उन्ही को आप त्रसभूत कहते है। ये दोनो ही शब्द एकार्थक हैं। फिर क्या कारण है कि आप आयुष्मान् त्रसप्राणी को 'त्रसभूत' कहना युक्तियुक्त (शुद्ध या सुप्रणीततर) समझते है, और त्रसप्राणी को 'त्रस' कहना युक्तिसगत (शुद्ध सुप्रणीततर) नही समझते, जबकि दोनो समानार्थक हैं। ऐसा करके आप एक पक्ष की निन्दा करते है और एक पक्ष का अभिनन्दन (प्रशसा) करते है। अत आपका यह (पूर्वोक्त) भेद न्यायसगत नही है।

८४९. भगवं च ण उदाहु—संतेगतिया मणुस्सा भवंति, तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवति—नो खलु वयं संचाएमो मुंडा भवित्ता अगारातो अणगारियं पव्वइत्तए, वयं णं अणुपुव्वेणं गुत्तस्स

---

१ (क) सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति ४१० से ४१३ तक

(ख) सूत्रकृताग चूर्णि (मू पा टिप्पण) पृ २३८-२३९

लिसिस्सामो, ते एवं संखं सावेंति, ते एवं संखं ठवयंति, ते एवं संखं सोवाट्ठवयंति—नन्नत्थ अभिजोएणं गाहावतीचोरग्गहणविमोक्खणयाए तसेहिं पाणेहिं निहाय दंडं, तं पि तेसिं कुसलमेव भवति ।

८४९. आगे भगवान् गौतमस्वामी ने उदक पेढालपुत्र से कहा—आयुष्मन् उदक ! जगत् मे कई मनुष्य ऐसे होते हैं, जो साधु के निकट आ कर उनसे पहले ही इस प्रकार कहते हैं—"भगवन् ! हम मुण्डित हो कर अर्थात्—समस्त प्राणियो को न मारने की प्रतिज्ञा लेकर गृहत्याग करके आगार धर्म से अनगारधर्म मे प्रव्रजित होने (दीक्षा लेने) मे अभी समर्थ नही हैं, किन्तु हम क्रमश साधुत्व (गोत्र) का अगीकार करेंगे, अर्थात्—पहले हम स्थूल (त्रस) प्राणियो की हिंसा का प्रत्याख्यान करेंगे, उसके पश्चात् सूक्ष्म प्राणातिपात (सर्व सावद्य) का त्याग करेंगे । तदनुसार वे मन मे ऐसा ही निश्चय करते हैं और ऐसा ही विचार प्रस्तुत करते हैं । तदनन्तर वे राजा आदि के अभियोग का आगार (छूट) रख कर गृहपति-चोर-विमोक्षणन्याय से त्रसप्राणियों को दण्ड देने का त्याग करते है । [प्रत्याख्यान कराने वाले निर्ग्रन्थ श्रमण यह जान कर कि यह व्यक्ति समस्त सावद्यो को नही छोडता है, तो जितना छोडे उतना ही अच्छा है, उसे त्रसप्राणियो की हिंसा का प्रत्याख्यान कराते है ।] वह (त्रस-प्राणिवध का) त्याग भी उन (श्रमणोपासको) के लिए अच्छा (कुशलरूप) ही होता है ।

८५०. तसा वि वुच्चंति तसा तससंभारकडेण कम्मुणा, णामं च णं अब्भुवगत भवति, तसाउयं च ण पलिक्खीणं भवति, तसकायट्ठितीया ते ततो आउयं विप्पजहंति, ते तओ आउय विप्पजहित्ता थावरत्ताए पच्चायंति । थावरा वि वुच्चंति थावरा थावरसंभारकडेणं कम्मुणा, णामं च ण अब्भुवगतं भवति, थावराउं च णं पलिक्खीणं भवति, थावरकायट्ठितीया ते ततो आउगं विप्पजहति, ते ततो आउगं विप्पजहित्ता भुज्जो परलोइयत्ताए पच्चायति, ते पाणा वि वुच्चति, ते तसा वि वुच्चंति, ते महाकाया, ते चिरट्ठितीया ।

८५० (द्वीन्द्रिय आदि) त्रस जीव भी त्रस सम्भारकृत कर्म (त्रसनामकर्म के अवश्यम्भावी विपाक) के कारण त्रस कहलाते हैं । और वे त्रसनामकर्म के कारण ही त्रसनाम धारण करते हैं । और जब उनकी त्रस की आयु परिक्षीण हो जाती है तथा त्रसकाय मे स्थितिरूप (रहने का हेतुरूप) कर्म भी क्षीण हो जाता है, तब वे उस आयुष्य को छोड देते है, और त्रस का आयुष्य छोड कर वे स्थावरत्व को प्राप्त करते हैं । स्थावर (पृथ्वीकायादि एकेन्द्रिय) जीव भी स्थावरसम्भारकृत कर्म (स्थावरनामकर्म के अवश्यम्भावी विपाक—फलभोग) के कारण स्थावर कहलाते हैं, और वे स्थावर-नामकर्म के कारण ही स्थावरनाम धारण करते है और जब उनकी स्थावर की आयु परिक्षीण हो जाती है, तथा स्थावरकाय मे उनकी स्थिति की अवधि पूर्ण हो जाती है, तब वे उस आयुष्य को छोड देते है । वहाँ से उस आयु (स्थावरायु) को छोड कर पुन· वे त्रसभाव को प्राप्त करते है । वे जीव प्राणी भी कहलाते हैं, त्रस भी कहलाते हैं, वे महाकाय (विशाल शरीर वाले) भी होते हैं और चिरकाल तक स्थिति वाले भी ।

विवेचन—उदक निर्ग्रन्थ द्वारा पुनः प्रस्तुत प्रश्न और गौतम स्वामी द्वारा प्रदत्त उत्तर— प्रस्तुत सूत्रत्रय मे से प्रथम सूत्र मे उदकनिर्ग्रन्थ द्वारा पुनः एक ही प्रश्न दो पहलुओ से प्रस्तुत किया है—(१) त्रस किसे कहते हैं ? (२) त्रसप्राणी को ही या अन्य को ? शेष दोनो सूत्रो मे श्री गौतम

स्वामी द्वारा प्रदत्त उत्तर अंकित है—(१) जिसे आप 'त्रसभूत' कहते हैं, उसे ही हम त्रस कहते हैं। अथवा जिसे हम त्रस कहते है, उसे ही आप त्रसभूत कहते हैं। दोनो एकार्थक हैं। (२) अतः जो गृहस्थ अपनी शक्ति और परिस्थितिवश सिर्फ त्रसकायघात का प्रत्याख्यान करना चाहता है, और साधु जितने प्राणियो की हिंसा से निवृत्त हो उतना ही अच्छा समझकर त्रस-प्राणिहिंसा का त्याग करता है। ऐसी स्थिति के उस साधु को शेष (स्थावर) प्राणियो के घात का अनुमोदक नही कहा जा सकता। (३) त्रस या स्थावर जो भी प्राणी एक दूसरी जाति मे उत्पन्न होते हैं, वे अपने-अपने उदय प्राप्त नामकर्म का फल भोगने के लिए अपनी कायस्थिति, आयु आदि क्षीण होने पर कभी त्रसपर्याय को छोड कर स्थावरपर्याय मे और कभी स्थावरपर्याय को छोडकर त्रसपर्याय मे आते हैं। इससे त्रसजीवो की हिंसा का त्याग किये हुए श्रावक का व्रतभग नही होता।[1]

श्री गौतमस्वामी का स्पष्ट उत्तर—जो प्राणी वर्तमान मे त्रसपर्याय मे हैं, वे भले ही स्थावर-पर्याय मे से आए हो, उनकी हिंसा का त्याग श्रावक करेगा। परन्तु जो त्रस से स्थावर हो गए हैं, उनकी तो पर्याय ही बदल गई है, उनकी हिंसा से श्रावक का उक्त व्रतभग नही होता।[2]

त्रस ही क्यो और कहाँ तक—उदक निर्ग्रन्थ के 'त्रसभूत पद क्यो नही ? तथा त्रस कहाँ तक कहा जाए ?' इन प्रश्नो का उत्तर **'णाम च ण अब्भुवगतं भवति'** तथा **'तसाउय च णं पलिक्खीणं भवति'** इन दो वाक्यो मे आ जाता है। प्रथम उत्तरवाक्य का आशय है—लौकिक और लोकोत्तर दोनो मे त्रस नाम ही माना जाता है, त्रसभूत नही, तथा जहाँ तक त्रस का आयु (कर्म) क्षीण नही हुआ है, वह उत्कृष्ट ३३ सागरोपम तक एकभव की दृष्टि से सम्भव है, वहाँ तक वह त्रस ही रहता है, त्रस-आयु (कर्म) क्षीण होने पर अर्थात् त्रस की कायस्थिति समाप्त हो जाने पर उसकी त्रस-पर्याय बदल सकती है।[3]

उदक की आक्षेपात्मक शंका : गौतम का स्पष्ट समाधान

८५१. सवायं उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं एवं वदासी—आउसंतो गोतमा ! नत्थि णं से केइ परियाए जण्णं समणोवासगस्स एगपाणातिवायविरए वि दंडे निक्खित्ते, कस्स णं तं हेतुं ? संसारिया खलु पाणा, थावरा वि पाणा तसत्ताए पच्चायंति, तसा वि पाणा थावरत्ताए पच्चायंति, थावरकायातो विप्पमुच्चमाणा सव्वे तसकायंसि उववज्जंति, तेसिं च णं थावरकायंसि उववन्नाणं ठाणमेयं घत्तं।

८५१ (पुन) उदक पेढालपुत्र ने वाद (युक्ति) पूर्वक भगवान् गौतम स्वामी से इस प्रकार कहा—आयुष्मन् गौतम ! (मेरी समझ से) जीव की कोई भी पर्याय ऐसी नही है जिसे दण्ड न दे कर श्रावक अपने एक भी प्राणी के प्राणातिपात से विरतिरूप प्रत्याख्यान को सफल कर सके ! उसका कारण क्या है ? (सुनिये) समस्त प्राणी परिवर्तनशील हैं, (इस कारण) कभी स्थावर प्राणी भी त्रसरूप मे उत्पन्न हो जाते हैं और कभी त्रसप्राणी स्थावररूप मे उत्पन्न हो जाते हैं। (ऐसी स्थिति

१ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ४१२-४१३ का साराश

२ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्रांक ४१४ का तात्पर्य

३ सूत्रकृताग चूर्णि (मू पा. टिप्पण) पृ २४०-२४१

मे) वे सबके सब स्थावरकाय को छोड कर त्रसकाय मे उत्पन्न हो जाते हैं, और कभी त्रसकाय को छोड़ कर स्थावरकाय मे उत्पन्न होते हैं। अत स्थावरकाय मे उत्पन्न हुए सभी जीव उन (त्रसकाय-जीववध-त्यागी) श्रावकों के लिए घात के योग्य हो जाते हैं।

८५२. सवायं भगवं गोयमे उदगं पेढालपुत्तं एवं वदासी—णो खलु आउसो ! अस्माकं वत्तव्वएणं, तुब्भं चेव अणुप्पवादेणं अत्थि ण से परियाए जंमि समणोवासगस्स सव्वपाणेहिं सव्वभूतेहिं सव्वजीवेहिं सव्वसत्तेहिं दंडे निक्खित्ते, कस्स णं तं हेतु ? संसारिया खलु पाणा, तसा वि पाणा थावरत्ताए पच्चायंति, थावरा वि पाणा तसत्ताए पच्चायंति, तसकायातो विप्पमुच्चमाणा सव्वे थावरकायंसि उववज्जंति, थावरकायाओ विप्पमुच्चमाणा सव्वे तसकायंसि उववज्जंति, तेसिं च णं तसकायंसि उववन्नाणं ठाणमेयं अघत्तं, ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंति, ते महाकाया, ते चिरट्ठिइया, ते बहुतरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवति, ते अप्पतरागा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अपच्चक्खायं भवति, इति से महया तसकायाओ उवसंतस्स उवट्ठियस्स पडिविरयस्स जण्णं तुब्भे वा अन्नो वा एवं वदह—णत्थि णं से केइ परियाए जम्मि समणोवासगस्स एगपाणाए वि दंडे णिक्खित्ते, अयं पि भे देसे णो णेयाउए भवति।

८५२ (इस पर) भगवान् गौतम ने उदक पेढालपुत्र से युक्तिपूर्वक (सवाद) इस प्रकार कहा—आयुष्मन् उदक ! हमारे वक्तव्य (मन्तव्य) के अनुसार तो यह प्रश्न ही नही उठता (क्योकि हमारा मन्तव्य यह है कि सबके सब त्रस एक ही काल मे स्थावर हो जाते हैं, ऐसा न कभी हुआ है, न होगा और न है।) आपके वक्तव्य (अनुप्रवाद) के अनुसार (यह प्रश्न उठ सकता है,) परन्तु आपके सिद्धान्तानुसार थोडी देर के लिए मान ले कि सभी स्थावर एक ही काल मे त्रस हो जाएँगे तब) भी वह (एक) पर्याय (त्रसरूप) अवश्य है, जिसके रहते (त्रसघातत्यागी) श्रमणोपासक सभी प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वो के घात (दण्ड देने) का त्याग सफल होता है। इसका कारण क्या है ? (सुनिये,) प्राणिगण परिवर्तनशील हैं, इसलिए त्रस प्राणी जैसे स्थावर के रूप उत्पन्न होते हैं, वैसे ही स्थावर प्राणी भी त्रस के रूप उत्पन्न हो जाते है। अर्थात् वे सब त्रसकाय को छोड कर स्थावरकाय मे उत्पन्न हो जाते हैं, तथैव कभी स्थावरकाय को छोड कर सबके सब त्रसकाय मे भी उत्पन्न हो जाते हैं। अत जब वे सब (स्थावरकाय को छोड कर एकमात्र) त्रसकाय में उत्पन्न हो जाते हैं, तब वह स्थान (समस्त त्रसकायीय प्राणिवर्ग) श्रावको के घात-योग्य नही होता। वे प्राणी भी कहलाते है और त्रस भी कहलाते है। वे विशालकाय भी होते है और चिरकाल तक की स्थिति वाले भी। वे प्राणी बहुत हैं, जिनमे श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान सफल सुप्रत्याख्यान होता है। तथा (आपके मन्तव्यानुसार उस समय) वे प्राणी (स्थावर) होते ही नही जिनके लिए श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान नही होता। इस प्रकार वह श्रावक महान् त्रसकाय के घात से उपशान्त, (स्व-प्रत्याख्यान मे) उपस्थित तथा (स्थूलहिंसा से) प्रतिविरत होता है। ऐसी स्थिति में आप या दूसरे लोग, जो यह कहते है कि (जीवो का) एक भी पर्याय नही है, जिसको लेकर श्रमणोपासक का एक भी प्राणी के प्राणातिपात (दण्ड देने) से विरतिरूप प्रत्याख्यान यथार्थ एवं सफल (सविषय) हो सके। अत आपका यह कथन न्यायसगत नही है।

विवेचन—उदक की आक्षेपात्मक शंका; गौतम का स्पष्ट समाधान—प्रस्तुत सूत्रद्वय मे से

प्रथम सूत्र मे उदक के द्वारा प्रस्तुत आक्षेपात्मक शका प्रस्तुत की गई है, द्वितीय सूत्र मे श्री गौतम स्वामी का स्पष्ट एव युक्तियुक्त समाधान अकित है।

प्रत्याख्यान को निर्विषयता एवं निष्फलता का आक्षेप—उदक निर्ग्रन्थ द्वारा किये गए आक्षेप का आशय यह है कि श्रावक के प्रत्याख्यान है त्रस जीवो के हनन का, परन्तु जब सभी त्रसजीव त्रस पर्याय को छोडकर स्थावरपर्याय मे आ जाएँगे, तब उसका पूर्वोक्त प्रत्याख्यान निर्विषय एव निरर्थक हो जाएगा। जैसे सभी नगर निवासियो के वनवासी हो जाने पर नगरनिवासी को न मारने की प्रतिज्ञा निर्विषय एव निष्फल हो जाती है, वैसे ही सभी त्रसो के स्थावर हो जाने पर श्रावक की त्रसघात त्याग की प्रतिज्ञा भी निरर्थक एव निर्विषय हो जाएगी। ऐसी स्थिति मे एक भी त्रस पर्याय का प्राणी नही रहेगा, जिसे न मारकर श्रावक प्रत्याख्यान को सफल कर सके।[1]

श्री गौतमस्वामी द्वारा स्पष्ट समाधान—दो पहलुओ से दिया गया है—(१) ऐसा त्रिकाल मे भी सम्भव नही है कि जगत् के सभी त्रस, स्थावर हो जाएँ, क्योकि यह सिद्धान्त विरुद्ध है। (२) आपके मन्तव्यानुसार ऐसा मान भी ले तो जैसे सभी त्रस स्थावर हो जाते है, वैसे सभी स्थावर भी त्रस हो जाते है, इसलिए जब सभी स्थावर त्रस हो जाएँगे, तब श्रावक का त्रसवध-त्याग सर्वप्राणी-वधत्याग विषयक होने से सफल एव सविषय हो जाएगा। क्योकि तब ससार मे एकमात्र त्रसजीव ही होगे जिनके वध का त्याग श्रावक करता है। इसलिए आपका यह (निर्विषयता रूप) आक्षेप न्याय-सगत नही है।[2]

निर्ग्रन्थों के साथ श्रीगौतमस्वामी के संवाद

८५३. भगवं च ण उदाहु—नियंठा खलु पुच्छियव्वा, आउसंतो नियंठा ! इह खलु सतेगतिया मणुस्सा भवंति, तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवति—जे इमे मुंडा भवित्ता अगारातो अणगारियं पव्वइया एसिं च णं आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते, जे इमे अगारमावसंति एतेसिं ण आमरणंताए दंडे णो णिक्खित्ते, केई च ण समणा जाव वासाइ चउपंचमाइ छद्दसमाइ अप्पतरो वा भुज्जतरो वा देसं दूतिज्जित्ता अगारं वएज्जा ? हंता वएज्जा। तस्स ण त गारत्थं वहमाणस्स से पच्चक्खाणे भग्गे भवति ? णेति। एवामेव समणोवासगस्स वि तसेहिं पाणेहिं दंडे णिक्खित्ते, थावरेहिं पाणेहिं दंडे नो णिक्खित्ते, तस्स णं त थावरकायं वहेमाणस्स से पच्चक्खाणे णो भग्गे भवति, से एवमायाणह णियंठा !, सेवमायाणियव्वं।

८५३ भगवान् गौतम (इसी तथ्य को स्पष्ट करने हेतु) कहते है कि मुझे निर्ग्रन्थो से पूछना है—'आयुष्मान् निर्ग्रन्थो ! इस जगत् मे कई मनुष्य ऐसे होते है, वे इस प्रकार वचनबद्ध (प्रतिज्ञाबद्ध) होते हैं कि 'ये जो मुण्डित होकर, गृह त्याग कर अनगार धर्म मे प्रव्रजित हैं, इनको आमरणान्त (मरणपर्यन्त) दण्ड देने (हनन करने) का मैं त्याग करता हूँ, परन्तु जो ये लोग गृहवास करते (गृहस्थ) हैं, उनको मरणपर्यन्त दण्ड देने का त्याग मै नही करता। (अब मै पूछता हूँ कि उन प्रव्रजित श्रमणो

---

१ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ४१५ का सराश

२ वही, पत्राक ४१६ का साराश

मे से कई श्रमण चार, पाँच, छह या दस वर्ष तक थोड़े या बहुत-से देशो मे विचरण करके क्या पुन गृहवास कर (गृहस्थ बन) सकते हैं ।'

निर्ग्रन्थ—"हाँ, वे पुनः गृहस्थ बन सकते है ।"

भगवान् गौतम—"श्रमणो के घात का त्याग करने वाले उस प्रत्याख्यानी व्यक्ति का प्रत्याख्यान क्या उस गृहस्थ बने हुए (भूतपूर्व श्रमण) व्यक्ति का वध करने से भग हो जाता है ?"

निर्ग्रन्थ—"नही, यह बात सम्भव (शक्य) नही है, (अर्थात्—साधुत्व को छोड़ कर पुन· गृहवास स्वीकार करने वाले भूतपूर्व श्रमण का वध करने से पूर्वोक्त प्रत्याख्यानी का प्रत्याख्यान भग नही होता) ।"

श्री गौतमस्वामी—इसी तरह श्रमणोपासक ने त्रस प्राणियो को दण्ड देने (वध करने) का त्याग किया है, स्थावर प्राणियो को दण्ड देने का त्याग नही किया । इसलिए स्थावरकाय मे वर्त्तमान (स्थावरकाय को प्राप्त भूतपूर्व त्रस) का वध करने से भी उसका प्रत्याख्यान भग नही होता । निर्ग्रन्थो ! इसे इसी तरह समझो, इसे इसी तरह समझना चाहिए ।

८५४. **भगवं च णं उदाहु नियंठा खलु पुच्छियव्वा—आउसतो नियंठा ! इह खलु गाहावती वा गाहावतिपुत्तो वा तहप्पगारेहिं कुलेहिं आगम्म धम्मसवणवत्तियं उवसंकमेज्जा ?, हंता, उवसंकमेज्जा। तेसिं च ण तहप्पगाराणं धम्मे आइक्खियव्वे ?, हंता आइक्खियव्वे, किं ते तहप्पगारं धम्मं सोच्चा निसम्म एव वदेज्जा—[1]इणमेव निग्गंथं पावयणं सच्चं अणुत्तरं केवलियं पडिपुण्णं णेयाउयं [सं]-सुद्ध सल्लकत्तणं सिद्धिमग्ग मुत्तिमग्गं निज्जाणमग्गं निव्वाणमग्ग अवितहमविसंधि सव्वदुक्खप्पहीणमग्गं, एत्थं ठिया जीवा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चति परिणिव्वायंति सव्वदुक्खाणं अंतं करेंति, तमाणाए तहा गच्छामो तहा चिट्ठामो तहा निसीयामो तहा तुयट्टामो तहा भुंजामो तहा भासामो तहऽब्भुट्ठामो तहा उट्ठाए उट्ठेइत्ता पाणाणं जाव सत्ताणं संजमेणं संजमामो त्ति वदेज्जा ? हंता वदेज्जा किं ते तहप्पगारा कप्पंति पव्वावित्तए ? हंता कप्पंति । किं ते तहप्पगारा कप्पंति मुंडावेत्तए ? हंता कप्पंति । किं ते तहप्पगारा कप्पंति सिक्खावेत्तए ? हंता कप्पंति । किं ते तहप्पगारा कप्पति उवट्ठावेत्तए ? हंता कप्पंति । किं ते तहप्पगारा कप्पंति सिक्खावेत्तए ? हंता कप्पंति । किं ते तहप्पगारा कप्पंति उवट्ठावेत्तए ? हंता कप्पंति । तेसिं च णं तहप्पगाराणं सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं दंडे णिक्खित्ते ? हंता णिक्खित्ते । से णं एतारूवेणं विहारेणं विहरमाणा जाव वासाइं चउप्पंचमाइ छद्दसमाणि वा अप्पतरो वा भुज्जतरो वा देसं दूइज्जित्ता अगारं वएज्जा ? हंता वएज्जा । तस्स णं सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं दंडे णिक्खित्ते ? णेति । सेज्जेसे जीवे जस्स परेणं सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं दंडे णो णिक्खित्ते, सेज्जेसे जीवे जस्स आरेणं सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं दंडे णिक्खित्ते, सेज्जेसे जीवे जस्स इदाणिं सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं दंडे णो णिक्खित्ते भवति, परेणं अस्संजए**

---

१. तुलना—"इणमेव निग्गंथं पावयणं सव्वदुक्खाणमतं करेंति ।"

—आवश्यक चूर्णि-प्रतिक्रमणाध्ययन-पृ० २४९

आरेणं संजते, इयाणि अस्संजते, अस्संजयस्स णं सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं दंडे णो णिक्खित्ते भवति, से एवमायाणह णियंठा !, से एवमायाणितव्वं ।

८५४ भगवान् श्री गौतमस्वामी ने आगे कहा कि निर्ग्रन्थों से पूछना चाहिए कि "आयुष्मान् निर्ग्रन्थो ! इस लोक में गृहपति या गृहपतिपुत्र उस प्रकार के उत्तम कुलों में जन्म लेकर धर्म-श्रवण के लिए साधुओं के पास आ सकते हैं ?"

निर्ग्रन्थ—"हाँ, वे आ सकते हैं ।'

श्री गौतमस्वामी—"क्या उन उत्तमकुलोत्पन्न पुरुषों को धर्म का उपदेश करना चाहिए ?"

निर्ग्रन्थ—'हाँ, उन्हे धर्मोपदेश किया जाना चाहिए ।'

श्री गौतमस्वामी—क्या वे उस (तथाप्रकार के) धर्म को सुन कर, उस पर विचार करके ऐसा कह सकते है कि यह निर्ग्रन्थ प्रवचन ही सत्य है, अनुत्तर (सर्वश्रेष्ठ) है, केवलज्ञान को प्राप्त कराने वाला है, परिपूर्ण है, सम्यक् प्रकार से शुद्ध है, न्याययुक्त है, (या मोक्ष की ओर ले जाने वाला है) 'माया-निदान-मिथ्या-दर्शनरूपशल्य को काटने वाला है, सिद्धि का मार्ग है, मुक्तिमार्ग है, निर्याण (मुक्ति) मार्ग है, निर्वाण मार्ग है, अवितथ (यथार्थ या मिथ्यात्वरहित) है, सन्देहरहित है, समस्त दु खो को नष्ट करने का मार्ग है, इस धर्म मे स्थित होकर अनेक जीव सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते हैं, मुक्त होते है, परिनिर्वाण को प्राप्त होते हैं, तथा समस्त दु खो का अन्त करते है । अत हम धर्म (निर्ग्रन्थ-प्रवचन) की आज्ञा के अनुसार, इसके द्वारा विहित मार्गानुसार चलेगे, स्थित (खडे) होगे, बैठेगे, करवट बदलेंगे, भोजन करेंगे, तथा उठेगे । उसके विधानानुसार घर बार आदि का त्याग कर सयमपालन के लिए अभ्युद्यत होगे, तथा समस्त प्राणियो, भूतो, जीवो और सत्त्वो की रक्षा के लिए सयम धारण करेगे । क्या वे इस प्रकार कह सकते हैं ?"

निर्ग्रन्थ—'हाँ वे ऐसा कह सकते हैं ।'

श्री गौतमस्वामी--"क्या इस प्रकार के विचार वाले वे पुरुष प्रव्रजित करने (दीक्षा देने) योग्य हैं ?"

निर्ग्रन्थ—'हाँ, वे प्रव्रजित करने योग्य है ।'

श्री गौतमस्वामी—"क्या इस प्रकार के विचार वाले वे व्यक्ति मुण्डित करने योग्य है ?"

निर्ग्रन्थ—'हाँ, वे मुण्डित किये जाने योग्य है ।'

श्री गौतमस्वामी—"क्या वे वैसे विचार वाले पुरुष (ग्रहणरूप एव आसेवनारूप) शिक्षा देने के योग्य हैं ?"

निर्ग्रन्थ—'हाँ, वे शिक्षा देने के योग्य हैं ।"

श्री गौतमस्वामी—"क्या वैसे विचार वाले साधक महाव्रतारोपण (उपस्थापन) करने योग्य हैं ?"

निर्ग्रन्थ—'हाँ, वे उपस्थान योग्य है ।'

श्री गौतमस्वामी—"क्या प्रव्रजित होकर उन्होने समस्त प्राणियो, तथा सर्वसत्त्वो को दण्ड देना (हनन करना) छोड दिया ?"

निर्ग्रन्थ—'हाँ, उन्होने सर्वप्राणियों की हिंसा छोड़ दी ।'

श्री गौतमस्वामी—"वे इस प्रकार के दीक्षापर्याय (विहार) मे विचरण करते हुए चार, पाच, छह या दस वर्ष तक थोडे या बहुत-से देशो मे विचरण कर क्या पुन. गृहस्थावास मे जा सकते है ?"

निर्ग्रन्थ—'हाँ, वे जा सकते हैं।'

श्री गौतमस्वामी—"क्या वे भूतपूर्व अनगार पुन· गृहस्थ बन जाने पर समस्त प्राणियो यावत् समस्त सत्त्वो को दण्ड देना (हनन करना) छोड देते हैं ?"

निर्ग्रन्थ—'नही ऐसा नही होता, (अर्थात्—वे गृहस्थ बनकर समस्त प्राणियो को दण्ड देना नही छोडते, बल्कि दण्ड देना प्रारम्भ कर देते हैं।')

श्री गौतमस्वामी—(देखो, निर्ग्रन्थो !) यह जीव वही है, जिसने दीक्षाग्रहण पूर्व समस्त प्राणियो यावत् सत्त्वों को दण्ड देने का त्याग नहीं किया था, यह जीव वही है, जिसने दीक्षाग्रहण करने के पश्चात् समस्त प्राणियो यावत् सर्वसत्त्वो को दण्ड देने का त्याग किया था, एव यह जीव अब भी वही है, जो इस समय पुन गृहस्थभाव अगीकार करके समस्त प्राणियों यावत् सर्वसत्त्वो को दण्ड देने का त्यागी नही है। वह पहले असयमी था, बाद मे सयमी हुआ और अब पुन असयमी हो गया है। असयमी जीव समस्त प्राणियो यावत् सर्वसत्त्वो को दण्ड देने (हिंसा) का त्यागी नही होता। अत वह पुरुष इस समय सम्पूर्ण प्राणियो यावत् समस्त तत्त्वो के दण्ड का त्यागी नही है। निर्ग्रन्थो ! इसे इसी प्रकार समझो, इसे इसी प्रकार समझना चाहिए।

८५५. भगवं च णं उवाहु णियंठा खलु पुच्छितव्वा—आउसंतो णियंठा ! इह खलु परिव्वाया वा परिव्वाइयाओ वा अन्नयरेहिंतो तित्थाययणेहिंतो आगम्म धम्मसवणवत्तियं उवसंकमेज्जा ? हंता उवसकमेज्जा। किं तेसिं तहप्पगाराणं धम्मे आइक्खियव्वे ? हंता आइक्खियव्वे। ते चेव जाव उवट्ठावेत्तए। किं ते तहप्पगारा कप्पंति संभुञ्जित्तए ? हंता कप्पंति। ते णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा तहेव जाव वएज्जा। ते णं तहप्पगारा कप्पंति सभुञ्जित्तए ? नो तिणट्ठे समट्ठे, सेज्जेसे जीवे जे परेण नो कप्पति संभुञ्जित्तए, सेज्जे से जीवे जे आरेण कप्पति संभुञ्जित्तए, सेज्जेसे जीवे जे इदाणि णो कप्पति सभुञ्जित्तए, परेणं अस्समणे, आरेण समणे, इदाणिं अस्समणे, अस्समणेणं सद्धिं णो कप्पति समणाण णिग्गंथाणं संभुञ्जित्तए, सेवमायाणह णियंठा ? से एवमायाणितव्वं।

८५५ भगवान् श्री गौतमस्वामी ने (पुन) कहा—"मुझे निर्ग्रन्थो से पूछना है—आयुष्मान् निर्ग्रन्थो ! (यह बताइए कि) इस लोक मे परिव्राजक अथवा परिव्राजिकाएँ किन्हीं दूसरे तीर्थस्थानो (तीर्थायतनो) (मे रह कर वहाँ) से चल कर धर्मश्रवण के लिए क्या निर्ग्रन्थ साधुओ के पास आ सकती हैं ?"

निर्ग्रन्थ—'हा, आ सकती है।'

श्री गौतमस्वामी—"क्या उन व्यक्तियो को धर्मोपदेश देना चाहिए ?"

निर्ग्रन्थ—'हाँ, उन्हे धर्मोपदेश देना चाहिए।'

श्री गौतमस्वामी—"धर्मोपदेश सुन कर यदि उन्हे वैराग्य हो जाए तो क्या वे प्रव्रजित करने, मुण्डित करने, शिक्षा देने या महाव्रतारोहण (उपस्थापन) करने के योग्य हैं ?"

निर्ग्रन्थ—'हाँ, वे प्रव्रजित यावत् महाव्रतारोपण करने योग्य है ।'

श्री गौतमस्वामी—"क्या दीक्षा ग्रहण किये हुए तथाप्रकार के (उन समान समाचारी वाले) व्यक्तियो के साथ साधु को साम्भोगिक (परस्पर वन्दना, आसन प्रदान, अभ्युत्थान, आहारादि का आदान-प्रदान इत्यादि) व्यवहार करने योग्य है ?"

निर्ग्रन्थ—'हाँ, करने योग्य है ।'

श्री गौतमस्वामी—"वे दीक्षापालन करते हुए चार, पाच, छह या दस वर्ष तक थोडे या अधिक देशो मे भ्रमण करके क्या पुन गृहवास मे जा सकते है ?"

निर्ग्रन्थ—'हाँ, वे जा सकते हैं ।'

श्री गौतमस्वामी—"साधुत्व छोडकर गृहस्थपर्याय मे आए हुए वैसे व्यक्तियो के साथ साधु को साभोगिक व्यवहार रखना योग्य है ?"

निर्ग्रन्थ—'नही, अब उनके साथ वैसा व्यवहार नही रखा जा सकता ।'

श्री गौतमस्वामी—"आयुष्मान् निर्ग्रन्थो ! वह जीव तो वही है, जिसके साथ दीक्षाग्रहण करने से पूर्व साधु को साभोगिक व्यवहार करना उचित नही होता, और यह वही जीव है, जिसके साथ दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् साधु को साभोगिक व्यवहार करना उचित (कल्पनीय) होता है, तथा यह वही जीव है, जिसने अब साधुत्व का पालन करना छोड दिया है, तब उसके साथ साधु को साभोगिक व्यवहार रखना योग्य नही है । यह जीव पहले गृहस्थ था, तब अश्रमण था, बाद मे श्रमण हो गया, और इस समय पुन अश्रमण है । अश्रमण के साथ श्रमणनिर्ग्रन्थो को साभोगिक व्यवहार रखना कल्पनीय (उचित) नही होता । निर्ग्रन्थो ! इसी तरह इसे (यथार्थ) जानो, और इसी तरह इसे जानना चाहिए ।"

विवेचन—निर्ग्रन्थो के साथ श्री गौतमस्वामी का संवाद—प्रस्तुत सूत्रत्रय मे शास्त्रकार ने तीन दृष्टान्तात्मक सवाद प्रस्तुत किये हैं, जिनके द्वारा श्री गौतमस्वामी ने उदक आदि निर्ग्रन्थो को व्यावहारिक एव धार्मिक दृष्टि से समझा कर तथा उन्ही के मुख से स्वीकार करा कर त्रसकायवध-प्रत्याख्यानी श्रावक के प्रत्याख्यान से सम्बन्धित उनकी भ्रान्ति का निराकरण किया है । तीन दृष्टान्तात्मक सवाद सक्षेप मे इस प्रकार हैं—

(१) **प्रथम संवाद का निष्कर्ष**—कई मनुष्य ऐसी प्रतिज्ञा करते हैं—"जो घरबार छोड कर अनगार बनेंगे, उनको हमे दण्ड देने (घात करने) का आजीवन त्याग है ।" किन्तु गृहत्यागी अनगार बन जाने के बाद यदि वे कालान्तर मे पुन गृहवास करते हैं, तो पूर्वोक्त प्रतिज्ञावान् मनुष्य यदि वर्तमान मे गृहस्थपर्यायप्राप्त उस (भूतपूर्व अनगार) व्यक्ति को दण्ड देता है तो उसकी प्रतिज्ञा भग नही होती, वैसे ही जो श्रमणोपासक त्रसवध का प्रत्याख्यान करता है, वह वर्तमान में स्थावरपर्याय को प्राप्त (भूतपूर्व त्रस) प्राणी का वध करता है तो उसका प्रत्याख्यान भग नही होता ।

(२) **द्वितीय संवाद का निष्कर्ष**—कई गृहस्थ विरक्त होकर दीक्षा ग्रहण करते हैं । दीक्षा ग्रहण से पूर्व उन्होने समस्त प्राणियो की हिंसा का प्रत्याख्यान नही किया था, दीक्षाग्रहण के बाद उन्होने सर्वप्राणिहिंसा का प्रत्याख्यान कर लिया, परन्तु कालान्तर मे दीक्षा छोड कर पुन· गृहस्थावास मे

लौट आने पर उनके समस्त प्राणिहिंसा का प्रत्याख्यान नही रहता, इसी प्रकार जिस श्रमणोपासक के त्रसजीवो को हिंसा का प्रत्याख्यान है, उसके स्थावरपर्याय को प्राप्त जीवो का प्रत्याख्यान नही था, किन्तु जब वे जीव कर्मवशात् स्थावरपर्याय को छोड कर त्रसपर्याय मे आ जाते है, तब वह उन वर्त्तमान मे त्रस जीवो की हिंसा नही करता, किन्तु जब वे ही त्रसजीव त्रसपर्याय को छोडकर पुन· कर्मवश स्थावरपर्याय मे आ जाते हैं, तब उसके वह पूर्वोक्त प्रत्याख्यान नही रहता। वर्तमान मे स्थावरपर्याय प्राप्त जीवो की हिंसा से उसका उक्त प्रत्याख्यान भग नही होता।

(३) **तृतीय संवाद का निष्कर्ष**—श्रमणदीक्षा ग्रहण करने से पूर्व परिव्राजक-परिव्राजिकागण साधु के लिए साभोगिक व्यवहारयोग्य नहीं थे, श्रमणदीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् वे साधु के लिए साभोगिक व्यवहार-योग्य हो चुके, किन्तु कालान्तर मे श्रमण-दीक्षा छोड कर पुन गृहवास स्वीकार करने पर वे भूतपूर्व श्रामण्य-दीक्षित वर्तमान मे गृहस्थपर्याय मे होने से साधु के लिए साभोगिक व्यवहारयोग्य नहीं रहते, इसी प्रकार जो जीव स्थावरपर्याय को प्राप्त थे, वे श्रमणोपासक के लिए हिंसा के प्रत्याख्यानयोग्य नही थे, बाद में कर्मवशात् जब वे स्थावरपर्याय को छोड कर त्रसपर्याय मे आ जाते हैं, तब वे श्रमणोपासक के लिए हिंसा के प्रत्याख्यानयोग्य हो जाते हैं, किन्तु कालान्तर मे यदि कर्मवशात् वे भूतपूर्व त्रस त्रसपर्याय को छोडकर पुन स्थावरपर्याय मे आ जाते हैं, तो श्रमणोपासक के लिए वे हिंसा के प्रत्याख्यानयोग्य नही रहते। अर्थात्—उस समय वे जीव उसके प्रत्याख्यान के विषय नही रहते। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रत्याख्यान पर्याय की अपेक्षा से होता है, द्रव्य की अपेक्षा से नही। यानी आत्मा (जीव) तो वही होता है किन्तु उसकी पर्याय बदल जाती है। अत श्रावक का प्रत्याख्यान वर्तमान त्रसपर्याय की अपेक्षा से है।[1]

दृष्टान्तों और युक्तियों द्वारा श्रमणोपासक-प्रत्याख्यान की निर्विषयता का निराकरण

८५६. भगवं च णं उदाहु—संतेगतिया समणोवासगा भवंति, तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवति—णो खलु वयं संचाएमो मुंडा भवित्ता अगारातो अणगारियं पव्वइत्तए, वयं णं चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्ण पोसधं सम्मं अणुपालेमाणा विहरिस्सामो, थूलगं पाणातिवायं पच्चाइक्खिस्सामो, एवं थूलगं मुसावादं थूलगं अदिण्णादाण थूलगं मेहुणं थूलगं परिग्गहं पच्चाइक्खिस्सामो, इच्छापरिमाणं करिस्सामो, दुविहं तिविहेणं, मा खलु मम अट्ठाए किंचि वि करेह वा कारावेह वा, तत्थ वि पच्चाइक्खिस्सामो, ते अभोच्चा अपिच्चा असिणाइत्ता आसंदिपीढियाओ पच्चोरुभित्ता, ते तहा कालगता किं वत्तव्व सिया? सम्मं कालगत त्ति वत्तव्वं सिया। ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंति, ते महाकाया, ते चिरट्ठिइया, ते बहुतरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खाय भवति, ते अप्पयरागा जेहिं समणोवासगस्स अपच्चक्खायं भवति, इति से महयाओ० जण्णं तुब्भे वयह तं चेव जाव अयं पि भे देसे णो णेयाउए भवति।

८५६. भगवान् श्रीगौतमस्वामी ने (प्रकारान्तर से उदकनिर्ग्रन्थ को समझाने के लिए) कहा—"कई श्रमणोपासक बडे शान्त होते है। वे साधु के सान्निध्य मे आकर सर्वप्रथम यह कहते है—

---

१ सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ४१८ का साराश

(निर्ग्रन्थ गुरुवर !) हम मुण्डित होकर गृहवास का त्याग कर अनगारधर्म मे प्रव्रजित होने मे समर्थ नही हैं। हम तो चतुर्दशी, अष्टमी और पूर्णमासी के दिन परिपूर्ण पौषधव्रत का सम्यक् अनुपालन (विधि के अनुसार पालन) करेंगे तथा हम स्थूल प्राणातिपात, स्थूल मृषावाद, स्थूल अदत्तादान, स्थूलमैथुन एव स्थूल परिग्रह का प्रत्याख्यान (त्याग) करेंगे। हम अपनी इच्छा का परिमाण करेंगे। हम ये प्रत्याख्यान दो करण (करूँ नही, कराऊँ नही) एव तीन योग (मन-वचन-काया) से करेंगे। (हम जब पौषधव्रत मे होगे, तब अपने कौटुम्बिकजनो से पहले कहेगे—) "मेरे लिए कुछ भी (पचन-पाचन, स्नान, तेलमर्दन, विलेपन आदि आरम्भ) न करना और न ही कराना" तथा उस पौषध मे (सर्वथा दुष्कर) अनुमति का भी प्रत्याख्यान करेंगे। पौषधस्थित वे श्रमणोपासक बिना खाए-पीए (आहार-त्याग पौषध) तथा बिना स्नान किये (शरीरसत्कारत्याग पौषध) एव आरामकुर्सी, पलग, या पीठिका आदि से उतर कर (ब्रह्मचर्य-पौषध या व्यापारत्याग-पौषध करके दर्भ के सस्तारक पर स्थित) (ऐसी स्थिति मे सम्यक् प्रकार से पौषध का पालन करते हुए) यदि मृत्यु को प्राप्त हो जाएँ तो उनके मरण के विषय के क्या कहना होगा ? यही कहना होगा कि वे अच्छी तरह से कालधर्म को प्राप्त हुए। देवलोक मे उत्पत्ति होने से वे त्रस ही होते हैं। वे (प्राणधारण करने के कारण) प्राणी भी कहलाते है, वे (त्रसनामकर्म का उदय होने से) त्रस भी कहलाते हैं, (एक लाख योजन तक के शरीर की विक्रिया कर सकने के कारण) वे महाकाय भी होते हैं तथा (तैंतीस सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति होने से) वे चिरस्थितिक भी होते हैं। वे प्राणी सख्या मे बहुत अधिक है, जिनके विषय मे श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है। वे प्राणी थोडे हैं, जिनके विषय मे श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान नही होता। इस प्रकार वह श्रमणोपासक महान् त्रसकायिकहिंसा से निवृत्त है। फिर भी आप उसके प्रत्याख्यान को निर्विषय कहते हैं। अत आपका यह दर्शन (मन्तव्य) न्यायसगत नही है।

८५७. भगव च णं उदाहु—संतेगतिया समणोवासगा भवति, तेर्सि च णं एवं वुत्तपुव्व भवति, णो खलु वयं संचाएमो मु डा भवित्ता अगाराओ जाव पव्वइत्तए,[1] णो खलु वयं संचाएमो चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु जाव अणुपालेमाणा विहरित्तए, वय णं अपच्छिममारणंतियसलेहणाझूसणाझूसिया भत्तपाणपडियाइक्खिया कालं अणवकंखमाणा विहरिस्सामो, सव्वं पाणातिवायं पच्चाइक्खिस्सामो जाव सव्वं परिग्गह पच्चाइक्खिस्सामो तिविहं तिविहेणं, मा खलु मम अट्ठाए किंचि वि जाव आसदिपेढियाओ पच्चोरुहित्ता ते तहा कालगया किं वत्तव्वं सिया ? समणा कालगता इति वत्तव्वं सिया। ते पाणा वि वुच्चंति जाव अयं पि भे देसे नो नेयाउए भवति।

८५७ (फिर) भगवान् गौतम स्वामी ने (उदय निर्ग्रन्थ से) कहा—कई श्रमणोपासक ऐसे भी होते है, जो पहले से इस प्रकार कहते हैं कि हम मुण्डित होकर गृहस्थावास को छोड कर अनगार धर्म मे प्रव्रजित होने मे अभी समर्थ नही है, और न ही हम चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णिमा, इन पर्वतिथियो मे प्रतिपूर्ण पौषधव्रत का पालन करने मे समर्थ हैं। हम तो अन्तिम समय मे (मृत्यु का समय आने पर) अपश्चिम-मारणान्तिक सलेखना-संथारा के सेवन से कर्मक्षय करने की

---

१ यहाँ इतना अधिक पाठ और पाठान्तर चूर्णि मे है—"णो खलु वय अणुव्वताइ मूलगुणे अणुपालेत्तए, णो खलु उत्तरगुणे, चाउद्दसट्ठमीसु पोसध अणु वयण्ण मम्मद्दमणसारा अपच्छिममारणतिय, ' अणवकखेमाणा. . ।"

आराधना करते हुए आहार-पानी का सर्वथा प्रत्याख्यान (त्याग) करके दीर्घकाल तक जीने की या शीघ्र ही मरने की आकाक्षा न करते हुए विचरण करेगे। उस समय हम तीन करण और तीन योग से समस्त प्राणातिपात, समस्त मृषावाद, समस्त अदत्तादान, समस्त मैथुन और सर्वपरिग्रह का प्रत्याख्यान (त्याग) करेंगे। (कौटुम्बिकजनो से हम इस प्रकार कहेगे—) 'हमारे लिए (पचन-पाचनादि) कुछ भी आरम्भ मत करना और न ही कराना।' उस सल्लेखनाव्रत में हम अनुमोदन का भी प्रत्याख्यान करेगे। इस प्रकार सल्लेखनाव्रत मे स्थित साधक बिना खाए-पीए, बिना स्नानादि किये, पलग आदि आसन से उतर कर सम्यक् प्रकार से सल्लेखना की आराधना करते हुए कालधर्म को प्राप्त हो जाएँ तो उनके मरण (काल) के विषय मे क्या कहना होगा ? यही कहना होगा कि उन्होने अच्छी भावनाओ मे मृत्यु पाई है। (मर कर वे देवलोक मे देवरूप मे उत्पन्न होगे, जो कि त्रस है) वे प्राणी भी कहलाते हैं, वे त्रस भी कहलाते है, वे महाकाय और चिरस्थिति वाले भी होते है, इन (त्रसप्राणियो) की सख्या भी बहुत है, जिनकी हिंसा का प्रत्याख्यान श्रमणोपासक करता है, किन्तु वे प्राणी अल्पतर है, जिनकी हिंसा का प्रत्याख्यान वह नहीं करता है। ऐसी स्थिति मे श्रमणोपासक महान् त्रसकायिक हिंसा से निवृत्त है, फिर भी आप उसके प्रत्याख्यान को निर्विषय बतलाते है। अत आपका यह मन्तव्य न्यायसगत नही है।

८५८. भगवं च णं उवाहु—संतेगतिया मणुस्सा भवंति महिच्छा महारंभा महापरिग्गहा अहम्मिया जाव दुप्पडियाणंदा जाव सव्वातो परिग्गहातो अप्पडिविरता जावज्जीवाए, जेहिं समणोवासगस्स आदाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते; ते ततो आउगं विप्पजहंति, ते चइत्ता भुज्जो सगमादाए दुग्गइगामिणो भवंति, ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंति, ते महाकाया, ते चिरट्ठिइया, ते बहुतरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवति, ते अप्पयरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अपच्चक्खायं भवति, आदाणसो इती से महताउ० जं णं तुब्भे वयह जाव अयं पि भे देसे णो णेयाउए भवति।

८५८ भगवान् श्री गौतमगणधर ने पुन कहा—इस ससार मे कई मनुष्य ऐसे होते हैं, जो बडी-बडी इच्छाओ (अपरिमित आकाक्षाओ) से युक्त होते है, तथा महारम्भी, महापरिग्रही एव अधार्मिक होते हैं। यहाँ तक कि वे बडी कठिनता से प्रसन्न (सन्तुष्ट) किये जा सकते है। वे जीवनभर अधर्मानुसारी, अधर्मसेवी अतिहिंसक, अधर्मनिष्ठ यावत् समस्त परिग्रहो से अनिवृत होते हैं। श्रमणोपासक ने इन (त्रस) प्राणियो को दण्ड देने का प्रत्याख्यान व्रतग्रहण के समय से लेकर मृत्युपर्यन्त किया है। वे (पूर्वोक्त) अधार्मिक मृत्यु का समय आने पर अपनी आयु (एव शरीर) का त्याग कर देते हैं और अपने पापकर्म अपने साथ (परलोक मे) ले जाकर दुर्गतिगामी होते है। (वह दुर्गति नरक या तिर्यञ्च है। अत· वे अधार्मिक नरक या तिर्यञ्चगति मे त्रसरूप मे उत्पन्न होते है) वे प्राणी भी कहलाते हैं, त्रस भी कहलाते हैं, तथा वे महाकाय और चिरस्थितिक (नरक मे ३३ सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति तक होने से) भी कहलाते हैं। ऐसे त्रसप्राणी सख्या मे बहुत अधिक है, जिनके विषय मे श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है, वे प्राणी अल्पतर हैं, जिनके विषय मे श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान नहीं होता। उन (त्रस) प्राणियो को मारने का प्रत्याख्यान श्रमणोपासक व्रतग्रहण समय से लेकर मरण-पर्यन्त करता है। इस प्रकार से श्रमणोपासक उस महती त्रसप्राणिहिंसा वे विरत हैं,

फिर भी आप श्रावक के प्रत्याख्यान को निर्विषय बतलाते है। आपका यह मन्तव्य न्याययुक्त नही है।

८५९. भगवं च ण उयाहु—सतेगतिया मणुस्सा भवंति अणारंभा अपरिग्गहा धम्मिया धम्माणुआ जाव सव्वाओ परिग्गहातो पडिविरया जावज्जीवाए जेहिं समणोवासगस्स आदाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते, ते ततो आउगं विप्पजहंति, ते ततो भुज्जो सगमादाए सोग्गतिगामिणो भवंति, ते पाणा वि वुच्चति जाव णो णेयाउए भवति।

८५९ भगवान् श्री गौतम आगे कहने लगे—इस विश्व मे ऐसे भी शान्तिप्रधान मनुष्य होते है, जो आरम्भ एव परिग्रह से सर्वथा रहित है, धार्मिक हैं, धर्म का अनुसरण करते हैं या धर्माचरण करने की अनुज्ञा देते है। वे सब प्रकार के प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह से तीन करण, तीन योग से जीवनपर्यन्त विरत रहते है। उन प्राणियो (महाव्रती धर्मिष्ठ उच्च साधको) को दण्ड देने का श्रमणोपासक ने व्रतग्रहण करने के दिन से लेकर मरणपर्यन्त प्रत्याख्यान किया है। वे (पूर्वोक्त धर्मिष्ठ उच्च साधक) काल का अवसर आने पर अपनी आयु (देह) का त्याग करते हैं, फिर वे अपने पुण्य (शुभ) कर्मों को साथ लेकर स्वर्ग आदि सुगति को प्राप्त करते है, (वे उच्चसाधक श्रमणपर्याय मे भी त्रस थे और अब देवादिपर्याय मे भी त्रस है,) वे प्राणी भी कहलाते है, त्रस भी कहलाते हैं, और महाकाय तथा (देवलोक मे) चिरस्थितिक भी होते है। (उन्हे भी श्रमणोपासक दण्ड नही देता) अत आपका यह कथन न्यायसगत नही है कि त्रस के सर्वथा अभाव के कारण श्रमणोपासक का उक्त व्रत-प्रत्याख्यान निर्विषय हो जाता है।

८६०. भगवं च ण उदाहु—सतेगतिया मणुस्सा भवंति, तजहा—अप्पिच्छा अप्पारंभा अप्पपरिग्गहा धम्मिया धम्माणुया जाव एगच्चातो परिग्गहातो अप्पडिविरया जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणताए दडे णिक्खित्ते, ते ततो आउ विप्पजहति, विप्पजहित्ता भुज्जो सगमादाए सोग्गतिगामिणो भवंति, ते पाणा वि वुच्चति जाव णो णेयाउए भवति।

८६० भगवान् श्री गौतमस्वामी ने (अपने सिद्धान्त को स्पष्ट समझाने के लिए आगे) कहा—'इस जगत् मे ऐसे भी मानव हैं, जो अल्प इच्छा वाले, अल्प आरम्भ और परिग्रह वाले, धार्मिक और धर्मानुसारी अथवा धर्माचरण की अनुज्ञा देने वाले होते हैं, वे धर्म से अपनी जीविका चलाते हैं, धर्माचरण ही उनका व्रत होता है, वे धर्म को ही अपना इष्ट मानते हैं, धर्म करके प्रसन्नता अनुभव करते हैं, वे प्राणातिपात से लेकर परिग्रह तक, एक देश से विरत होते है और एक देश से विरत नही होते, (अर्थात्—वे स्थूल प्राणातिपात आदि का प्रत्याख्यान करते हैं।) इन (पूर्वोक्त) अणुव्रती श्रमणोपासको को दण्ड देने का प्रत्याख्यान श्रमणोपासक ने व्रतग्रहण करने के दिन से मरण-पर्यन्त किया होता है। वे (अणुव्रती) काल का अवसर आने पर अपनी आयु (या देह) को छोडते हैं और अपने पुण्यकर्मों को साथ लेकर (परलोक मे) सद्गति को प्राप्त करते हैं। (इस दृष्टि से वे पहले अणुव्रती मानव थे, तब भी त्रस थे और देवगति मे अब देव बने, तब भी त्रस ही हुए) वे प्राणी भी कहलाते हैं, त्रस और महाकाय भी कहलाते हैं, तथा चिरस्थितिक भी होते हैं। अतः श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान त्रसजीवो की इतनी अधिक सख्या होने से निर्विषय नही है, आपके द्वारा श्रमणोपासक के प्रत्याख्यान को निर्विषय बताना न्यायसगत नही है।

८६१. भगवं च णं उवाहु—संतेगतिया मणुस्सा भवंति, तं०—आरण्णिया आवसहिया गामणियंतिया कण्हुइरहस्सिया जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते, णो बहुसंजया णो बहुपडिविरता पाण-भूत-जीव-सत्तेहिं, ते अप्पणा सच्चामोसाइं एवं विप्पडिवेदेंति—अहं ण हंतव्वे अण्णे हंतव्वा जाव कालमासे कालं किच्चा अण्णयराइं आसुरियाइं किब्बिसाइं जाव उववत्तारो हवंति, ततो विप्पमुच्चमाणा भुज्जो एलमूयत्ताए तमोरूवत्ताए पच्चायंति, ते पाणा वि वुच्चंति जाव णो णेयाउए भवति।

८६१ भगवान् श्री गौतम ने फिर कहा—"इस विश्व मे कई मनुष्य ऐसे भी होते है, जो आरण्यक (वनवासी) होते है, आवसथिक (कुटी, झोपडी आदि बना कर रहने वाले) होते हैं, ग्राम मे जाकर किसी के निमत्रण से भोजन करते हैं, कोई किसी गुप्त रहस्य के ज्ञाता होते हैं, अथवा किसी एकान्त स्थान मे रह कर साधना करते हैं। श्रमणोपासक ऐसे आरण्यक आदि को दण्ड देने (हनन करने) का त्याग, व्रतग्रहण करने के दिन से लेकर मरणपर्यन्त करता है। वे (पूर्वोक्त आरण्यक आदि) न तो सयमी होते हैं और न ही समस्त सावद्य कर्मों से निवृत। वे प्राणियो, भूतो, जीवो और सत्त्वो की हिसा से विरत नही होते। वे अपने मन से कल्पना करके लोगो को सच्ची-झूठी बात इस प्रकार कहते हैं—'मुझे नही मारना चाहिए, दूसरो को मारना चाहिए, हमे आज्ञा नहीं देनी चाहिए, परन्तु दूसरे प्राणियो को आज्ञा देनी चाहिए, हमे दास आदि बना कर नही रखना चाहिए, दूसरो को रखना चाहिए, इत्यादि।' इस प्रकार का उपदेश देने वाले ये लोग मृत्यु का अवसर आने पर मृत्यु प्राप्त करके (अज्ञानतप के प्रभाव से) किसी असुरसज्ञकनिकाय मे किल्विषी देव के रूप उत्पन्न होते हैं। (अथवा प्राणिहिंसा का उपदेश देने के कारण) वे यहाँ से शरीर छोड कर या तो बकरे की तरह (तिर्यञ्च योनि मे) मूक रूप मे उत्पन्न होते हैं, या वे तामस जीव के रूप में (नरकगति मे) उत्पन्न होते हैं। (वे चाहे मनुष्य हो, देव हो या नारक, किसी भी अवस्था मे त्रसरूप ही होते हैं) अत वे प्राणी भी कहलाते हैं और त्रस भी, वे महाकाय भी होते है और चिरस्थिति वाले भी। वे संख्या में भी बहुत होते है। इसलिए श्रमणोपासक का त्रसजीव को न मारने का प्रत्याख्यान निर्विषय है, आपका यह कथन न्याययुक्त नही है।"

८६२. भगवं च णं उवाहु—संतेगतिया पाणा दीहाउया जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो जाव णिक्खित्ते, ते पुव्वामेव कालं करेंति, करेत्ता पारलोइयत्ताए पच्चायंति, ते पाणा वि वुच्चंति, [ते] तसा वि [वुच्चति], ते महाकाया, ते चिरट्ठितीया, ते दीहाउया, ते बहुतरगा [पाणा] जेहिं समणोवासगस्स आयाण [सो] जाव णो णेयाउए भवति।

८६२ (इसके पश्चात्) भगवान् श्री गौतम ने कहा—'इस ससार मे बहुत-से प्राणी दीर्घायु होते है, जिनके विषय मे श्रमणोपासक व्रतग्रहण करने के दिन से लेकर मरणपर्यन्त दण्ड (हिंसा) का प्रत्याख्यान करता है। इन प्राणियो की मृत्यु पहले ही हो जाती है, और वे यहाँ से मर कर परलोक में जाते हैं। वे प्राणी भी कहलाते है, त्रस भी, एव वे महाकाय और चिरस्थितिक (दीर्घायु) होते है। वे प्राणी संख्या में भी बहुत होते हैं, इसलिए श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान इन प्राणियों की अपेक्षा से सुप्रत्याख्यान होता है। इसलिए श्रमणोपासक के प्रत्याख्यान को निर्विषय कहना न्यायोचित नही है।

८६३. भगवं च णं उदाहु—सतेगतिया पाणा समाउआ जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो जाव णिक्खित्ते, ते सममेव कालं करेंति, करेत्ता पारलोइयत्ताए पच्चायंति, ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंति ते, महाकाया, ते समाउया, ते बहुतरगा जाव णो णेयाउए भवति।

८६३ भगवान् श्री गौतमस्वामी ने (फिर) कहा—इस जगत् मे बहुत-से प्राणी समायुष्क होते हैं, जिनको दण्ड देने (वध करने) का त्याग श्रमणोपासक ने व्रतग्रहण करने के दिन से लेकर मृत्युपर्यन्त किया है। वे (पूर्वोक्त) प्राणी स्वयमेव मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। मर कर वे परलोक मे जाते है। वे प्राणी भी कहलाते है, त्रस भी कहलाते है और वे महाकाय भी होते है और समायुष्क भी। तथा ये प्राणी सख्या मे बहुत होते है, इन प्राणियो के विषय मे श्रमणोपासक का अहिंसाविषयक प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है। अत श्रमणोपासक के प्रत्याख्यान को निर्विषयक बताना न्यायसगत नही है।

८६४. भगवं च ण—उवाहु—संतेगतिआ पाणा अप्पाउया जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए डंडे जाव णिक्खित्ते, ते पुव्वामेव कालं करेंति, करेत्ता पारलोइयत्ताए पच्चायंति, ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंति, ते महाकाया, ते अप्पाउया, ते बहुतरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स पच्चक्खाय भवति, ते अप्पा जेहिं समणोवासगस्स अपच्चक्खायं भवति, इती से महया जाव णो णेआउए भवति।

८६४ भगवान् गौतमस्वामी ने (आगे) कहा—इस ससार मे कई प्राणी अल्पायु होते है। श्रमणोपासक व्रतग्रहण करने के दिन से लेकर मृत्युपर्यन्त जिनको दण्ड देने (हनन करने) का त्याग करता है। वे (पूर्वोक्त प्राणी अल्पायु होने के कारण) पहले ही मृत्यु को प्राप्त कर लेते हैं। मर कर वे परलोक मे जाते है। वे प्राणी भी कहलाते है, त्रस भी कहलाते हैं, महाकाय भी होते है और अल्पायु भी। जिन प्राणियो के विषय मे श्रमणोपासक अहिंसाविषयक प्रत्याख्यान करता है, वे सख्या मे बहुत हैं, जिन प्राणियो के विषय मे श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान नही होता, वे सख्या मे अल्प है। इस प्रकार श्रमणोपासक महान् त्रसकाय की हिंसा से निवृत्त है, फिर भी, आप लोग उसके प्रत्याख्यान को निर्विषय बताते हैं, अत आपका यह मन्तव्य न्यायसगत नही है।

८६५. भगव च णं उवाहु—सतेगतिया समणोवासगा भवंति, तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवति—णो खलु वयं संचाएमो मुंडा भवित्ता जाव पव्वइत्तए, णो खलु वयं संचाएमो चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठ-पुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसधं अणुपालेत्तए णो खलु वयं संचाएमो अपच्छिम जाव विहरित्तए, वयं णं सामाइयं देसावकासियं पुरत्था पाईण पडीणं दाहिण उदीणं एत्ताव ताव सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं दंडे णिक्खित्ते सव्वपाण-भूय-जीव-सत्तेहिं खेमंकरे अहमंसि।

(१) तत्थ आरेण जे तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते ते ततो आउं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं चेव जे तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते तेसु पच्चायंति, तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ, ते

पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंती, ते महाकाया, ते चिरट्ठितीया जाव अयं पि भे वेसे णो णेयाउए भवति ।

(२) तत्थ आरेणं जे तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो जाव दंडे णिक्खित्ते ते ततो आउं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं चेव जे थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए दंडे णिक्खित्ते तेसु पच्चायंति, तेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए दंडे णिक्खित्ते, ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंति, ते चिरट्ठिइया जाव अयं पि भे वेसे णो णेयाउए भवति ।

(३) तत्थ जे ते आरेणं तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते, ते ततो आउं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता तत्थ परेण जे तस-थावरपाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए [दंडे णिक्खित्ते] तेसु पच्चायंति, तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खात भवति, ते पाणा वि जाव अयं पि भे वेसे णो णेयाउए भवति ।

(४) तत्थ जे ते आरेण थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए णिक्खित्ते, ते ततो आउं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं जे तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते तेसु पच्चायंति, तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खातं भवति, ते पाणा वि जाव अयं पि भे वेसे णो णेयाउए भवति ।

(५) तत्थ जे ते आरेण थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए णिक्खित्ते, ते ततो आउं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं चेव जे थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए णिक्खित्ते तेसु पच्चायंति, तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवति ते पाणा वि जाव अयं पि भे णो णेयाउए भवति ।

(६) तत्थ जे ते आरेण थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए णिक्खित्ते ते ततो आउं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता तत्थ परेणं चेव जे तस-थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणताए दंडे णिक्खित्ते तेसु पच्चायंति तेसु समणोवासगस्स सुपच्चक्खात भवति, ते पाणा वि जाव अयं पि भे वेसे णो णेयाउए भवति ।

(७) तत्थ जे ते परेणं तस-थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते ते ततो आउं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं जे तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो [आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते] तेसु पच्चायंति, तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवति, ते पाणा वि जाव अयं पि भे वेसे णो णेयाउए भवति ।

(८) तत्थ जे ते परेणं तस-थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो [आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते] ते ततो आउं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं जे थावर पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए दंडे णिक्खित्ते तेसु पच्चायंति, तेहिं समणोवासगस्स [सुपच्चक्खायं भवति], ते पाणा वि जाव अयं पि भे वेसे णो णेयाउए भवति ।

(९) तत्थ जे ते परेणं तसथावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो [आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते] ते ततो आउं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता ते तत्थ परेणं चेव जे तस-थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए [दंडे णिक्खित्ते] तेसु पच्चायंति, तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवति, ते पाणा वि जाव अयं पि भे देसे णो णेयाउए भवति ।

८६५ (अन्त मे) भगवान् गौतमस्वामी ने कहा—जगत् मे कई श्रमणोपासक ऐसे होते हैं, जो इस प्रकार (साधु के समक्ष) प्रतिज्ञाबद्ध होते हैं—(गुरुदेव !) हम मुण्डित होकर घरबार छोड कर अनगार धर्म मे प्रव्रजित होने मे समर्थ नही हैं, न हम चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णिमा के दिन प्रतिपूर्ण पौषधव्रत का विधि अनुसार पालन करने मे समर्थ हैं, और न ही हम अन्तिम समय मे अपश्चिममारणान्तिक सलेखना-सथारा की आराधना करते हुए विचरण करने मे समर्थ है । हम तो सामायिक एव देशावकाशिक व्रतों को ग्रहण करेंगे, हम प्रतिदिन प्रात काल पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशा मे (अमुक ग्राम, पर्वत, घर या कोस आदि तक के रूप मे) गमनागमन की मर्यादा करके या देशावकाशिक मर्यादाओ को स्वीकार करके उस मर्यादा से बाहर के सर्वप्राणियो, भूतो, जीवो और सत्त्वो को दण्ड देना छोड देंगे । इस प्रकार हम समस्त प्राणियो, भूतो, जीवो और सत्त्वो के क्षेमकर होगे ।

(१) ऐसी स्थिति मे (श्रमणोपासक के व्रतग्रहण के समय) स्वीकृत मर्यादा के (अन्दर) रहने वाले जो त्रस प्राणी है, जिनको उसने अपने व्रतग्रहण के समय से लेकर मृत्युपर्यन्त दण्ड देने का प्रत्याख्यान किया है, वे प्राणी (मृत्यु के समय) अपनी आयु (देह) को छोडकर श्रमणोपासक द्वारा गृहीत मर्यादा के अन्दर क्षेत्रो (प्रदेशो) मे उत्पन्न होते हैं, तब भी श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान उनमे (चरितार्थ होकर) सुप्रत्याख्यान होता है । वे श्रावक की दिशामर्यादा से अन्दर के क्षेत्र मे पहले भी त्रस थे, बाद मे भी मर्यादा के अन्दर के क्षेत्र में त्रसरूप में उत्पन्न होते है, इसलिए वे प्राणी भी कहलाते हैं, त्रस भी कहलाते है । ऐसी स्थिति मे श्रमणोपासक के पूर्वोक्त प्रत्याख्यान को निर्विषय बताना कथमपि न्याययुक्त नही है ।

(२) श्रमणोपासक द्वारा गृहीत मर्यादा के अन्दर के प्रदेश मे रहने वाले जो त्रस प्राणी है, जिनको दण्ड देना श्रमणोपासक ने व्रतग्रहण करने के समय से लेकर मरणपर्यन्त छोड दिया है, वे जब आयु (देह) को छोड देते है और पुन श्रावक द्वारा गृहीत उसी मर्यादा के अन्दर वाले प्रदेश मे स्थावर प्राणियो मे उत्पन्न होते हैं, जिनको श्रमणोपासक ने अर्थदण्ड (प्रयोजनवश हनन करने) का त्याग नही किया है, किन्तु उन्हे अनर्थ दण्ड (निरर्थक हनन) करने का त्याग किया है । अत उन (स्थावरप्राणियो) को श्रमणोपासक अर्थ (प्रयोजन) वश दण्ड देता है, अनर्थ (निष्प्रयोजन) दण्ड नहीं देता । वे प्राणी भी कहलाते हैं, त्रस भी कहलाते हैं । वे चिरस्थितिक भी होते हैं । अत श्रावक का त्रसप्राणियो की हिंसा का और स्थावरप्राणियो की निरर्थक हिसा का प्रत्याख्यान सविषय एव सार्थक होते हुए भी उसे निर्विषय बताना न्यायोचित नही है ।

(३) (श्रमणोपासक द्वारा गृहीत मर्यादा के) अन्दर के प्रदेश मे जो त्रस प्राणी हैं, जिनको श्रमणोपासक ने व्रतग्रहण के समय से लेकर मरणपर्यन्त दण्ड देने का त्याग किया है, वे मृत्यु का समय आने पर अपनी आयु (देह) को छोड देते है, वहाँ से देह छोड कर वे (त्रसप्राणी) निर्धारित-मर्यादा

के बाहर के प्रदेश मे, जो त्रस और स्थावर प्राणी हैं, उनके उत्पन्न होते हैं, जिनमे से त्रस प्राणियो को तो श्रमणोपासक ने व्रतग्रहण के समय से लेकर आमरणान्त दण्ड देने का और स्थावर प्राणियो को निरर्थक दण्ड देने का त्याग किया होता है। अत उन (त्रस-स्थावर) प्राणियो के सम्बन्ध मे श्रमणोपासक का (किया हुआ) प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है। वे प्राणी भी कहलाते हैं यावत् चिरकाल की स्थिति वाले भी होते है। अत श्रावको के प्रत्याख्यान को निर्विषय कहना न्यायपूर्ण नही है।

(४) (श्रमणोपासक द्वारा निर्धारित भूमि के) अन्दर वाले प्रदेश मे जो स्थावर प्राणी है, श्रमणोपासक ने जिनको प्रयोजनवश (सार्थक) दण्ड देने का त्याग नही किया है, किन्तु बिना प्रयोजन के दण्ड (अनर्थदण्ड) देने का त्याग किया है, वे स्थावरप्राणी वहाँ से अपनी आयु (देह) को छोड देते हैं, आयु छोडकर श्रमणोपासक द्वारा स्वीकृत मर्यादा के अन्दर के प्रदेश मे जो त्रस प्राणी हैं, जिनको दण्ड देने का श्रमणोपासक ने व्रतग्रहण के समय से मरणपर्यन्त प्रत्याख्यान कर रखा है, उन (त्रस-प्राणियो) मे उत्पन्न होते है। तब उन (पूर्वजन्म मे स्थावर और वर्तमान जन्म में त्रस) प्राणियो के विषय में किया हुआ श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है। वे प्राणी भी कहलाते है, त्रस भी, यावत् चिरस्थितिक भी होते है। अत त्रस या स्थावर प्राणियो का अभाव मान कर श्रमणोपासक के प्रत्याख्यान को निर्विषय बताना न्यायसगत नही है।

(५) श्रावक द्वारा स्वीकृत मर्यादा के अन्दर के क्षेत्र मे जो स्थावर प्राणी है, जिनको सार्थक दण्ड देने का त्याग श्रमणोपासक नही करता अपितु वह उन्हे निरर्थक दण्ड देने का त्याग करता है। वे प्राणी आयुष्य पूर्ण होने पर उस शरीर को छोड देते हैं, उस शरीर को छोडकर श्रमणोपासक द्वारा गृहीत मर्यादित भूमि के अन्दर ही जो स्थावर प्राणी हैं, जिनको श्रमणोपासक ने सार्थक दण्ड देना नही छोडा है, किन्तु निरर्थक दण्ड देने का त्याग किया है, उनमे उत्पन्न होता है। अत इन प्राणियो के सम्बन्ध मे किया हुआ श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान (सफल) होता है। वे प्राणी भी हैं, यहाँ तक कि चिरकाल की स्थिति वाले भी है। अत श्रमणोपासक के (पूर्वोक्त) प्रत्याख्यान को निर्विषय कहना न्याययुक्त नही है।

(६) श्रावक द्वारा स्वीकृत मर्यादाभूमि के अन्दर जो स्थावर प्राणी है, श्रमणोपासक ने जिन की सार्थक हिंसा का त्याग नही किया, किन्तु निरर्थक हिसा का त्याग किया है, वे स्थावर प्राणी वहाँ से आयुष्यक्षय होने पर शरीर छोड कर श्रावक द्वारा निर्धारित मर्यादाभूमि के बाहर जो त्रस और स्थावर प्राणी है; जिनको दण्ड देने का श्रमणोपासक ने व्रतग्रहण के समय से मरण तक त्याग किया हुआ है, उनमे उत्पन्न होते हैं। अत उनके सम्बन्ध मे किया हुआ श्रमणोपासक का (पूर्वोक्तपद्धति से) प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है। वे प्राणी भी कहलाते है, यहाँ तक कि चिरकाल की स्थिति वाले भी होते हैं। अत. श्रमणोपासक के प्रत्यात्यान को निर्विषय बताना न्याययुक्त नही है।

(७) श्रमणोपासक द्वारा निर्धारित मर्यादाभूमि से बाहर जो त्रस-स्थावर प्राणी है, जिनको व्रतग्रहण-समय से मृत्युपर्यन्त श्रमणोपासक ने दण्ड देने का त्याग कर दिया है, वे प्राणी आयुक्षीण होते ही शरीर छोड देते हैं, शरीर छोडकर वे श्रमणोपासक द्वारा स्वीकृत मर्यादाभूमि के अन्दर जो त्रस प्राणी हैं, जिनको दण्ड देने का श्रमणोपासक ने व्रतारम्भ से लेकर आयुपर्यन्त त्याग किया हुआ है, उनमे उत्पन्न होते हैं। इन (पूर्वजन्म मे त्रस या स्थावर, किन्तु इस जन्म मे त्रस) प्राणियो के सम्बन्ध मे (किया हुआ) श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है। क्योकि वे प्राणी भी कहलाते है,

त्रस भी तथा महाकाय भी एव चिरस्थितिक भी होते है। अत आपके द्वारा श्रमणोपासक के उक्त प्रत्याख्यान पर निर्विषयता का आक्षेप न्यायसगत नही है।

(८) श्रमणोपासक द्वारा मर्यादित क्षेत्र के बाहर जो त्रस और स्थावर प्राणी हैं, जिनको दण्ड देने का श्रमणोपासक ने व्रतग्रहणकाल से लेकर मृत्युपर्यन्त त्याग किया है, वे प्राणी वहाँ से आयुष्य पूर्ण होने पर शरीर छोडकर श्रावक द्वारा निर्धारित मर्यादित भूमि के अन्दर जो स्थावर प्राणी है, जिनको श्रमणोपासक ने प्रयोजनवश दण्ड देने का त्याग नही किया है, किन्तु निष्प्रयोजन दण्ड देने का त्याग किया है, उनमे उत्पन्न होते हैं। अत उन प्राणियो के सम्बन्ध मे श्रमणोपासक द्वारा किया हुआ प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है। वे प्राणी भी हैं, यावत् दीर्घायु भी होते हैं। फिर भी आपके द्वारा श्रमणोपासक के प्रत्याख्यान को निर्विषय कहना न्यायपूर्ण नही है।

(९) श्रावक द्वारा निर्धारित मर्यादाभूमि के बाहर त्रस-स्थावर प्राणी है, जिनको दण्ड देने का श्रमणोपासक ने व्रतग्रहणारम्भ से लेकर मरणपर्यन्त त्याग कर रखा है, वे प्राणी आयुष्यक्षय होने पर शरीर छोड देते है। शरीर छोडकर वे उसी श्रमणोपासक द्वारा निर्धारित भूमि के बाहर ही जो त्रस-स्थावर प्राणी हैं, जिनको दण्ड देने का श्रमणोपासक ने व्रतग्रहण से मृत्युपर्यन्त त्याग किया हुआ है, उन्ही मे पुन उत्पन्न होते है। अत उन प्राणियो को लेकर श्रमणोपासक द्वारा किया गया प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है। वे प्राणी भी कहलाते हैं, यावत् चिरकाल तक स्थिति वाले भी है। ऐसी स्थिति मे आपका यह कथन कथमपि न्याययुक्त नही कि श्रमणोपासक का (पूर्वोक्त) प्रत्याख्यान निर्विषय है।

८६६. भगव च ण उदाहु—ण एत भूय ण एतं भव्व ण एत भविस्स जण्ण तसा पाणा वोच्छिज्जिस्संति थावरा पाणा भविस्संति, थावरा पाणा वोच्छिज्जिस्संति तसा पाणा भविस्संति, अव्वोच्छिण्णेहि तस-थावरेहि पाणेहि जण्ण तुब्भे वा अण्णो वा एव वदह—णत्थि ण से केइ परियाए जाव णो णेयाउए भवति।

८६६ (अन्त मे) भगवान् गौतम ने कहा—(उदक निर्ग्रन्थ!) भूतकाल मे ऐसा कदापि नही हुआ, न वर्तमान मे ऐसा होता है और न ही भविष्यकाल मे ऐसा होगा कि त्रस-प्राणी सर्वथा उच्छिन्न (समाप्त) हो जाएँगे, और सब के सब प्राणी स्थावर हो जाएँगे, अथवा स्थावर प्राणी सर्वथा उच्छिन्न हो जाएँगे और वे सब के सब प्राणी त्रस हो जाएंगे। (ऐसी स्थिति मे) त्रस और स्थावर प्राणियो को सर्वथा उच्छेद न होने पर भी आपका यह कथन कि कोई ऐसा पर्याय (जीव की अवस्था) नही है, जिसको लेकर श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान (चरितार्थ एव सफल) हो, यावत् आपका यह मन्तव्य न्यायसगत नही है।

विवेचन—दृष्टान्तों और युक्तियो द्वारा श्रमणोपासक-प्रत्याख्यान की निर्विषयता का निराकरण—प्रस्तुत दस सूत्रो (सू ८५६ से ८६५ तक) मे शास्त्रकार ने श्री गौतमस्वामी द्वारा प्रतिपादित विभिन्न पहलुओ से युक्तियो और दृष्टान्तो द्वारा श्रमणोपासक के प्रत्याख्यान की निर्विषयता के निराकरण एवं सविषयता की सिद्धि का निरूपण किया है।

इन दस सूत्रो मे श्रमणोपासको के दस प्रकार के प्रत्याख्यानो का क्रमश उल्लेख

करके उस प्रत्याख्यान की कहाँ-कहाँ किस प्रकार सविषयता एव सफलता है, उसका प्रतिपादन किया गया है।

(१) कई श्रमणोपासक पाँच अणुव्रतो और प्रतिपूर्ण पौषध का पालन करते हैं। वे समाधि-पूर्वक मृत्यु प्राप्त करके देवलोक आदि सुगतियो मे जाते हैं। त्रसवध-प्रत्याख्यानी श्रमणोपासक का उनके सम्बन्ध मे किया गया हिसा विषयक प्रत्याख्यान इहलोक और परलोक दोनो जगह सफल होता है, क्योकि इस लोक मे वे त्रस है ही, परलोक मे भी त्रस होते हैं।

(२) कई श्रमणोपासक अन्तिम समय मे सल्लेखना—सथारा करके पाचो आश्रवो का सर्वथा प्रत्याख्यान करते है, वे भी मर कर सुगति मे जाते है, दोनो जगह त्रस होने के नाते त्रसवध-प्रत्याख्यानी श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान उनके विषय मे सफल होता है।

(३) कई मनुष्य महारम्भी-महापरिग्रही, तथा पाचो आश्रवो से अविरत होते है। वे भी मरकर नरक-तिर्यच आदि दुर्गतियो मे जाते हैं। दोनो जगह त्रस होने के नाते श्रमणोपासक का त्रसवध-प्रत्याख्यान उनके विषय मे सफल होता है।

(४) कई मनुष्य निरारम्भी, निष्परिग्रही तथा पचमहाव्रती होते है, वे भी यहाँ से आयुष्य छूटने पर देवलोक मे उत्पन्न होते है। अत दोनो जगह त्रस होने के कारण श्रमणोपासक का त्रसवध-प्रत्याख्यान उनके विषय मे सफल होता है।

(५) कई मनुष्य अल्पारम्भी, अल्पपरिग्रही तथा देशविरत श्रावक होते हैं। वे भी मरने के बाद स्व-कर्मानुसार सुगतिगामी होते हैं। अत उभयत्र त्रस होने के कारण श्रमणोपासक का त्रसवध-प्रत्याख्यान उनके विषय मे सफल होता है।

(६) कई मनुष्य आरण्यक, आश्रमवासी (कुटीवासी), ग्रामनिमन्त्रिक या राहस्यिक (एकान्त-वासी या रहस्यज्ञ) होते है, वे अज्ञानतप आदि के कारण मरकर या तो किल्विषिक असुरयोनि में उत्पन्न होते हैं या मूक, अन्ध या बधिर होते हैं, या अजावत् मूक पशु होते है। तीनो ही अवस्थाओ मे वे त्रस ही रहते हैं। इस कारण श्रमणोपासक का त्रस-वध प्रत्याख्यान उनके विषय मे सफल होता है।

(७) कई प्राणी दीर्घायु होते है, वे भी मरकर परलोक मे जब त्रस प्राणी एव महाकाय तथा दीर्घायु बनते हैं तब उभयत्र त्रस होने के नाते श्रमणोपासक का त्रसवध-प्रत्याख्यान उनके विषय मे सार्थक-सविषय होता है।

(८) कई प्राणी समायुष्क होते हैं, वे भी मरकर परलोक मे जब त्रस होते हैं, तब उभयत्र त्रस होने के कारण श्रमणोपासक का त्रसवध-प्रत्याख्यान उनके विषय मे सार्थक-सविषय होता है।

(९) कई प्राणी अल्पायु होते है, वे भी मरकर परलोक मे जब त्रस होते है, तब भी उभयत्र त्रस होने से श्रमणोपासक का त्रसवध-प्रत्याख्यान उनके विषय मे सार्थक-सविषयक होता है।

(१०) कई श्रमणोपासक ऐसे होते है, जो न तो पर्वतिथियो मे परिपूर्ण पौषध कर सकते हैं, न ही सल्लेखना-सथारा की आराधना, वे श्रावक का सामाजिक, देशावकाशिक एव दिशापरिमाण व्रत अगीकार करके पूर्वादि दिशाओ मे निर्धारित भूमि-मर्यादा से बाहर के समस्त त्रस-स्थावर

प्राणियो के वध से निवृत्त हो जाते हैं। ऐसे श्रमणोपासक त्रसवध का तो सर्वत्र और स्थावर-वध का मर्यादित भूमि के बाहर सर्वथा प्रत्याख्यान करते हैं, किन्तु मर्यादित भूमि के अन्दर स्थावर जीवो का सार्थक दण्ड खुला रखकर उसके निरर्थक दण्ड का प्रत्याख्यान करते हैं, उनका युक्त प्रत्याख्यान निम्नोक्त ९ प्रकार के प्राणियो के विषय मे सार्थक-सविषयक होता है—

(१) जो मर्यादित भूमि के अन्दर त्रस होते हैं, और मरकर उसी मर्यादित भूमि के अन्दर त्रसरूप मे उत्पन्न होते हैं।

(२) जो मर्यादित भूमि के अन्दर त्रस होते हैं, किन्तु मरकर उसी मर्यादित भूमि के अन्दर स्थावर रूप मे उत्पन्न होते है।

(३) जो मर्यादित भूमि के अन्दर त्रस होते है, किन्तु मरकर उस मर्यादित भूमि के बाहर त्रस या स्थावर के रूप मे उत्पन्न होते है।

(४) जो मर्यादित भूमि के अन्दर स्थावर होते हैं, किन्तु उसी मर्यादित भूमि के अन्दर मरकर त्रस प्राणियो मे उत्पन्न होते है।

(५) जो मर्यादित भूमि के अन्दर स्थावर होते हैं, और मरकर भी पुन उसी मर्यादित भूमि के अन्दर स्थावरप्राणियो मे उत्पन्न होते है।

(६) जो मर्यादित भूमि के अन्दर स्थावर होते हैं, किन्तु मरकर मर्यादित भूमि के बाहर त्रस या स्थावर प्राणियो मे उत्पन्न होते हैं।

(७) जो मर्यादित भूमि के बाहर त्रस और स्थावर प्राणी होते हैं, किन्तु मरकर मर्यादित भूमि के अन्दर त्रसप्राणियो मे उत्पन्न होते है।

(८) जो मर्यादित भूमि के बाहर त्रस और स्थावर प्राणी होते है, किन्तु मरकर मर्यादित भूमि के अन्दर स्थावर प्राणियो मे उत्पन्न होते है।

(९) जो मर्यादित भूमि के बाहर त्रस अथवा स्थावर प्राणी होते है, और मर कर पुन उसी मर्यादित भूमि के अन्दर त्रस अथवा स्थावर प्राणियो मे उत्पन्न होते है।

प्रतिवाद का निष्कर्ष—(१) श्रमणोपासक के प्रत्याख्यान के इतने (पूर्वोक्त) सब प्राणी विषय होते हुए भी उसे निर्विषय कहना न्यायसगत नही है, (२) तीन काल मे भी सबके सब त्रस एक साथ नष्ट होकर स्थावर नही होते, और न ही स्थावर प्राणी तीन काल मे कभी एक साथ नष्ट हो कर त्रस होते है, (३) त्रस और स्थावर प्राणियो का सर्वथा उच्छेद कदापि नही होता।[1]

इन सब पहलुओ से श्री गौतमस्वामी ने उदक निर्ग्रन्थ के द्वारा श्रमणोपासक के प्रत्याख्यान पर किये गए निर्विषयता के आक्षेप का सागोपाग निराकरण करके उन्हे निरुत्तर करके स्वसिद्धान्त मानने को बाध्य कर दिया है।[2]

---

१ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ४२० से ४२४ तक का साराश

२ **"एवं सो उदओ अणगारो जाधे भगवता गोतमेण बहूहि हेतुहि निरुत्तो कतो ।"**

—सूत्र कृ. चू (मू. पा. टि) पृ. २५४

भगवं च णं उदाहु—'भगवान्' शब्द का अर्थ वृत्तिकार ने गौतमस्वामीपरक किया है, जबकि चूर्णिकार ने 'भगवान्' का अर्थ—'तीर्थंकर' किया है। और 'च' शब्द से उनके शिष्य तथा अन्य तीर्थंकर समझ लेना चाहिए। 'उदाहु' से अभिप्राय है—श्रावक दो प्रकार के होते हैं—साभिग्रह और निरभिग्रह। यहाँ 'साभिग्रह' श्रावक की अपेक्षा से कहा गया है।[1]

'मा खलु मम अट्ठाए तत्थ वि पच्चाइक्खिस्सामो' का तात्पर्य चूर्णिकार के अनुसार यह है—'मेरे लिए कुछ भी राधना, पकाना, स्नान, उपमर्दन, विलेपन आदि मत करना, यह बात अपनी पत्नी या अन्य महिला आदि से कहता है। तथा गृहप्रमुख महिला दासियो या रसोई बनाने वाले रसोइयों से ऐसा सदेश देने को कहती है—मत कराना। अथवा सामायिक मे स्थित व्यक्ति द्वारा जो अकर्त्तव्य है, उसका भी प्रत्याख्यान करेंगे।[2]

'ते तहा कालगता····सम्मं · वत्तव्वं सिया' का तात्पर्य—चूर्णिकार के अनुसार इस प्रकार है—वे वैसी पोषधव्रत की स्थिति मे शीघ्र प्रभावकारी किसी व्याधि या रोगाक्रमण से, उदरशूल आदि से अथवा सर्पदश से, अथवा सर्वपौषध मे भयकर तूफान—झझावात आदि से, या व्याघ्रादि के आक्रमण से, या दीवार के गिरने से कदाचित् कालधर्म को प्राप्त हो जाए तो क्या कहा जाएगा? यही कहा जाएगा कि सम्यक् (समाधिपूर्वक) काल-मृत्यु को प्राप्त हुआ है; यह नही कहा जाएगा कि बालमरणपूर्वक मृत्यु हुई है।[3]

'त्रस बहुतर, स्थावर अल्पतर' का रहस्य—वृत्तिकार के अनुसार—उदक निर्ग्रन्थ के कथनानुसार सभी स्थावर जब त्रस के रूप मे उत्पन्न हो जाएँगे, तब केवल त्रस ही ससार मे रह जाएँगे, जिनके वध का श्रावक प्रत्याख्यान करता है, स्थावरप्राणियो का सर्वथा अभाव हो जाएगा। अल्प शब्द यहाँ अभाववाची है। इस दृष्टि से कहा गया है कि त्रस बहुमख्यक हैं, स्थावर सर्वथा नही है, इसलिए श्रावक का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है।[4]

---

१ (क) **'भगवं'** तित्थगरो, **'च'** शब्देन शिष्या, ये चान्ये तीर्थंकरा'

—सूत्रकृताग चूर्णि (मू पा टिप्पण) पृ २४५

(ख) **भगवं च ण उदाहु**—गौतमस्वाम्येवाह— सूत्रकृ शी वृत्ति

२ (क) **मा खलु मम अट्ठाए किंचि**—रधण-पयण-ण्हाणुम्मद्दण-विलेवणादि **करेध** महेलिय अण्ण वा भणति। **कारवेहित्ति**—इस्सरमहिला दासीण महाण सियाण वा सदेसग देति। **तत्थ वि पविस्सामो ति** एव पगारे सदेसए दातव्वे, अथवा यदन्यत् सामाइअकडेणाकर्त्तव्य तत्थ वि पच्चक्खाण करिस्सामो।'

—सूत्रकृताग चूर्णि (मू पा. टि.) पृ २४५

(ख) "मदर्थं पचनपाचनादिक पौषधस्थस्य मम कृते मा कार्षी, तथा परेण मा कारयत, तत्राऽपि अनुमतावपि सर्वथा यदसम्भवि तत् प्रत्याख्यास्याम।" —सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति, पत्राक ४२०

३ जे पुण ते तथा पोसधिया चेव काल करेज्ज, आसुक्कार गेलण्णेण सूलादिणा अहिडक्का य, णाणु पोसधकरणेण चेव दडणिक्खेवो। एव सव्वपोसधे विज्जणीवातादिएण वा वग्धादीण वा कुड्डपडणेण वा ते किं ति वत्तव्वा सम्मं कालगता, न बालमरणेनेत्यर्थ। —सूत्रकृ. चूर्णि (मू पा टिप्पण) पृ २४५

४. सूत्र कृ. शी. वृत्ति पत्रांक ४१६ —सूत्र कृ चूर्णि (मू. पा टि) पृ. २४६

कृतज्ञताप्रकाश की प्रेरणा और उदयनिर्ग्रन्थ का जीवनपरिवर्तन

८६७. भगव च ण उदाहु—आउसतो उदगा ! जे खलु समण वा माहणं वा परिभासति मे त्ति मण्णति आगमेत्ता णाणं आगमेत्ता दंसण आगमेत्ता चरित्तं पावाणं कम्माणं अकरणयाए से खलु परलोगपलिमंथत्ताए चिट्ठइ, जे खलु समणं वा माहणं वा णो परिभासति मे त्ति मण्णति आगमेत्ता णाणं आगमेत्ता दसणं आगमेत्ता चरित्त पावाण अकरणयाए से खलु परलोगविसुद्धीए चिट्ठति ।

८६७ (उदक निर्ग्रन्थ के निरुत्तर होने के बाद) भगवान् गौतम स्वामी ने उनसे कहा—"आयुष्मन् उदक ! जो व्यक्ति श्रमण अथवा माहन की निन्दा करता है वह साधुओ के प्रति मैत्री रखता हुआ भी, ज्ञान, दर्शन एव चारित्र को प्राप्त करके भी, हिंसादि पापो तथा तज्जनित पापकर्मों को न करने के लिए उद्यत वह (पण्डितम्मन्य) अपने परलोक के विघात (पलिमथ या विलोडन) के लिए उद्यत है । (इसके विपरीत) जो व्यक्ति श्रमण या माहन की निन्दा नही करता किन्तु उनके साथ अपनी परम मैत्री मानता है तथा ज्ञान प्राप्त करके, दर्शन प्राप्त कर एव चारित्र पाकर पापकर्मों को न करने के लिए उद्यत है, वह निश्चय ही अपने परलोक (सुगतिरूप या उसके कारणभूत सुसयम-रूप) की विशुद्धि के लिए उद्यत (उत्थित) है ।

८६८ तते णं से उदगे पेढालपुत्ते भगवं गोयमं अणाढायमाणे जामेव दिस पाउब्भूते तामेव दिसं संपहारेत्थ गमणाए ।

८६८ (श्री गौतम स्वामी का तात्त्विक एव यथार्थ कथन सुनने के) पश्चात् उदक पेढालपुत्र निर्ग्रन्थ भगवान् गौतम स्वामी को आदर दिये बिना ही जिस दिशा से आये थे, उसी दिशा मे जाने के लिए तत्पर हो गये ।

८६९. भगवं च णं उदाहु—आउसतो उदगा ! जे खलु तहाभूतस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतिए एगमवि आरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा निसम्म अप्पणो चेव सुहुमाए पडिलेहाए अणुत्तर जोयक्खेमपयं । लभिते समाणे सो वि ताव त आढाति परिजाणति वदति नमसति सक्कारेइ सम्माणेइ कल्लाण मंगलं देवयं चेतियं पज्जुवासति ।

८६९ (उदकनिर्ग्रन्थ की यह चेष्टा जान कर) भगवान् गौतम स्वामी ने (धर्मस्नेहपूर्वक) कहा—"आयुष्मन् उदक ! (श्रेष्ठ शिष्ट पुरुषो का परम्परागत आचार यह रहा कि) जो व्यक्ति (किसी भी) तथाभूत (सुचारित्र) श्रमण या माहन से एक भी आर्य (हेय तत्त्वो से दूर रखने वाला या ससारसागर से पार उतारने वाला) धार्मिक (एव परिणाम मे हितकर) सुवचन सुनकर उसे हृदयगम करता है और अपनी सूक्ष्म (विश्लेषणकारिणी) प्रज्ञा से उनका भलीभाँति निरीक्षण-परीक्षण (समीक्षण) करके (यह निश्चित कर लेता है) कि 'मुझे इस परमहितैषी पुरुष ने सर्वोत्तम (अनुत्तर) योग (अप्राप्त की प्राप्ति), क्षेम (प्राप्त का रक्षण) रूप पद को उपलब्ध कराया है,' (तब कृतज्ञता के नाते) वह (उपकृत व्यक्ति) भी उस (उपकारी तथा योगक्षेमपद के उपदेशक) का आदर करता है, उसे अपना उपकारी मानता है, उसे वन्दन—नमस्कार करता है, उसका सत्कार—सम्मान करता है, यहाँ तक कि वह उसे कल्याणरूप, मगलरूप, देवरूप और चैत्यरूप मान कर उसकी पर्युपासना करता है ।

८७०. तते णं से उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं एवं वदासी—एतेसि णं भंते ! पदाण पुव्वि अण्णाणयाए असवणयाए अबोहीए अणभिगमेणं अदिट्ठाणं असुयाणं अमुयाण अविण्णायाणं अणिगूढाणं अव्वोगडाणं अव्वोच्छिण्णाणं अणिसट्ठाणं अणिजूढाणं अणुवधारियाणं एयमट्ठं णो सद्दहितं णो पत्तिय णो रोइयं, एतेसि ण भंते ! पदाणं एण्हि जाणयाए सवणयाए बोहीए जाव उवधारियाण एयमट्ठं सद्दहामि पत्तियामि रोएमि एवमेयं जहा ण तुब्भे वदह ।

८७० तत्पश्चात् (गौतम स्वामी के अमृतोपम उद्गार सुनने के पश्चात्) उदक निर्ग्रन्थ ने भगवान् गौतम से कहा—"भगवन् ! मैने ये (आप द्वारा निरूपित परमकल्याणकर योगक्षेमरूप) पद पहले कभी नही जाने थे, न ही सुने थे, न ही इन्हे समझे थे। मैने इन्हे हृदयगम नही किये, न इन्हे कभी देखे (स्वयसाक्षात् उपलब्ध थे, न दूसरे से) सुने थे, इन पदो को मैंने स्मरण नही किया था, ये पद मेरे लिए अभी तक अज्ञात थे, इनकी व्याख्या मैंने (गुरुमुख से) नही सुनी थी, ये पद मेरे लिए गूढ थे, ये पद नि सशय रूप से मेरे द्वारा ज्ञात या निर्धारित न थे, न ही गुरु द्वारा (विस्तृत ग्रन्थ से सक्षेप मे) उद्धृत थे, न ही इन पदो के अर्थ की धारणा किसी से की थी। इन पदो मे निहित अर्थ पर मैंने श्रद्धा नही की, प्रतीति नही की, और रुचि नही की। भते ! इन पदो को मैने अब (आप से) जाना है, अभी आपसे सुना है, अभी समझा है, यहाँ तक कि अभी मैंने इन पदो मे निहित अर्थ की धारणा की है या तथ्य निर्धारित किया है, अतएव अब मै (आपके द्वारा कथित) इन (पदो मे निहित) अर्थों मे श्रद्धा करता हूँ, प्रतीति करता हूँ, रुचि करता हूँ। यह बात वैसी ही है, जैसी आप कहते है।"

८७१. तते ण भगव गोयमे उदय पेढालपुत्त एवं वदासी—सद्दहाहि ण अज्जो !, पत्तियाहि णं अज्जो !, रोएहि ण अज्जो !, एवमेय जहा णं अम्हे वदामो ।

८७१ तदनन्तर (उदक निर्ग्रन्थ के शुद्धहृदय से नि सृत उद्गार तथा हृदयपरिवर्तन से प्रभावित) श्री भगवान् गौतम उदक पेढालपुत्र से इस प्रकार कहने लगे—आर्य उदक ! जैसा हम कहते है, (वह मन कल्पित नही, अपितु सर्वज्ञवचन है अत) उस पर पूर्ण श्रद्धा रखो। आर्य ! उन पर प्रतीति रखो, आर्य ! वैसी ही रुचि करो।) आर्य ! मैंने जैसा तुम्हे कहा है, वह (आप्तवचन होने से) वैसा ही (सत्य—तथ्य रूप) है।

८७२. तते णं से उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयम एव वदासी—इच्छामि ण भंते ! तुब्भ अंतिए चाउज्जामातो धम्मातो पचमहव्वतिय सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ।

८७२ तत्पश्चात् (अपने हृदय परिवर्तन को क्रियान्वित करने की दृष्टि से) उदकनिर्ग्रन्थ ने भगवान् गौतमस्वामी से कहा—"भते ! अब तो यही इच्छा होती है कि मै आपके समक्ष चातुर्याम धर्म का त्याग करके प्रतिक्रमणसहित पच महाव्रतरूप धर्म आपके समक्ष स्वीकार करके (आपका अभिन्न—आचार-विचार मे समानधर्मा होकर) विचरण करूँ।"

८७३. तए णं भगवं गोतमे उदयं पेढालपुत्तं गहाय जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता तए णं से उदए पेढालपुत्ते समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेति, तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेत्ता वंदति नमंसति, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वदासी-

इच्छामि णं भंते ! तुब्भं अंतियं चाउज्जामातो धम्मातो पंचमहव्वतियं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेहि।

तते णं से उदए पेढालपुत्ते समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए चाउज्जामातो धम्मातो पंचमहव्वतियं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ताणं विहरति त्ति बेमि।

।। नालंदइज्जं : सत्तम अज्झयणं सम्मत्तं ।।

।। सूयगडंगसुत्तं : बीओ सुयक्खंधो सम्मत्तो ।।

।। सूयगडंगसुत्तं सम्मत्तं ।।

८७३ इसके बाद (भ. महावीर की परम्परा मे अपनी परम्परा के विलीनीकरण की बात सुन कर उदकनिर्ग्रन्थ की सरलता से प्रभावित) भगवान् गौतम उदक पेढालपुत्र को लेकर जहाँ श्रमण भगवान् महावीर विराजमान थे, वहाँ पहुचे। भगवान् के पास पहुँचते ही उनसे प्रभावित उदक निर्ग्रन्थ ने स्वेच्छा से जीवन परिवर्तन करने हेतु श्रमण भगवान् महावीर की तीन बार दाहिनी ओर से प्रदक्षिणा की, ऐसा करके फिर वन्दना की, नमस्कार किया, वन्दन-नमस्कार के पश्चात् इस प्रकार कहा—"भगवन् ! मैं आपके समक्ष चातुर्यामरूप धर्म का त्याग कर प्रतिक्रमणसहित पचमहाव्रत वाले धर्म को स्वीकार करके विचरण करना चाहता हूँ।"

इस पर भगवान् महावीर ने कहा "देवानुप्रिय उदक ! तुम्हे जैसा सुख हो, वैसा करो, परन्तु ऐसे शुभकार्य में प्रतिबन्ध (ढील या विलम्ब) न करो।"

तभी (परम्परा-परिवर्तन के लिए उद्यत) उदक ने (भगवान् की अनुमति पाकर) चातुर्याम धर्म से श्रमण भगवान् महावीर से सप्रतिक्रमण पंचमहाव्रतरूप धर्म का, अगीकार किया और (उनकी आज्ञा मे) विचरण करने लगा। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—कृतज्ञताप्रकाश की प्रेरणा और उदकनिर्ग्रन्थ का जीवन परिवर्तन—प्रस्तुत सात सूत्रो (सू. ८६७ से ८७३ तक) मे शास्त्रकार ने उदकनिर्ग्रन्थ के निरुत्तर होने के बाद से लेकर उनके जीवनपरिवर्तन तक की कथा बहुत ही सुन्दर शब्दो मे अकित की है। उदकनिर्ग्रन्थ के जीवनपरिवर्तन तक की कथा मे उतार-चढाव की अनेक दशाओ का चित्रण किया गया है—

(१) श्री गौतम स्वामी द्वारा शिष्य पुरुषो के परम्परागत आचार के सन्दर्भ मे परमोपकारी श्रमण-माहन के प्रति वन्दनादि द्वारा कृतज्ञताप्रकाश की उदक निर्ग्रन्थ को स्पष्ट प्रेरणा।

(२) उदक निर्ग्रन्थ द्वारा श्री गौतमस्वामी के सयुक्तिक उत्तरो से प्रभावित होकर कृतज्ञता-प्रकाश के रूप में योगक्षेम पदो की अपूर्व प्राप्ति का स्वीकार तथा इन पदो के प्रति श्रद्धा, प्रतीति और रुचि रखने की वाणी द्वारा अभिव्यक्ति।

(३) श्री गौतमस्वामी द्वारा इन सर्वज्ञकथित पदो की सत्यता पर प्रतीति, रुचि रखने का उदक निर्ग्रन्थ को आत्मीयतापूर्वक परामर्श।

(४) उदक निर्ग्रन्थ का हृदयपरिवर्तन, तदनुसार उनके द्वारा चातुर्यामधर्म का विसर्जन करके सप्रतिक्रमणपचमहाव्रतरूप धर्म स्वीकार करने की इच्छा प्रदर्शित करना।

(५) उदक की इस भव्य इच्छा की पूर्ति के लिए श्री गौतमस्वामी द्वारा उन्हे अपने साथ लेकर भगवान् महावीर स्वामी के निकट जाना।

(६) भगवान् महावीर के समक्ष वन्दन-नमस्कार आदि करके उदक द्वारा सप्रतिक्रमण पच-महाव्रतरूप धर्म स्वीकार करने की अभिलाषा व्यक्त करना।

(७) भगवान् द्वारा स्वीकृति।

(८) उदक द्वारा पचमहाव्रतरूप धर्म का अगीकार और भगवान् महावीर के शासन मे विचरण।[१] गौतम स्वामी द्वारा उदक निर्ग्रन्थ को कृतज्ञताप्रकाश के लिए प्रेरित करने का कारण—चूर्णिकार के शब्दो मे इस प्रकार है—'इस प्रकार भगवान् के द्वारा बहुत-से हेतुओ द्वारा उदक अनगार निरुत्तर कर दिया गया था, तब अन्तर से तो जैसा इन्होने कहा, वैसा ही (सत्य) है' इस प्रकार स्वीकार करते हुए भी वह बाहर से किसी प्रकार की कायिक या वाचिक चेष्टा से यह प्रकट नही कर रहे थे, 'आपने जैसा कहा, वैसा ही (सत्य) है,' बल्कि इससे विरक्त होकर दुविधा मे पड गये थे। तब भगवान् गौतम ने उन्हे (कृतज्ञताप्रकाश के लिए) ऐसे (मूलपाठ मे उक्त) उद्गार कहे।'[२]

।। नालन्दकीय : सप्तम अध्ययन समाप्त ।।

।। सूत्रकृतांग—द्वितीय श्रुतस्कन्ध सम्पूर्ण ।।

।। सूत्रकृतांग सम्पूर्ण ।।

□□

---

१ सूत्रकृताग शीलाकवृत्ति पत्राक ४२४ से ४२७ तक का साराश

२ "एवं सो उदओ निरुत्तो कतो, बाहिर चेट्ठ ण पउजत्ति वीरत्तेण दोण्हिक्को अच्छति गोतमे उदगं एव वदासि।" —सूत्रकृ. चू (मू पा टि) पृ २५४।

परिशिष्ट

परिशिष्ट १

गाथाओं की अनुक्रमणिका

□

परिशिष्ट २

विशिष्ट शब्द सूची

विशिष्ट शब्द	सूत्राङ्क	विशिष्ट शब्द	सूत्राङ्क
किंचण	४१, ८५	कुहाडहत्था	३१३
किड्ड (क्रीडा)	४६५	कूड (कूट)	३४४
किती	२१७	कूरकम्मा	३१२
कित्ति	४५८	केयण (केतन)	१७७
किब्बिसिय	७५	केली	१३३
किमी	३१९	केवलिय	३००, ५४९
किरियावाद	५५५	केवलो	५३४
किरियाकिरिय(रीण)	३७८, ४८९	केस	२८०
किरियावाइदरिसण	५१	केसलोय	१७७
किरिय	५३५, ५३८, ५४२	कोट्ट	३४२
किवण (कृपण)	१४६	कोल	३०८
किह (कथम्)	६९	कोलाहल	४६७
कीडापदोस	७०	कोविय	५९२
कीतगड	४५०	कोस	२८९
कीव (क्लीव)	१८१, १९३	कोहुणे	५६१
कीस (कस्मात्)	१९३	कोहाकातरियादिपीसणा	१००
कुओ (तो)	१४, ४४, २३४, २३६, ६२६	कोहं	३७७, ५३१, ६३५
कुंभी	३२३	कक (काक्ष)	६२, ५२३, ५२४
कुकम्मि	३९८	कखा (कांक्षा)	३०५, ३५१, ४०९, ४१०
कुजए	१३३	कखा (कांक्षा)	६२०
कुट्ठ	२८५	कटइल (कण्टकित)	३४२
कुणिम (कुणप)	२५४, ३२६	कटग	२५७
कुद्धगामिणी	१८०	कठच्छेदण	२६८
कुमारा	३९०	कड्डूविणट्ठगा	१७४
कुमारी	२५९	कत	३२६
कुम्म	३९५, ५२६	कडू	३३३
कुल	४, २५७, ४०३, ४०४, ५६७	खज्ज	३३३ ३३५, ३४६
कुलला	५२३	खण	२९०
कुलिय	१०२	खणजोगिणो	१७
कुसल	३९४, ५३६, ६०६	खण	१६१
कुसील	२५८, २६३	खत्तिय	१६८, १९६, ४३८, ५६६
कुसीलधम्म	३८५	खत्तीण	३७३
कुसीलय	४०६	खय (क्षय)	१०३, ५४९

परिशिष्ट ३

स्मरणीय सुभाषित

क्रम	गाथा संख्या	सुभाषित
१	४	मामती लुप्पती बाले अन्नमन्नेहिं मुच्छिए।
२	४४	अप्पणो य पर णाल कुतो अण्णेऽणु सासिउ ?
३	५८	जहा आसाविणि णाव जाति अंधो दुरूहिया।
		इच्छेज्जा पारमागंतु अतरा य विसीयति ॥
४	५९	एव तु समणा एगे मिच्छद्दिट्ठी अणारिया।
		ससारपारकखी ते ससार अणुपरियट्टति ॥
५	६९	ममुप्पायमयाणंता किह नाहिंति सवर ॥
६	८५	एव खु णाणिणो सार ज न हिंसति किंचणं।
		अहिंसासमय चेव इत्तावत विजाणिया ॥
७	८९	सबुज्झह किं न बुज्झह, सबोही खलु पेच्च दुल्लभा।
		णो हूवणमति राइओ, णो सुलभ पुणरावि जीविय ॥
८	९८	पुरिसोरम पाव कम्मुणा।
९	१११	अहऽसेयकरी अन्नेसि इंखिणी।
१०	११२	जो परिभवती पर जण, संसारे परियत्तती मह।
		अदु इंखिणिया उ पाविया, इति संखाय मुणी ण मज्जती ॥
११	११६	पण्णसमत्ते सदा जए, समिया धम्ममुदाहरे मुणी।
१२	१२१	महय पलिगोव जाणिया, जा वि य वदण पूयणा इह।
		सुहुमे सल्ले दुरुद्धरे, विदुमं ता पयहिज्ज सथव ॥
१३	१२७	सामाइयमाहु तस्स ज, जो अप्पाण भए ण दसए।
१४	१२९	अहिगरण न करेज्ज पडिए।
१५	१३१	न य सखयमाहु जीविय तह वि य बालजणे पगब्भती।
१६	१४४	जे विण्णवणाहिऽझोसिया, सतिण्णेहि समं वियाहिया।
१७	१४८	कामी कामे ण कामए, लद्धे वा वि अलद्धे कण्हुई।

क्रम	गाथा संख्या	सुभाषित
१८	१४९	मा पच्छ असाहुया भवे, अच्चेही अणुसास अप्पग ।
१९	१५२	ण य सखयमाहु जीविय ।
२०	१५३	अदक्खुव दक्खुवाहित, सद्दहसू अदक्खुदसणा ।
२१	१५९	एगस्स गती य आगती, वि दुम ता सरण न मन्नती ।
२२	१६०	सव्वे सयकम्मकप्पिया ।
२३	१६१	इणमेव खण वियाणिया, णो सुलभ बोहिं च आहित ।
२४	२१६	नातिकडुइत सेय अरुयस्सावरज्झती ।
२५	२३१	मा एय अवमन्नता अप्पेण लुपहा बहु ।
२६	२३३	इत्थी वसगता बाला जिणसासणपरम्मुहा ।
२७	२३९	जेहिं काले परक्कत न पच्छा परितप्पए । ते धीरा बधणुम्मुक्का नावकखति जीविय ॥
२८	२४०	जहा नदी वेयरणी दुत्तरा इह सम्मता । एव लोगसि नारीओ दुत्तरा अमतीमता ॥
२९	२४५	कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स अगिलाए समाहिते ।
३०	२५४	सीह जहा व कुणिमेण णिब्भयमेगर पासेण । एवित्थिया उ बधति, सवुड एगतियमणगार ॥
३१	२५७	तम्हा उ वज्जए इत्थी, विसलित्त व कटग णच्चा ।
३२	२६३	वायावीरिय कुसीलाण ।
३३	२७०	अन्न मणेण चितेंति, अन्न वायाइ कम्मुणा अन्न । तम्हा ण सद्दहे भिक्खू, बहुमायाओ इत्थिओ णच्चा ॥
३४	२७५	बालस्स मदय बितिय, ज च कड अवजाणई भुज्जो ।
३५	३२५	जहा कडे कम्म तहा सि भारे ।
३६	३२७	बाला जहा दुक्कडकम्मकारी, वेदेति कम्माइ पुरेकडाइ ।
३७	३४९	ज जारिस पुव्वमकासि कम्म, तहेव आगच्छति सपराए ।
३८	३७४	दाणाण सेट्ठ अभयप्पदाण, सच्चेसु वा अणवज्जं बदति । तवेसु वा उत्तम बंभचेर, लोउत्तमे समणे नायपुत्ते ॥
३९	३९१	सकम्मुणा विप्परियासुवेति ।
४०	३९४	उदगस्स फासेण सिया य सिद्धी सिज्झिसु पाणा बहवे दगसि ।
४१	४०३	कुलाइं जे धावति साउगाइ, अहाऽऽहु से सामणियस्स दूरे ।
४२	४०७	नो पूयण तवसा आवहेज्जा ।
४३	४०९	भारस्स जाता मुणि भुञ्जएज्जा, कखेज्ज पावस्स विवेग भिक्खू ।
४४	४१७	वेराइ कुव्वती वेरी, ततो वेरेहिं रज्जती । पावोवगा य आरभा, दुक्खफासा य अतसो ॥

क्रम	गाथा संख्या	सुभाषित
४५	४२६	जहा कुम्मे स अगाइ, सए देहे समाहरे। एव पावाइ मेधावी, अज्झप्पेण समाहरे॥
४६	४२९	सादिय ण मुस बूया, एस धम्मे वुसीमतो।
४७	४३५	अप्पपिंडासि पाणासि अप्प भासेज्ज सुव्वते॥
४८	४६१	भासमाणो न भासेज्जा, णेव वफेज्ज मम्मय।
४९	४६३	होलावाय सहीवाय, गोतावायं च नो वदे।
५०	४६७	हम्ममाणो न कुप्पेज्जा, वुच्चमाणो न सजले।
५१	४६८	लद्धे कामे ण पत्थेज्जा, विवेगे एसमाहिए।
५२	४७८	आदीणभोई वि करेति पाव।
५३	४७९	सव्व जग तू समयाणुपेही, पियमप्पिय कस्सइ नो करेज्जा।
५४	४८१	वेराणुगिद्धे णिचय करेति।
५५	४९४	मुस न बूया मुणि अत्तगामी।
५६	४९५	न सिलोयकामी य परिव्वएज्जा।
५७	५०६	एय खु णाणिणो सार, ज न हिंसति कचण।
५८	५४५	आहसु विज्जाचरण पमोक्ख।
५९	५४९	ण कम्मुणा कम्म खवेंति बाला, अकम्मुणा कम्म खवेति धीरा।
६०	५६४	अण्ण जण पस्सति बिबभूत।
६१	५६७	णिक्खम्म जे सेवतिऽगारिकम्म, ण से पारए होति विमोयणाए।
६२	५७८	न पूयण चेव सिलोयकामी पियमप्पिय कस्सति णो कहेज्जा।
६३	५८०	जे छेए विप्पमाद न कुज्जा।
६४	५८५	निदद च भिक्खू न पमाय कुज्जा, कह कह वी वितिगिच्छतिण्णे।
६५	५८८	ण यावि किंचि फरुस वदेज्जा, सेय खु मेय ण पमाद कुज्जा।
६६	५९८	नो छादने नो वि य लूसएज्जा, माण ण सेवेज्ज पगासण च। ण यावि पण्णे परिहास कुज्जा, ण याऽऽसिसावाद वियागरेज्जा॥
६७	६०५	अलूसए णो पच्छण्णभासी, णो सुत्तमत्थ च करेज्ज ताई।
६८	६१०	भूतेहिं न विरुज्झेज्जा, एस धम्मे वुसीमओ।
६९	६११	भावणा जोगसुद्धप्पा, जले पाणा व आहिया। नावा व तीर सपत्ता, सव्वदुक्खा तिउट्टति॥
७०	६१३	अकुव्वतो णव नत्थि, कम्म नाम विजाणइ।
७१	६१५	इत्थिओ जे ण सेवंति, आदिमोक्खा हु ते जणा।
७२	६१९	अणेलिसस्स खेतण्णे, ण विरुज्झेज्ज केणइ।
७३	६२०	से हु चक्खू मणुस्साण, जे कखाए तु अतए।

□□□□

सूत्रकृतांगसूत्र द्वितीय श्रुतस्कन्ध

परिशिष्ट

१—गाथानामकारादिक्रम

२—विशिष्ट शब्दसूची

सूत्रकृतांगसूत्र के सम्पादन-विवेचन में प्रयुक्त ग्रन्थ-सूची

आगम ग्रन्थ

आयारंगसुत्तं (प्रकाशन वर्ष ई १९७७)

सम्पादक मुनिश्री जम्बूविजयजी

प्रकाशक महावीर जैन विद्यालय, अगस्त क्रान्ति मार्ग, बम्बई-४०००३६

आचारांगसूत्र (मूल-अनुवाद-विवेचन-टिप्पण युक्त)

संयोजक एव प्रधान सम्पादक युवाचार्य श्री मधुकर मुनिजी

सम्पादक-विवेचक श्रीचन्द सुराना 'सरस'

प्रकाशक . आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान)

आचारांगसूत्रं सूत्रकृतांगसूत्रं च (नियुक्ति टीका सहित)

(श्री भद्रबाहुस्वामिविरचित नियुक्ति, श्री शीलाकाचार्य विरचित वृत्ति)

सम्पादक-सशोधक मुनिश्री जम्बूविजयजी

प्रकाशक मोतीलाल बनारसीदास इण्डोलोजिकल ट्रस्ट, बगलो रोड, जवाहरनगर, दिल्ली-११०००७

अंगसुत्ताणि (भाग १, २, ३)

सम्पादक आचार्य श्री तुलसी

प्रकाशक . जैन विश्व भारती, लाडनू (राजस्थान)

अत्थागमे (अर्थागम) खण्ड १ (हिन्दी अनुवाद)

सम्पादक · जैन धर्मोपदेष्टा प श्री फूलचन्द जी म (पुप्फभिक्खू)

प्रकाशक · श्री सूत्रागम प्रकाशक समिति, 'अनेकान्त विहार' सूत्रागम स्ट्रीट, एस एम जैन बाजार, गुडगाँव कैंट (हरियाणा)

आयारदसा (मूल-अर्थ-टिप्पणयुक्त)

सम्पादक : प मुनिश्री कन्हैयालालजी 'कमल'

प्रकाशक : आगम-अनुयोग प्रकाशन, साडेराव (राजस्थान)

उत्तराध्ययन सूत्र (मूल-अर्थ-विवेचनयुक्त)

सम्पादक दर्शनाचार्य साध्वी श्री चन्दनाजी
प्रकाशक वीरायतन प्रकाशन, आगरा (उ प्र)

कल्पसूत्र (व्याख्या सहित)

सम्पादक देवेन्द्र मुनि शास्त्री, साहित्यरत्न
प्रकाशक आगम शोध सस्थान, गढसिवाना (राजस्थान)

कप्पसुत्त (मूल-अर्थ-टिप्पणयुक्त)

सम्पादक प मुनिश्री कन्हैयालालजी 'कमल'
प्रकाशक आगम-अनुयोग प्रकाशन, साडेराव (राजस्थान)

उवासगदसाओ (अनुवाद-विवेचन-टिप्पणयुक्त)

सयोजक एव प्रधान सम्पादक युवाचार्य श्री मधुकर मुनि जी
अनुवादक-विवेचक-सम्पादक डा. छगनलाल शास्त्री, एम ए पी-एच-डी
प्रकाशक श्री आगम प्रकाशन समिति, जैन स्थानक, पिप्पलिया बाजार, ब्यावर (राजस्थान)

ज्ञातासूत्र

सम्पादक प शोभाचन्द्रजी भारिल्ल, 'न्यायतीर्थ'
प्रकाशक स्थानकवासी जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी (अहमदनगर)

ठाणं (मूलार्थ-विवेचन-टिप्पणयुक्त)

सम्पादक-विवेचक युवाचार्य महाप्रज्ञ श्री नथमलजी
प्रकाशक जैन विश्वभारती, लाडनू (राजस्थान)

अन्तकृद्दशांग (मूल एव अर्थ)

सम्पादक रतनलालजी डोशी
प्रकाशक अ भा साधुमार्गी जैन सस्कृति रक्षक सघ, सैलाना (म प्र.)

दसवेआलियं (विवेचनयुक्त)

सम्पादक विवेचक युवाचार्य महाप्रज्ञ मुनिश्री नथमलजी
प्रकाशक जैन विश्वभारती, लाडनू (राजस्थान)

प्रश्नव्याकरण सूत्र (मूल-अर्थ-भावार्थ-व्याख्यायुक्त)

व्याख्याकार प. हेमचन्द्रजी महाराज
सम्पादक अमरमुनिजी महाराज
प्रकाशक सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामण्डी, आगरा-२

मूलसुत्ताणि

सम्पादक प मुनिश्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक शान्तिलाल वी शेठ, गुरुकुल प्रिंटिग प्रेस, ब्यावर (राजस्थान)

सूत्रकृतांगसूत्र (मूल-अर्थ-भावार्थ-व्याख्या सहित) भाग १-२

व्याख्याकार प० मुनिश्री हेमचन्द्रजी महाराज
सम्पादक अमर मुनि तथा मुनि नेमिचन्द्रजी
प्रकाशक आत्मज्ञानपीठ, मानसा मण्डी (पजाब)

श्रीसूत्रकृतांगम (मूल-अन्वयार्थ-भावार्थ-टीकानुवाद सहित) चार खण्ड

(श्री शीलाकाचार्य रचित वृत्ति)
सम्पादक प० अम्बिकादत्त ओझा, व्याकरणाचार्य
प्रकाशक श्री महावीर जैन ज्ञानोदय सोसाइटी, राजकोट (गुजरात)

सूत्रकृतांग (मूल, अर्थ, टीका, अनुवाद गुज० हिन्दी-सहित) भाग १ से ४

टीकाकार जैनाचार्य पूज्यश्री घासीलालजी महाराज
अनुवादक प० मुनि श्री कन्हैयालालजी महाराज
प्रकाशक अ० भा० श्वे० स्था० जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट (गुजरात)

सूयगडंगसुत्तं (मूल-टिप्पण परिशिष्टयुक्त)

सम्पादक मुनिश्री जम्बूविजयजी
प्रकाशक महावीर जैन विद्यालय, अगस्त क्रान्ति मार्ग, बम्बई-४०००३६

भगवतीसूत्र (अनगार धर्मामृतवर्षिणी व्याख्या सहित) भाग १ से ४ तक

व्याख्याकार जैनाचार्य पूज्य श्री घासीलालजी महाराज
नियोजक प० मुनि श्री कन्हैयालालजी महाराज
प्रकाशक जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट (गुजरात)

व्याख्या ग्रन्थ

तत्त्वार्थसूत्र सर्वार्थसिद्धि

व्याख्याकार आचार्य पूज्यपाद
हिन्दी अनुवाद प० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री
प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी

तत्त्वार्थसूत्र (आचार्य उमास्वातिकृत स्वोपज्ञ भाष्यसहित)

सम्पादक व्याकरणाचार्य प० ठाकुरप्रसाद शर्मा
प्रकाशक परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई

महावीर वाणी (सस्कृत रूपान्तर, विस्तृत तुलनात्मक विवेचन युक्त)

सम्पादक प बेचरदासजी दोशी न्याय-व्याकरणतीर्थ
हिन्दी-अनुवादक कस्तूरमलजी बांठिया
प्रकाशक सर्वसेवा सघ, राजघाट, वाराणसी-१ (उ० प्र०)

सूक्ति त्रिवेणी

सम्पादक : उपाध्याय श्री अमरचन्दजी महाराज
प्रकाशक : सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा (उ० प्र०)

विशेषावश्यक भाष्य (मूल गाथा, टीका का गुजराती अनुवाद)
(जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण रचित, मलधारी आचार्य हेमचन्द्र कृत वृत्ति)
भाषान्तरकार : शाह चुन्नीलाल हाकमचन्द, अहमदाबाद
प्रकाशक : आगमोदय समिति, बम्बई

शब्दकोष तथा अन्य सहायक ग्रन्थ

अभिधान राजेन्द्र कोष (भाग १ से ७ तक)
सम्पादक आचार्य श्री राजेन्द्र सूरि
प्रकाशक : समस्त जैन श्वेताम्बर संघ, श्री अभिधान राजेन्द्र कार्यालय, रतलाम (म० प्र०)

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष (भाग १ से ४ तक)
सम्पादक . क्षुल्लक श्री जिनेन्द्रवर्णी
प्रकाशक . भारतीय ज्ञानपीठ, बी० ४५/४७ कनॉट प्लेस, नई दिल्ली-१

पाइअ-सद्द-महण्णवो (द्वि० स०)
सम्पादक : प० हरगोविन्ददास टी० शेठ, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, और प० दलसुखभाई मालवणिया
प्रकाशक प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी-५

नालन्दा विशाल शब्द सागर
सम्पादक · श्री नवलजी
प्रकाशक · आदीश बुक डिपो, ३८ यू० ए० जवाहरनगर, बगलो रोड, दिल्ली-७

शब्द रत्न महोदधि (सस्कृत गुजराती शब्दकोष) भाग १-२,
सग्राहक : पन्यास श्री मुक्तिविजयजी
सशोधक प० भगवानदास हरखचन्द
प्रकाशक : मन्त्री, श्री विजयनीतिसूरि वाचनालय

अभिधम्मत्थ सगहो (आचार्य अनुरुद्ध रचित)
टीकाकार भदन्त सुमगल स्वामी
सम्पादक-सशोधक भदन्त रेवत धर्मशास्त्री एम० ए०
प्रकाशक · बौद्ध स्वाध्याय सत्र, एम० १७/३३० ए० मलदहिया, वाराणसी (उ० प्र०)

धम्मपदम् (बुद्ध सुभाषित)
सम्पादक प्रो० सत्यप्रकाश शर्मा, एम० ए०, साहित्याचार्य
प्रकाशक . साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ-२

विसुद्धिमग्गो (आचार्य बुद्धघोष कृत) भाग १-२

अनुवादक भिक्षु त्रिपिटकाचार्य धर्मरक्षित
प्रकाशक महाबोधि सभा सारनाथ, वाराणसी (उ० प्र०)

पाली हिन्दी कोश

सम्पादक भदन्त आनन्द कौशल्यायन
प्रकाशक राजकमल प्रकाशन, ८ नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-११०००६

दीघनिकाय (सुत्तपिटक का एक अश)

अनुवादक भिक्षु राहुल साकृत्यायन एव भिक्षु जगदीश कश्यप, एम० ए०
प्रकाशक भारतीय बौद्ध शिक्षा परिषद्, बुद्ध विहार, लखनऊ

श्री शब्द रत्नाकर (सस्कृत शब्दकोष)

रचयिता वाचनाचार्य साधु सुन्दरगणि
सशोधक प० हरगोविन्ददास एव प० बेचरदास
प्रकाशक जैन श्वेताम्बर सघ, रगून

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग-१

लेखक प० बेचरदास दोशी
प्रकाशक पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध सस्थान, जैनाश्रम हि० यु० वाराणसी-५ (उ० प्र०)

जैन आगम साहित्य : मनन और मीमासा

लेखक प० देवेन्द्र मुनि शास्त्री
प्रकाशक तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, शास्त्री सर्कल, उदयपुर (राजस्थान)

सद्धर्ममण्डनम्

लेखक : स्व० जैनाचार्य पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज
सम्पादक प० मुनिश्री श्रीमल्लजी महाराज
प्रकाशक श्री अ० भा० साधुमार्गी जैन सघ, रागडी मोहल्ला, बीकानेर (राजस्थान)

जैन सिद्धान्त बोल संग्रह (भाग १ से ७ तक)

सयोजक भैरोदानजी सेठिया
प्रकाशक अगरचन्द भैरोदान सेठिया जैन पारमार्थिक सस्था, बीकानेर (राजस्थान)

मिथ्यात्वी का आध्यात्मिक विकास

लेखक श्रीचन्द चौरडिया न्यायतीर्थ (द्वय)
प्रकाशक जैन दर्शन समिति, १६/सी-डोवरलेन, कलकत्ता-७०००२९

भगवद्गीता (मूल-अर्थ सहित)

प्रकाशक गीता प्रेस, पो० गीता प्रेस, गोरखपुर (उ० प्र०)

अष्टाविंशत्युपनिषद् (ईश, केन, कठ, मुण्डक, छान्दोग्य आदि)

सम्पादक स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, व्याकरणाचार्य
प्रकाशक प्राच्य भारती प्रकाशन, कमच्छा, वाराणसी (उ० प्र०)

वीर स्तुति

अनुवादक उपाध्याय श्री अमर मुनि
प्रकाशक सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा-२

प्रशम रति

रचयिता आचार्य उमास्वाति
भावानुवादक मुनि पद्मविजयजी
संशोधक मुनि नेमिचन्द्रजी

अध्यात्मसार

ग्रन्थकार श्रीमद् यशोविजयजी उपाध्याय
हिन्दी अनुवादक मुनि पद्मविजयजी
सम्पादक मुनि श्री नेमिचन्द्रजी

अनध्यायकाल

[स्व० आचार्यप्रवर श्री आत्मारामजी म० द्वारा सम्पादित नन्दीसूत्र से उद्धृत]

स्वाध्याय के लिए आगमो मे जो समय बताया गया है, उसी समय शास्त्रो का स्वाध्याय करना चाहिए। अनध्यायकाल मे स्वाध्याय वर्जित है।

मनुस्मृति आदि स्मृतियो मे भी अनध्यायकाल का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। वैदिक लोग भी वेद के अनध्यायो का उल्लेख करते है। इसी प्रकार अन्य आर्ष ग्रन्थो का भी अनध्याय माना जाता है। जैनागम भी सर्वज्ञोक्त, देवाधिष्ठित तथा स्वरविद्या सयुक्त होने के कारण, इनका भी आगमो मे अनध्यायकाल वर्णित किया गया है, जैसे कि—

दसविधे अतलिक्खिते असज्भाए पण्णत्ते, त जह—उक्कावाते, दिसिदाघे, गज्जिते, विज्जुते, निग्घाते, जुवते, जक्खालित्ते धूमिता, महिता, रयउग्घाते।

दसविहे ओरालिते असज्भातिते, न जहा—अट्ठी, मस, सोणिते, असुतिसामते, सुसाणसामते, चदोवराते, सूरोवराते, पडने, रायवुग्गहे, उवस्सयस्स अतो ओरालिए सरीरगे।

—स्थानाङ्गसूत्र, स्थान १०

नो कप्पति निग्गथाण वा निग्गथीण वा चउहि महापाडिवएहि सज्भाय करित्तए, त जहा—आसाढपाडिवए, इदमहपाडिवए कत्तिअपाडिवए सुगिम्हपाडिवए। नो कप्पइ निग्गथाणा वा निग्गथीण वा, चउहि सभाहि सज्भाय करेत्तए, त जहा—पढिमाते, पच्छिमाते, मज्भण्हे, अड्ढरत्ते। कप्पई निग्गथाण वा, निग्गथीण वा, चाउक्काल सज्भाय करेत्तए, त जहा—पुव्वण्हे अवरण्हे, पओसे, पच्चूसे।

—स्थानाङ्गसूत्र, स्थान ४, उद्देश २

उपरोक्त सूत्रपाठ के अनुसार, दस आकाश से सम्बन्धित, दस औदारिक शरीर से सम्बन्धित, चार महाप्रतिपदा, चार महाप्रतिपदा की पूर्णिमा और चार सन्ध्या, इस प्रकार बत्तीस अनध्याय माने गए हैं, जिनका सक्षेप मे निम्न प्रकार से वर्णन है, जैसे—

आकाश सम्बन्धी दस अनध्याय

१. **उल्कापात-तारापतन**—यदि महत् तारापतन हुआ है तो एक प्रहर पर्यन्त शास्त्र स्वाध्याय नही करना चाहिए।

२. **दिग्दाह**—जब तक दिशा रक्तवर्ण की हो अर्थात् ऐसा मालूम पड़े कि दिशा मे आग सी लगी है, तब भी स्वाध्याय नही करना चाहिए।

३. **गर्जित**—बादलो के गर्जन पर एक प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय न करे।

४. **विद्युत**—बिजली चमकने पर एक प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय न करे।

किन्तु गर्जन और विद्युत् का अस्वाध्याय चातुर्मास मे नही मानना चाहिए। क्योंकि वह

गर्जन और विद्युत प्रायः ऋतु स्वभाव से ही होता है। अत. आर्द्रा में स्वाति नक्षत्र पर्यन्त अनध्याय नही माना जाता।

५. निर्घात—बिना बादल के आकाश मे व्यन्तरादिकृत घोर गर्जन होने पर, या बादलो सहित आकाश मे कडकने पर दो प्रहर तक अस्वाध्याय काल है।

६. यूपक—शुक्ल पक्ष मे प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया, को सन्ध्या चन्द्रप्रभा के मिलने को यूपक कहा जाता है। इन दिनो प्रहर रात्रि पर्यन्त स्वाध्याय नही करना चाहिए।

७ यक्षादीप्त—कभी किसी दिशा में बिजली चमकने जैसा, थोड़े थोडे समय पीछे जो प्रकाश होता है वह यक्षादीप्त कहलाता है। अत आकाश मे जब तक यक्षाकार दीखता रहे तब तक स्वाध्याय नही करना चाहिए।

८. धूमिका कृष्ण—कार्तिक से लेकर माघ तक का समय मेघो का गर्भमास होता है। इसमे धूम्र वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धुंध पडती है। वह धूमिका-कृष्ण कहलाती है। जब तक यह धुंध पडती रहे, तब तक स्वाध्याय नही करना चाहिए।

९. मिहिकाश्वेत—शीतकाल में श्वेत वर्ण का सूक्ष्म जलरूप धुन्ध मिहिका कहलाती है। जब तक यह गिरती रहे, तब तक अस्वाध्याय काल है।

१० रज उद्घात—वायु के कारण आकाश मे चारो ओर धूलि छा जाती है। जब तक यह धूलि फैली रहती है। स्वाध्याय नही करना चाहिए।

उपरोक्त दस कारण आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय के है।

औदारिक सम्बन्धी दस अनध्याय

११-१२-१३. हड्डी, मांस और रुधिर—पचेंद्रिय तिर्यंच की हड्डी मांस और रुधिर यदि सामने दिखाई दें, तो जब तक वहाँ से यह वस्तुएँ उठाई न जाएँ तब तक अस्वाध्याय है। वृत्तिकार आस पास के ६० हाथ तक इन वस्तुओ के होने पर अस्वाध्याय मानते हैं।

इसी प्रकार मनुष्य सम्बन्धी अस्थि मास और रुधिर का भी अनध्याय माना जाता है। विशेषता इतनी है कि इनका अस्वाध्याय सौ हाथ तक तथा एक दिन रात का होता है। स्त्री के मासिक धर्म का अस्वाध्याय तीन दिन तक। बालक एव बालिका के जन्म का अस्वाध्याय क्रमश सात एव आठ दिन पर्यन्त का माना जाता है।

१४. अशुचि—मल-मूत्र सामने दिखाई देने तक अस्वाध्याय है।

१५ श्मशान—श्मशानभूमि के चारो ओर सौ-सौ हाथ पर्यन्त अस्वाध्याय माना जाता है।

१६ चन्द्रग्रहण—चन्द्रग्रहण होने पर जघन्य आठ, मध्यम बारह और उत्कृष्ट सोलह प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय नही करना चाहिए।

१७. सूर्यग्रहण—सूर्यग्रहण होने पर भी क्रमश आठ, बारह और सोलह प्रहर पयन्त अस्वाध्यायकाल माना गया है।

१८. पतन—किसी बडे मान्य राजा अथवा राष्ट्र पुरुष का निधन होने पर जब तक उसका दाहसस्कार न हो तब तक स्वाध्याय न करना चाहिए। अथवा जब तक दूसरा अधिकारी सत्तारूढ न हो तब तक शनै शनै स्वाध्याय करना चाहिए।

१९. राजव्युद्ग्रह—समीपस्थ राजाओ मे परस्पर युद्ध होने पर जब तक शान्ति न हो जाए, तब तक उसके पश्चात् भी एक दिन-रात्रि स्वाध्याय नही करें।

२०. औदारिक शरीर—उपाश्रय के भीतर पचेन्द्रिय जीव का वध हो जाने पर जब तक कलेवर पडा रहे, तब तक तथा १०० हाथ तक यदि निर्जीव कलेवर पडा हो तो स्वाध्याय नही करना चाहिए।

अस्वाध्याय के उपरोक्त १० कारण औदारिक शरीर सम्बन्धी कहे गये है।

२१-२८ चार महोत्सव और चार महाप्रतिपदा—आषाढपूर्णिमा, आश्विन-पूर्णिमा, कार्तिक-पूर्णिमा और चैत्र-पूर्णिमा ये चार महोत्सव है। इन पूर्णिमाओ के पश्चात् आने वाली प्रतिपदा को महाप्रतिपदा कहते हैं। इसमे स्वाध्याय करने का निषेध है।

२९-३२. प्रात साय मध्याह्न और अर्धरात्रि—प्रातः सूर्य उगने से एक घडी पहिले तथा एक घड़ी पीछे। सूर्यास्त होने से एक घडी पहिले तथा एक घडी पीछे। मध्याह्न अर्थात् दोपहर मे एक घड़ी आगे और एक घड़ी पीछे एव अर्धरात्रि में भी एक घडी आगे तथा एक घड़ी पीछे स्वाध्याय नही करना चाहिए।